☐ निर्देशन
अध्यात्मयोगिनी महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि
पण्डित श्री शोभाचन्द्रजी भारिल्ल

☐ प्रबन्धसम्पादक
श्रीचन्द सुराणा 'सरस'

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ प्रकाशनतिथि
वीरनिर्वाण संवत् २५१२
वि. सं. २०४३
ई. सन् १९८६

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन-समिति
जैनस्थानक, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible] रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Sri Joravarmalji Maharaj

Compilod by Fifth Gandhara Sudharma Swami
Fifth Anga

VYĀKHYĀ PRAJNAPTI

[Bhagawati Sutra IV Part, Shatak 20-41]

[Original Text, with Variant Readings, Hindi Version, Notes, etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Shri Amar Muni
Srichand Surana 'Saras'

Chief Editor
Pt. Shobhachandra Bharill

Publishers
Sri Agam Prakashan Samiti
Beawar (Raj)

Jinagam Granthmala Publication No. 25

☐ **Direction**
Sadhwi Umravakunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyoga-pravartaka Muni Shri Kanhaiyalal 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni
Pt. Shobhachandra Bharill

☐ **Managing Editor**
Srichand Surana 'Saras'

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendramuni 'Dinakar'

☐ **Date of Publication**
Vir-nirvana Samvat 2512
Vikram Samvat 2043; April, 1986

☐ **Publisher**
Sri Agam Prakashan Samiti,
Jain Sthanak, Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.) [India]
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ Price: Rs. 65/-

समर्पण

विद्वद्वर्ग में जो अपने विशिष्ट वैदुष्य के लिए विख्यात थे,

जिन्होंने श्रुत का तलस्पर्शी गहन अध्ययन-अध्यापन किया,

अनेक आगमों पर विशद और विस्तृत विवेचन करके जनसाधारण के लिए सुबोध बनाया,

उन मधुरभाषी, गरिमामय एवं भव्य व्यक्तित्व से मण्डित, आचार्यवर्य श्री आत्मारामजी म. के प्रमुख अन्तेवासी

—पं. र. मुनिश्री हेमचन्द्रजी म.

के कर-कमलों में

प्रकाशकीय

आगमप्रेमी पाठकों के कर-कमलों में श्रीमद्व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का यह अन्तिम—चतुर्थ खण्ड प्रस्तुत किया जा रहा है। भगवतीसूत्र उपलब्ध समस्त आगमों में सबसे विराट्काय आगम है और विविध विषयों की चर्चा से परिव्याप्त है। इसके मुद्रण की सम्पूर्ति अतीव प्रमोद का विषय है। सद्यः उत्तरभारतीय प्रवर्त्तक पद पर प्रतिष्ठित विद्वद्वर मुनिश्री भण्डारी पद्मचन्द्रजी म. के विद्वान् अन्तेवासी श्री अमरमुनिजी म. ने इसका अनुवाद करके आगमप्रकाशन समिति को जो महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है, उसके लिए समिति अत्यन्त आभारी है।

साहित्यवाचस्पति प्रतिभामूर्ति श्री देवेन्द्रमुनिजी महाराज के अनुपम सहयोग को समिति कदापि विस्मृत नहीं कर सकती। अद्यावधि प्रकाशित सभी आगमों पर आपने विद्वत्तापूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखी हैं। यदि यथासमय प्रस्तावनाएँ आपने लिखकर उपकृत न किया होता तो प्रस्तुत प्रकाशन अति विलम्बित हो जाता। मगर अस्वस्थता, व्यस्तता एवं विहार आदि के व्यवधानों के होते हुए भी आपने प्रस्तावनाएँ लिखकर प्रकाशन के कार्य को द्रुत गति प्रदान की। एतदर्थ आपके प्रति भी हम हृदय से आभारी हैं।

इस विराट् आयोजन के पुरस्कर्त्ता श्रद्धेय युवाचार्यश्रीजी के आकस्मिक और असामयिक स्वर्गवास के पश्चात् अध्यात्मयोगिनी महाविदुषी श्री उमरावकुंवरजी महासतीजी का पथप्रदर्शन हमारे लिए अत्यन्त प्रशस्त सिद्ध हो रहा है। किन शब्दों में उनके सहयोग के प्रति कृतज्ञता प्रकट की जाए?

प्रस्तुत आगम के प्रकाशन में समिति के भूतपूर्व अध्यक्ष, समाज के लिए महान् गौरवस्वरूप, धर्मनिष्ठ समाजनेता पद्मश्री स्व. सेठ मोहनमलजी सा. चोरड़िया का विशिष्ट आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। आपके आदर्श व्यक्तित्व से समाज भलीभांति परिचित है। आपके जीवन की संक्षिप्त रूपरेखा पृथक् दी जा रही है, जो हमें मद्रास के क्रियाशील उत्साही सामाजिक कार्यकर्त्ता श्रीमान् भंवरलालजी सा. गोठी के माध्यम से प्राप्त हुई है।

सम्पादन-सहयोगी महानुभाव भी जिनकी नामावली अलग दी जा रही है, धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में आगमप्रेमी सज्जनों के प्रति निवेदन है कि प्रकाशित आगमों के प्रचार-प्रसार में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करें, जिससे स्व. परमपूज्य युवाचार्य श्रीजी की आगमज्ञान-प्रचार की उदात्त पावन भावना साकार हो सके।

भवदीय

रतनचंद मोदी — कार्यवाहक अध्यक्ष
सायरमल चोरड़िया — प्रधानमंत्री
चांदमल विनायकिया — मंत्री

श्री आगमप्रकाशन-समिति, ब्यावर

राष्ट्रसन्त श्री भंडारी पद्मचन्द्रजी महाराज के
उत्तरभारतीय प्रवर्त्तक पद-चादर समारोह के उपलक्ष्य में

सम्पादन में उदार अर्थ-सौजन्य

- श्री भागमल कृष्णलाल बजाज, पद्मपुर मंडी (राज.)
- श्री पृथ्वीराज अभयकुमार जैन, पद्मपुर मंडी (राज.)
- डॉ. जगमोहन गोयल की धर्मपत्नी श्रीमती निर्मला गोयल, खन्ना (पंजाब)
- श्री किशोरचन्द फकीरचन्द जैन बजाज, मानसामंडी
- मै. शिवराम प्रेमनाथ आढती, ३०-ए, न्यू मार्किट, मुजफ्फरनगर (उ. प्र.)
- पूज्य पिताजी श्री रामचन्द्र जैन की स्मृति में—श्री सुरेशचन्द जैन काशीपुर, नैनीताल (उ. प्र.)

प्रस्तुत आगम-प्रकाशन के विशिष्ट अर्थसहयोगी
श्रेष्ठिप्रवर, श्रावकवर्य
पद्मश्री मोहनमलजी सा. चोरड़िया
[संक्षिप्त जीवन-परिचय]

'मानव जन्म से नहीं अपितु अपने कर्म से महान् बनता है।' यह उक्ति स्व. महामना सेठ श्रीमान् मोहनमलजी सा. चोरड़िया के सम्बन्ध में एकदम खरी उतरती है। आपने तन, मन और धन से देश, समाज व धर्म की सेवा में जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है, वह जैन समाज के ही नहीं, बल्कि मानव-समाज के इतिहास में एक स्वर्ण-पृष्ठ के रूप में अमर रहेगा। मद्रास शहर की प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक गतिविधि से आप गहराई से जुड़े हुए थे और प्रत्येक क्षेत्र में आप हर सम्भव सहयोग देते थे। आपका मार्गदर्शन एवं सहयोग प्राप्त करने के लिए आपके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति संतुष्ट होकर ही लौटता था।

आपका जन्म २८ अगस्त १९०२ में नोखा ग्राम (राजस्थान) में सेठ श्रीमान् सिरेमलजी चोरड़िया के पुत्र रूप में हुआ। सन् १९१७ में आप श्रीमान् सोहनलालजी के गोद आये और उसी वर्ष आपका विवाह हरसेलाव निवासी श्रीमान् बादलचन्दजी बाफणा की सुपुत्री सद्गुणसम्पन्ना श्रीमती नैनीकँवरबाई के साथ हुआ। तदनन्तर आप मद्रास पधारे।

श्रीमान् रतनचन्दजी, पारसमलजी, सरदारमलजी, रणजीतमलजी एवं सम्पतमलजी आपके सुपुत्र हैं। अनेक पौत्र-पौत्री एवं प्रपौत्र-प्रपौत्रियों से भरे-पूरे सुखी परिवार से आप सम्पन्न थे।

बचपन में ही आपके माता-पिता द्वारा प्रदत्त धार्मिक संस्कारों के फलस्वरूप आपमें सरलता, सहजता, सौम्यता, उदारता, सहिष्णुता, नम्रता, विनयशीलता आदि अनेक मानवोचित सद्गुण स्वाभाविक रूप से विद्यमान थे। आपका हृदय सागर-सा विशाल था, जिसमें मानवमात्र के लिये ही नहीं, अपितु प्राणीमात्र के कल्याण की भावना निहित थी। आपकी प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सुयोग्य नेतृत्व में जनकल्याण एवं समाजकल्याण के अनेकों कार्य सम्पन्न हुए, जिनमें आपने तन, मन, धन से पूर्ण सहयोग दिया। उनकी एक झलक यहाँ प्रस्तुत है।

१. योगदान : शिक्षा के क्षेत्र में

समाज में व्याप्त शैक्षणिक अभाव को दूर करने एवं समाज में धार्मिक और व्यावहारिक शिक्षण का प्रचार-प्रसार करने की आपकी तीव्र अभिलाषा थी। परिणामस्वरूप सन् १९२६ में श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन पाठशाला का शुभारम्भ हुआ। तदुपरान्त व्यावहारिक शिक्षण के प्रचार हेतु जहाँ श्री जैन हिन्दी प्राईमरी स्कूल, अमोलकचन्द गेलड़ा जैन हाई स्कूल, ताराचन्द गेलड़ा जैन हाई स्कूल, श्री गणेशीबाई गेलड़ा जैन गर्ल्स हाई स्कूल, मांगीचन्द भण्डारी जैन हाई स्कूल, बोर्डिंग होम एवं जैन महिला विद्यालय आदि शिक्षण संस्थाओं की स्थापना हुई, वहाँ आध्यात्मिक एवं धार्मिक ज्ञान के प्रसार हेतु श्री दक्षिण भारत जैन स्वाध्याय संघ का शुभारम्भ हुआ।

अगरचन्द मानमल जैन कॉलेज की स्थापना द्वारा शिक्षाक्षेत्र में आपने जो अनुपम एवं महान् योगदान दिया है, वह सदैव चिरस्मरणीय रहेगा। इसके अलावा कुछ ही माह पूर्व मद्रास विश्वविद्यालय में जैन सिद्धांतों पर विशेष शोध हेतु स्वतन्त्र विभाग की स्थापना कराने में भी आपने अपना सक्रिय योगदान दिया।

इस तरह आपने व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति जलाकर, शिक्षा के अभाव को दूर करने की अपनी भावना को साकार/मूर्त्त रूप दिया।

२. योगदान : चिकित्सा के क्षेत्र में

चिकित्साक्षेत्र में भी आप अपनी अमूल्य सेवाएं अर्पित करने में कभी पीछे न रहे। सन् १९२७ में आपने नोखा एवं कुचेरा में निःशुल्क आयुर्वेदिक औषधालय की स्थापना की। सन् १९४० में कुचेरा औषधालय को विशाल धनराशि के साथ राजस्थान सरकार को समर्पित कर दिया, जो वर्तमान में **'सेठ सोहनलाल चोरड़िया सरकारी औषधालय'** के नाम से जनसेवा का उल्लेखनीय कार्य कर रहा है। इस सेवाकार्य के उपलक्ष में राजस्थान सरकार ने आपको 'पालकी शिरोमोर' की पदवी से अलंकृत किया।

अल्प व्यय में चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध कराने हेतु मद्रास में **श्री जैन मेडीकल रिलीफ सोसायटी** की स्थापना में सक्रिय योगदान दिया। इसके तत्त्वावधान में सम्प्रति १८ औषधालय, प्रसूतिगृह आदि सुचारु रूप से कार्य कर रहे हैं।

कुछ समय पूर्व ही आपने अपनी धर्मपत्नी के नाम से प्रसूतिगृह एवं शिशुकल्याणगृह की स्थापना हेतु पाँच लाख रुपये की राशि दान की। समय-समय पर आपने नेत्रचिकित्सा-शिविर आदि आयोजित करवाकर सराहनीय कार्य किया।

इस तरह चिकित्साक्षेत्र में और भी अनेक कार्य करके आपने जनता की दुःखमुक्ति हेतु यथाशक्ति प्रयास किया।

३. योगदान : जीवदया के क्षेत्र में

आपके हृदय में मानवजगत् के साथ ही पशुजगत् के प्रति भी करुणा का अजस्र स्रोत बहता रहता था। पशुओं के दुःख को भी आपने सदैव अपना दुःख समझा। अतः उनके दुःख और उन पर होने वाले अत्याचार निवारण में सहयोग देने हेतु **'भगवान् महावीर अहिंसा प्रचार संघ'** की स्थापना कर एक व्यवस्थित कार्य शुरू किया। इस संस्था के माध्यम से जीवों को अभयदान देने एवं अहिंसा-प्रचार का कार्य बड़े सुन्दर ढंग से चल रहा है। आपकी उल्लिखित सेवाओं को देखते हुए यदि आपको 'प्राणीमात्र के हितचिन्तक' कहें तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

४. योगदान : धार्मिक क्षेत्र में

आपके रोम-रोम में धार्मिकता व्याप्त थी। आप प्रत्येक धार्मिक एवं सामाजिक गतिविधि में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान करते थे। जीवन के अन्तिम समय तक आपने जैन श्री संघ मद्रास के संघपति के रूप में अविस्मरणीय सेवाएँ दीं। कई वर्षों तक अ. भा. श्वे. स्था. जैन कॉन्फ्रेंस के अध्यक्ष पद पर रहकर उसके कार्यभार को बड़ी दक्षता के साथ संभाला।

आप अखिल भारतीय जैन समाज के सुप्रतिष्ठित अग्रगण्य नेताओं में से एक थे। आप निष्पक्ष एवं

सम्प्रदायवाद से परे एक निराले व्यक्तित्व के धनी थे। इसीलिए समग्र सन्त एवं श्रावकसमाज आपको एक दृढ़-धर्मी श्रावक के रूप में जानता व आदर देता था।

आप जैन शास्त्रों एवं तत्त्वों/सिद्धांतों के ज्ञाता थे। आप सन्त सतियों का चातुर्मास कराने में सदैव अग्रणी रहते थे और उनकी सेवा का लाभ बराबर लेते रहते थे। इस तरह धार्मिक क्षेत्र में आपका अपूर्व योगदान रहा।

इसी तरह नेत्रहीन, अपंग, रोगग्रस्त, क्षुधापीड़ित, आर्थिक स्थिति से कमजोर बन्धुओं को समय-समय पर जाति-पाँति के भेदभाव से रहित होकर अर्थ-सहयोग प्रदान किया।

इस प्रकार शिक्षणक्षेत्र में, चिकित्साक्षेत्र में, जीवदया के क्षेत्र में, धार्मिकक्षेत्र में एवं मानव-सहायता आदि हर सेवा के कार्य में तन-मन-धन से आपने यथासम्भव सहयोग दिया।

ऐसे महान् समाजसेवी, मानवता के प्रतीक को खोकर भारत का सम्पूर्ण मानवसमाज दुःख की अनुभूति कर रहा है।

आप चिरस्मरणीय बनें, जन-जन आपके आदर्श जीवन से प्रेरणा प्राप्त करें, 'आपकी आत्मा चिरशांति को प्राप्त करे; हम यही कामना करते हैं।*

—मन्त्री

---

* श्रीमान् भँवरलालजी सा. गोठी, मद्रास के सौजन्य से।

प्रस्तावना

भगवतीसूत्र : एक समीक्षात्मक अध्ययन

धर्म और संस्कृति का जो विराट् वृक्ष लहलहाता दृग्गोचर हो रहा है, जिसकी जीवनदायिनी छाया और अमृतोपम फलों से जनजीवन अनुप्राणित हो रहा है, उसका मूल क्या है ?

उसका मूल है उन तत्त्वद्रष्टा ऋषि-मुनियों का स्वानुभव, चिन्तन, वाणी और उपदेश। वस्तुतः उन तत्त्वद्रष्टा सत्य के साक्षात्कर्त्ता ऋषि-महर्षि, अरिहन्त, तीर्थंकर, बुद्ध और अवतारों द्वारा लोककल्याण हेतु व्यक्त कल्याणी वाणी ही इस संस्कृतिरूपी महावृक्ष का सिंचन संवर्धन करती आई है। उन महापुरुषों की वह वाणी ही उस-उस परम्परा के आधारभूत मूलग्रन्थों के रूप में प्रतिष्ठित हुई है, जैसे वैदिक ऋषियों की वाणी वेद, बुद्ध की वाणी त्रिपिटक और तीर्थंकरों की वाणी आगम रूप में विश्रुत हुई। महात्मा ईसा के उपदेश बाईबिल के रूप में आज विद्यमान हैं तो मुहम्मद साहब की वाणी कुरान के रूप में समाहृत है। जरथुस्त के उपदेश अवेस्ता में प्रतिष्ठित हैं तो नानकदेव की वाणी गुरुग्रन्थ साहब के रूप में। निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक धर्म-परम्परा एवं संस्कृति का मूलाधार उसके श्रद्धेय ऋषि-महर्षियों की वाणी ही है।

तीर्थंकर, श्रमणसंस्कृति के परम श्रद्धेय, सत्य के साक्षात् द्रष्टा महापुरुष हैं। उनकी वाणी 'आगम' गणिपिटक के रूप में जैन धर्म एवं संस्कृति का मूल आधार है। इन्हीं आगमवचनों के दिव्य प्रकाश में युग-युग से मानव अपने जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। आगमवाणी साधकों के लिए प्रकाशस्तम्भ की भांति सदा-सर्वदा मार्गदर्शक रही है।

आगम-परिभाषा

आगम शब्द का प्रयोग जैन परम्परा के आदरणीय ग्रन्थों के लिए हुआ है। आगम शब्द का अर्थ ज्ञान है। *आचारांग में* 'आगमेत्ता आणवेज्जा'[1] वाक्य का प्रयोग है, जिसका संस्कृत रूपान्तर है 'ज्ञात्वा आज्ञापयेत्'—*जान कर के आज्ञा करे।* 'लाघवं आगममाणे'[2] *का संस्कृत रूपान्तर है* 'लाघवम् आगमयन्-अवबुध्यमानः' लघुता को जानता हुआ।

व्यवहारभाष्य[3] में आगम-व्यवहार पर चिंतन करते हुए आगम के प्रत्यक्ष और परोक्ष, ये दो भेद किए हैं। प्रत्यक्ष में केवलज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, अवधिज्ञान और इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान को लिया गया है तथा परोक्ष ज्ञान में चतुर्दश पूर्व और उससे न्यून श्रुतज्ञान को लिया है। इससे यह स्पष्ट है कि आगम साक्षात् ज्ञान (प्रत्यक्ष

---

१. आचारांग १।५।४

२. आचारांग १।६।३।

३. व्यवहारभाष्य, गाथा २०१।

आगम) है। साक्षात् ज्ञान के आधार से जो उपदेश प्रदान किया जाता है और उससे श्रोताओं को जो ज्ञान होता है—वह परोक्ष आगम है। यहाँ पर यह स्मरण रखना होगा कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी अरिहन्त के उपदेश को परोक्ष आगम माना गया है। परोक्ष आगम भी दो प्रकार का है—(१) अलौकिक आगम और (२) लौकिक आगम। केवलज्ञानी या श्रुतज्ञानी के उपदेशों का जिसमें संकलन हो, वह शास्त्र भी आगम की अभिधा से अभिहित किया जाता है।

आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वार में आगम शब्द का प्रयोग शास्त्र के अर्थ में किया है। उन्होंने जीव के ज्ञान-गुणरूप प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, औपम्य और आगम ये चार प्रकार बताए है,[४] भगवती[५] व स्थानाङ्ग[६] में भी ये भेद आये हैं। यहाँ पर आगम प्रमाण ज्ञान के अर्थ में ही आया है। महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थों को लौकिक आगम की अभिधा दी गई है तो अरिहन्त द्वारा प्ररूपित द्वादशांग गणिपिटक को लोकोत्तर आगम कहा गया है। लोकोत्तर आगम को भावश्रुत भी कहा है[७]। ग्रन्थ आदि को द्रव्यश्रुत की संज्ञा दी गई है और श्रुतज्ञान को भावश्रुत कहा गया है। ग्रन्थ आदि को उपचार से श्रुत कहा है। द्वादशांगी में जिस श्रुतज्ञान का प्रतिपादन हुआ है, वही सम्यक् श्रुत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आगम की दूसरी ही संज्ञा श्रुत है।

श्रुत और श्रुति

श्रुत और श्रुति ये दो शब्द हैं। श्रुति शब्द का प्रयोग वेदों के लिए मुख्य रूप से होता रहा है। श्रुति वेदों की पुरातन संज्ञा है और श्रुत शब्द जैन आगमों के लिए प्रयुक्त होता रहा है। श्रुति और श्रुत में शब्द और अर्थ की दृष्टि से बहुत अधिक साम्य है। श्रुति और श्रुत दोनों का ही सम्बन्ध श्रवण से है। जो सुनने में आता है वह श्रुत है[८] और वही भाववाचक मात्र श्रवण श्रुति है। श्रुत और श्रुति का वास्तविक अर्थ है—वह शब्द जो यथार्थ हो, प्रमाण रूप हो और जनमंगलकारी हो। चाहे श्रमणपरम्परा हो, चाहे ब्राह्मणपरम्परा हो; दोनों परम्पराओं ने यथार्थ ज्ञाता, वीतराग आप्त पुरुषों के यथार्थ तत्त्ववचनों को ही श्रुत और श्रुति कहा है। अतीत काल में गुरु के मुखारविन्द से ही शिष्यगण ज्ञान श्रवण करते थे, इसीलिए वेद की संज्ञा श्रुति है और जैन आगमों की संज्ञा श्रुत है। जैन आगमों के प्रारम्भ में 'सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं' वाक्य का प्रयोग है। लम्बे समय तक श्रुत सुन कर के ही स्मृतिपटल पर रखा जाता रहा है। जब स्मृतियां धुंधली हुई, तब श्रुत लिखा गया[९]। यही बात वेद और पालीपिटकों के लिए भी है। श्रुत के सम्बन्ध में तत्त्वार्थभाष्य के सुप्रसिद्ध टीकाकार सिद्धसेन गणी ने लिखा है—इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाला ग्रन्थानुसारी विज्ञान श्रुत है[१०]।

आगम का पर्यायवाची सूत्र

अनुयोगद्वार सूत्र में आगम के लिए 'सुत्तागमे' शब्द का प्रयोग हुआ है। आगम का अपर नाम सूत्र भी है। एक विशिष्ट प्रकार की शैली में लिखे गए ग्रन्थ सूत्र के नाम से जाने जाते हैं। वैदिक परम्परा में गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र आदि अनेक धर्मग्रन्थ सूत्र की विधा में लिखे गए हैं। व्याकरण में भी सूत्र शैली को अपनाया गया है।

---

४. अनुयोगद्वार

५. भगवती, ५।१।१९२।

६. स्थानाङ्ग, ३।५०४।

७. अनुयोगद्वार, सूत्र ५।

८. श्रूयते आत्मना तदिति श्रुतं शब्दः। —विशेषावश्यकभाष्य-मलधारीया वृत्ति

९. वलीहपुरम्मि नयरे, देवड्ढिपमुहेण समणसंघेण। पुत्थइ आगमु लिहिओ, नवसय असीआओ वीराओ ॥

१०. श्रुतं""""इन्द्रियमनोनिमित्तं ग्रन्थानुसारि विज्ञानं यत्""। —तत्त्वार्थभाष्य टीका १।२०

सूत्रशैली की मुख्य विशेषता यह है कि उसमें कम शब्दों में ऐसी बात कही जाती है जो व्यापक और विराट् अर्थ को लिए हुए हो। इस प्रकार की जो विशिष्ट शब्दरचना है, वह सूत्र कहलाती है। यहाँ पर यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि सूत्र की जो परिभाषा की गई है—जो सूचना दे या संक्षेप में व्यापक अर्थ को वताये वह सूत्र है, तो इस परिभाषा के अनुसार जैन आगमों को सूत्र की संज्ञा देना कहाँ तक उपयुक्त है? वैदिक परम्परा के गृह्य-सूत्र और धर्मसूत्र जो बहुत ही संक्षेप में लिखे हुए हैं, वैसे जैन आगम नहीं लिखे गये हैं।

समाधान है—वैदिक परम्परा में वैदिक आचार के सम्बन्ध में जो नाना प्रकार के उपदेश हैं, उन उपदेशों का गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र में संग्रह किया गया है। बिखरे हुए आचार-चिन्तन को सूत्रवद्ध कर सुरक्षित किया गया है, वैसे ही जैन धर्म और दर्शन के आचार और विचार के विभिन्न पहलुओं को ग्रन्थों में आवद्ध कर सुरक्षित करने के कारण ये आगम, सूत्र कहे गये। आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में कहा है—तीर्थंकर अर्थ-रूप में उपदेश देते हैं और गणधर उसे सूत्रबद्ध करते हैं[११]। द्वादशांगी में दूसरे अंग का नाम सूत्रकृतांग है और बौद्ध त्रिपिटकों में द्वितीय पिटक का नाम सुत्तपिटक है। इन दोनों ग्रन्थों में सूत्र शब्द का प्रयोग हुआ है, ये दोनों ग्रन्थ सूत्र शैली में नहीं हैं तथापि इन दोनों ग्रन्थों में जो सूत्र शब्द आया है, वह सूत्रमनुसरन् रजः अष्टप्रकारं कर्म अपनयति ततः सरणात् सूत्रम् (वृहत्कल्प टीका पृ. ७५) जिसके अनुसरण से कर्मों का सरण अपनयन होता है वह सूत्र है। इस अर्थ में है। जैन आगमों में विविध प्रकार के अर्थों का बोध कराने की शक्ति रही हुई है, इसलिए भी जैन आगमों को सूत्र कहा गया है।

आगम का पर्यायवाची : प्रवचन

आगम का एक पर्यायवाची शब्द 'प्रवचन' भी है। सामान्य व्यक्ति की वाणी वचन है और विशिष्ट महापुरुषों के वचन प्रवचन हैं। आगम साहित्य में प्रशस्त और प्रधान श्रुतज्ञान को प्रवचन की संज्ञा दी गई है। आगमों में अनेक स्थलों पर निर्ग्रन्थ प्रवचन शब्द का प्रयोग हुआ है। भगवती में साधकों के जीवन का चित्रण करते हुए कहा है '**णिग्गंथे पावयणे अट्ठे, अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे**'····'**निग्गंथे पावयणे निस्संकिया**'[१२] अर्थात् निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थ वाला है, परमार्थ वाला है, शेष अनर्थकारी हैं····निर्ग्रन्थप्रवचन में निःशंकित हो अर्थात् उसकी सम्पूर्ण आस्था निर्ग्रन्थ प्रवचन में ही केन्द्रित हो।

गणधर गौतम ने एक बार जिज्ञासा प्रस्तुत की—"भगवन्! प्रवचन, प्रवचन कहलाता है या प्रवचनी, प्रवचन कहलाता है।"

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"अरिहन्त प्रवचनी है और द्वादश अंग प्रवचन है।"[१३]

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है—तप-नियम-ज्ञान रूप वृक्ष पर आरूढ़ होकर अनन्तज्ञानी केवली भगवान् भव्यात्माओं के विबोध के लिए ज्ञानकुसुमों की वृष्टि करते हैं। गणधर अपने बुद्धिपट पर उन कुसुमों को झेलकर प्रवचनमाला गूंथते हैं।[१४] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने नियुक्ति में आए हुए प्रवचन शब्द का अर्थ

---

११. 'अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गन्थन्ति गणहरा निउणं'। —आव० निर्युक्ति गा० १९२
१२. भगवती, २।५।
१३. भगवती, शतक २०, उद्देशक ८।
१४. तव नियमणाणरुक्खं आरूढो केवली अमियनाणी।
तो मुयइ नाणवुट्ठिं भवियजणविबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं।
तित्थयरभासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गा. ८९-९०

करते हुए लिखा है—'पगयं वयणं पवयणमिह सुयनाणं'........'पवयणमहवा संघो'[15] अर्थात् प्रकट वचन ही प्रवचन है; दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संघ प्रवचन है। संघ को प्रवचन कहने का कारण यह है कि संघ का जो ज्ञानोपयोग है—वही प्रवचन है। इसलिए संघ और ज्ञान का अभेद मानकर संघ को प्रवचन कहा है। यहाँ पर वचन के आगे जो 'प्र' उपसर्ग लगा है; वह प्रशस्त और प्रधान इन दो अर्थों में आया है। प्रशस्त वचन प्रवचन है अथवा प्रधान वचनरूप-श्रुतज्ञान प्रवचन है। श्रुतज्ञान में भी द्वादशांगी प्रधान है इसलिए वह द्वादशांगी प्रवचन है।[16] प्रवचन के भी शब्द और अर्थ ये दो रूप हैं। शब्द, सूत्र के नाम से जाना जाता है और उस सूत्र के रचयिता हैं—गणधर। जिस अर्थ के आधार पर गणधरों ने सूत्र की रचना की; उस अर्थ के प्ररूपक हैं—तीर्थंकर।[17] यहाँ पर भी एक प्रश्न समुत्पन्न होता है कि तीर्थंकरों ने अर्थ का उपदेश दिया—क्या वह अर्थ का उपदेश विना शब्द का था ? विना शब्द के उपदेश देना सम्भव ही नहीं है, तो शब्दों के रचयिता गणधर क्यों माने जाते हैं ? तीर्थंकर क्यों नहीं ?

इस प्रश्न का समाधान जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने इस प्रकार किया है—तीर्थंकर भगवान् अनुक्रम से बारह अंगों का यथावत् उपदेश प्रदान नहीं करते किन्तु संक्षेप में सिद्धान्त उपदेश देते हैं। उस संक्षिप्त उपदेश को गणधर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा से बारह अंगों में इस प्रकार संग्रथित करते हैं, जिससे सभी सरलता से समझ सकें। इस प्रकार अर्थ के कर्त्ता तीर्थंकर हैं और सूत्र के कर्त्ता गणधर हैं। संक्षेप में तीर्थंकरों का उपदेश किस प्रकार होता है इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है—'उप्पन्ने इ वा, विगमे इ वा, धुवे इ वा'। इस मातृकापदत्रयं का ही उपदेश तीर्थंकर प्रदान करते हैं और उसी का विस्तार गणधर द्वादशांगी के रूप में करते हैं।[18]

सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, प्रवचन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापन, आगम,[19] आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय, जिनवचन[20] और श्रुत, ये सभी आगम के ही पर्यायवाची शब्द हैं। अतीत काल में 'श्रुत' शब्द का प्रयोग आगम के अर्थ में अधिक होता था[21]। 'श्रुतकेवली', 'श्रुतस्थविर'[22] शब्द का प्रयोग आगमों में अनेक स्थलों पर निहारा जा सकता है पर कहीं पर भी 'आगमकेवली' या 'आगमस्थविर' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

अंग आगमों का मौलिक चिन्तन : परमाणु विज्ञान

आगमों का मौलिक विभाग अंग है। उसमें जहाँ पर धर्म और दर्शन की गम्भीर चर्चाएं हैं, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में गहरा विवेचन है, वहाँ अणु के सम्बन्ध में भी तलस्पर्शी वर्णन है। आज के वैज्ञानिक अणु के सम्बन्ध में अन्वेषण करने में जुटे हुए हैं, किन्तु अणु के सम्बन्ध में जिस सूक्ष्मता से चिन्तन श्रमण भगवान् महावीर ने किया है, उतनी सूक्ष्मता से आधुनिक वैज्ञानिक नहीं कर सके हैं। आज का वैज्ञानिक जिसे अणु कहता है;

---

१५. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११९२

१६. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १०६८; १३६७

१७. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा १११९-११२४।

१८. देखिए विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ११२२ की टीका।

१९. (क) सुय-सुत्त-गन्थ-सिद्धंत-पवयणे आण-वयण-उवएसे। पण्णवण-आगमे या एगट्ठा पज्जवा सुत्ते।
—अनुयोगद्वार ४

(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गा. ८९७

२०. तत्त्वार्थभाष्य, १—२०

२१. नन्दीसूत्र, ४१

२२. स्थानांग सूत्र १५०

महावीर उसे स्कन्ध कहते हैं। महावीर की दृष्टि से अणु बहुत ही सूक्ष्म है। वह स्कन्ध से पृथक् निरंश तत्त्व है। परमाणुपुद्गल[23] अविभाज्य है, अच्छेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है। ऐसा कोई उपाय, उपचार या उपाधि नहीं जिससे उसका विभाग किया जा सके। किसी भी तीक्ष्णातितीक्ष्ण शस्त्र और अस्त्र से उसका विभाग नहीं हो सकता। जाज्वल्यमान अग्नि उसे जला नहीं सकती। महामेघ उसे आर्द्र नहीं बना सकता। यदि वह गंगा नदी के प्रतिस्रोत में प्रविष्ट हो जाए तो वह उसे बहा नहीं सकता। परमाणुपुद्गल अनर्ध है, अमध्य है, अप्रदेशी है, सार्ध नहीं है, समध्य नहीं है, सप्रदेशी नहीं है।[24] परमाणु न लम्बा है, न चौड़ा है और न गहरा है। वह इकाई रूप है। सूक्ष्मता के कारण वह स्वयं आदि है, स्वयं मध्य है और स्वयं अन्त है।[25] जिसका आदि-मध्य-अन्त एक ही है, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं है, अविभागी है, ऐसा द्रव्य परमाणु है।[26]

जीवविज्ञान

परमाणु के सम्बन्ध में ही नहीं जीवविज्ञान के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर ने जो रहस्य उद्घाटित किए हैं, वे अद्भुत हैं, अपूर्व हैं। भगवान् महावीर ने जीवों को छह निकायों में विभक्त किया है। त्रसनिकाय के जीव प्रत्यक्ष हैं। वनस्पतिनिकाय के जीव भी आधुनिक विज्ञान के द्वारा मान्य किए जा चुके हैं, किन्तु आधुनिक विज्ञान पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार निकायों में जीव नहीं समझ पाया है। भगवान् महावीर ने पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु में केवल जीव का अस्तित्व ही नहीं माना है अपितु उनमें आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा और लोकसंज्ञा का भी अस्तित्व माना है। वे जीव श्वासोच्छ्वास भी लेते हैं। मानव जैसे श्वास के समय प्राणवायु ग्रहण करता है वैसे पृथ्वीकाय, अप्काय, वनस्पतिकाय आदि के जीव श्वास काल में केवल वायु को ही ग्रहण नहीं करते अपितु पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और अग्नि, इन सभी के पुद्गल द्रव्यों को भी ग्रहण करते हैं[27]। पृथ्वीकाय के जीवों में भी आहार की इच्छा होती है; वे प्रतिपल, प्रतिक्षण आहार ग्रहण करते रहते हैं। उनमें एक इन्द्रिय होती है और वह है स्पर्श-इन्द्रिय। उसी से उनमें चैतन्य स्पष्ट होता है, अन्य चैतन्य की धाराएं उनमें अस्पष्ट होती हैं।[28] पृथ्वीकायिक जीवों का अल्पतम जीवनकाल अन्तर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट जीवनकाल २२००० वर्ष का है। आधुनिक विज्ञान ने वनस्पति के जीवों के सम्बन्ध में अध्ययन कर उसके सम्बन्ध में अनेक रहस्यों को अनावृत किया है। स्नेहपूर्ण सद्व्यवहार से वनस्पति प्रफुल्लित होती है और घृणापूर्ण व्यवहार से मुरझा जाती है। इस प्रकार की अनेक बातें जीवविज्ञान के सम्बन्ध में आगम साहित्य में आई हैं, जिसे सामान्य बुद्धि ग्रहण नहीं कर पाती। इसी तरह भूगोल और खगोल विद्या के सम्बन्ध में भी जैन आगम साहित्य में पर्याप्त सामग्री है। वैज्ञानिक अभी तक जितना जान पाए हैं, उससे अधिक सामग्री अज्ञात है। केवल पौराणिक चिन्तन कहकर उस सामग्री की उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्वेषणा करने पर अनेक नए तथ्य उजागर हो सकते हैं। वैज्ञानिकों को चिन्तन करने के लिए नई दृष्टि प्रदान कर सकते हैं।

---

२३. भगवती, ५।७

२४. भगवती, ५।७

२५. राजवार्तिक, ५।२५।१

२६. सर्वार्थसिद्धि टीका-सूत्र ५।२५

२७. भगवती, ९।३४।२५३-२५४

२८. भगवती, १।१।३२

जैन आगमों में उस युग की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों का भी यत्र-तत्र चित्रण हुआ है। समाज और संस्कृति का अध्ययन करने वाले शोधार्थियों के लिए यह सामग्री बहुत ही दिलचस्प और ज्ञानवर्द्धक है। भाषाविज्ञान और अन्य अनेक दृष्टियों से जैन आगमों का अध्ययन चिन्तन की अभिनव सामग्री प्रदान करने में सक्षम है।

जैन आगमों का मूल स्रोत वेद नहीं

कितने ही पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों का यह अभिमत है कि जैन आगम-साहित्य में जो चिन्तन आया है, उसका मूल स्रोत वेद है। क्योंकि वर्तमान में जितना भी साहित्य है, उन सबमें प्राचीनतम साहित्य वेद है। ऋग्वेद विश्व का प्राचीनतम ग्रन्थ है किन्तु आधुनिक अन्वेषणा ने उन विज्ञों के मत को निरस्त कर दिया है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त ध्वंसावशेषों ने यह सिद्ध कर दिया है कि आर्यों के भारत में आने के पूर्व भारतीय संस्कृति और धर्म पूर्ण रूप से विकसित था[२९]। शोधार्थी मनीषियों का यह मानना है कि जो आर्य भारत में बाहर से आए थे, उन आर्यों ने वेदों की रचना की। जब वेदों में भारतीय चिन्तन का सम्मिश्रण हुआ तो वेद जो अभारतीय थे; वे भारतीय चिन्तन के रूप में विज्ञों के द्वारा मान्य किए गए। आर्य भ्रमणशील थे, भ्रमणशील होने के कारण उनकी संस्कृति अच्छी तरह से विकसित नहीं हुई थी जबकि भारत के आद्य निवासियों की संस्कृति स्थिर संस्कृति थी। वे एक स्थान पर ही अवस्थित थे, इस कारण उनकी संस्कृति आर्यों की संस्कृति से अधिक विकसित थी, वह एक प्रकार से नागरिक संस्कृति थी। बाहर से आने वाले आर्यों की अपेक्षा यहाँ के लोग अधिक सुसंस्कृत थे। जब हम वेदों का संहिताविभाग और ब्राह्मण ग्रन्थों का गहराई से अध्ययन करते हैं तो उन ग्रन्थों में आर्यों के संस्कारों का प्राधान्य दृग्गोचर होता है, पर उसके पश्चात् लिखे गये आरण्यक, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, स्मृतिशास्त्र आदि जो वैदिक परम्परा का साहित्य है, उसमें काफी परिवर्तन हुआ है। बाहर से आए हुए आर्यों ने भारतीय संस्कारों को इस प्रकार से ग्रहण किया कि वे अभारतीय होने पर भी भारतीय बन गए। इन नये संस्कारों का मूल अवैदिक परम्परा में रहा हुआ है। वह अवैदिक परम्परा जैन और बौद्ध परम्परा है। अवैदिक परम्परा के प्रभाव के कारण ही जिन विषयों की चर्चा वेदों में नहीं हुई, उनकी चर्चा उपनिषद् आदि में हुई है। वेदों में आत्मा, पुनर्जन्म, व्रत आदि की चर्चाएं नहीं थीं, पर उपनिषदों में इन पर खुलकर चर्चाएं हुई हैं और आचारसंहिता में भी परिवर्तन आया है। इस परिवर्तन का मूल आधार अवैदिक परम्परा रही है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि वेदों के पश्चात् जो ग्रन्थ निर्मित हुए उन पर श्रमणसंस्कृति की छाप स्पष्ट रूप से निहारी जा सकती है।

वेदों में सृष्टितत्त्व के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है तो श्रमणसंस्कृति में संसारतत्त्व पर गहराई से विचार किया गया है। वैदिक दृष्टि से सृष्टि के मूल में एक ही तत्त्व है तो श्रमणसंस्कृति ने संसारतत्त्व के मूल में जड़ और चेतन ये दो तत्त्व माने हैं। वैदिक परम्परा में सृष्टि कब उत्पन्न हुई ? इस सम्बन्ध में विचार व्यक्त किया गया है तो श्रमणसंस्कृति की दृष्टि से संसारचक्र अनादि काल से चल रहा है। उसका न तो आदि है और न अन्त ही है। वेदों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन महाव्रतों की चर्चा नहीं हुई है। यहाँ तक कि हिंसा और परिग्रह पर बल दिया गया है। वाजसनेयीसंहिता[३०] में पुरुषमेधयज्ञ में १८४ पुरुषों के वध

---

२९. Indian Pattern of Life and Thought—A Glimpse of its early phases;—Indo-Asian Culture—Page 47. Publication year 1959.—Dr. R. N. Dandekar.

३०. वाजसनेयी सहिता, ३०।

का संकेत किया गया है। ऋग्वेद,[31] विष्णुस्मृति,[32] मनुस्मृति[33] आदि ग्रन्थों में भी यज्ञ-याग के लिए की गई हिंसा को हिंसा नहीं समझा गया है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' जैसे गर्हित सूत्र बनाए गए थे। श्रमण-संस्कृति के दिव्य प्रभाव से ही वेदों के पश्चात् निर्मित साहित्य में व्रतों की चर्चाएं हुई हैं।

डॉ. हरमन जैकोबी का अभिमत है कि जैनों ने अपने व्रत ब्राह्मणों से उधार लिए हैं[34]। ब्राह्मण संन्यासी अहिंसा, सत्य, अचौर्य, सन्तोष और मुक्तता उन महाव्रतों का पालन करते थे जो आगे चलकर जैन महाव्रतों का आधार बने, पर जैकोबी की इस कल्पना का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। बौधायन में उल्लिखित व्रतों के आधार पर डॉ. जैकोबी ने जो कल्पना की है, वह सत्य तथ्य से परे है। क्योंकि व्रत का सम्बन्ध संन्यास आश्रम से है। वेदों में संन्यास आश्रम की कोई चर्चा नहीं है। वैदिक युग में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ ये दो ही व्यवस्थाएं थीं। संन्यास की चर्चा उपनिषत्काल में प्रारम्भ हुई। बृहदारण्यक में संन्यास का उल्लेख अवश्य हुआ है[35]। जाबालोपनिषद् में चार आश्रमों की व्यवस्था प्राप्त है[36]। उपनिषद्साहित्य के पूर्व वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता थी। तैत्तिरीयसंहिता में वर्णन है कि ब्राह्मण तीन ऋणों के साथ जन्म ग्रहण करता है। ऋषियों के ऋण से मुक्त होने के लिए ब्रह्मचर्य है। देवों के ऋण से मुक्त होने के लिए यज्ञ है और पितरों के ऋण से उऋण होने के लिए पुत्रवान् होना आवश्यक है[37]। एक बार वेधस राजा ने नारद ऋषि से पूछा—पुत्र से क्या लाभ? नारद ने उत्तर प्रदान करते हुए कहा—यदि पिता अपने पुत्र का मुख देख ले तो पितृ-ऋण से मुक्त हो जाता है और अमर बन जाता है[38]। इस प्रकार वैदिक परम्परा में पुत्र की प्रधानता रही है। उसे त्राता माना है, जबकि जैनपरम्परा में पुत्र को त्राता नहीं माना है[39]। वैदिक परम्परा में गृहस्थ-आश्रम को सबसे प्रमुख आश्रम माना है—जिस प्रकार नदी और नद सागर में आकर स्थिर हो जाते हैं, वैसे ही सभी आश्रम गृहस्थ-आश्रम में स्थिर होते हैं[40]। इससे यह स्पष्ट है कि संन्यास और व्रत-की परम्परा श्रमणधर्म की देन है। श्रमणधर्म से ही वैदिक परम्परा ने व्रत आदि को ग्रहण किया है। वेद, ब्राह्मण

---

३१. ऋग्वेद, १०।९०;१।२४।३०;९।३।

३२. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द ७,५१,६१-६३।

३३. मनुस्मृति ५।२२।२९।४४।

३४. "It is therefore probable that the Jainas have borrowed their own vows from the Brahmans, Not from the Buddhists"

—The Sacred Books of the East, Vol. XXII, Introduction p. 24.

३५. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।४।२२।

३६. (क) जाबालोपनिषद् ४। (ख) वशिष्ठ धर्मशास्त्र ७।१।२।

३७. तैत्तिरीयसंहिता ६।३।१०।५।

३८. ऋणमस्मिन् सनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥ —ऐतरेय ब्राह्मण, ७ वीं पंचिका, अध्याय ३

३९. जाया य पुत्ता न हवन्ति ताणं। —उत्तराध्ययन अ. १४, श्लो. १२

४०. गृहस्थ एव यजते, गृहस्थस्तप्यते तपः।
चतुर्णामश्रमाणं तु, गृहस्थश्च विशिष्यते॥
यथा नदी नदाः सर्वे, समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवामाश्रमिणः सर्वे, गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥ —वशिष्ठ-धर्मशास्त्र ८।१४-१५

और आरण्यक साहित्य में महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। जिन उपनिषदों पुराणों और स्मृति ग्रन्थों में महाव्रतों का वर्णन आया है उन पर तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और जैनधर्म का प्रभाव है। इस सत्य को महाकवि दिनकर ने स्वीकार करते हुए लिखा है—हिन्दुत्व और जैनधर्म आपस में घुल-मिल कर अब इतने एकाकार हो गए हैं कि आज का साधारण हिन्दू यह जानता भी नही कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैनधर्म के उपदेश थे, हिन्दुत्व के नहीं[४१]। अन्य स्वतंत्र चिन्तकों ने भी इस सत्य को बिना संकोच स्वीकार किया है। डॉ. डांडेकर आदि का भी यही अभिमत रहा है।

वेदो में योग और ध्यान की भी प्रक्रिया नहीं है। ऋग्वेद में योग शब्द मिलता है। वहां पर योग शब्द का अर्थ जोड़ना मात्र है[४२]। पर आगे चलकर वही योग शब्द उपनिषदों में पूर्ण रूप से आध्यात्मिक अर्थ में आया है।[४३] कितने ही उपनिषदों में तो योग और योगसाधना का सविस्तृत वर्णन किया गया है।[४४] योग, योगोचित स्थान, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, कुण्डलिनी आदि का विशद वर्णन है। सिन्धुसंस्कृति के भग्नावशेषों में ध्यानमुद्रा के प्रतीक प्राप्त हुये हैं, जिससे भी इस कथन को बल प्राप्त होता है। संक्षेप में यही सार है कि जैन आगामों का मूल स्रोत वेद नहीं हैं। वेदों से उसने सामग्री ग्रहण नहीं की है। उसकी सामग्री का मूल स्रोत तीर्थंकर हैं। केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन समुत्पन्न होने पर सभी जीवों के रक्षा रूप दया के लिए तीर्थंकर पावन प्रवचन करते है और वह प्रवचन ही आगम है। इस प्रवचन का स्रोत केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन है। इस तरह अंग आगम श्रमणसंस्कृति के प्रतिनिधि तथा आधारभूत ग्रन्थ हैं।

व्याख्याप्रज्ञप्ति

द्वादशांगी में व्याख्याप्रज्ञप्ति का पांचवां स्थान है। यह आगम प्रश्नोत्तर शैली में लिखा हुआ है, इसलिए इसका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। समवायाङ्ग[४५] और नन्दी[४६] में लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ३६००० प्रश्नों का

---

४१. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. १२५

४२. (क) स घा नो योग आ भुवत्। —ऋग्वेद, १। ५। ३

(ख) स धीनां योगमिन्वति। —ऋग्वेद, १। १८। ७

(ग) कदा योगी वाजिनो रासभस्य। —ऋग्वेद १। ३४। ९

(घ) वाजयन्निव नू रथान् योगा अग्नेरुपस्तुहि। —ऋग्वेद २। ८। १

४३. (क) अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्ष-शोकौ जहाति। —कठोपनिषद् १। २। १२

(ख) तां योगमितिमन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥ —कठोपनिषद् २। ३। ११

(ग) तैत्तिरीयोपनिषद् २। १४

४४. योगराजोपनिषद् अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्, दर्शनोपनिषद्, ध्यानबिन्दूपनिषद्, हंस, ब्रह्मविद्या, शाण्डिल्य, वाराह, योगशिख, योगतत्त्व, योगचूडामणि, महावाक्य, योगकुण्डली, मण्डलब्राह्मण, पाशुपतब्राह्मण, नादबिन्दु, तेजोबिन्दु, अमृतबिन्दु, मुक्तिकोपनिषद्। इन सभी २१ उपनिषदों में योग का वर्णन हुआ है।

४५. समवायाङ्ग, सूत्र ९३

४६. नन्दीसूत्र ८५

व्याकरण है। दिगम्बरपरम्परा के आचार्य अकलंक[47]ने, आचार्य पुष्पदंत और भूतवलि[48]ने और आचार्य गुणधर[49]ने लिखा है कि व्याख्याप्रज्ञप्ति में ६०,००० प्रश्नों का व्याकरण है। उसका प्राकृत नाम 'विहायपण्णत्ति' है। किन्तु प्रतिलिपिकारों ने विवाहपण्णत्ति और वियाहपण्णत्ति ये दोनों नाम भी दिए हैं। नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने वियाहपण्णत्ति का अर्थ करते हुए लिखा है—गौतम आदि शिष्यों को उनके प्रश्नों का उत्तर प्रदान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने श्रेष्ठतम विधि से जो विविध विषयों का विवेचन किया है, वह गणधर आर्य सुधर्मा द्वारा अपने शिष्य जम्बू को प्ररूपित किया गया। जिसमें विशद विवेचन किया गया हो वह व्याख्या-प्रज्ञप्ति है [50]।

अन्य आगमों की अपेक्षा व्याख्याप्रज्ञप्ति आगम अधिक विशाल है। विषयवस्तु की दृष्टि से भी इसमें विविधता है। विश्वविद्या की ऐसी कोई भी अभिधा नहीं है, जिसकी प्रस्तुत आगम में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में चर्चा न की गई हो। प्रश्नोत्तरों के द्वारा जैन तत्त्वज्ञान, इतिहास की अनेक घटनाएं, विभिन्न व्यक्तियों का वर्णन और विवेचन इतना विस्तृत किया गया है कि प्रवुद्ध पाठक सहज ही विशाल ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इस दृष्टि से इसे प्राचीन जैन ज्ञान का विश्वकोष कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी। इस आगम के प्रति जनमानस में अत्यधिक श्रद्धा रही है। इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं, श्रद्धालु श्राद्धगण भक्ति-भावना से विभोर होकर सद्गुरुओं के मुख से इस आगम को सुनते थे तो एक-एक प्रश्न पर एक-एक स्वर्ण-मुद्राएं ज्ञान-वृद्धि के लिए दान के रूप में प्रदान करते थे। इस प्रकार ३६००० स्वर्ण-मुद्राएं समर्पित कर व्याख्याप्रज्ञप्ति को श्रद्धालुओं ने सुना है। इस प्रकार इस आगम के प्रति जनमानस में अपार श्रद्धा रही है। श्रद्धा के कारण ही व्याख्याप्रज्ञप्ति के पूर्व 'भगवती' विशेषण प्रयुक्त होने लगा और शताधिक वर्षों से तो 'भगवती' विशेषण न रहकर स्वतंत्र नाम हो गया है। वर्तमान में 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' की अपेक्षा 'भगवती' नाम अधिक प्रचलित है[51]।

समवायाङ्ग में यह बताया गया है कि अनेक देवताओं, राजाओं व राजऋषियों ने भगवान् महावीर से विविध प्रकार के प्रश्न पूछे। भगवान् ने उन सभी प्रश्नों का विस्तार से उत्तर दिया। इस आगम में स्वसमय, परसमय, जीव, अजीव, लोक, अलोक आदि की व्याख्या की गई है[52]। आचार्य अकलङ्क के मन्तव्यानुसार प्रस्तुत आगम में जीव है या नहीं ? इस प्रकार के अनेक प्रश्नों का निरूपण किया गया है[53]। आचार्य वीरसेन ने बताया है कि

---

४७. तत्त्वार्थवार्तिक १।२०

४८. षट्खंडागम, खण्ड १, पृष्ठ १०१

४९. कषायपाहुड, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १२५

५०. (क) "वि-विविधा, आ-अभिविधिना, ख्या-ख्यानाति भगवतो महावीरस्य गौतमादीन् विनेयान् प्रति प्रश्नितपदार्थप्रतिपादनानि व्याख्याः, ताः प्रज्ञाप्यन्ते, भगवता सुधर्मस्वामिना जम्बूनामानमभि यस्याम्।"

(ख) विवाह-प्रज्ञप्ति—अर्थात् जिसमें विविध प्रवाहों की प्रज्ञापना की गई है—वह विवाहप्रज्ञप्ति है।

(ग) इसी प्रकार 'विवाहपण्णत्ति' शब्द की व्याख्या में लिखा है—'विवाधाप्रज्ञप्ति' अर्थात् जिसमें निर्बाध रूप से अथवा प्रमाण से अबाधित निरूपण किया गया है, वह विवाहपण्णत्ति है।

५१. महायान बौद्धों में प्रज्ञापारमिता जो ग्रन्थ है उसका अत्यधिक महत्त्व है अतः अष्ट प्राहसिका प्रज्ञापारमिता का अपर नाम भगवती मिलता है।
—देखिए—शिक्षा समुच्चय, पृ. १०४-११२

५२. समवायाङ्ग, सूत्र ९३

५३. तत्त्वार्थवार्तिक, १।२०

व्याख्याप्रज्ञप्ति में प्रश्नोत्तरों के साथ ही ९६००० छिन्नछेदनयों[५४] से ज्ञापनीय शुभ और अशुभ का वर्णन है[५५]।

प्रस्तुत आगम में एक श्रुतस्कन्ध, एक सौ एक अध्ययन, दस हजार उद्देशनकाल, दस हजार समुद्देशनकाल, छत्तीस हजार प्रश्न और उनके उत्तर, २८८००० पद और संख्यात अक्षर हैं। व्याख्याप्रज्ञप्ति की वर्णनपरिधि में अनंत गम, अनंत पर्याय, परिमित त्रस और अनन्त स्थावर आते है।

आचार्य अभयदेव ने पदों की संख्या २८८००० बताई है तो समवायाङ्ग में पदों की संख्या ८४००० बताई है। व्याख्याप्रज्ञप्ति के अध्ययन 'शतक' के नाम से विश्रुत हैं। वर्तमान में इसके १३८ शतक और १९२५ उद्देशक प्राप्त होते हैं। प्रथम ३२ शतक पूर्ण स्वतंत्र हैं, तेतीस से उनचालीस तक के सात शतक १२-१२ शतकों के समवाय है। चालीसवां शतक २१ शतकों का समवाय है। इकतालीसवां शतक स्वतंत्र है। कुल मिलाकर १३८ शतक हैं। इनमें ४१ मुख्य और शेष अवान्तर शतक हैं।

शतकों में उद्देशक तथा अक्षर-परिमाण इस प्रकार है—

शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण	शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण
१	१०	३८८४१	१८	१०	२२४४३
२	१०	२३८१८	१९	१०	८०२७
३	१०	३६७०२	२०	१०	१९८७१
४	१०	७५३	२१	आठ वर्ग ८०	१६३०
५	१०	२५६९१	२२	छह वर्ग ६०	१०६८
६	१०	१८६५२	२३	पांच वर्ग ५०	७१५
७	१०	२४९३५	२४	२४	३९९२६
८	१०	४८५३४	२५	१२	४५१०३
९	३४	४५८५९	२६	११	४४५५
१०	३४	९९०७	२७	११	१९०
११	१२	३२३३८	२८	११	६९४
१२	१०	३२८०८	२९	११	१०२७
१३	१०	२१९१४	३०	११	४७६४
१४	१०	१६०३३	३१	२८	२३४४
१५	—	३९८१२	३२	२८	३६३
१६	१४	१५९३९	३३	(१२)१२४	३०८९
१७	१७	८४१२	३४	(१२)१२४	८९६४

५४. वह व्याख्यापद्धति, जिसमें प्रत्येक श्लोक और सूत्र की स्वतंत्र व्याख्या की जाती है और दूसरे श्लोकों और सूत्रों से निरपेक्ष व्याख्या भी की जाती है। वह व्याख्यापद्धति छिन्नछेदनय के नाम से पहचानी जाती है।

५५. कषायपाहुड भाग १, पृ. १२५

शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण	शतक	उद्देशक	अक्षर-परिमाण
३५	(१२)१३२	४१८१	४०	(२१)२३१	२७३४
३६	(१२)१३२	७३१	४१	१९६	३५१६
३७	(१२)१३२	११५	—	—	—
३८	(१२)१३२	८७	१३८	१९२३	६१८२२४
३९	(१२)१३२	१३९			

मंगल

वर्तमान में द्वादशांगी के ग्यारह अंग उपलब्ध हैं। बारहवाँ अंग दृष्टिवाद इस समय विच्छिन्न हो चुका है। ग्यारह अंगों में से केवल भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में ही मंगलवाक्य है। अन्य किसी भी अंग सूत्र में मंगलवाक्य नहीं है। सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि भगवती में ही मंगलवाक्य क्यों है? इस जिज्ञासा का समाधान दो दृष्टियों से किया जाता है—एक तर्क की दृष्टि से, दूसरा श्रद्धा की दृष्टि से। तार्किक चिन्तकों का अभिमत है कि आगमयुग में मंगलवाक्य की परम्परा नहीं थी। मंगल, अभिधेय, सम्बन्ध और प्रयोजन ये चारों अनुबन्ध दार्शनिक युग की देन हैं। आगमकार अपने अभिधेय के साथ ही आगम का प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि आगम स्वयं ही मंगल हैं। इसलिए उनमें मंगलवाक्य की आवश्यकता नहीं। दिगम्बर परम्परा के आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने लिखा है कि आगम में मंगलवाक्य का नियम नहीं है, क्योंकि परमागम में चित्त को केन्द्रित करने से नियमतः मंगल का फल उपलब्ध हो जाता है।[५६] अतः भगवती में जो मंगलवाक्य आये हैं वे प्रक्षिप्त होने चाहिए। जब यह धारणा चिन्तकों के मस्तिष्क में रूढ हो गई—ग्रन्थ के आदि, मध्य और अन्त में मंगलवाक्य होना चाहिये, तभी से मंगलवाक्य लिखे गये।[५७]

श्रद्धा की दृष्टि से जब भगवती की रचना हुई तभी से मंगलवाक्य है। मंगल बहुत ही प्रिय शब्द है। अनन्तकाल से प्राणी मंगल की अन्वेषणा कर रहा है। मंगल के लिए गगनचुम्बी पर्वतों की यात्राएँ कीं; विराट्काय समुद्र को लांघा; बीहड जंगलों को रोंद डाला; रक्त की नदियाँ बहाईं; अपार कष्ट सहन किए; पर मंगल नहीं मिला। कुछ समय के लिए किसी को मंगल समझ भी लिया गया, पर वस्तुतः वह मंगल सिद्ध नहीं हुआ। मंगल शब्द पर चिन्तन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने लिखा—जिसमें हित की प्राप्ति हो, वह मंगल है अथवा जो मत्पदवाच्य आत्मा को संसार से अलग करता है—वह मंगल है।[५८] आचार्य मलधारी हेमचन्द का अभिमत है—जिससे आत्मा शोभायमान हो, वह मंगल है या जिससे आनन्द और हर्ष प्राप्त होता है, वह मंगल है। यों भी कह

---

५६. एत्थ पुण णियमो णत्थि, परमागमुवजोगम्मि णियमेण मंगलफलोवलंभादो।

—कषायपाहुड, भाग १, गा. १, पृ. ९

५७. तं मंगलमाइए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
पढमं सत्थस्साविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं॥
तस्सेवाविग्घत्थं मज्झिमयं अंतिमं च तस्सेव।
अव्वोच्छित्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स॥ —विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १३-१४

५८. 'मङ्ग्यतेऽधिगम्यते हितमनेनेति मंगलम्'……'मां. गालयति भवादिति मङ्गलं—संसारादपनयति।'

—दशवैकालिकटीका

सकते हैं कि जिसके द्वारा आत्मा पूज्य, विश्ववन्द्य होता है वह मंगल है।[५९] इस प्रकार इन व्युत्पत्तियों में लोकोत्तर मंगल की अद्वितीय महिमा प्रकट की गई है।

महामन्त्र : एक अनुचिन्तन

भगवतीसूत्र के प्रारम्भ में मंगलवाक्य के रूप में "नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्वसाहूणं" "नमो बंभीए लिवीए"—का प्रयोग हुआ है। नमोकार मन्त्र जैनों का एक सार्वभौम और सम्प्रदायातीत मन्त्र है। वैदिकपरम्परा में जो महत्त्व गायत्री मन्त्र को दिया गया है, बौद्धपरम्परा में जो महत्त्व "तिसरन" मन्त्र को दिया गया है, उससे भी अधिक महत्त्व जैनपरम्परा में इस महामन्त्र का है। इसकी शक्ति अमोघ है और प्रभाव अचिन्त्य है। इसकी साधना और आराधना से लौकिक और लोकोत्तर सभी प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं। यह महामन्त्र अनादि और शाश्वत है। सभी तीर्थंकर इस महामन्त्र को महत्त्व देते आये हैं। यह जिनागम का सार है। जैसे तिल का सार तेल है; दूध का सार घृत है; फूल का सार इत्र है; वैसे ही द्वादशांगी का सार नमोक्कार महामन्त्र है। इस महामन्त्र में समस्त श्रुतज्ञान का सार रहा हुआ है, क्योंकि परमेष्ठी के अतिरिक्त अन्य श्रुतज्ञान कुछ भी नहीं है। पंच परमेष्ठी अनादि होने के कारण यह महामन्त्र अनादि माना गया है। यह महामन्त्र कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न या कामधेनु के समान फल देने वाला है। यह सत्य है कि जितना हम इस महामन्त्र को मानते हैं उतना इस महामन्त्र के सम्बन्ध में जानते नहीं। मानने के साथ जानना भी आवश्यक है, जिससे इस महामन्त्र के जप में तेजस्विता आती है।

'मननात् मन्त्रः' मनन करने के कारण ही मन्त्र नाम पड़ा है। मन्त्र मनन करने को उत्प्रेरित करता है, वह चिन्तन को एकाग्र करता है, आध्यात्मिक ऊर्जा/शक्ति को बढ़ाता है। चिन्तन/मनन कभी अन्धविश्वास नहीं होता, उसके पीछे विवेक का आलोक जगमगाता है। उसका सबसे बड़ा कार्य है—अनादि काल की मूर्च्छा को तोड़ना; मोह को भंग कर मोहन के दर्शन करना। मन्त्र मूर्च्छा को नष्ट करने का सर्वोत्तम उपाय है। मूर्च्छा ऐसा आध्यात्मिक रोग है, जो सहसा नष्ट नहीं होता; उसके लिए निरन्तर मन्त्र जप की आवश्यकता होती है। यह महामंत्र साधक के अन्तर्मानस में यह भावना पैदा करता है कि मैं शरीर नहीं हूँ, शरीर से परे हूँ। वह भेद-विज्ञान पैदा करता है। मंत्र हृदय की आँख है। मंत्र वह शक्ति है—जो आसक्ति को नष्ट कर अनासक्ति पैदा करती है। नमस्कार महामंत्र का उपयोग जो साधक आसक्ति के लिए करते हैं—वे लक्ष्यभ्रष्ट हैं। लक्ष्यभ्रष्ट तीर का कोई उपयोग नहीं होता, वैसे ही लक्ष्यभ्रष्ट मंत्र का भी कोई उपयोग नहीं है।

मन्त्र छोटा होता है। वह ग्रन्थ की तरह बड़ा नहीं होता। हीरा छोटा होता है, चट्टान की तरह बड़ा नहीं होता, पर बड़ी-बड़ी चट्टानों को वह काट देता है। अंकुश छोटा होता है, किन्तु मदोन्मत्त गजराज को अधीन कर लेता है। बीज नन्हा होता है, पर वही बीज विराट् वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। वैसे ही नमोक्कार मंत्र में जो अक्षर हैं—वे भी बीज की तरह हैं। नमोक्कार मंत्र में ३५ अक्षर हैं। ३ में ५ जोड़ने पर ८ होते हैं। जैनदृष्टि से कर्म आठ हैं। इस महामंत्र की साधना से आठों कर्मों की निर्जरा होती है। ३—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तथा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। ५—पंचमहाव्रत और पंचसमिति का प्रतीक है। जब नमोक्कार मंत्र के साथ रत्नत्रय व महाव्रत का सुमेल होता है या अष्टक प्रवचनमाता की साधना भी साथ चलती है तो उस साधना में अभिनव ज्योति पैदा हो जाती है। इस प्रकार यह महामंत्र मन का त्राण करता है। अशुभ विचारों के प्रभाव से मन को मुक्त करता है।

---

५९. 'मंग्यतेऽलंक्रियतेऽनेनेति मंगलम्' ......'मोदन्तेऽनेनेति मंगलम्'......'महान्ते-पूज्यन्तेऽनेनेति मंगलम्।'
—विशेषावश्यकभाष्य

नमोक्कार महामंत्र हमारे प्रसुप्त चित्त को जागृत करता है। यह मंत्र शक्ति-जागरण का अग्रदूत है। इस मंत्र के जाप से इन्द्रियों की वल्गा हाथ में आ जाती है, जिससे सहज ही इन्द्रिय-निग्रह हो जाता है। मन्त्र एक ऐसी छैनी है जो विकारों की परतों को काटती है। जब विकार पूर्णरूप से कट जाते हैं तब आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। महामन्त्र की जप-साधना से साधक अन्तर्मुखी बनता है, पर जप की साधना विधिपूर्वक होनी चाहिये। विधिपूर्वक किया गया कार्य ही सफल होता है। डॉक्टर रुग्ण व्यक्ति का ऑपरेशन विधिपूर्वक नहीं करता है तो रुग्ण व्यक्ति के प्राण संकट में पड़ जाते हैं। बिना विधि के जड़ मशीनें भी नहीं चलतीं। सारा विज्ञान विधि पर ही अवलम्बित है। अविधिपूर्वक किया गया कार्य निष्फल होता है। यही स्थिति मंत्र-जप की भी है।

नमोक्कार महामंत्र में पांच पद हैं। ३५ अक्षर हैं। इनमें ११ अक्षर लघु हैं, २४ गुरु हैं, १५ दीर्घ हैं और २० ह्रस्व हैं, ३५ स्वर हैं और ३४ व्यंजन हैं। यह एक अद्वितीय बीजसंयोजना है। 'नमो अरिहंताणं' में सात अक्षर हैं, 'नमो सिद्धाणं' में पांच अक्षर हैं, 'नमो आयरियाणं' में सात अक्षर हैं, "नमो उवज्झायाणं" में सात अक्षर हैं और "नमो लोए सव्वसाहूणं" में नौ अक्षर हैं—इस प्रकार इस महामंत्र में कुल ३५ अक्षर हैं। स्वर और व्यंजन का विश्लेषण करने पर "नमो अरिहंताणं" में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, "नमो सिद्धाणं" में ५ स्वर और ६ व्यंजन हैं, "नमो आयरियाणं" में ७ स्वर और ६ व्यंजन हैं, "नमो उवज्झायाणं" में ७ स्वर और ७ ही व्यंजन हैं तथा "नमो लोए सव्वसाहूणं" में ९ स्वर तथा ९ व्यंजन हैं—इस प्रकार नमोक्कार महामंत्र में ३५ स्वर और ३४ व्यंजन हैं। यह महामंत्र जैन आराधना और साधना का केन्द्र है, इसकी शक्ति अपरिमेय है। इस महामंत्र के वर्णों के संयोजन पर चिन्तन करें तो यह बड़ा अद्भुत और पूर्ण वैज्ञानिक है। इसके बीजाक्षरों को आधुनिक शब्दविज्ञान की कसौटी पर कसने पर यह पाते हैं कि इसमें विलक्षण ऊर्जा है और शक्ति का भण्डार छिपा हुआ है। प्रत्येक अक्षर का विशिष्ट अर्थ है, प्रयोजन है और ऊर्जा उत्पन्न करने की क्षमता है।

जैनधर्म में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँच महान् आत्मा माने गये हैं, जिन्होंने आध्यात्मिक गुणों का विकास किया। आध्यात्मिक उत्कर्ष में न वेष बाधक है और न लिंग ही। स्त्री हो या पुरुष हो, सभी अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष कर सकते हैं। नमोक्कार महामंत्र में अरिहन्तों को नमस्कार किया गया है, किन्तु तीर्थंकरों को नहीं। तीर्थंकर भी अरिहन्त हैं तथापि सभी अरिहन्त तीर्थंकर नहीं होते। अरिहन्तों के नमस्कार में तीर्थंकर स्वयं आ जाते हैं। पर तीर्थंकर को नमस्कार करने में सभी अरिहन्त नहीं आते। यहाँ पर तीर्थंकरत्व मुख्य नहीं है, मुख्य है—अर्हत्‌भाव। जैनधर्म की दृष्टि से तीर्थंकरत्व औदयिक प्रकृति है, वह एक कर्म के उदय का फल है किन्तु अरिहन्तदशा क्षायिक भाव है। वह कर्म का फल नहीं अपितु कर्मों की निर्जरा का फल है। तीर्थंकरों को भी जो नमस्कार किया जाता है, उसमें भी अर्हत्‌भाव ही मुख्य रहा हुआ है। इस प्रकार नमोक्कार महामंत्र में व्यक्ति-विशेष को नहीं, किन्तु गुणों को नमस्कार किया गया है। व्यक्तिपूजा नहीं किन्तु गुणपूजा को महत्त्व दिया गया है। यह कितनी विराट् और भव्य भावना है।

प्राचीन ग्रन्थों में नमोक्कार महामंत्र को पंचपरमेष्ठीमंत्र भी कहा है। 'परमे तिष्ठतीति' अर्थात् जो आत्माएं परमे—शुद्ध, पवित्र स्वरूप में, वीतराग भाव में ठी-रहते हैं—वे परमेष्ठी हैं। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति करने के कारण अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ही पंच परमेष्ठी हैं। यही कारण है कि भौतिक दृष्टि से चरम उत्कर्ष को प्राप्त करने वाले चक्रवर्ती सम्राट् और देवेन्द्र भी इनके चरणों में झुकते हैं। त्याग के प्रतिनिधि—ये पंच परमेष्ठी हैं। पंच परमेष्ठी में सर्वप्रथम अरिहन्त हैं। जिन्होंने पूर्णरूप से सदा-सर्वदा के लिए राग-द्वेष को नष्ट कर दिया है, वे अरिहन्त हैं, जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त शक्ति रूप वीर्य के धारक होते हैं, सम्पूर्ण विश्व के ज्ञाता/दृष्टा होते हैं, जो सुख-दुःख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, प्रभृति

विरोधी द्वन्द्वों में सदा सम रहते हैं। तीर्थंकर और दूसरे अरिहन्तों में आत्मविकास की दृष्टि से कुछ भी अन्तर नहीं है।

दूसरा पद सिद्ध का है। सिद्ध का अर्थ पूर्ण है। जो द्रव्य और भाव दोनों ही प्रकार के कर्मों से अलिप्त होकर निराकुल आनन्दमय शुद्ध स्वभाव में परिणत हो गये, वे सिद्ध हैं। यह पूर्ण मुक्त दशा है। यहाँ पर न कर्म हैं, न कर्मबन्धन के कारण ही हैं। कर्म और कर्मबन्ध के अभाव के कारण आत्मा वहाँ से पुन: लौटकर नहीं आता। वह लोक के अग्रभाग में ही अवस्थित रहता है। वहाँ केवल विशुद्ध आत्मा ही आत्मा है, परद्रव्य और पर-परिणति का पूर्ण अभाव है। यह विदेहमुक्त अवस्था है। यह आत्मविकास की अन्तिम कोटि है। दूसरे पद में उस परमविशुद्ध आत्मा को नमस्कार किया गया है।

तृतीय पद में आचार्य को नमस्कार किया गया है। आचार्य धर्मसंघ का नायक है। वह संघ का संचालनकर्त्ता है, साधकों के जीवन का निर्माणकर्त्ता है। जो साधक संयमसाधना से भटक जाते हैं, उन्हें आचार्य सही मार्गदर्शन देता है। योग्य प्रायश्चित्त देकर उसकी संशुद्धि करता है। वह दीपक की तरह स्वयं ज्योतिर्मान होता है और दूसरों को ज्योति प्रदान करता है।

चतुर्थ पद में उपाध्याय को नमस्कार किया गया है। उपाध्याय ज्ञान का अधिष्ठाता होता है। वह स्वयं ज्ञानाराधना करता है और साथ ही सभी को आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान करता है। पापाचार से विरत होने के लिए ज्ञान की साधना अनिवार्य है। उपाध्याय ज्ञान की उपासना से संघ में अभिनव चेतना का संचार करता है।

पांचवें पद में साधु को नमस्कार किया गया है। जो मोक्षमार्ग की साधना करता है, वह साधु है। साधु सर्वविरति-साधना पथ का पथिक है। वह परस्वभाव का परित्याग कर आत्मस्वभाव में रमण करता है। वह अशुभोपयोग को छोड़कर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग में रमण करता है। उसके जीवन के कण-कण में अहिंसा का आलोक जगमगाता रहता है; सत्य की सुगन्ध महकती रहती है। अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उदात्त भावनाएँ अंगड़ाइयाँ लेती रहती हैं। वह मन, वचन और काय से महाव्रतों का पालन करता है।

जैनधर्म में मूल तीन तत्त्व माने गए हैं—देव, गुरु और धर्म। तीनों ही तत्त्व नमोक्कार महामन्त्र में देखे जा सकते हैं। अरिहन्त जीवनमुक्त परमात्मा हैं तो सिद्ध विदेहमुक्त परमात्मा हैं। ये दोनों आत्मविकास की दृष्टि से पूर्णत्व को प्राप्त किए हुए हैं। इसलिए इनकी परिगणना देवत्व की कोटि में की जाती है। आचार्य, उपाध्याय और साधु आत्मविकास की अपूर्ण अवस्था में हैं, पर उनका लक्ष्य निरन्तर पूर्णता की ओर बढ़ने का है। इसलिए वे गुरुतत्त्व की कोटि में हैं। पांचों पदों में अहिंसा, सत्य, तप आदि भावों का प्राधान्य है। इसलिए वे धर्म की कोटि में हैं। इस तरह तीनों ही तत्त्व इस महामन्त्र में परिलक्षित होते हैं।

नमोक्कार महामन्त्र पर चिन्तन करते हुए प्राचीन आचार्यों ने एक अभिनव कल्पना की है और वह कल्पना है रंग की। रंग प्रकृतिनटी की रहस्यपूर्ण प्रतिध्वनियाँ हैं, जो बहुत ही सार्थक हैं। रंगों की अपनी एक भाषा होती है। उसे हर व्यक्ति समझ नहीं सकता, किन्तु वे अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। पाश्चात्य देशों में रंग-विज्ञान के सम्बन्ध में गहराई से अन्वेषणा की जा रही है। आज रंगचिकित्सा एक स्वतंत्र चिकित्सा पद्धति के रूप में विकसित हो चुकी है। रंगविज्ञान का नमोक्कार मन्त्र के साथ गहरा सम्बन्ध रहा है। यदि हम उसे जानें तो उससे अधिक लाभान्वित हो सकते हैं। आचार्यों ने अरिहन्तों का रंग श्वेत, सिद्धों का रंग लाल, आचार्य का रंग पीला, उपाध्याय का रंग नीला है तथा साधु का रंग काला बताया है। हमारा सारा मूर्त्त संसार पौद्गलिक

है। पुद्गल में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं। वर्ण का हमारे शरीर, हमारे मन, आवेग और कषायों से अत्यधिक सम्बन्ध है। शारीरिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, मन का स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य, आवेगों की वृद्धि और कमी—ये सभी इन रहस्यों पर आधृत हैं कि हमारा किन-किन रंगों के प्रति रुझान है तथा हम किन-किन रंगों से आकर्षित और विकर्षित होते हैं। नीला रंग जब शरीर में कम होता है तब क्रोध की मात्रा बढ़ जाती है। नीले रंग की पूर्ति होने पर क्रोध स्वतः ही कम हो जाता है। श्वेत रंग की कमी होने पर स्वास्थ्य लड़खड़ाने लगता है। लाल रंग की न्यूनता से आलस्य और जड़ता बढ़ने लगती है। पीले रंग की कमी से ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं और जब ज्ञानतन्तु निष्क्रिय हो जाते हैं, तब समस्याओं का समाधान नहीं हो पाता। काले रंग की कमी होने पर प्रतिरोध की शक्ति कम हो जाती है। रंगों के साथ मानव के शरीर का कितना गहन सम्बन्ध है, यह इससे स्पष्ट है। 'नमो अरिहंताणं' का ध्यान श्वेत वर्ण के साथ किया जाय। श्वेत वर्ण हमारी आन्तरिक शक्तियों को जागृत करने में सक्षम है। वह समूचे ज्ञान का संवाहक है। श्वेत वर्ण स्वास्थ्य का प्रतीक है। हमारे शरीर में रक्त की जो कोशिकाएँ हैं, वे मुख्य रूप से दो रंग की हैं—श्वेत रक्तकणिकाएँ (W. B. C.) और लाल रक्त-कणिकाएँ (R. B. C.)। जब भी हमारे शरीर में इन रक्तकणिकाओं का संतुलन बिगड़ता है तो शरीर रुग्ण हो जाता है। 'नमो अरिहंताणं' का जाप करने से शरीर में श्वेत रंग की पूर्ति होती है। 'नमो सिद्धाणं' का बाल सूर्य जैसा लाल वर्ण है। हमारी आन्तरिक दृष्टि को लाल वर्ण जाग्रत करता है। पीट्यूटरी ग्लेण्डस् के अन्तःस्राव को लाल रंग नियन्त्रित करता है। इस रंग से शरीर में सक्रियता आती है। 'नमो सिद्धाणं' मन्त्र, लाल वर्ण और दर्शन केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करने से स्फूर्ति का संचार होता है। 'नमो आयरियाणं'—इसका रंग पीला है। यह रंग हमारे मन को सक्रिय बनाता है। शरीरशास्त्रियों का मानना है कि थायराइड ग्लेण्ड आवेगों पर नियन्त्रण करता है। इस ग्रन्थि का स्थान कंठ है। आचार्य के पीले रंग के साथ विशुद्धि केन्द्र पर 'नमो आयरियाणं' का ध्यान करने से पवित्रता की संवृद्धि होती है। 'नमो उवज्झायाणं' का रंग नीला है। शरीर में नीले रंग की पूर्ति इस पद के जप से होती है। यह रंग शान्तिदायक है, एकाग्रता पैदा करता है और कषायों को शान्त करता है। 'नमो उवज्झायाणं' के जप से आनन्द-केन्द्र सक्रिय होता है। 'नमो लोए सव्वसाहूणं' का रंग काला है। काला वर्ण अवशोषक है। शक्तिकेन्द्र पर इस पद का जप करने से शरीर में प्रतिरोध शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार वर्णों के साथ नमोक्कार महामन्त्र का जप करने का संकेत मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता आचार्यों ने किया है। अन्य अनेक दृष्टियों से नमस्कार महामन्त्र के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। विस्तार भय से उस सम्बन्ध में हम उन सभी की चर्चा नहीं कर रहे हैं। जिज्ञासु तत्सम्बन्धी साहित्य का अवलोकन करें तो उन्हें चिन्तन की अभिनव सामग्री प्राप्त होगी और वे नमस्कार महामन्त्र के अद्भुत प्रभाव से प्रभावित होंगे।

नमस्कार महामन्त्र को आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र का अंग मानकर व्याख्या की है। आवश्यक-निर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है—पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार कर सामायिक करनी चाहिए। यह पंच-नमस्कार सामायिक का एक अंग है।[६०] इससे यह स्पष्ट है कि नमस्कार महामन्त्र उतना ही पुराना है जितना सामायिक सूत्र। सामायिक आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन है। आचार्य देववाचक ने आगमों की सूची में आवश्यकसूत्र का उल्लेख किया है। सामायिक के प्रारम्भ में और उसके अन्त में नमस्कार मन्त्र का पाठ किया जाता था। कायोत्सर्ग के प्रारम्भ और अन्त में भी पंचनमस्कार का विधान है। निर्युक्ति के अभिमतानुसार नन्दी

---

६०. कयपंचनमोक्कारो करेइ सामाइयंति सोऽभिहितो।
सामाइयंगमेव य जं सो सेसं अतो वोच्छं॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १०२७

और अनुयोगद्वार को जानकर तथा पंचमंगल को नमस्कार कर सूत्र को प्रारम्भ किया जाता है।[६१] आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने पंचनमस्कार महामन्त्र को सर्वसूत्रान्तर्गत माना है।[६२] उनके अभिमतानुसार पंचनमस्कार करने के पश्चात् ही आचार्य अपने मेधावी शिष्यों को सामायिक आदि श्रुत पढ़ाते थे।[६३] इस तरह नमस्कार महामन्त्र सर्वसूत्रान्तर्गत है। आवश्यकसूत्र गणधरकृत है तो व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) भी गणधरकृत ही है। इस दृष्टि से इस महामन्त्र के प्ररूपक तीर्थंकर हैं और सूत्र में आबद्ध करने वाले गणधर हैं। जिन आचार्यों ने महामन्त्र को अनादि कहा है, उसका यह अर्थ है—तत्त्व या अर्थ की दृष्टि से वह अनादि है।

ब्राह्मीलिपि

नमस्कार महामन्त्र के पश्चात् भगवती में 'नमो बंभीए लिवीए' पाठ है। भारत में जितनी लिपियाँ हैं, उन सब में ब्राह्मीलिपि सबसे प्राचीन है। वैदिक दृष्टि से ब्राह्मी शब्द ब्रह्मा से निष्पन्न है। त्रिदेवों में ब्रह्मा विश्व का स्रष्टा है। उसने सम्पूर्ण विश्व की रचना की। उसी से इस लिपि का प्रादुर्भाव हुआ। नारद स्मृति में लिखा है—यदि ब्रह्मा लिखित या लेखनकला अथवा लिपिरूप उत्तम नेत्र का सर्जन नहीं करते तो इस जगत् की शुभ गति नहीं होती।[६४]

ललितविस्तर बौद्धपरम्परा का संस्कृत भाषा में लिखित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ में ६४ लिपियों का उल्लेख है। उनमें कितनी ही लिपियों का आधार देश-विशेष, प्रदेश-विशेष या जाति-विशेष कहा है। उन ६४ लिपियों में सर्वप्रथम ब्राह्मीलिपि का नाम आता है।[६५] उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में वहाँ पर चिन्तन नहीं किया गया है।

जैन दृष्टि से ब्राह्मीलिपि के सर्जक भगवान् ऋषभदेव थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को ७२ कलाओं की शिक्षा प्रदान की। द्वितीय पुत्र बाहुबली को प्राणीलक्षण का ज्ञान कराया। अपनी पुत्री ब्राह्मी को १८ लिपियों का और द्वितीय पुत्री सुन्दरी को गणित विद्या का परिज्ञान कराया। ब्राह्मी ने उन लिपियों को प्रसारित किया। १८ लिपियों में मुख्य लिपि ब्राह्मी के नाम से विश्रुत है।[६६] समवायाङ्ग[६७] में ब्राह्मीलिपि के ४६ मातृकाक्षर यानी मूल अक्षर बतलाये हैं और १८ प्रकार की लिपियों में प्रथम लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि है। प्रज्ञापना[६८] में भी १८ लिपियों के नाम मिलते हैं पर समवायाङ्ग[६९] से कुछ पृथक्ता लिए हुए हैं।

---

६१. नंदिमणुओगदारं विहिवदुवग्घाइयं च नाऊणं।
काऊण पंचमंगलमारंभो होइ सुत्तस्स ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. १०२६

६२. सो सव्वसुतक्खंधब्भन्तरभूतो जओ ततो तस्स।
आवासयाणुयोगादिगहणगहितोऽणुयोगो वि ॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गा. ९

६३. आईएँ नमोक्कारो जइ पच्छाऽऽवासयं तओ पुव्वं।
तस्स भणिएऽणुओगे जुत्तो आवस्सयस्स तओ ॥ —विशेषावश्यकभाष्य, गा. ८

६४. नाकरिष्यद्यदि ब्रह्मा लिखितं चक्षुरुत्तमम्।
तत्रेयमस्य लोकस्य नाभविष्यच्छुभा गतिः ॥

६५. लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिणकरेणं। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा. २१२

६६. भारतीय जैनश्रमण संस्कृति अने लेखनकला। —मु. पुण्यविजयजी पृ. ५,

६७. बंभीए णं लिवीए छायालीसं माउयक्खरा। —समवायाङ्ग सूत्र, ४६

६८. प्रज्ञापना १।३७

६९. समवायाङ्ग, समवाय १८

वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों ही परम्पराओं में ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत हैं। डॉ. अल्फ्रेड मूलर, जेम्स प्रिन्सेप तथा सेनार्ट आदि विद्वानों का अभिमत है कि ब्राह्मीलिपि का उद्गम-स्रोत यूनानी लिपि है। सेनार्ट ने इस सम्बन्ध में चिन्तन करते हुए लिखा है कि सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया और यूनानियों के साथ भारतीयों का सम्पर्क हुआ। भारतीयों ने यूनानियों से लेखनकला सीखी और उसके आधार से उन्होंने ब्राह्मीलिपि की रचना की। उपर्युक्त मत का खण्डन बूलर और डिरिंजर नामक विद्वानों ने किया है। उनका मन्तव्य है कि लिपिकला भारत में पहले से ही विकसित थी। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य के समय ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति होती तो उसके पौत्र अशोक के समय वह लिपि इतनी अधिक कैसे विकसित हो सकती थी ?

फ्रेन्च विद्वान् कुपेटी ने ब्राह्मीलिपि के सम्बन्ध में एक विचित्र कल्पना की है। उनका अभिमत है कि ब्राह्मीलिपि की उत्पत्ति चीनी लिपि से हुई है। पर लिपिविज्ञान के विशेषज्ञों का यह स्पष्ट अभिमत है कि चीनी और ब्राह्मी लिपि में किसी भी प्रकार का मेल नहीं है। चीनी लिपि में वर्णात्मक और अक्षरात्मक ध्वनियाँ नहीं हैं; उसमें शब्दात्मक ध्वनियों के परिचय के लिए चित्रात्मक चिह्न हैं और वे चिह्न अत्यधिक मात्रा में हैं। जबकि ब्राह्मीलिपि में चित्रात्मक चिह्न नहीं हैं; उसके चिह्न तो अक्षरात्मक ध्वनियों के अभिव्यंजक हैं। यह सत्य है कि चीनी लिपि भी प्राचीन है। प्राचीन होने के कारण उसे ब्राह्मीलिपि के साथ जोड़ना संगत नहीं है।

बूलर का अभिमत है कि उत्तरी सेमेटिक लिपि से ब्राह्मी का उद्भव हुआ है। थोड़े बहुत मतभेद के साथ वेबर, वेनफे, वेस्टरगार्ड, ह्विटनी, जॉनसन, विलियम जॉन्स आदि ने भी यही विचार व्यक्त किए हैं। बूलर की दृष्टि से ईस्वी सन् के लगभग आठ सौ वर्ष पूर्व सेमेटिक अक्षरों का भारत में प्रवेश हुआ।[७०] कितने ही विद्वानों का यह भी मानना है कि भारत में जब लेखनकला का विकास नहीं हुआ था तब फिनिशिया[७१] में शिक्षा और लेखन का विकास हो चुका था। भारत के व्यापारी जब व्यापार हेतु फिनिशिया जाते थे तब व्यापार की सुविधा हेतु उन्होंने फिनिशियन लिपि का अध्ययन किया और उन व्यापारियों के साथ ही फिनिशियन लिपि भारत में आई। उस लिपि का संशोधन और परिष्कार कर ब्राह्मणों ने एक लिपि का निर्माण किया। ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित होने के कारण उस लिपि का नाम ब्राह्मी हुआ।

डॉ. राजबली पाण्डेय ने एक अभिनव कल्पना की है। उनका अभिमत है कि भारत से कुछ व्यक्ति फिनिशिया गये। वे ब्राह्मीलिपि के जानकार थे। वे वहीं पर बस गए। वहाँ पर बसने के कारण ब्राह्मीलिपि वहाँ के वातावरण से प्रभावित हुई। यही कारण है कि फिनिशियन और ब्राह्मी दोनों ही लिपियों में डॉ. पाण्डेय ने अपने मत को प्रमाणित करने के लिए ऋग्वेद की ६-५१, १४; ६१,१ ऋचाएँ प्रस्तुत की हैं। ब्राह्मीलिपि का ही विकास फिनिशियन लिपि है।

टेलर, सेथ आदि विज्ञों का अभिमत है कि ब्राह्मी का विकास दक्षिणी सेमेटिक लिपि से हुआ है। तो कितने ही विद्वान् दक्षिणी सेमेटिक शाखा अरबी लिपि से ब्राह्मीलिपि का उद्भव मानते हैं। पर गहराई से चिन्तन करने पर दक्षिणी सेमेटिक लिपि या उसकी शाखालिपियों से ब्राह्मी का मेल नहीं बैठता है। यदि यह कहा जाय कि अरबवासियों के साथ भारतवर्ष का सम्पर्क अतीत काल से था, इस कारण अरबी से ब्राह्मी की उत्पत्ति हुई, इस कथन में और तर्क में वजन नहीं है।

---

७०. Indian Palaeography P. 17

७१. प्राचीन काल में एशिया के उत्तर-पश्चिम में स्थित भू-भाग (सीरिया) फिनिशिया कहा जाता था।

डॉ. राइस डेविड्स का अभिमत है कि एक ऐसी लिपि पहले प्रचलित थी जो सेमेटिक अक्षरों के उद्भव के पूर्व ही यूफ्रेटिस नदी की घाटी में विकसित सभ्यता में प्रचलित थी। उस पुरानी लिपि से ब्राह्मीलिपि का सीधा सम्बन्ध है। वह लिपि सेमेटिक लिपि को भी जन्म देने वाली है। विद्वानों का ऐसा मन्तव्य है कि इस सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन की आवश्यकता है।

एडवर्ड थामस, गोल्ड स्टूकर, राजेन्द्रलाल मित्र, लास्सेन, डासन, कनिंघम आदि विज्ञों का मानना है कि ब्राह्मीलिपि का उद्भवस्थल भारत ही है। पर इनका यह मानना है कि अतीत काल में आर्यभाषी जनता द्वारा किसी चित्रलिपि का प्रयोग किया जाता होगा। सम्भव है उसी से ब्राह्मीलिपि का जन्म हुआ है। बूलर ने इस मन्तव्य का विरोध करते हुए कहा—भारत में चित्रलिपि नहीं थी फिर उससे ब्राह्मी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ?

डॉ. सुनीति चटर्जी का मन्तव्य है कि भारत की जो लिपियाँ अभी तक पढ़ी जा सकी हैं, उनमें ब्राह्मी-लिपि सबसे प्राचीन है। यही भारतीय आर्यभाषाओं से सम्बन्धित प्राचीनतम लिपि है।[७२] अधुनातम अन्वेषणा से यह निष्कर्ष प्रकट हो चुका है कि ब्राह्मी भारत की लिपि है। लिपिविद्याविशारद डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के शब्दों में—ब्राह्मीलिपि अपनी प्रौढ़ अवस्था में और पूर्ण व्यवहार में आती हुई मिलती है और उसका किसी बाहरी स्रोत और प्रभाव से निकलना सिद्ध नहीं होता। इस लिपि के आद्य निर्माता ऋषभदेव रहे हैं। इस कारण भगवती में ब्राह्मीलिपि को नमस्कार कर भगवान् ऋषभदेव को और अक्षरश्रुत को नमस्कार किया गया है। अक्षरश्रुत के रूप में ज्ञान को नमस्कार किया गया है। पञ्च ज्ञानों में श्रुत ज्ञान ही सबसे अधिक व्यवहार-योग्य एवं उपकारक है। इसीलिए 'नमो बंभीए लिवीए' के द्वारा भावश्रुत को नमस्कार किया गया है।

प्रस्तुत आगम में तीसरा नमस्कार 'नमो सुयस्स' के रूप में श्रुत को किया गया है। मतिज्ञान के पश्चात् शब्दसंस्पर्शी जो परिपक्व ज्ञान होता है, वह श्रुतज्ञान है। दूसरे शब्दों में श्रुतज्ञान का अर्थ है—वह ज्ञान जिसका शास्त्र से सम्बन्ध हो। आप्तपुरुष द्वारा रचित आगम व अन्य शास्त्रों से जो ज्ञान होता है—वह श्रुतज्ञान है। श्रुतज्ञान के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद हैं। अंगबाह्य के अनेक भेद हैं और अंगप्रविष्ट के १२ भेद हैं।[७३] श्रुत वस्तुत: ज्ञानात्मक है। ज्ञानोत्पत्ति के साधन होने के कारण उपचार से शास्त्रों को भी श्रुत कहा गया है। श्रुत ही भावतीर्थ है। द्वादशांगी के सहारे ही भव्यजीव संसार-सागर से पार उतरते हैं। इसलिए श्रुत को नमस्कार किया गया है। इस नमस्कार से श्रुत की महत्ता प्रदर्शित की गई है। साधकों के अन्तर्मानस में श्रुत के प्रति गहरी निष्ठा उत्पन्न की गई है, जिससे वे श्रुत का सम्मान करें और श्रुत को एकाग्रता से श्रवण करें।

गणधर गौतम : एक परिचय

भगवतीसूत्र का प्रारम्भ गणधर गौतम की जिज्ञासा से होता है। गौतम जिज्ञासा हैं तो महावीर समाधान हैं। उपनिषत्कालीन उद्दालक के समक्ष जो स्थान श्वेतकेतु का है, गीता के उपदिष्टा श्रीकृष्ण के समक्ष जो स्थान अर्जुन का है, तथागत बुद्ध के समक्ष जो स्थान आनन्द का है; वही स्थान भगवान् महावीर के समक्ष गणधर गौतम का है।

भगवती के प्रारम्भ में सर्वप्रथम बहुत ही संक्षेप में भगवान् महावीर के अन्तरंग जीवन का परिचय दिया

---

७२. (क) भारत की भाषाएँ और भाषा सम्बन्धी समस्याएँ, पृ. १७०-१७१

(ख) विशेष जिज्ञासु, 'आगम और त्रिपिटक एक अनुशीलन' भाग २ देखें।

७३. श्रुतं मतिपूर्वं द्व्यनेकद्वादशभेदम्। —तत्त्वार्थसूत्र १।२०

गया है। उसके पश्चात् गणधर गौतम की अन्तरंग और बाह्य छवि चित्रित की गई है। गौतम जितने बड़े तत्त्वज्ञानी थे उतने ही बड़े साधक भी थे। श्रुत और शील की पवित्र धारा से उनकी आत्मा सम्पूर्ण रूप से परिप्लावित हो रही थी। एक ओर वे उग्र और घोर तपस्वी थे तो दूसरी ओर समस्त श्रुत के अधिकृत ज्ञाता भी थे।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि किसी भी व्यक्ति का अन्तरंग दर्शन करने से पहले दर्शक पर उसके बाह्य व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है। प्रथम दर्शन में ही व्यक्ति उसके तेजस्वी व्यक्तित्व से प्रभावित हो जाता है। यदि व्यक्ति के चेहरे पर ओज है, आकृति से सौन्दर्य छलक रहा है, आँखों में अद्भुत तेज चमक रहा है और मुख पर मुस्कान अठखेलियाँ कर रही हैं तो आन्तरिक व्यक्तित्व में सौन्दर्य का अभाव होने पर भी बाह्य सौन्दर्य से दर्शक प्रभावित हो जाता है। यदि बाह्य सौन्दर्य के साथ आन्तरिक सौन्दर्य हो तो सोने में सुगन्ध की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। यही कारण है कि जितने भी विश्व में महापुरुष हुए हैं, उनका बाह्य व्यक्तित्व प्राय: आकर्षक और लुभावना रहा है और साथ ही आन्तरिक जीवन तो बाह्य व्यक्तित्व से भी अधिक चित्ताकर्षक रहा है। औपपातिक में भगवान् महावीर के बाह्य व्यक्तित्व का प्रभावोत्पादक चित्रण है[७४] तो बुद्धचरित्र में महाकवि अश्वघोष ने बुद्ध के लुभावने शरीर का वर्णन किया है कि उस तेजस्वी मनोहर रूप को जिसने भी देखा, उसकी ही आँखें उसी में बंध गईं।[७५] उसे निहार कर राजगृह की लक्ष्मी भी संक्षुब्ध हो गई।[७६] जिन व्यक्तियों में पुण्य की प्रबलता होती है, उनमें शारीरिक सुन्दरता होती है।[७७] गणधर गौतम का शरीर भी बहुत सुन्दर था। जहाँ वे सात हाथ ऊँचे कद्दावर थे, वहाँ उनके शरीर का आन्तरिक गठन भी बहुत ही सुदृढ़ था। वे वज्र-ऋषभ-नाराच-संहननी थे। सुन्दर शारीरिक गठन के साथ ही उनके मुख, नयन, ललाट आदि पर अद्भुत ओज और चमक थी। जैसे कसौटी पत्थर पर सोने की रेखा खींच देने से वह उस पर चमकती रहती है, वैसे ही सुनहरी आभा गौतम के मुख पर दमकती रहती थी। उनका वर्ण गौर था। कमल-केसर की भांति उनमें गुलाबी मोहकता भी थी। जब उनके ललाट पर सूर्य की चमचमाती किरणें गिरतीं तो ऐसा प्रतीत होता कि कोई शीशा या पारदर्शी पत्थर चमक रहा है। वे जब चलते तो उनकी दृष्टि सामने के मार्ग पर टिकी होती। वे स्थिर दृष्टि से भूमि को देखते हुए चलते। उनकी गति शान्त, चंचलता रहित और असंभ्रान्त थी जिसे निहार कर दर्शक उनकी स्थितप्रज्ञता का अनुमान लगा सकता था। वे सर्वोत्कृष्ट तपस्वी थे, पूर्ण स्वावलम्बी और ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी थे। उनके लिए घोर तपस्वी के साथ 'घोरबंभचेरवासी' विशेषण भी प्रयुक्त हुआ है। साधना के चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए वे विशिष्ट साधक थे। उन्हें तपोजन्य अनेक लब्धियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो चुकी थीं। वे चौदह पूर्वी व मन:पर्यव ज्ञानी थे। साथ ही वे बहुत ही सरल और विनम्र थे। उनमें ज्ञान का अहंकार नहीं था और न अपने पद और साधना के प्रति मन में अहं था। वे सच्चे जिज्ञासु थे। गौतम की मन:स्थिति को जताने वाली एक शब्दावली प्रस्तुत आगम में अनेक बार आई है—'जायसड्ढे, जायसंसए, जायकोउहल्ले'। उनके अन्तर्मानस में किसी भी तथ्य को जानने की श्रद्धा, इच्छा पैदा हुई, संशय हुआ, कौतूहल हुआ और वे भगवान् की ओर आगे बढ़े। इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि गौतम की वृत्ति में मूल घटक वे ही तत्त्व थे—जो सम्पूर्ण दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति में मूल घटक रहे हैं।

---

७४. अवदालियपुंडरीयणयणे .... चन्दद्धसमणिडाले वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नागवरपडिपुण्णविउल-क्खंधे........। —औपपातिक सूत्र १

७५. यदेव यस्तस्य ददर्श तत्र तदेव तस्याथ बबन्ध चक्षु:। —बुद्धचरित १०।८

७६. ज्वलच्छरीरं शुभजालहस्तम् संचुक्षुभे राजगृहस्य लक्ष्मी:। —बुद्धचरित १०।९

७७. प्रज्ञापना, २३

विश्व में यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन ये तीन मुख्य दर्शन माने जाते हैं। यूनानी दर्शन का प्रवर्तक ओरिस्टोटल है। उसका मन्तव्य है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।[७८] यही बात प्लेटो ने भी मानी है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल आदि ने दर्शन का उद्भावक तत्त्व संशय माना है।[७९] भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है। यहाँ प्रत्येक दर्शन का प्रारम्भ जिज्ञासा से है,[८०] चाहे वैशेषिक हो, चाहे सांख्य हो, चाहे मीमांसक हो। उपनिषदों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं, जिनके मूल में जिज्ञासा तत्त्व मुखरित हो रहा है। छान्दोग्योपनिषद्[८१] में नारद सनत्कुमार के पास जाकर यह प्रार्थना करता है कि मुझे सिखाइये—आत्मा क्या है ? कठोपनिषद् में बालक नचिकेता यम से कहता है—जिसके विषय में सभी मानव विचिकित्सा कर रहे हैं, वह तत्त्व क्या है ? यम भौतिक प्रलोभन देकर उसे टालने का प्रयास करते हैं पर बालक नचिकेता दृढ़ता के साथ कहता है—मुझे धन-वैभव कुछ भी नहीं चाहिये। आप तो मेरे प्रश्न का समाधान कीजिए। मुझे वही इष्ट है।[८२] श्रमण भगवान् महावीर ने साधना के कठोर कण्टकाकीर्ण महामार्ग पर जो मुस्तैदी से कदम बढ़ाए, उसमें भी आत्म-जिज्ञासा ही मुख्य थी। आचारांग के प्रारम्भ में आत्म-जिज्ञासा का ही स्वर झंकृत हो रहा है। साधक सोचता है—मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ और यहाँ से कहाँ जाऊँगा ? तथागत बुद्ध ने तो साधनामार्ग में प्रवेश करते ही यह प्रतिज्ञा ग्रहण की कि जब तक मैं जन्म-मरण के किनारे का पता नहीं लगा लूँगा, तब तक कपिलवस्तु में प्रवेश नहीं करूँगा।

इस तरह आश्चर्य, जिज्ञासा, संशय, कौतूहल ये सभी मानव को दर्शन की ओर उत्प्रेरित करते रहे हैं। सुदूर अतीत-काल से लेकर वर्तमान तक 'इंटलेक्चुअल क्यूरियॉसिटी' (Intellectual Curiosity), बौद्धिक कौतूहल के कारण ही मानव की ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में प्रगति हुई है।

गणधर गौतम के अन्तर्मानस में बौद्धिक कौतूहल तीव्रतम रूप से दिखलाई देता है। वे आत्मा-परमात्मा, जीव-जगत्, कर्म प्रभृति विषयों में ही नहीं, सामान्य से सामान्य विषय व प्रसंग को देखकर भी उसके सम्बन्ध में जानने के लिए ललक उठते हैं। उस विषय के तलछट तक पहुँचने के लिए उनके मन में कौतूहल होता है। वे अनन्त-श्रद्धा, संशय और कुतूहल से प्रेरित होकर स्वस्थान से चल कर जहाँ भगवान् महावीर विराजित होते हैं, वहाँ पहुंचते हैं, विनयपूर्वक जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं—'कहमेयं भंते'—हे भगवन् ! यह बात कैसे है ? कभी-कभी तो वे विषय को और अधिक स्पष्ट कराने के लिए प्रतिप्रश्न करते हैं—'केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ'—ऐसा आप किस हेतु से कहते हैं ? वे हेतु तक जाकर तर्क की दृष्टि से उसका समाधान पाना चाहते हैं। इस प्रकार प्रतिप्रश्न करते हुए तथा कुतूहल को देखकर ऐसा प्रतीत होता है, वे बालक की तरह संकोच-रहित होकर प्रश्न करते हैं। उनकी प्रश्न-शैली तर्कपूर्ण और वैज्ञानिक है। विज्ञान में 'कथम्' (How), 'कस्मात्' 'केन' (Why), इन

---

७८. फिलॉसफी बिगिन्स इन वंडर (Philosophy Begins in Wonders)

७९. दर्शन का प्रयोजन, पृष्ठ २९ —डॉ. भगवानदास

८०. (क) अथातो धर्म जिज्ञासा —वैशेषिक दर्शन १

(ख) दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा —सांख्यकारिका १ (ईश्वरकृष्ण)

(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा —मीमांसासूत्र १ (जैमिनी)

(घ) अथातो धर्मजिज्ञासा —ब्रह्मसूत्र १।१

८१. अधीहि भगवन् ! —छान्दोग्य उपनिषद्, अ. ७

८२. वरस्तु मे वरणीय एव—कठोपनिषद्

दो सूत्रों को पकड़ कर वस्तुस्थिति के अन्तस्तल में प्रवेश किया जाता है और निरीक्षण-परीक्षण कर रहस्यों को उद्घाटित किया जाता है। गणधर गौतम भी प्रायः इन दो वाक्यों के आधार पर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करते हैं पर उनकी जिज्ञासा की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि वे केवल प्रश्न के लिए प्रश्न नहीं करते वरन् समाधान के लिए प्रश्न करते हैं। उनकी जिज्ञासा में सत्य की बुभुक्षा है। उनके संशय में समाधान की गूंज है। उनके कुतूहल में विश्व-वैचित्र्य को समझने की छटपटाहट है। उनकी सच्ची जिज्ञासु वृत्ति को देखकर ही भगवान् महावीर प्रत्येक प्रश्न का समाधान करते हैं और समाधान पाकर गणधर गौतम कृतकृत्य हो जाते हैं तथा विनयपूर्वक नम्र शब्दों में निवेदन करते हैं—सेवं भन्ते ! सेवं भन्ते ! तहमेयं भन्ते ! अर्थात् हे प्रभो ! जैसा आपने कहा है—वह पूर्ण सत्य है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ। महावीर के उत्तर पर श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्होंने जो अनुगूँज की है, वस्तुतः यह प्रश्नोत्तर की आदर्श पद्धति है। उत्तरदाता के प्रति कृतज्ञता और श्रद्धा का भाव व्यक्त किया गया है, जो बहुत ही आवश्यक है। इसमें प्रश्नकर्त्ता के समाधान की स्वीकृति भी है और हृदय की अनन्त श्रद्धा भी।

विषय वर्णन की दृष्टि से भगवतीसूत्र में विविध विषयों का संकलन है। उन सभी विषयों पर प्रस्तावना में लिखना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि भगवतीसूत्र अपने आप में स्वयं एक विराट् आगम है। इसमें गणधर गौतम के तथा अन्यान्य साधकों के हजारों प्रश्न और समाधान हैं। तथापि विषय वर्णन की दृष्टि से संक्षेप में निम्न खण्डों में इसकी विषयवस्तु को विभक्त कर सकते हैं—

प्रथम साधना खण्ड में हम उन सभी प्रसंगों को ले सकते हैं जो साधना से सम्बन्धित हैं। साधना का प्रारम्भ होता है—सत्संग से। सर्वप्रथम व्यक्ति सन्त के पास पहुंचता है। सन्त के पास पहुंचने से उसको उपदेश सुनने को मिलता है। उपदेश सुनकर उसे सम्यग्ज्ञान समुत्पन्न होता है। सम्यग्ज्ञान समुत्पन्न होने पर वह जड़ और चेतन के स्वरूप को समझकर भेदविज्ञान से यह समझता है कि जड़ तत्त्व पृथक् है और चेतन तत्त्व पृथक् है। दोनों तत्त्व पय-पानीवत् मिल चुके हैं। भेदविज्ञान से वह दोनों की पृथक् सत्ता को समझता है और उनको पृथक्-पृथक् करने के लिये प्रत्याख्यान स्वीकार करता है। संयम की साधना करता है, जिससे वह आने वाले आश्रव का निरुन्धन कर लेता है और जो अन्दर विजातीय तत्त्व रहा हुआ है उसे धीरे-धीरे तपश्चरण द्वारा नष्ट करने से मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापारों का निरुन्धन कर वह आत्मा सिद्धि को वरण करता है।[८३] यह है सत्संग की महिमा और गरिमा। सत्, आत्मा है। उसका संग-ही वस्तुतः सत्संग है। अनन्त काल से आत्मा पर-संग में उलझा रहा। जब आत्मा पर-संग से मुक्त होता है और स्व-संग करता है, तभी वह मुक्त बनता है। मुक्ति का अर्थ है पर-संग से सदा-सर्वदा के लिये मुक्त हो जाना। इस तथ्य को शास्त्रकार ने बहुत ही सरल रूप से प्रस्तुत किया।

सत्संग करने वाला साधक ही धर्म मार्ग को स्वीकार करता है। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की कि केवलज्ञानी से या उनके उपासकों से बिना सुने जीव को वास्तविक धर्म का परिज्ञान होता है ? समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—गौतम ! किसी जीव को होता है और किसी को नहीं होता। यही बात सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के सम्बन्ध में भी कही गई है।[८४] प्रश्नोत्तरों से यह स्पष्ट है कि धर्म और मुक्ति का आधार आन्तरिक विशुद्धि है। जब तक आन्तरिक विशुद्धि नहीं होती तब तक मुक्ति सम्भव नहीं है। जिनका मानस सम्प्रदायवाद से ग्रसित है उनके लिये प्रस्तुत वर्णन चिन्तन की दिव्य ज्योति प्रदान करेगा।

---

८३. भगवती शतक २, उद्देशक ५

८४. भगवती शतक ९, उद्देशक २९

ज्ञान और क्रिया

जैनधर्म ने न अकेले ज्ञान को महत्त्व दिया है और न अकेली क्रिया को। साधना की परिपूर्णता के लिये ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय आवश्यक है। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि सुव्रत और कुव्रत में क्या अन्तर है? समाधान देते हुए भगवान् महावीर ने कहा—जो साधक व्रत ग्रहण कर रहा है उसे यदि यह परिज्ञान नहीं है कि यह जीव है या अजीव है? त्रस है या स्थावर है? उसके व्रत सुव्रत नहीं हैं। क्योंकि जब तक परिज्ञान नहीं होगा तब तक वह व्रत का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं कर सकेगा। परिज्ञानवान् व्यक्ति का व्रत ही सुव्रत है। वही पूर्ण रूप से व्रत का आराधन कर सकता है।[८५]

गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि कितने ही चिन्तकों का यह अभिमत है कि शील श्रेष्ठ है तो किन्हीं चिन्तकों का कथन है कि श्रुत श्रेष्ठ है। तो तृतीय प्रकार के चिन्तक शील और श्रुत दोनों को श्रेष्ठ मानते हैं। आपका इस सम्बन्ध में क्या अभिमत है?

भगवान् महावीर ने समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा—इस विराट् विश्व में चार प्रकार के पुरुष हैं—

१. जो शीलसम्पन्न हैं पर श्रुतसम्पन्न नहीं, वे पुरुष धर्म के मर्म को नहीं जानते, अतः अंश से आराधक हैं।

२. श्रुतसम्पन्न हैं पर शीलसम्पन्न नहीं, वे पुरुष पाप से निवृत्त नहीं हैं पर धर्म को जानते हैं, इसलिये वे अंश से विराधक हैं।

३. कितने ही शीलसम्पन्न हैं और श्रुतसम्पन्न भी हैं, वे पाप से पूर्ण रूप से बचते हैं, इसलिये वे पूर्ण रूप से आराधक हैं।

४. जो न शीलसम्पन्न हैं और न श्रुतसम्पन्न हैं, वे पूर्ण रूप से विराधक हैं।

प्रस्तुत संवाद में भी भगवान् महावीर ने उस साधक के जीवन को श्रेष्ठ बतलाया है जिसके जीवन में ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगा रहा हो और साथ ही ज्ञान के अनुरूप जो उत्कृष्ट चारित्र की भी आराधना करता हो। भगवान् महावीर के युग में अनेक दार्शनिक ज्ञान को ही महत्त्व दे रहे थे। उनका यह अभिमत था कि ज्ञान से ही मुक्ति होती है। आचरण की कोई आवश्यकता नहीं। कुछ दार्शनिकों का यह वज्राघोष था कि मुक्ति के लिये ज्ञान की नहीं, चारित्रपालन की आवश्यकता है। मिश्री की मधुरता का परिज्ञान न होने पर भी उसको मिठास का अनुभव मिश्री को मुँह में डालने पर होता ही है। यह नहीं होता कि मिश्री के विशेषज्ञ को मिश्री का मिठास अधिक अनुभव होता हो। इसलिये "आचारः प्रथमो धर्मः" है। पर भगवान् महावीर ने कहा कि अनन्त आकाश में उड़ान भरने के लिये पक्षी की दोनों पांखें सशक्त चाहिये, वैसे ही साधना की परिपूर्णता के लिये श्रुत और शील दोनों की आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने आराधना तीन प्रकार की बताई हैं—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना और चारित्राराधना। जहाँ तीनों में उत्कृष्टता आ जाती है, वह साधक उसी भव में मुक्ति को प्राप्त होता है। एक में भी अपूर्णता होती है तो वह मुक्ति को प्राप्त नहीं कर सकता। दर्शन की प्राप्ति चतुर्थ गुणस्थान में हो जाती है। ज्ञान की परिपूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है और चारित्र की परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थान में। जब तीनों परिपूर्ण होते हैं तब आत्मा मुक्त बनता है।[८६]

कर्मबन्ध और क्रिया

भारतीय दर्शन में बन्ध के सम्बन्ध में गहराई से चिन्तन हुआ है। बन्धन ही दुःख है। समग्र आध्यात्मिक चिन्तन बन्धन से मुक्त होने के लिये है। बन्धन की वास्तविकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। जैनदृष्टि से

---

८५. भगवती. शतक ७, उद्देशक २

८६. भगवती. शतक ८, उद्देशक १०

बन्धन विजातीय तत्त्व के सम्बन्ध से होता है। जड़ द्रव्यों में एक पुद्गल नामक द्रव्य है। पुद्गल के अनेक प्रकार हैं, उनमें कर्मवर्गणा या कर्मपरमाणु एक सूक्ष्म भौतिक द्रव्य है। इस सूक्ष्म भौतिक कर्मद्रव्य से आत्मा का सम्बन्धित होना बन्धन है। बन्धन आत्मा का अनात्मा से, जड़ का चेतन से, देह का देही से संयोग है।

आचार्य उमास्वाति[८७]के शब्दों में कहा जाय तो कषायभाव के कारण जीव का कर्मपुद्गल से आक्रान्त हो जाना बन्ध है। आचार्य देवेन्द्रसूरि ने लिखा है कि आत्मा जिस शक्ति-विशेष से कर्मपरमाणुओं को आकर्षित कर उन्हें आठ प्रकार के कर्मों के रूप में जीवप्रदेशों से सम्बन्धित करता है तथा कर्मपरमाणु और आत्मा परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, वह बन्धन है।[८८]

जैनदृष्टि से बन्ध का कारण आश्रव है। आश्रव का अर्थ है कर्मवर्गणाओं का आत्मा में आना। आत्मा की विकारी मनोदशा भावाश्रव कहलाती है और कर्मवर्गणाओं के आत्मा में आने की प्रक्रिया को द्रव्याश्रव कहा गया है। भावाश्रव कारण है और द्रव्याश्रव कार्य है। द्रव्याश्रव का कारण भावाश्रव है और द्रव्याश्रव से कर्म-बन्धन होता है। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियाँ ही आश्रव हैं।[८९] मानसिक वृत्ति के साथ शारीरिक और वाचिक क्रियाएं भी चलती हैं। उन क्रियाओं के कारण कर्माश्रव भी होता रहता है। जिन व्यक्तियों का अन्तर्मानस कषाय से कलुषित नहीं है, जिन्होंने कषाय को उपशान्त या क्षीण कर दिया है, उनकी क्रिया के द्वारा जो आश्रव होता है, वह ईर्यापथिक आश्रव कहलाता है। चलते समय मार्ग की धूल के कण वस्त्र पर लगते हैं और दूसरे क्षण वे धूलकण विलग हो जाते हैं। वही स्थिति कषायरहित क्रियाओं से होती है। प्रथम क्षण में आश्रव होता है तो द्वितीय क्षण में वह निर्जीर्ण हो जाता है। भगवतीसूत्र के तृतीय शतक के तृतीय उद्देशक में भगवान् महावीर ने अपने छठे गणधर मण्डितपुत्र की जिज्ञासा पर क्रिया के पांच प्रकार बताये और उन क्रियाओं से बचने का सन्देश भगवान् महावीर ने दिया। भगवान् महावीर ने स्पष्ट कहा कि सक्रिय जीव की मुक्ति नहीं है। मुक्ति प्राप्त करने वाले साधक को निष्क्रिय बनना होगा। जब तक शरीर है तब तक कर्मबन्धन है। अतः सूक्ष्म शरीर से छूट जाना निष्क्रिय बनना है।

भगवतीसूत्र शतक सातवें उद्देशक प्रथम में यह स्पष्ट कहा है कि जिन व्यक्तियों में कषाय की प्रधानता है, उनको साम्परायिक क्रिया लगती है और जिनमें कषाय का अभाव है उनको ईर्यापथिक क्रिया लगती है। एक बार भगवान् महावीर गुणशीलक उद्यान में अपने स्थविर शिष्यों के साथ अवस्थित थे। उस उद्यान के सन्निकट ही कुछ अन्य तीर्थिक रहे हुए थे। उन्होंने उन स्थविरों से कहा कि तुम असंयमी हो, अविरत हो, पापी हो और बाल हो, क्योंकि तुम इधर-उधर परिभ्रमण करते रहते हो, जिससे पृथ्वीकाय के जीवों की विराधना होती है। उन स्थविरों ने उनको समझाते हुए कहा कि हम बिना प्रयोजन इधर-उधर नहीं घूमते हैं और यतनापूर्वक चलने के कारण हिंसा नहीं करते, इसीलिये हमारी हलन-चलन आदि क्रिया कर्मबन्धन का कारण नहीं है। पर आप लोग बिना उपयोग के चलते हैं अतः वह कर्मबन्धन का कारण है और वह असंयम वृद्धि का भी कारण है।[९०]

शतक अठारहवें, उद्देशक आठवें में एक मधुर प्रसंग है—गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक संयमी श्रमण अच्छी तरह से ३½ हाथ जमीन देख कर चल रहा है। उस समय एक क्षुद्र प्राणी अचानक पाँव के नीचे आ जाता है और उस श्रमण के पैर से मर जाता है। उस श्रमण को ईर्यापथिक क्रिया लगती है या साम्परायिक क्रिया ?

---

८७. तत्त्वार्थसूत्र ८/२-३

८८. कर्मग्रन्थ बन्धप्रकरण, १

८९. तत्त्वार्थसूत्र ६/१-२

९०. भगवती. शतक ८, उद्देशक ७-८; शतक १८, उद्देशक ८

भगवान् ने समाधान दिया कि उसको ईर्यापथिक क्रिया ही लगती है, साम्परायिक क्रिया नहीं, क्योंकि उसमें कषाय का अभाव है। इस प्रकार बन्ध और कर्मबन्ध होने की कारण चेष्टा रूप जो क्रिया है, उस सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों के द्वारा मूल आगम में प्रकाश डाला गया है, जो ज्ञानवर्द्धक और विवेक को उद्बुद्ध करने वाला है।

निर्जरा

भारतीय चिन्तन में जहाँ बन्ध के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है, वहाँ आत्मा से कर्मवर्गणाओं को पृथक् करने के सम्बन्ध में भी चिन्तन है। जैन पारिभाषिक शब्दावली में आत्मा से कर्मवर्गणाओं का पृथक् हो जाना या उन कर्मपुद्गलों को पृथक् कर देना निर्जरा है। निर्जरा शब्द का अर्थ है—जर्जरित कर देना, झाड़ देना। निर्जरा के दो प्रकार हैं— १. भावनिर्जरा और २. द्रव्यनिर्जरा। आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था जिसके कारण कर्म-परमाणु आत्मा से पृथक् हो जाते हैं, वह भावनिर्जरा है। यही कर्मपरमाणुओं का आत्मा से पृथक्करण द्रव्य-निर्जरा है। भावनिर्जरा कारणरूप है और द्रव्यनिर्जरा कार्यरूप है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी तथ्य को रूपक की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—आत्मा सरोवर है, कर्म पानी है। कर्म का आश्रव पानी का आगमन है। उस पानी के आगमन के द्वारों को अवरुद्ध कर देना संवर है और पानी को उलीचना और सुखाना निर्जरा है।

प्रकारान्तर से निर्जरा के सकामनिर्जरा और अकामनिर्जरा, ये दो प्रकार हैं। जिसमें कर्म जितनी काल-मर्यादा के साथ बंधा हुआ है, उसके समाप्त हो जाने पर अपना विपाक यानी फल देकर आत्मा से पृथक् हो जाता है, वह अकामनिर्जरा है। इस अकामनिर्जरा को यथाकाल निर्जरा, सविपाक निर्जरा और अनौपक्रमिक निर्जरा भी कहते हैं। विपाक-अवधि के आने पर कर्म अपना फल देकर स्वाभाविक रूप से पृथक् हो जाते हैं, इसमें कर्म को पृथक् करने के लिये प्रयास की आवश्यकता नहीं होती। इस निर्जरा का महत्त्व साधना की दृष्टि से नहीं है। क्योंकि कर्मों का बन्ध और इस निर्जरा का क्रम प्रतिपल-प्रतिक्षण चलता रहता है। जब तक नूतन कर्मों का बन्धन अवरुद्ध नहीं होता तब तक सापेक्ष रूप से इस निर्जरा से लाभ नहीं होता। जिस प्रकार एक व्यक्ति पुराने ऋण को चुकाता तो रहता है पर नवीन ऋण भी ग्रहण करता रहता है तो वह व्यक्ति ऋण से मुक्त नहीं होता। अकाम-निर्जरा अनादि काल से करने के बावजूद भी आत्मा मुक्त नहीं हो सका। भव-परम्परा को समाप्त करने के लिये सकामनिर्जरा की आवश्यकता है।

सकामनिर्जरा वह है, जिसमें तप आदि की साधना के द्वारा कर्मों की कालस्थिति परिपक्व होने के पहले ही प्रदेशोदय के द्वारा उन्हें भोगकर बलात् पृथक् कर दिया जाता है। इसमें विपाकोदय या फलोदय नहीं होता। केवल प्रदेशोदय ही होता है। विपाकोदय और प्रदेशोदय के अन्तर को समझाने के लिये डॉ. सागरमल जैन ने एक उदाहरण दिया है—"जब क्लोरोफार्म सुंघाकर किसी व्यक्ति की चीर-फाड़ की जाती है तो उसमें उसे असाता-वेदनीय (दुखानुभूति) नामक कर्म का प्रदेशोदय होता है, लेकिन विपाकोदय नहीं होता है। उसमें दुःखद वेदना के तथ्य तो उपस्थित होते हैं, लेकिन दुःखद वेदना की अनुभूति नहीं है। इसी प्रकार प्रदेशोदय में कर्म के फल का तथ्य तो उपस्थित हो जाता है, किन्तु उसकी फलानुभूति नहीं होती।"[९१] इसलिये यह निर्जरा अविपाक निर्जरा या सकाम निर्जरा कहलाती है। इस निर्जरा में कर्मपरमाणुओं को आत्मा से पृथक् करने के लिये संकल्प होता है। इसमें प्रयासपूर्वक कर्मवर्गणा के पुद्गलों को आत्मा से पृथक् किया जाता है। 'इसिभासियं' ग्रन्थ में लिखा है कि संसारी आत्मा प्रतिपल-प्रतिक्षण अभिनव कर्मों का बन्ध और पुराने कर्मों की निर्जरा कर रहा है। पर तप के द्वारा होने वाली निर्जरा का विशेष महत्त्व है।[९२]

---

९१. डॉ. सागरमल जैन; जैन, बौद्ध और गीता के आचारदर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग १, पृष्ठ ३९६

९२. इसिभासियं ९/१०

भगवतीसूत्र (शतक १६, उद्देशक ४) में सकामनिर्जरा के महत्त्व का प्रतिपादन करने वाला एक सुन्दर प्रसंग है। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक नित्यभोजी श्रमण साधना के द्वारा जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म एक नैरयिक जीव सौ वर्ष में अपार वेदना सहन कर नष्ट कर सकता है ?

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—नहीं।

पुनः गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक उपवास करने वाला श्रमण जितने कर्मों को नष्ट करता है, उतने कर्म एक हजार वर्ष तक असह्य वेदना सहन कर नरक का जीव नष्ट कर सकता है ?

भगवान् ने समाधान दिया—नहीं।

गौतम ने पुनः पूछा—भगवन् ! आप किस दृष्टि से ऐसा कहते हैं ?

भगवान् ने कहा—जैसे एक वृद्ध, जिसका शरीर जर्जरित हो चुका है, जिसके दांत गिर चुके हैं, जो अनेक दिनों से भूखा है, वह वृद्ध परशु लेकर एक विराट् वृक्ष को काटना चाहता है और इसके लिये वह मुंह से जोर का शब्द भी करता है, तथापि वह उस वृक्ष को काट नहीं पाता। वैसे ही नैरयिक जीव तीव्र कर्मों को भयंकर वेदना सहन करने पर भी नष्ट नहीं कर पाता। पर जैसे उस विराट् वृक्ष को एक युवक देखते-देखते काट देता है, वैसे ही श्रमण निर्ग्रन्थ सकामनिर्जरा से कर्मों को शीघ्र नष्ट कर देते हैं। इसी तथ्य को भगवतीसूत्र के शतक ६, उद्देशक १ में स्पष्ट किया है कि नैरयिक जीव महावेदना का अनुभव करने पर भी महानिर्जरा नहीं कर पाता जबकि श्रमण निर्ग्रन्थ अल्पवेदना का अनुभव करके भी महानिर्जरा करता है। जैसे मजदूर अधिक श्रम करने पर भी कम अर्थलाभ प्राप्त करता है और कारीगर कम श्रम करके अधिक अर्थलाभ प्राप्त करता है।

संत जीवन की महिमा और प्रकार

जैन साहित्य में सन्त की महिमा और गरिमा का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। सन्त का जीवन एक अनूठा जीवन होता है। वह संसार में रहकर भी संसार के विषय-विकारों से अलिप्त रहता है। अलिप्त रहने से उसके जीवन में सुख का सागर लहराता रहता है। गणधर गौतम के अन्तर्मानस में यह जिज्ञासा उद्बुद्ध हुई कि श्रमण के जीवन में सुख की मात्रा कितनी है ? देवगण परम सुखी कहलाते हैं तो क्या श्रमण का सुख देवताओं के सुख से कम है या ज्यादा ? उन्होंने अपनी जिज्ञासा भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत की। महावीर ने गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए कहा—तराजू के एक पलड़े में जिस श्रमण की दीक्षापर्याय एक मास की हुई हो, उसके जीवन में जो सुख है उसको रखा जाये और दूसरे पलड़े में वाणव्यन्तर देवों के सुख को रखा जाये तो वाणव्यन्तर की अपेक्षा उस श्रमण के सुख का पलड़ा भारी रहेगा। इसी प्रकार दो मास के श्रमण के सुख के सामने भवनवासी देवों का सुख नगण्य है। इस तरह बारह मास की दीक्षापर्याय वाले श्रमण को जो सुख है, वह सुख अनुत्तरौपपातिक देवों को भी नहीं है। आध्यात्मिक सुख के सामने भौतिक सुख कितना तुच्छ है, यह स्पष्ट किया गया है। अनुत्तर विमानवासी देवों का सुख भी, जो श्रमण आत्मस्थ हैं, उनके सामने नगण्य है।[९३]

भगवतीसूत्र में श्रमण निर्ग्रन्थों के सम्बन्ध में विविध दृष्टियों से चिन्तन किया है। गौतम ने जिज्ञासा प्रकट की कि भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितने प्रकार के हैं ?

भगवान् ने निर्ग्रन्थों के पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक—ये पांच प्रकार बताये और प्रत्येक के पांच-पांच अन्य प्रकार भी बताये हैं।[९४] गौतम ने यह भी जिज्ञासा प्रस्तुत की कि संयमी के कितने प्रकार

---

९३. भगवती. शतक १४, उद्देशक ९

९४. भगवती. शतक २५, उद्देशक ६

हैं ? भगवान् ने सामायिक संयत, छेदोपस्थापनीय संयत, परिहारविशुद्ध संयत, सूक्ष्मसम्पराय संयत और यथाख्यात संयत, ये पांच प्रकार बताये और उनके भी भेदोपभेदों का कथन किया है।[९५]

श्रमण केवल वेशपरिवर्तन करने से ही नहीं होता। उसके जीवन में आगमोक्त सद्गुणों का प्राधान्य होना चाहिये। श्रमण के जीवन में जिन गुणों की अपेक्षा है उसकी चर्चा भगवतीसूत्र, शतक १, उद्देशक ९ में इस प्रकार की है—श्रमण को नम्र होना चाहिये। उसकी इच्छायें अल्प हों, पदार्थों के प्रति मूर्च्छा का अभाव हो, अनासक्त हो और अप्रतिबद्धविहारी हो। श्रमण को क्रोधादि कषायों से भी मुक्त रहना चाहिये। जो श्रमण राग-द्वेष से मुक्त होता है, वही श्रमण परिनिर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक १ में संवृत और असंवृत अनगार के चर्चा के प्रसंग में यह बताया है कि असंवृत अनगार जो राग-द्वेष से ग्रसित है, वह तीव्र कर्म का बन्धन करता है और संसार में परिभ्रमण करता है और संवृत अनगार जो राग-द्वेष से मुक्त है, वही सम्पूर्ण दुःखों का अन्त करता है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण-जीवन का लक्ष्य कषाय से मुक्त होना है। इस प्रकार विविध प्रसंग श्रमण-जीवन की महत्ता को उजागर करते हैं।

श्रमण अनगार होता है। वह अपना जीवन निर्दोष भिक्षा ग्रहण कर यापन करता है। उसकी भिक्षा एक विशुद्ध भिक्षा है। भगवतीसूत्र में भिक्षा के सम्बन्ध में यत्र-तत्र चर्चा है। उस युग में जनमानस में यह प्रश्न उद्बुद्ध हो रहा था कि श्रमणों या ब्राह्मणों को भिक्षा देने से पाप होता है या पुण्य होता है या निर्जरा होती है ? गणधर गौतम ने जनमानस में पनपती हुई यह शंका भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत की कि उत्तम श्रमण या ब्राह्मण का निर्जीव और दोषरहित अन्न-पानी आदि के द्वारा एक श्रमणोपासक सत्कार करता है तो उसे क्या प्राप्त होता है ?

भगवान् महावीर ने कहा श्रमणोपासक अन्न-पानी आदि से श्रमण और ब्राह्मण को समाधि उत्पन्न करता है, इसलिये वह समाधि प्राप्त करता है। वह जीवननिर्वाह योग्य वस्तु प्रदान कर दुर्लभ सम्यक्त्वरत्न की विशुधि को प्राप्त करता है। वह निर्जरा करता है, पर पापकर्म नहीं करता।

श्रमण बहुत ही जागरूक होता है। भिक्षा ग्रहण करते समय और भिक्षा का उपयोग करते समय उसकी जागरूकता सतत बनी रहती है। आगम साहित्य में यत्र-तत्र भिक्षा सम्बन्धी दोष बताये गये हैं और आहार ग्रहण करने के दोष भी प्रतिपादित हैं। भगवतीसूत्र शतक ७ के प्रथम उद्देशक में प्रस्तुत प्रसंग इस प्रकार आया है—गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि भगवन् ! अंगारदोष, धूमदोष, संयोजनदोष प्रभृति से आहार किस प्रकार दूषित होता है ?

समाधान करते हुए भगवान् महावीर ने कहा—कोई श्रमण निर्ग्रन्थ निर्दोष, प्रासुक आहार को बहुत ही मूर्च्छित, लुब्ध और आसक्त बन के खाता है, वह अंगारदोष सहित आहार कहलाता है। आहार करते समय अन्तर्मानस में क्रोध की आग सुलग रही हो तो वह आहार धूमदोष सहित कहलाता है और स्वाद उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे पदार्थ का संयोजन किया जाये, वह संयोजनादोष है। श्रमण क्षेत्रातिक्रान्त, कालातिक्रान्त, मार्गातिक्रान्त और प्रमाणातिक्रान्त आहार आदि ग्रहण न करे पर नवकोटि विशुद्ध आहार ग्रहण करे।[९६] श्रमण का आहार संयम साधना की अभिवृद्धि के लिये होता है। आहार के सम्बन्ध में भगवती में अनेक स्थलों पर

---

९५. भगवती. शतक २५, उद्देशक ७

९६. भगवती. शतक ७, उद्देश्य १

चिन्तन प्रस्तुत किया है।[९७] दशवैकालिक,[९८] पिण्डनिर्युक्ति[९९] प्रभृति आगम ग्रन्थों में भी भिक्षाचर्या पर विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

पाप : एक चिन्तन

भारतीय मनीषियों ने पाप के सम्बन्ध में भी अपना स्पष्ट चिन्तन प्रस्तुत किया है। पाप की परिभाषा करते हुए लिखा है, जो आत्मा को बन्धन में डाले, जिसके कारण आत्मा का पतन हो, जो आत्मा के आनन्द का शोषण करे और आत्मशक्तियों का क्षय करे, वह पाप है।[१००] उत्तराध्ययनचूर्णि[१०१] में लिखा है—जो आत्मा को बांधता है वह पाप है। स्थानांगटीका[१०२] में आचार्य अभयदेव ने लिखा है—जो नीचे गिराता है, वह पाप है; जो आत्मा के आनन्दरस का क्षय करता है, वह पाप है। जिस विचार और आचार से अपना और पर का अहित हो और जिससे अनिष्ट फल की प्राप्ति होती हो, वह पाप है। भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ८ में पाप के विषय में चिन्तन करते हुए लिखा है कि एक शिकारी अपनी आजीविका चलाने के लिये हरिण का शिकार करने हेतु जंगल में खड्डे खोदता है और उसमें जाल बिछाता हो, उस शिकारी को किस प्रकार की क्रिया लगती है ?

भगवान् ने कहा कि वह शिकारी जाल को थामे हुए है पर जाल में मृग को फँसाता नहीं है, बाण से उसे मारता नहीं है, उस शिकारी को कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी ये तीन क्रियाएं लगती हैं। जब वह मृग को बांधता है पर मारता नहीं है तब उसे इन तीन क्रियाओं के अतिरिक्त एक परितापनिकी चतुर्थ क्रिया भी लगती है और जब वह मृग को मार देता है तो उपर्युक्त चार क्रियाओं के अतिरिक्त उसे पांचवीं प्राणातिपात क्रिया भी लगती है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने प्रश्न किया कि एक व्यक्ति आकाश में बाण फेंकता है, वह बाण आकाश में अनेक प्राणियों के, भूतों के, जीवों के और सत्वों के प्राणों का अपहरण करता है। उस व्यक्ति को कितनी क्रियाएं लगती हैं ?

भगवान् महावीर ने कहा—उस व्यक्ति को पांचों क्रियाएं लगती हैं।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक १० में कालोदायी ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि दो व्यक्तियों में से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा अग्नि को बुझाता है। दोनों में से अधिक पाप कौन करता है ?

भगवान् ने समाधान दिया कि जो अग्नि को प्रज्वलित करता है, वह अधिक कर्मयुक्त, अधिक क्रिया-युक्त, अधिक आस्रवयुक्त और अधिक वेदनायुक्त कर्मों का बन्धन करता है। उसकी अपेक्षा बुझाने वाला व्यक्ति कम पाप करता है। अग्नि प्रज्वलित करने वाला पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक सभी की हिंसा करता है, जबकि बुझाने वाला उससे कम हिंसा करता है।

---

९७. भगवती- शतक १, उद्देशक ९; शतक ५, उद्देशक ६; शतक ८, उद्देशक ६

९८. दशवैकालिक, अ. ३, अ. ५

९९. पिण्डनिर्युक्ति

१००. अभिधानराजेन्द्र कोश, खण्ड ५, पृष्ठ ८७६

१०१. पातयति पातयति वा पापम्। —उत्तराध्ययनचूर्णि पृ. १५२

१०२. पाशयति—गुण्डयत्यात्मानं पातयति चात्मन आनन्दरसं शोषयति क्षपयतीति पापम्।

—स्थानांगटीका, पृ. १६

भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने पूछा—एक श्रमण भिक्षा के लिये गृहस्थ के यहाँ गया। वहाँ पर उसे कुछ दोष लग गया। वह श्रमण सोचने लगा कि मैं स्थान पर पहुँच कर स्थविर मुनियों के पास आलोचना करूंगा और विधिवत् प्रायश्चित्त लूंगा। वह स्थविरों की सेवा में पहुँचा। पर उसके पूर्व ही स्थविर रुग्ण हो गये तथा उनकी वाणी बन्द हो गई। वह श्रमण प्रायश्चित्त ग्रहण नहीं सका तो वह आराधक है या विराधक ?

भगवान् ने कहा—वह आराधक है, क्योंकि उसके मन में पाप की आलोचना करने की भावना थी। यदि वह श्रमण स्वयं भी मूक हो जाता, पाप को प्रकट नहीं कर पाता तो भी वह आराधक था। क्योंकि उसके अन्तर्मानस में आलोचना कर पाप से मुक्त होने की भावना थी। पाप का सम्बन्ध भावना पर अधिक अवलम्बित है।

इस प्रकार भगवती में विविध प्रश्न पाप से निवृत्त होने के सम्बन्ध में पूछे गये। उन सभी प्रश्नों का सटीक समाधान भगवान् महावीर ने प्रदान किया है। पाप की उत्पत्ति मुख्य रूप से राग-द्वेष और मोह के कारण होती है। जितनी-जितनी उनकी प्रधानता होगी, उतना-उतना पाप का अनुबन्धन तीव्र और तीव्रतर होगा। जैन-धर्म में पाप के प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान आदि अठारह प्रकार बताये हैं।

बौद्धधर्म में कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर पाप या अकुशल कर्म के दस प्रकार प्रतिपादित हैं।[103]

(१) कायिक पाप—१. प्राणातिपात (हिंसा), २. अदत्तादान (चोरी), ३. कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)।

(२) वाचिक पाप—४. मुसावाद (असत्य भाषण), ५. पिसुना वाचा (पिशुन वचन), ६. फरुसा वाचा (कठोर वचन), ७. सम्फलाप (व्यर्थ आलाप)।

(३) मानसिक पाप—८. अभिज्जा (लोभ), ९. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित चिन्तन), १०. मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)।

अभिधम्मत्थसंगहो[104] नामक बौद्ध ग्रन्थ में भी चौदह अकुशल चैतसिक पापों का निरूपण हुआ है। वे इस प्रकार हैं—

१. मोहमूढ़ता, २. अहिरीक (निर्लज्जता), ३. अनोतप्पं—अभीरुता (पापकर्म में भय न मानना) ४. उद्धच्चं—उद्धतपन (चंचलता), ५. लोभो (तृष्णा), ६. दिट्ठी—मिथ्यादृष्टि, ७. मानो—अहंकार, ८. दोसो—द्वेष, ९. इस्सा—ईर्ष्या, १०. मच्छरियं—मात्सर्य्य (अपनी सम्पत्ति को छिपाने की प्रवृत्ति), ११. कुक्कुच्च—कौकृत्य (कृत-अकृत के बारे में पश्चात्ताप), १२. थीनं, १३. मिद्धं, १४. विचिकिच्छा—विचिकित्सा (संशय)।

इसी प्रकार वैदिकपरम्परा के ग्रन्थ मनुस्मृति[105] में भी पापाचरण के दस प्रकार प्रतिपादित हैं—

(क) कायिक—१. हिंसा, २. चोरी, ३. व्यभिचार,

---

१०३. बौद्धधर्मदर्शन, भाग १, पृष्ठ ४८०, ले. भरतसिंह उपाध्याय

१०४. अभिधम्मत्थसंगहो पृ. १९, २०

१०५. मनुस्मृति १२/५-७

(ख) वाचिक—४. मिथ्या (असत्य), ५. ताना मारना, ६. कटुवचन, ७. असंगत वाणी,

(ग) मानसिक—८. परद्रव्य की अभिलाषा, ९. अहितचिन्तन, १०. व्यर्थ आग्रह।

इस प्रकार सभी मनीषियों ने पाप से मुक्त होने का संदेश दिया है।

आध्यात्मिक शक्ति

आज का मानव भौतिक विज्ञान की शक्ति से न्यूनाधिक रूप में भलीभांति परिचित है। विज्ञान की शक्ति से मानव आकाश में पक्षी की भांति उड़ान भर रहा है, मछली की भांति अनन्त जलराशि पर तैर रहा है और द्रुत गति से भूमि पर दौड़ रहा है। टेलीफोन, टेलीविजन, रेडियो आदि के आविष्कार से विश्व सिमट गया है। अणु बम, न्यूट्रोन बम और विविध प्रकार की गैसों के आविष्कार से विश्व को विज्ञान ने विनाश की भूमिका पर भी पहुँचा दिया है। पर अतीत काल में भौतिक अनुसन्धान का अभाव था। उस समय आध्यात्मिक साधना के द्वारा उन साधकों ने वह अपूर्व शक्ति अर्जित की थी जिससे वे किसी के अन्तर्मानस के विचारों को जान सकते थे, विविध रूपों का सृजन कर सकते थे। जंघाचारण, विद्याचारण लब्धियों से अनन्त आकाश को कुछ ही क्षणों में नाप लेते थे। भगवतीसूत्र में इस प्रकार की आध्यात्मिक शक्तियों को उजागर करने वाले अनेक प्रसंग आये हैं।

भगवतीसूत्र शतक ३, उद्देशक ५ में एक प्रसंग है—गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा कि एक श्रमण विराट्काय स्त्री का रूप बना सकता है ? यदि बना सकता है तो कितनी स्त्रियों का रूप बना सकता है ?

भगवान् ने कहा—वैक्रियलब्धिधारी श्रमण में इतना अधिक सामर्थ्य है कि वह सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को स्त्रियों के रूपों से भर सकता है, पर निर्माण करने की शक्ति होने पर भी वह इस प्रकार स्त्रियों का निर्माण नहीं करता।

भगवतीसूत्र शतक ३, उद्देशक ४ में गौतम ने पूछा—वैक्रियशक्ति का प्रयोग प्रमत्त श्रमण करता है या अप्रमत्त श्रमण करता है ?

भगवान् महावीर ने कहा—वैक्रियलब्धि का प्रयोग प्रमत्त श्रमण करता है, अप्रमत्त श्रमण नहीं करता।

शतक ७, उद्देशक ९ में यह भी बताया है कि प्रमत्त श्रमण ही विविध प्रकार के विविध रंग के रूप बना सकता है। वह चाहे जिस रूप में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श में परिवर्तन कर सकता है।

भगवतीसूत्र शतक २०, उद्देशक ९ में गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् ने कहा—आकाश में गमन करने की शक्ति चारणलब्धि में रही हुई है। वह चारणलब्धि जंघाचारण और विद्याचारण के रूप में दो प्रकार की है। विद्याचारणलब्धि निरन्तर बेले की तपस्या से और पूर्व नामक विद्या से प्राप्त होती है। इस लब्धि से मुनि तीन बार चुटकी बजाने जितने समय में तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन परिधि वाले जम्बूद्वीप की तीन बार प्रदक्षिणा कर लेता है। जंघाचारणलब्धि तीन-तीन उपवास की निरन्तर साधना करने पर प्राप्त होती है और इस लब्धि की शक्ति से तीन बार चुटकी बजाये इतने समय में इक्कीस बार जम्बूद्वीप की प्रदक्षिणा कर लेता है। इस द्रुत गति के सामने आधुनिक युग के राकेट की गति भी कितनी कम है !

इसी तरह अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान के द्वारा अन्तर्मानस में रहे हुए विचारों को साधक किस प्रकार जानता है ? शतक ३, उद्देशक ४ तथा शतक १४, उद्देशक १०; शतक ५, उद्देशक ४ आदि में इस विषय का विस्तार से निरूपण है। आध्यात्मिक शक्ति जब जाग जाती है तब हस्तामलकवत् चाहे रूपी पदार्थ हो या अरूपी पदार्थ हो, उसे वह सहज ही जान लेता है। उससे कोई भी वस्तु छिपी नहीं रह पाती।

भगवतीसूत्र शतक १५ में तेजोलब्धि का भी निरूपण है। तेजोलब्धि वह लब्धि है, जिससे साढ़े सोलह देश भस्म किये जा सकते थे। वह शक्ति आधुनिक उद्जन् बम की तरह थी। भौतिक शक्ति की अपेक्षा आध्यात्मिक शक्ति अधिक प्रबल होती है, यह प्रस्तुत प्रसंगों से स्पष्ट है। जैन परम्परा की तरह बौद्ध और वैदिक परम्परा में भी तपोजन्य लब्धियों का उल्लेख हुआ है।

योगदर्शन में आचार्य पतञ्जलि ने योग का प्रभाव प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि योगी को अणिमा, महिमा, लघिमा प्रभृति आठ महाविभूतियाँ प्राप्त होती हैं। इससे योगी अणु को विराट् और विराट् को अणु बना सकता है। जिसे जैन परम्परा में लब्धि कहा है उसे ही योगदर्शन में विभूतियाँ कहा है। आगमकार ने यह सूचित किया है कि लब्धि होना अलग चीज है और उसका प्रयोग करना अलग चीज है। लब्धि सहज होती है पर लब्धि का प्रयोग प्रमत्त दशा में ही होता है। छट्ठे गुणस्थान तक ही साधक लब्धि का प्रयोग करता है। अप्रमत्त साधक लब्धि का प्रयोग नहीं करता है। लब्धिप्रयोग प्रमत्त भाव है। प्रमाद कर्मबन्धन का कारण है। इसीलिए भगवती के बीसवें शतक, नौवें उद्देशक में स्पष्ट कहा है—जो साधक लब्धि का प्रयोग कर प्रमादसेवना कर पुनः उसकी आलोचना नहीं करता है; अनालोचना की दशा में ही काल प्राप्त कर जाता है तो वह धर्म की आराधना से च्युत हो जाता है। "नत्थि तस्स आराहणा" अर्थात् वह विराधक हो जाता है।

यहाँ यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि लब्धिप्रयोग प्रमाद क्यों है? उत्तर है कि उसमें उत्सुकता, कुतूहल, प्रदर्शन, यश और प्रतिष्ठा की भावना रहती है। लब्धिप्रयोग करने वाले के अन्तर्मानस में कभी यह विचार पनपता है कि जनमानस पर मेरा प्रभाव गिरे। कभी-कभी वह क्रोध के कारण दूसरे व्यक्ति का अनिष्ट करने के लिये लब्धि का प्रयोग करता है, इसलिये उसमें प्रमाद रहा हुआ है। जैनसाधना में चमत्कार को नहीं सदाचार को महत्त्व दिया है। जिस प्रकार भगवान् महावीर ने लब्धिप्रयोग का निषेध किया वैसे ही तथागत बुद्ध ने चमत्कारप्रदर्शन को ठीक नहीं माना। संयुक्तनिकाय में भिक्षु मौदगल्यायन का वर्णन है जो लब्धिधारी और ऋद्धिबल सम्पन्न था*। समय-समय पर वह चमत्कारप्रदर्शन भी करता था। अतः बुद्ध समय-समय पर चमत्कार-प्रदर्शन का निषेध करते रहे।

प्रत्याख्यान : एक चिन्तन

इच्छाओं के निरोध के लिये प्रत्याख्यान आवश्यक है। प्रत्याख्यान का अर्थ है प्रवृत्ति को मर्यादित और सीमित करना।[१०६] आचार्य अभयदेव ने स्थानांगवृत्ति में लिखा है कि अप्रमत्त भाव को जगाने के लिये जो मर्यादापूर्वक संकल्प किया जाता है वह प्रत्याख्यान है।[१०७] साधक आत्मशुद्धि हेतु यथाशक्ति प्रतिदिन कुछ न कुछ त्याग करता है। त्याग करने से उसके जीवन में अनासक्ति की भव्य भावना अंगड़ाइयाँ लेने लगती है और तृष्णा मंद से मंदतर होती चली जाती है। प्रत्याख्यान के भी दो प्रकार हैं—१. द्रव्यप्रत्याख्यान और २. भाव-प्रत्याख्यान। द्रव्यप्रत्याख्यान में आहार, वस्त्र प्रभृति पदार्थों को छोड़ना होता है और भावप्रत्याख्यान में राग-द्वेष, कषाय प्रभृति अशुभ वृत्तियों का परित्याग करना होता है।

आवश्यकनिर्युक्ति[१०८] में आचार्य भद्रबाहु ने लिखा है—प्रत्याख्यान से आस्रव का निरुन्धन होता है

---

*देखिए धम्मपद अट्ठकथा ४-४४ (ख) अंगुत्तरनिकाय १-१४

१०६. योगशास्त्र, स्वोपज्ञवृत्ति, उद्धृत श्रमणसूत्र, पृ. १०४

१०७. प्रमादप्रातिकूल्येन मर्यादया ख्यानं-कथनं प्रत्याख्यानम्। —स्थानांग टीका पृ. ४१

१०८. आवश्यकनिर्युक्ति, १५९४

और आस्रव-निरुन्धन से तृष्णा का क्षय होता है। जैन दृष्टि से असद्-आचरण नहीं करने वाला व्यक्ति भी जब तक प्रतिज्ञा नहीं लेता है तब तक वह उस असदाचरण से मुक्त नहीं हो पाता। परिस्थितिवश वह असदाचरण नहीं करता पर असदाचरण न करने की प्रतिज्ञा के अभाव में वह परिस्थितिवश असदाचरण कर सकता है। जब तक प्रतिज्ञा नहीं करता तब तक वह असदाचरण के दोष से मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्याख्यान में असदाचरण से निवृत्त होने के लिये दृढ़-संकल्प की आवश्यकता है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक २ में प्रत्याख्यान के सम्बन्ध में विस्तार से चर्चा की गई है।

प्रायश्चित्त : एक चिन्तन

साधक प्रतिपल-प्रतिक्षण जागरूक रहता है किन्तु जागरूक रहने पर भी और न चाहते हुए भी कभी-कभी प्रमाद आदि के कारण स्खलनाएं हो जाती हैं। दोष लगना उतना बुरा नहीं है, जितना बुरा है दोष को दोष न समझना और उसकी शुद्धि के लिये प्रस्तुत न होना। जो दोष लग जाते हैं, उन दोषों की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त में सर्वप्रथम आलोचना है। जो भी स्खलना हो, उस स्खलना को बालक की तरह गुरु के समक्ष सरलता के साथ प्रस्तुत कर देना आलोचना है। भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७ में इस सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया गया है, सर्वप्रथम गणधर गौतम ने पूछा कि भगवन्! किन कारणों से साधना में स्खलनाएँ होती हैं?

भगवान् महावीर ने समाधान देते हुए कहा कि दस कारणों से साधना में स्खलनाएँ होती हैं। वे इस प्रकार हैं—१. दर्प (अहंकार से) २. प्रमाद से ३. अनाभोग (अज्ञान से) ४. आतुरता ५. आपत्ति से ६. संकीर्णता ७. सहसाकार (आकस्मिक क्रिया से) ८. भय से ९. प्रद्वेष (क्रोध आदि कषाय से) १०. विमर्श (शैक्षिक आदि की परीक्षा करने से)। इन दस कारणों से स्खलना होती है। स्खलना होने पर उन स्खलनाओं के परिष्कार के लिये साधक गुरु के समक्ष पहुँचता है पर दोष को प्रकट करते समय उन दोषों को इस प्रकार प्रकट करना जिससे गुरुजन मुझे कम प्रायश्चित्त दें, यह दोष है। आलोचना के दस दोष प्रस्तुत आगम में हैं तथा अन्य स्थलों पर भी उन दस दोषों का निरूपण हुआ है। वे दोष इस प्रकार हैं—१. गुरु को यदि मैंने प्रसन्न कर लिया तो वे मुझे कम प्रायश्चित्त देंगे अतः उनकी सेवा कर उनके अन्तर्मानस को प्रसन्न कर फिर आलोचना करना। २. बहुत अल्प अपराध को बताना जिससे कि कम प्रायश्चित्त मिले। ३. जो अपराध आचार्य आदि ने देखा हो उसी की आलोचना करना। ४. केवल बड़े अतिचारों की ही आलोचना करना। ५. केवल सूक्ष्म दोषों की ही आलोचना करना जिससे कि आचार्य को यह आत्मविश्वास हो जाये कि यह इतनी सूक्ष्म बातों की आलोचना कर रहा है तो स्थूल दोषों की तो की ही होगी। ६. इस प्रकार आलोचना करना जिससे कि आचार्य सुन न सके। ७. दूसरों को सुनाने के लिये जोर-जोर से आलोचना करना। ८. एक ही दोष की पुनः-पुनः आलोचना करना। ९. जिनके सामने आलोचना की जाय वह अगीतार्थ हों। १०. उस दोष की आलोचना की जाय जिस दोष का सेवन उस आचार्य ने कर रखा हो—ये दस आलोचना के दोष हैं।

आलोचना करने वाले के दस गुण भी बताए गये हैं तथा जिस आचार्य या गुरु के सामने आलोचना करनी हो उनके आठ गुण भी आगम में प्रतिपादित हैं। वर्तमान युग में आलोचना शब्द अन्य अर्थ में व्यवहृत है—किसी की नुक्ता-चीनी करना, टीका-टिप्पणी करना या किसी के गुण-दोष की चर्चा करना। पर प्रस्तुत आगम में जो शब्द आया है, वह दूसरों के गुण-दोषों के सम्बन्ध में नहीं है पर आत्मनिन्दा के अर्थ में है। आत्मनिन्दा करना सरल नहीं, कठिन और कठिनतर है। परनिन्दा करना, दूसरे के दोषों को निहारना सरल है। आत्म-

आलोचना वही व्यक्ति कर सकता है जिसमें सरलता हो, किसी भी प्रकार का छिपाव न हो, जिसका जीवन खुली पुस्तक की तरह हो। व्यक्ति पाप करके भी यह सोचता है कि मैं पाप को स्वीकारकरूंगा तो मेरी कीर्ति, मेरा यश, मेरी प्रतिष्ठा धूमिल हो जायेगी। वह पाप करके भी पाप को छिपाना चाहता है। जिसे स्वास्थ्य की चिन्ता है, वह पहले से ही सावधान रहता है। यदि रोग हो गया है, उसके बाद यह सोचे कि मैं डॉक्टर के पास जाऊंगा और लोगों को यह पता चल जायेगा कि मैं रोगी हूं। इस प्रकार विचार कर वह अपना रोग छिपाता है तो वह व्यक्ति स्वस्थ नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीवन में पवित्रता तभी रहेगी जब दोष को प्रकट कर उसका यथोचित प्रायश्चित्त किया जाय। आलोचना करने से साधक माया, निदान और मिथ्यादर्शन रूप तीन शल्यों को अन्तर्मानस से निकाल दूर कर देता है। कांटा निकलने से हृदय में सुखानुभूति होती है, वैसे ही पाप को प्रकट करने से भी जीवन निःशल्य बन जाता है। जो साधक पाप करके भी आलोचना नहीं करता है, उसकी सारी आध्यात्मिक क्रियाएं बेकार हो जाती हैं। कोई साधक यह सोचे कि मुझे तो सभी शास्त्रों का परिज्ञान है अतः मुझे किसी के पास जाकर आलोचना करने की क्या आवश्यकता है? पर यह सोचना ठीक नहीं है। जिस प्रकार निपुण वैद्य भी अपनी चिकित्सा दूसरों से करवाता है, दूसरे वैद्य के कथनानुसार कार्य करता है, वैसे ही आचार्य को भी यदि दोष लग जाता है तो दोष की विशुद्धि दूसरों की साक्षी से ही करनी चाहिये। इस प्रकार करने से हृदय की सरलता प्रकट होती है और दूसरों को भी सरल और विशुद्ध बनाया जा सकता है।

आलोचना किसके पास करनी चाहिये? इस प्रश्न का समाधान व्यवहारसूत्र में मिलता है। सर्वप्रथम आलोचना आचार्य और उपाध्याय के समक्ष करनी चाहिये। उनके अभाव में साम्भोगिक बहुश्रुत श्रमण के पास करनी चाहिये। उनके अभाव में समान रूप वाले बहुश्रुत साधु के पास। उनके अभाव में जिसने पूर्व में संयम पाला हो और जिसे प्रायश्चित्तविधि का ज्ञान हो उस पडिवाई (संयमच्युत) श्रावक के पास। उसका भी अभाव होने पर जिनभक्त यक्ष आदि के पास। इनमें से सभी का अभाव हो तो ग्राम या नगर के बाहर पूर्व-उत्तर दिशा में मुंह कर विनीत मुद्रा में अपने अपराधों और दोषों का स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये और अरिहन्त-सिद्ध की साक्षी से स्वतः ही शुद्ध हो जाना चाहिये।[१०९]

तप : एक विश्लेषण

तप भारतीय साधना का प्राणतत्त्व है। जैसे शरीर में ऊष्मा जीवन के अस्तित्व का द्योतक है वैसे ही साधना में तप उसके दिव्य अस्तित्व को अभिव्यक्त करता है। तप के बिना न निग्रह होता है, न अभिग्रह होता है। तप दमन नहीं, शमन है। तप केवल आहार का ही त्याग नहीं, वासना का भी त्याग है। तप अन्तर्मानस में पनपते हुए विकारों को जला कर भस्म कर देता है और साथ ही अन्तर्मानस में रहे हुए सघन अन्धकार को भी नष्ट कर देता है। इसलिये तप ज्वाला भी है और ज्योति भी है। तप जीवन को सौम्य, सात्विक और सर्वांगपूर्ण बनाता है। तप की साधना से आध्यात्मिक परिपूर्णता प्राप्त होती है। तप ऐसा कल्पवृक्ष है जिसकी निर्मल छत्रछाया में साधना के अमृतफल प्राप्त होते हैं। तप से जीवन ओजस्वी, तेजस्वी और प्रभावशाली बनता है। तप के सम्बन्ध में भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक ७ में निरूपण है। वहाँ पर तप के दो मुख्य प्रकार बताये हैं—१. बाह्य तप और २. आभ्यन्तर तप। बाह्य तप के छह प्रकार बताये हैं और आभ्यन्तर तप के भी छह प्रकार हैं। जो तप बाहर दिखलाई दे, वह बाह्य तप है। बाह्य तप में देह या इन्द्रियों का निग्रह किया जाता है। बाह्य तप में बाह्य द्रव्यों की अपेक्षा रहती है जबकि आभ्यन्तर तप में अन्तःकरण के व्यापारों की प्रधानता होती है। यह जो वर्गीकरण है

---

१०९. व्यवहारसूत्र, उद्देशक १, बोल ३४ से ३९

वहं तप की प्रक्रिया और स्थिति को समझाने के लिए किया गया है। तप का प्रारम्भ होता है बाह्य तप से और उसकी पूर्णता होती है आभ्यन्तर तप से। तप का एक छोर बाह्य है और दूसरा छोर आभ्यन्तर है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप में पूर्णता नहीं आती। बाह्य तप से जब साधक का अन्तर्मन और तन उत्तप्त हो जाता है तो अन्तर में रही हुई मलीनता को नष्ट करने के लिये साधक प्रस्तुत होता है। और वह अन्तर्मुखी बनकर आभ्यन्तर साधक में लीन हो जाता है। बाह्य तप के प्रकार निम्नानुसार हैं—

१. अनशन—बाह्य तप में इसका प्रथम स्थान है। यह तप अधिक कठोर और दुर्धर्ष है। भूख पर विजय प्राप्त करना अनशन तप का मूल उद्देश्य है। अनशन तप में भूख को जीतना और मन को निग्रह करना आवश्यक है। अनशन से तन की ही नहीं मन की भी शुद्धि होती है। अनशन केवल देहदण्ड ही नहीं अपितु आध्यात्मिक गुणों की उपलब्धि का महान् उद्देश्य भी उसमें सन्निहित है। भगवद्गीता[११०] में भी लिखा है कि आहार का परित्याग करने से इन्द्रियों के विषय-विकार दूर हो जाते हैं और मन भी पवित्र हो जाता है। महर्षि ने मैत्रायणी आरण्यक में लिखा है कि अनशन से बड़ा कोई तप नहीं है। साधारण मानव के लिये यह तप बड़ा ही दुर्धर्ष है। उसे सहन और वहन करना कठिन ही नहीं कठिनतर है।[१११]

अनशन तप के भी दो प्रकार हैं। एक इत्वरिक और दूसरा यावत्कालिक। इत्वरिक तप में एक निश्चित समयावधि होती है। एक दिन से लगाकर छह मास तक का यह तप होता है। दूसरा प्रकार यावत्कालिक तप जीवन पर्यन्त के लिये किया जाता है। यावत्कालिक अनशन के पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान—ये दो भेद हैं। भक्तप्रत्याख्यान में आहार के परित्याग के साथ ही निरन्तर स्वाध्याय, ध्यान, आत्मचिन्तन में समय व्यतीत किया जाता है। पादपोगमन में टूटे हुए वृक्ष की टहनी की भांति अचंचल, चेष्टारहित एक ही स्थान पर जिस मुद्रा में प्रारम्भ में स्थिर हुआ, अन्तिम क्षण तक उसी मुद्रा में अवस्थित रहना होता है। यदि नेत्र खुले हैं तो बन्द नहीं करना। यदि बन्द हैं तो खोलना नहीं है। जिसका वज्र ऋषभनाराच संहनन हो वही पादपोपगमन संथारा कर सकता है। चौदह पूर्वों का जब विच्छेद होता है तभी पादपोपगमन अनशन का भी विच्छेद हो जाता है।[११२] पादपोपगमन के निरहारिम और अनिरहारिम ये दो प्रकार हैं।

तप का दूसरा प्रकार **ऊनोदरी** है। ऊनोदरी का शब्दार्थ है—ऊन—कम एवं उदर—पेट अर्थात् भूख से कम खाना ऊनोदरी है। कहीं-कहीं पर ऊनोदरी को अवमौदर्य भी कहा गया है। इसे अल्प आहार या परिमित आहार भी कह सकते हैं। आहार के समान कषाय, उपकरण आदि की भी ऊनोदरी की जाती है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि उपवास करना तो तप है क्योंकि उसमें पूर्ण रूप से आहार का त्याग होता है, पर ऊनोदरी तप में तो भोजन किया जाता है फिर इसे तप किस प्रकार कहा जाये? समाधान है—भोजन का पूर्ण रूप से त्याग करना तो तप होता ही है पर भोजन के लिये प्रस्तुत होकर भूख से कम खाना, भोजन करते हुए रसना पर संयम करना, सुस्वादु भोजन को बीच में ही छोड़ देना भी अत्यन्त दुष्कर है। आत्मसंयम और दृढ़ मनोबल के बिना यह तप सम्भव नहीं है। निराहार रहने की अपेक्षा आहार करते हुए पेट को खाली रखना कठिन और कठिनतर है। अनशन तप स्वस्थ व्यक्ति कर सकता है पर ऊनोदरी तप रोगी और दुर्बल व्यक्ति भी कर सकता है। ऊनोदरी तप से अनेक

---

११०. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। —भगवद्गीता, २/५९

१११. मैत्रायणी आरण्यक, १०/६२

११२. पढमंमि अ संघयणे वट्टंतो सेलकुट्ट समाणो।
तेसिं पि अ वुच्छेओ चउद्दसपुव्वीण वुच्छेए॥ —उववाईसूत्र, तप अधिकार

प्रकार के रोग भी मिट जाते हैं। ऊनोदरी तप के दो भेद बताये हैं—१. द्रव्य ऊनोदरी और २. भाव ऊनोदरी। उत्तराध्ययन में ऊनोदरी के पांच प्रकार भी बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. द्रव्य ऊनोदरी—आहार की मात्रा से कम खाना और आवश्यकता से कम वस्त्रादि रखना।

२. क्षेत्र ऊनोदरी—भिक्षा के लिये किसी स्थान आदि को निश्चित कर वहाँ से भिक्षा ग्रहण करना।

३. काल ऊनोदरी—भिक्षा के लिये काल यानी समय निश्चित कर कि अमुक समय भिक्षा मिलेगी तो ग्रहण करूंगा नहीं तो नहीं।

४. भाव ऊनोदरी—भिक्षा के समय अभिग्रह आदि धारण करना।

५. पर्याय ऊनोदरी—इन चारों भेदों को क्रिया रूप में परिणत करते रहना।

द्रव्य ऊनोदरी के अन्य अनेक अवान्तर भेद हैं। द्रव्य ऊनोदरी से साधक का जीवन बाहर से हल्का, स्वस्थ और प्रसन्न रहता है। भाव ऊनोदरी में साधक क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को कम करता है। वह कम बोलता है, कलह आदि से बचता है। भाव ऊनोदरी से अन्तरंग जीवन में प्रसन्नता पैदा होती है और सद्गुणों का विकास होता है।

तप का तृतीय प्रकार भिक्षाचरी है। विविध प्रकार के अभिग्रह को ग्रहण कर भिक्षा की अन्वेषणा करना भिक्षाचरी है। भिक्षा का सामान्य अर्थ मांगना है पर सिर्फ मांगना ही तप नहीं है। आचार्य हरिभद्र[११३] ने भिक्षा के तीन प्रकार बताये हैं—दीनवृत्ति, पौरुषघ्नी और सर्वसम्पत्करी। जो अनाथ, अपंग या आपद्ग्रस्त दरिद्र व्यक्ति मांग कर खाते हैं उनकी दीनवृत्ति भिक्षा है। जो श्रम करने में समर्थ होकर भी काम से जी चुराकर कमाने की शक्ति होने पर भी मांग कर खाते हैं, उनकी पौरुषघ्नी भिक्षा है। वह भिक्षा पुरुषार्थ का नाश करती है। जो त्यागी, अहिंसक श्रमण अपने उदरनिर्वाह के लिये माधुकरी वृत्ति से गृहस्थ के घर में सहज भाव से निर्मित निर्दोष विधि से भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह भिक्षा सर्वसम्पत्करी है। इस प्रकार की भिक्षा देने वाला और ग्रहण करने वाला, दोनों ही सद्गति को प्राप्त होते हैं। सर्वसम्पत्करी भिक्षा ही वस्तुतः कल्याणकारी भिक्षा है। भिक्षाचरी के अनेक भेद-प्रभेदों का उल्लेख उत्तराध्ययन,[११४] स्थानांग,[११५] औपपातिक[११६] आदि में हुआ है। उत्तराध्ययन पिण्डनिर्युक्ति आदि में भिक्षुक को अनेक दोषों से बच कर भिक्षा लेने का विधान है।[११७]

तप का चतुर्थ प्रकार रसपरित्याग है। इस का अर्थ है—प्रीति बढ़ाने वाला "रसम् प्रीति विवर्द्धकम्"। जिसके कारण भोजन में प्रीति समुत्पन्न होती हो वह रस है। भोजन के छह रस माने गये हैं—कटु, मधुर, आम्ल, तिक्त, काषाय एवं लवण। इन रसों के कारण भोजन स्वादिष्ट बनता है। सरस भोजन को मानव भूख से भी अधिक खा जाता है। रसयुक्त भोजन स्वादिष्ट, गरिष्ठ और पौष्टिक होता है। रस से सुपच भोजन भी दुष्पच बन जाता है। उत्तराध्ययनसूत्र[११८] में कहा है—रस प्रायः दीप्ति अर्थात् उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इसलिये

---

११३. सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता। —अष्टक प्रकरण ५।१

११४. उत्तराध्ययन ३०/२५

११५. स्थानांग ६

११६. औपपातिकसूत्र, पृष्ठ ३८, २

११७. (क) उत्तराध्ययन २४/११-१२ (ख) पिण्डनिर्युक्ति, ९२-९३

११८. पायं रसा दित्तिकरा नराणं.... —उत्तराध्ययन ३२/१०

उन रसों को विकृति कहा है। आचार्य सिद्धसेन ने विकृति की परिभाषा करते हुए लिखा है—घी आदि पदार्थ खाने से मन में विकार पैदा होते हैं। विकार उत्पन्न होने से मानव संयम से भ्रष्ट होकर दुर्गति में जाता है। अतः इन पदार्थों का सेवन करने वाले की विकृति और विगति दोनों होती हैं। इस कारण इन्हें विगयी (विकृति और विगति) कहा है।[११९]

पांच इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना बहुत ही कठिन है। भारत के तत्त्वदर्शी मनीषियों ने कहा— "सर्वं जितं जिते रसे"—जिसने रसनेन्द्रिय को जीत लिया उसने संसार के सभी रसों को जीत लिया। यही कारण है, भगवती में साधक के लिये स्पष्ट निर्देश दिया है कि चाहे सरस आहार हो या नीरस, लोलुपता रहित होकर ऐसे खाए जैसे विल में सांप घुस रहा हो।[१२०] साधक को आहार का निषेध नहीं है पर स्वाद का निषेध है। आचारांग में उल्लेख है कि श्रमण को स्वादवृत्ति से बचने के लिए ग्रास को बायीं दाढ़ से दाहिनी दाढ़ की ओर भी नहीं ले जाना चाहिये। वह स्वादवृत्ति रहित होकर खाए। इससे कर्मों का हल्कापन होता है। ऐसा साधक आहार करता हुआ भी तपस्या करता है।[१२१] इस प्रकार साधु आहार करता हुआ कर्मों के बन्धन को ढीले करता है। यहाँ तक कि केवलज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। यदि आसक्त होकर आहार करता है तो कर्मबन्धन कर लेता है। अतः रसपरित्याग को तप माना है।

तप का पांचवाँ प्रकार कायक्लेश है। कायक्लेश का अर्थ शरीर को कष्ट देना है। कष्ट, एक स्वकृत होता है और दूसरा परकृत होता है। कितने ही कष्ट न चाहने पर भी आते हैं। देव, मानव और तिर्यञ्च सम्बन्धी ऐसे कष्ट जो स्वतः आ जाते हैं और दूसरे कष्ट उदीरणा करके बुलाये जाते हैं। जैसे आसन करना, ध्यान लगा कर स्थिर हो जाना, भयंकर जंगल में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ा होना, केश लुञ्चन करना आदि। जैसे मेहमान को निमंत्रण देकर बुलाया जाता है वैसे ही साधक अपने धैर्य, साहस वृद्धि के हेतु कष्टों को निमंत्रण देता है।

भगवतीसूत्र[१२२] में जहाँ कायक्लेश तप का उल्लेख है, वहाँ पर २२ परीषहों का भी वर्णन है। कायक्लेश और परीषह में जरा अन्तर है। कायक्लेश का अर्थ है—अपनी ओर से कष्टों को स्वीकार करना। साधक विशेष कर्मनिर्जरा के हेतु अनेक प्रकार के ध्यान, प्रतिमा, केश लुञ्चन, शरीर मोह का त्याग आदि के द्वारा भाव को स्वीकार करता है। यह विशेष तप कायक्लेश कहलाता है। कायक्लेश में स्वेच्छा से कष्ट सहन किया जाता है, जब कि परीषह में स्वेच्छा से कष्ट सहन नहीं किया जाता अपितु श्रमण जीवन के नियमों का परिपालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि कोई कष्ट उपस्थित हो जाता है तो उसे सहन किया जाता है। आवश्यकचूर्णि[१२३] में लिखा है, जो सहन किये जाते हैं, वे परीषह हैं।

कायक्लेश हमारे जीवन को निखारता है। उसकी साधना के अनेक रूप आगम साहित्य में प्राप्त हैं।

---

११९. (क) तत्र मनसो विकृतिहेतुत्वाद् विगति हेतुत्वाद् वा विकृतयो, विगतयो।

—प्रवचनसारोद्धारवृत्ति (प्रत्या. द्वार)

(ख) मनसो विकृति हेतुत्वाद् विकृतयः। —योगशास्त्र, ३ प्रकाशवृत्ति

१२२. भगवतीसूत्र ७/१

१२१. प्रवचन सार ३।२७

१२२. भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक ८

१२३. परिसहिज्जंते इति परीसहा। —आवश्यकचूर्णि २, पृ. १३९

स्थानांग[124] में कायक्लेश तप के सात प्रकार बताये हैं—कायोत्सर्ग करना, उत्कुटुक आसन से ध्यान करना, प्रतिमा धारण करना, वीरासन करना, निषद्या-स्वाध्याय प्रभृति के लिये पालथी मारकर बैठना, दंडायत होकर खड़े रहकर ध्यान करना लगण्डशायित्व। औपपातिकसूत्र[125] में कायक्लेश तप के चौदह प्रकार प्रतिपादित हैं—

१. ठाणट्ठिइए—कायोत्सर्ग करे।
२. ठाणइए—एक स्थान पर स्थित रहे।
३. उक्कुडु आसणिए—उत्कुटुक आसन से रहे।
४. पडिमट्ठाई—प्रतिमा धारण करे।
५. वीरासणिए—वीरासन करे।
६. नेसिज्जे—पालथी लगाकर स्थिर बैठे।
७. दंडायए—दंडे की भाँति सीधा सोया या बैठा रहे।
८. लगंडसाई—(लगण्डशायी) लक्कड़ (वक्र काष्ठ) की तरह सोता रहे।
९. आयावए—आतापना लेवे।
१०. अवाउडए—वस्त्र आदि का त्याग करे।
११. अकंडुयाए—शरीर पर खुजली न करे।
१२. अणिरट्ठुहए—थूक भी न थूके।
१३. सव्वगायपरिकम्मे—सर्व शरीर की देखभाल (परिकर्म) से रहित रहे।
१४. विभूसाविप्पमुक्के—विभूषा से रहित रहे।

तत्त्वार्थसूत्र की श्रुतसागरीया वृत्ति[126] मूलाराधना,[127] भगवतीआराधना,[128] बृहत्कल्पभाष्य[129] प्रभृति ग्रन्थों में कायक्लेश के गमन, स्थान, आसन, शयन और अपरिकर्म आदि भेदोपभेदों का वर्णन है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुछ कायक्लेश तप गृहस्थ श्रावकों को नहीं करना चाहिये।[130]

तप का छठा प्रकार प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—आत्मलीनता। पर-भाव में लीन आत्मा को स्व-भाव में लीन बनाने की प्रक्रिया ही वस्तुतः संलीनता है। इन्द्रियों को, कषायों को, मन, वचन, काया के योगों को बाहर से हटाकर भीतर में गुप्त करना संलीनता है। प्रतिसंलीनता तप के चार प्रकार हैं—इन्द्रियप्रतिसंलीनता, कषायप्रतिसंलीनता, योगप्रतिसंलीनता, विविक्तशयनासनसेवना।[131]

तप के ये छह प्रकार बाह्य तप के अन्तर्गत हैं।

---

१२४. स्थानांग, ७। सूत्र ५५४
१२५. औपपातिक, समवसरण अधिकार
१२६. तत्त्वार्थसूत्र, श्रुतसागरीया वृत्ति ९।१९
१२७. मूलाराधना, ३।२२२-२२५
१२८. भगवती आराधना, २२१-२२५
१२९. बृहत्कल्पभाष्य वृत्ति, गाथा ५९५३
१३०. दिणपडिम-वीरचरिया-तियाल जोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धंतरहसाणवि अज्झयणं देशविरदाणं॥ —वसुनन्दि श्रावकाचार, ३१२
१३१. भगवतीसूत्र २५।७

आभ्यन्तर तप के भी छह भेद हैं, उनमें सर्वप्रथम प्रायश्चित्त है। आचार्य भद्रबाहु[132]ने लिखा है—जो पाप का छेदन करता है, वह प्रायश्चित्त है। पाप-विशुद्धि करने की क्रिया प्रायश्चित्त है। तत्त्वार्थराजवार्तिक[133] में लिखा है—अपराध का नाम प्रायः है और चित्त का अर्थ है शोधन। जिस क्रिया से अपराध की शुद्धि हो वह प्रायश्चित्त है। मानव प्रमादवश कभी दोप का सेवन कर लेता है, पर जिसकी आत्मा जागरूक है, धर्म-अधर्म का विवेक रखती है, परलोक सुधार की भावना है, अनुचित आचरण के प्रति जिसके मन में पश्चात्ताप है, दोप के प्रति ग्लानि है, वह गुरुजनों के समक्ष दोष को प्रकट कर प्रायश्चित्त की प्रार्थना करता है। गुरु दोपविशुद्धि के लिये तपश्चरण का आदेश देते हैं। यहाँ यह समझना होगा कि प्रायश्चित्त और दण्ड में अन्तर है। दण्ड दिया जाता है और प्रायश्चित्त लिया जाता है। दण्ड अपराधी के मानस को झकझोरता नहीं। दण्ड केवल बाहर अटक कर ही रह जाता है अन्तर्मानस को स्पर्श नहीं करता। दण्ड पाकर भी कदाचित् अपराधी अधिक उद्दण्ड होता है, जबकि प्रायश्चित्त में अपराधी के मानस में पश्चात्ताप होता है।

भूल करना आत्मा का स्वभाव नहीं अपितु विभाव है। जैसे शरीर में फोड़े, फुन्सी हो जाते हैं, वे फोड़े, फुन्सी शरीर के विकार हैं, वैसे ही अपराध मानव के अन्तर्मन के विकार हैं। जिन विकारों के कारण मानव अपराध करता है, उन्हें शास्त्रीय भाषा में प्रतिसेवन कहा है। भगवती[134]और स्थानांग[135]आदि में प्रतिसेवन के दस प्रकार बताये हैं—दर्प, प्रमाद, अनाभोग, आतुर, आपत्ति, शंकित, सहसाकार, भय, प्रद्वेप और विमर्श। प्रायश्चित्त के दस प्रकार हैं।[136]

आभ्यन्तर तप का दूसरा भेद विनय है। जिसका मानस सरल होता है वही गुरुजनों का विनय करता है। जहाँ अहंकार का प्राधान्य है वहाँ विनय नहीं है। सूत्रकृतांग-टीका में विनय की परिभाषा करते हुए लिखा है—जिसके द्वारा कर्मों का विनयन किया जाता है वह विनय है।[137] उत्तराध्ययन[138] शान्त्याचार्य टीका में लिखा है—जो विशिष्ट एवं विविध प्रकार का नय/नीति है, वह विनय है तथा जो विशिष्टता की ओर ले जाता है, वह विनय है। दशवैकालिक में विनय को धर्म का मूल कहा गया है। जैन आगम साहित्य में विनय शब्द का प्रयोग हजारों बार हुआ है। जब हम आगम साहित्य का परिशीलन करते हैं तो विनय शब्द तीन अर्थों में व्यवहृत मिलता है—

१. विनय—अनुशासन,
२. विनय—आत्मसंयम (शील, सदाचार),
३. विनय—नम्रता एवं सद्व्यवहार।

उत्तराध्ययन में विनय का स्वरूप प्रतिपादित हुआ है। वह मुख्य रूप से अनुशासनात्मक है। गुरुजनों की आज्ञा, इच्छा आदि का ध्यान रखकर आचरण करना अनुशासनविनय है।

---

१३२. पावं छिंदति जम्हा, पायच्छित्तं त्ति भण्णते तेणं। —आवश्यकनिर्युक्ति १५०८
१३३. अपराधो वा प्रायः चित्तं—शुद्धिः। प्रायसः चित्तं—प्रायश्चित्तं—अपराधविशुद्धिः।—राजवार्तिक ९।२२।१
१३४. भगवती २५।७
१३५. स्थानांग १०
१३६. भगवती शतक २५, उद्देशक ७
१३७. सूत्रकृतांग टीका १, पत्र २४२
१३८. उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका, पत्र १९

विनीत व्यक्ति असदाचरण से सदा भयभीत रहता है। उसका मन आत्मसंयम में लीन रहता है। अविनीत व्यक्ति सड़े कानों वाली कुतिया की तरह दर-दर ठोकरें खाता है। लोग उसके व्यवहार से घृणा करते हैं। विनीत गुरुजनों के समक्ष सभ्यतापूर्वक बैठता है। वह कम बोलता है। बिना पूछे नहीं बोलता। इस प्रकार वह आत्मसंयम और सदाचार का पालन करता है। विनय का तीसरा अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। दशवैकालिक[१३९] में लिखा है—गुरुजनों के समक्ष शयन या आसन उनसे कुछ नीचा रखना चाहिये। नमस्कार करते समय उनके चरणों का स्पर्श कर वन्दना करे। उसके किसी भी व्यवहार में अहंकार न झलके। जब गुरुजन उसे बुलायें, उस समय आसन पर न बैठा रहे। उस समय अंजलिबद्ध होकर वन्दन की मुद्रा में पूछे—क्या आज्ञा है ? गुरुजनों की आशातना न करे।

भगवती[१४०] में विनय के सात प्रकार बताये हैं—१. ज्ञानविनय, २. दर्शनविनय, ३. चारित्रविनय, ४. मनोविनय, ५. वचनविनय, ६. कायविनय, ७. लोकोपचारविनय।

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य[१४१] में लिखा है कि विनय कई प्रकार से लोग करते हैं। उन्होंने विनय के पांच उद्देश्य बताये हैं—

१. लोकोपचार—लोकव्यवहार के लिये माता-पिता. अध्यापक आदि का विनय करना।

२. अर्थविनय—अर्थ के लोभ से सेठ आदि की सेवा-विनय करना।

३. कामविनय—कामवासना की पूर्ति के लिये स्त्री आदि की प्रशंसा करना।

४. भयविनय—अपराध होने पर न्यायाधीश, कोतवाल आदि का विनय करना।

५. मोक्षविनय—आत्मकल्याण के लिये गुरु आदि का विनय करना।

विनय के जो चार उद्देश्य हैं, वे जब तक सीमा के अन्तर्गत हैं तब तक उचित हैं। सीमा का उल्लंघन करने पर वह विनय नहीं चापलूसी है। चापलूसी एक दोष है तो विनय एक सद्गुण है। विनय में सद्गुणों की प्राप्ति और गुणीजनों का सम्मान मुख्य होता है, जबकि चापलूसी में दूसरों को ठगने की भावना प्रमुख रूप से रहती है। चीता शिकार पर जब हमला करता है तो पहले झुकता है पर उसका झुकना विनय नहीं है। उसमें कपट की भावना रही हुई है। उसका झुकना उसके कर्मबन्धन का कारण है।

आभ्यन्तर तप का तृतीय प्रकार वैयावृत्य है। वैयावृत्य का अर्थ है—धर्मसाधना में सहयोग करने वाली आहार आदि वस्तुओं से सेवा-शुश्रूषा करना। वैयावृत्य से तीर्थंकरनाम गोत्र कर्म का उपार्जन हो सकता है।※ तीर्थंकर आध्यात्मिक वैभव की दृष्टि से विश्व के अद्वितीय पुरुष हैं। वे अनन्त बली होते हैं। आत्मा की शक्तियों का पूर्ण विकास उनके जीवन में होता है। देवेन्द्र, नरेन्द्र भी उनके चरणों में नत होते हैं। एक जैनाचार्य ने लिखा है कि एक बार गणधर गौतम ने भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की कि एक साधक आपकी सेवा करता है और एक साधक रोगी, वृद्ध आदि श्रमणों की सेवा करता है, उन दोनों में श्रेष्ठ कौन है ? आप किसे धन्यवाद प्रदान करेंगे ?

---

१३९. दशवैकालिक ९।२।१७

१४०. भगवती २५।७

१४१. विशेषावश्यकभाष्य ३१०

※ उत्तराध्ययन २९।३

भगवान् महावीर ने कहा—'जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने' अर्थात् जो रोगी की सेवा करता है, वही वस्तुतः धन्यवाद का पात्र है। गणधर गौतम इस उत्तर को सुनकर आश्चर्यान्वित हो गये। वे सोचने लगे—कहाँ एक ओर अनन्तज्ञानी लोकोत्तम पुरुष भगवान् की सेवा और दूसरी ओर एक सामान्य श्रमण की परिचर्या! दोनों में जमीन-आसमान की तरह अन्तर है। तथापि भगवान् अपनी भक्ति से भी बढ़कर रुग्ण श्रमण की सेवा को महत्त्व दे रहे हैं। अतः गणधर गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रकट की तो भगवान् महावीर ने कहा—मेरे शरीर की सेवा का कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्व है मेरी आज्ञा की आराधना करने का। "आणाराहणं खु जिणाणं"—जिनेश्वरों की आज्ञा का पालन करना ही सबसे बड़ी सेवा है।

स्थानांगसूत्र में भगवान् महावीर प्रभु ने आठ शिक्षाएँ प्रदान की हैं। उनमें से दो शिक्षायें सेवा से सम्बन्धित हैं। जो अनाश्रित हैं, असहाय हैं, जिनका कोई आधार नहीं है, उनको सहायता-सहयोग एवं आश्रय देने को सदा तत्पर रहना चाहिये तथा दूसरी शिक्षा है रोगी की सेवा करने के लिये अग्लान भाव से सदा तत्पर रहना चाहिये।[१४२]

स्थानांग और भगवती में वैयावृत्य के दस प्रकार बताये हैं—१. आचार्य की सेवा, २. उपाध्याय की सेवा, ३. स्थविर की सेवा, ४. तपस्वी की सेवा, ५. रोगी की सेवा, ६. नवदीक्षित मुनि की सेवा, ७. कुल की सेवा (एक आचार्य के शिष्यों का समुदाय—कुल), ८. गण की सेवा, ९. संघ की सेवा, १०. साधर्मिक की सेवा।

सेवा करते समय विवेक की भी आवश्यकता है। सेवा करने वाले को यह ध्यान में रहना चाहिये कि अवसर के अनुसार सेवा की जाए। व्यवहारभाष्य में लिखा है कि आवश्यकता होने पर भोजन देना, पानी देना, सोने के लिये बिस्तर आदि देना, गुरुजनों के वस्त्रादि का प्रतिलेखन कर देना, पाँव पोंछना, रुग्ण हो तो दवा आदि का प्रबन्ध करना, रास्ते में डगमगा रहे हों तो सहारा देना, राजा आदि के क्रुद्ध होने पर आचार्य, संघ आदि की रक्षा करना, चोर आदि से बचाना, यदि किसी ने दोष का सेवन किया है तो उसको स्नेहपूर्वक समझा कर उसकी विशुद्धि करवाना, रुग्ण हो तो उसकी दवा-पथ्यादि का ध्यान रखना, रोगी के प्रति घृणा या ग्लानि न कर अग्लान भाव से सेवा करना।

आभ्यन्तर तप का चतुर्थ प्रकार स्वाध्याय है। 'सुष्ठु-आ मर्यादया अधीयते इति स्वाध्यायः।'[१४३] सत् शास्त्रों का मर्यादापूर्वक और विधिसहित अध्ययन करना स्वाध्याय है। दूसरी व्युत्पत्ति है—स्वस्य स्वस्मिन् अध्यायः—अध्ययनम्—स्वाध्यायः। अपना अपने ही भीतर अध्ययन, आत्मचिन्तन, मनन स्वाध्याय है। जैसे शरीर के विकास के लिये व्यायाम आवश्यक है, वैसे ही बुद्धि के विकास के लिये स्वाध्याय है। स्वाध्याय से नया विचार और नया चिन्तन उद्बुद्ध होता है। गलत आहार स्वास्थ्य के लिये अहितकर है, वैसे ही विकारोत्तेजक पुस्तकों का वाचन भी मन को दूषित करता है। अध्ययन वही उपयोगी है जो सद्विचारों को उद्बुद्ध करे। इसीलिये भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन में स्पष्ट शब्दों में कहा कि स्वाध्याय समस्त दुःखों से मुक्ति दिलाता है।[१४४] अनेक भवों के संचित कर्म स्वाध्याय से क्षीण हो जाते हैं।[१४५] स्वाध्याय अपने-आप में महान् तप है। तैत्तिरीय आरण्यक में

---

१४२. असंगिहीय परिजणस्स संगिण्हणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ,
गिलाणस्स अगिलाए वेयावच्चकरणयाए अब्भुट्ठेयव्वं भवइ। —स्थानांगसूत्र ८

१४३. स्थानांग टीका ५।३।४६५

१४४. उत्तराध्ययन २९।१०

१४५. चन्द्रप्रज्ञप्ति ९१

वैदिक ऋषि ने कहा—तपो हि स्वाध्यायः[१४६]—स्वाध्याय स्वयं एक तप है। उसकी साधना-आराधना में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसलिये तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कहा है—स्वाध्यायान् मा प्रमद।[१४७] स्वाध्याय से बुद्धि निर्मल होती है। फर्श की ज्यों-ज्यों घुटाई होती है, त्यों-त्यों वह चिकना होता है। उसमें प्रतिबिम्ब छलकने लगता है, वैसे ही स्वाध्याय से मन निर्मल और पारदर्शी बन जाता है। आगमों के गम्भीर रहस्य उसमें प्रतिविम्बित होने लगते हैं। आचार्य पतञ्जलि ने योगदर्शन में लिखा है कि स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होने लगता है।[१४८] एक चिन्तक ने लिखा है कि स्वाध्याय से चार बातों की उपलब्धि होती है, स्वाध्याय से जीवन में सद्विचार आते हैं, मन में सत्संस्कार जागृत होते हैं। स्वाध्याय से अतीत के महापुरुषों की दीर्घकालीन साधना के अनुभवों की थाती प्राप्त होती है। स्वाध्याय से मनोरंजन के साथ आनन्द भी प्राप्त होता है। स्वाध्याय से मन एकाग्र और स्थिर होता है। जैसे अग्निस्नान करने से स्वर्ण मैलमुक्त हो जाता है वैसे ही स्वाध्याय से मन का मैल नष्ट होता है। अतः नियमित स्वाध्याय करना चाहिये।

भगवतीसूत्र,[१४९] स्थानांग,[१५०] औपपातिक[१५१] प्रभृति आगम साहित्य में स्वाध्याय के पांच प्रकार बताये हैं। वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा तथा इनके भी अवान्तर भेद किये गये हैं। स्वाध्याय से ज्ञान का दिव्य आलोक जगमगाने लगता है।

अन्तरंग तप का पांचवां प्रकार ध्यान है। मन की एकाग्र अवस्था ध्यान है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि कोष में लिखा है—अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।[१५२] आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यकनिर्युक्ति में लिखा है—चित्त को किसी भी विषय में एकाग्र करना, स्थिर करना, ध्यान है।[१५३]

जिज्ञासा हो सकती है कि मन का किसी भी विषय में स्थिर होना ही यदि ध्यान है तो लोभी व्यक्ति का ध्यान सदा धन कमाने में लगा रहता है, चोर का ध्यान वस्तु को चुराने में लगा रहता है, कामी का ध्यान वासना की पूर्ति में लगा रहता है, क्या वह भी ध्यान है? समाधान है कि पापात्मक चिन्तन की एकाग्रता भी ध्यान है। भारत के तत्त्वदर्शी मनीषियों ने ध्यान को दो भागों में विभक्त किया है—एक शुभ ध्यान है और दूसरा अशुभ ध्यान है। शुभ ध्यान मोक्ष का कारण है तो अशुभ ध्यान नरक और तिर्यञ्च का कारण है। अशुभ ध्यान अधोमुखी होता है तो शुभ ध्यान ऊर्ध्वमुखी होता है। अशुभ ध्यान अप्रशस्त है, शुभ ध्यान प्रशस्त है। इसीलिये स्थानांग आदि में ध्यान के चार प्रकार बताये हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान। इन चार प्रकारों में दो प्रकार अशुभ ध्यान के हैं। वे दोनों प्रकार तप की कोटि में नहीं आते। अतः आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ध्यान की परिभाषा इस प्रकार की है—शुभ और पवित्र आलम्बन पर एकाग्र होना ध्यान है।[१५४]

---

१४६. तैत्तिरीय आरण्यक २।१४

१४७. तैत्तिरीय उपनिषद् १।११।१

१४८. स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः। —योगदर्शन २।४४

१४९. भगवती. २५।७

१५०. स्थानांग. ५

१५१. औपपातिक. समवसरण, तप अधिकार।

१५२. ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्ययसंततिः। —अभिधान राजेन्द्र कोष १।४८

१५३. चित्तस्सेगग्गया हवई झाणं। —आवश्यकनिर्युक्ति १४५६

१५४. शुभैकप्रत्ययो ध्यानम्। —द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १८।११

मन की अन्तर्मुखता, अन्तर्लीनता शुभ ध्यान है। मन स्वभावतः चंचल है। वह लम्बे समय तक एक वस्तु पर स्थिर नहीं रह सकता। आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि छद्मस्थ का मन अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त्त तक यानी ४८ मिनिट तक एक आलम्बन पर स्थिर रह सकता है, उससे अधिक नहीं। पवित्र विचारों में मन को स्थिर करना धर्मध्यान है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो आत्मा का आत्मा के द्वारा आत्मा के विषय में सोचना, चिन्तन करना धर्मध्यान है।

भगवती, स्थानांग आदि में धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय, ये चार प्रकार कहे हैं। धर्मध्यान के आज्ञारुचि, निसर्गरुचि, सूत्ररुचि और अवगाढ़रुचि—ये चार लक्षण हैं। इसी प्रकार धर्मध्यान को सुस्थिर रखने के लिये धर्मध्यान के चार आलम्बन भी बताये गये हैं—१. वाचना, २. पृच्छना, ३. परिवर्तना और ४. धर्मकथा। धर्मध्यान के समय जो चिन्तन तल्लीनता प्रदान करता है, उस चिन्तन को हम अनुप्रेक्षा कहते हैं। अनुप्रेक्षा के भी चार प्रकार हैं—१. एकत्वानुप्रेक्षा, २. अनित्यानुप्रेक्षा, ३. अशरणानुप्रेक्षा एवं ४. संसारानुप्रेक्षा। इन चारों भावनाओं से मन में वैराग्य भावना तरंगित होती है। भौतिक पदार्थों के प्रति आकर्षण न्यून हो जाता है। धर्म-ध्यान से जीवन में आनन्द का सागर ठाठें मारने लगता है।

धर्मध्यान में मुख्य तीन अंग हैं—ध्यान, ध्याता और ध्येय। ध्यान का अधिकारी ध्याता कहलाता है। एकाग्रता ध्यान है। जिसका ध्यान किया जाता है, वह ध्येय है। चंचल मन वाला व्यक्ति ध्यान नहीं कर सकता। जहाँ आसन की स्थिरता ध्यान में अपेक्षित है, वहाँ मन की स्थिरता भी बहुत अपेक्षित है। इसीलिये ज्ञानार्णव में लिखा है, जिसका चित्त स्थिर हो गया है, वही वस्तुतः ध्यान का अधिकारी है। ध्येय के सम्बन्ध में तीन बातें हैं—एक परावलम्बन, जिसमें दूसरी वस्तुओं का अवलम्बन लेकर मन को स्थिर करने का प्रयास किया जाता है। श्रमण भगवान् महावीर अपने साधनाकाल में एक पुद्‌गल पर दृष्टि केन्द्रित करके ध्यानमुद्रा में खड़े रहे थे।[१५५] जब एक पुद्‌गल पर दृष्टि केन्द्रित होती है तो मन स्थिर हो जाता है। इसे त्राटक भी कह सकते हैं।

ध्यान का दूसरा प्रकार स्वरूपावलम्बन है, इसमें बाहर से दृष्टि हटाकर नेत्रों को बन्द कर विविध प्रकार की कल्पनाओं से यह ध्यान किया जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत जो ध्यान के प्रकार और उनकी धारणाओं के सम्बन्ध में विस्तार से निरूपण किया है, वह सब स्वरूपावलम्बन ध्यान के अन्तर्गत ही है। हमने 'जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप' ग्रन्थ में विस्तार से इस सम्बन्ध में लिखा है। जिज्ञासु पाठक उसका अवलोकन करें।

तीसरा प्रकार है—निरावलम्बन। इसमें किसी भी प्रकार का कोई आलम्बन नहीं होता। मन विचार, विकार और विकल्पों से शून्य होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने जो रूपातीत ध्यान प्रतिपादित किया है—वह यही है। इसमें निरंजन, निराकार सिद्ध स्वरूप का ध्यान किया जाता है और आत्मा स्वयं कर्म-मल से मुक्त होने का अभ्यास करता है।[१५६] इस ध्यान में साधक यह समझता है कि मैं अलग हूँ और इन्द्रियाँ व मन अलग हैं। साधक स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ता है। रूप से अरूप की ओर बढ़ने के लिये अत्यधिक अभ्यास की आवश्यकता है। रूपातीत ध्यान जब सिद्ध हो जाता है, तब भेदरेखा स्वतः ही समाप्त हो जाती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान—तीनों एकाकार

---

१५५. एगपोग्गलनिविट्ठदिट्ठिए। —भगवतीसूत्र ३/२

१५६. निरंजनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद् रूपवर्जितम्। —योगशास्त्र १०/१

हो जाते हैं। जैसे सागर में नदियां मिलकर एकाकार हो जाती हैं। तत्त्वार्थसूत्र एवं उसकी विभिन्न टीकाओं में ध्यान का सारगर्भित प्रतिपादन किया गया है।[१५७]

ध्यान का चतुर्थ प्रकार शुक्लध्यान है। यह ध्यान की परम विशुद्ध अवस्था है। जब साधक के अन्तर्मानस से कषाय की मलीनता मिट जाती है, तब निर्मल मन से जो ध्यान किया जाता है, वह शुक्लध्यान है। शुक्लध्यानी का अन्तर्मानस वैराग्य से सराबोर होता है। उसके तन पर यदि कोई प्रहार करता है, उसका छेदन या भेदन करता है तो भी उसको संक्लेश नहीं होता। देह में रहकर भी वह देहातीत स्थिति में रहता है। शुक्लध्यान के शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद हैं। चतुर्दश पूर्वधर तक का ध्यान शुक्लध्यान है और केवलज्ञानी का ध्यान परमशुक्लध्यान है।[१५८]

स्वरूप की दृष्टि से शुक्लध्यान के चार प्रकार भगवती,[१५९] स्थानांग,[१६०] समवायांग[१६१] आदि में बताये हैं—

१. पृथक्त्ववितर्कसविचार—पृथक्त्व का अर्थ है—भेद और वितर्क का तात्पर्य है—श्रुत। प्रस्तुत ध्यान में श्रुतज्ञान के आधार पर पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया जाता है। द्रव्य, गुण, पर्याय पर चिन्तन करते हुए द्रव्य से पर्याय पर और पर्याय से द्रव्य पर चिन्तन किया जाता है। इस ध्यान में भेदप्रधान चिन्तन होता है।

२. एकत्ववितर्कअविचार—जब भेदप्रधान चिन्तन में साधक का अन्तर्मानस स्थिर हो जाता है तब वह अभेदप्रधान चिन्तन की ओर कदम बढाता है। वह किसी एक पर्यायरूप अर्थ पर चिन्तन करता है तो उसी पर्याय पर उसका चिन्तन स्थिर रहेगा। जिस स्थान पर तेज हवा का अभाव होता है, वहाँ पर दीपक की लौ इधर-उधर डोलती नहीं है। उस दीपक को मंद हवा मिलती रहती है, वैसे ही प्रस्तुत ध्यान में साधक सर्वथा निर्विचार नहीं होता किन्तु एक ही वस्तु पर उसके विचार केन्द्रित होते हैं।

३. सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति—यह ध्यान बहुत ही सूक्ष्म क्रिया पर चलता है। इस ध्यान में अवस्थित होने पर योगी पुनः ध्यान से विचलित नहीं होता, इस कारण इस ध्यान को सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति कहा है। यह ध्यान केवल वीतरागी आत्मा को ही होता है। जब केवलज्ञानी का आयुष्य केवल अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहता है, उस समय योगनिरोध का क्रम प्रारम्भ होता है। मनोयोग और वचनयोग का पूर्ण निरोध हो जाने पर जब केवल सूक्ष्म काययोग से श्वासोच्छ्वास ही अवशेष रह जाता है, उस समय का ध्यान ही सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति ध्यान है। इसके पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में ही आत्मा अयोगी बन जाता है।

४. समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति—जब आत्मा सम्पूर्ण रूप से योगों का निरुन्धन कर लेता है तो समस्त यौगिक चंचलता समाप्त हो जाती है। आत्मप्रदेश सम्पूर्ण रूप से निष्कम्प बन जाते हैं। सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान में श्वासोच्छ्वास की क्रिया जो शेष रहती है, वह भी इस भूमिका पर पहुँचने पर समाप्त हो जाती है। यह परम निष्कम्प और सम्पूर्ण क्रिया-योग से मुक्त ध्यान की अवस्था है। यह अवस्था प्राप्त होने पर पुनः आत्मा पीछे

---

१५७. धर्ममप्रमत्तसंयतस्य—तत्त्वार्थसूत्र ९/३७-३८

१५८. तत्त्वार्थसूत्र ९/३९-४०

१५९. भगवती २५/७

१६०. स्थानांग ४/१०

१६१. समवायांग ४

नहीं हटता इसीलिए इसका नाम समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान दिया है। इस ध्यान के दिव्य प्रभाव से वेदनीयकर्म, नामकर्म, गोत्रकर्म और आयुष्यकर्म नष्ट हो जाते हैं और अरिहन्त, सिद्ध बन जाते हैं। शुक्लध्यान के प्रारम्भ के दो प्रकार सातवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक होते हैं। तीसरा प्रकार तेरहवें गुणस्थान में होता है और चौथा प्रकार चौदहवें गुणस्थान में। प्रथम के दो ध्यानों में श्रुत का आलम्वन होता है। अन्तिम दो प्रकारों में आलम्बन नहीं होता। ये दोनों ध्यान निरवलम्ब हैं।

शुक्लध्यानी आत्मा के चार चिह्न बताये गये हैं, जिससे शुक्लध्यानी की पहचान होती है। वे हैं—

१. अव्यथ—भयंकर से भयंकर उपसर्गों में भी विचलित-व्यथित नहीं होता।

२. असम्मोह—सूक्ष्म तात्त्विक विषयों में अथवा देवाधिकृत माया से सम्मोहित नहीं होता। उसकी श्रद्धा पूर्ण रूप से अडोल होती है।

३. विवेक—आत्मा और देह, ये दोनों पृथक् हैं—इसका सही परिज्ञान उसको होता है। वह पूर्ण रूप से जागरूक होता है।

४. व्युत्सर्ग—वह सम्पूर्ण आसक्तियों से मुक्त होता है। वह प्रतिपल प्रतिक्षण वीतराग भाव की ओर गतिशील होता है।

भगवती[१६२] और स्थानांग[१६३] में शुक्लध्यान के क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति ये चार आलम्बन बतलाए हैं। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं भी आगम साहित्य में प्रतिपादित हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा—अनन्त भव-परम्परा के सम्बन्ध में चिन्तन करना।

२. विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तु प्रतिपल-प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, शुभ पुद्गल अशुभ में बदल जाते हैं, इत्यादि चिन्तन।

३. अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ स्वरूप पर चिन्तन करने से उन पदार्थों के प्रति आसक्ति समाप्त होती है और मन में निर्वेद भाव पैदा होता है।

४. अपायानुप्रेक्षा—पाप के आचरण से अशुभ कर्मों का बन्धन होता है, जिससे आत्मा को विविध गतियों में परिभ्रमण करना पड़ता है, अतः उनके कटु परिणाम पर चिन्तन करना।

ये चारों अनुप्रेक्षाएं शुक्लध्यान की प्रारम्भिक अवस्थाओं में होती हैं, जब धीरे-धीरे स्थिरता आ जाती है तो स्वतः ही बाह्योन्मुखता समाप्त हो जाती है।

आभ्यन्तर तप का छठा प्रकार व्युत्सर्ग है। इस तप की साधना से जीवन में निर्ममत्व, निस्पृहता, अनासक्ति और निर्भयता की भव्य भावना लहराने लगती है। व्युत्सर्ग में 'वि' उपसर्ग है। 'वि' का अर्थ है—विशिष्ट और उत्सर्ग का अर्थ है त्याग। आशा और ममत्व आदि का परित्याग ही व्युत्सर्ग है। दिगम्बर आचार्य अकलंक ने तत्त्वार्थराजवार्तिक[१६४] में व्युत्सर्ग की परिभाषा करते हुए लिखा है—निस्संगता, अनासक्ति, निर्भयता और जीवन की लालसा का त्याग उत्सर्ग है। आत्मसाधना के लिये अपने-आप का उत्सर्ग करना व्युत्सर्ग है। आचार्य भद्रबाहु[१६५] ने व्युत्सर्ग करने वाले साधक के अन्तर्मानस का चित्रण करते हुए लिखा है—यह शरीर अन्य है

---

१६२. भगवती सूत्र २५/७

१६३. स्थानांगसूत्र ३/१

१६४. निःसंग—निर्भयत्व-जीविताशा-व्युदासाद्यर्थो व्युत्सर्गः। —तत्त्वार्थराजवार्तिक ९/२६/१०

१६५. आवश्यकनिर्युक्ति, १५५२

और मेरा आत्मा अन्य है। शरीर नाशवान् है, आत्मा शाश्वत है। व्युत्सर्ग करने वाला साधक स्व के यानी आत्मा के निकट से निकटतर होता चला जाता है और पर की ममता से मुक्त होता है।

उत्तराध्ययन[166] में व्युत्सर्ग के अर्थ में ही कायोत्सर्ग का प्रयोग हुआ है। कायोत्सर्ग व्युत्सर्ग है, पर भगवती[167] में व्युत्सर्ग तप के दो भेद बताये हैं—१ द्रव्य व्युत्सर्ग और २. भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार प्रकार हैं—१. गण व्युत्सर्ग २. शरीर व्युत्सर्ग ३. उपधि व्युत्सर्ग ४. भक्तपाण व्युत्सर्ग। इसी प्रकार भाव व्युत्सर्ग के तीन भेद हैं—१. कषाय व्युत्सर्ग २. संसार व्युत्सर्ग और ३. कर्म व्युत्सर्ग। साधक पहले द्रव्य व्युत्सर्ग करता है। द्रव्य व्युत्सर्ग से वह आहार, वस्त्र, पात्र और शरीर पर के ममत्व को कम करता है। व्युत्सर्ग में सबसे प्रमुख कायोत्सर्ग है। काया को धारण करते हुए भी काया की अनुभूति व ममता से मुक्त हो जाना एक बड़ी साधना है। एतदर्थ ही 'वोसट्ठकाए, वोसट्ठचत्तदेहे' जैसे विशेषण साधक के लिये प्रयुक्त हुए हैं। जिसने कायोत्सर्ग सिद्ध कर लिया, वह अन्य व्युत्सर्ग भी सहज रूप से कर लेता है।

यह स्मरण रखना होगा कि जैन तप:साधना का जो पवित्र पथ है, उसमें हठयोग नहीं है। उस तप में किसी भी प्रकार का तन और मन के साथ बलात्कार नहीं होता अपितु धीरे-धीरे तन और मन को प्रबुद्ध किया जाता है और प्रसन्नता के साथ तप की आराधना की जाती है। जैनदृष्टि से तप का संलक्ष्य आत्मतत्त्व की उपलब्धि है। तप से साधक का अन्तिम लक्ष्य जो मोक्ष है, उसकी उपलब्धि होती है।

तप के सम्बन्ध में वैदिक परम्परा में भी चिन्तन किया है। वैदिक ऋषियों ने लिखा है कि तप से ही वेद उत्पन्न हुआ है।[168] तप से ही ऋत् और सत्य उत्पन्न हुए हैं।[169] तप से ही ब्रह्म की अन्वेषणा की जा सकती है।[170] तप से ही मृत्यु पर विजय-वैजयन्ती फहराई जा सकती है।[171] तप से ही लोक पर विजय प्राप्त की जा सकती है।[172] आचार्य मनु ने लिखा है—जो कुछ भी दुर्लभ और दुस्तर इस संसार में है वह सब तपस्या से ही प्राप्य है। तप की शक्ति को कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।[173] इस तरह वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में तप की महिमा और गरिमा का उट्टंकण हुआ है।

बौद्धपरम्परा में भी तप का वर्णन है। सुत्तनिपात के महामंगलसुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा—तप, ब्रह्मचर्य, आर्य सत्यों का दर्शन और निर्वाण का साक्षात्कार, ये उत्तम मंगल हैं।[174] सुत्तनिपात के काशीभारद्वाज सुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा—मैं श्रद्धा का बीज वपन करता हूँ, उस पर तपश्चर्या की वर्षा होती है, शरीर और

---

१६६. उत्तराध्ययन, ३०/३६

१६७. भगवतीसूत्र, २५/७

१६८. मनुस्मृति ११, २४३

१६९. ऋग्वेद १०, १९०, १.

१७०. मुण्डक १, १, ८

१७१. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत—वेद

१७२. शतपथब्राह्मण ३, ४, ४, २७

१७३. यद् दुस्तरं यद् दुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपो हि दुरतिक्रमम्॥ —मनुस्मृति ११, २३७

१७४. महामंगलसुत्त, सुत्तनिपात १६/१०

वाणी से संयम रखता हूँ और आहार से नियमित रहकर सत्य से मन के दोषों की गोडाई करता हूँ।[१७५] अंगुत्तर-निकाय दिट्ठवज्जसुत्त में तथागत ने कहा कि किसी तप या व्रत को करने से किसी के कुशल धर्म की अभिवृद्धि होती है और अकुशल धर्म नष्ट होते हैं तो उसे वह तप आदि अवश्य करना चाहिये।[१७६] तथागत बुद्ध ने स्वयं कठिनतम तप तपा था।[१७७] उनका तपोमय जीवन इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है कि बौद्धसाधना में तप का विशिष्ट स्थान रहा है। बुद्ध मध्यममार्गी थे। इस कारण उनके द्वारा प्रतिपादित तप भी मध्यममार्गी ही रहा। उसमें उतनी कठोरता नहीं आ पाई। विस्तार भय से हम अन्य आजीवक प्रभृति परम्परा में जो तप का स्वरूप रहा और विभिन्न परम्पराओं ने तप का विविध दृष्टियों से जो वर्गीकरण किया, उस पर यहाँ चिन्तन नहीं कर रहे हैं। हम संक्षेप में यही बताना चाहते हैं कि जैनपरम्परा ने जो तप का विश्लेषण किया है उस तप का उद्देश्य एकान्त आध्यात्मिक उत्कर्ष करना है। आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिये उसने ज्ञानसमन्वित तप को महत्त्व दिया है। जिस तप के पीछे समत्व की साधना नहीं है, भेद-विज्ञान का दिव्य आलोक जगमगा नहीं रहा है वह तप नहीं ताप है/संताप है/परिताप है। श्रमण भगवान् महावीर ने कहा—एक अज्ञानी साधक एक-एक महीने की तपस्या करता है और उस तप की परिसमाप्ति पर कुशाग्र जितना अन्न ग्रहण करता है। वह साधक ज्ञानी की सोलहवीं कला के बराबर भी धर्म का आचरण नहीं करता।[१७८] तप का प्रयोजन आत्म-परिशोधन है, न कि देह-दण्डन। जब हमें घी को तपाना होता है तो उसे पात्र में डालकर ही तपाया जा सकता है, इसीलिये घृत के साथ-साथ पात्र भी तप जाता है, जबकि हमारा हेतु तो घृत तपाना ही होता है। उसी प्रकार जब कोई तपस्वी साधक तपश्चर्या में तल्लीन होता है तो उसकी तपस्या का हेतु होता है—आत्मा को शोधना, किन्तु आत्मा को तपाने/शोधने की इस प्रक्रिया में शरीर स्वतः ही तप जाता है। चेष्टा आत्मशोधन की है किन्तु शरीर आत्मा का भाजन/पात्र होने से तपता है। जिस तप में मानसिक संक्लेश हो, पीड़ा हो वह तप नहीं है। तप में आत्मा को आकुलता नहीं होती, क्योंकि तप तो आत्मा का आनन्द है। तप जागृत आत्मा की अनुभूति है। इससे मन की मलीनता नष्ट होती है, वासनाएं शिथिल होती हैं; चेतना में नये आनन्द का आयाम खुल जाता है और नित्य नूतन अनुभूति होने लगती है। यह है तप का जीवन्त, जागृत और शाश्वत स्वरूप। तप एक ऐसी उष्मा है, जो विकार को नष्ट कर आत्मा को वीतराग बनाती है।

परिषह : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ८ में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने परिषह के २२ प्रकार बताये हैं। परीषह का अर्थ है—कष्टों को समभावपूर्वक सहन करना। परीषह में जो कष्ट सहन किये जाते हैं वे स्वेच्छा से नहीं अपितु श्रमणजीवन की आचार संहिता का पालन करते हुए आकस्मिक रूप से यदि

---

१७५. कासिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात ४/२

१७६. दिट्ठवज्जसुत्त—अंगुत्तरनिकाय

१७७. भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कोसाम्बी) पृ० ६८-७०

१७८. मासे मासे तु जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए।
न सो सुयक्खायधम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥ —उत्तराध्ययन, ९/४४
तुलनेय—
मासे मासे कुसग्गेन बालो भुंजेथ भोजनं।
न सो संखतधम्मानं कलं अग्घति सोलसिं॥

—धम्मपद, ७०

किसी प्रकार का कोई संकट समुपस्थित हो जाता है तो उसे सहन किया जाता है। किन्तु तपस्या में जो कष्ट सहन किया जाता है, वह स्वेच्छा से किया जाता है। कष्ट श्रमणजीवन को निखारने के लिये आता है। श्रमण को कष्टसहिष्णु होना चाहिए, जिससे वह साधना-पथ से विचलित न हो सके। भगवती में जिस प्रकार परीषह के बाईस प्रकार बताये हैं वैसे ही उत्तराध्ययन[१७९] और समवायाङ्ग[१८०] सूत्र में भी बाईस परीषह-प्रकारों को बताया है। संख्या की दृष्टि से समानता होने पर भी क्रम की दृष्टि से कुछ अन्तर है।

अंगुत्तरनिकाय[१८१] में तथागत बुद्ध ने कहा है—भिक्षु को दुःखपूर्ण, तीव्र, प्रखर, कटु, प्रतिकूल, बुरी, शारीरिक वेदनाएं हों, उन्हें सहन करने का प्रयास करना चाहिए। भिक्षुओं को समभावपूर्वक कष्ट सहन करने का सन्देश देते हुए सुत्तनिपात[१८२] में भी बुद्ध ने कहा है—धीर, स्मृतिमान् संयत आचरण वाला भिक्षु डसने वाली मक्खियों से, सर्पों से, पापियों द्वारा दी जाने वाली पीड़ा से और पशुओं से भयभीत न हो, सभी कष्टों का सामना करे। बीमारी के कष्ट को, क्षुधा की वेदना को, शीत और उष्ण को सहन करे। सुत्तनिपात[१८३] में कष्टसहिष्णुता के लिए परिषह शब्द का प्रयोग हुआ है, पर जैनपरम्परा में और बौद्धपरम्परा में परीषह के सम्बन्ध में कुछ पृथक्-पृथक् चिन्तन है। जैनदृष्टि से परीषह को सहन करना मुक्ति-मार्ग के लिये साधक है, जबकि बौद्धपरम्परा में परीषह निर्वाणमार्ग के लिये बाधक है और उस बाधक तत्त्व को दूर करने का सन्देश दिया है।[१८४] तथागत बुद्ध परीषह को सहन करने की अपेक्षा परीषह को दूर करना श्रेयस्कर समझते थे। दोनों परम्पराओं में परीषह का मूल मन्तव्य एक होने पर भी दृष्टिकोण में अन्तर है।

जैन और बौद्ध परम्परा में जिस प्रकार परीषह का निरूपण हुआ है और मुनियों के लिये कष्ट-सहिष्णु होना आवश्यक माना है वैसे ही वैदिक परम्परा में भी संन्यासियों में लिये कष्टसहिष्णु होना आवश्यक माना गया है। वहाँ पर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि संन्यासियों को कष्टों को निमंत्रित करना चाहिए। आचार्य मनु ने लिखा है—वानप्रस्थी को पंचाग्नि के मध्य खड़े होकर, वर्षा में खुले में खड़े रहकर और शीत ऋतु में गीले वस्त्र धारण करने चाहिये।[१८५] उसे खुले आकाश के नीचे सोना चाहिये और शरीर में रोग पैदा होने पर भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। इस तरह कष्ट को स्वेच्छापूर्वक निमंत्रण देने की प्रेरणा दी है।

किन कर्मप्रकृतियों के कारण कौन से परीषह होते हैं, उस पर भी प्रकाश डालते हुए बताया है—ज्ञानावरणीय, वेदनीय, मोहनीय और अन्तराय के कारण परीषह उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार साधनाखण्ड में विविध प्रकार की जिज्ञासाएं हैं और सटीक समाधान भी हैं। अत्यधिक विस्तार न हो जाये इस दृष्टि से हमने संक्षेप में ही कुछ सूचन किया है। भगवती शतक २५, उद्देशक ४ में संक्षिप्त में द्वादशांगी का भी परिचय दिया है। उसका अधिक विस्तार समवायांग और नन्दीसूत्र में मिलता है।

---

१७९. उत्तराध्ययन, अध्ययन २
१८०. समवायांग, २२।१
१८१. अंगुत्तरनिकाय, ३।४९
१८२. सुत्तनिपात ५४।१०-१२
१८३. सुत्तनिपात ५४।६
१८४. सुत्तनिपात ५४।६; १५
१८५. मनुस्मृति ६।२३; ३४
देखिये—जैन, बौद्ध तथा गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, खण्ड-२, पृ. ३६२-३६३

भगवतीसूत्र में जहाँ साधना के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन हुआ है, उसके विविध भेद-प्रभेद निरूपित हैं; वहाँ पर धर्मकथाओं का भी उपयोग हुआ है। विविध व्यक्तियों के पवित्र चरित्र की विभिन्न गाथाएँ उट्टंकित हैं। भगवान् महावीर के युग में श्रावस्ती नगरी के सन्निकट कृतंगला नामक एक नगर था, जिसे कयंगला भी कहा गया है। बौद्धसाहित्य के आधार से कितने ही विज्ञ संथाल जिले में अवस्थित कंकजोल को ही कतंगला (कयंगला) मानते हैं। मुनिश्री इन्द्रविजयजी का मन्तव्य है कि कयंगला मध्य देश की पूर्वी सीमा पर थी जिसका उल्लेख रायपालचरित में हुआ है। यह स्थान राजमहल जिले में है। यह कयंगला श्रावस्ती की कयंगला से पृथक् है।[१८६]

भगवान् महावीर के युग में परिव्राजकों की संख्या विपुल मात्रा में थी। परिव्राजक ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित संन्यासी होते थे। विशिष्टधर्मसूत्र में वर्णन है कि परिव्राजक को अपना सिर मुण्डित रखना चाहिये। एक वस्त्र या चर्मखण्ड धारण करना चाहिये। गायों द्वारा उखाड़ी गई घास से अपने शरीर को आच्छादित करना चाहिये और उन्हें जमीन पर ही सोना चाहिये।[१८७] परिव्राजक आवसथ (अवसह) में रहते थे तथा दर्शनशास्त्र पर और वैदिक आचारसंहिता पर शास्त्रार्थ करने हेतु भारत के विविध अञ्चलों में पहुँचते थे। निशीथचूर्णि में लिखा है—परिव्राजक लोग गेरुआ वस्त्र धारण करते थे, इसलिये वे गेरु और गैरिक भी कहलाते थे।[१८८] परिव्राजक भिक्षा से आजीविका करते थे।[१८९] औपपातिक सूत्र,[१९०] सूत्रकृतांगनिर्युक्ति,[१९१] पिण्डनिर्युक्ति,[१९२] बृहत्कल्पभाष्य,[१९३] निशीथसूत्र सभाष्य,[१९४] आवश्यकचूर्णि,[१९५] धम्मपदअट्ठकथा,[१९६] दीघनिकाय-अट्ठकथा,[१९७] ललितविस्तर[१९८] आदि में परिव्राजक, तापस, संन्यासी आदि अनेक प्रकार के साधकों का विस्तृत वर्णन है। आर्य स्कन्दक का वर्णन भगवती के शतक २ उद्देशक १ में विस्तार से आया है। वह एक महामनीषी परिव्राजक था। उससे पिंगल नामक निर्ग्रन्थ वैशाली श्रावक ने लोक सान्त है या अनन्त है, जीव सान्त है या अनन्त, सिद्धि सान्त है या अनन्त है, किस प्रकार का मरण पाकर जीव संसार को घटाता है और बढ़ाता है—इन प्रश्नों का उत्तर चाहा। प्रश्न सुनकर आर्य स्कन्दक सकपका गये। वे भगवान् महावीर के चरणों में पहुंचे। सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने स्कन्दक को सम्बोधित कर कहा—उपर्युक्त प्रश्न पिंगल निर्ग्रन्थ ने तुमसे पूछे और उनका सही समाधान पाने के लिये तुम मेरे पास उपस्थित हुए हो। उनका समाधान इस प्रकार है—

---

१८६. तीर्थंकर महावीर, भाग १, पृ. १९८

१८७. (क) डिक्शनरी ऑव पाली प्रोपर नेम्स, मलालसेकर, II पृ. १५९

(ख) महाभारत १२।१९०।३

१८८. निशीथचूर्णि १३, ४४२०

१८९. निरुक्त १।१४ वैदिककोष

१९०. औपपातिकसूत्र, ३८ पृ. १७२ से १७६

१९१. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति ३, ४, २; ३, ४ पृ, ९४ से ९५

१९२. पिण्डनिर्युक्ति गाथा ३१४

१९३. बृहत्कल्पभाष्य भाग ४, पृ. ११७०

१९४. निशीथसूत्र सभाष्य चूर्णि, भाग २

१९५. आवश्यकचूर्णि पृ. २७८

१९६. धम्मपद अट्ठकथा २, पृ. २०९

१९७. दीघनिकायअट्ठकथा १, पृ. २७०

१९८. ललितविस्तर पृ. २४८

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से लोक चार प्रकार का है। द्रव्य की अपेक्षा वह एक और सान्त है। क्षेत्र की अपेक्षा असंख्य कोटाकोटि योजन आयाम-विष्कम्भ वाला है। इसकी परिधि असंख्य कोटा-कोटि योजन है, इसका अन्त है। काल की अपेक्षा यह किसी दिन नहीं था ऐसा नहीं है, किसी दिन नहीं रहेगा ऐसा भी नहीं है। वह तीनों कालों में रहेगा और इसका अन्त नहीं है। भाव की अपेक्षा यह अनन्त वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श पर्यव रूप है। अनन्त संस्थान पर्यव, अनन्त गुरुलघु पर्यव और अनन्त अगुरुलघु पर्यव रूप है। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा लोक सान्त है, काल और भाव की अपेक्षा वह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त है और अनन्त भी।

जीव के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से चिन्तन किया जाय तो द्रव्य की दृष्टि से जीव एक और सान्त है. क्षेत्र की दृष्टि से वह असंख्यात प्रदेशी और सान्त है। काल की दृष्टि से वह अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा अतः नित्य है, उसका कभी अन्त नहीं। भाव की दृष्टि से वह अनन्त ज्ञान पर्यव रूप है, अनन्त दर्शन पर्यव रूप है यावत् अनन्त अगुरुलघु पर्यव रूप है। इसका अन्त नहीं है। इस प्रकार द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से जीव अन्तयुक्त है। काल और भाव की दृष्टि से अन्तरहित है।

मोक्ष के सम्बन्ध में भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से जानना होगा। द्रव्य की दृष्टि से मोक्ष एक है और सान्त है। क्षेत्र की दृष्टि से पैंतालीस लाख योजन आयाम-विष्कम्भ वाला है और इसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनपचास योजन से कुछ अधिक है। इसका अन्त है। काल की दृष्टि से यह नहीं कहा जा सकता कि किसी दिन मोक्ष नहीं था, नहीं है, नहीं रहेगा। भाव की अपेक्षा से यह अन्त-रहित है। द्रव्य और क्षेत्र की अपेक्षा से मोक्ष अन्तयुक्त है तथा काल और भाव की अपेक्षा से अन्तरहित है। इसी तरह सिद्ध अन्तयुक्त है या अन्तरहित है? इसके उत्तर हैं—द्रव्य की दृष्टि से सिद्ध एक है और अन्तयुक्त है। क्षेत्र की दृष्टि से सिद्ध असंख्य प्रदेश-अवगाढ होने पर भी अन्तयुक्त हैं। काल की दृष्टि से सिद्ध की आदि तो है पर अन्त नहीं है। भाव की दृष्टि से सिद्ध ज्ञानदर्शन पर्यव रूप है और उसका अन्त नहीं है। इसी तरह भगवान् महावीर ने मरण के भी दो प्रकार बताये—१. बालमरण और २. पण्डितमरण। बालमरण के बारह प्रकार हैं। बालमरण से मर कर जीव चतुर्गत्यात्मक संसार की अभिवृद्धि करता है और पण्डितमरण से मर कर जीव दीर्घ संसार को सीमित कर देते हैं।

इन प्रश्नों का विस्तार से उत्तर सुनकर आर्य स्कन्दक अत्यन्त आह्लादित हुए और उन्होंने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। जब हम महावीरयुग का अध्ययन करते हैं तो ज्ञात होता है कि उस युग में इस प्रकार के प्रश्न दार्शनिकों के मस्तिष्क को झकझोर रहे थे और वे यथार्थ समाधान पाने के लिये मूर्धन्य मनीषियों के पास पहुंचते थे। तथागत बुद्ध के पास भी इस प्रकार के प्रश्न लेकर अनेक जिज्ञासु पहुँचते रहे, पर तथागत बुद्ध उन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टालते रहते थे। मज्झिमनिकाय[१९९] में जिन प्रश्नों को तथागत ने अव्याकृत कहा था, वे ये हैं—

१. क्या लोक शाश्वत है? २. क्या लोक अशाश्वत है? ३. क्या लोक अन्तमान है? ४. क्या लोक अनन्त है? ५. क्या जीव और शरीर एक है? ६. क्या जीव और शरीर भिन्न है? ७. क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते? ८. क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं और नहीं भी होते? ९. क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं और न नहीं होते हैं?

इन प्रश्नों के उत्तर में विधान के रूप में बुद्ध ने कुछ भी नहीं कहा है। उनके मन में सम्भवतः यह

---

१९९. मज्झिमनिकाय, चूलमालुंक्यसुत्त, ६३

विचार रहा होगा कि यदि मैं लोक और जीव को नित्य कहता हूँ तो उपनिषद् का शाश्वतवाद मुझे मानना पड़ेगा। यदि मैं अनित्य कहता हूँ तो चार्वाक का भौतिकवाद स्वीकार करना पड़ेगा। उन्हें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों पसन्द नहीं थे, इसीलिये ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत, स्थापित, प्रतिक्षिप्त कह दिया कि लोक अशाश्वत हो या शाश्वत, जन्म है ही, मरण है ही। मैं तो इन्हीं जन्म-मरण के विघात को बताता हूँ। यही मेरा व्याकृत है और इसी में तुम्हारा हित है। इस तरह बुद्ध ने अशाश्वतानुच्छेदवाद स्वीकार किया है। इसका भी यह कारण था कि उस युग में जो वाद थे उन वादों में उनको दोष दृग्गोचर हुए, अतएव किसी वाद का अनुयायी होना उन्हें श्रेयस्कर नहीं लगा।[२००] पर महावीर ने उन वादों के गुण और दोष दोनों देखे। जिस वाद में जितनी सचाई थी उतनी मात्रा में स्वीकार कर, सभी वादों का समन्वय करने का प्रयास किया। तथागत बुद्ध जिन प्रश्नों का उत्तर विधि रूप में देना पसन्द नहीं करते थे, उन सभी प्रश्नों का उत्तर भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद के रूप में प्रदान किये। प्रत्येक वाद के पीछे क्या दृष्टिकोण रहा हुआ है, उस वाद की मर्यादा क्या है? इस बात को नयवाद के रूप में दर्शनिकों के सामने प्रस्तुत किया। तथागत बुद्ध ने लोक की सान्तता और अनन्तता दोनों को अव्याकृत कोटि में रखा है, जब कि भगवान् महावीर ने लोक को सान्त और अनन्त अपेक्षाभेद से बताया।

इसी तरह लोक शाश्वत है या अशाश्वत है? यह प्रश्न भगवतीसूत्र, शतक ९, उद्देशक ६ में गणधर गौतम ने जमाली को पूछा। प्रश्न सुनकर जमाली सकपका गये। तब भगवान् महावीर ने कहा—लोक शाश्वत है और अशाश्वत भी है। तीनों कालों में ऐसा एक भी समय नहीं जब लोक किसी न किसी रूप में न हो। अतः वह शाश्वत है। लोक हमेशा एक रूप नहीं रहता है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कारण अवनति और उन्नति होती रहती है। इसलिये वह अशाश्वत भी है। भगवान् महावीर ने लोक को पंचास्तिकाय रूप माना। जीव और शरीर के भेदाभेद पर भी अनेकान्तवाद की दृष्टि से जो समाधान किया है, वह भी अपूर्व है। उन्होंने आत्मा को शरीर से भिन्न और अभिन्न दोनों कहा है। किन्तु बुद्ध इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट नहीं हो सके। उनका अभिमत था कि यदि शरीर को आत्मा से भिन्न मानते हैं तब ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं, यदि अभिन्न मानते हैं तो भी ब्रह्मचर्यवास सम्भव नहीं। इसलिये दोनों अन्तों को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग का उपदेश दिया।[२०१] तथागत बुद्ध का यह चिन्तन था कि यदि आत्मा शरीर से अत्यन्त भिन्न माना जाये तो फिर उसे कायकृत कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिये। अत्यन्त भेद मानने पर अकृतागम दोष की आपत्ति है। यदि अत्यन्त अभिन्न मानें तो जब शरीर को जला कर नष्ट कर देते हैं तो आत्मा भी नष्ट हो जायेगा। जब आत्मा नष्ट हो गया है तो परलोक सम्भव नहीं है। इस तरह कृतप्रणाश दोष की आपत्ति होगी। इन दोषों से बचने के लिये उन्होंने भेद और अभेद दोनों पक्ष ठीक नहीं माने। पर महावीर ने इन दोनों विरोधी वादों का समन्वय किया। एकान्त भेद और एकान्त अभेद मानने पर जिन दोषों की सम्भावना थी, वे दोष उभयवाद मानने पर नहीं होते। जीव और शरीर का भेद मानने का कारण यही है। शरीर नष्ट होने पर भी आत्मा दूसरे जन्म में रहती है। सिद्धावस्था में जो आत्मा है, वह शरीरमुक्त है। आत्मा और शरीर का जो अभेद माना गया है, उसका कारण है कि संसार-अवस्था में आत्मा नीर-क्षीर-वत् रहता है। इसलिये शरीर से किसी

---

२००. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. ६०-६१

२०१. "तं जीवं तं सरीरं ति भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ति वा भिक्खु, दिट्ठिया सति ब्रह्मचरियवासो न होति। एते ते भिक्खु, उभो अन्ते अनुपगम्म मज्झेन तथागतो धम्मं देसेति...." —संयुत्त XII १३५

भी वस्तु का संस्पर्श होने पर आत्मा में भी संवेदन होता है और कायकर्म का विपाक आत्मा में होता है।[२०१] चार्वाक दर्शन शरीर को ही आत्मा मानता था तो उपनिषद् काल के ऋषिगण आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न मानते थे। पर महावीर ने उन दोनों भेद और अभेद पक्षों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय कर दार्शनिकों के सामने समन्वय का मार्ग प्रस्तुत किया।

इसी प्रकार जीव की सान्तता और अनन्तता के प्रश्न पर भी बुद्ध का मन्तव्य स्पष्ट नहीं था। यदि काल की दृष्टि से सान्तता और अनन्तता का प्रश्न हो तो अव्याकृत मत से समाधान हो जाता है पर द्रव्य या क्षेत्र की दृष्टि से जीव की सान्तता और निरन्तता के विषय में उनके क्या विचार थे, इस सम्बन्ध में त्रिपिटक साहित्य मौन है, जबकि भगवान् महावीर ने जीव की सान्तता, निरन्तता के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अभिमतानुसार जीव एक स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में है। वह द्रव्य से सान्त है, क्षेत्र से सान्त है, काल से अनन्त है और भाव से अनन्त है। इस तरह जीव सान्त भी है, अनन्त भी है। काल की दृष्टि से और पर्यायों की अपेक्षा से उसका कोई अन्त नहीं पर वह द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से सान्त है।

उपनिषद् का आत्मा के सम्बन्ध के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' के मन्तव्य का भगवान् महावीर ने निराकरण किया है। क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा की व्यापकता को भगवान् महावीर ने स्वीकार नहीं किया है और एक ही आत्मद्रव्य सब कुछ है, यह भी भगवान् महावीर का मन्तव्य नहीं है। उनका मन्तव्य है कि आत्म-द्रव्य और उसका क्षेत्र मर्यादित है। उन्होंने क्षेत्र की दृष्टि से आत्मा को सान्त कहते हुए भी काल की दृष्टि से आत्मा को अनन्त कहा है। भाव की दृष्टि से भी आत्मा अनन्त है क्योंकि जीव की ज्ञानपर्यायों का कोई अन्त नहीं है और न दर्शन और चारित्र पर्यायों का ही कोई अन्त है। प्रतिपल-प्रतिक्षण नई-नई पर्यायों का आविर्भाव होता रहता है और पूर्व पर्याय नष्ट होते रहते हैं। इसी प्रकार सिद्धि के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर ने अनेकान्त दृष्टि से उत्तर देकर एक गम्भीर दार्शनिक समस्या का सहज समाधान किया है।

मृत्यु : एक कला

मृत्यु एक कला है। इस कला के सम्बन्ध में जैन मनीषियों ने विस्तार से विश्लेषण किया है। जैन मनीषियों ने मरण के दो प्रकार बताये—बालमरण और पण्डितमरण। दूसरे शब्दों में उसे असमाधिमरण और समाधिमरण भी कह सकते हैं। एक ज्ञानी की मृत्यु है, दूसरी अज्ञानी की मृत्यु है। अज्ञानी विषयासक्त होता है। वह मृत्यु से कांपता है। उससे बचने के लिए वह अहर्निश प्रयास करता है, पर मृत्यु उसका पीछा नहीं छोड़ती। पर ज्ञानी मृत्यु का आलिंगन करने के लिये सदा तत्पर रहता है। उसकी शरीर के प्रति आसक्ति नहीं होती। वह समभाव से मृत्यु को वरण करता है। उस मरण में किंचिन्मात्र भी कषाय नहीं होता। जब साधक देखता है कि अब शरीर साधना करने में सक्षम नहीं रहा है तब वह निर्भय होकर देहासक्ति का विसर्जन कर मृत्यु का स्वागत करता है। बालमरण के प्रस्तुत आगम में जो बारह प्रकार प्रतिपादित हैं उनमें कषाय की मात्रा की प्रधानता है। क्रोध, अहंकार आदि के कारण ही वह मृत्यु को स्वीकार करता है। उस मृत्यु को स्वीकार करने पर भी मृत्यु की परम्परा समाप्त नहीं होती प्रत्युत वह परम्परा लम्बी होती चली जाती है। पण्डितमरण में साधक समस्त प्राणियों में साथ सर्वप्रथम क्षमायाचना करता है। ग्रहीत व्रतों में यदि असावधानी-वश स्खलनाएं हुई हों तो उन दोषों की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण करता है। पापस्थानकों का परित्याग

२०२. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, पृ. ६६-६७

कर प्रसन्नतापूर्वक वह मरण स्वीकार किया जाता है। मरण काल में साधक चाहे कितने ही कष्ट आएँ, उनको समभावपूर्वक सहन करता है। यह पण्डितमरण आत्महत्या नहीं है पर मृत्यु को वरण करने की श्रेष्ठ कला है।

संयुत्तनिकाय में असाध्य रोग से संत्रस्त भिक्षु वक्कलि कुलपुत्र[२०३] व भिक्षु छन्न[२०४] ने आत्महत्या की। तथागत बुद्ध ने उन दोनों भिक्षुओं को निर्दोष कहा और यह बताया कि दोनों भिक्षु परिनिर्वाण को प्राप्त हुए हैं। जापान में रहने वाले बौद्धों में हरीकरी की प्रथा आज भी प्रचलित है। पर जैनपरम्परा और बौद्ध परम्परा के मृत्यु-वरण में अन्तर है। बौद्धपरम्परा में शस्त्रवध से तत्काल या उसी क्षण मृत्यु प्राप्त करना श्रेष्ठ माना है, जबकि जैनपरम्परा में इस प्रकार मृत्यु को वरण करना उचित नहीं माना गया है। वैदिक-परम्परा में भी स्वेच्छापूर्वक मृत्युवरण को सर्वश्रेष्ठ माना है। मनुस्मृति,[२०५] याज्ञवल्क्यस्मृति,[२०६] गौतम स्मृति,[२०७] वशिष्ठधर्मसूत्र[२०८] और आपस्तम्बसूत्र[२०९] आदि के अनुसार प्रायश्चित्त के निमित्त मृत्यु को वरण करना चाहिए। महाभारत के अनुशासनपर्व,[२१०] वनपर्व,[२११] और मत्स्यपुराण[२१२] आदि के अनुसार अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, गिरिपतन, विषप्रयोग या अनशन आदि के द्वारा देहत्याग किया जाता है तो ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। वैदिक परम्परा ने जो विविध साधन मृत्युवरण के बताये हैं वहाँ पर जैन परम्परा में उपवास आदि से ही मृत्यु को वरण करना श्रेयस्कर माना है। ब्रह्मचर्य आदि की सुरक्षा के लिये तात्कालिक मृत्यु-वरण के कुछ प्रसंग जैन साहित्य में आये हैं, पर मुख्य रूप से इस प्रकार के मरण को आत्महत्या ही माना है और उसकी आलोचना भी जैन मनीषियों ने यत्र-तत्र की है। जैन परम्परा में जीवन की आशा और मृत्यु की आशा दोनों को ही अनुचित माना है। समाधिमरण में न तो मरण की आकांक्षा होती है और न आत्महत्या ही होती है। आत्महत्या या तो क्रोध के कारण या सम्मान अथवा अपने हित पर गहरा आघात लगता है तब व्यक्ति निराशा के झूले में झूलने लगता है और वह आत्महत्या के लिये प्रस्तुत होता है। समाधिमरण में आहारादि के त्याग से देह-पोषण का त्याग किया जाता है। मृत्यु उसका परिणाम है पर उसमें मृत्यु की आकांक्षा नहीं है। जिस प्रकार फोड़े की चीर-फाड़ से वेदना अवश्य होती है पर वेदना की आकांक्षा नहीं होती। समाधिमरण की क्रिया मरण के लिए न होकर उसके प्रतीकार के लिए है, जैसे व्रण का चीरना वेदना के लिए न होकर वेदना के प्रतीकार के लिए है। यही समाधिमरण और आत्महत्या में अन्तर है। समाधिमरण में भगोड़े की तरह भागना नहीं है अपितु संयम की ओर अग्रसर होना है। आत्महत्या में जीवन से भय होता है पर समाधिमरण में मृत्यु से भय नहीं होता। आत्महत्या असमय में मृत्यु का आमंत्रण है किन्तु समाधिमरण में मृत्यु के उपस्थित होने पर उसका सहर्ष स्वागत है। आत्महत्या के पीछे भय या कामना रही हुई होती है जबकि समाधिमरण में भय और कामना का अभाव रहता है।

---

२०३. संयुत्तनिकाय, २१।२।४।५
२०४. संयुत्तनिकाय, ३४।२।४।४
२०५. मनुस्मृति, ११/९०-९१
२०६. याज्ञवल्क्यस्मृति, ३/२५३
२०७. गौतमस्मृति, २३/१
२०८. वशिष्ठ धर्मसूत्र २०/२२, १३/१४
२०९. आपस्तम्ब सूत्र, १।९।२५।१-३, ६
२१०. महाभारत, अनुशासनपर्व, २५।६२-६४
२११. महाभारत, वनपर्व, ८५।८३
२१२. मत्स्यपुराण, १८६।३४।३५

कितने ही आलोचक जैनदर्शन की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि जैनदर्शन जीवन से इकरार नहीं अपितु इनकार करता है। पर उनकी यह आलोचना भ्रान्त है। जैनदर्शन ने जीवन के मिथ्यामोह से इनकार किया है। *जो जीवन स्व और पर की साधना में उपयोगी है वही जीवन* सर्वतोभावेन संरक्षणीय है। क्योंकि जीवन का लक्ष्य ज्ञान, दर्शन और चारित्र की सिद्धि करना है। यदि मरण से भी ज्ञानादि की सिद्धि है तो वह शिरसा श्लाघनीय[२१३] है। इस प्रकार प्रस्तुत कथानक में गम्भीर विषय की चर्चा प्रस्तुत की गई है। आर्य स्कन्दक जिज्ञासा का समाधान होने पर भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर समाधिमरण प्राप्त कर अच्युत कल्प में देव बने और वहाँ से वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्त होंगे।

ईशानेन्द्र

भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देशक १ में देवराज ईशानेन्द्र का मधुर प्रसंग आया है। ईशानेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि भगवान् महावीर प्रभु राजगृह में पधारे हैं। वह भगवान् के दर्शन के लिये पहुंचा और उसने ३२ प्रकार के नाटक किये। गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि यह दिव्य देवऋद्धि ईशानेन्द्र को किस प्रकार प्राप्त हुई है ? भगवान् ने समाधान किया कि यह पूर्वभव में ताम्रलिप्ति नगर में तामली मौर्यवंशी गृहस्थ था। उसने प्राणामा नाम की दीक्षा ग्रहण की और निरन्तर छठ-छठ तप के साथ सूर्य के सामने आतापना ग्रहण करता और पारणे के दिन लकड़ी का पात्र लेकर पके हुए चावल लाता है और २१ बार उन्हें धोकर ग्रहण करता। वह सभी को नमस्कार करता। उसकी चिरकाल तक यह साधना चलती रही। अन्त में दो महीने का अनशन किया। जब उसका अनशन व्रत चल रहा था तब असुरकुमार देवों ने विविध रूप बनाकर उसे अपना इन्द्र बनने का संकल्प करने के लिये प्रेरित किया पर वह तपस्वी विचलित नहीं हुआ और वहाँ से मरकर ईशानेन्द्र हुआ है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने लिखा है कि तामली तापस ने साठ हजार वर्ष तक तप की आराधना की थी। पर वह साधना विवेक के आलोक में नहीं हुई थी। यदि उतनी साधना एक विवेकी साधक करता तो उतनी साधना से सात जीव मोक्ष में चले जाते। पर वह ईशानेन्द्र ही हुआ।

प्रस्तुत प्रकरण में ३२ प्रकार के नाट्य बताये हैं। नाटक के सम्बन्ध में हम राजप्रश्नीयसूत्र की प्रस्तावना में विस्तार से लिख चुके हैं।

चमरेन्द्र

भगवतीसूत्र, शतक ३, उद्देशक २ में असुरराज चमरेन्द्र का उल्लेख है जो भगवान् महावीर की शरण लेकर प्रथम सौधर्म देवलोक में पहुँचा और शक्रेन्द्र ने उस पर वज्र का प्रयोग किया। यह दस आश्चर्यों में एक आश्चर्य रहा।

शिवराजर्षि

भगवतीसूत्र, शतक ११, उद्देशक ९ में शिवराजर्षि का वर्णन है। वे जीवन के उषाकाल में दिशाप्रोक्षक तापस बने थे। निरन्तर षष्ठ भक्त यानी वेले की तपस्या करते थे। उनके तापस जीवन की आचारसंहिता का निरूपण प्रस्तुत आगम में विस्तार के साथ हुआ है। दिक्चक्रवाल तप से शिवराजर्षि को विभंगज्ञान हुआ जिससे वे सात द्वीप और सात समुद्रों को निहारने लगे। उन्होंने यह उद्घोषणा की कि सात समुद्र और सात द्वीप ही इस विराट् विश्व में हैं। उसकी यह चर्चा सर्वत्र प्रसारित हो गई। गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा

---

२१३. जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन II, पृ. ४४०-४१

प्रस्तुत की। भगवान् महावीर ने कहा—असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। जब भगवान् महावीर की यह वात शिवराजर्षि ने सुनी तो विस्मित हुए। उनका अज्ञान का पर्दा हट गया। उन्होंने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण कर अपने जीवन को महान् बनाया।

प्रस्तुत कथानक में सात द्वीप और सात समुद्र की मान्यता का उल्लेख हुआ है। यह मान्यता उस युग में अनेक व्यक्तियों की थी। इस मिथ्या मान्यता का निरसन भगवान् महावीर ने किया और यह स्थापना की कि असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं और अन्तिम समुद्र का नाम स्वयंभूरमण समुद्र है। स्वयंभूरमण समुद्र का अन्तिम छोर अलोक के प्रारम्भ तक है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि स्कन्दक परिव्राजक, पुद्गल परिव्राजक और शिवराजर्षि ये तीनों वैदिकपरम्परा के परिव्राजक थे उन्होंने श्रमण परम्परा को ग्रहण किया। साथ ही उस युग में जो ज्वलंत प्रश्न जनमानस में घूम रहे थे, उन प्रश्नों को सर्वज्ञ सर्वदर्शी महावीर ने स्पष्ट समाधान कर दार्शनिक जगत् को एक नई दृष्टि प्रदान की।

कालद्रव्य : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र, शतक ११, उद्देशक ११ में सुदर्शन सेठ का वर्णन है। वह वाणिज्यग्राम का रहने वाला था। उसने भगवान् महावीर से पूछा कि काल कितने प्रकार का है? भगवान् ने कहा कि काल के चार प्रकार हैं—प्रमाणकाल, यथायुरनिवृत्तिकाल, मरणकाल और अद्धाकाल। इन चार प्रकारों में प्रमाण काल के दिवसप्रमाण काल और रात्रिप्रमाण काल ये दो प्रकार हैं। इस काल में भी दक्षिणायन और उत्तरायन होने पर दिन-रात्रि का समय कम-ज्यादा होता रहता है। दूसरा काल है, यथायुरनिवृत्ति काल अर्थात् नरक, मनुष्य, देव, और तिर्यञ्च, ने जैसा आयुष्य बांधा है उसका पालन करना। तीसरा काल है—मरणकाल। शरीर से जीव का पृथक् होना मरणकाल है। चतुर्थ काल है—अद्धाकाल। वह एक समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक संख्यात काल है और उसके बाद जिसको बताने के लिये उपमा आदि का प्रयोग किया जाय जैसे—पल्योपम, सागरोपम आदि वह असंख्यात काल है। जिसको उपमा के द्वारा भी न कहा जा सके, वह अनन्त है।

काल के सम्बन्ध में जैनसाहित्य में विस्तार से विवेचन है। वहाँ पर विभिन्न नयापेक्षया दो मत हैं। एक मत के अनुसार काल एक स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। काल जीव और अजीव द्रव्य का पर्याय-प्रवाह है। इस दृष्टि से जीव और अजीव द्रव्य का पर्यायपरिणमन ही उपचार से काल कहलाता है। इसलिये जीव और अजीव द्रव्य को ही काल द्रव्य जानना चाहिये। द्वितीय मतानुसार जीव और पुद्गल जिस प्रकार स्वतन्त्र द्रव्य हैं, वैसे ही काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है। भगवती,[२१४] उत्तराध्ययन,[२१५] जीवाजीवाभिगम,[२१६] प्रज्ञापना,[२१७] आदि में काल सम्बन्धी दोनों मान्यताओं का उल्लेख है। उसके पश्चात् आचार्य उमास्वाति,[२१८] सिद्धसेन दिवाकर,[२१९] जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण,[२२०] हरिभद्रसूरि,[२२१] आचार्य हेमचन्द्र,[२२२] उपाध्याय यशोविजय जी,[२२३] विनय-

---

२१४. भगवती २५।४।७३४
२१५. उत्तराध्ययन, २८।७-८
२१६. जीवाभिगम,
२१७. प्रज्ञापना पद १, सूत्र ३
२१८. तत्त्वार्थसूत्र ५।३८-३९ देखें भाष्य व्याख्या सिद्धसेन कृत
२१९. द्वात्रिंशिका
२२०. विशेषावश्यकभाष्य ९२६ और २०६८
२२१. धर्मसंग्रहणी गाथा ३२, मलयगिरि टीका
२२२. योगशास्त्र
२२३. द्रव्यगुणपर्याय रास, देखें प्रकरण रत्नाकर भा. १, गा. १०

विजय जी,[224] देवचन्द्र जी[225] आदि श्वेताम्बर विज्ञों ने दोनों पक्षों का उल्लेख किया है किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द,[226] पूज्यपाद,[227] भट्टारक अकलंकदेव,[228] विद्यानन्द स्वामी[229] आदि ने केवल द्वितीय पक्ष को ही माना है। वे काल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं।

प्रथम मत यह है कि समय, आवलिका, मुहूर्त, दिन-रात आदि जो भी व्यवहार काल-साध्य हैं वे सभी पर्याय-विशेष के संकेत हैं। पर्याय, यह जीव-अजीव की क्रिया-विशेष है जो किसी भी तत्त्वान्तर की प्रेरणा के विना होती है, अर्थात् जीव-अजीव दोनों अपने-अपने पर्याय रूप में स्वतः ही परिणत हुआ करते हैं अतः जीव-अजीव के पर्याय-पुञ्ज को ही काल कहना चाहिए। काल अपने-आप में कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है।[230]

द्वितीय मत यह है कि जैसे जीव और पुद्गल स्वयं ही गति करते हैं और स्वयं ही स्थिर होते हैं, उनकी गति और स्थिति में निमित्त रूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं, वैसे ही जीव और अजीव में पर्याय-परिणमन का स्वभाव होने पर भी उसके निमित्तकारण रूप काल द्रव्य को मानना चाहिए।[231]

उक्त दोनों कथन परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सापेक्ष हैं। निश्चय दृष्टि से काल जीव-अजीव की पर्याय है और व्यवहार दृष्टि से वह द्रव्य है। उसे द्रव्य मानने का कारण उसकी उपयोगिता है। वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व-अपरत्व ये काल के उपकारक हैं। इन्हीं के कारण वह द्रव्य माना जाता है। उसका व्यवहार पदार्थों की स्थिति आदि के लिए होता है।

निश्चय दृष्टि से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है। उसे जीव और अजीव के पर्यायरूप मानने से ही सभी कार्य व सभी व्यवहार सम्पन्न हो सकते हैं। व्यवहार की दृष्टि से ही उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है और उसे पृथक् द्रव्य गिनाया गया है[232] एवं उसे जीवाजीवात्मक भी कहा है।[233]

वेद व उपनिषदों में काल शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है, किन्तु वैदिक महर्षियों का काल के सम्बन्ध में क्या मन्तव्य है, यह स्पष्ट नहीं होता। वैशेषिकदर्शन का यह मन्तव्य है कि काल द्रव्य है, नित्य है, एक है और सम्पूर्ण कार्यों का निमित्त है।[234] न्यायदर्शन में काल के सम्बन्ध में वैशेषिकदर्शन का ही

---

२२४. लोकप्रकाश

२२५. नयचक्रसार और आगमसार ग्रन्थ देखें

२२६. प्रवचनसार अ. २, गाथा ४६-४७

२२७. तत्त्वार्थ० सर्वार्थसिद्धि ५।३८-३९

२२८. तत्त्वार्थ० राजवार्तिक ५।३८-३९

२२९. तत्त्वार्थ० श्लोकवार्तिक, ५।३८-३९

२३०. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३३१, पं. सुखलाल जी

२३१. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३३२ पं. सुखलाल जी

२३२. (क) भगवती २।१०।१२०; ११।११।४२४; १३।४।४८३ इत्यादि
(ख) प्रज्ञापनापद १
(ग) उत्तराध्ययन २८।१०

२३३. स्थानाङ्गसूत्र ९५

२३४. वैशेषिकदर्शन २।२।६ से ९

अनुसरण किया गया है।[235] पूर्वमीमांसा के प्रणेता जैमिनि ने काल तत्त्व के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं किया है तथापि पूर्वमीमांसा के समर्थ व्याख्याकार पार्थसारथी मिश्र की शास्त्रदीपिका पर युक्ति-स्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका[236] में पण्डित रामकृष्ण ने काल तत्त्व सम्बन्धी मीमांसक मत का प्रतिपादन करते हुए वैशेषिकदर्शन की काल की मान्यता को स्वीकार किया है, पर अन्तर यह है कि वैशेषिकदर्शन काल को परोक्ष मानता है तो मीमांसकदर्शन काल को प्रत्यक्ष मानता है। इस तरह वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानते हैं। सांख्यदर्शन ने प्रकृति और पुरुष को ही मूल तत्त्व माना है और आकाश, दिशा, मन आदि को प्रकृति का विकार माना है।[237] सांख्यदर्शन में काल नामक कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है पर एक प्राकृतिक परिणमन है। प्रकृति नित्य होने पर भी परिणमनशील है, यह स्थूल और सूक्ष्म जड़ प्रकृति का ही विकार है।

योगदर्शन के रचयिता महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन में कहीं भी काल तत्त्व के सम्बन्ध में सूचन नहीं किया है। पर योगदर्शन के भाष्यकार व्यास ने तृतीय पाद के बावनवें सूत्र पर भाष्य करते हुए काल तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—मुहूर्त, प्रहर, दिवस आदि लौकिक कालव्यवहार बुद्धिकृत और काल्पनिक है। कल्पना से बुद्धिकृत छोटे और बड़े विभाग किये जाते हैं। वे सभी क्षण पर अवलंबित हैं। क्षण ही वास्तविक है परन्तु वह मूल तत्त्व के रूप में नहीं है। किसी भी मूल तत्त्व के परिणाम रूप में वह सत्य है। जिस परिणाम का बुद्धि से विभाग न हो सके वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिणाम क्षण है। उस क्षण का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया है कि एक परमाणु को अपना क्षेत्र छोड़कर दूसरा क्षेत्र प्राप्त करने में जितना समय व्यतीत होता है उसे क्षण कहते हैं। यह क्रिया के अविभाज्य अंश का संकेत है। योगदर्शन में सांख्यदर्शनसम्मत जड़ प्रकृति तत्त्व को ही क्रियाशील माना है। उसकी क्रियाशीलता स्वाभाविक है, अतः उसे क्रिया करने में अन्य तत्त्व की अपेक्षा नहीं है। उससे योगदर्शन और सांख्यदर्शन क्रिया के निमित्त कारण रूप में वैशेषिकदर्शन के समान काल तत्त्व को प्रकृति से भिन्न या स्वतन्त्र नहीं मानता।[238]

उत्तरमीमांसादर्शन वेदान्तदर्शन और औपनिषदिक दर्शन के नाम से विश्रुत है। इस दर्शन के प्रणेता वादरायण ने कहीं भी अपने ग्रन्थ में कालतत्त्व के सम्बन्ध में वर्णन नहीं किया है, किन्तु प्रस्तुत दर्शन के समर्थ भाष्यकार आचार्य शंकर ने मात्र ब्रह्म को ही मूल और स्वतन्त्र तत्त्व स्वीकार किया है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।' इस सिद्धान्त के अनुसार तो आकाश, परमाणु आदि किसी भी तत्त्व को स्वतन्त्र स्थान नहीं दिया गया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि वेदान्तदर्शन के अन्य व्याख्याकार रामानुज, निम्बार्क, मध्व और वल्लभ आदि कितने ही मुख्य विषयों में आचार्य शंकर से अलग विचारधारा रखते हैं। उनकी पृथक् विचारधारा का केन्द्र आत्मा का स्वरूप, विश्व की सत्यता और असत्यता है। पर किसी ने भी कालतत्त्व को स्वतन्त्र नहीं माना है। इसमें सभी वेदान्तदर्शन के व्याख्याकार एक मत हैं। इस प्रकार सांख्य, योग और उत्तरमीमांसा ये अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं। जैनदर्शन में जैसे काल तत्त्व के सम्बन्ध में दो विचारधाराएं हैं वैसे ही वैदिक दर्शन में भी एक स्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं तो दूसरे अस्वतन्त्र कालतत्त्ववादी हैं।

---

२३५. पंचाध्यायी २।१।२३

२३६. युक्तिस्नेहप्रपूरणी सिद्धान्तचन्द्रिका १।१।५।५

२३७. सांख्यप्रवचन २।१२

२३८. (क) दर्शन अने चिन्तन, भाग २, पृष्ठ १०२८, पं. सुखलाल संघवी
(ख) योगदर्शन पा. ३, सूत्र ५२ का भाष्य

बौद्धदर्शन में काल केवल व्यवहार के लिये कल्पित है। काल कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नहीं है, प्रज्ञप्ति मात्र है[२३९] किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य काल के विना नहीं हो सकते। जैसे कि बालक में शेर का उपचार मुख्य शेर के सद्भाव में ही होता है, वैसे ही सम्पूर्ण कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्य के विना नहीं हो सकते।

पौषध : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देशक १ में शंख श्रावक का वर्णन है। वह श्रावस्ती का रहने वाला था तथा जीव आदि तत्त्वों का गम्भीर ज्ञाता था। उत्पला उसकी धर्मपत्नी थी। उसने भगवान् महावीर से अनेक जिज्ञासाएं कीं। समाधान पाकर वह परम संतुष्ट हुआ। अन्य प्रमुख श्रावकों के साथ वह श्रावस्ती की ओर लौट रहा था। उसने अन्य श्रमणोपासकों से कहा कि भोजन तैयार करें और हम भोजन करके फिर पाक्षिक पौषध आदि करेंगे। उसके पश्चात् शंख श्रावक ने ब्रह्मचर्यपूर्वक चन्दनविलेपन आदि को छोड़कर पौषधशाला में पौषध स्वीकार किया। पौषध का अर्थ है अपने निकट रहना। पर-स्वरूप से हटकर स्व-स्वरूप में स्थित होना। साधक दिन भर उपासनागृह में अवस्थित होकर धर्मसाधना करता है। यह साधना दिन-रात की होती है। उस समय सभी प्रकार के अन्न-जल-मुखवास-मेवा आदि चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है, काम-भोग का त्याग तथा रजत-स्वर्ण, मणि-मुक्ता आदि बहुमूल्य आभूषणों का त्याग, माल्य-गंध धारण का त्याग, हिंसक उपकरणों एवं समस्त दोषपूर्ण प्रवृत्तियों का त्याग किया जाता है। जैन परम्परा में इस व्रत की आराधना व्रती श्रमणोपासक प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा को करता है। बौद्ध परम्परा में भी गृहस्थ उपासक के लिये उपोसथ व्रत आवश्यक माना गया है। सुत्तनिपात में लिखा है कि प्रत्येक पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को इस अष्टांग उपोसथ का श्रद्धापूर्वक सम्यक् रूप से पालन करना चाहिये[२४०] सुत्तनिपात में उपोसथ के नियम बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं—१. प्राणीवध न करे, २. चोरी न करे, ३. असत्य न बोले, ४. मादक द्रव्य का सेवन न करे, ५. मैथुन से विरत रहे, ६. रात्रि में, विकाल में भोजन न करे, ७. माल्य एवं गंध का सेवन न करे, ८. उच्च शय्या का परित्याग कर जमीन पर शयन करे। ये आठ नियम उपोसथ-शील कहे जाते हैं।[२४१] तुलनात्मक दृष्टि से जब हम इन नियमों का अध्ययन करते हैं तो दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ समानता है। जैन परम्परा में भोजन सहित जो पौषध किया जाता है, उसे देशावकाशिक व्रत कहा है। बौद्ध परम्परा में उपोसथ में विकाल भोजन का परित्याग है जबकि जैन परम्परा में सभी प्रकार के आहार न करने का विधान है। अन्य जो बातें हैं, वे प्रायः समान हैं। पौषध-व्रत के पीछे एक विचारदृष्टि रही है, वह यह कि गृहस्थ साधक जिसका जीवन अहर्निश प्रपञ्चों से घिरा हुआ है वह कुछ समय निकाल कर धर्म-आराधना करे। ईसा मसीह ने दस आदेशों में एक आदेश यह दिया है कि सात दिन में एक दिन विश्राम लेकर पवित्र आचरण करना चाहिये,[२४२] सम्भव है यह आदेश एक दिन उपोसथ या पौषध की तरह ही रहा हो पर आज उसमें विकृति आ गई है। तथागत बुद्ध ने उपोसथ का आदर्श अर्हत्त्व की उपलब्धि बताया है। उन्होंने अंगुत्तरनिकाय में स्पष्ट शब्दों में कहा है—क्षीण आश्रव अर्हत् का यह कथन उचित है कि जो मेरे समान बनना चाहते हैं वे पक्ष की चतुर्दशी, पूर्णिमा, अष्टमी और प्रतिहार्य पक्ष को अष्टांगशील

---

२३९. अट्ठशालिनी १।३।१६

२४०. सुत्तनिपात २६।२८

२४१. सुत्तनिपात २६।२५-२७

२४२. बाइबल ओल्ड टेस्टामेंट, निर्गमन २०

युक्त उपोसथ व्रत का आचरण करें।[२४३] पण्डित सुखलालजी संघवी का यह अभिमत था कि उपोसथ व्रत आजीवक सम्प्रदाय और वेदान्त परम्परा में प्रकारान्तर से प्रचलित रहा है।[२४४] प्रस्तुत प्रकरण में पौषध के दोनों रूप उजागर हुए हैं। एक खा-पी कर पौषध करने का और दूसरा बिना खाए-पीए ब्रह्मचर्य की आराधना-साधना करते हुए पौषध करने का।

विभज्यवाद : अनेकान्तवाद

भगवतीसूत्र शतक १२ उद्देशक २ में जयन्ती श्रमणोपासिका का वर्णन है। उसके भवनों में सन्त-भगवन्त ठहरा करते थे। इसलिए वह शय्यातर के रूप में विश्रुत थी। जैनदर्शन का उसे गम्भीर परिज्ञान था। उसने भगवान् महावीर से जीवन सम्बन्धी गम्भीर प्रश्न किये। भगवान् महावीर ने उन प्रश्नों के उत्तर स्याद्वाद की भाषा में प्रदान किये। सूत्रकृतांग में यह पूछा गया कि भिक्षु किस प्रकार की भाषा का प्रयोग करे? इस प्रसंग में कहा गया है कि वह विभज्यवाद का प्रयोग करे।[२४५] विभज्यवाद क्या है, इसका समाधान जैन टीकाकारों ने किया है—स्याद्वाद या अनेकान्तवाद। नयवाद, अपेक्षावाद, पृथक्करण करके या विभाजन करके किसी तत्त्व का विवेचन करना। मज्झिमनिकाय में शुभ माणवक के प्रश्न के उत्तर में तथागत बुद्ध ने कहा—हे माणवक! मैं यहाँ विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नहीं।[२४६] माणवक ने तथागत से पूछा था कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित आराधक नहीं होता, इस पर आपकी क्या सम्मति है? इस प्रश्न का उत्तर हाँ या ना में न देकर बुद्ध ने कहा—गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो निर्वाणमार्ग का आराधक नहीं हो सकता। यदि त्यागी भी मिथ्यात्वी है तो वह भी आराधक नहीं है। वे दोनों यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हैं, तभी आराधक होते हैं। इस प्रकार के उत्तर देने के कारण ही तथागत अपने-आप को विभज्यवादी कहते थे। क्योंकि यदि वे ऐसा कहते कि गृहस्थ आराधक नहीं होता केवल त्यागी ही आराधक होता है तो उनका वह उत्तर एकांशवाद होता, पर उन्होने त्यागी या गृहस्थ की आराधना और अनाराधना का उत्तर विभाग कर के दिया इसलिए तथागत बुद्ध ने अपने-आप को विभज्यवादी कहा है। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि बुद्ध ने सभी प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद के आधार से नहीं दिये हैं। कुछ ही प्रश्नों के उत्तर उन्होंने विभज्यवाद को आधार बनाकर दिये हैं। तथागत बुद्ध का विभज्यवाद बहुत ही सीमित क्षेत्र में रहा पर महावीर के विभज्यवाद का क्षेत्र बहुत ही व्यापक रहा। आगे चलकर बुद्ध का विभज्यवाद एकान्तवाद में परिणत हो गया तो महावीर का विभज्यवाद व्यापक होता चला गया और वह अनेकान्तवाद के रूप में विकसित हुआ।[२४७] तथागत के विभज्यवाद की तरह महावीर का विभज्यवाद भगवती में अनेक स्थलों पर आया है। जयन्ती के प्रश्नोत्तर विभज्यवाद के रूप को स्पष्ट करते हैं। अतः हम कुछ प्रश्नोत्तर दे रहे हैं—

जयंती—भंते! सोना अच्छा है या जागना?
महावीर—कितनेक जीवों का सोना अच्छा है और कितनेक जीवों का जागना अच्छा है।

---

२४३. अंगुत्तरनिकाय ३/३७
२४४. दर्शन और चिन्तन, भाग-२, पृ. १०५
२४५. "भिक्खू विभज्जवायं च वियागरेज्जा" —सूत्रकृतांग १/१४/२२
२४६. दीघनिकाय ३३, संगितिपरियाय सुत्त में चार प्रश्नव्याकरण
२४७. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. ५४, पं. दलसुख मालवणिया

जयंती —इसका क्या कारण है ?

महावीर—जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुगामी हैं, अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्मप्ररञ्जन हैं, वे सोते रहें यही अच्छा है। क्योंकि जब वे सोते होंगे तो अनेक जीवों को पीड़ा नहीं देंगे। वे स्व, पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में नहीं लगायेंगे। इसलिये उनका सोना श्रेष्ठ है। पर जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुगामी हैं, यावत्धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका तो जागना ही अच्छा है। क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं। वे स्व, पर और उभय को धार्मिक अनुष्ठानों में लगाते हैं। अतः उनका जागना अच्छा है।

जयंती —भन्ते ! बलवान् होना अच्छा या दुर्बल होना ?

महावीर—जयंती ! कुछ जीवों का बलवान् होना अच्छा है तो कुछ जीवों का दुर्बल होना अच्छा है।

जयंती —इसका क्या कारण है ?

महावीर—जो अधार्मिक हैं या अधार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका दुर्बल होना अच्छा है। वे यदि बलवान् होंगे तो अनेक जीवों को दुःख देंगे। जो धार्मिक हैं, धार्मिक वृत्ति वाले हैं, उनका सबल होना अच्छा है। वे सबल होकर अनेक जीवों को सुख पहुँचायेंगे।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों के उत्तर विभाग करके भगवान् ने प्रदान किये। विभज्यवाद का मूल आधार विभाग करके उत्तर देना है। दो विरोधी बातों का स्वीकार एक सामान्य में करके उसी एक को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना यह विभज्यवाद का फलितार्थ है। यहाँ यह भी स्मरण रखना है कि दो विरोधी धर्म एक काल में किसी एक व्यक्ति के नहीं बल्कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के हैं। भगवान् महावीर ने विभज्यवाद का क्षेत्र बहुत ही व्यापक बनाया। उन्होंने अनेक विरोधी धर्मों को एक ही काल में और एक ही व्यक्ति में अपेक्षाभेद से घटाया जिससे विभज्यवाद आगे चलकर अनेकान्तवाद के रूप में विश्रुत हुआ। अनेकान्तवाद विभज्यवाद का विकसित रूप है। विभज्यवाद का मूलाधार है, जो विशेष व्यक्ति हों उन्हीं में, तिर्यक् सामान्य की अपेक्षा से विरोधी धर्म को स्वीकार करना। अनेकान्तवाद का मूलाधार है, तिर्यक् और ऊर्ध्वता दोनों प्रकार के सामान्य पर्यायों में विरोधी धर्मों को अपेक्षाभेद से स्वीकार करना।

उदायन राजा

भगवतीसूत्र शतक १३ उद्देशक ६ में राजा उदायन का वर्णन है। उदायन ने भगवान् महावीर के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व उसने अपने पुत्र अभीचि कुमार को राज्य इसलिये नहीं दिया कि यह राज्य के मोह में मुग्ध होकर नरक आदि गतियों में दारुण वेदना का अनुभव करेगा। उसने अपने भाणेज केशी कुमार को राज्य दिया। अभीचि कुमार के अन्तर्मानस में पिता के इस कृत्य पर ग्लानि हुई। उसने अपना अपमान समझा। वह राज्य छोड़कर चल दिया। राजा उदायन तप की आराधना कर मोक्ष गये। पर अभीचि कुमार श्रावक बनने पर भी शल्य से मुक्त नहीं हो सका, जिससे वह असुर कुमार बना। राजा उदायन का जीवन-प्रसंग आवश्यकचूर्णि आदि में विशेष रूप से आया है। उन्होंने दीक्षा ग्रहण को घोर उत्कृष्ट तप की आराधना करने से, रूक्ष और नीरस आहार ग्रहण करने से शरीर में व्याधि उत्पन्न हुई। वैद्य के परामर्श से उपचार हेतु वीतभय नगर के व्रज में रहे, जहाँ दही सहज में उपलब्ध था। दुष्ट मन्त्री ने राजा केशी को बताया कि भिक्षुजीवन से पीड़ित होकर ये राज्य के लोभ से यहाँ आये हैं और आपका राज्य छीन लेंगे। राज्यलोभी केशी राजा ने एक

ग्वाले को दही में विष मिलाकर देने हेतु कहा। उसने वैसा ही किया। नगररक्षक देवों ने कुपित होकर धूल की भयंकर वर्षा की जिससे सारा नगर धूल के नीचे दब गया।[२४८] राजा उदायन के सम्बन्ध में हमने विस्तार से धर्मकथानुयोग की प्रस्तावना में लिखा है, अतः जिज्ञासु पाठकगण उसका अवलोकन करें।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय : चिन्तन

भगवती शतक १८ उद्देशक ७ में मद्रुक श्रमणोपासक का वर्णन है। वह राजगृह नगर का निवासी था। राजगृह के बाहर गुणशील नामक एक चैत्य था। उसके सन्निकट ही कालोदायी, शैलोदायी, सेवालोदायी, उदय, नामोदय, नर्मोदय, अन्यपालक, शैलपालक, शंखपालक और सुहस्ती, अन्यतीर्थिक सद्गृहस्थ रहते थे। वे परस्पर यह चर्चा करने लगे कि भगवान् महावीर धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय इन पंचास्तिकायों में एक को जीव और शेष को अजीव मानते हैं। पुद्गलास्तिकाय को रूपी और शेष को अरूपी मानते हैं। क्या इस प्रकार का कथन उचित है ? यह बात उन्होंने मद्रुक से कही। मद्रुक ने कहा—जो कोई वस्तु कार्य करती है, आप उसे कार्य के द्वारा जानते हैं। यदि वह वस्तु कार्य न करे तो आप उसे नहीं जान सकते। ठुमक-ठुमक कर पवन चल रहा है पर आप उसके रूप को नहीं देख सकते। गन्धयुक्त पुद्गल की सौरभ हमें आती है पर हम उस गन्ध को देखते कहाँ है ? अरणि की लकड़ी में अग्नि होने पर भी हम नहीं देखते। समुद्र के परले किनारे पदार्थ पड़े हुए हैं पर हम उन्हें देख नहीं पाते। यदि उन वस्तुओं को कोई नहीं देखता है तो वस्तु का अभाव नहीं हो जाता, वैसे ही आप जिन वस्तुओं को नहीं देखते, उनका अस्तित्व नहीं है, यह कहना उचित नहीं है। मद्रुक के अकाट्य तर्कों से अन्यतीर्थिक विस्मित हुए। मद्रुक ने भी भगवान् के चरणों में पहुँचकर श्रमणधर्म को स्वीकार किया और अपने जीवन को पावन बनाया।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि का निरूपण भारत के अन्य दार्शनिक साहित्य में नहीं हुआ है। यह जैनदर्शन की मौलिक देन है। जहाँ अन्य दर्शनों में धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग शुभ और अशुभ प्रवृत्तियों के अर्थ में किया गया है, वहाँ जैनदर्शन में वह गतिसहायक तत्त्व और स्थितिसहायक तत्त्व के अर्थ में भी व्यवहृत है। धर्म एक द्रव्य है। वह समग्र लोक में व्याप्त है, शाश्वत है। वर्ण, गंध रस और स्पर्श से रहित है। वह जीव और पुद्गल की गति में सहायक है। यहाँ तक कि जीवों का आगमन, गमन, वार्तालाप, उन्मेष, मानसिक, वाचिक और कायिक आदि जितनी भी स्पन्दनात्मक प्रवृत्तियाँ हैं, वे धर्मास्तिकाय से ही होती हैं। उसके असंख्य प्रदेश हैं। वह नित्य व अनित्य है, अवस्थित है और अरूपी है। नित्य का अर्थ तद्भावाव्यय है, गति क्रिया में सहायता देने रूप भाव से कदापि च्युत न होना धर्म का तद्भावाव्यय कहलाता है। अवस्थिति का अर्थ है—जितने असंख्य प्रदेश हैं, उन प्रदेशों का कम और ज्यादा न होना किन्तु हमेशा असंख्यात ही बने रहना। वर्ण, गंध, रस आदि का अभाव होने से धर्मास्तिकाय अरूपी है। धर्मास्तिकाय पूरा एक द्रव्य है। वह जीव आदि के समान पृथक् रूप से नहीं रहता, अपितु अखण्ड द्रव्य के रूप में रहता है एवं सम्पूर्ण लोक में व्याप्त है। लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर धर्म द्रव्य का अभाव हो। सम्पूर्ण लोकव्यापी होने से उसे अन्य स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं होती।

गति का तात्पर्य है—एक स्थान से दूसरे स्थान में जाने की क्रिया। धर्मास्तिकाय गति क्रिया में सहायक है। जिस प्रकार मछली स्वयं तैरती है, पर उसकी गति में पानी सहायक होता है। तैरने की शक्ति

---

२४८. आवश्यकचूर्णि, पृष्ठ ५३७ से ५३८

होने पर भी पानी के अभाव में मछली तैर नहीं सकती। जब मछली तैरना चाहती है तभी उसे पानी की सहायता लेनी पड़ती है। वैसे ही जीव और पुद्गल जब गति करता है, तभी धर्मास्तिकाय या धर्म द्रव्य की सहायता ली जाती है। जीव और पुद्गल में गति और स्थिति ये दोनों क्रियाएं सहज रूप में होती हैं। इनका स्वभाव न केवल गति करना और न केवल स्थिति करना ही है। किसी समय किसी में गति होती है तो किसी समय किसी में स्थिति होती है। धर्म और अधर्म को मानना इसलिये आवश्यक है कि वह गति और स्थिति में निमित्त द्रव्य है। उसीसे लोक और अलोक का विभाजन होता है। गति और स्थिति का उपादान-कारण जीव और पुद्गल स्वयं है और निमित्तकारण धर्म और अधर्म द्रव्य है।

भगवतीसूत्र शतक १३ उद्देशक ४ में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! गतिसहायक तत्त्व से जीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् ने समाधान दिया कि—गौतम! गति का सहायक नहीं होता तो कौन आता और कौन जाता? शब्द की तरंगें किस प्रकार फैलती हैं? आँख किस प्रकार खुलती है? कौन मनन करता है? कौन बोलता है? कौन हिलता, डोलता है? यह विश्व अचल ही होता। जो चल है उन सब का आलम्बन तत्त्व गतिसहायक तत्त्व ही है। गणधर गौतम ने पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! स्थिति का सहायक तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) से जीवों को क्या लाभ होता है? भगवान् ने समाधान करते हुए कहा—गौतम! स्थिति का सहायक नहीं होता तो कौन खड़ा होता, कौन बैठता? किस प्रकार से सो सकता? कौन मन को एकाग्र करता? कौन मौन करता? कौन निष्पंद बनता? निमेष कैसे होता? यह विश्व चल ही होता। जो स्थिर है उस सबका आलम्बन स्थितिसहायक तत्त्व ही है।

अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शनों में गति को तो यथार्थ माना गया है किन्तु गति के माध्यम के रूप में 'धर्म' जैसे किसी विशेष तत्त्व की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई। आधुनिक भौतिक विज्ञान ने 'ईथर' के रूप में गति-सहायक एक ऐसा तत्त्व माना है जिसका कार्य धर्म द्रव्य से मिलता-जुलता है। ईथर आधुनिक भौतिक विज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण शोध है। ईथर के सम्बन्ध में भौतिकविज्ञानवेत्ता डॉ. ए. एस. एडिंग्टन लिखते हैं—आज यह स्वीकार कर लिया गया है कि ईथर भौतिक द्रव्य नहीं है, भौतिक की अपेक्षा उसकी प्रकृति भिन्न है, भूत में प्राप्त पिण्डत्व और घनत्व गुणों का ईथर में अभाव होगा परन्तु उसके अपने नये और निश्चयात्मक गुण होंगे........ईथर का अभौतिक सागर।

अलबर्ट आइन्सटीन के अपेक्षावाद के सिद्धान्तानुसार 'ईथर' अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का अनिवार्य माध्यम और अपने आप में स्थिर है।

धर्मद्रव्य और ईथर पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करते हुए प्रोफेसर जी. आर. जैन लिखते हैं कि यह प्रमाणित हो गया है कि जैन दर्शनकार व आधुनिक वैज्ञानिक यहाँ तक एक हैं कि धर्मद्रव्य या ईथर अभौतिक, अपरिमाणविक, अविभाज्य, अखण्ड, आकाश के समान व्यापक, अरूप, गति का माध्यम और अपने-आप में स्थिर है।

धर्म और अधर्म के बिना लोक की व्यवस्था नहीं होती। गति-स्थिति निमित्तक द्रव्य से लोक-अलोक का विभाजन होता है। प्रत्येक कार्य के लिए उपादान और निमित्त दोनों कारणों की आवश्यकता है। जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य गतिशील हैं। गति के उपादानकारण जीव और पुद्गल स्वयं हैं। धर्म, अधर्म ये दोनों गति और स्थिति में सहायक हैं। इसलिए निमित्तकारण है। हवा स्वयं गतिशील है। पृथ्वी, पानी

आदि सम्पूर्ण लोक में व्याप्त नहीं है पर गति और स्थिति सम्पूर्ण लोक में होती है। अतः धर्म-अधर्म की सहज आवश्यकता है। यह सत्य है कि लोक है, क्योंकि वह ज्ञान गोचर है। पर अलोक इन्द्रियातीत है। यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि अलोक है या नहीं ? पर जब हम लोक का अस्तित्व स्वीकार करते हैं तो सहज ही अलोक का अस्तित्व भी स्वीकार हो जाता है। जिसमें धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव, पुद्गल, आदि सभी द्रव्य होते हैं वह लोक है। इसके विपरीत अलोक में केवल आकाश द्रव्य ही है। धर्म और अधर्म द्रव्य के अभाव में अलोक में जीव और पुद्गल भी नहीं हैं। काल की तो वहाँ अवस्थिति है ही नहीं।

प्रस्तुत प्रसंग से यह सहज परिज्ञात होता है कि महावीर युग में भगवान् महावीर के श्रमणोपासक तत्त्वविद् थे। वे अन्य तीर्थिकों को जैनदर्शन के गुरु-गम्भीर रहस्यों को समझाने में समर्थ थे। आज भी आवश्यकता है कि श्रमणोपासक श्रावक तत्त्वविद् बनें। जैनदर्शन के गम्भीर रहस्यों का अध्ययन कर स्वयं के जीवन को महान् बनाएँ तथा अन्य दार्शनिकों को भी जैनदर्शन का सही एवं विशुद्ध रूप बतायें।

पाप और उसका फल

भगवतीसूत्र शतक ७ उद्देशक १० में कालोदाई अन्यतीर्थिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा व्यक्त की थी। वही कालोदाई जब भगवान् के समोसरण में पहुँचा तो भगवान् महावीर ने पञ्चास्तिकाय का विस्तार से निरूपण कर उसके संशय को नष्ट किया। कालोदाई, स्कन्धक की भाँति श्रमण भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित होते हैं। ग्यारह अंगों का अध्ययन कर जीवन की सांध्यवेला में संथारा कर मुक्त होते हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कालोदाई ने भगवान् महावीर से यह भी जिज्ञासा प्रस्तुत की थी कि पाप कर्म अशुभ फल वाला क्यों है ? भगवान् महावीर ने समाधान दिया था कि कोई व्यक्ति सुन्दर सुसज्जित थाली में १८ प्रकार के शाक आदि से युक्त विष-मिश्रित भोजन करता है। वह विष-मिश्रित भोजन प्रारम्भ में सुस्वादु होने के कारण अच्छा लगता है पर उसका परिणाम ठीक नहीं होता। वैसे ही पाप कर्म का प्रारम्भ अच्छा लगता है परन्तु उसका परिणाम अच्छा नहीं होता। दूसरा व्यक्ति विविध प्रकार की औषधियों से युक्त भोजन करता है। औषधियों के कारण वह भोजन कटु होता है पर वह भोजन स्वास्थ्य के लिए हितकर होता है। वैसे ही शुभ कर्म प्रारम्भ में कठिन होते हैं पर उसका फल श्रेयस्कर होता है। इस प्रकार इस कथानक में जीवन के लिए चिन्तनीय सामग्री प्रस्तुत की गई है।

सोमिल ब्राह्मण के विचित्र प्रश्न

भगवतीसूत्र शतक १८ उद्देशक १० में सोमिल ब्राह्मण का वर्णन है। वह वैदिक परम्परा का महान् ज्ञाता था। उसके अन्तर्मानस में जिगीषु वृत्ति पनप रही थी। वह चाहता था कि मैं शब्दजाल में भगवान् महावीर को उलझा कर निरुत्तर कर दूं। इसी भावना से उसने भगवान् महावीर के सामने अपने प्रश्न प्रस्तुत किए—"क्या आप यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार करते हैं ? आपकी यात्रा आदि क्या है ?" उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा—तप, यम, संयम, स्वाध्याय और ध्यान आदि में रमण करता हूँ, यही मेरी यात्रा है। यापनीय के दो प्रकार हैं—इन्द्रिययापनीय, नोइन्द्रिययापनीय। पांचों इन्द्रियाँ मेरे आधीन हैं और क्रोध, मान आदि कषाय मैंने विच्छिन्न कर दिए हैं, इसलिए वे उदय में नहीं आते। इसलिए मैं इन्द्रिय और नो-इन्द्रिययापनीय हूँ। वात, पित्त, कफ, ये शरीर सम्बन्धी दोष मेरे उपशान्त हैं, वे उदय में नहीं आते। इसलिए मुझे अव्याबाध भी है। मैं आराम, उद्यान, देवकुल, सभास्थल, प्रभृति स्थलों पर जहाँ स्त्री, पशु और

नपुंसक का अभाव हो, ऐसे निर्दोष स्थान पर आज्ञा ग्रहण कर विहार करता हूँ, यह मेरा प्रासुक (निर्दोष) विहार है।

सोमिल ने पुनः पूछा—'सरिसवया' भक्ष्य हैं या अभक्ष ?

भगवान् महावीर ने समाधान दिया—सरिसवया शब्द के दो अर्थ हैं—सदृशवयससमवयस्क तथा दूसरा सरसों। सदृशवय के तीन प्रकार हैं—एक साथ जन्मे हुए, एक साथ पालित-पोषित हुए और एक साथ क्रीड़ा किए हुए। ये तीनों श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव भी दो प्रकार के हैं—शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत, शस्त्रपरिणत भी दो प्रकार के हैं—एषणीय और अनेषणीय। अनेषणीय अभक्ष्य हैं। एषणीय भी याचित और अयाचित रूप से दो प्रकार के हैं। याचित भक्ष्य हैं और अयाचित अभक्ष्य हैं।

सोमिल ने पुनः शब्दजाल फैलाते हुए कहा—'मास' भक्ष्य है या अभक्ष्य है ? भगवान् ने समाधान की भाषा में कहा—मास याने महीना, और माष याने सोना-चाँदी आदि तोलने का माप। ये दोनों अभक्ष्य हैं और माष यानी उड़द, जो शस्त्रपरिणत हों, याचित हों, वे श्रमण के लिए भक्ष्य हैं।

सोमिल ने पुनः पूछा—'कुलत्था' भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं ? भगवान् ने फरमाया—कुलत्था शब्द के भी दो अर्थ हैं—एक कुलीन स्त्री (कुलस्था) और दूसरा अर्थ है धान्यविशेष (कुलस्थ)। जो धान्यविशेष कुलत्था हैं वह शस्त्रपरिणत एवं याचित हैं तो भक्ष्य हैं। कुलीन स्त्री अभक्ष्य है।

सोमिल ने देखा कि महावीर शब्द-जाल में फँस नहीं रहे हैं, अतः उसने एकता और अनेकता का प्रश्न उपस्थित किया कि आप एक हैं या दो हैं ? अक्षय हैं, अव्यय हैं, अवस्थित हैं, अतीत, वर्तमान और भविष्य में परिणमन के योग्य हैं ? भगवान् महावीर ने एकता और अनेकता का समन्वय करते हुए अनेकान्त दृष्टि से कहा—सोमिल ! मैं द्रव्यदृष्टि से एक हूँ। ज्ञान और दर्शन रूप दो पर्यायों के प्राधान्य से दो भी हूँ। सोमिल ! उपयोग स्वभाव की दृष्टि से मैं अनेक हूँ। इस प्रकार अपेक्षा भेद से एकत्व और अनेकत्व का समन्वय कर सोमिल को विस्मित कर दिया। वह चरणों में झुक पड़ा तथा श्रावक के १२ व्रतों को ग्रहण कर भगवान् महावीर का अनुयायी बना।

इस कथाप्रसंग से भगवान् महावीर की सर्वज्ञता का स्पष्ट निदर्शन होता है। आगमयुग की अनेकान्त दृष्टि भी इसमें स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है। तीसरी बात इसमें 'मास' शब्द का प्रयोग हुआ है जो महीने के अर्थ में है। वह श्रावण महीने से प्रारम्भ होकर आषाढ़ पूर्णिमा में समाप्त होता है। इससे यह ज्ञात होता है कि श्रावण प्रथम मास था और आषाढ़ वर्ष का अन्तिम मास था। प्रस्तुत प्रसंग में 'जवनिज्ज-यापनीय' शब्द का प्रयोग हुआ है। दिगम्बरपरम्परा में यापनीय नामक एक संघ है जिसके प्रमुख आचार्य शाकटायन थे। मूर्धन्य मनीषियों को इस सम्बन्ध में अन्वेषणा करनी चाहिए कि क्या यापनीय संघ का सम्बन्ध 'जवनिज्ज' से था ? पंडित वेचरदासजी दोशी ने लिखा है कि "जवनिज्ज"का यमनीय रूप अधिक अर्थयुक्त एवं संगत है, जिसका सम्बन्ध पांच यमों के साथ स्थापित होता है। यापनीय शब्द से इस प्रकार का अर्थ नहीं निकलता, यद्यपि 'जवनिज्ज' शब्द वर्तमान युग में नया और अपरिचित-सा लग रहा है पर खारवेल के शिलालेख में 'जवनिज्ज' शब्द का प्रयोग हुआ है जो इस शब्द की प्राचीनता और प्रचलितता को अभिव्यक्त करता है।[२५१]

२५१. जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग पहला, पृष्ठ २११

मुनि अतिमुक्तकुमार

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४ में अतिमुक्तकुमार श्रमण का उल्लेख है। जैन साहित्य में अतिमुक्त-कुमार नामक दो श्रमण हुए हैं—एक भगवान् अरिष्टनेमि के युग में, जो कंस के लघुभ्राता थे; दूसरे अतिमुक्त-कुमार भगवान् महावीर के युग में हुए हैं, जिनका उल्लेख अन्तकृद्दशांग में है। आचार्य अभयदेव के अनुसार अतिमुक्तकुमार ने भगवान् महावीर के पास छह[२५२] वर्ष की उम्र में प्रव्रज्या ग्रहण की थी। सामान्य नियम है कि आठ वर्ष से कम उम्र के व्यक्ति को प्रव्रज्या न दी जावे।[२५३]

अतिमुक्तकुमार भगवान् महावीर के शासन में सबसे लघु श्रमण थे। भगवान् महावीर ने अतिमुक्त-कुमार के आयुष्य को नहीं पर उनमें रही हुई तेजस्विता को निहारा था, बालक में भी सहज प्रतिभा रही हुई होती है। वह भी अपना उत्कर्ष कर सकता है यह प्रस्तुत कथानक से स्पष्ट है। प्रस्तुत आगम में बालमुनि अतिमुक्तकुमार ने पानी में पात्र तिराया यह भी उल्लेख है जो उनके सरल जीवन का प्रमाण है। नौका के माध्यम से वे उस समय अपनी जीवन-नौका को तिराने की कमनीय कल्पना किए हुए थे।

आत्मविकास का बाधक : मोह

भगवतीसूत्र शतक १४, उद्देशक ७ में गणधर गौतम का एक सुनहरा प्रसंग है। गणधर गौतम अपने सामने ही प्रव्रजित मुनियों को मुक्त होते और केवलज्ञान प्राप्त करते हुए देखकर विचार में पड़ गए कि मैं अभी तक मुक्त क्यों नहीं बना हूँ! मुझे केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त क्यों नहीं हुआ है! जब उनका विचार चिन्ता में परिवर्तित हो गया तब भगवान् महावीर ने रहस्य का उद्घाटन करते हुए कहा—वत्स! तेरा जो स्नेह मेरे प्रति है वही इसमें बाधक हो रहा है। प्रसंग में यह भी बताया है कि मेरे साथ तुम्हारा सम्बन्ध आज का नहीं बहुत पुराना है। प्राचीन टीकाकारों ने बताया, भगवान् महावीर का जीव जब मरीचि के रूप में था तब गौतम का जीव उनका शिष्य कपिल था। भगवान् महावीर का जीव जब त्रिपृष्ट वासुदेव था तब गौतम का जीव उनका सारथी था। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव के युग से लेकर महावीर युग तक गणधर गौतम के जीवन का महावीर के साथ सम्बन्ध रहा है। प्रस्तुत प्रसंग से यह बात स्पष्ट है कि जरा-सा मोह भी मोहन (भगवान्) बनने में अन्तरायभूत होता है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक ९ में भगवान् महावीर के युग में हुए महाशिलाकंटक संग्राम का उल्लेख है। युद्ध का लोमहर्षक वर्णन पढ़कर लगता है कि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों की तरह उस युग में भी तीक्ष्ण और संहारकारी साधन थे। इस युद्ध का, जिसे जैनपरम्परा में महाशिलाकंटक युद्ध कहा है तो बौद्ध साहित्य के दीघनिकाय की महापरिनिब्बाणसुत्त तथा उसकी अट्ठकथा में वज्जीविजय नाम से वर्णन मिलता है। यह सत्य है कि जैन और बौद्ध परम्परा में युद्ध के कारण युद्ध की प्रक्रिया और युद्ध की निष्पत्ति आदि भिन्न-भिन्न मिलती है तथापि दोनों का सार यही है कि वैशाली, जो गणतन्त्र की राजधानी थी, उस पर राजतन्त्र की राजधानी मगध की ऐतिहासिक विजय हुई थी। जैनपरम्परा में चेटक सम्राट् लिच्छवियों के नायक हैं तो बौद्धपरम्परा

---

२५२. (१) छव्वरिसो पव्वइयो—भगवती टीका ५-३
(२) अन्तकृद्दशांग, ६-१४

२५३. "कुमारसमणे" त्ति षड्वर्षजातस्य तस्य प्रव्रजितत्वात्, आह च—"छव्वरिसो पव्वइओ निग्गंथं रोइऊण पावयणं" ति, एतदेव आश्चर्यमिह अन्यथा वर्षाष्टकादारान्न प्रव्रज्या स्यादिति।
—भगवती सटीक प्र. भाग, श. ५, उद्दे ४, सूत्र १८८, पत्र २१९-२

केवल वज्जीसंघ (लिच्छवी संघ) को प्रस्तुत करती है। ऐतिहासिक दृष्टि से राजा कूणिक की ३३ करोड़ सेना और सम्राट् चेटक की ५९ करोड़ सेना आदि का जो वर्णन है वह चिन्तनीय है। इस संख्या के सम्बन्ध में मनीषीगण अपना मौलिक चिन्तन और समाधान प्रस्तुत करें, यह अपेक्षित है। हमने प्रस्तुत प्रसंग को बहुत ही विस्तार के साथ धर्मकथानुयोग की प्रस्तावना में लिखा है। जिज्ञासु पाठक उसका अवलोकन करें। वैदिक परम्परा में देवासुरसंग्राम का जैसा उल्लेख और वर्णन है, वह वर्णन प्रस्तुत आगम के महाशिलाकंटक और रथ-मूसल संग्राम को पढ़ते हुए स्मरण हो आता है।

देवानन्दा ब्राह्मणी

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ३३ में देवानन्दा ब्राह्मणी का उल्लेख है। भगवान् महावीर एक बार ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पधारे। वहाँ ऋषभदत्त अपनी पत्नी देवानन्दा के साथ दर्शन के लिए पहुँचा। देवानन्दा महावीर को देखकर रोमाञ्चित हो जाती है। उसका वक्ष उभरने लगता है एवं आँखों से हर्ष के आँसू उमड़ने लगते हैं। उसकी कंचूकी टूटने लगी और स्तनों से दूध की धारा प्रवाहित होने लगी।

गणधर गौतम ने जिज्ञासा व्यक्त की कि देवानन्दा ब्राह्मणी इतनी रोमाञ्चित क्यों हुई है ? उसके स्तनों से दूध की धारा क्यों प्रवाहित हुई है ?

भगवान् महावीर ने कहा—देवानन्दा मेरी माता है। पुत्रस्नेह के कारण ही यह रोमाञ्चित हुई है। भगवान् महावीर ने गर्भ-परिवर्तन की अज्ञात घटना बताई। ऋषभदत्त और देवानन्दा के हर्ष का पार नहीं रहा। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की। गर्भ-परिवर्तन की घटना को जैनपरम्परा में एक आश्चर्य के रूप में लिया है। आचारांग,[२५४] समवायांग,[२५५] स्थानांग[२५६] आवश्यकनिर्युक्ति,[२५७] प्रभृति में स्पष्ट वर्णन है कि श्रमण भगवान् महावीर ८२ रात्रि दिवस व्यतीत होने पर एक गर्भ से दूसरे गर्भ में ले जाए गए। जैनागमों की तरह वैदिकपरम्परा के ग्रन्थों में भी गर्भपरिवर्तन का वर्णन प्राप्त है। जब कंस वसुदेव की सन्तानों को समाप्त कर देता था तब विश्वात्मा ने योगमाया को यह आदेश दिया कि वह देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रखे। विश्वात्मा के आदेश व निर्देश से योगमाया देवकी का गर्भ रोहिणी के उदर में रख देती है। तब पुरवासी अत्यन्त दुःख के साथ कहने लगे—हाय ! देवकी का गर्भ नष्ट हो गया।[२५८] आधुनिक युग में वैज्ञानिकों ने अनेक स्थानों पर परीक्षण करके यह प्रमाणित कर दिया है कि गर्भपरिवर्तन असंभव नहीं है।

जमाली

भगवतीसूत्र शतक ९, उद्देशक ३३ में जमाली और प्रियदर्शना का वर्णन है। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार जमाली महावीर की बहिन सुदर्शना का पुत्र था, अतः उनका भानेज था और महावीर की पुत्री प्रियदर्शना का पति था। इस कारण उनका जामाता भी था। जब भगवान् महावीर क्षत्रियकुंड नगर में पधारे तब भगवान् महावीर के पावन प्रवचन को श्रवण कर जमाली अन्य ५०० क्षत्रिय कुमारों के साथ महावीर के संघ में दीक्षित हुए

---

२५४. आचारांग द्वि. श्रुतस्कन्ध, पन्ना ३८८-१-२

२५५. समवायांग ८३, पत्र ८३-२

२५६. स्थानांगसूत्र ४११ स्था. ५, पन्ना ३०९

२५७. आवश्यकनिर्युक्ति पृष्ठ ८० से ८३

२५८. गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणी योगनिद्रया ।
अहो विस्रंसितो गर्भ इति पौरा विचक्रुशुः ।। १५ ।। श्रीमद्भागवत स्कन्ध १०, पृष्ट १२२-१२३

और जमाली की पत्नी प्रियदर्शना भी एक सहस्र स्त्रियों के साथ दीक्षित हुई। जमाली के विरोधी होने का इतिहास प्रस्तुत प्रकरण में दिया गया है।

एक बार जमाली भगवान् महावीर की बिना अनुमति प्राप्त किए ही ५०० श्रमणों के साथ पृथक् प्रस्थान कर गए। उग्र तप एवं नीरस आहार से उनके शरीर में पित्तज्वर हो गया। वे पीड़ा से आकुल-व्याकुल हो रहे थे। उन्होंने अपने सहवर्ती श्रमणों को शय्या संस्तारक करने का आदेश दिया। पीड़ा के कारण एक क्षण का विलम्ब भी उन्हें सह्य नहीं था। उन्होंने पूछा—शय्या संस्तारक कर दिया है? साधुओं ने निवेदन किया—जी हाँ, कर दिया है। जमाली सोचने लगे कि भगवान् महावीर क्रियमाण को कृत, चलमान को चलित कहते हैं जो गलत है। जब तक शय्या संस्तारक पूरा बिछ नहीं जाता जब तक उसे बिछा हुआ कैसे कहा जा सकता है? उन्होंने अपने विचार श्रमणों के सामने प्रस्तुत किए। कुछ श्रमणों ने उनकी बात को स्वीकार किया और कुछ ने स्वीकार नहीं किया। जिन्होंने स्वीकार किया। वे उनके साथ रहे और जिन्होंने स्वीकार नहीं किया वे भगवान् महावीर के पास लौट आए। जब जमाली स्वस्थ हुए तब वे भगवान् महावीर के पास पहुँचे और कहने लगे—आपके अनेक शिष्य छद्मस्थ हैं, केवलज्ञानी नहीं। पर मैं तो केवलज्ञान-दर्शन से युक्त अर्हत् जिन और केवली के रूप में विचरण कर रहा हूँ। गणधर गौतम ने जमाली का प्रतिवाद किया। उन्होंने पूछा कि यदि आप केवलज्ञानी हैं तो बताएँ कि लोक शाश्वत है या अशाश्वत? जीव शाश्वत है या अशाश्वत? जमाली गौतम के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके। तब भगवान् महावीर ने कहा—जमाली! मेरे अनेक शिष्य इन प्रश्नों का समाधान कर सकते हैं, तथापि वे अपने-आपको जिन व केवली नहीं कहते हैं। जमाली के पास इसका कोई उत्तर नहीं था, वर्षों तक असत्य प्ररूपणा करते रहे। अन्त में अनशन किया पर पाप की आलोचना नहीं की। जिससे वे लान्तक देवलोक में किल्विषिक देव के रूप में उत्पन्न हुए। विशेषावश्यकभाष्य[२५९] में वर्णन है कि जमाली की विद्यमानता में ही प्रियदर्शना भी जमाली की विचारधारा में प्रवाहित हो गई थी और महावीर संघ को छोड़कर जमाली के संघ में मिल गई थी। एकदा अपने साध्वीपरिवार के साथ श्रावस्ती में ढंक कुंभकार की शाला में ठहरी। ढंक महावीर का परम भक्त था। उसने प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने के लिए उसकी साड़ी में आग लगा दी। साड़ी जलने लगी। प्रियदर्शना के मुँह से शब्द निकले "संघाटी जल गई"। ढंक ने कहा—आप मिथ्या संभाषण कर रही हैं। संघाटी जली नहीं जल रही है। प्रियदर्शना प्रबुद्ध हुई। उसे अपनी भूल परिज्ञात हुई। भूल का प्रायश्चित्त कर वह पुनः साध्वीसमूह के साथ महावीर के साध्वी-परिवार में सम्मिलित हो गई।

भगवतीसूत्र शतक १५ में गोशालक का ऐतिहासिक निरूपण हुआ है। गोशालक भगवान् महावीर की छद्मस्थ अवस्था में ही भगवान् महावीर की तपःपूत साधना को निहारकर उनका शिष्य बनने के लिए लालायित था। उसने भगवान् महावीर से शिष्य बनाने की प्रार्थना की और चिरकाल तक भगवान् के साथ रहा भी। इसका सविस्तृत वर्णन प्रस्तुत प्रकरण में आया है। गोशालक मंख कर्म करने वाले मंखली नामक व्यक्ति का पुत्र था। "गोसाले मंखलीपुत्ते" शब्द का प्रयोग भगवती, उपासकदशांग आदि आगमों में अनेक स्थलों पर हुआ है। मंख का अर्थ कही पर चित्रकार[२६०] और कही पर चित्रविक्रेता[२६१] मिलता है। आचार्य अभयदेव ने अपनी टीका में लिखा है "चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा" अर्थात् जो चित्रपट्टक हाथ में रखकर आजीविका

---

२५९. विशेषावश्कभाष्य, गाथा २३२४ से २३३२

260. Indological Studies, Vol. II, Page 254

261. Dictionary of Pali Proper Names Vol. II, Page 400

करता है। मंख नाम की एक जाति थी। उस जाति के लोग पट्टक हाथ में रखकर अपनी आजीविका चलाते थे। जैसे आज डाकोत लोग शनिदेव की मूर्ति या चित्र हाथ में रख कर अपनी जीविका चलाते हैं।

धम्मपद अट्ठकथा,[२६२] मज्झिमनिकाय[२६३] अट्ठकथा में मंखलि गोशालक के संबंध में प्रकाश डालते हुए उसका नामकरण किस तरह से हुआ, इस पर एक कथा दी है। उनके मतानुसार गोशालक दास था। एक बार वह तैल-पात्र लेकर अपने स्वामी के आगे-आगे चल रहा था—फिसलन की भूमि आई। स्वामी ने उसे कहा—'तात ! मा खलि तात ! मा खलि'—अरे स्खलित मत होना। पर गोशालक स्खलित हो गया और सारा तेल जमीन पर फैल गया। स्वामी के भय से भीत बनकर वह भागने का प्रयास करने लगा। स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। वह उस वस्त्र को छोड़कर नंगा ही वहाँ से चल दिया। इस प्रकार वह नग्न साधु हो गया और मंखलि के नाम से विश्रुत हुआ।

प्रस्तुत कथानक एक किंवदन्ती की तरह ही है और यह बहुत ही उत्तरकालिक है, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तनीय है।

आचार्य पाणिनि ने मस्करी शब्द का अर्थ परिव्राजक किया है।[२६४] आचार्य पतञ्जलि ने पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है—मस्करी वह साधु नहीं है जो अपने हाथ में मस्कर या बांस की लाठी लेकर चलता है। मस्करी वह है जो उपदेश देता है—कर्म मत करो, शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।[२६५] आचार्य पाणिनि और आचार्य पतञ्जलि के अनुसार गोशालक परिव्राजक था और 'कर्म मत करो' इस मत की संस्थापना करने वाली संस्था का संस्थापक था। जैनसाहित्य की दृष्टि से वह मंखली का पुत्र था और गोशाला में उसका जन्म हुआ था। इस तथ्य की प्रामाणिकता पाणिनि[२६६] और आचार्य बुद्धघोष[२६७] के द्वारा भी होती है। जैन आगम में गोशालक को आजीविक लिखा है तो त्रिपिटक साहित्य में आजीवक लिखा है। आजीविक तथा आजीवक इन दोनों शब्दों का अभिप्राय है आजीविका के लिए तपश्चर्या आदि करने वाला। गोशालक मत की दृष्टि से इस शब्द का क्या अर्थ उस समय व्यवहृत था, उसको जानने के लिए हमारे पास कोई ग्रन्थ नहीं है। जैन और बौद्ध साहित्य की दृष्टि से गोशालक के भिक्षाचरी आदि के नियम कठोर थे।[२६८]

जैन और बौद्ध दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों के आधार से यह सिद्ध है कि गोशालक नग्न रहता था तथा उसकी भिक्षाचरी कठिन थी। आजीविक परम्परा के साधु कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते थे।[२६९] भगवतीसूत्र शतक ८ उद्देशक ५ में आजीविक उपासकों के आचार-विचार का वर्णन इस प्रकार प्राप्त है—वे गोशालक को अरिहन्त मानते हैं। माता-पिता की शुश्रूषा करते हैं। गूलर, बड, बौर, अञ्जीर, पिलंखु इन पांच प्रकार के फलों का भक्षण नहीं करते। प्याज, लहसुन

---

२६२. धम्मपद अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष १-१४३

२६३. मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, आचार्य बुद्धघोष १-४२२

२६४. मस्करं मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः। —पाणिनिव्याकरण ६-१-१५४

२६५. न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि । मा कृत कर्माणि मा कृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहतो मस्करी परिव्राजकः। —पातञ्जलमहाभाष्य ६-१-१५४

२६६. गोशालायां जातः गौशाल। ४-३-३५

२६७. सुमंगल विलासनी दीघनिकाय अट्ठकथा, पृष्ठ १४३-१४४

२६८. महासच्चक सुत्त १-४-६

२६९. अभिधानराजेन्द्र कोष, भाग २, पृष्ठ ११६

आदि कन्दमूल का भक्षण नहीं करते। बैलों को निःलंछण नहीं कराते। उनके नाक, कान का, छेदन नहीं कराते। वे त्रस प्राणियों की हिंसा हो ऐसा व्यापार भी नहीं करते।

गोशालक के सम्बन्ध में पाश्चात्य और पौर्वात्य विज्ञों ने शोध प्रारम्भ की है। कुछ विज्ञ शोध के नाम पर नवीन स्थापना करना चाहते हैं पर प्राचीन साक्षियों को भूलकर नूतन कल्पना करना अनुचित है। कितने ही विद्वान् गोशालक सम्बन्धी इतिहास को सर्वथा परिवर्तित करना चाहते हैं। डॉ. वेणीमाधव बरुआ ने इसी प्रकार का प्रयास किया है,[२७०] जो उचित नहीं है। 'आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन' ग्रन्थ में मुनि श्री नगराजजी डी. लिट् ने इस संबंध में विस्तार से ऊहापोह किया है। जिज्ञासु पाठक उस ग्रन्थ का अवलोकन कर सकते हैं।[२७१]

यह सत्य है कि गोशालक अपने युग का एक ख्यातिप्राप्त धर्मनायक था। उसका संघ भगवान् महावीर के संघ से बड़ा था। भगवान् महावीर के श्रावकों की संख्या १५९००० थी तो गोशालक के श्रावकों की संख्या ११६१००० थी जो उसके प्रभाव को भी व्यक्त करती है। यही कारण है कि तथागत बुद्ध ने गोशालक के लिए कहा कि वह मछलियों की तरह लोगों को अपने जाल में फँसाता है[२७२]। इसके तीन मूल कारण थे। १. निमित्त-संभाषण २. तप की साधना ३. शिथिल आचारसंहिता, जबकि महावीर[२७३] और बुद्ध[२७४] के संघ में निमित्त भाषण वर्ज्य रहा और भगवान् महावीर की तो आचारसंहिता भी कठोर रही।

भगवती के अतिरिक्त आवश्यकनिर्युक्ति,[२७५] आवश्यकचूर्णि,[२७६] आवश्यक मलया गिरिवृत्ति,[२७७] त्रिषष्टि-शलाका पुरुषचरित,[२७८] महावीरचरियं[२७९] प्रभृति ग्रन्थों में गोशालक के जीवन के अन्य अनेक प्रसंग हैं। पर विस्तारभय से हम उन प्रसंगों को यहाँ नहीं दे रहे हैं। दिगम्बराचार्य देवसेन ने भावसंग्रह ग्रन्थ में गोशालक का परिचय कुछ अन्य रूप से दिया है। उनके अभिमतानुसार गोशालक भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के एक श्रमण थे। वे महावीर-परम्परा में आकर गणधर पद प्राप्त करना चाहते थे पर जब उनकी गणधर पद पर नियुक्ति नहीं हुई तो वे श्रावस्ती में पहुँचे और आजीवक सम्प्रदाय के नेता व अपने-आपको तीर्थङ्कर उद्घोषित करने लगे। वे इस प्रकार उपदेश देने लगे—ज्ञान से मोक्ष नहीं होता, अज्ञान से ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई नहीं है। अतः अपनी इच्छा के अनुसार शून्य का ध्यान करना चाहिए।[२८०] त्रिपिटक साहित्य में भी आजीवक संघ और गोशालक का वर्णन प्राप्त है। तथागत बुद्ध के समय जितने मत और मतप्रवर्तक थे, उन सभी मतों एवं मत-

---

२७०. The Ajivika J. D. L. Vol. II. 1920, pp. 17-18

२७१. आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, प्रकाशक जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता, खण्ड १, पृष्ठ ४४

२७२. अंगुत्तरनिकाय १-१८-४-५

२७३. (क) निशीथसूत्र उ. १३-६६
(ख) दशवैकालिक सूत्र अ. ८, गा. ५

२७४. विनयपिटक चुल्लवग्ग ५-६-२

२७५. आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४७४ से ४७८

२७६. आवश्यकचूर्णि प्रथम भाग, पत्र २८३ से २८७

२७७. आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, पत्र २७७ से २७९

२७८. त्रिषष्टिशलाका चरित्र, पर्व १० सर्ग ४

२७९. महावीरचरियं आचार्य नेमिचन्द्रसूरि

२८०. भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७९

प्रवर्तकों में से गोशालक को तथागत बुद्ध सबसे अधिक निकृष्ट मानते थे। तथागत बुद्ध ने सत्पुरुष और असत्पुरुष का वर्णन करते हुए कहा—कोई व्यक्ति ऐसा होता है जो बहुत जनों के अलाभ के लिए होता है। बहुत जनों की हानि के लिए होता है। बहुत जनों के दुःख के लिए होता है। वह देवों के लिए भी अलाभकर और हानिकारक है, जैसे मंखलि-गोशालक।[२८१] दूसरे स्थान पर उन्होंने यह भी बताया कि श्रमण धर्मों में सबसे निकृष्ट और जघन्य मान्यता गोशालक की है, जैसे कि सभी प्रकार के वस्त्रों में 'केशकम्बल'[२८२]। यह कम्बल शीतकाल में शीतल, ग्रीष्मकाल में उष्ण तथा दुर्वर्ण, दुर्गन्ध, दुःस्पर्श वाला होता है। वैसे ही जीवनव्यवहार में निरुपयोगी गोशालक का नियतिवाद है।[२८३] इन अवतरणों से यह स्पष्ट है कि गोशालक और उसके मत के प्रति बुद्ध का विद्रोह स्पष्ट था।

सूत्रकृताङ्ग में आर्द्रकुमार का प्रकरण आया है। उस प्रकरण में आर्द्रकुमार ने आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्मसेवन का उल्लेख किया है। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय[२८४] आदि में भी आजीवकों के अब्रह्मसेवन का वर्णन मिलता है। मज्झिमनिकाय में निर्ग्रन्थपरम्परा को ब्रह्मचर्यवास में और आजीवकपरम्परा को अब्रह्मचर्य-वास में लिया है।[२८५] इतिहासवेत्ता डा. सत्यकेतु[२८६] के अभिमतानुसार श्रमण भगवान् महावीर और गोशालक में तीन बातों का मतभेद था। उन तीनों बातों में एक स्त्रीसहवास भी है। इन सब अवतरणों से यह स्पष्ट है कि गोशालक की मान्यता में स्त्रीसहवास पर प्रतिबन्ध नहीं था। तथापि उसका मत इतना अधिक क्यों व्यापक बना, इस सम्बन्ध में हम पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं। शोधार्थियों को तटस्थ दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए और प्रमाण-पुरस्सर चिन्तन देना चाहिए, जिससे सत्य तथ्य समुद्घाटित हो सके।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में विविध व्यक्तियों के चरित्र आए हैं जो ज्ञातव्य हैं और जिनसे अन्य अनेक दार्शनिक गुत्थियों को भी सुलझाया गया है।

हम अब भगवतीसूत्र में आए हुए सैद्धांतिक विषयों पर चिन्तन करेंगे, जो जैनदर्शन का हृदय है।

भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देशक २ में द्रव्य-विषयक चिन्तन है। यहाँ हमें सर्वप्रथम यह चिन्तन करना है कि द्रव्य किसे कहते हैं? सूत्रकृताङ्ग[२८७] चूर्णि में आचार्य जिनदासगणि महत्तर ने द्रव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है—जो विशेष-पर्यायों को प्राप्त करता है वह द्रव्य है। अन्य जैनाचार्यों ने लिखा है—जो पर्यायों के लय और विलय से जाना जाता है वह द्रव्य है।[२८८] दूसरे आचार्य ने लिखा है जो भिन्न-भिन्न अवस्थाओं को प्राप्त हुआ, हो रहा है और होगा वह द्रव्य है। वह विभिन्न अवस्थाओं का उत्पाद और विनाश होने पर भी सदा ध्रुव रहता है। क्योंकि ध्रौव्य के अभाव में पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती अवस्थाओं का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती दोनों अवस्थाओं में जो व्याप्त रहता है वह द्रव्य है। जो द्रव्य है वह सत् है। आचार्य उमास्वाति ने सत्

---

२८१. अंगुत्तरनिकाय १-१८-४; ५

२८२. यह कम्बल मानव के केशों से निर्मित होता था ऐसा टीका साहित्य में उल्लेख है।

२८३. The Book of Gradual Saying, Vol. I, Page 286

२८४. मज्झिमनिकाय भाग १, पृष्ठ ५१४; Encyclopaedia of Religion and Ethics. Dr. Hocrule P. 261.

२८५. मज्झिमनिकाय सन्दक सुत्त २-३-६

२८६. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, पृष्ठ १६३

२८७. द्रवति—गच्छति तांस्तान् पर्यायविशेषानितियद्रव्यम् (सू. चू. १, पृष्ठ ५)

२८८. द्रवति—स्वपर्यायान् प्राप्नोति क्षरति च, द्रूयते गम्यते तैस्तैः पर्यायैरिति द्रव्यम्।

को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त माना है।[289] उन्होंने द्रव्य की परिभाषा करते हुए गुण और पर्याय वाले को द्रव्य कहा है।[290]

द्रव्य में परिणमन होता है। उत्पाद और व्यय होने पर भी उसका मूल स्वरूप नष्ट नहीं होता। द्रव्य के प्रत्येक अंश में प्रतिपल प्रतिक्षण जो परिवर्तन होता है वह पूर्व रूप से विलक्षण नहीं होता—परिवर्तन में कुछ समानता रहती है तो कुछ असमानता भी हो जाती है। पूर्व परिणाम और उत्तर परिणाम में जो समानता है वह द्रव्य है। इस दृष्टि से द्रव्य न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। वह अनुस्यूत रूप ही वस्तु की हर एक अवस्था को प्रभावित करता है। उदाहरण के रूप में माला के प्रत्येक मोती में धागा अनुस्यूत रहता है। पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती परिणमन में जो असमानता है वह पर्याय कही जाती है। इस दृष्टि से द्रव्य की उत्पत्ति भी मानी जाती है तथा विनाश भी। इस कारण द्रव्य में उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता—इन तीनों अवस्थाओं का उल्लेख है। द्रव्य रूप में वह स्थिर है तो पर्याय रूप में उत्पन्न एवं नष्ट भी होता रहता है। सारांश यह है कि कोई भी वस्तु न सर्वथा नित्य है न सर्वथा अनित्य है किन्तु वह परिणामी नित्य है।

आगम के शब्दों में कहा जाय तो जो गुण का आश्रय या अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है वह द्रव्य है। इसमें प्रथम परिभाषा द्रव्य का स्वरूपात्मक रूप प्रस्तुत करती है तो दूसरी परिभाषा अवस्थात्मक रूप को व्यक्त करती है। दोनों में समन्वय होने से द्रव्य गुण-पर्यायवत् कहा जाता है तथा उसका परिणामी नित्यस्वरूप बतलाता है। द्रव्य में सहभावी (गुण) और क्रमभावी (पर्याय) ये दो प्रकार के धर्म होते हैं। बौद्धदर्शन ने सत्-द्रव्य को एकान्त अनित्य माना है अर्थात् निरन्वय क्षणिक, केवल उत्पाद-विनाशस्वभाव वाला माना है तो वेदान्तदर्शन ने सत् पदार्थ (ब्रह्म) को एकान्त नित्य माना है। बौद्धदर्शन परिवर्तनवादी है तो वेदान्तदर्शन नित्य सत्तावादी। पर जैनदर्शन ने इन दोनों दर्शनों की विचारधारा को समन्वय की तुला पर तोल कर परिणामीनित्यत्ववाद की संस्थापना की है। इसका तात्पर्य है कि द्रव्य की सत्ता है, परिवर्तन भी है, द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी और इस परिवर्तन में उसका अस्तित्व भी सदा सुरक्षित रहता है। उत्पाद और विनाश के मध्य कोई स्थिर आधार नहीं हो तो सजातीयता का अनुभव नहीं हो सकता। 'यह वह ही है' ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि हम द्रव्य को निर्विकार मानें तो विश्व में जो विविधता है, उसकी संगति नहीं हो सकती। परिणामीनित्यत्ववाद जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसकी तुलना रासायनिक विज्ञान के द्रव्याक्षरत्ववाद से कर सकते हैं। इस वाद की संस्थापना सन् १७८९ में सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक 'लेवोसियर' ने की थी। इस वाद का सार है—इस अनन्त विश्व में द्रव्य का परिमाण सदा सर्वदा समान रहता है। उसमें किसी प्रकार की कमी-बेशी नहीं होती, न किसी वर्तमान द्रव्य का पूर्ण नाश होता है और न किसी नए द्रव्य की पूर्ण रूप से उत्पत्ति होती है। हम जिसे द्रव्य का नाश समझते हैं वह उसका रूपान्तर है। जैसे एक कोयला जलकर राख बन जाता है; पर वह नष्ट नहीं होता। वायुमण्डल के ऑक्सीजन अंश के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड गैस के रूप में परिवर्तित हो जाता है, वैसे ही शक्कर या नमक आदि पानी में मिलकर नष्ट नहीं होते पर ठोस रूप को बदल कर द्रव रूप में परिणत हो जाते हैं। जहाँ कहीं भी नूतन वस्तु उत्पन्न होती हुई दिखलाई देती है, पर सत्य तथ्य यह है कि वह किसी पूर्ववर्ती वस्तु का ही रूपान्तर है। किसी लोहे की वस्तु में जंग लग जाता है। वहाँ पर जंग नामक कोई नया द्रव्य उत्पन्न नहीं हुआ, पर धातु की ऊपरी सतह पर पानी और वायुमण्डल के ऑक्सीजन के संयोग से लोहे के ओक्सीहाईड्रेट के रूप में परिणत हो गई। भौतिकवाद पदार्थों के गुणात्मक अन्तर को परिमाणात्मक अन्तर में परिवर्तित कर देता

२८९. तत्त्वार्थसूत्र ५।२९

२९०. तत्त्वार्थसूत्र ५।३७

है। शक्ति परिमाण में परिवर्तन नहीं किन्तु गुण की दृष्टि से परिवर्तनशील है। प्रकाश, तापमान, चुम्बकीय आकर्षण आदि का ह्रास नहीं होता, अपितु वे एक दूसरे में परिवर्तित हो जाते हैं। उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय द्रव्यों का यह त्रिविध लक्षण प्रतिक्षण घटित होता रहता है। इस शब्दावली में और जिसे "द्रव्य का नाश होना समझा जाता है वह उसका रूपान्तर में परिणमनमात्र है।" इन शब्दों में कोई अन्तर नहीं है। वस्तु की दृष्टि से इस विश्व में जितने द्रव्य हैं उतने ही द्रव्य सदा अवस्थित रहते हैं। सापेक्षदृष्टि से ही जन्म और मरण है। नवीन पर्याय का उत्पाद जन्म है और पूर्व पर्याय का विनाश मृत्यु है।

सांख्यदर्शन ने पुरुष को नित्य और प्रकृति को परिणामीनित्य मानकर नित्यानित्यत्ववाद की संस्थापना की है। नैयायिक और वैशेषिक परमाणु, आत्मा प्रभृति को नित्य मानते हैं और घट, पट प्रभृति को अनित्य मानते हैं। इस तरह समूह की दृष्टि से वे परिणामित्व एवं नित्यत्ववाद को स्वीकार करते हैं। पर जैनदर्शन की भाँति द्रव्य मात्र को परिणामी नित्य नहीं मानते। यह भी सत्य तथ्य है कि महर्षि पतञ्जलि और आचार्य कुमारिल भट्ट, पार्थसार प्रभृति मनीषियों ने परिणामीनित्यत्ववाद को स्पष्ट सिद्धान्त के रूप में मान्यता नहीं दी है, तथापि परिणामीनित्यत्ववाद का प्रकारान्तर[२९१] से पूर्ण समर्थन किया है।

द्रव्य शब्द अनेकार्थक है। सत् तत्त्व और पदार्थपरक अर्थ पर हम कुछ चिन्तन कर चुके हैं। सामान्य के लिए भी द्रव्य शब्द व्यवहृत हुआ है और विशेष के लिए पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है। सामान्य भी तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वतासामान्य के रूप में दो प्रकार का है। एक ही काल में स्थित अनेक देशों में रहने वाले अनेक पदार्थों में समानता का होना तिर्यक्सामान्य है। जब कालकृत विविध अवस्थाओं में किसी विशेष द्रव्य का एकत्व या अन्वय (समानता) विवक्षित हो या एक विशेष पदार्थ की अनेक अवस्थाओं की एकता या ध्रौव्य अपेक्षित हो, वह एकत्वसूचक अंश ऊर्ध्वतासामान्य है। जीव के संसारी और मुक्त इन दो भेदों में रहने वाला जीवत्व या संसारी के एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक ५ भेदों में रहा हुआ संसारी जीवत्व आदि तिर्यक् सामान्य हैं। द्रव्यार्थिक दृष्टि से जीव शाश्वत है, यह जीव का ऊर्ध्वतासामान्य है।

गणधर गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर के समक्ष जिज्ञासा प्रस्तुत की—'द्रव्य कितने प्रकार का है?' समाधान की भाषा में भगवान् ने कहा—'द्रव्य के जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य ये दो प्रकार हैं। पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—'अजीव द्रव्य कितने प्रकार का है?' समाधान के रूप में कहा गया—'वह रूपी और अरूपी के भेद

---

२९१. द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तः पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते। रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृतः सुवर्ण-पिण्डः। ……आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

—पातञ्जल योगदर्शन

वर्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्राप्तिश्चाप्युत्तरार्थिनः ॥१॥
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ॥२॥
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्वा विना न माध्यस्थ्यं, तेन सामान्यनित्यता ॥३॥

—कुमारिल्ल भट्टः—मीमांसा श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ६१९

से दो प्रकार का है।' पुनः जिज्ञासा उभरी—'अजीव द्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?' समाधान दिया गया—'वे अनन्त हैं, चूंकि परमाणु पुद्गल अनन्त हैं, द्विप्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अनन्त हैं।' उसी तरह जीव द्रव्य के सम्बन्ध में भी गौतम ने पृच्छा की कि वह संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं? समाधान दिया गया—जीव अनन्त हैं, क्योंकि नैरयिक, चार स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय, तिर्यंच पंचेन्द्रिय, असंज्ञी मनुष्य तथा देव ये सभी प्रत्येक पृथक्-पृथक् असंख्यात हैं। संज्ञी मनुष्य संख्यात हैं। वनस्पतिकायिक जीव और सिद्ध अनन्त हैं। अतः समस्त जीव द्रव्य की अपेक्षा से अनन्त हैं।

इसी प्रकार भगवतीसूत्र शतक १४, उद्देशक ४ में जीवपरिणाम और अजीवपरिणाम के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। शतक १७, उद्देशक २ में जीव और जीवात्मा ये दोनों पृथक् नहीं हैं, ऐसा स्पष्ट किया गया है, शतक ७, उद्देशक ८ में हाथी और कुंथुआ दोनों की काया में अन्तर है तो क्या उनके जीव समान हैं या असमान हैं? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया कि दोनों में जीव समान है, जैसे दीपक का प्रकाश स्थान के अनुसार छोटा और बड़ा होता है वैसे ही शरीर के अनुसार आत्मप्रदेश संकुचित और विस्तृत होते हैं। शतक १, उद्देशक २ में जीव स्वयंकृत कर्म का वेदन करते हैं या परकृत कर्म का वेदन करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बतलाया कि जीव स्वकृत कर्म का ही वेदन करता है, परकृत कर्म का नहीं।

जैन आगमसाहित्य का गहराई से पर्यवेक्षण करने पर सहज परिज्ञात होता है कि उसने अद्वैतवादियों की भांति जगत् को वस्तु अवस्तु अर्थात् माया में विभक्त नहीं किया है अपितु यह प्रतिपादित किया है कि संसार की प्रत्येक वस्तु में स्वभाव और विभाव सन्निहित हैं। वस्तु का स्वभाव वह है जो परनिरपेक्ष हो और विभाव वह है जो परसापेक्ष हो। आत्मा का चैतन्य, ज्ञान, सुख प्रभृति का जो मूल रूप है वह उसका स्वभाव है और अजीव का स्वभाव है जड़ता। आत्मा की मनुष्य, देव आदि गति रूप जो स्थिति है वह विभाव दशा है। स्वभाव और विभाव दोनों अपने-आप में सत्य हैं। हाँ, तद्विषयक हमारा ज्ञान मिथ्या हो सकता है, लेकिन वह भी तब जब हम स्वभाव को विभाव समझें या विभाव को स्वभाव। तत् में अतत् का ज्ञान होने पर ही ज्ञान में मिथ्यात्व की संभावना रहती है।[२९२]

विज्ञानवादी बौद्धों का यह मन्तव्य है कि प्रत्यक्ष ज्ञान ही वस्तुग्राहक और साक्षात्कारात्मक है और उसके अतिरिक्त जितना भी ज्ञान है वह अवस्तुग्राहक, भ्रामक, अस्पष्ट और असाक्षात्कारात्मक है। जबकि जैन आगम-साहित्य में प्रत्यक्ष ज्ञान उसे कहा है जो इन्द्रियनिरपेक्ष हो और आत्मसापेक्ष हो तथा साक्षात्कारात्मक हो। परोक्ष उसे कहा है जो ज्ञान इन्द्रिय और मनसापेक्ष हो तथा असाक्षात्कारात्मक हो। प्रत्यक्षज्ञान से ही स्वभाव और विभाव का सही परिज्ञान हो सकता है। जो ज्ञान इन्द्रियसापेक्ष है उससे वस्तु के स्वभाव और विभाव का स्पष्ट और सही परिज्ञान नहीं होता। पर इसका यह तात्पर्य नहीं कि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान भ्रम है। विज्ञानवादी बौद्ध परोक्ष ज्ञान को अवस्तुग्राहक होने के कारण भ्रम मानते हैं पर जैनदर्शन ऐसा नहीं मानता। उसका यह अभिमत है कि विभाव वस्तु का परिणाम है। यह वस्तु का एक रूप है। अतः उसके ग्राहकज्ञान को हम भ्रम नहीं कह सकते।

जैन आगमसाहित्य में ज्ञान के सम्बन्ध में यत्र-तत्र विस्तार से निरूपण किया गया है। ज्ञान के विविध भेद-प्रभेदों पर भी विस्तार से प्रकाश डाला है। आगमयुग के पश्चात् जैनदार्शनिक मनीषी भी ज्ञान के सम्बन्ध में चिन्तन करते रहे हैं। विस्तारभय से हम उस चिन्तन को यहाँ प्रस्तुत न कर यह बताना चाहेंगे कि ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है, ज्ञान एक ऐसा गुण है जिसके बिना आत्मा आत्मा नहीं रहता। निगोद अवस्था में भी, जहाँ आत्मा

---

२९२. आगमयुग का जैनदर्शन पृ. १२७-१२८, पं. दलसुखमालवणिया

के अंसख्यात प्रदेश ज्ञानावरणीय कर्म से आच्छन्न होते हैं, मूल ८ रुचक प्रदेश सदा ज्ञानावरणीय कर्म से अलिप्त रहते हैं।

भगवतीसूत्र में भी ज्ञान के सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन प्राप्त है। जिज्ञासु पाठक भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक २ का गहराई से अवलोकन करें। शतक १, उद्देशक १ में गणधर गौतम और भगवान् महावीर का एक सुन्दर संवाद है, जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि चारित्र वर्तमान भव तक सीमित रहता है परन्तु ज्ञान इस लोक, परलोक तथा तदुभयलोक में भी रह सकता है।

जैन आगमों में जहाँ ज्ञानचर्चा की गई है वहाँ प्रमाणचर्चा भी की गई है। ज्ञान को प्रामाणिकता देने के लिए सम्यक्त्व और मिथ्यात्व पर चिन्तन करते हुए यह प्रतिपादित किया कि सम्यग्दर्शी का ज्ञान ज्ञान है और वही ज्ञान मिथ्यादर्शी के लिए अज्ञान है। ज्ञान के ५ और अज्ञान के ३ भेद प्रतिपादित किए गए हैं।

आगमसाहित्य में नैयायिकदर्शन की तरह कहीं पर चार प्रमाणों का उल्लेख है तो कहीं तीन प्रमाणों का उल्लेख है।

स्थानांगसूत्र में प्रमाण शब्द के स्थान पर हेतु शब्द का प्रयोग किया है। ज्ञप्ति के साधनभूत होने से प्रत्यक्ष, अनुमान आदि को हेतु शब्द से व्यवहृत किया है।[२९३] निक्षेप दृष्टि से स्थानांग में द्रव्यप्रमाण, क्षेत्रप्रमाण, कालप्रमाण और भावप्रमाण ये चार भेद किये हैं।[२९४] स्थानांग में प्रमाण के तीन भेद भी प्राप्त होते हैं। वहाँ पर प्रमाण के स्थान पर 'व्यवसाय' शब्द का प्रयोग हुआ। व्यवसाय का अर्थ 'निश्चय' है। व्यवसाय के प्रत्यक्ष, प्रत्ययिक और आनुगामिक ये तीन प्रकार हैं।[२९५] जैन आगमसाहित्य में ही नहीं, अन्य दर्शनों में भी प्रमाण के तीन और चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं। सांख्यदर्शन में तीन प्रमाणों का निरूपण है, तो न्यायदर्शन में चार प्रमाण प्रतिपादित हैं। अनुयोगद्वारसूत्र में प्रमाण के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार के साथ चर्चा है। भारतीय दार्शनिकों में प्रमाण की संख्या के सम्बन्ध में एक मत नहीं रहा है। चार्वाकदर्शन केवल इन्द्रियप्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है। वैशेषिकदर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो को प्रमाण मानता है। सांख्यदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण माने गये हैं। न्यायदर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ये चार प्रमाण माने हैं। प्रभाकरमीमांसक ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण माने हैं। भाट्टमीमांसा-दर्शन ने प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अभाव, ये छह प्रमाण माने हैं। बौद्धदर्शन में प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण माने हैं। जैन दार्शनिक विज्ञों ने प्रमाण के तीन और भेद माने हैं। आचार्य सिद्धसेन ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण माने हैं[२९६] तो उमास्वाति[२९७] ने, वादी देवसूरि[२९८] ने और आचार्य हेमचन्द्र[२९९] ने प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण स्वीकार किये हैं। मगर यह वस्तुतः विवक्षाभेद है। इसमें मौलिक अन्तर नहीं है।

---

२९३. स्थानांग ४/३३८

२९४. स्थानांग ४/३२१

२९५. स्थानांग ३/१८५

२९६. न्यायावतार २८

२९७. तत्त्वार्थसूत्र

२९८. प्रमाणनयतत्त्वालोक २/९१

२९९. प्रमाणमीमांसा १/९,१०

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ४ में प्रमाण के प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रकार माने हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के इन्द्रियप्रत्यक्ष, नोइन्द्रियप्रत्यक्ष—ये दो भेद किये हैं। अनुमान प्रमाण के पूर्ववत्, शेषवत् और दृष्टसाधर्म्यवत्—ये तीन प्रकार प्रतिपादित किये हैं। उपमान प्रमाण के भेद-प्रभेद नहीं हैं। आगम प्रमाण के लौकिक और लोकोत्तर—ये दो भेद बताकर लौकिक में भारत, रामायण आदि ग्रन्थों का सूचन किया है तो लोकोत्तर आगम में द्वादशांगी का निरूपण किया है। इस प्रकार प्रस्तुत आगम में प्रमाण के सम्बन्ध में चिन्तन है। यह चिन्तन अनुयोगद्वारसूत्र में और अधिक विस्तार से प्रतिपादित है।

भगवतीसूत्र शतक ७, उद्देशक ४ में जीवों के विविध भेद-प्रभेदों पर चिन्तन किया गया है। जीवविज्ञान जैनदर्शन की अपनी देन है। जितना गहराई से जैनदर्शन ने जीवों के भेद-प्रभेदों पर चिन्तन किया है, उतना सूक्ष्म चिन्तन अन्य पौर्वात्य और पाश्चात्य दार्शनिक नहीं कर सके हैं। वेदों में पृथ्वी देवता, आपो देवता आदि के द्वारा यह कहा गया है कि वे एक-एक हैं, पर जैनदर्शन ने पृथ्वी आदि में अनेक जीव माने हैं, यहाँ तक कि मिट्टी के कण, जल की बूंद और अग्नि की चिनगारी में असंख्य जीव होते हैं। उनका एक शरीर दृश्य नहीं होता, अनेक शरीरों का पिण्ड ही हमें दिखलाई देता है।[300]

जीव का मुख्य गुण चेतना है। चेतना सभी जीवों में उपलब्ध है। जिसमें चेतना है वह जीव है। फिर भले ही वह सिद्ध हो या सांसारिक। चेतना सिद्ध में भी है और संसारी जीव में भी है। चेतना की दृष्टि से सिद्ध और संसारी जीव में भेद नहीं है। आगमिक दृष्टि से जीव के बोधरूप व्यापार को चेतना कहा है। वह बोधरूप व्यापार सामान्य और विशेष रूप से दो प्रकार का है। जब चेतना वस्तु के विशेष धर्मों को गौण कर सामान्य धर्म को ग्रहण करती है तब दर्शनचेतना कहलाती है और जो चेतना सामान्य धर्मों को गौण करके वस्तु के विशेष धर्मों को मुख्य रूप से ग्रहण करती है, वह ज्ञानचेतना कहलाती है। ज्ञानचेतना ही विशेष बोध-रूप व्यापार कहलाती है। एक ही चेतना कभी सामान्य रूप में तो कभी विशेषात्मक होती है।

दार्शनिकों ने चेतना के ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना—ये तीन प्रकार भी माने हैं। किसी भी वस्तु-तत्व को जानने के लिए चेतना का जो ज्ञानरूप परिणाम है, वह ज्ञानचेतना है, कषाय के उदय से क्रोध, मान, माया, लोभ रूप जो परिणाम है, वह कर्मचेतना है। शुभ और अशुभ कर्म के उदय से जो सुख और दुःखरूप परिणाम होता है, वह कर्मफलचेतना है। दार्शनिकों ने इन तीनों प्रकार की चेतनाओं को अन्य रूप से कहा है।

आगमकारों ने संसारी जीवों की दृष्टि से त्रस और स्थावर—ये दो भेद किये हैं। जिस जीव को त्रस नामकर्म का उदय है वह त्रस जीव है और जिस जीव को स्थावर नामकर्म का उदय है वह स्थावर जीव है। गति-त्रस और लब्धित्रस ये त्रस के दो प्रकार हैं। जिनमें स्वतन्त्र रूप से गमन करने की शक्तिविशेष हो, वह गतित्रस है और जो सुख-दुःख की इच्छा से गमन करते हैं, वे लब्धित्रस हैं। तेजस्काय और वायुकाय को गतित्रस तथा बेन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय को लब्धित्रस माना गया है। इस प्रकार जैन दार्शनिकों ने त्रस और स्थावर शब्दों का अर्थ दो प्रकार से किया है। एक क्रिया की दृष्टि से तो दूसरा कर्म के उदय की दृष्टि से।

---

३००. (क) दशवैकालिकसूत्र, अगस्त्यसिंहचूर्णि, पृष्ठ ७४
(ख) दशवैकालिकसूत्र, जिनदासचूर्णि, पृष्ठ १३६

कर्म के उदय की दृष्टि से तेजस्काय और वायुकाय भी स्थावर ही हैं। इस दृष्टि से स्थावर के ५ भेद प्रतिपादित है। त्रस के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय—ये चार प्रकार हैं। संसार के जितने भी जीव हैं वे त्रस और स्थावर में समाविष्ट हो जाते हैं।

गति की दृष्टि से संसारी जीवो को चार भागों में विभक्त किया गया है—नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव।

नारक गति के जीवों के परिणाम और लेश्या अशुभ और अशुभतर होती है। जब पापों का पुंज अत्यधिक मात्रा में एकत्रित हो जाता है तब जीव नरक में जाकर उत्पन्न होता है। नरक में भयंकर शीत, ताप, क्षुधा, तृषा प्रभृति वेदनाएँ होती हैं। नरकभूमियों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श आदि अशुभ होते हैं। उनके शरीर अशुचिकर और वीभत्स होते हैं। उनका शरीर वैक्रिय होता है तथापि उसमें अशुचिता की ही प्रधानता होती है। नरक के जीव मर कर पुनः नरक में पैदा नहीं होते। मनुष्य और तिर्यञ्च ही मर कर नरक में उत्पन्न होते हैं।

नारक, मनुष्य और देव को छोड़कर इस विराट् विश्व में जितने भी जीव हैं, वे सभी तिर्यञ्च हैं। तिर्यञ्च एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक होते हैं। तिर्यञ्चों में पाँच स्थावर (एकेन्द्रिय), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सभी होते हैं। पंचेन्द्रिय में जलचर-स्थलचर-खेचर-उरचर और भुजचर जीवों का समावेश है। तिर्यञ्च जीवों का विस्तार बहुत है। वे अनन्त हैं। मूल आगमों में एक-एक के विविध प्रकार प्रतिपादित हैं।

मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जीव को मनुष्यशरीर प्राप्त होता है। आत्मविकास की परिपूर्णता मानव ही कर सकता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने मानवगति की महिमा गाई है। मानवों को आर्य और अनार्य इन दो भागों में विभक्त किया गया है। जो हिंसा आदि दुष्कृत्यों से दूर रहता है वह आर्य है और इसके विपरीत व्यक्ति अनार्य है। आर्यों के भी ऋद्धिप्राप्त आर्य और अनऋद्धिप्राप्त आर्य—ये दो प्रकार हैं। ऋद्धिप्राप्त आर्यों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, विद्याधर और चारण लब्धिधारी मुनि आदि हैं। आर्यों के भी क्षेत्रआर्य, जातिआर्य, कुलआर्य, कर्मआर्य, शिल्पआर्य, भाषाआर्य, ज्ञानआर्य, दर्शनआर्य और चारित्रआर्य, ये नौ प्रकार किये गये हैं। इन भेदों का मूल आधार गुण और कर्म हैं।

अन्यान्य आधारों पर भी मनुष्यों के भेदों का निरूपण किया गया है।

भौतिक सुख और समृद्धि की अपेक्षा मानवगति से देवगति श्रेष्ठ है। देवगति में पुण्य का प्रकर्ष होता है। उसमें लेश्याएं प्रशस्त होती हैं। वैक्रिय शरीर होता है, जिसके कारण वे चाहे जैसा रूप बना लेते है। देवों के भी चार प्रकार हैं (१) भवनपति, (२) वाणव्यन्तर, (३) ज्योतिष्क और (४) वैमानिक।

भवनों में रहने वाले देव भवनपति कहलाते हैं। असुरकुमार, नागकुमार आदि भवनपति देवों के दस प्रकार हैं। इन भवनपति देवों का आवास नीचे लोक में है। विविध प्रकार के प्रदेशों में एवं शून्य प्रान्तों में रहने वालों को वाणव्यन्तर देव कहते हैं। भूत, पिशाच आदि व्यन्तर देव हैं। ये देव मध्यलोक में रहते हैं। ज्योतिष्क देवों के चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा, ये पांच भेद हैं। ये अढाई द्वीप में चर हैं और अढ़ाई द्वीप के बाहर अचर यानी स्थिर हैं। ज्योतिष्क देव मध्यलोक में ही हैं। विमानों में रहने वाले देव वैमानिक कहलाते हैं। वैमानिक देव ऊँचे लोक में रहते हैं। उनके कल्पोपपन्न और कल्पातीत, ये दो प्रकार हैं। कल्पोपपन्नों में स्वामी-सेवक भाव रहता है पर कल्पातीतों में इस प्रकार का व्यवहार नहीं होता। कल्पोपपन्नों के बारह प्रकार हैं और कल्पातीत के ग्रैवेयकवासी और अनुत्तरविमानवासी ये दो प्रकार हैं। ग्रैवेयक देवों के नौ प्रकार हैं। अनुत्तरविमानवासी विजय, वैजयन्त आदि पांच प्रकार के हैं। बारह देवलोकों में प्रथम आठ देवलोकों का आधिपत्य एक-एक इन्द्र के

हाथ में है। नवमें दसवें का एक इन्द्र है। ग्यारहवें, बारहवें का भी एक इन्द्र है। इस प्रकार बारह देवलोकों के दस इन्द्र हैं। देवगति का आयु पूर्ण कर कोई भी देव पुनः देव नहीं बनता।

आगम में देवों के द्रव्यदेव, नरदेव, धर्मदेव, देवाधिदेव और भावदेव आदि भेद किये हैं। भविष्य में देवरूप में उत्पन्न होने वाला जीव द्रव्यदेव है। चक्रवर्ती नरदेव है। साधु धर्मदेव है। तीर्थंकर देवाधिदेव हैं और देवों के चार निकाय भावदेव हैं।

आत्मा के आठ प्रकार

भगवतीसूत्र शतक बारह, उद्देशक दस में आत्मा के आठ प्रकार बताये हैं। आत्मा एक चेतनावान् पदार्थ है। चेतना उसका धर्म है और उपयोग आत्मा का लक्षण है। चेतना सदा सर्वदा एक सदृश नहीं रहती। उसमें रूपान्तरण होता रहता है। रूपान्तरण को ही जैनदर्शन में पर्याय-परिवर्तन कहा गया है। जो भी द्रव्य होता है वह बिना गुण और पर्याय के नहीं होता, गुण सर्वदा साथ होता है तो पर्याय प्रतिपल प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। आत्मा एक द्रव्य है, तथापि पर्यायभेद की दृष्टि से उसके अनेक रूप दृग्गोचर होते हैं। द्रव्य-आत्मा वह है जो चेतनामय, असंख्य अविभाज्य प्रदेशों—अवयवों का अखण्ड समूह है। इसमें केवल विशुद्ध आत्मद्रव्य की ही विवक्षा की गई हैं। पर्यायों की सत्ता होने पर भी उन्हें गौण कर दिया गया है। यह आत्मा का त्रैकालिक सत्य है, तथ्य है, जिसके कारण से आत्मद्रव्य अनात्मद्रव्य नहीं बनता। द्रव्य-आत्मा शुद्ध चेतना है। क्रोध-मान-माया-लोभ से रंजित होने पर आत्मा कषाय-आत्मा के रूप में पहचाना जाता है। आत्मा की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे योग द्वारा होती हैं। इसलिए आत्मा की भी योग-आत्मा के नाम से पहचान कराई गई है। चेतना जब व्यापृत होती है तब वह उपयोग-आत्मा है। ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक चेतना को क्रमशः ज्ञान-आत्मा और दर्शन-आत्मा कहा गया है। आत्मा की विशिष्ट संयममूलक अवस्था चरित्र-आत्मा के रूप में विश्रुत है। आत्मा की शक्ति वीर्य-आत्मा के रूप में जानी और पहचानी जाती है। आत्मा के ये जो आठ प्रकार बताये हैं वे अपेक्षा दृष्टि से बतलाये गये हैं। आत्मा का जो पर्यायान्तरण होता है, वह केवल इन आठ बिन्दुओं तक ही सीमित नहीं है। आत्मा के जितने पर्यायान्तरण हैं उतनी ही आत्मायें हो सकती हैं। इस दृष्टि से आत्मा के अनंत भेद भी हो सकते हैं। प्रस्तुत आगम में इन आठों आत्माओं के प्रकारों का अल्पबहुत्व भी दिया है।

जीव के चौदह भेद

भगवतीसूत्र शतक २५, उद्देश्यक १ में संसारी जीव के चौदह भेद बताये हैं। एकेन्द्रिय जीव के चार भेद, पञ्चेन्द्रिय जीव के चार भेद और विकलेन्द्रिय जीव के छः भेद हैं। एकेन्द्रिय जीव के सूक्ष्म और बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त ये चार प्रकार हैं। सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से निहारा नहीं जा सकता वे सूक्ष्मएकेन्द्रिय जीव हैं। ये सूक्ष्म जीव चतुर्दश रज्जुप्रमाण सम्पूर्ण लोक में परिव्याप्त हैं। लोक में ऐसा कोई भी स्थान नहीं जहाँ पर ये जीव न हों। ये जीव इतने सूक्ष्म हैं कि पर्वत की कठोर चट्टान को चीरकर भी आर-पार हो जाते हैं। किसी के मारने से नहीं मरते। विश्व की कोई भी वस्तु उनका घात-प्रतिघात नहीं कर सकती। साधारण वनस्पति के सूक्ष्म जीवों को सूक्ष्मनिगोद भी कहते हैं। साधारण वनस्पतिकाय का शरीर निगोद कहलाता है। इस विश्व में असंख्य गोलक हैं। एक एक गोलक में असंख्यात निगोद हैं और एक एक निगोद में अनन्त जीव हैं। इनका आयुष्य अन्तर्मुहूर्त होता है।

बादरनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर चर्मचक्षु से देखा जा सके, वे बादर-एकेन्द्रिय जीव हैं। बादर-एकेन्द्रिय जीव लोक के नियत क्षेत्र में ही प्राप्त होते हैं। पांच स्थावर के भेद से बादर-एकेन्द्रिय के पांच

भेद हैं। वादरवनस्पतिकाय के प्रत्येक और साधारण ये दो भेद हैं। वादर साधारण वनस्पतिकाय निगोद के नाम से भी जानी-पहचानी जाती है। इनमें भी अनन्त जीव होते हैं। इन जीवों में केवल एक इन्द्रिय होती है और वह स्पर्शन इन्द्रिय है। सामान्य रूप से पर्याप्त का अर्थ पूर्ण और अपर्याप्त का अर्थ अपूर्ण है। पर्याप्त और अपर्याप्त ये दोनों शब्द जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं। जन्म के प्रारम्भ में जीवनयापन के लिये आवश्यक पौद्गलिक शक्ति के निर्माण का नाम पर्याप्ति है। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह प्रकार की शक्तियाँ हैं। इस शक्ति-विशेष को प्राणी उस समय ग्रहण करता है जब एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर को धारण करता है। पर्याप्तियों का प्रारम्भ एक साथ होता है और पूर्णता क्रमिक रूप से। आहार पर्याप्ति की पूर्णता एक समय में हो जाती है पर शेष पर्याप्तियों के पूर्ण होने में अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है।

एकेन्द्रिय जीवों में चार पर्याप्तियां होती हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास। विकलेन्द्रिय जीवों के और असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के पांच पर्याप्तियां होतीं हैं—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और भाषा। संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के मन अधिक होने से छह पर्याप्तियां होती हैं। पहली तीन आहार, शरीर और इन्द्रिय को प्रत्येक जीव पूर्ण करता है। तीनों पर्याप्तियां पूर्ण करके ही जीव अगले भव का आयुष्य बांध सकता है। स्वयोग्य पर्याप्ति जो पूर्ण करे वह पर्याप्त है और जो पूर्ण न करे वह अपर्याप्त है।

एकेन्द्रिय जीव के स्वयोग्य पर्याप्तियाँ चार हैं। जो एकेन्द्रिय जीव चार पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेता है, वह पर्याप्त कहलाता है और जो पूर्ण नहीं करता वह अपर्याप्त है। पर्याप्त के भी लब्धिपर्याप्त और करणपर्याप्त ये दो भेद हैं। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किया है पर जो पूर्ण अवश्य करेगा वह लब्धि की दृष्टि से—लब्धिपर्याप्त है और जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण कर लिया है वह करण की अपेक्षा से करणपर्याप्त है। करण का अर्थ इन्द्रिय है। जिस जीव ने इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण कर ली है वह करणपर्याप्त है। इस तरह जो लब्धिपर्याप्त है वह करणपर्याप्त होकर ही मृत्यु को प्राप्त करता है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं किया है और न करेगा वह लब्ध्यपर्याप्तक है। जिस जीव ने स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूरा नहीं किया है पर करेगा वह करणअपर्याप्त है। यहाँ पर यह स्मरण रखना है—देव और नारक लब्ध्यपर्याप्त नहीं होते पर करण-अपर्याप्त होते हैं। मनुष्य और तिर्यञ्च जीव दोनों ही प्रकार के अपर्याप्तक होते हैं।

विकलेन्द्रियों के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय ये तीन प्रकार हैं। जिन जीवों के सम्पूर्ण इन्द्रियां नहीं होती हैं वे विकलेन्द्रिय कहलाते हैं। दो इन्द्रिय से लेकर चार इन्द्रिय तक के जीव विकलेन्द्रिय हैं।

पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं—संज्ञी और असंज्ञी। समनस्क को संज्ञी कहा है। यहाँ पर यह प्रश्न सहज ही उद्बुद्ध होता है कि समनस्क और संज्ञी इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है या भिन्न-भिन्न ? उत्तर में निवेदन है—संज्ञी और समनस्क ये दोनों शब्द एक-दूसरे के पर्यायवाची हैं। क्योंकि जो जीव संज्ञी है वह मन वाला अवश्य होगा। आगम साहित्य में संज्ञी शब्द का प्रयोग अधिक मात्रा में हुआ है तो दार्शनिक साहित्य में समनस्क शब्द का। जब दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है तो दार्शनिकों ने समनस्क शब्द का व्यवहार क्यों किया है ? हमारी दृष्टि से संज्ञा शब्द अनेक अर्थों को व्यक्त करता है। संज्ञा का सामान्य अर्थ है—चेतना या ज्ञान। चेतना और ज्ञान ये दोनों एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय जीवों में भी हैं। पर वे संज्ञी नहीं हैं। पर यहाँ पर संज्ञी से ज्ञानसंज्ञा वाले जीवों को ग्रहण नहीं किया है। अनुभवसंज्ञा के भी आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा ये चार प्रकार हैं। आहारसंज्ञा वेदनीयकर्म का उदय है और शेष तीनों संज्ञा मोहनीयकर्म के उदय का फल हैं। अनुभव-संज्ञा भी सभी संसारी जीवों में होती है।

आगम साहित्य में संज्ञा के दस प्रकार भी बताये हैं—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा, परिग्रहसंज्ञा, क्रोधसंज्ञा, मानसंज्ञा, मायासंज्ञा, लोभसंज्ञा, लोकसंज्ञा और ओघसंज्ञा। ये दस संज्ञायें एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक सभी जीवों में होती हैं। ये दस संज्ञाएं भी अनुभव रूप ही हैं। इस प्रकार ज्ञान रूप और अनुभवरूप संज्ञा के आधार पर संज्ञी नहीं कहा जा सकता।

जिस संज्ञा के आधार पर संज्ञी शब्द व्यवहृत हुआ है, वह संज्ञा तीन प्रकार की है—दीर्घकालिकी, हेतुवादिकी और दृष्टिवादिकी। जिसमें दीर्घकालिकी संज्ञा हो वह संज्ञी है। दीर्घकालिकी संज्ञा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में घटने वाली घटनाओं पर चिन्तन होता है। दीर्घकालिकी संज्ञा को संप्रधारणसंज्ञा भी कहा है। ऐसे संज्ञी को समनस्क कहा हैं। देव, नारक, गर्भज तिर्यञ्च और गर्भज मनुष्य ये सभी संज्ञी हैं। इस प्रकार संसारी जीव के चौदह प्रकार हैं।

प्रस्तुत आगम में अनेक दृष्टियों से और अनेक प्रश्नों के माध्यम से जीव और जीव के भेद-प्रभेदों के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है।

शरीर

भगवतीसूत्र शतक सोलहवें, उद्देशक पहले में तथा अन्य स्थलों पर भी शरीर के सम्बन्ध में जिज्ञासाएं प्रस्तुत की हैं। भगवान् महावीर ने शरीर के औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण ये पांच प्रकार बताये हैं। आत्मा अरूप है, अशब्द है, अगन्ध है, अरस है और अस्पर्श है। इस कारण वह अदृश्य है। पर मूर्त शरीर से बन्धने के कारण वह दृग्गोचर होता है। आत्मा जब तक संसार में रहेगा वह स्थूल या सूक्ष्म शरीर के आधार से ही रहेगा। जीव की जितनी भी प्रवृत्तियाँ हैं वे प्रायः सभी शरीर के द्वारा होती हैं। औदारिक शरीर की निष्पत्ति स्थूल पुद्गलों के द्वारा होती है। उस शरीर का छेदन-भेदन भी होता है और मोक्ष की उपलब्धि भी इसी शरीर के द्वारा होती है। वैक्रिय शरीर के द्वारा विविध रूप निर्मित किये जा सकते हैं। मृत्यु के पश्चात् इस शरीर की अवस्थिति नहीं रहती। वह कपूर की तरह उड़ जाता है। नारक और देवों में यह शरीर सहज होता है, मनुष्य और तिर्यञ्च में यह शरीर लब्धि से प्राप्त होता है। विशिष्ट योगशक्तिसम्पन्न चतुर्दशपूर्वी मुनि किसी विशिष्ट प्रयोजन से जिस शरीर की संरचना करते हैं वह आहारक शरीर है। जो शरीर दीप्ति का कारण है और जिसमें आहार आदि पचाने की क्षमता है वह तैजस शरीर है। इस शरीर के अंगोपांग नहीं होते और पूर्ववर्ती तीनों शरीरों से यह शरीर सूक्ष्म होता है। जो शरीर चारों प्रकार के शरीरों का कारण है और जिस शरीर का निर्माण ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार के कर्मपुद्गलों से होता है वह कार्मण शरीर है। तैजस और कार्मण शरीर प्रत्येक संसारी जीव के साथ रहते हैं। इन दोनों शरीरों के छूटते ही आत्मा मुक्त बन जाता है।

इन्द्रियाँ

भगवतीसूत्र शतक दो, उद्देशक चार में गणधर गौतम की जिज्ञासा पर भगवान् महावीर ने इन्द्रियों के पांच प्रकार बताये हैं। एक निश्चित विषय का ज्ञान कराने वाली आत्म-चेतना इन्द्रिय है। ज्ञान आत्मा का गुण है, वह चेतना का अभिन्न अंग है। इसलिए आत्मा और ज्ञान के बीच में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रहता। पर जो आत्मा कर्मपुद्गलों से आबद्ध है, उसका ज्ञान आवृत हो जाता है। उस ज्ञान को प्रकट करने का माध्यम इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों के भी दो प्रकार हैं—द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। इन्द्रियों का आकार विशेष द्रव्येन्द्रिय है। यह आकार संरचना पौद्गलिक है इसलिए द्रव्येन्द्रिय के भी निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय ये दो प्रकार हैं। यहाँ पर निर्वृत्ति का अर्थ आकार-रचना है। यह आकार-रचना बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार की है। बाह्य

आकार प्रत्येक जीव का पृथक्-पृथक् होता है, पर सभी का आभ्यन्तर आकार एक सदृश होता है। द्रव्येन्द्रिय का दूसरा प्रकार उपकरणद्रव्येन्द्रिय है। इन्द्रिय की आभ्यन्तर निर्वृत्ति में स्व-स्व विषय को ग्रहण करने की जो शक्ति-विशेष है, वह उपकरणद्रव्येन्द्रिय है। उपकरणद्रव्येन्द्रिय के क्षतिग्रस्त हो जाने पर निर्वृत्तिद्रव्येन्द्रिय कार्य नहीं कर पाती। भावेन्द्रिय के भी लब्धिभावेन्द्रिय और उपयोगभावेन्द्रिय ये दो प्रकार हैं। ज्ञान करने की क्षमता लब्धि-भावेन्द्रिय है। यह शक्ति ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और वीर्यान्तरायकर्म के क्षयोपशम से प्राप्त होती है। शक्ति प्राप्त होने पर भी वह शक्ति तब तक कार्यकारिणी नहीं होती जब तब उसका उपयोग न हो। अतः ज्ञान करने की शक्ति और उस शक्ति को काम में लेने के साधन उपलब्ध करने पर भी उपयोगभावेन्द्रिय के अभाव में सारी उपलब्धियाँ निरर्थक हो जाती हैं।

भाषा

भगवतीसूत्र शतक तेरह, उद्देशक सात में भाषा के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। भाषावर्गणा के पुद्गल किस प्रकार ग्रहण किये जाते हैं, आदि के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वैशेषिक और नैयायिक दर्शन की तरह जैनदर्शन शब्द को आकाश का गुण नहीं मानता, पर वह भाषावर्गणा के पुद्गलों का एक प्रकार का विशिष्ट परिणाम मानता है। जो शब्द आत्मा के प्रयास से समुत्पन्न होते हैं वे प्रयोगज हैं और बिना प्रयास के जो समुत्पन्न होते हैं वे वैश्रसिक हैं, जैसे बादल की गर्जना। भाषा रूपी है या अरूपी है? इसके उत्तर में कहा गया—भाषा रूपी है, अरूपी नहीं। गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि जीवों की भाषा होती है या अजीवों की? भगवान् ने समाधान दिया—जीव ही भाषा बोलते हैं, अजीव नहीं और जो बोली जाती है वही भाषा है। भाषा के सम्बन्ध में प्रज्ञापनासूत्र की प्रस्तावना में हमने विस्तार से लिखा है। अतः जिज्ञासु उसका अवलोकन करें।

मन और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक तेरह, उद्देशक सात में गणधर गौतम ने मन के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की हैं। आगम साहित्य में मन के लिए 'अनिन्द्रिय' और 'नोइन्द्रिय' शब्दों का प्रयोग हुआ है। मन इन्द्रिय तो नहीं है पर इन्द्रिय-सदृश है। वह भी इन्द्रियों के समान विषयों को ग्रहण करता है। मन के भी द्रव्यमन और भावमन ये दो प्रकार हैं। द्रव्यमन पुद्गल रूप होने से जड़ है तो भावमन ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम रूप होने से चेतन-स्वरूप है। भावमन सभी जीवों के होता है पर द्रव्यमन सभी के नहीं होता। प्रस्तुत आगम में द्रव्यमन के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा की गयी है कि मन आत्मा है या अन्य? भगवान् महावीर ने कहा—मन आत्मा नहीं पर पुद्गलस्वरूप है। मन पुद्गलस्वरूप है तो वह रूपी है या अरूपी है। समाधान दिया गया—मन रूपी है। पुनः जिज्ञासा प्रस्तुत की—मन जीव के होता है या अजीव के? समाधान—मन जीव के होता है अजीव के नहीं और उस मन के सत्यमन, असत्यमन, मिश्रमन और व्यवहारमन, ये चार प्रकार हैं। दिगम्बरपरम्परा के अनुसार मन का स्थान हृदय में है, उन्होंने मन का आकार आठ पंखुडी वाले कमल के सदृश माना है, पर श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है। 'यत्र पवनस्तत्र मनः' शरीर में जहाँ-जहाँ पर पवन है, वहाँ-वहाँ पर मन है। जैसे पवन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है वैसे मन भी सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।

भाव और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सत्रह, उद्देशक पहले में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! भाव के कितने प्रकार हैं? भगवान् महावीर ने समाधान दिया—भाव के पांच प्रकार हैं। भाव का अर्थ है—कर्मों के

संयोग या वियोग से होने वाली जीव की अवस्था-विशेष। संसारी जीव अपने शुद्धस्वरूप को प्राप्त नहीं है। अनादिकाल से वह कर्ममल से लिप्त है। जब तक कर्ममल नष्ट नहीं होता तब तक बन्ध, उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम प्रभृति से होने वाली नाना प्रकार की परिणतियों में वह परिणत होता रहता है। कर्मों के उदय से होने वाली आत्मा की अवस्था औदयिक भाव है। इसे अपर शब्दों में उदयनिष्पन्न भाव भी कह सकते हैं। यह आठों कर्मों का होता है। जब मोहकर्म का उपशम होता है तब आत्मा की जो अवस्था होती है वह औपशमिक भाव है। उदय आठों कर्मों का होता है पर उपशम केवल मोहनीयकर्म का ही होता है। उपशम काल में मोह पूर्ण रूप से प्रभावहीन हो जाता है, पर उपशम स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्तमात्र की है। अतः जीव को पुनः पुनः प्रयत्न करना पड़ता है। कर्मों के क्षय से होने वाली आत्मा की अवस्था क्षायिक या क्षयनिष्पन्न भाव है। कर्मों का क्षय हो जाने से पुनः किसी कर्म का बन्ध नहीं होता। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाति कर्मों के हलकेपन से आत्मा की जो अवस्था होती है वह क्षायोपशमिक या क्षयोपशमनिष्पन्न भाव कहलाता है। जितना आत्मा पुरुषार्थ करता है उतना ही वह कर्म के भार से हलकापन अनुभव करता है। यह हलकापन ही क्षायोपशमिक भाव है। उपशम और क्षयोपशम भाव में विपाक रूप में उदयाभाव की स्थिति एक सदृश होती है। औपशमिक भाव में प्रदेशरूप में उदय नहीं होता, पर क्षायोपशमिक भाव में प्रतिपल प्रतिक्षण कर्म का उदय, वेदन और क्षय होता रहता है। इस कर्मक्षय के साथ ही भविष्यकाल में उदयप्राप्त कर्मों का उपशमन होता है। इसलिए यह भाव क्षयोपशमनिष्पन्न भाव कहलाता है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम के बिना स्वभावतः जीव में जो परिणतियाँ होती हैं, वह पारिणामिक भाव है। इस प्रकार भाव के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाएँ गणधर गौतम के द्वारा प्रस्तुत की गईं और भगवान् ने उन जिज्ञासाओं का समाधान दिया।

योग और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सोलह, उद्देशक तीन में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—योग कितने प्रकार का है? भगवान् ने योग के तीन प्रकार बतलाये—मन, वचन और काय। योग शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है, पर वर्तमान में मुख्य रूप से योग शब्द दो अर्थ में व्यवहृत है—मिलन और समाधि। आज साधना-पद्धति और आसन आदि के अर्थ में उसका अधिक प्रचार है।* पर जैनपरिभाषा में योग का अर्थ मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति है। योग एक प्रकार का स्पन्दन है जो आत्मा और पुद्गलवर्गणा के संयोग से होता है। वीर्यान्तरायकर्म के क्षय या क्षयोपशम व नामकर्म के उदय से मन, वचन और काय वर्गणा के संयोग से जो आत्मा की प्रवृत्ति होती है वह योग है। इन तीन योगों में काययोग संसार के प्रत्येक प्राणी में होता है। स्थावरों में केवल काययोग होता है। विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में काययोग और वचनयोग होते हैं। संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्चों में तीनों योग होते हैं। भगवतीसूत्र शतक पच्चीस, उद्देशक पहले में इन तीनों योगों के विस्तार से पन्द्रह प्रकार भी बताये हैं।

कषाय

भगवतीसूत्र शतक अठारह, उद्देशक चार में भगवान् ने कषाय के क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार प्रकार बताये हैं। कषाय शब्द भी जैनधर्म का पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कष् और आय इन दो शब्दों के मेल से बना है। कष् का अर्थ संसार, कर्म और जन्म-मरण है। जिसके द्वारा प्राणी कर्मों से बांधा जाता है या जिससे जीव जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है। कषाय ऐसी मनोवृत्तियाँ हैं जो कलुषित हैं, इसी कारण कषाय को संसार का मूल कहा है।

उपयोग और उसके प्रकार

भगवतीसूत्र शतक सोलह, उद्देशक सात में उपयोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की गई है। भगवान् ने उपयोग के साकार और निराकार ये दो भेद किये और साकार उपयोग में ज्ञान और निराकार उपयोग में दर्शन को लिया है। साकार उपयोग के आठ प्रकार और निराकार उपयोग यानी दर्शन के चार प्रकार बताये हैं। ज्ञान और दर्शन-रूप चेतना का जो व्यापार यानी प्रवृत्ति है, वह उपयोग है। उपयोग को जीव का लक्षण माना है। इसलिए प्रत्येक प्राणी में उपयोग है, पर अविकसित प्राणियों का उपयोग अव्यक्त होता है और विकसित प्राणियों का व्यक्त होता है। उपयोग की प्रबलता का कारण है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय कर्म का क्षय और क्षयोपशम। जितना अधिक क्षयोपशम होगा उतना ही अधिक उपयोग निर्मल होगा। ज्ञानोपयोग में ज्ञेय पदार्थ की भिन्न-भिन्न आकृतियों की प्रतीति होती है तो दर्शनोपयोग में एकाकार प्रतीति होती है। उसमें ज्ञेय पदार्थ के अस्तित्व का ही बोध होता है। इसलिए उसमें आकार नहीं बनता। ज्ञान के जो पांच और अज्ञान के जो तीन प्रकार बताये हैं, उसका कारण सम्यक्त्व और मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के कारण ज्ञान भी अज्ञान में बदल जाता है। मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान विशिष्ट साधकों को ही होते हैं इसलिए वे ज्ञान ही हैं, अज्ञान नहीं। यहां यह भी जिज्ञासा हो सकती है—ज्ञान के पांच और दर्शन के चार ही भेद क्यों बताये ? मन:पर्यव को दर्शन क्यों नहीं कहा ? उत्तर है—मनःपर्यवज्ञान में मन की विविध आकृतियों को जीव ज्ञान से पकड़ता है, इसलिए वह ज्ञान है। दर्शन का विषय निराकार है। इसलिए मन:पर्यव दर्शन नहीं है।

लेश्या : एक चिन्तन

भगवतीसूत्र शतक एक, उद्देशक दो में गणधर गौतम ने लेश्या के सम्बन्ध में भगवान् महावीर से पूछा—भगवन् ! लेश्या के कितने प्रकार हैं ? भगवान् महावीर ने लेश्या के छः प्रकार बताये। वे हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजो, पद्म और शुक्ल। इन छः लेश्याओं में तीन प्रशस्त और तीन अप्रशस्त हैं। लेश्या शब्द भी जैन-धर्म का एक पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—जो आत्मा को कर्मों से लिप्त करती है, जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होती है या बन्धन में आती है, वह लेश्या है। लेश्या के भी दो प्रकार हैं—द्रव्यलेश्या और भाव-लेश्या। द्रव्यलेश्या सूक्ष्म भौतिकी तत्त्वों से निर्मित वह आंगिक संरचना है जो हमारे मनोभावों और तज्जनित कर्मों का सापेक्षरूप में कारण या कार्य बनती है। उत्तराध्ययन की टीका के अनुसार लेश्याद्रव्य कर्मवर्गणा से निर्मित हैं। आचार्य वादीवैताल शान्तिसूरि के अभिमतानुसार लेश्याद्रव्य बध्यमान कर्मप्रभारूप है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार लेश्या योगपरिणाम है, जो शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं का परिणाम है।[३०१]

भावलेश्या आत्मा का अध्यवसाय या अन्तःकरण की वृत्ति है। पं. सुखलालजी संघवी के शब्दों में कहा जाय तो भावलेश्या आत्मा का मनोभाव-विशेष है जो संक्लेश और योग से अनुगत है। संक्लेश के तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम प्रभृति अनेक भेद होने से लेश्या के भी अनेक प्रकार हैं। मनोभाव या संकल्प आन्तरिक तथ्य ही नहीं अपितु वे क्रियाओं के रूप में बाह्य अभिव्यक्ति भी चाहते हैं। संकल्प ही कर्म में रूपान्तरित होता है। अत: जैनमनीषियों ने जब लेश्यापरिणाम की चर्चा की तो वे केवल मनोदशाओं के चित्रण तक ही आबद्ध नहीं रहे अपितु उन्होंने उस मनोदशा से समुत्पन्न जीवन के कर्मक्षेत्र में होने वाले व्यवहारों की भी चर्चा की है। इस तरह लेश्या का षट्विध वर्गीकरण किया गया है और उनके द्वारा जो विचारप्रवाह प्रवाहित होता है उस सम्बन्ध में भी आगमकारों ने प्रकाश डाला है। किन जीवों में कितनी

---

३०१. (क) दर्शन और चिन्तन, भाग २, पृष्ठ २९७

(ख) अभिधानराजेन्द्र कोष, खण्ड ६, पृष्ठ ६७५

लेश्याएँ होती हैं, इस पर भी चिन्तन किया है। यह वर्णन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विस्तारभय से हम इस पर तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से विचार नहीं कर पा रहे हैं।

शतक एक, उद्देशक चार में गणधर गौतम ने मोक्ष के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की कि मोक्ष कौन प्राप्त करता है ? भगवान् ने कहा—जो चरमशरीरी है, जिसने केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त किया है वही आत्मा सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होता है। मोक्ष आत्मा की शुद्ध स्वरूपावस्था है। कर्ममल के अभाव में कर्मबन्धन भी नहीं रहता और बन्धन का अभाव ही मुक्ति है। साधक का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

इस प्रकार जीव के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टियों से चिन्तन किया गया है। यह चिन्तन इतना व्यापक है कि उस सम्पूर्ण चिन्तन को यहाँ पर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। अतः मैं जिज्ञासु पाठकों को यह नम्र निवेदन करना चाहूंगा कि वे मूल आगम का पारायण करें, जिससे जैनदर्शन के जीवविज्ञान का सम्यक्परिज्ञान हो सकेगा।

कर्म : एक चिन्तन

जिस प्रकार जीवविज्ञान के सम्बन्ध में विस्तृत चिन्तन है उसी तरह कर्मविज्ञान के सम्बन्ध में भी विविध जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की गई हैं। आचार्य देवचन्द्र ने कर्म की परिभाषा करते हुए लिखा है—जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है। पं सुखलालजी ने लिखा है—मिथ्यात्व, कषाय प्रभृति कारणों से जीव के द्वारा जो किया जाता है, वह कर्म है। कर्म के भी द्रव्य और भाव ये दो प्रकार हैं। आत्मा के मानसिक विचार भावकर्म हैं और वे मनोभाव जिस निमित्त से होते हैं या जो उनका प्रेरक है वह द्रव्यकर्म है। आचार्य नेमिचन्द्र के शब्दों में कहा जाय तो पुद्गलपिण्ड द्रव्यकर्म हैं और चेतना को प्रभावित करने वाले भावकर्म हैं। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को आवरण और भावकर्म को दोष के नाम से सूचित किया है। क्योंकि द्रव्यकर्म आत्मशक्तियों के प्रकट होने में बाधक है। इसलिए उसे आवरण कहा और भावकर्म स्वयं आत्मा की विभाव अवस्था है, अतः दोष है। भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों का परस्पर में बीजांकुर की तरह कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। जैनदृष्टि से द्रव्यकर्म पौद्गलिक होने से मूर्त्त हैं। कारण से कार्य का अनुमान होता है, वैसे ही कार्य से भी कारण का अनुमान होता है। इस दृष्टि से शरीर प्रभृति कार्य मूर्त्त हैं तो उनका कारण कर्म भी मूर्त्त होना चाहिए। कर्म की मूर्त्तता को सिद्ध करने के लिए मनीषियों ने कुछ तर्क इस प्रकार दिए हैं—कर्म मूर्त्त हैं क्योंकि उनसे सुख-दुःख आदि का अनुभव होता है, जैसे आहार से। कर्म मूर्त्त हैं क्योंकि उनसे वेदना होती है, जिस प्रकार अग्नि से। यदि कर्म अमूर्त्त होते तो उनके कारण सुख-दुःख आदि की वेदना नहीं हो सकती थी।

जिज्ञासा हो सकती है कि यदि कर्म मूर्त्त हैं तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर कर्म का प्रभाव किस प्रकार गिरता है ? वायु और अग्नि मूर्त्त हैं तो उनका अमूर्त्त आकाश पर प्रभाव नहीं होता। वैसे ही अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्तकर्म का प्रभाव नहीं होना चाहिए। उत्तर में निवेदन है कि ज्ञान गुण अमूर्त्त है, उस अमूर्त्त गुण पर मदिरा आदि मूर्त्त वस्तुओं का असर होता है। वैसे ही अमूर्त्त जीव पर मूर्त्त कर्म का प्रभाव पड़ता है। इसके अतिरिक्त अनादिकालिक कर्मसंयोग के कारण आत्मा कथंचित् मूर्त्त है। अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध रहा हुआ होने से स्वरूप से अमूर्त्त होने पर भी कथंचित् वह मूर्त्त है। इस दृष्टि से मूर्त्तकर्म का आत्मा पर प्रभाव पड़ता है। जब तक आत्मा कार्मण शरीर से मुक्त नहीं होता तब तक कर्म अपना प्रभाव दिखाते ही हैं। जैन मनीषियों ने आत्मा और कर्म का सम्बन्ध 'नीर-क्षीरवत्' या 'अग्नि-लोहपिण्डवत्' माना है। यहाँ पर यह भी प्रश्न समुत्पन्न हो सकता है—कर्म जड़ हैं। वे चेतन को प्रभावित करते हैं तो फिर मुक्तावस्था में भी

वे आत्मा को प्रभावित करेंगे। फिर मुक्ति का अर्थ क्या रहा ? यदि वे एक-दूसरे को प्रभावित नहीं करते हैं तो फिर बन्ध की प्रक्रिया कैसे होगी? इस प्रश्न का उत्तर 'समयसार' ग्रन्थ में[302] आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार दिया है—सोना कीचड़ में रहता है तो भी उस पर जंग नहीं लगता, जब कि लोहे पर जंग आ जाता है। शुद्धात्मा कर्मपरमाणुओं के बीच में रह कर भी वह विकारी नहीं बनता। कर्मपरमाणु उसी आत्मा को प्रभावित करते हैं, जो पूर्व रागद्वेष से ग्रसित है।

जब रागादि भावकर्म होते हैं तभी द्रव्यकर्मों को आत्मा ग्रहण करता है। भावकर्म के कारण ही द्रव्य-कर्म का आस्रव होता है और वही द्रव्यकर्म समय आने पर भावकर्म का कारण बन जाता है। इस प्रकार का कर्मप्रवाह सतत चलता रहता है। कर्म और आत्मा का सम्बन्ध कबसे हुआ ? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए पूर्वाचार्यों ने कहा है कि एक कर्म-विशेष की अपेक्षा कर्म सादि है और कर्मप्रवाह की दृष्टि से वह अनादि है। यह नहीं कि आत्मा पहले कर्ममुक्त था, बाद में कर्म से आबद्ध हुआ। कर्म अनादि हैं, अनादि काल से चले आ रहे हैं और जब तक रागद्वेषरूपी कर्मबीज जल नहीं जाता है तब तक कर्मप्रवाह-परम्परा भी समाप्त नहीं होती।

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक २ में गणधर गौतम ने यह जिज्ञासा प्रस्तुत की कि प्राणी स्वकृत सुख और दुःख को भोगता है या परकृत सुख और दुःख को भोगता है ? भगवान् महावीर ने यह स्पष्ट किया कि प्राणी स्वकृत सुख-दुःख को भोगता है, परकृत सुख-दुःख को नहीं।

भगवतीसूत्र शतक ६, उद्देशक ९ में और शतक ८, उद्देशक १० में कर्म की आठ प्रकृतियाँ बताई हैं और उनके अल्प-बहुत्व पर भी चिन्तन किया है और शतक ६, उद्देशक ३ में आठों कर्मों की स्थिति पर भी प्रकाश डाला है। शतक ६, उद्देशक ३ में कर्म कौन बांधता है ? इसके उत्तर में कहा है कि तीनों वेद वाले कर्म बांधते हैं। असंयत, संयत, संयतासंयत, सभी कर्म बांधते हैं किन्तु नोसंयत-नोअसंयत-नोसंयतासंयत यानी सिद्ध कर्म नहीं बांधते हैं। इसी प्रकार संज्ञी, भवसिद्धिक, चक्षुदर्शनी, पर्याप्त और अपर्याप्त, परीत, अपरीत मनयोगी, वचनयोगी, काययोगी, आहारक, अनाहारक कौन कर्म बांधते हैं, इस पर भी गहराई से चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। शतक १८, उद्देशक ३ मे माकन्दीपुत्र ने भगवान् से पूछा—एक जीव ने पापकर्म किया है या अब करेगा, इन दोनों में क्या अन्तर है ? भगवान् ने बाण के रूपक द्वारा इस प्रश्न का समाधान दिया। शतक १, उद्देशक ३ में गणधर गौतम ने पूछा—जीव कांक्षामोहनीय कर्म किस प्रकार बांधता है ? इस प्रश्न के समाधान में भगवान् ने बांधने की सारी प्रक्रिया प्रस्तुत की।

इस तरह विविध प्रश्न कर्म के सम्बन्ध में विभिन्न जिज्ञासुओं ने भगवान् महावीर के सामने रखे और भगवान् ने उन प्रश्नो का सटीक समाधान प्रस्तुत किया। वस्तुतः जैनदर्शन का कर्मसिद्धान्त बहुत ही अनूठा और अद्भुत है। आगमसाहित्य में आये हुए कर्मसिद्धान्त के बीजसूत्रों को परवर्ती आचार्यप्रवरों ने इतना अधिक विस्तृत किया कि आज लगभग एक लाख श्लोकप्रमाण श्वेताम्बर कर्मसाहित्य है, तो दो लाख श्लोक-प्रमाण दिगम्बर मनीषियों द्वारा लिखा हुआ कर्मसाहित्य है।

पुद्गल : एक चिन्तन

पुद्गल जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द रहा है जिसे आधुनिक विज्ञान ने मैटर (Matter) और न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने भौतिक तत्त्व कहा है, उसे ही जैन दार्शनिकों ने पुद्गल कहा है। बौद्धदर्शन में पुद्गल

---

३०२. समयसार २१८, २१९

शब्द का व्यवहार 'आलय-विज्ञान' या 'चेतना-संतति' रहा है। पर जैनदर्शन में पुद्गल शब्द मूर्त्तद्रव्य के अर्थ में है। केवल भगवतीसूत्र शतक ८, उद्देशक १० में अभेदोपचार से पुद्गलयुक्त आत्मा को भी पुद्गल कहा है। पर शेष सभी स्थलों पर पुद्गल को पूरणगलनधर्मी कहा है। 'तत्त्वार्थराजवार्तिक,[303] सिद्धसेनीया 'तत्त्वार्थवृत्ति',[304] धवला[305] और हरिवंशपुराण,[306] आदि अनेक ग्रन्थों में गलन-मिलन स्वभाव वाले पदार्थ को पुद्गल कहा है। पुद्गल वह है जिसका स्पर्श किया जा सके, जिसका स्वाद लिया जा सके, जिसकी गन्ध ली जा सके और जिसे निहारा जा सके। पुद्गल में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण ये चारों अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। यह बात भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० में स्पष्ट की गई है। भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १० में पुद्गल के चार प्रकार बताये हैं। (१) स्कन्ध, (२) देश, (३) प्रदेश और (४) परमाणु[307]। दो से लेकर अनन्त परमाणुओं का एकीभाव स्कन्ध है। कम से कम दो परमाणु पुद्गल के मिलने से द्विप्रदेशी स्कन्ध बनता है। द्विप्रदेशी स्कन्ध का जब भेद होता है तो वे दोनों परमाणु बन जाते हैं। तीन परमाणुओं के मिलने से त्रिप्रदेशी स्कन्ध बनता है और उनके पृथक् होने पर दो विकल्प हो सकते हैं—एक तीन . . . परमाणु या एक परमाणु और एक द्विप्रदेशी स्कन्ध। इसी प्रकार अनन्त परमाणुओं के स्वाभाविक मिलन से एक लोकव्यापी महास्कन्ध भी बन जाता है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है[308] स्कन्ध का निर्माण तीन प्रकार से होता है—भेदपूर्वक, संघातपूर्वक, भेद और संघातपूर्वक। स्कन्ध एक इकाई है। उस इकाई का बुद्धिकल्पित एक विभाग स्कन्धदेश कहलाता है। हम जिसे देश कहते हैं वह स्कन्ध से पृथक् नहीं है। यदि पृथक् हो जाय तो वह स्वतन्त्र स्कन्ध बन जायेगा। स्कन्धप्रदेश स्कन्ध से अपृथक्भूत अविभाज्य अंश है। अर्थात् परमाणु जब तक स्कन्धगत है तब तक वह स्कन्धप्रदेश कहलाता है। वह अविभागी अंश सूक्ष्मतम है, जिसका पुनः अंश नहीं बनता। जब तक वह स्कन्धगत है वह प्रदेश है और अपनी पृथक् अवस्था में वह परमाणु है। भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ७ में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि परमाणुपुद्गल अविभाज्य है, अछेद्य है, अभेद्य है, अदाह्य है और अग्राह्य है। वह तलवार की तीक्ष्ण धार पर भी रह सकता है। तलवार उसका छेदन-भेदन नहीं कर सकती और न जाज्वल्यमान अग्नि उसको जला सकती है। प्रदेश और परमाणु में केवल स्कन्ध से अपृथक्भाव और पृथक्भाव का अन्तर है। अनुसंधान से यह निश्चित हो चुका है कि परमाणुवाद की चर्चा सर्वप्रथम भारत में हुई और उसका श्रेय जैन मनीषियों को है।[309]

भगवतीसूत्र शतक आठ, उद्देशक पहले में जीव और पुद्गल की पारस्परिक परिणति को लेकर पुद्गल के तीन भेद किये हैं—१. प्रयोगपरिणत—जो पुद्गल जीव द्वारा ग्रहण किये गए हैं वे प्रयोगपरिणत हैं, जैसे—इन्द्रियाँ, शरीर आदि के पुद्गल। २.—मिश्रपरिणत—ऐसे पुद्गल जो जीव द्वारा मुक्त होकर पुनः परिणत हो

---

३०३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ५ । १ । १ । २४

३०४. (क) तत्त्वार्थवृत्ति ५ । १

(ख) न्यायकोष पृष्ठ ५२०

३०५. छव्विहसंठाणं बहुविहि देहेहि पूरदित्ति गलदित्ति पोग्गला।

३०६. हरिवंशपुराण ७ । ३६

३०७. (क) भगवती. २ । १० (ख) उत्तराध्ययन ३६ । १०

३०८. तत्त्वार्थसूत्र ५ । २६

३०९. देखिए—जैनदर्शन : स्वरूप और विश्लेषण में पुद्गल का लेख —देवेन्द्रमुनि

चुके हैं, जैसे—मल-मूत्र, श्लेष्म-केश आदि। ३. विस्रसापरिणत—ऐसे पुद्गल जिनके परिणमन में जीव की सहायता नहीं होती। वे स्वयं ही परिणत होते हैं, जैसे—बादल, इन्द्रधनुष आदि।

शतक १४, उद्देशक ४ में यह बताया है कि पुद्गल शाश्वत भी है और अशाश्वत भी हैं। वे द्रव्यरूप से शाश्वत और पर्यायरूप से अशाश्वत हैं। परमाणु संघात (स्कंध) रूप मे परिणत होकर पुनः परमाणु हो जाता है। इस कारण से वह द्रव्य की दृष्टि से चरम नहीं है किन्तु क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से वह चरम भी है और अचरम भी है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ८ में बताया है कि परमाणु, परमाणु के रूप में कम से कम रहे तो एक समय और अधिक से अधिक समय तक रहे तो असंख्यात काल तक रहता है। इसी प्रकार स्कन्ध, स्कन्ध के रूप में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल तक रहता हैं। इसके बाद अनिवार्य रूप से उसमें परिवर्तन होता है। एक परमाणु स्कन्धरूप में परिणत होकर पुनः परमाणु हो जाय तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक असंख्यात काल लग सकता है। द्व्यणुक-आदि व त्र्यणुक-आदि स्कन्धरूप में परिणत होने के बाद व परमाणु पुनः परमाणु रूप में आये तो कम से कम एक समय और अधिक से अधिक अनन्त काल लग सकता है। एक परमाणु या स्कन्ध किसी आकाशप्रदेश में अवस्थित है। वह किसी कारण-विशेष से वहाँ से चल देता है और पुनः उसी आकाशप्रदेश में कम से कम एक समय में और अधिक से अधिक अनन्तकाल के पश्चात् आता है।

परमाणु द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से अप्रदेशी है। काल की दृष्टि से एक समय की स्थिति वाला परमाणु अप्रदेशी है और उससे अधिक समय की स्थिति वाला सप्रदेशी है। भाव की दृष्टि से एक गुण वाला अप्रदेशी है और अधिक गुण वाला सप्रदेशी है। इस प्रकार अप्रदेशित्व और सप्रदेशित्व के सम्बन्ध में भी वहाँ विस्तार से चर्चा है।

पुद्गल जड़ होने पर भी गतिशील है। भगवतीसूत्र शतक १६, उद्देशक ८ में कहा है—पुद्गल का गति-परिणाम स्वाभाविक धर्म है। धर्मास्तिकाय उसका प्रेरक नहीं पर सहायक है। प्रश्न है—परमाणु में गति स्वतः होती है या जीव के द्वारा प्रेरणा देने पर होती है? उत्तर है—परमाणु में जीवनिमित्तक कोई भी क्रिया या गति नहीं होती, क्योंकि परमाणु जीव के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता और पुद्गण को ग्रहण किये बिना पुद्गल में परिणमन कराने की जीव में सामर्थ्य नहीं है।

भगवतीसूत्र शतक ५, उद्देशक ७ में कहा गया है—परमाणु सकम्प भी होता है और अकम्प भी होता है। कदाचित् वह चंचल भी होता है, नहीं भी होता। उसमें निरन्तर कम्पनभाव रहता ही हो यह बात भी नहीं है और निरन्तर अकम्पनभाव रहता हो यह बात भी नहीं है। द्व्यणुक स्कन्ध में कदाचित् कम्पन और कदाचित् अकम्पन दोनो होते है। उनके द्व्यंश होने से उनमें देशकम्पन और देशअकम्पन दोनों प्रकार की स्थिति होती है। त्रिप्रदेशी स्कन्ध में भी द्विप्रदेशी स्कन्ध के सदृश कम्प और अकम्प की स्थिति होती है। केवल देशकम्प में एकवचन और द्विवचन सम्बन्धी विकल्पों में अन्तर होता है। जैसे एक देश में कम्प होता है, देश में कम्प नहीं होता। देश में कम्प होता है, देशों में कम्प नहीं होता। देशों में कम्प होता है देश में कम्प नहीं होता। इस प्रकार चतुःप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक समझना चाहिए।

भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १ में पुद्गल परमाणु की मुख्य आठ वर्गणाएँ मानी हैं—

(१) औदारिकवर्गणा :—स्थूल पुद्गलमय है। इस वर्गणा से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों के शरीर का निर्माण होता है।

(२) वैक्रियवर्गणाः—लघु, विराट्, हल्का, भारी, दृश्य; अदृश्य विभिन्न क्रियाएँ करने में सशक्त शरीर के योग्य पुद्गलों का समूह।

(३) आहारकवर्गणाः—योगशक्तिजन्य शरीर के योग्य पुद्गलसमूह।

(४) तैजसवर्गणाः—तैजस शरीर के योग्य पुद्गलों का समूह।

(५) कार्मणवर्गणाः—ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के रूप में परिणत होने वाले पुद्गलों का समूह, जिनसे कार्मण नामक सूक्ष्म शरीर बनता है।

(६) श्वासोच्छ्वासवर्गणाः—आन-प्राण के योग्य पुद्गलों का समूह।

(७) वचनवर्गणाः—भाषा के योग्य पुद्गलों का समूह।

(८) मनोवर्गणाः—चिन्तन में सहायक होने वाला पुद्गल-समूह।

यहाँ पर वर्गणा से तात्पर्य है एक जाति के पुद्गलों का समूह। पुद्गलों में इस प्रकार की अनन्त जातियाँ हैं, पर यहाँ पर प्रमुख रूप से आठ जातियों का ही निर्देश किया है। इन वर्गणाओं के अवयव क्रमशः सूक्ष्म और अतिप्रचय वाले होते हैं। एक पौद्गलिक पदार्थ अन्य पौद्गलिक पदार्थ के रूप में परिवर्तित हो जाता है। औदारिक, वैक्रिय, आहारक और तैजस ये चार वर्गणाएँ अष्टस्पर्शी हैं। वे हल्की, भारी, मृदु और कठोर भी होती हैं। कार्मण, भाषा और मन ये तीन वर्गणाएँ चतुःस्पर्शी हैं। सूक्ष्मस्कन्ध हैं। इनमें शीत-उष्ण, स्निग्ध-रूक्ष ये चार स्पर्श होते हैं। श्वासोच्छ्वासवर्गणा चतुःस्पर्शी और अष्टस्पर्शी दोनों प्रकार की होती है।

भगवतीसूत्र शतक १८, उद्देशक १० में गणधर गौतम ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि परमाणु पुद्गल एक समय में लोक के पूर्व भाग से पश्चिम भाग में या पश्चिम के अन्त भाग से पूर्व के अन्त भाग में, दक्षिण के अन्त से उत्तर के अन्त भाग में, उत्तर से दक्षिण के अन्त भाग में या नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे जाने में समर्थ है? भगवान् ने कहा—हाँ गौतम! समर्थ है और वह सारे लोक को एक समय में लांघ सकता है। इससे यह स्पष्ट है कि परमाणु पुद्गल में कितना सामर्थ्य रहा हुआ है।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में अनेक प्रश्न पुद्गल के संबंध में आये हैं। जिस प्रकार पुद्गलास्तिकाय के सम्बन्ध में जिज्ञासाएँ हैं, वैसे ही अन्य अस्तिकायों के सम्बन्ध में यत्र-तत्र जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की गई हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य प्रभृति दर्शनों ने जीव, आकाश और पुद्गल ये तत्त्व माने हैं। उन्होंने पुद्गलास्तिकाय के स्थान पर प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों का उपयोग किया है। सभी द्रव्यों का स्थान आकाश है किन्तु जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य ही गति और स्थितिशील हैं। धर्म और अधर्म ये दोनों द्रव्य सम्पूर्ण आकाश में नहीं हैं, पर आकाश के कुछ ही भाग में हैं। वे जितने भाग में हैं उस भाग को लोकाकाश कहा है। लोकाकाश के चारों ओर अनन्त आकाश है। वह आकाश अलोकाकाश के नाम से विश्रुत है। भगवतीसूत्र में विविध प्रश्नों के द्वारा इस विषय पर बहुत ही गहराई से चिन्तन किया गया है। जहाँ पर धर्म-अधर्म, जीव-पुद्गल आदि की अवस्थिति होती है, वह लोक कहलाता है। लोक और अलोक की चर्चा भी भगवती में विस्तार से आई है। लोक और अलोक दोनों शाश्वत हैं। लोक के द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक आदि भेद भगवतीसूत्र शतक २, उद्देशक १ में किये गये हैं। भगवती. शतक १२ उद्देशक ७ में लोक कितना विराट् है, इस पर प्रकाश डाला है।

भगवती शतक ७, उद्देशक १ में लोक के आकार पर भी चिन्तन किया गया है। शतक १३, उद्देशक ४ में लोक के मध्य भाग के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। शतक ११, उद्देशक १० में अधोलोक, तिर्यक्लोक, ऊर्ध्वलोक का विस्तार से निरूपण है। शतक ५, उद्देशक २ में लवणसमुद्र आदि के आकार पर विचार किया गया है। इस प्रकार लोक के सम्बन्ध में भी अनेक जिज्ञासाएं और समाधान हैं। अन्य दर्शनों के साथ लोक के स्वरूप पर और वर्णन पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन किया जा सकता है, पर विस्तारभय से हम यहाँ उस सम्बन्ध में जिज्ञासु पाठकों को लेखक का 'जैनदर्शन, स्वरूप और विश्लेषण' देखने की प्रेरणा देते हैं।

समवसरण

भगवान् महावीर के युग में अनेक मत प्रचलित थे। अनेक दार्शनिक अपने-अपने चिन्तन का प्रचार कर रहे थे। आगम की भाषा में मत या दर्शन को समवसरण कहा है। जो समवसरण उस युग में प्रचलित थे, उन सभी को चार भागों में विभक्त किया है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी।

(१) क्रियावादी की विभिन्न परिभाषाएं मिलती हैं। प्रथम परिभाषा है कर्त्ता के बिना क्रिया नहीं होती। इसलिए क्रिया का कर्त्ता आत्मा है। आत्मा के अस्तित्व को जो स्वीकार करता है वह क्रियावादी है। दूसरी परिभाषा है—क्रिया ही प्रधान है, ज्ञान का उतना मूल्य नहीं, इस प्रकार की विचारधारा वाले क्रियावादी हैं। तृतीय परिभाषा है—जीव-अजीव, आदि पदार्थों का जो अस्तित्व मानते हैं वे क्रियावादी हैं। क्रियावादियों के एक सौ अस्सी प्रकार बताये हैं।

(२) अक्रियावादी का यह मन्तव्य था कि चित्तशुद्धि की ही आवश्यकता है। इस प्रकार की विचारधारा वाले अक्रियावादी हैं अथवा जीव आदि पदार्थों को जो नहीं मानते हैं वे अक्रियावादी हैं। अक्रियावादी के चौरासी प्रकार हैं।

(३) अज्ञानवादी—अज्ञान ही श्रेय रूप है। ज्ञान से तीव्र कर्म का बन्धन होता है। अज्ञानी व्यक्ति को कर्मबन्धन नहीं होता। इस प्रकार की विचारधारा वाले अज्ञानवादी हैं। उनके सड़सठ प्रकार हैं।

(४) विनयवादी—स्वर्ग, मोक्ष आदि विनय से ही प्राप्त हो सकते हैं। जिनका निश्चित कोई भी आचारशास्त्र नहीं, सभी को नमस्कार करना ही जिनका लक्ष्य रहा है वे विनयवादी हैं। विनयवादी के ३२ प्रकार हैं।

ये चारों समवसरण मिथ्यावादियों के ही बताये गये हैं। तथापि जीव आदि तत्त्वों को स्वीकार करने के कारण क्रियावादी सम्यग्दृष्टि भी हैं। शतक ३०, उद्देशक १ में इन चारों समवसरणों पर विस्तार से विवेचन किया है।

भगवती शतक ४, उद्देशक ५ में जम्बूद्वीप के अवसर्पिणीकाल में जो सात कुलकर हुए हैं, उनके नाम विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशोमान, अभिचन्द्र, प्रसेनजित, मरुदेव और नाभि। कुलकरों के सम्बन्ध में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति की प्रस्तावना में हम विस्तार से लिख चुके हैं।

कालास्यवेशी

भगवतीसूत्र शतक १, उद्देशक ९ में भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के कालास्यवेशी अनगार ने भगवान् महावीर के स्थविरों से पूछा—सामायिक क्या है? प्रत्याख्यान क्या है? संयम क्या है? संवर क्या है? विवेक क्या है? व्युत्सर्ग क्या है? क्या आप इनको जानते हैं? इनके अर्थ को जानते हैं? स्थविरों ने एक ही शब्द में उत्तर दिया—आत्मा ही सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम आदि है और आत्मा ही उसका अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि जैनदर्शन की जो साधना है वह सब साधना आत्मा के लिए ही है।

पुनः कालास्यवेशी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की—आत्मा सामायिक आदि है तो फिर आप क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की निन्दा, गर्हा क्यों करते हैं ? क्योंकि निन्दा तो असंयम है। स्थविरों ने कहा—आत्मनिन्दा असंयम नहीं है। आत्मनिन्दा करने से दोषों से बचा जाता है और आत्मा संयम में संस्थापित होता है। पर-निन्दा असंयम है। वह पीठ के मांस खाने के समान निन्दनीय है। पर स्व-निन्दा वही व्यक्ति कर सकता है जिसे अपने दोषों का परिज्ञान है। इसीलिए आगमसाहित्य में साधक के लिए 'निन्दामि, गरिहामि' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

भगवतीसूत्र शतक एक, उद्देशक १० में गणधर गौतम ने भगवान् महावीर से जिज्ञासा प्रस्तुत की कि अन्यतीर्थिक इस प्रकार कहते हैं कि एक जीव एक समय में दो क्रियाएँ करता है—ईर्यापथिकी और साम्परायिकी। ये दोनों क्रियाएं साथ-साथ होती हैं ?

भगवान् ने समाधान दिया—प्रस्तुत कथन मिथ्या है, क्योंकि जीव एक समय में एक ही क्रिया कर सकता है। ईर्यापथिकी क्रिया कषायमुक्त स्थिति में होती है तो साम्परायिकी क्रिया कषाययुक्त स्थिति में होती है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

भगवती में विविध प्रकार की वनस्पतियों का भी उल्लेख है। वनस्पतिविज्ञान पर प्रज्ञापना में भी विस्तार से वर्णन है। वनस्पति अन्य जीवों की तरह श्वास ग्रहण करती है, निःश्वास छोड़ती है। आहार आदि ग्रहण करती है। इनके शरीर में भी चय-उपचय, हानि-वृद्धि, सुख-दुःखात्मक अनुभूति होती है। सुप्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र बोस ने अपने परीक्षणों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति में क्रोध भी पैदा होता है, और वह प्रेम भी प्रदर्शित करती है। प्रेम-पूर्ण सद्व्यवहार से वनस्पति पुलकित हो जाती है और घृणापूर्ण व्यवहार से मुर्झा जाती है। बोस के प्रस्तुत परीक्षण ने समस्त वैज्ञानिक जगत् को एक अभिनव प्रेरणा प्रदान की है। जिस प्रकार वनस्पति के संबंध में वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसमें जीवन है, इसी प्रकार सुप्रसिद्ध भूगर्भ-वैज्ञानिक फ्रान्सिस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Ten years under earth" में लिखा—मैंने अपनी विभिन्न यात्राओं के दौरान पृथ्वी के ऐसे-ऐसे विचित्र स्वरूप देखें हैं—जो आधुनिक पदार्थविज्ञान के विपरीत हैं। उस स्वरूप को वर्तमान वैज्ञानिक अपने आधुनिक नियमों से समझा नहीं सकते। मुझे ऐसा लगता है, प्राचीन मनीषियों ने पृथ्वी में जो जीवत्व शक्ति की कल्पना की है वह अधिक यथार्थ है, सत्य है। भगवती-सूत्र में तेजोलेश्या की अपरिमेय शक्ति प्रतिपादित की है। वह अंग, वंग, कलिंग आदि सोलह जनपदों को नष्ट कर सकती है। वह शक्ति अतीत काल में साधना द्वारा उपलब्ध होती थी तो आज विज्ञान ने एटम बम आदि अणुशक्ति को विज्ञान के द्वारा सिद्ध कर दिया है कि पुद्गल की शक्ति कितनी महान् होती है।

इस प्रकार भगवतीसूत्र में सहस्रों विषयों पर गहराई से चिन्तन हुआ है। यह चिन्तन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। इस आगम में स्वयं श्रमण भगवान् महावीर के जीवन के और उनके शिष्यों के एवं गृहस्थ उपासकों के व अन्यतीर्थिक संन्यासियों के और उनकी मान्यताओं के विस्तृत प्रसंग आये हैं। आजीवक सम्प्रदाय के अधिनायक गोशालक के सम्बन्ध में जितनी विस्तृत सामग्री प्रस्तुत आगम में है, उतनी अन्य आगमों में नहीं है। ऐतिहासिक तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और उनके अनुयायियों का तथा उनके चातुर्याम धर्म के सम्बन्ध में प्रस्तुत आगम में पर्याप्त जानकारी है। प्रस्तुत आगम से यह सिद्ध है कि भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के सैंकड़ों श्रमण थे। उन श्रमणों ने भगवान् महावीर के अनुयायियों से और उनके शिष्यों से चर्चाएं कीं। वे भगवान् महावीर के ज्ञान से प्रभावित हुए। उन्होंने चातुर्याम धर्म के स्थान पर पंच महाव्रत रूप धर्म को स्वीकार किया। इस आगम में महाराजा कूणिक और महाराजा चेटक के बीच जो महाशिलाकण्टक और

रथमूसल संग्राम हुए थे, उन युद्धों का मार्मिक वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है। इन युद्धों में क्रमशः चौरासी लाख और छियानवें लाख वीर योद्धाओं का संहार हुआ था। युद्ध कितना संहारकारी होता है, देश की सम्पत्ति भी विपत्ति के रूप में किस प्रकार परिवर्तित हो जाती है! युद्ध में उन शक्तियों का संहार हुआ जो देश की अनमोल निधि थी। इसलिए युद्ध की भयंकरता बताकर उससे बचने का संकेत भी प्रस्तुत आगम में है। इक्कीसवें शतक से लेकर तेईसवें शतक तक वनस्पतियों का जो वर्गीकरण किया गया है, वह बहुत ही दिलचस्प है। इस वर्णन को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि जैनमनीषी-गण वनस्पति के सम्बन्ध में व्यापक जानकारी रखते थे।

वनस्पतिकाय के जीव किस ऋतु में अधिक आहार करते हैं और किस ऋतु में कम आहार करते हैं, इस पर भी प्रकाश डाला है। वर्तमान विज्ञान की दृष्टि से यह प्रसंग चिन्तनीय है। प्रस्तुत आगम में 'आलुअ' शब्द का प्रयोग अनन्तजीव वाली वनस्पति में हुआ है। यह 'आलू' अथवा 'आलुक' वनस्पति वर्तमान में प्रचलित "आलू" से भिन्न प्रकार की थी या यही है? भारत में पहले आलू की खेती होती थी या नहीं, यह भी अन्वेषणीय है।

प्रस्तुत आगम में इतिहास, भूगोल, खगोल, समाज और संस्कृति, धर्म और दर्शन और उस युग की राजनीति आदि पर जो विश्लेषण किया गया है वह शोधार्थियों के लिए अद्भुत है, अनूठा है। प्रश्नोत्तरों के माध्यम से जो आध्यात्मिक गुरु गंभीर तत्त्व समुद्घाटित हुए हैं, वह बोधप्रद हैं।

प्रस्तुत आगम में आजीवक संघ के आचार्य मंखलि गोशालक, जमाली, शिवराजर्षि, स्कन्धक संन्यासी आदि के प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। उस युग में वर्तमान युग की तरह संकीर्ण सम्प्रदायवाद नहीं था। उस युग के संन्यासी सत्य को प्राप्त करने के लिए तत्पर रहते थे। यही कारण है कि स्कन्धक संन्यासी जिज्ञासु बनकर भगवान् महावीर के पास पहुंचे और जब उनकी जिज्ञासाओं का समाधान हो गया तो सम्प्रदायवाद सत्य को स्वीकार करने में बाधक नहीं बना। तत्त्व-चर्चा की दृष्टि से जयन्ती श्रमणोपासिका, मद्दुक श्रमणोपासक, रोह अनगार, सोमिल ब्राह्मण, कालास्यवेशीपुत्त और तुंगिया नगरी के श्रावकों के प्रश्न मननीय हैं। प्रस्तुत आगम में साधु, श्रावक और श्राविका के द्वारा किए गए प्रश्न आये हैं, पर किसी भी साध्वी के प्रश्न नहीं आये हैं। क्यों नहीं साध्वियों ने जिज्ञासाएं व्यक्त कीं? वे समवसरण में उपस्थित होती थीं, उनके अन्तर्मानस में भी जिज्ञासाओं का सागर उमड़ता होगा, पर वे मौन क्यों रहीं? यह विचारणीय है। प्रस्तुत आगम में जहाँ आजीवक, वैदिक परम्परा के तापस और परिव्राजक भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमण और भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ का इसमें निर्देश है। तथागत बुद्ध महावीर के समकालीन थे और दोनों का विहरण-क्षेत्र भी विहार आदि प्रदेश थे। पर न तो स्वयं बुद्ध का भगवान् महावीर से साक्षात्कार हुआ और न किसी भिक्षु का ही। ऐसा क्यों? यह भी विचारणीय है। इसके अतिरिक्त पूर्णकाश्यप, अजितकेशकम्बल, प्रबुद्ध कात्यायन, संजयवेलट्ठीपुत्त, आदि जो अपने आपको जिन मानते थे तथा तीर्थंकर कहते थे, वे भी भगवान् महावीर से नहीं मिले हैं। यह भी चिन्तनीय है। गणित की दृष्टि से पार्श्वापत्यीय गांगेय अनगार के प्रश्नोत्तर अत्यन्त मूल्यवान् हैं।

भगवतीसूत्र का पर्यवेक्षण करने से यह भी पता चलता है कि भगवान् महावीर ने साध्वाचार के सम्बन्ध में एक विशेष क्रान्ति की थी और उस क्रान्ति से भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमण अपरिचित थे। भगवान् महावीर ने स्त्रीत्याग और रात्रिभोजनविरमण रूप दो नियम बढ़ाये। उत्तराध्ययन में केशी-गौतम संवाद से

स्पष्ट है कि महावीर ने पार्श्वनाथ की परम्परा में प्रचलित रंग-बिरंगे वस्त्रों के स्थान पर श्वेत वस्त्रों का उपयोग श्रमण के लिए आवश्यक माना। प्रतिक्रमण वर्षावास आदि कल्प में भी परिष्कार किया। पार्श्वापत्य स्थविरों को यह भी पता नहीं था कि भगवान् महावीर तीर्थंकर हैं। इसीलिए वे पहले वन्दन नमस्कार नहीं करते और न किसी प्रकार का विनयभाव ही दिखलाते हैं। वे सहज जिज्ञासा प्रस्तुत कर देते हैं। जब वे समाधान सुनते हैं तो उन्हें आत्मविश्वास हो जाता है कि भगवान् महावीर सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं। तीर्थंकर हैं। तभी वे नमस्कार करते हैं और चातुर्याम धर्म को छोड़कर पंच महाव्रत धर्म को स्वीकार करते हैं।

प्रस्तुत आगम में देवेन्द्र शक्र से भयभीत बना हुआ असुरेन्द्र चमर भगवान् महावीर की शरण में आकर बच जाता है। भौतिक वैभवसम्पन्न शक्ति भी जब कषाय से उत्प्रेरित होती है तो वह पागल प्राणी की तरह आचरण करने लगती है। स्वर्ग के देवों का महत्त्व भौतिक दृष्टि से भले ही रहा हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से वे तिर्यंच से भी एक कदम पीछे हैं। स्वर्गप्राप्ति का कारण है उत्कृष्ट क्रियाकाण्ड का आचरण। यही कारण है कि जैन श्रमण वेशधारी साधक जो मिथ्यात्वी है, वह भी नवग्रैवेयक तक पहुँच जाता है, जबकि अन्य तापस आदि उस स्थान पर नहीं पहुँच पाते। हमारी दृष्टि से इसका यही कारण हो सकता कि जैन श्रमणों का आचार अहिंसाप्रधान था। इसमें हिंसा आदि से पूर्ण रूप से बचा जाता है। जबकि अन्य तापस आदि उत्कृष्ट कठोर साधना तो करते थे, पर साथ ही कन्दमूल फलों का आहार भी करते, यज्ञ आदि भी करते। स्नान-आदि के द्वारा षट्काय के जीवों की विराधना भी करते। इस हिंसा आदि के कारण ही वे उतनी उत्क्रान्ति नहीं कर पाते थे। दोनों ही मिथ्यादृष्टि होने पर भी हिंसा के कारण ही ऊँचे स्वर्ग को प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् महावीर के समय यह मान्यता प्रचलित थी कि युद्ध में मरने वाले स्वर्ग में जाते हैं। इस मान्यता का निरसन भी प्रस्तुत आगम में किया गया है। युद्ध से स्वर्ग प्राप्त नहीं होता अपितु न्यायपूर्वक युद्ध करने के पश्चात् युद्धकर्ता अपने दुष्कृत्यों पर अन्तर्हृदय से पश्चात्ताप करता है। उस पश्चात्ताप से आत्मा की शुद्धि होती है और वह स्वर्ग में जाता है। गीता के "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" के रहस्य का उद्घाटन बहुत ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत आगम में हुआ है।

प्रस्तुत आगम में कितनी ही बातें पुनः-पुनः आई हैं। इसका कारण पिष्टपेषण नहीं, अपितु स्थान-भेद, पृच्छकभेद और कालभेद है। प्रश्नोत्तर शैली में होने के कारण जिज्ञासु को समझाने के लिए उसकी पृष्ठभूमि बताना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य होता है। जैसा प्रश्नकार का प्रश्न, फिर उत्तर में उसी प्रश्न का पुनरुच्चारण करना और उपसंहार में उस प्रश्न को पुनः दोहराना। कितने ही समालोचकों का यह भी कहना है कि अन्य आगमों की तरह भगवती का विवेचन विषयबद्ध, क्रमबद्ध और व्यवस्थित नहीं है। प्रश्नों का संकलन भी क्रमबद्ध नहीं हुआ है। उसके लिए मेरा नम्र निवेदन है कि यह इस आगम की अपनी महत्ता है, प्रामाणिकता है। गणधर गौतम के या अन्य जिस किसी के भी अन्तर्मानस में जिज्ञासाएं उद्‌बुद्ध हुईं, उन्होंने भगवान् महावीर के सामने प्रस्तुत कीं और भगवान् ने उनका समाधान किया। संकलनकर्ता गणधर सुधर्मा स्वामी ने उस क्रम में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया और उन प्रश्नों को उसी रूप में रहने दिया। यह दोष नहीं किन्तु आगम की प्रामाणिकता को ही पुष्ट करता है।

कुछ समालोचक यह भी आक्षेप करते हैं कि प्रस्तुत आगम में राजप्रश्नीय, औपपातिक, प्रज्ञापना, जीवाभिगम, प्रश्नव्याकरण और नन्दी सूत्र में वर्णित विषयों के अवलोकन का सूचन किया गया है। इसलिए भगवती की रचना इन आगमों की रचना के बाद में होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भी यह निवेदन है कि यह जो सूचन है वह आगम-लेखन के काल का है। आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाक्षमण ने जब आगमों का लेखन किया

तब क्रमशः आगम नहीं लिखे। पूर्व लिखित आगमों में जो विषयवर्णन आ चुका था, उसकी पुनरावृत्ति से बचने के लिए पूर्व लिखित आगमों का निर्देश किया है। यह सत्य है कि भगवतीसूत्र के अर्थ के प्ररूपक स्वयं भगवान् महावीर हैं और सूत्र के रचयिता गणधर सुधर्मा हैं।

प्रस्तुत आगम की भाषा प्राकृत है। इसमें शौरसेनी के प्रयोग भी कहीं-कहीं पर प्राप्त होते हैं। किन्तु देशी शब्दों के प्रयोग यत्र-तत्र मिलते हैं। भाषा सरल व सरस है। अनेक प्रकरण कथाशैली में लिखे गये हैं। जीवनप्रसंगों, घटनाओं और रूपकों के माध्यम से कठिन विषयों को सरल करके प्रस्तुत किया गया है। मुख्य रूप से यह आगम गद्यशैली में लिखा हुआ है। प्रतिपाद्य विषय का संकलन करने की दृष्टि से संग्रहणीय गाथाओं के रूप में पद्य भाग भी प्राप्त होता है। कहीं-कहीं पर स्वतन्त्र रूप से प्रश्नोत्तर हैं, तो कहीं पर घटनाओं के पश्चात् प्रश्नोत्तर आये हैं। जैन आगमों की भाषा को कुछ मनीषी आर्ष प्राकृत कहते हैं। यह सत्य है कि जैन आगमों में भाषा को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितना भावों को दिया है। जैन मनीषियों का यह मानना रहा है कि भाषा आत्म-शुद्धि या आत्म-विकास का कारण नहीं है। वह केवल विचारों का वाहन है।

मंगलाचरण

प्रस्तुत आगम में प्रथम मंगलाचरण नमस्कार महामंत्र से और उसके पश्चात् 'नमो बंभीए लिवीए' 'नमो सुयस्स' के रूप में किया है। उसके पश्चात् १५ वें, १७ वें, २३ वें और २६ वें शतक के प्रारम्भ में भी "नमो सुयदेवयाए भगवईए" इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया गया है। इस प्रकार ६ स्थानों पर मंगलाचरण है, जबकि अन्य आगमों में एक स्थान पर भी मंगलाचरण नहीं मिलता है।

प्रस्तुत आगम के उपसंहार में "इक्कचत्तालीसइमं रासीजुम्मसयं समत्तं" यह समाप्तिसूचक पद उपलब्ध है। इस पद में यह बताया गया है कि इसमें १०१ शतक थे। पर वर्तमान में केवल ४१ शतक ही उपलब्ध होते हैं। समाप्तिसूचक इस पद के पश्चात् यह उल्लेख मिलता है कि—"सव्वाए भगवईए अट्ठतीसं सयं सयाणं (१३८) उद्देसगाणं १९२५" इन शतकों की संख्या अर्थात् अवान्तर शतकों को मिलाकर कुल शतक १३८ है और उद्देशक १९२५ हैं।

प्रथम शतक से बत्तीसवें शतक तक और इकतालीसवें शतक में कोई अवान्तर शतक नहीं हैं। तेतीसवें शतक से उनचालीसवें शतक तक जो सात शतक हैं, उनमें बारह-बारह अवान्तर शतक हैं। चालीसवें शतक में इक्कीस अवान्तर शतक हैं। अतः इन आठ शतकों की परिगणना १०५ अवान्तर शतकों के रूप में की गई है। इस तरह अवान्तर शतक रहित तेतीस शतकों और १०५ अवान्तर शतक वाले आठ शतकों को मिलाकर १३८ शतक बताये गये हैं। किन्तु संग्रहणी पद में जो उद्देशकों की संख्या 'एक हजार नौ सौ पच्चीस' बताई गई है, उसका आधार अन्वेषणा करने पर भी प्राप्त नहीं होता। प्रस्तुत आगम के मूल पाठ में इसके शतकों और अवान्तर शतकों की उद्देशकों की संख्या दी गई है। उसमें चालीसवें शतक के इक्कीस अवान्तर शतकों में से अन्तिम सोलह से इक्कीस अवान्तर शतकों के उद्देशकों की संख्या स्पष्ट रूप से नहीं दी गई है, किन्तु जैसे इस शतक से, पहले पन्द्रहवें अवान्तर शतक से पहले प्रत्येक की उद्देशक संख्या ग्यारह बताई है, उसी तरह शेष अवान्तर शतकों में से प्रत्येक की उद्देशकसंख्या ग्यारह-ग्यारह मान लें तो व्याख्याप्रज्ञप्ति के कुल उद्देशकों की संख्या "एक हजार आठ सौ तेरासी" होती है। कितनी प्रतियों में "उद्देसगाण" इतना ही पाठ प्राप्त होता है। संख्या का निर्देश नहीं किया गया है। इसके बाद एक गाथा है, जिसमें व्याख्याप्रज्ञप्ति की पदसंख्या चौरासी लाख बताई है। आचार्य अभयदेव ने इस गाथा की "विशिष्ट सम्प्रदायगम्यानि" कह कर व्याख्या की है। इसके बाद की गाथा में संघ की समुद्र के साथ तुलना की है और गौतम प्रभृति गणधरों को व भगवती प्रभृति

35022

द्वादशांगी रूप गणिपिटक को नमस्कार किया है। अन्त में शान्तिकर श्रुतदेवता का स्मरण किया गया है। साथ ही कुम्भधर ब्रह्मशान्ति यक्ष "वैरोटया विद्यादेवी और अन्त हुण्डी" नामक देवी को स्मरण किया है। आचार्य अभयदेव का मन्तव्य है कि जितने भी नमस्कारपरक उल्लेख हैं, वे सभी लिपिकार और प्रतिलिपिकार द्वारा किये गये हैं। मूर्धन्य मनीषियों का मानना है कि नमोक्कार महामंत्र प्रथम वार इस अंग में लिपिवद्ध हुआ है।

यह आगम प्रश्नोत्तर शैली में आवद्ध है। गौतम की जिज्ञासाओं का श्रमण भगवान् महावीर के द्वारा सटीक समाधान दिया गया है। इस अंग में दर्शन सम्बन्धी, आचार सम्बन्धी, लोक-परलोक सम्बन्धी आदि अनेक विषयों की चर्चाएं हुई हैं। प्रश्नोत्तरशैली शास्त्ररचना की प्राचीनतम शैली है। इस शैली के दर्शन वैदिक परम्परा के मान्य उपनिषद् ग्रन्थों में भी होते हैं। यह आगम ज्ञान का महासागर है। कुछ बातें ऐसी भी हैं जो सामान्य पाठकों की समझ में नहीं आतीं। उस सम्बन्ध में वृत्तिकार आचार्य अभयदेव भी मौन रहे हैं। मनीषियों को उस पर चिन्तन करने की आवश्यकता है।

व्याख्यासाहित्य

भगवतीसूत्र मूल में ही इतना विस्तृत रहा कि इस पर मनीषी आचार्यों ने व्याख्याएँ कम लिखी हैं। इस पर न निर्युक्ति लिखी गयी, न भाष्य लिखा गया और न विस्तार से चूर्णि ही लिखी गयी। यों एक अतिलघु चूर्णि प्रस्तुत आगम पर है, पर वह भी अप्रकाशित है। उसके लेखक कौन रहे हैं, यह विज्ञों के लिए अन्वेषणीय है।

सर्वप्रथम भगवतीसूत्र पर नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति के नाम से एक वृत्ति लिखी है जो वृत्ति मूलानुसारी है। यह वृत्ति बहुत ही संक्षिप्त और शब्दार्थप्रधान है। इस वृत्ति में जहाँ-तहाँ अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इन उद्धरणों से आगम के गम्भीर रहस्यों को समझने में सहायता प्राप्त होती है। आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति में अनेक पाठान्तर भी दिये हैं और व्याख्याभेद भी दिये हैं, जो अपने आप में बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। व्याख्या में सर्वप्रथम आचार्य ने जिनेश्वर देव को नमस्कार किया है। उसके पश्चात् भगवान् महावीर, गणधर सुधर्मा और अनुयोगवृद्धजनों को व सर्वज्ञप्रवचन को श्रद्धास्निग्ध शब्दों में नमस्कार किया है। उसके पश्चात् आचार्य ने व्याख्याप्रज्ञप्ति की प्राचीन टीका और चूर्णि तथा जीवाजीवाभिगम आदि की वृत्तियों की सहायता से प्रस्तुत आगम पर विवेचन करने का संकल्प किया है।[1]

वृत्तिकार ने व्याख्याप्रज्ञप्ति के विविध दृष्टियों से दस अर्थ भी बताये हैं, जो उनकी प्रखर प्रतिभा के स्पष्ट परिचायक हैं। व्याख्या में यत्र-तत्र अर्थवैविध्य दृग्गोचर होता है। मनीषियों का यह मानना है कि आचार्य अभयदेव ने जो प्राचीन टीका का उल्लेख किया है वह टीका आचार्य शीलांक की होनी चाहिए, पर वह टीका आज अनुपलब्ध है। आचार्य अभयदेव ने कहीं पर भी उस प्राचीन टीकाकार का नाम निर्देश नहीं किया है।

अनुश्रुति है कि आचार्य शीलांक ने नौ अंगों पर टीका लिखी थी। वर्तमान में आचारांग और सूयगडांग पर ही उनकी टीकाएं प्राप्त हैं शेष सात आगमों पर नहीं। आचार्य शीलांक के अतिरिक्त अन्य किसी भी

---

१. नत्वा श्री वर्धमानाय श्रीमते च सुधर्म्मणे ।
सर्वानुयोगवृद्धेभ्यो वाण्यै सर्वविदस्तथा ॥
एतट्टीका चूर्णी जीवाभिगमादिवृत्तिलेशां च ।
संयोज्य पञ्चमाङ्गं विवृणोमि विशेषतः किञ्चित् ॥

—व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका २,

आचार्य ने व्याख्या लिखी हो यह उल्लेख प्राचीन साहित्य में नहीं है। स्वयं आचार्य अभयदेव ने अपनी वृत्ति के प्रारम्भ में चूर्णि का उल्लेख किया है, अतः प्राचीन टीका, चूर्णि नहीं हो सकती। वह अन्य वृत्ति ही होगी।

प्रत्येक शतक की वृत्ति के अन्त में आचार्य अभयदेव ने वृत्तिसमाप्तिसूचक एक-एक श्लोक दिया है। वृत्ति के अन्त में आचार्य ने अपनी गुरुपरम्परा बताते हुए लिखा है—विक्रम संवत् ११२८ में अणहिल पाटण नगर में प्रस्तुत वृत्ति लिखी गई। इस वृत्ति का श्लोकप्रमाण अठारह हजार छः सौ सोलह है।

व्याख्याप्रज्ञप्ति पर दूसरी वृत्ति आचार्य मलयगिरि की है। यह वृत्ति द्वितीय शतक वृत्ति के रूप में विश्रुत है, जिसका श्लोकप्रमाण तीन हजार सात सौ पचास है। विक्रम संवत् १५८३ में हर्षकुल ने भगवती पर एक टीका लिखी। दानशेखर ने व्याख्याप्रज्ञप्ति लघुवृत्ति लिखी है। भावसागर ने और पद्मसुन्दर गणि ने भी व्याख्याएँ लिखी हैं। बीसवीं सदी में स्थानकवासी परम्परा के आचार्य श्री घासीलालजी म. ने भी भगवती पर व्याख्या लिखी है। इन सभी वृत्तियों की भाषा संस्कृत रही।

जब संस्कृत प्राकृत भाषाओं में टीकाओं की संख्या अत्यधिक बढ़ गई और उन टीकाओं में दार्शनिक चर्चाएँ चरम सीमा पर पहुँच गई, जनसाधारण के लिए उन टीकाओं को समझना जब बहुत ही कठिन हो गया तब जनहित की दृष्टि से आगमों की शब्दार्थप्रधान संक्षिप्त टीकाएँ निर्मित हुई। ये टीकाएँ बहुत संक्षिप्त लोक-भाषाओं में सरल और सुबोध शैली में लिखी गयीं। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी में स्थानकवासी आचार्य मुनि धर्मसिंहजी ने टब्बाओं का निर्माण किया। कहा जाता है कि उन्होंने सत्ताईस आगमों पर बालावबोध टब्बे लिखे थे। उसमें एक टब्बा व्याख्याप्रज्ञप्ति पर था। धर्मसिंह मुनि ने भगवती का एक यन्त्र भी लिखा था।

टब्बा के पश्चात् अनुवाद प्रारम्भ हुआ। मुख्य रूप से आगम साहित्य का अनुवाद तीन भाषाओं में उपलब्ध है—अंग्रेजी, गुजराती और हिन्दी। भगवतीसूत्र के १४ वें शतक का अनुवाद Hoernle Appendix ने किया और गुजराती अनुवाद पं भगवानदास दोशी, पं. बेचरदास दोशी, गोपालदास जीवाभाई पटेल और घासीलालजी म. आदि ने किया। हिन्दी अनुवाद आचार्य अमोलकऋषिजी, मदनकुमार मेहता, पं. घेवरचन्दजी बांठिया आदि ने किया है।

अद्यावधि मुद्रित भगवतीसूत्र

सन् १९१८-२१ में व्याख्याप्रज्ञप्ति अभयदेव वृत्ति सहित धनपतसिंह रायबहादुर द्वारा बनारस से प्रकाशित हुई जो १४ शतक तक ही मुद्रित हुई थी। सन् १९१८ से १९२१ में अभयदेववृत्ति सहित आगमोदय समिति बम्बई से व्याख्याप्रज्ञप्ति प्रकाशित हुई है। सन् १९३७-४० में ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था रतलाम से अभयदेववृत्ति सहित चौदह शतक प्रकाशित हुए। विक्रम संवत् १९७४-१९७९ में छट्ठे शतक तक अभयदेववृत्ति व गुजराती अनुवाद के साथ पं. बेचरदास दोशी का अनुवाद जिनागम प्रकाशन सभा, बम्बई से प्रकाशित हुआ और विक्रम संवत् १९८५ में भगवती शतक सातवें से पन्द्रहवें शतक तक मूल व गुजराती अनुवाद के साथ भगवानदास दोशी ने गुजराज विद्यापीठ अहमदाबाद से प्रकाशित किया। १९८८ में जैन साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट अहमदाबाद से मूल व गुजराती अनुवाद प्रकाश में आया।

सन् १९३८ में गोपालदास जीवाभाई पटेल ने भगवती का संक्षेप में सार गुजराती छायानुवाद के साथ जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से प्रकाशित करवाया।

आचार्य अमोलकऋषिजी म. ने बत्तीस आगमों के हिन्दी अनुवाद के साथ प्रस्तुत आगम का भी हिन्दी अनुवाद हैदराबाद से प्रकाशित करवाया।

वि. सं. २०११ में मदनकुमार मेहता ने भगवतीसूत्र शतक एक से बीस तक हिन्दी में विषयानुवाद श्रुत-प्रकाशन मन्दिर कलकत्ता से प्रकाशित करवाया।

सन् १९३५ में भगवती विशेष पद व्याख्या दानशेखर द्वारा विरचित ऋषभदेवजी केशरीमलजी जैन श्वेताम्बर संस्था रतलाम से प्रकाशित हुई है।

सन् १९६१ में हिन्दी और गुजराती अनुवाद के साथ पूज्य घासीलालजी म. द्वारा विरचित संस्कृत व्याख्या जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट से अनेक भागों में प्रकाशित हुई।

विक्रम संवत् १९१४ में पंडित बेचरदास जीवराज दोशी द्वारा सम्पादित "विवाहपण्णत्तिसुत्तं" प्रकाशित हुआ। सन् १९७४ से "विवाहपण्णत्तिसुत्तं" के तीन भाग महावीर जैन विद्यालय बम्बई से मूल रूप में प्रकाशित हुए हैं। इस प्रकाशन की अपनी मौलिक विशेषता है। इसका मूल पाठ प्राचीनतम प्रतियों के आधार से तैयार किया गया है। पाठान्तर और शोधपूर्ण परिशिष्ट भी दिये गये हैं। शोधार्थियों के लिए प्रस्तुत आगम अत्यन्त उपयोगी है।

विक्रम संवत् २०२१ में मुनि नथमलजी द्वारा सम्पादित भगवई सूत्र का मूल पाठ जैन विश्वभारती लाडनू से प्रकाशित हुआ है। इस प्रति की यह विशेषता है कि इसमें जाव शब्द की पूर्ति की गई है। "सुत्तागमे" में मुनि पुप्फभिक्खुजी ने ३२ आगमों के साथ भगवती का मूल पाठ भी प्रकाशित किया है। संस्कृतिरक्षकसंघ सैलाना से "अंग सुत्ताणि" के भागों में भी मूल रूप में भगवतीसूत्र प्रकाशित है। भगवतीसूत्र का हिन्दी अनुवाद विवेचन के साथ पंडित घेवरचन्दजी बांठिया द्वारा सम्पादित ७ भाग "साधुमार्गी संस्कृति रक्षक संघ सैलाना" से प्रकाशित हुए। विवेचन संक्षिप्त में और सारपूर्ण है। भगवतीसूत्र पर आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा. और सागरानन्द सूरीश्वरजी के भी प्रवचनों के अनेक भाग प्रकाशित हुए हैं। पर वे प्रवचन सम्पूर्ण भगवतीसूत्र पर नहीं हैं। एक लेखक ने भगवती पर शोधप्रबन्ध भी अंग्रेजी में प्रकाशित किया है और तेरापंथी आचार्य जीतमलजी ने भगवती की जोड़ लिखी थी, उसका भी प्रथम भाग लाडनू से प्रकाशित हो चुका है।

प्रस्तुत आगम

स्वर्गीय महामहिम युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी महाराज के कुशल नेतृत्व में आगमबत्तीसी का कार्य प्रारम्भ हुआ। वह कार्य अनेक मूर्धन्य मनीषियों के सहयोग से शीघ्रातिशीघ्र सम्पादित कर पाठकों के कर-कमलों में पहुँचाने का निर्णय लिया गया। पण्डितवर मधुरवक्ता बहुश्रुत श्री अमरमुनिजी ने यह अनुवाद किया है। श्री अमर-मुनिजी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न संतरत्न हैं। आप आचार्य सम्राट् आत्मारामजी महाराज के पौत्र शिष्य हैं और भण्डारी श्री पद्मचन्द्रजी महाराज के सुशिष्य हैं। श्री अमरमुनिजी एक सफल प्रवक्ता भी हैं। उनकी विमल वाणी में प्रेरणा है। प्रकृति से उनकी वाणी में सहज मधुरता है। जब वे प्रवचन करते हैं तो श्रोता आनन्द से झूम उठते हैं। जब उनकी संगीत की स्वरलहरियाँ झनझनाती हैं तो श्रोताओं के हृदयकमल खिल उठते हैं। यही कारण है कि आप 'वाणी के जादूगर' के रूप में विश्रुत हैं। आपने लघुवय में संयमसाधना की ओर कदम बढ़ाये और गुरु-चरणों में बैठकर आगमों का अध्ययन किया। आपकी प्रतिभा को निहार कर स्वर्गीय उपाध्याय श्री फूलचन्द्रजी महाराज ने आपको 'श्रुतवारिधि' की उपाधि से समलंकृत किया। आपकी प्रबल प्रेरणा से उत्प्रेरित होकर पंजाब, हरियाणा और देहली आदि में यत्र-तत्र धर्मस्थानक और विद्यालयों की संस्थापनाएँ हुईं। आपके प्रवचनों में जैन और अजैन सभी विशाल संख्या में समुपस्थित होते हैं। इसीलिए विश्वसन्त उपाध्याय श्री पुष्करमुनिजी म. ने मेरठ में आपको 'उत्तरभारत केसरी' की उपाधि प्रदान की। आपसे समाज को बहुत कुछ आशा है।

जहाँ आप प्रवचनकार हैं, कवि हैं, गायक हैं, वहाँ आप एक कुशल सम्पादक भी हैं। आपने आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी महाराज द्वारा लिखित "जैनतत्त्वकलिका" और जैनागमों में अष्टांग योग पर लिखित जैनयोग : साधना और सिद्धान्त ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन किया है। "व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र" में आपने बहुत सुन्दर सम्पादन-कला का चमत्कार प्रदर्शित किया है। आपने प्रस्तुत आगम के प्रत्येक शतक में सर्वप्रथम संक्षेप में सार दिया है, जिससे पाठक उस शतक में आए हुए विषय को सहज रूप में समझ सकता है। भावानुवाद के साथ यत्र-तत्र विवेचन भी किया है। विवेचन विषयवस्तु को स्पष्ट करने के लिए बहुत उपयोगी है। यह विवेचन न अति संक्षिप्त है और न अधिक विस्तृत ही। इस विवेचन में प्राचीन टीकाओं का भी यत्र-तत्र उपयोग किया गया है। इस प्रकार इस आगम का विवेचन प्रबुद्ध पाठकों के लिए अतीव उपयोगी है। इसके स्वाध्याय से पाठकगण अपने जीवन को उज्ज्वल और समुज्ज्वल बनायेंगे। जहाँ अमरमुनिजी की प्रतिभा ने अपना विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया है वहाँ श्री श्रीचन्दजी सुराना 'सरस' की प्रतिभा भी सर्वत्र मुखरित हुई है। संपादनकलामर्मज्ञ पंडित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल ने तीक्ष्ण दृष्टि से यत्र-तत्र परिष्कार और परिमार्जन भी किया जो अपने आप में अनूठा है। विद्वद्वर्य पं. मुनि श्री नेमिचन्दजी का निष्ठापूर्वक किया गया श्रम भी इसके साथ जुड़ा हुआ है।

मैं प्रस्तुत आगम पर बहुत ही विस्तार के साथ प्रस्तावना लिखना चाहता था। जब प्रस्तुत आगम का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ उस समय मेरा स्वास्थ्य कुछ अस्वस्थ था। इसलिए प्रथम भाग में प्रस्तावना न जा सकी। अब अन्तिम चतुर्थ भाग में प्रस्तावना दी जा रही है। समयाभाव, निरन्तर विहार तथा अन्य अनेक व्यवधानों के कारण मैं चाहते हुए भी प्रस्तावना को विस्तृत न लिख सका। जिस रूप में मैंने प्रस्तावना लिखने का उपक्रम प्रारम्भ किया था अतिशीघ्रता के कारण वाद के विषयों पर जो मैं तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से लिखना चाहता था, नहीं लिख पाया। इसका स्वयं मेरे मन में मलाल है। यदि कभी समय मिला तो इस विराट्काय आगम पर विस्तार के साथ लिखने का प्रयास करूँगा। यह आगम ऐसा आगम है जिस पर जितना लिखा जाय उतना ही कम है।

युवाचार्य श्री मधुकरमुनिजी महाराज ने जीवन की सान्ध्य वेला में इस भगीरथ कार्य को हाथ में लिया और अनेक प्रतिभासंपन्न व्यक्तियों के द्वारा इस कार्य को शीघ्र संपादन करने के लिए उत्प्रेरित किया। पर अत्यन्त परिताप है कि क्रूर काल ने असमय में ही उनको हमारे से छीन लिया। उनके जीवनकाल में सम्पूर्ण आगम साहित्य का प्रकाशन नहीं हो सका। तथापि उनकी पावन पुण्यस्मृति में संपादन का कार्य प्रगति पर रहा जिसके फलस्वरूप यह आगममाला प्रकाशित हो रही है। महामहिम विश्वसन्त उपाध्याय अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव श्री पुष्करमुनिजी महाराज श्रमण संघ के एक ज्योतिर्धर सन्तरत्न हैं, जो युवाचार्यश्री के सहपाठी रहे हैं। श्रद्धेय सद्गुरुवर्य की असीम कृपा से ही मैं प्रस्तावना की कुछ पंक्तियाँ लिख गया हूँ। मुझे पूर्ण विश्वास है कि अन्य आगमों की भाँति प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय भी श्रद्धालुगण कर अपने जीवन को पावन और पवित्र बनायेंगे।

—देवेन्द्र मुनि

लाल भवन
जयपुर
दि. २८-२-८६

वियाहपण्णत्तिसुत्तं (भगवईसुत्तं)

विषय-सूची

वीसवाँ शतक

छठा उद्देशक

सौधर्मादि कल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक की दो-दो पृथ्वियों के बीच में मरणसमुद्घात करके सौधर्मादि-कल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक पृथ्वीकायिकरूप में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक द्वारा पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद निरूपण ४६, सौधर्मादिकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक के बीच में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभा से अधःसप्तम पृथ्वी तक पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक की पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-प्ररूपणा ४७, पृथ्वीकायिक विषयक सूत्रों के अतिदेशपूर्वक अप्कायिक विषयक पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद निरूपण ४९, पृथ्वी-कायिक-विषयक सूत्रों के अतिदेशपूर्वक अप्कायिक जीवविषयक (विशिष्ट परिस्थिति में) पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद निरूपण ५०, सत्तरहवें शतक के दसवें उद्देशक के अनुसार वायुकायिक जीवों के विषय में पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद विषयक प्ररूपणा ५१ ।

सप्तम उद्देशक

बंध के तीन भेद और चौवीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा ५२, अष्टविध कर्मों में त्रिविध बन्ध एवं उनकी चौवीस दण्डकों में प्ररूपणा ५३, आठों कर्मों के उदयकाल में प्राप्त होने वाले बंधत्रय का चौवीस दण्डकों में निरूपण ५३, वेदत्रय तथा दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय में त्रिविध बन्ध प्ररूपणा ५४, शरीर, संज्ञा, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान एवं ज्ञानाज्ञान विषयों में त्रिविधबंध प्ररूपणा ५५ ।

आठवाँ उद्देशक

कर्मभूमियों और अकर्मभूमियों की संख्या का निरूपण ५८, अकर्मभूमि और कर्मभूमि के विविध क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सद्भाव-अभाव का निरूपण ५९, अरहंतों द्वारा महाविदेह और भरत-ऐरवत क्षेत्र में कौन-कौन से धर्म का निरूपण ? ६०, भरतक्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी काल में चौवीस तीर्थंकरों के नाम ६०, चौवीस तीर्थंकरों के अंतर तथा तेईस जिनान्तरों में कालिकश्रुत के व्यवच्छेद-अव्यवच्छेद का निरूपण ६१, भ. महावीर और शेष तीर्थंकरों के समय में पूर्वश्रुति की अविच्छिन्नता की कालावधि ६२, भगवान् महावीर और भावी तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ की अविच्छिन्नता की कालावधि ६२, तीर्थ और प्रवचन क्या और कौन ? ६४, निर्ग्रन्थ-धर्म में प्रविष्ट उग्रादि क्षत्रियों द्वारा रत्नत्रय साधना से सिद्धगति या देवगति में गमन तथा चतुर्विध देवलोक-निरूपण ६४ ।

नौवाँ उद्देशक

चारणमुनि के दो प्रकार : विद्याचारण और जंघाचारण ६६, विद्याचारण लब्धि समुत्पन्न होने से विद्याचारण कहलाता है ६६, विद्याचारण की शीघ्र, तिर्यग् एवं ऊर्ध्वगति-सामर्थ्य तथा विषय ६७, जंघाचारण का स्वरूप ६९, जंघाचारण की शीघ्र, तिर्यक् और ऊर्ध्वगति का सामर्थ्य और विषय ७० ।

दसवाँ उद्देशक

चौवीस दण्डकों में सोपक्रम एवं निरुपक्रम आयुष्य की प्ररूपणा ७२, चौवीस दण्डकों में उत्पत्ति और उद्वर्त्तना की आत्मोपक्रम-परोपक्रम आदि विभिन्न पहलुओं से प्ररूपणा ७३, चौवीस दण्डकों और सिद्धों में कति-अकति-अवक्तव्य-संचित पदों का यथायोग्य निरूपण ७५, कति-अकति-अवक्तव्य-संचित यथायोग्य चौवीस दण्डकों और सिद्धों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा ७८, चौवीस दण्डकों और सिद्धों में षट्क-समर्जित आदि पांच विकल्पों का यथायोग्य निरूपण ७९, षट्क-समर्जित आदि से विशिष्ट चौवीस दण्डकों और सिद्धों के अल्पबहुत्व

बाईसवाँ शतक

तेईसवाँ शतक

चौवीसवाँ शतक

प्रथम उद्देशक

गति की अपेक्षा से नैरयिकादि-उपपात-निरूपण १२५, प्रथम नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच के विषय में उपपात आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा १२७, नरक में उत्पन्न होने वाले संख्यात वर्षायुष्क पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिकों की उपपात-प्ररूपणा १३९, शर्कराप्रभा से तमःप्रभा नरक तक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येय वर्षायुष्क संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच के उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १४८, सप्तम नरक पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येय वर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंच के उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १५०, पर्याप्त संख्येय वर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों की समुच्चय रूप से सातों नरकों में उपपात आदि प्ररूपणा १५३, रत्नप्रभा नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येय वर्षायुष्क मनुष्य में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १५५, शर्कराप्रभा नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा १५८, वालुका-पंक-धूम-तमःप्रभा नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा १६१, सप्तम नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा १६१।

द्वितीय उद्देशक

गति की अपेक्षा से असुरकुमारों के उपपात की प्ररूपणा १६४, असुरकुमार में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक की उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १६४, संख्येय वर्षायुष्क-असंख्येय वर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक की असुरकुमारों में उपपातप्ररूपणा १६५, असुरकुमार में उत्पन्न होने वाले असंख्येय वर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक की उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १६६, असुरकुमार में उत्पन्न होने वाले संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक में उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७०, संख्येयवर्षायुष्क, असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों की असुरकुमारों में उत्पत्ति का निरूपण १७१, असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७३।

तृतीय उद्देशक

गति की अपेक्षा से नागकुमारों की उत्पत्ति का निरूपण १७५, नागकुमार में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७५, नागकुमारों में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७६, नागकुमार में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिक में उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७८, नागकुमार में उत्पन्न होने वाले असंख्यातवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा १७९, नागकुमार में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात आदि प्ररूपणा १८०।

चतुर्थ से ग्यारह उद्देशक

सुवर्णकुमार से स्तनितकुमार तक चौथे से लेकर ग्यारहवें उद्देशक की समग्र वक्तव्यता : तृतीय नागकुमार-उद्देशकानुसार १८१।

अठारहवाँ उद्देशक

उन्नीसवाँ उद्देशक

वीसवाँ उद्देशक

इक्कीसवाँ उद्देशक

बाईसवाँ उद्देशक

तेईसवाँ उद्देशक

चौवीसवां उद्देशक

गति को लेकर सौधर्म-देव के उपपात का निरूपण २६४, सौधर्म-देव में उत्पन्न होने वाले असंख्येय-संख्येय-वर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में उपपातादि वीस द्वारों की प्ररूपणा २६७, ईशान से सहस्रार देव तक में उत्पन्न होने वाले तिर्यंचों व मनुष्यों के उपपातादि वीस द्वारों की प्ररूपणा २६८, आनत से सर्वार्थसिद्ध तक के देवों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा २७० ।

पच्चीसवां शतक

प्रथम उद्देशक

लेश्याओं के भेद, अल्पवहुत्व आदि का अतिदेशपूर्वक निरूपण २७९, संसारी जीवों के चौदह भेदों का निरूपण २७९, जघन्य और उत्कृष्ट योग को लेकर संसारी जीवों का अल्पबहुत्व निरूपण २८०, प्रथम समयोत्पन्नक चतुर्विंशति दण्डकवर्ती दो जीवों का समयोगित्व-विपमयोगित्व निरूपण २८२, योग के पन्द्रह भेदों का निरूपण २८४, पन्द्रह प्रकार के योगों में जघन्य-उत्कृष्ट योगों का अल्पवहुत्व २८५ ।

द्वितीय उद्देशक

द्रव्यों के भेद-प्रभेद तथा दोनों प्रकार के द्रव्यों की अनन्तता की प्ररूपणा २८७, जीव और चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की अजीवद्रव्य परिभोगतानिरूपण २८८, असंख्येय लोक में अनन्त द्रव्यों की स्थिति २८९, लोक के एक प्रदेश में पुद्गलों के चय-छेद-उपचय-अपचय निरूपण २९०, शरीरादि के रूप में स्थित-अस्थित द्रव्य-ग्रहण प्ररूपणा २९१ ।

तृतीय उद्देशक

संस्थान के छह भेदों का निरूपण २९५, छह संस्थानों की द्रव्यार्थ तथा प्रदेशार्थ रूप से अनन्तता प्ररूपणा २९५, छह संस्थानों का द्रव्यार्थादि रूप से अल्पवहुत्व २९६, संस्थानों के पांच भेद और उनकी अनन्तता का निरूपण २९७, यवमध्यगत परिमण्डलादि संस्थानों की परस्पर अनन्तता की प्ररूपणा २९९, सप्त नरकपृथ्वियों से लेकर ईपत्प्राग्भारा पृथ्वी तक में पांचों यवमध्य संस्थानों में परस्पर अनन्तता-प्ररूपणा ३००, पांच संस्थानों में प्रदेशतः अवगाहना-निरूपण ३०२, पंच संस्थानों में एकत्व-वहुत्व दृष्टि से द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थता की अपेक्षा कृतयुग्मादि निरूपण ३०७, पांच संस्थानों में यथायोग्य कृतयुग्मादि प्रदेशावायह प्ररूपणा ३०९, परिमण्डलादि संस्थानों में कृत युग्मादि समय स्थिति की प्ररूपणा ३१२, पांच संस्थानों में वर्ण-गंध-रस-स्पर्श की अपेक्षा कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३१२, श्रेणियो तथा लोक-अलोकाकाश श्रेणियों में प्रदेशार्थ से यथायोग्य संख्यातादि प्ररूपणा ३१५, सामान्य श्रेणियों तथा लोक-अलोकाकाश श्रेणियों में यथायोग्य सादि-सान्तादि प्ररूपणा ३१६, सामान्य श्रेणियों तथा लोक-अलोकाकाश श्रेणियों में द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३१८, श्रेणी के प्रकारान्तर से सात भेद ३२०, परमाणु-पुद्गल तथा द्विप्रदेशिकादि स्कन्धों की चौवीस दण्डकों में अनुश्रेणि गति प्ररूपणा ३२१, चौवीस दण्डकों की आवास-संख्या प्ररूपणा ३२२, द्वादशविध गणिपिटकों का अतिदेशपूर्वक निर्देश ३२२, नैरयिकादि सेन्द्रियादि सकायिकादि, आयुष्य वन्धक-अवन्धकों के अल्पवहुत्व की प्ररूपणा ३२२ ।

चतुर्थ उद्देशक

चार युग्म और उनके अस्तित्व का कारण ३२६, चौवीस दण्डकों और सिद्धों में युग्मभेद निरूपण ३२६, पद्द्रव्य और उनमें द्रव्यार्थ तथा प्रदेशार्थ रूप से युग्मभेद निरूपण ३२८, धर्मास्तिकायादि पद्द्रव्यों में अल्प-बहुत्व का प्रज्ञापनासूत्रातिदेशपूर्वक निरूपण ३२९, धर्मास्तिकायादि में यथायोग्य अवगाढ-अनवगाढ प्ररूपणा ३२९, जीव एवं चौवीस दण्डकों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ रूप युग्मभेद निरूपण ३३१, सामान्य जीव एवं चौवीस दण्डकों में अवगाहनापेक्षया कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३३३, जीव एवं चौवीस दण्डकों में कृतयुग्मादि समय-स्थिति की प्ररूपणा ३३४, सामान्य जीव एवं चौवीस दण्डकों में वर्णादि पर्यायापेक्षया कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३३६, जीव, चौवीस दण्डकों और सिद्धों में ज्ञान-अज्ञान-दर्शन पर्यायों की अपेक्षा एकत्व-बहुत्व दृष्टि से कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३३७, प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक शरीर सम्बन्धी विवरण ३३९, जीव तथा चौवीस दण्डकों में सकम्प-निष्कम्प तथा देशकम्प-सर्वकम्प प्ररूपणा ३४०, परमाणु-पुद्गलों से अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक की प्ररूपणा ३४२, एक प्रदेशावगाढ से असंख्येय प्रदेशावगाढ पुद्गलों की प्ररूपणा ३४२, एक समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की अनन्तता ३४२, वर्णगन्धादि वाले पुद्गलों की अनन्तता ३४३, परमाणु-पुद्गल से अनन्त प्रदेशी स्कन्धों तक की द्रव्य-प्रदेशार्थ से यथायोग्य बहुत्व प्ररूपणा ३४३, एक गुण काले आदि वर्ण तथा गन्ध-रस-स्पर्श वाले पुद्गलों की वक्तव्यता ३४६, एकादिगुण कर्कश स्पर्श वाले पुद्गलों की द्रव्यार्थ प्रदेशार्थ से विशेषाधिकतादि प्ररूपणा ३४७, एक-संख्येय-असंख्येय-प्रदेशी पुद्गलों की अवगाहना एवं स्थिति को लेकर अल्पबहुत्व चर्चा ३४८, एक-संख्येय-असंख्येय-अनन्तगुण-वर्ण-गन्धादि वाले पुद्गलों की द्रव्यार्थ प्रदेशार्थ रूप से अल्पबहुत्व चर्चा ३५०, अवगाहना, स्थिति, वर्णगन्धादि पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्मादि प्ररूपणा ३५४, परमाणु से लेकर अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक यथायोग्य-सार्द्ध-अनर्द्ध प्ररूपणा ३५८, परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सकम्पता निष्कम्पता-प्ररूपणा ३६०, परमाणु से अनन्तप्रदेशी सकम्प-निष्कम्प स्कन्ध तक के अल्पबहुत्व की चर्चा ३६४, परमाणु से अनन्तप्रदेशी सकम्प-निष्कम्प स्कन्धों की द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ द्रव्यप्रदेशार्थ से अल्पबहुत्व की चर्चा ३६४, परमाणु से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक देशकम्प-सर्वकम्प-निष्कम्पता की प्ररूपणा ३६६, परमाणु से अनन्तप्रदेशी देशकम्प-सर्वकम्प-निष्कम्प स्कन्धों की स्थिति एवं कालान्तर की प्ररूपणा ३६७, सर्व-देश कम्पक-निष्कम्पक परमाणु से अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का अल्पबहुत्व ३७१, सर्व-देश-निष्कम्प परमाणुओं से अनन्त प्रदेशी स्कन्ध तक के अल्पबहुत्व की चर्चा ३७२, धर्मास्तिकायादि के मध्यप्रदेशों की संख्या का निरूपण ३७४, जीवास्ति-काय-मध्यप्रदेश तथा आकाशास्तिकाय प्रदेशों की अवगाहना की प्ररूपणा ३७५।

पंचम उद्देशक

पर्यव-भेद एवं उसके विशिष्ट पहलुओं के विषय में पर्यवपद : अतिदेश ३७६, आनप्राणादि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से आवलिका : संख्या-प्ररूपणा ३७८, स्तोकादि कालों में एकत्व-बहुत्व दृष्टि से आनप्राणादि से शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त संख्या निरूपण ३८०, सागरोपमादि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से पल्योपम-संख्या निरूपण ३८१, उत्सर्पिणी आदि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से सागरोपम-संख्या निरूपण ३८२, पुद्गल परिवर्तनादि कालों में एकत्व-बहुत्व दृष्टि से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की संख्या की प्ररूपणा ३८२, भूत-भविष्यत् तथा सर्वकाल में पुद्गल परिवर्तन की अनन्तता ३८३, अनागत काल की अतीतकाल से समयाधिकता ३८३, सर्वाद्धा का अतीत तथा अनागत काल के समय से न्यूनाधिकता ३८४, निगोद के भेद-प्रभेदों का निरूपण ३८५, औदयिकादि छह भावों का अतिदेशपूर्वक प्ररूपण ३८६।

छठा उद्देशक

छठे उद्देशक की छत्तीस द्वार निरूपक गाथायें ३८७, प्रथम प्रज्ञापनाद्वार : निर्ग्रन्थों के भेद-प्रभेद ३८७, द्वितीय क्षेत्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्त्रीवेदादि प्ररूपण्णा ३९१, तृतीय रागद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में सरागत्व वीतरागत्व प्ररूपणा ३९३, चतुर्थ कल्पद्वार पंचविध निर्ग्रन्थों में स्थितिकल्पादि-जिनकल्पादि-प्ररूपणा ३९४, पंचम चारित्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में चारित्र प्ररूपणा ३९६, छठा प्रतिसेवनाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में मूल-उत्तरगुण प्रतिसेवन-अप्रतिसेवन-प्ररूपणा ३९७, सप्तम ज्ञानद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में ज्ञान और श्रुताध्ययन की प्ररूपणा ३९८, आठवां तीर्थद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में तीर्थ-अतीर्थ प्ररूपणा ४००,

नौवां लिंगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्वलिंग-अन्यलिंग-गृहीलिंग-प्ररूपणा ४०१, दसवां शरीरद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में शरीर-भेद-प्ररूपणा ४०२, ग्यारहवां क्षेत्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कर्मभूमि-अकर्मभूमि-प्ररूपणा ४०३, बारहवां कालद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकालादि-प्ररूपणा ४०४, तेरहवां गतिद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों की गति, पदवी तथा स्थिति की प्ररूपणा ४०८,

चौदहवां संयमद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों के संयमस्थान और उनका अल्पबहुत्व ४११, पन्द्रहवां निकर्ष (सन्निकर्ष) द्वार : पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में अनन्त चारित्र पर्याय ४१२, पंचविध निर्ग्रन्थों के जघन्य-उत्कृष्ट चारित्र पर्यायों का अल्पबहुत्व ४१६, सोलहवां योगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में योगों की प्ररूपणा ४२०, सत्तरहवां उपयोगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में उपयोग-प्ररूपणा ४२०, अठारहवां कषायद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कषाय-प्ररूपणा ४२१, उन्नीसवां लेश्याद्वार : लेश्याओं की प्ररूपणा ४२२, बीसवां परिणामद्वार : वर्धमानादि परिणामों की प्ररूपणा ४२४, इक्कीसवां द्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कर्मप्रकृति-बंध-प्ररूपणा ४२७, बाईसवां द्वार : निर्ग्रन्थों में कर्मप्रकृति-वेदन-निरूपण ४२८, तेईसवां कर्मोदीरणाद्वार : कर्मप्रकृति-उदीरणा-प्ररूपणा ४२९, चौबीसवां उपसम्पद्-जहद्-द्वार : स्वस्थानत्याग-परस्थान-सम्प्राप्ति निरूपण ४३१, पच्चीसवां संज्ञाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में संज्ञाओं की प्ररूपणा ४३२, छब्बीसवां आहारद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में आहारक-अनाहारक-निरूपण ४३३, सत्ताईसवां भवद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में भवग्रहण-प्ररूपणा ४३४, अट्ठाईसवां आकर्षद्वार : एकभव-नानाभव ग्रहणीय आकर्ष-प्ररूपणा ४३५, उनतीसवां कालद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्थितिकाल-निरूपण ४३७, तीसवां अन्तरद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में काल के अन्तर का निरूपण ४३८, इकतीसवां समुद्घातद्वार : समुद्घातों की प्ररूपणा ४४०, बत्तीसवां क्षेत्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अवगाहना क्षेत्र-प्ररूपण ४४१, तेतीसवां स्पर्शनाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में क्षेत्रस्पर्शना-प्ररूपणा ४४२, चौतीसवां भावद्वार : औपशमिकादि भावों का निरूपण ४४२, पैंतीसवां परिमाणद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों का एक समय का परिमाण ४४३, छत्तीसवां अल्पबहुत्वद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अल्पबहुत्व प्ररूपण ४४५ ।

सप्तम उद्देशक

प्रथम प्रज्ञापनाद्वार : संयतों के भेद-प्रभेद का निरूपण ४४७, संयत-स्वरूप ४४८, द्वितीय वेदद्वार : पंचविध संयतों में सवेदी-अवेदी प्ररूपणा ४५०, तृतीय रागद्वार : पंचविध संयतों में सरागता-वीतरागता-निरूपण ४५०, चतुर्थ कल्पद्वार : पंचविध संयतों में स्थितकल्पादि प्ररूपणा ४५१, पंचम चारित्रद्वार : पंचविध संयतों में पुलाकादि प्ररूपणा ४५२, छठा प्रतिसेवनाद्वार : पंचविध संयतों में प्रतिसेवन-अप्रतिसेवन प्ररूपणा ४५३, सप्तम ज्ञानद्वार : पंचविध संयतों में ज्ञान और श्रुताध्ययन की प्ररूपणा ४५३, अष्टम तीर्थद्वार : पंचविध संयतों में तीर्थ-अतीर्थ प्ररूपणा ४५५, नौवां लिंगद्वार : पंचविध संयतों में स्व-अन्य गृहिलिंग प्ररूपणा ४५५, दसवां शरीरद्वार :

छब्वीसवां शतक

सत्ताईसवाँ शतक

अट्ठाईसवाँ शतक

उनतीसवाँ शतक

तीसवाँ शतक

बत्तीसवाँ शतक

तेतीसवाँ प्रथम एकेन्द्रिय शतक

द्वितीय से बारहवाँ एकेन्द्रियशतक

चौंतीसवाँ शतक : बारह एकेन्द्रियशतक

पतीस से चालीसवाँ शतक

पैंतीसवाँ शतक

छत्तीसवाँ शतक

सैंतीसवाँ शतक

अड़तीसवाँ शतक

उनचालीसवाँ शतक

चालीसवाँ शतक

इकतालीसवाँ शतक

उपसंहार

पंचमगणहर-सिरिसुहम्मसामिविरइयं पंचमं अंगं

वियाहपण्णत्तिसुत्तं

[भगवई]

चतुर्थ खण्ड

पञ्चमगणधर—श्रीसुधर्मस्वामिविरचितं पञ्चमाङ्गम्

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्रम्

[भगवती]

वीसइमं सयं : वीसवाँ शतक

प्राथमिक

* व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र का यह वीसवाँ शतक है। इसके दस उद्देशक हैं।

* **प्रथम उद्देशक : 'द्वीन्द्रिय'** में द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर पंचेन्द्रिय जीवों के शरीरवन्ध, आहार, लेश्या, दृष्टि, योग, ज्ञान-अज्ञान, संवेदन, संज्ञा-प्रज्ञा, मन, वचन, प्राणातिपात आदि का भाव, समुद्घात, उत्पत्ति एवं स्थिति कितनी होती है ? एवं कौन किससे अल्प या अधिकादि है ? इसकी चर्चा की गई है।

* **द्वितीय उद्देशक : 'आकाश'** में आकाश के प्रकार, धर्मास्तिकायादि शेष अस्तिकायों की जीव-रूपता-अजीवरूपता, सीमा तथा धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय तक के विविध अभिवचनों (पर्यायवाचक शब्दों) की प्ररूपणा की गई है।

* **तृतीय उद्देशक : 'प्राणवध'** में प्रतिपादित किया गया है कि प्राणातिपात आदि १८ पापस्थान, चार प्रकार की बुद्धियाँ, अवग्रहादि चार मतिज्ञान, उत्थानादि पांच, नारकत्व, देवत्व, मनुष्यत्व आदि, अष्टविध कर्म, छह लेश्या, पाँच ज्ञान, तीन अज्ञान, चार दर्शन, चार संज्ञा, पांच शरीर, दो उपयोग आदि धर्म आत्मरूप हैं, ये आत्मा से अन्यत्र परिणत नहीं होते।

* **चतुर्थ उद्देशक : 'उपचय'** में प्रज्ञापनासूत्र के इन्द्रियपद के अतिदेशपूर्वक पांच इन्द्रियों के उपचय का निरूपण किया गया है।

* **पांचवाँ उद्देशक : परमाणु** है। परमाणुपुद्गल से लेकर द्विप्रदेशी स्कन्ध, त्रिप्रदेशी यावत् दशप्रदेशी तथा संख्यात-असंख्यात-अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में पाये जाने वाले वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के विविध विकल्पों की प्ररूपणा की गई है। अन्त में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-विषयक परमाणु चतुष्टय के विविध प्रकारों का वर्णन है।

छठा उद्देशक : अन्तर है। इसमें प्रतिपादन किया गया है कि पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर जीव रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा आदि नरकपृथ्वियों में मरणसमुद्घात करके सौधर्म, ईशान आदि से लेकर ईषत्प्राग्भारपृथ्वी में पृथ्वीकायिकादि के रूप में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं या विपरीत रूप से करते हैं ? इसके पश्चात् उन्हीं स्थावरादि के विषय में पूछा गया है कि सौधर्म-ईशान और सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प के मध्य में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभादि नारकपृथ्वियों में पृथ्वीकायादिरूप से उत्पन्न होने योग्य हैं, वे भी पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं या पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करते हैं ? इसका समाधान किया गया है कि दोनों प्रकार से करते हैं।

※ **सप्तम उद्देशक : बन्ध** में सर्वप्रथम जीवप्रयोगादि तीन प्रकार के बन्ध का निरूपण करने के बाद ज्ञानावरणीयादि कर्मों के त्रिविध बन्ध का और चौवीस दण्डकों में ज्ञानावरणीयादि अष्टविध कर्मों का त्रिविधबन्ध-निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् चौवीस दण्डकों में उदयप्राप्त ज्ञानावरणीयादि के बन्ध का, स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद के बन्ध का, फिर औदारिक शरीर, चार संज्ञा, छह लेश्या, तीन दृष्टि, पांच ज्ञान, तीन अज्ञान, इन सब ११ बोलों के यथायोग्य बन्ध का निरूपण किया गया है। 'बन्ध' शब्द से यहाँ कर्मपुद्गलों का बन्ध विवक्षित नहीं है, किन्तु सम्बन्धमात्र को बन्ध कहा गया है।

※ **अष्टम उद्देशक : भूमि है।** इसमें पहले कर्मभूमि और अकर्मभूमि के प्रकार तथा इनमें एवं ५ भरत, ५ ऐरवत एवं ५ महाविदेह क्षेत्रों में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल तथा सप्रतिक्रमण पंच-महाव्रत रूप धर्म का उपदेश है या नहीं ? इसका निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् जम्बूद्वीपीय भरतक्षेत्र में हुए चौवीस तीर्थंकरों के नाम, इनमें हुए जिनान्तरों का तथा जिनान्तरों के समय कालिक श्रुत के विच्छेद का कथन किया गया है। फिर भगवान् के तीर्थ की अविच्छिन्नता की कालावधि तथा तीर्थ और तीर्थंकर की भिन्नता-अभिन्नता का एवं उग्र, भोग, राजन्यादि क्षत्रियकुल के व्यक्तियों की धर्मप्रवेश की तथा मोक्षप्राप्ति या देवलोकप्राप्ति की सम्भावना का निरूपण किया गया है।

※ **नौवाँ उद्देशक : चारण है।** इसमें जंघाचारण और विद्याचारण, यों चारणमुनि के दो भेद करके, दोनों का स्वरूप तथा इन दोनों प्रकार के चारणमुनियों के उत्पात का सामर्थ्य तथा गति की तीव्रता का सामर्थ्य एवं गति का विषय तथा दोनों की आराधना-विराधना का रहस्य बताया गया है। साथ ही जंघाचरण को जंघाचारणलब्धि की उत्पत्ति का रहस्य भी प्रतिपादित किया गया है।

※ **दसवाँ उद्देशक : सोपक्रम जीव है।** आयुष्य के दो भेद—सोपक्रम और निरुपक्रम करके, चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में उनका निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् चौवीस दण्डकों के जीव आत्मोपक्रम, परोपक्रम एवं निरुपक्रम तथा आत्मऋद्धि-परऋद्धि, आत्मकर्म-परकर्म, आत्मप्रयोग-परप्रयोग, इनमें से किस रूप में उद्वर्तन (मृत्यु) करते हैं या उत्पन्न होते हैं ? इसका निरूपण है। फिर चौवीस दण्डकों और सिद्धों में कतिसंचित, अकतिसंचित और अवक्तव्यसंचित की प्ररूपणा की गई है। तत्पश्चात् चौवीस दण्डकों और सिद्धों में कौन-कौन षट्क-समर्जित, नोषट्क-समर्जित एवं अनेक षट्कसमर्जित तथा द्वादशसमर्जित, नोद्वादशसमर्जित एवं अनेक द्वादशसमर्जित हैं तथा इनमें से कौन किससे अल्प, अधिक, तुल्य या विशेषाधिक हैं ? इसकी प्ररूपणा की गई है।

※ कुल मिला कर समस्त जीवों के विषय में विविध पहलुओं से सुन्दर चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। इससे धर्माचरण, संयमपालन एवं अप्रमाद आदि अनेक प्रकार की प्रेरणा मिलती है। □□

वीसइमं सयं : वीसवाँ शतक

वीसवें शतक के उद्देशकों का नाम-निरूपण

१. बेइंदिय १ मागासे २ पाणवहे ३ उवचए ४ य परमाणू ५।
अंतर ६ बंधे, भूमी ८ चारण ९ सोवक्कमा जीवा १० ॥१॥

[१. गाथार्थ—] (इस शतक में दश उद्देशक इस प्रकार हैं—) (१) द्वीन्द्रिय, (२) आकाश, (३) प्राणवध, (४) उपचय, (५) परमाणु, (६) अन्तर, (७) बन्ध, (८) भूमि, (९) चारण और (१०) सोपक्रम जीव।

विवेचन—दश उद्देशकों में प्रतिपाद्य विषय—(१) द्वीन्द्रियादि की वक्तव्यता-विषयक प्रथम उद्देशक है। (२) **द्वितीय उद्देशक**—आकाशादि—अर्थ-विषयक है। (३) **तृतीय उद्देशक** में प्राणातिपातादि सभी आत्मविषयक तथ्यों की प्ररूपणा है। (४) **चतुर्थ उद्देशक** में श्रोत्रेन्द्रिय आदि के उपचय का वर्णन है। (५) **पंचम उद्देशक** में परमाणु-सम्बन्धी वक्तव्यता है। (६) **छठा उद्देशक** रत्नप्रभादि नरकभूमियों के अन्तराल-विषयक है। (७) **सप्तम उद्देशक**—जीव-प्रयोगादिबन्ध के विषय में है। (८) **अष्टम उद्देशक** में कर्मभूमि-अकर्मभूमि आदि का प्रतिपादन है। (९) **नौवें उद्देशक** में विद्याचारण आदि का वर्णन है और (१०) **दसवें उद्देशक** में जीवों के सोपक्रम-निरुपक्रम होने का निरूपण है।[1] □

---

१. भगवती, अ. वृत्ति, पत्र ७७४

पढमो उद्देसओ : 'बेइंदिय'

प्रथम उद्देशक : द्वीन्द्रियादि विषयक

विकलेन्द्रिय जीवों में स्यात्, लेश्यादि द्वारों का निरूपण

२. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[२] 'भगवन् !' राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. सिय[1] भंते जाव चत्तारि पंच बेंदिया एगयओ साधारणसरीरं बंधंति, एग० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति वा परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति ?

नो तिणट्ठे समट्ठे, बेंदिया णं पत्तेयाहारा य पत्तेयपरिणामा पत्तेयसरीरं बंधंति, प० बं० २ ततो पच्छा आहारेंति वा परिणामेंति वा सरीरं वा बंधंति।

[३ प्र.] भगवन् ! क्या कदाचित् दो, तीन, चार या पांच द्वीन्द्रिय जीव मिलकर एक साधारण शरीर बांधते हैं, इसके पश्चात् आहार करते हैं ? अथवा आहार को परिणमाते हैं, फिर विशिष्ट शरीर को बांधते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (यथार्थ) नहीं है, क्योंकि द्वीन्द्रिय जीव पृथक्-पृथक् आहार करने वाले और उसका पृथक्-पृथक् परिणमन करने वाले होते हैं। इसलिए वे पृथक्-पृथक् शरीर बांधते हैं, फिर आहार करते हैं तथा उसका परिणमन करते हैं और विशिष्ट शरीर बांधते हैं।

४. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! तओ लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा, एवं जहा एगूणवीसतिमे सए तेउकाइयाणं (स० १९ उ० ३ सु० १९) जाव उव्वट्टंति, नवरं सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी; दो नाणा, दो अन्नाणा नियमं; नो मणजोगी, वयजोगी वि, कायजोगी वि; आहारो नियमं छद्दिसिं।

[४ प्र.] भगवन् ! उन (द्वीन्द्रिय) जीवों के कितनी लेश्याएं कही गई हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उनके तीन लेश्याएं कही गई हैं। यथा कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। इस प्रकार समग्र वर्णन, जो उन्नीसवें शतक (के तीसरे उद्देशक के सू. १९) में अग्निकायिक जीवों के विषय में कहा गया है, वह यहाँ भी यावत्—उद्वर्तित होते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि ये द्वीन्द्रिय जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं, पर सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते हैं। उनके नियमतः दो ज्ञान या दो अज्ञान होते हैं। वे मनोयोगी

---

१. सिय-लेस्सा आदि द्वारों को जानने के लिए देखें १९ वें शतक के तृतीय उद्देशक के सू. २ से १७ तक।

नहीं होते, वचनयोगी भी होते हैं और काययोगी भी। वे नियमतः छह दिशा का आहार लेते—पुद्गल ग्रहण करते हैं।

५. तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सन्ना ति वा पन्ना ति वा मणे ति वा वयी ति वा 'अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे रसे इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो' ?

णो तिणट्ठे समट्ठे, पडिसंवेदेंति पुण ते। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं। सेसं तं चेव।

[५ प्र.] क्या उन जीवों को—'हम इष्ट और अनिष्ट रस तथा इष्ट-अनिष्ट स्पर्श का प्रतिसंवेदन (अनुभव) करते हैं', ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन होता है ?

[५ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वे रसादि का संवेदन करते हैं। उनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है और उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है। शेष सब पूर्ववत् समझ लेना चाहिए।

६. एवं तेइंदिया वि। एवं चउरिंदिया वि। नाणत्तं इंदिएसु ठितीए य, सेसं तं चेव, ठिती जहा पन्नवणाए।[1]

[६] इसी प्रकार (द्वीन्द्रिय की तरह) त्रीन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी समझना चाहिए। किन्तु इनकी इन्द्रियों में और स्थिति में अन्तर है। शेष सब बातें पूर्ववत् हैं। इनकी स्थिति प्रज्ञापनासूत्र (चौथे पद) के अनुसार जाननी चाहिए।

विवेचन—द्वीन्द्रियादि जीवों के स्यात्, शरीर, लेश्यादि-निरूपण—प्रस्तुत पांच सूत्रों (सू. २ से ६ तक) में उन्नीसवें शतक में निर्दिष्ट स्यात्-शरीर-लेश्यादि का निरूपण किया गया है।

त्रीन्द्रिय जीवों में विशेष—इन के तीन इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की, उत्कृष्ट ४९ अहोरात्र की होती है।

चतुरिन्द्रिय जीवों में विशेष—इनके चार इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट छह महीनों की होती है।[2]

पंचेन्द्रिय जीवों में स्यात् लेश्यादि द्वारों का निरूपण

७. सिय भंते ! जाव चत्तारि पंच पंचेंदिया एगयओ साहारण०।

एवं जहा बिंदियाणं (सु० ३–५), नवरं छ लेसाओ, दिट्ठी तिविहा वि; चत्तारि नाणा, तिण्णि अण्णाणा भयणाए; तिविहो जोगो।

[७ प्र.] भगवन् ! क्या कदाचित् दो, तीन, चार या पांच आदि पंचेन्द्रिय मिल कर एक साधारणशरीर बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

---

१. त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों की स्थिति को जानने के लिए देखें—प्रज्ञापनासूत्र, चतुर्थपद सू. ३७०-७१

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७४

[७ उ.] गौतम ! (इसका समाधान) पूर्ववत् द्वीन्द्रियजीवों के समान (जानना चाहिए।) विशेष यह है कि इनके छहों लेश्याएँ और तीनों दृष्टियाँ होती हैं। इनमें चार ज्ञान अथवा तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से होते हैं। तीनों योग होते हैं।

८. तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सन्ना ति वा पण्णा ति वा जाव वती ति वा 'अम्हे णं आहारमाहारेमो' ? गोयमा ! अत्थेगइयाणं एवं सण्णा ति वा पण्णा ति वा मणो ति वा वती ति वा 'अम्हे णं आहारमाहारेमो', अत्थेगइयाणं नो एवं सन्ना ति वा जाव वती ति वा 'अम्हे णं आहार-माहारेमो', आहारेंति पुण ते।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या उन (पंचेन्द्रिय) जीवों को ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन होता है कि 'हम आहार ग्रहण करते हैं ?'

[८ उ.] गौतम ! कितने ही (संज्ञी) जीवों को ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन होता है कि 'हम आहार ग्रहण करते हैं', जबकि कई (असंज्ञी) जीवों को ऐसी संज्ञा यावत् वचन नहीं होता कि हम आहार ग्रहण करते हैं, परन्तु वे आहार तो करते ही हैं।

९. तेसि णं भंते ! जीवाणं एवं सन्ना ति वा जाव वती ति वा 'अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे सद्दे, इट्ठाणिट्ठे रूवे, इट्ठाणिट्ठे गंधे, इट्ठाणिट्ठे रसे, इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो' ? गोयमा ! अत्थेगइयाणं एवं सन्ना ति वा जाव वयी ति वा 'अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे सद्दे जाव इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो', अत्थेगइयाणं नो एवं सण्णा ति वा जाव वती इ वा 'अम्हे णं इट्ठाणिट्ठे सद्दे जाव इट्ठाणिट्ठे फासे पडिसंवेदेमो', पडिसंवेदेंति पुण ते।

[९ प्र.] भगवन् ! क्या उन (पंचेन्द्रिय) जीवों को ऐसी संज्ञा, प्रज्ञा, मन अथवा वचन होता है कि हम इष्ट या अनिष्ट शब्द, इष्ट या अनिष्ट रूप, इष्ट या अनिष्ट गन्ध, इष्ट या अनिष्ट रस अथवा इष्ट या अनिष्ट स्पर्श का अनुभव (प्रतिसंवेदन) करते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! कतिपय (संज्ञी) जीवों को ऐसी संज्ञा, यावत् वचन होता है कि हम इष्ट या अनिष्ट शब्द यावत् इष्ट या अनिष्ट स्पर्श का अनुभव करते हैं। किसी-किसी (असंज्ञी) को ऐसी संज्ञा नहीं होती है। परन्तु वे (शब्द आदि का) संवेदन (अनुभव) तो करते ही हैं।

१०. ते णं भंते ! जीवा किं पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति० पुच्छा। गोयमा ! अत्थेगतिया पाणातिवाए वि उवक्खाइज्जंति जाव मिच्छादंसणसल्ले वि उवक्खाइज्जंति; अत्थेगतिया नो पाणातिवाए उवक्खाइज्जंति, नो मुसावादे जाव नो मिच्छादंसणसल्ले उवक्खाइज्जंति। जेसिं पि णं जीवाणं ते जीवा एवमाहिज्जंति तेसिं पि णं जीवाणं अत्थेगइयाणं विन्नाए नाणत्ते, अत्थेगइयाणं नो विन्नाए नाणत्ते। उववातो सव्वतो जाव सव्वट्ठसिद्धाओ। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। छस्समुग्घाया केवलिवज्जा। उव्वट्टणा सव्वत्थ गच्छंति जाव सव्वट्ठसिद्धं ति। सेसं जहा बेंदियाणं।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या ऐसा कहा जाता है कि वे (पंचेन्द्रिय) जीव प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य में रहे हुए हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१० उ.] गौतम ! उनमें से कई (पंचेन्द्रिय) जीव प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य में रहे हुए हैं, ऐसा कहा जाता है और कई जीव प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शन शल्य में नहीं रहे हुए हैं, ऐसा कहा जाता है।

जिन जीवों के प्रति वे प्राणातिपात आदि (का व्यवहार) करते हैं, उन जीवों में से कई जीवों को—'हम मारे जाते हैं, और ये हमें मारने वाले हैं' इस प्रकार का विज्ञान होता है और कई जीवों को इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता। उन जीवों का उत्पाद सर्व जीवों से यावत् सर्वार्थसिद्ध से भी होता है। उनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है। उनमें केवली समुद्घात को छोड़ कर (शेष) छह समुद्घात होते हैं। वे मर कर सर्वत्र यावत् सर्वार्थसिद्ध तक जाते हैं। शेष सब बातें द्वीन्द्रियजीवों के समान जाननी चाहिए।

विवेचन—पंचेन्द्रियजीवों में स्यात् आदि द्वारों की प्ररूपणा—पूर्ववत् स्यात् आदि द्वारों का पंचेन्द्रियजीवों में निरूपण किया गया है। **संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रियजीवों में अन्तर**—संज्ञी पंचेन्द्रिय-जीवों को ऐसा ज्ञान हुआ करता है कि हम आहार कर रहे हैं, अथवा हम इष्ट या अनिष्ट शब्द, रूप, रस, गन्ध या स्पर्श का अनुभव कर रहे हैं, इसी प्रकार वे वध्य और घातक के भेदज्ञान से युक्त होते हैं कि हम इनके द्वारा मारे जा रहे हैं और ये हमें मारने वाले हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रियजीवों को न तो इष्ट रसादि का विवेक होता है और न वध्य-घातक का भेदज्ञान होता है।

द्वीन्द्रियजीवों से पंचेन्द्रियजीवों में अन्तर—द्वीन्द्रियजीवों में आदि की तीन ही लेश्याएं होती हैं, जब कि पंचेन्द्रियजीवों में छहों लेश्याएं होती हैं। द्वीन्द्रियजीवों में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि ये दो ही दृष्टियां पाई जाती हैं, जब कि पंचेन्द्रियजीवों में तीसरी सम्यग्मिथ्यादृष्टि भी पाई जाती है। वहाँ मति और श्रुतज्ञान होता है, जबकि यहाँ मत्यादि चार ज्ञान भजना से कहे गए हैं। जिसे केवलज्ञान होता है, उसके एक ही ज्ञान होता है। इसमें तीन अज्ञान विकल्प से होते हैं, नियम से नहीं। द्वीन्द्रियजीवों में वचनयोग और काययोग ही होते हैं, जबकि पंचेन्द्रिय में तीनों योग होते हैं। इनकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की है और उत्पाद सर्वार्थसिद्ध तक सर्वत्र होता है।

'प्राणातिपात' आदि से रहित कौन, सहित कौन ?—असंयतजीव प्राणातिपात यावत् मिथ्या-दर्शन शल्य वाले होते हैं जबकि संयतजीव इनसे रहित होते हैं।

कठिन शब्दार्थ— उववखाइज्जंति: दो अर्थ—(१) उपस्थित रहते हैं, (२) कहते हैं।

विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रियजीवों का अल्प-बहुत्व

११. एएसि णं भंते ! बेइंदियाणं जाव पंचेंदियाण य कयरे जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पंचेंदिया, चउरिंदिया विसेसाहिया, तेइंदिया विसेसाहिया, बेइंदिया विसेसाहिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ वीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ २०-१ ॥

[११ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) द्वीन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय जीवों में कौन किससे यावत् विशेषाधिक है ?

[११ उ.] गौतम ! सबसे अल्प पंचेन्द्रिय जीव हैं। उनसे चतुरिन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं, उनसे त्रीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं और उनसे द्वीन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

।। वीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

बीओ उद्देसओ : 'आगासे'

द्वितीय उद्देशक : आकाश [आदि पंचास्तिकायसम्बन्धी]

आकाशास्तिकाय के भेद, स्वरूप तथा पंचास्तिकायों का प्रमाण

१. कतिविधे णं भंते ! आगासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविधे आगासे पन्नत्ते, तं जहा—लोयागासे य अलोयागासे य।

[१ प्र.] भगवन् ! आकाश कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! आकाश दो प्रकार का कहा गया है। यथा—लोकाकाश और अलोकाकाश।

२. लोयागासे णं भंते ! किं जीवा, जीवदेसा ?

एवं जहा बितियसए अत्थिउद्देसे (स० २ उ० १० सु० ११–१३) तह चेव इह वि भाणियव्वं, नवरं अभिलावो जाव धम्मत्थिकाए णं भंते ! केमहालए पन्नत्ते ? गोयमा ! लोए लोयमेत्ते लोयपमाणे लोयफुडे लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठइ। एवं जाव पोग्गलत्थिकाए।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या लोकाकाश जीवरूप है, अथवा जीवदेश-रूप है ? इत्यादि प्रश्न ?

[२ उ.] गौतम ! द्वितीय शतक के दशवें अस्ति-उद्देशक (सू. ११-१३) में जिस प्रकार का कथन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेष में यह अभिलाप भी यावत् धर्मास्तिकाय से लेकर पुद्गलास्तिकाय तक यहाँ कहना चाहिए—

[प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय कितना बड़ा है ?

[उ.] गौतम ! धर्मास्तिकाय लोक, लोकमात्र, लोक-प्रमाण, लोक-स्पृष्ट और लोक को अवगाढ करके रहा हुआ है, इस प्रकार यावत् पुद्गलास्तिकाय तक कहना चाहिए।

विवेचन—एक अखण्ड आकाश के ये दो भेद ?—आकाशद्रव्य मूलतः एक ही है, फिर भी उसके ये जो दो भेद किये गए हैं, वे जीव-अजीव आदि द्रव्यों के आधारभूत आकाश की अपेक्षा से किये गए हैं। अर्थात् जीवादि द्रव्य आकाश के जितने भाग में पाए जाते हैं, वह लोकाकाश है और इससे अतिरिक्त भाग अलोकाकाश है।[1]

अभिलाप का अतिदेश-विशेष—प्रस्तुत सूत्र (२) में द्वितीय शतक के जिस अभिलाप-विशेष का अतिदेश किया गया है, वहाँ चार बातें विशेष रूप से समझ लेनी चाहिए—(१) **'लोयं चेव फुसित्ता णं चिट्ठइ'** के स्थान में **'लोयं चेव ओगाहित्ताणं चिट्ठइ'**, समझना, (२) यह अभिलाप 'जाव धम्मात्थिकाय' से लेकर 'अलोयागासे णं भंते !' इत्यादि समग्र अलोकाकाश-सूत्र यहाँ कहना चाहिए,

---

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भाग १३, पृ. ४९९

(३) लोकाकाश जीवरूप भी है, जीवदेशरूप भी और जीवप्रदेशरूप भी है इत्यादि समस्त कथन।
(४) धर्मास्तिकायादि पांचों अस्तिकाय लोक को छूते हैं और लोक को व्याप्त करके ठहरे हुए हैं।[1]

अधोलोक आदि में धर्मास्तिकायादि की अवगाहना-प्ररूपणा

३. अहेलोए णं भंते ! धम्मत्थिकायस्स केवतियं ओगाढे ?

गोयमा ! सातिरेगं अद्धं ओगाढे। एवं एएणं अभिलावेणं जहा बितियसए (स० २ उ० १० सु० १५-२१) जाव ईसिपब्भारा णं भंते ! पुढवी लोयागासस्स किं संखेज्जइभागं ओगाढा ?० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जतिभागं ओगाढा; असंखेज्जतिभागं ओगाढा; नो संखेज्जे भागे, नो असंखेज्जे भागे, नो सव्वलोयं ओगाढा। सेसं तं चेव।

[३ प्र.] भगवन् ! अधोलोक, धर्मास्तिकाय के कितने भाग को अवगाढ करके रहा हुआ है ?

[३ उ.[गौतम ! वह कुछ अधिक अर्द्ध भाग को अवगाढ कर रहा हुआ है। इस प्रकार इस अभिलाप द्वारा दूसरे शतक के दशवें उद्देशक (सू. १५-२१) में कथित वर्णन यहाँ भी समझना चाहिए; यावत्— .

[प्र.] भगवन् ! ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी लोकाकाश के संख्यातवें भाग को अवगाहित करके रही हुई है अथवा असंख्यातवें भाग आदि को ?

[उ.] गौतम ! वह लोकाकाश के संख्यातवें भाग को अवगाहित नहीं की हुई है, किन्तु असंख्यातवें भाग को अवगाहित की हुई है, (वह लोक के) संख्यात भागों को अथवा असंख्यात भागों को भी व्याप्त करके स्थित नहीं है और न समग्र लोक को व्याप्त करके स्थित है। शेष सब पूर्ववत्।

विवेचन—इस पंक्ति का फलितार्थ यह है कि ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी अर्थात् सिद्धशिला न तो समग्र लोक को व्याप्त करके स्थित है, न ही लोक के संख्यात-असंख्यात भागों को, न संख्यातवें भाग को, किन्तु लोक के असंख्यातवें भाग को ही व्याप्त करके स्थित है।[2]

धर्मास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द

४. धम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवतिया अभिवयणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—धम्मे ति वा, धम्मत्थिकाये ति वा, पाणातिवायवेरमणे ति वा, मुसावायवेरमणे ति वा एवं जाव परिग्गहवेरमणे ति वा, कोहविवेगे ति वा जाव मिच्छादंसणसल्लविवेगे ति वा, इरियासमिती ति वा, भासास० एसणास० आदाण-भंडमत्तनिक्खेवणस० उच्चार-पासवणखेल-सिंघाण-पारिट्ठावणियासमिती ति वा, मणगुत्ती ति वा, वइगुत्ती ति वा, कायगुत्ती ति वा, जे यावऽन्ने तहप्पगारा सव्वे ते धम्मत्थिकायस्स अभिवयणा।

[४ प्र.] भगवन् धर्मास्तिकाय के कितने अभिवचन कहे गए हैं ?

---

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भाग १३, पृ. ५००-५०१
२ भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भाग १३, पृ. ५०२

[४ उ.] गौतम ! इसके अनेक अभिवचन (पर्यायवाची शब्द) कहे गए हैं। यथा—धर्म, धर्मास्तिकाय, प्राणातिपातविरमण, मृषावादविरमण, यावत् परिग्रहविरमण, अथवा क्रोध-विवेक, यावत्—मिथ्यादर्शन-शल्य-विवेक, अथवा ईर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदानभाण्डमात्र-निक्षेपणासमिति, उच्चार-प्रस्रवणखेलजल्लसिंघाणपरिष्ठपनिकासमिति, अथवा मनोगुप्ति, वचनगुप्ति या कायगुप्ति; ये सब तथा इनके समान जितने भी दूसरे इस प्रकार के शब्द हैं, वे धर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं।

विवेचन—अभिवचन अर्थात् पर्यायवाची शब्द।

धर्मास्तिकाय के ये पर्यायवाची शब्द : क्यों और कैसे ?—धर्मास्तिकाय के पर्यायवाची मुख्यतया दो शब्द हैं—(१) धर्म और (२) धर्मास्तिकाय। धर्मशब्द भी इन दोनों अर्थों का अभिधायक इस प्रकार है—(१) जो उत्तम सुख (मोक्ष) में धरता—रखता है, अथवा दुर्गति में गिरते हुए आत्मा को धारण करके सुगति में रखता है, वह धर्म है। वह सामान्यधर्म और विशेष-धर्म के रूप में दो प्रकार का है। यह धर्म शब्द सामान्यधर्मप्रतिपादक है। श्रुत-चारित्रधर्म विशेष-धर्म-प्रतिपादक है। इसी प्रकार प्राणातिपातविरमण आदि से कायगुप्ति तक जितने भी शब्द हैं अथवा और भी इस प्रकार के चारित्रधर्म से सम्बन्धित जो शब्द हैं, वे सब चारित्रधर्म के अन्तर्गत विशेषधर्म के प्रतिपादक हैं। (२) धर्मास्तिकाय द्रव्य भी धर्म का पर्यायवाची शब्द है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जो जीव और पुद्गलों की गति और पर्याय को धारण करता है, वह धर्म-द्रव्य है। इसी का दूसरा नाम धर्मास्तिकाय है, जिसका निर्वचन इस प्रकार है—धर्मरूप अस्तिकाय अर्थात् प्रदेशराशि-धर्मास्तिकाय है। आशय यह है कि धर्मशब्द के साधर्म्य से अस्तिकायरूप धर्म के प्राणातिपात-विरमणादि चारित्रधर्म भी पर्यायवाची है।[1]

जे यावन्ने तहप्पगारा का आशय—ये और अन्य भी तथाप्रकार के जो चारित्रधर्माभिधायक सामान्य-विशेषधर्मप्रतिपादक शब्द हैं, वे सब धर्मास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द हैं।[2]

अधर्मास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द

५. अधम्मत्थिकायस्स णं भंते ! केवइया अभिवयणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—अधम्मे ति वा, अधम्मत्थिकाये ति वा, पाणातिवाए ति वा जाव मिच्छादंसणसल्ले ति वा, इरियाअस्समिती ति वा जाव उच्चार-पासवण जाव पारिट्ठावणियाअस्समिती ति वा, मणअगुत्ती ति वा, वइअगुत्ती ति वा, कायअगुत्ती ति वा, जे यावऽन्ने तहप्पगारा सव्वे ते अधम्मत्थिकायस्स अभिवयणा।

[५ प्र.] भगवन् ! अधर्मास्तिकाय के कितने अभिवचन कहे गए हैं ?

[५ उ.] गौतम ! (उसके) अनेक अभिवचन कहे गए हैं। यथा—अधर्म, अधर्मास्तिकाय, अथवा प्राणातिपात यावत् मिथ्यादर्शनशल्य, अथवा ईर्यासम्बन्धी असमिति, यावत् उच्चार-प्रस्रवण-

---

१. (क) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २८४०

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७६

२. वही, पत्र ७७६

खेल-जल्ल-सिंघाण-परिष्ठापनिकासम्बन्धी असमिति; अथवा मन-अगुप्ति, वचन-अगुप्ति और काय-अगुप्ति; ये सब और इसी प्रकार के जो अन्य शब्द हैं, वे सब अधर्मास्तिकाय के अभिवचन हैं।

विवेचन—धर्मास्तिकाय के विपरीत शब्द : अधर्मास्तिकाय के पर्यायवाची—पूर्वोक्त लक्षण वाले धर्म से विपरीत अधर्म शब्द है, जो जीव और पुद्‌गलों की स्थिति में सहायक है। शेष सब पूर्ववत् समझना चाहिए।[1]

आकाशास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द

६. आगासत्थिकायस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—आगासे ति वा, आगासत्थिकाये ति वा, गगणे ति वा, नभे ति वा, समे ति वा, विसमे ति वा, खहे ति वा, विहे ति वा, वीयी ति वा, विवरे ति वा, अंबरे ति वा, अंबरसे ति वा, छिड्डे ति वा, झुसिरे ति वा, मग्गे ति वा, विमुहे ति वा, अद्दे ति वा, वियद्दे ति वा, आधारे ति वा, वोमे ति वा, भायणे ति वा, अंतरिक्खे ति वा, सामे ति वा, ओवासंतरे ति वा, अगमे ति वा, फलिहे ति वा, अणंते ति वा, जे यावऽन्ने तहप्पगारा सव्वे ते आगासत्थिकायस्स अभिवयणा।

[६. प्र.] भगवन् ! आकाशास्तिकाय के कितने अभिवचन कहे गए हैं ?

[६. उ.] गौतम ! (आकाशास्तिकाय के) अनेक अभिवचन कहे गए हैं। यथा—आकाश, आकाशास्तिकाय, अथवा गगन, नभ, अथवा सम, विषम, खह (ख), विहायस्, वीचि, विवर, अम्बर, अम्बरस, छिद्र, शुषिर, मार्ग, विमुख, अर्द, व्यर्द, आधार, व्योम, भाजन, अन्तरिक्ष, श्याम, अवकाशान्तर, अगम, स्फटिक और अनन्त; ये सब तथा इनके समान और भी अनेक अभिवचन आकाशास्तिकाय के हैं।

विवेचन—'आकाश' शब्द का निर्वचन—आ—मर्यादापूर्वक अथवा अभिविधिपूर्वक सभी अर्थ जहाँ **काश** को यानी अपने-अपने स्वभाव को प्राप्त हों, वह 'आकाश' है।

गगनादि कठिन शब्दों के निर्वचन—गगन—जिसमें गमन का अतिशय विषय (प्रदेश) है। **नभ**—जिसमें भा अर्थात् दीप्ति न हो। **सम**—जिसमें निम्न—नीची और उन्नत—ऊंची ऊबड़खाबड़ जगह का अभाव हो, वह सम है। **विषम**—जहाँ पहुँचना दुर्गम हो, वह विषम है। **खह**—खनन करने और हान—त्याग करने (छोड़ने) पर भी जो रहता है, वह खह। **विहायस्**—विशेषतया जिसका हान—त्याग किया जाता हो। **विवर**—वरण—आवरण से रहित (विगत)। **वीचि**—जिसका विविक्त, पृथक् या एकान्त स्वभाव हो। **अम्बर**—अम्बा (माता) की तरह जननसामर्थ्यशील, अम्बा—जल। उसका दान (राण) देने वाला। **अम्बरस**—अम्बा—जलरूप रस जिसमें से गिरता हो। **छिद्र**—छिद—छेदन होने पर भी जिसका अस्तित्व रहे वह छिद्र। **शुषिर**—समुद्रादि से जल शोष कर पुनः दान कर देता हो, उसे शुषिर कहते हैं। **मग्गे**—मार्ग—आकाश स्वयं पथरूप होने से मार्ग है। **विमुख**—जिसका कोई मुख—आदि (—सिरा) न हो। **अर्द व्यर्द**—जिस पर अर्दन—गमन, विशेषरूप से गमन किया जाए। **व्योम**—विशेषरूप से पक्षियों एवं मनुष्यों का जिससे अवन—रक्षण होता हो। **भाजन**—संसार

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७६.

का आश्रयदाता होने से। अन्तरिक्ष—अन्त:—मध्य में जिसकी ईक्षा—दर्शन हो; वह अन्तरिक्ष। श्यामवर्ण होने से वह श्याम भी कहलाता है। जहाँ विशेषादिरूप (अवकाशरूप) अन्तर न हो; वह अवकाशान्तर है। गम—गमनक्रिया से रहित होने से वह अगम है। स्फटिक के समान स्वच्छ होने से स्फटिक भी कहलाता है। अनन्त—अन्त (सीमा) से रहित होने से अनन्त—जिसका अन्त न हो।[1]

जीवास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द

७. जीवत्थिकायस्स णं भंते! केवतिया अभिवयणा० पुच्छा।

गोयमा! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—जीवे ति वा, जीवत्थिकाये ति वा, पाणे ति वा, भूते ति वा, सत्ते ति वा, विण्णू ति वा, चेया ति वा, जेया ति वा, आया ति वा, रंगणे ति वा, हिंडुए ति वा, पोग्गले ति वा, माणवे ति वा, कत्ता ति वा, विकत्ता ति वा, जए ति वा, जंतू ति वा, जोणी ति वा, सयंभू ति वा, ससरीरी ति वा, नायये ति वा, अंतरप्पा ति वा, जे यावऽन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जीवअभिवयणा।

[७. प्र.] भगवन्! जीवास्तिकाय के कितने अभिवचन कहे गए हैं?

[७. उ.] गौतम! उसके अनेक अभिवचन कहे गए हैं। यथा—जीव, जीवास्तिकाय, या प्राण, भूत, सत्त्व, अथवा विज्ञ, चेता, जेता, आत्मा, रंगण, हिण्डुक, पुद्गल, मानव, कर्त्ता, विकर्त्ता, जगत्, जन्तु, योनि, स्वयम्भू, सशरीरी, नायक, एवं अन्तरात्मा; ये सब और इसके समान अन्य अनेक अभिवचन जीव के हैं।

विवेचन—जीव के विविध अभिवचनों के व्युत्पत्यर्थ—जीव—जो प्राणधारण करता है—जीता है, आयुष्यकर्म और जीवत्व का अनुभव करता है, इसलिए वह जीव कहलाता है। वैसे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व, ये जैनशास्त्रों में जीव के चार पारिभाषिक शब्द भी हैं। वहाँ द्वीन्द्रिय-त्रीन्द्रिय-चतुरिन्द्रिय जीवों को **'प्राण'** वनस्पतिकाय को **'भूत'**, पंचेन्द्रियप्राणियों को जीव और चार स्थावरजीवों को **'सत्त्व'** कहते हैं। प्राणवायु को भीतर खींचने और बाहर छोड़ने (श्वासोच्छ्वास लेने) के कारण भी जीव को **'प्राण'** कहते हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों के साथ सम्बद्ध है, अच्छे-बुरे कार्य करने में समर्थ है, अथवा सत्ता वाला है, इसलिए इसे **शक्त, सक्त या सत्त्व** कहते हैं। कड़वे, कसैले, खट्टे-मीठे आदि रसों को जानता है, इसलिए इसे **विज्ञ** कहते हैं। सुख-दुःख का वेदन करता है, इसलिए 'वेद' कहते हैं। **चेता**—पुद्गलों का चयनकर्ता होने से चेता है। **जेता**—कर्मरिपुओं का विजेता होने से। **आत्मा**—नाना गतियों में सतत अतन—गमन (परिभ्रमण) करता है। **रंगण**—रागयुक्त है। नाना गतियों में हिण्डन—भ्रमण करता है, इसलिए इसे **'हिण्डुक'** कहते हैं। **पुद्गल**—शरीरों के पूरण—गलन होने से पुद्गल है। **मा+नव**—जो नवीन न हो, अनादि (प्राचीन) हो, वह **मानव** है। **कर्त्ता**—कर्मों का कर्त्ता। **विकर्त्ता**—विविधरूप से कर्मों का कर्त्ता—**विकर्त्ता** अथवा विच्छेदक। **जगत्**—अतिशयगमनशील (विविधगतियों में) होने से। **जन्तु**—जो जन्म ग्रहण करता है। **योनि**—दूसरों को उत्पन्न करने वाला। **स्वयंम्भू**—स्वयं (अपने कर्मों के फलस्वरूप) होने वाला। **सशरीरी**—शरीरयुक्त होने के कारण

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७६

सशरीरी। **नायक**—कर्मों का नेता। **अन्तरात्मा**—जो अन्तः अर्थात् मध्यरूप आत्मा हो, शरीररूप न हो, वह। ये सब जीव के पर्यायवाची शब्द हैं।[1]

पुद्गलास्तिकाय के पर्यायवाची शब्द

८. पोग्गलत्थिकायस्स णं भंते ! पुच्छा।

गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पन्नत्ता, तं जहा—पोग्गले ति वा, पोग्गलत्थिकाये ति वा, परमाणुपोग्गले ति वा, दुपदेसिए ति वा, तिपदेसिए ति वा जाव असंखेज्जपदेसिए ति वा अणंतपदेसिए त्ति वा खंधे, जे यावऽन्ने तहप्पकारा सव्वे ते पोग्गलत्थिकायस्स अभिवयणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ वीसइमे सए: बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ २०-२ ॥

[८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय के कितने अभिवचन कहे गए हैं ?

[८ उ.] गौतम ! (उसके) अनेक अभिवचन कहे गए हैं। यथा—पुद्गल, पुद्गलास्तिकाय, परमाणु-पुद्गल, अथवा द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी यावत् असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशीस्कन्ध; ये और इसके समान अन्य अनेक अभिवचन पुद्गल के हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

॥ वीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

—

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७६-७७७

(ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचंदजी), पृ. २८४०-४१

(ग) प्राणाः द्वि-त्रि-चतुः प्रोक्ता, भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रियाः प्रोक्ताः शेषाः सत्त्वा उदीरिताः॥

तइओ उद्देसओ : 'पाणवहे'

तृतीय उद्देशक : प्राणवध (आदि-विषयक)

आत्मा में प्राणातिपात से लेकर अनाकारोपयोग धर्म तक का परिणमन

१. अह भंते ! पाणातिवाए मुसावाए जाव मिच्छादंसणसल्ले, पाणातिवायवेरमणे जाव मिच्छदंसणसल्लविवेगे, उप्पत्तिया जाव पारिणामिया, उग्गहे जाव धारणा, उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरिए, पुरिसक्कारपरक्कमे, नेरइयत्ते, असुरकुमारत्ते जाव वेमाणियत्ते, नाणावरणिज्जे जाव अंतराइए, कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा, सम्मदिट्ठी ३,+ चक्खुदंसणे ४,× आभिणिबोहियणाणे जाव □ विभंगनाणे, आहारसन्ना ४, ॥ ओरालियसरीरे ५,❀ मणोजोए ३,卐 सागारोवयोगे अणागारोवयोगे, जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते णऽन्नत्थ आताए परिणमंति ?

हंता, गोयमा ! पाणातिवाए जाव ते णऽन्नत्थ आताए परिणमंति।

[१ प्र.] भगवन् ? प्राणातिपात, मृषावाद यावत् मिथ्यादर्शन-शल्य, औत्पत्तिकी यावत् पारिणामिकी बुद्धि, अवग्रह यावत् धारणा, उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम; नैरयिकत्व, असुरकुमारत्व यावत् वैमानिकत्व, ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म, कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, चक्षुदर्शन यावत् केवलदर्शन, आभिनिबोधिकज्ञान यावत् विभंगज्ञान, आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा, औदारिक शरीर यावत् कार्मण शरीर, मनोयोग, वचनयोग, काययोग तथा साकारोपयोग एवं अनाकारोपयोग; ये सब और इनके जैसे अन्य धर्म; क्या आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणमन नहीं करते ?

[१ उ.] हाँ, गौतम ! प्राणातिपात से लेकर यावत् अनाकारोपयोग तक सब धर्म, आत्मा के सिवाय अन्यत्र परिणमन नहीं करते।

विवेचन—प्राणातिपात आदि आत्मा में परिणत होते हैं या अन्यत्र ?—प्राणातिपात आदि सभी आत्मा के पर्याय होने से आत्मा को छोड़ कर अन्यत्र परिणमन नहीं करते; क्योंकि

+ ३ का अंक शेष दो दृष्टियों—मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टि का सूचक है।

× ४ का अंक शेष तीन दर्शन—अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन का सूचक है।

□ 'जाव' पद से यहाँ 'सुयनाणे, ओहिनाणे, मणपज्जवनाणे, केवलनाणे, मतिअन्नाणे, सुयअन्नाणे' यह पाठ समझना चाहिए।

॥ ४ का अंक शेष तीन—'निद्दासन्ना, भयसन्ना मेहुणसन्ना' का सूचक है।

❀ ५ का अंक 'वेउव्वियसरीरे, आहारगसरीरे, तेयगसरीरे, कम्मगसरीरे' पाठ का सूचक है।

卐 ३ का अंक—'वइजोगे कायजोगे' इस पाठ का सूचक है।

पर्याय पर्यायी के साथ कथञ्चित् एक रूप होते हैं, इसलिए ये सब पर्याय आत्मरूप ही हैं, आत्मा से भिन्न पदार्थ में ये परिणत नहीं होते।[1]

गर्भ में उत्पन्न होते हुए जीव में वर्णादिप्ररूपणा

२. जीवे णं भंते! गब्भं वक्कममाणे कतिवण्णं कतिगंधं ?

एवं जहा बारसमसए पंचमुद्देसे (स० १२ उ० ५ सु० ३६–३७) जाव कम्मओ णं जए, णो अकम्मओ विभत्तिभावं परिणमति।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरति।

॥ वीसइमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ २०-३ ॥

[२ प्र.] भगवन्? गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले परिणामों से युक्त होता है?

[२ उ.] गौतम! बारहवें शतक के पंचम उद्देशक (सू. ३६-३७) में जैसा कहा है, उसी प्रकार यहाँ भी यावत्—कर्म से जगत् है, कर्म के विना जीव में विविध (रूप से जगत् का) परिणाम नहीं होता, यहाँ तक (जानना चाहिए।)

'हे भगवन्? यह इसी प्रकार है, भगवन्? यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत प्रश्न किस हेतु से उठाया गया है? यह जानना आवश्यक है, क्योंकि आत्मा (जीव) स्वभावतः अमूर्त्त है, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श से रहित है, तो फिर वह वर्णादि परिणाम से कैसे परिणमित हो सकता है? इस शंका का समाधान यह है कि गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव तैजस एवं कार्मण शरीर से युक्त होता है, तभी वह औदारिक आदि शरीर को ग्रहण करता है। शरीर पुद्गलमय है। वह वर्णादियुक्त होता है। इसलिए संसारी जीव वर्णादिविशिष्ट शरीर से कथञ्चित् अभिन्न माना गया है, ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि शरीररूप धर्म से कथंचित् अभिन्न जीवरूपी धर्मी कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्शों वाला होता है?

इसके उत्तर में भगवान् का उत्तर बारहवें शतक के पंचम उद्देशक में कथित है कि पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श के परिणामों से परिणत शरीर के साथ तादात्म्य-सम्बन्ध वाला जीव गर्भ में उत्पन्न होता है।[2]

कम्मओ णं जए० : तात्पर्य—इस पंक्ति का तात्पर्य यह है कि कर्म से ही जगत् यानी संसार की प्राप्ति होती है। कर्म के अभाव में जीव में विविधरूप से जगत् परिणत नहीं होता।[3]

॥ वीसवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७७७

२. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. १३, पृ. ५३२

३. वही, पृ. ५३३

चउत्थो उद्देसओ : 'उवचए'

चतुर्थ उद्देशक : 'उपचय'

इन्द्रियोपचय के भेदादि की प्ररूपणा

१. कतिविधे णं भंते ! इंदियोवचये पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविहे इंदियोवचये पन्नत्ते, तं जहा——सोतिंदियउवचए एवं बितियो इंदियउद्देसओ निरवसेसो भाणियव्वो जहा पन्नवणाए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरइ।

॥ वीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ २०-४ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियोपचय कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! इन्द्रियोपचय पांच प्रकार का कहा गया है। यथा——श्रोत्रेन्द्रियोपचय इत्यादि सब वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के (पन्द्रहवें पद के) द्वितीय इन्द्रियोद्देशक के समान कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन——इन्द्रियोपचय : स्वरूप और प्रकार——उपचय का अर्थ है——बढ़ना, वृद्धि होना। इन्द्रियाँ पांच हैं, इसलिए उनका उपचय भी पांच प्रकार का है। यह समग्र वर्णन प्रज्ञापनासूत्र के १५ वें पद के द्वितीय उद्देशक में विस्तृत रूप से किया गया है।[1]

॥ वीसवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) पण्णवणासुत्तं भा. १, सू. १००६-६७, पृ. २४९-६० (म. जै. विद्या.)

(ख) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. १३, पृ. ५३६

पंचमो उद्देसओ : 'परमाणू'

पंचम उद्देशक : परमाणु (आदि-विषयक)

परमाणु-पुद्गल में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-प्ररूपणा

१. परमाणुपोग्गले णं भंते ! कतिवण्णे कतिगंधे कतिरसे कतिफासे पन्नत्ते ?

गोयमा ! एगवण्णे एगगंधे एगरसे दुफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे––सिय कालए, सिय नीलए, सिय लोहियए, सिय हालिद्दए, सिय सुक्किलए। जति एगगंधे––सिय सुब्भिगंधे, सिय दुब्भिगंधे। जति एगरसे––सिय तित्ते, सिय कडुए, सिय कसाए, सिय अंबिले, सिय महुरे। जति दुफासे––सिय सीए य निद्धे य १, सिय सीते य लुक्खे य २, सिय उसिणे य निद्धे य ३; सिय उसिणे य लुक्खे य ४।

[१ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाला कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! (वह) एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श वाला कहा गया है। यथा—यदि एक वर्ण वाला हो तो १. कदाचित् काला, २. कदाचित् नीला, ३. कदाचित् लाल, ४. कदाचित् पीला और ५. कदाचित् श्वेत होता है। यदि एक गन्ध वाला होता है तो ६. कदाचित् सुरभिगन्ध और ७. कदाचित् दुरभिगन्ध वाला होता है। यदि एक रस वाला होता है तो ८. कदाचित् तीखा, ९, कदाचित् कटुक, १०. कदाचित् कसैला, ११. कदाचित् खट्टा और १२. कदाचित् मीठा (मधुर) होता है। यदि दो स्पर्श वाला होता है तो १३. कदाचित् शीत और स्निग्ध, १४. कदाचित् शीत और रूक्ष, १५. कदाचिन् उष्ण और स्निग्ध और १६. कदाचित् उष्ण और रूक्ष होता है।

[इस प्रकार परमाणु-पुद्गल में वर्ण के पांच, गन्ध के दो, रस के पांच और स्पर्श के चार, यों कुल मिला कर सोलह भंग पाए जाते हैं।]

विवेचन—परमाणु-पुद्गल में अविरोधी दो स्पर्श—इसमें शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन चार स्पर्शों में से दो अविरोधी स्पर्श पाये जाते हैं। शेष स्पर्श बादर पुद्गल में ही होते हैं। परमाणु-पुद्गल में नहीं।[1]

द्विप्रदेशी स्कन्ध में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की प्ररूपणा

२. दुपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे०।

एवं जहा अट्ठारसमसए छट्ठुद्देसए (स० १८ उ० ६ सु० ७) जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे–सिय कालए जाव सिय सुक्किलए। जति दुवण्णे–सिय कालए य नीलए य १, सिय

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७८२

कालए य लोहियए य २, सिय कालए य हालिद्दए य ३, सिय कालए य सुक्किलए य ४, सिय नीलए य लोहिए य ५, सिय नीलए य हालिद्दए य ६, सिय नीलए य सुक्किलए य ७, सिय लोहियए य हालिद्दए य ८, सिय लोहियए य सुक्किलए य ९, सिय हालिद्दए य, सुक्किलए य १०—एवं एए दुयासंजोगे दस भंगा।

जति एगगंधे—सिय सुब्भिगंधे १, सिय दुब्भिगंधे २। जति दुगंधे—सुब्भिगंधे य दुब्भिगंधे य।

रसेसु जहा वण्णेसु।

जति दुफासे—सिय सीए य निद्धे य—एवं जहेव परमाणुपोग्गले ४। जति तिफासे—सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे २; सव्वे निद्धे, देसे सीए, देसे उसिणे ३; सव्वे लुक्खे, देसे सीए, देसे उसिणे ४। जति चउफासे—देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १। ४+४+१=९। एते नव भंगा फासेसु।

[२ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण, (गन्ध, रस और स्पर्श) आदि वाला होता है ?

[२ उ.] गौतम ! अठारहवें शतक के छठे उद्देशक (सू. ७) में कथित वर्णन के अनुसार यहाँ भी, यावत् कदाचित् चार स्पर्श वाला तक कहना चाहिए।

यदि वह एक वर्ण वाला होता है तो (१-५) कदाचित् काला यावत् श्वेत होता है। यदि वह दो वर्ण वाला होता है तो (६) कदाचित् काला और नीला, (७) कदाचित् काला और लाल, (८) कदाचित् काला और पीला, (९) कदाचित् काला और श्वेत, (१०) कदाचित् नीला और लाल, (११) कदाचित् नीला और पीला, (१२) कदाचित् नीला और श्वेत, (१३) कदाचित् लाल और पीला, (१४) कदाचित् लाल और श्वेत और (१५) कदाचित् पीला और श्वेत होता है।

(इस प्रकार द्विकसंयोगी दस भंग होते हैं।) यदि वह एक गन्ध वाला होता है तो (१६) कदाचित् सुरभिगन्ध, (१७) कदाचित् दुरभिगन्ध वाला होता है। यदि दो गन्ध वाला है तो (१८) दोनों—सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध वाला होता है।

(१९ से ३३) जिस प्रकार वर्ण के भंग कहे हैं, उसी प्रकार रस-सम्बन्धी पन्द्रह (असंयोगी ५, द्विकसंयोगी १०) भंग होते हैं।

यदि दो स्पर्श वाला होता है तो (३४-३७) शीत और स्निग्ध इत्यादि चार भंग परमाणु-पुद्गल के समान जानना चाहिए।

यदि वह तीन स्पर्श वाला होता है तो (३८) सर्व शीत होता है, उसका एक देश (आंशिक) स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है, (३९) सर्व उष्ण होता है, उसका एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है, (४०) (अथवा) सर्व स्निग्ध होता है, उसका एक देश शीत और एक देश उष्ण होता है, (४१) अथवा सर्व रूक्ष होता है, उसका एक देश शीत और एक देश उष्ण होता है, (४२) यदि वह चार स्पर्श वाला होता है तो उसका एक देश शीत, एक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। इस प्रकार स्पर्श के (४+४+१=९) नौ भंग होते हैं।

विवेचन—द्विप्रदेशी स्कन्ध के बयालीस भंग—द्विप्रदेशी स्कन्ध के जब दोनों प्रदेश एक वर्ण वाले होते हैं, तब असंयोगी ५ भंग होते हैं। जब दोनों प्रदेश भिन्न वर्ण वाले होते हैं, तब द्विकसंयोगी दस भंग होते हैं। इसी प्रकार जब दोनों प्रदेश एक गन्ध वाले होते हैं, तब असंयोगी दो भंग होते हैं और जब दोनों प्रदेश दो गन्ध वाले होते हैं, तब द्विकसंयोगी एक भंग होता है। इसी प्रकार जब दोनों प्रदेश एक रस वाले हों तो असंयोगी ५ भंग होते हैं और जब दोनों प्रदेश भिन्न-भिन्न दो रस वाले हों तब दस भंग होते हैं। इसी प्रकार स्पर्श के द्विकसंयोगी ४ भंग और त्रिसंयोगी ४ भंग तथा चतुःसंयोगी १ भंग होता है। इस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध में वर्ण के १५, गन्ध के ३, रस के १५, और स्पर्श के ९, ये सब मिला कर ४२ भंग होते हैं।[1]

त्रिप्रदेशीस्कन्ध में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की प्ररूपणा

३. तिपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे० ?

जहा अट्ठारसमसए (स० १८ उ० ६ सु० ८) जाव चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे—सिय कालए जाव सुक्किलए ५। जति दुवण्णे—सिय कालए य नीलए य १, सिय कालए य नीलगा य २, सिय कालगा य नीलए य ३; सिय कालए य लोहियए य १, सिय कालए य लोहियगा य २, सिय कालगा य लोहियए य ३; एवं हालिद्दएण वि समं ३; एवं सुक्किलएण वि समं ३, सिय नीलए य, लोयिहए य एत्थ वि भंगा ३, एवं हालिद्दएण वि भंगा ३, एवं सुक्किलएण वि समं भंगा ३; सिय लोयिहए य हालिद्दए य, भंगा ३; एवं सुक्किलएण वि समं ३; सिय हालिद्दए य सुक्किलए य भंगा ३। एवं सव्वेते दस दुयासंजोगा भंगा तीसं भवंति। जति तिवण्णे—सिय कालए य नीलए य लोहियए य १, सिय कालए य नीलए य हालिद्दए य २, सिय कालए य नीलए य सुक्किलए य ३, सिय कालए य लोहियए य हालिद्दए य ४, सिय कालए य लोहियए य सुक्किलए य ५, सिय कालए य हालिद्दए य सुक्किलए य ६, सिय नीलए य लोहियए य हालिद्दए य ७, सिय नीलए य लोहियए य सुक्किलए य ८, सिय नीलए य हालिद्दए य सुक्किलए य ९, सिय लोहियए य हालिद्दए य सुक्किलए य १०, एवं एए दस तिया संयोगे भंगा। जति एगगंधे—सिय सुब्भिगंधे १, सिय दुब्भिगंधे २; जति दुगंधे—सिय सुब्भिगंधे य, दुब्भिगंधे य, भंगा ३।

रसा जहा वण्णा।

जदि दुफासे—सिय सीए य निद्धे य। एवं जहेव दुपएसियस्स तहेव चत्तारि भंगा ४। जति तिफासे—सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; सव्वे सीते, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ३; सव्वे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे, एत्थ वि भंगा तिन्नि ३; सव्वे निद्धे, देसे सीते, देसे उसिणे—भंगा तिन्नि ३; सव्वे लुक्खे, देसे सीए, देसे उसिणे—भंगा तिन्नि, [१२]। जति चउफासे—देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; देसे सीए, देसे उसिणे, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ३; देसे सीए, देसा उसिणा, देसे निद्धे,

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७८२-७८३

(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ६, पृ. २८४७-२८४८

देसे लुक्खे ४; देसे सीए, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसा लुक्खा ५, देसे सीए, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ६, देसा सीता, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ७; देसा सीया, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसा लुक्खा ८; देसा सीया, देसे उसिणे, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ९। एवं एए तिपदेसिए फासेसु पणवीसं भंगा।

[३ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाला कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! अठारहवें शतक के छठे उद्देशक के सू. ८ में कथित वर्णन के अनुसार यावत्—'कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है' तक कहना चाहिए।

यदि एक वर्ण वाला होता है तो (५) कदाचित् काला होता है, यावत् श्वेत होता है। यदि दो वर्ण वाला होता है तो (१) उसका एक अंश कदाचित् काला और एक अंश नीला होता है, अथवा (२) उसका एक अंश काला और दो अंश नीले होते हैं, या (३) उसके दो अंश काले और एक अंश नीला होता है, अथवा (४) एक अंश काला और एक अंश लाल होता है, या (५) एक देश काला और दो देश लाल होते हैं, अथवा (६) दो देश काले और एक देश लाल होता है। इसी प्रकार काले वर्ण के पीले वर्ण के साथ तीन भंग (पूर्ववत्) जानने चाहिए। तथा काले वर्ण के साथ श्वेत वर्ण के भी तीन भंग जानने चाहिए। इसी प्रकार नीले वर्ण के लाल वर्ण के साथ पूर्ववत् तीन भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार नीले वर्ण के तीन भंग पीले के साथ और तीन भंग श्वेत वर्ण के साथ जानना चाहिए। तथैव लाल और पीले के भी तीन भंग होते हैं। इसी प्रकार लाल वर्ण के तीन भंग श्वेत के साथ जानना चाहिए। पीले और श्वेत के भी तीन भंग जानने चाहिए। ये सब दस द्विसंयोगी मिल कर तीस भंग होते हैं।

यदि त्रिप्रदेशी स्कन्ध तीन वर्ण वाला होता है तो (१) कदाचित् काला, नीला और लाल होता है, (२) अथवा कदाचित् काला, नीला और पीला होता है, अथवा (३) कदाचित् काला, नीला और श्वेत होता है, या (४) कदाचित् काला, लाल और पीला होता है, अथवा (५) कदाचित् काला, लाल और श्वेत होता है, या (६) कदाचित् काला, पीला और श्वेत होता है, अथवा (७) कदाचित् नीला, लाल और पीला होता है, या (८) कदाचित् नीला, लाल और श्वेत होता है, या (९) कदाचित् नीला, पीला और श्वेत होता है, अथवा (१०) कदाचित् लाल, पीला और श्वेत होता है। इस प्रकार ये दस त्रिकसंयोगी भंग होते हैं।

यदि एक गन्ध वाला होता है तो (१) कदाचित् सुगन्धित होता है, या (२) कदाचित् दुर्गन्धित होता है। यदि दो गन्ध वाला होता है तो सुगन्धित और दुर्गन्धित के (एक अंश = एकवचन और अनेक अंश = बहुवचन की अपेक्षा से पूर्ववत्) तीन भंग होते हैं।

जिस प्रकार वर्ण के (४५ भंग होते हैं,) उसी प्रकार रस के भी (४५ भंग) (कहने चाहिए।)

(त्रिप्रदेशी स्कन्ध) यदि दो स्पर्श वाला होता है, तो कदाचित् शीत और स्निग्ध, इत्यादि चार भंग जिस प्रकार द्विप्रदेशी स्कन्ध के कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी (४ भंग) समझने चाहिए। जब वह तीन स्पर्श वाला होता है तो (१) सर्वशीत, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है, (२) अथवा—सर्वशीत, एक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष होता है, अथवा (३) सर्वशीत

अनेक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है, या (४) सर्व उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। यहाँ भी पूर्ववत् तीन भंग (४-५-६) होते हैं। अथवा कदाचित् सर्व स्निग्ध, एक देश शीत और एक देश उष्ण, यहाँ भी पूर्ववत् तीन भंग कहने चाहिए। अथवा सर्वरूक्ष, एक देश शीत और एक देश उष्ण, इसके भी पूर्ववत् तीन भंग होते हैं। कुल मिला कर त्रिकसंयोगी त्रिस्पर्शी के (३+३+३+३=१२) बारह भंग होते हैं। यदि त्रिप्रदेशीस्कन्ध चार स्पर्श वाला होता है, तो (१) एक देश शीत, एक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। अथवा (२) एक देश शीत, एक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष होते हैं। अथवा (३) एक देश शीत, एक देश उष्ण, अनेक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। अथवा (४) एक देश शीत, अनेक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। या (५) एक देश शीत, अनेक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष होते हैं। अथवा (६) एक देश शीत अनेक देश उष्ण, अनेक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है। या (७) अनेक देश शीत, एक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष। (८) अथवा अनेक देश शीत, एक देश उष्ण, एक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष। (९) अथवा अनेक देश शीत, एक देश उष्ण, अनेक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है।

इस प्रकार त्रिप्रदेशिक स्कन्ध में स्पर्श के कुल (४+१२+९=२५) पच्चीस भंग होते हैं।

विवेचन—त्रिप्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि के एक सौ बीस भंग—त्रिप्रदेशी स्कन्ध में तीन परमाणु (प्रदेश) होते हैं, तथापि तथाविध परिणाम के कारण वे तीनों एक-प्रदेशावगाही, द्विप्रदेशा-वगाही और त्रिप्रदेशावगाही होते हैं। जब वे एकप्रदेशावगाही होते हैं, तब उनमें अंश की कल्पना नहीं हो सकती। जब वे द्विप्रदेशावगाही होते हैं, तब उनमें दो अंशों की और जब त्रिप्रदेशावगाही होते हैं, तब तीन अंशों की कल्पना हो सकती है। जब तीनों ही प्रदेश काला आदि एक वर्ण-रूप परिणाम वाले होते हैं, तब उनके पांच विकल्प होते हैं। जब दो वर्णरूप परिणाम होता है, तब एक प्रदेश काला और दो प्रदेश एक आकाशप्रदेशावगाही होने से एक अंश नीला होता है, इस प्रकार द्विक-संयोगी प्रथम भंग होता है। अथवा एक प्रदेश काला होता है और दो प्रदेश भिन्न-भिन्न दो आकाश प्रदेशावगाही होने से दो अंश नीले हों, ऐसी विवक्षा हो सकती है। इस प्रकार दूसरा भंग हुआ। इसी प्रकार दो अंश काले हों, और एक अंश नीला हो, इस प्रकार एक द्विकसंयोगी के तीन-तीन भंग होने के कारण दस द्विकसंयोग के तीस भंग होते हैं।

गन्ध के एक गन्ध-परिणाम हो, तब दो भंग होते हैं। जब दो गन्ध-परिणाम वाला होता है, तब एक अंश और अनेक अंश की कल्पना से पूर्ववत् तीन भंग होते हैं।

वर्ण के समान ही रस-सम्बन्धी द्विकसंयोगी ३० भंग, त्रिसंयोगी १० भंग और असंयोगी ५ भंग, यों कुल मिलाकर ४५ भंग होते हैं।

जब त्रिप्रदेशी स्कन्ध के दो स्पर्श होते हैं, तब द्विप्रदेशी के समान चार भंग होते हैं। जब तीन स्पर्श होते हैं तब तीनों प्रदेश शीत होने से सर्वशीत, एक-प्रदेशात्मक एक देश स्निग्ध और द्विप्रदेशात्मक एक देश रूक्ष होता है। यह प्रथम भंग है। इसी प्रकार सर्वशीत, एक देश स्निग्ध और

अनेकदेश रूक्ष, यह दूसरा भंग है। तथा सर्वशीत, अनेकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष, यह तीसरा भंग है। इस प्रकार तीन भंग होते हैं। इसी प्रकार सर्वउष्ण, सर्वस्निग्ध और सर्वरूक्ष के साथ भी तीन-तीन भंग जानने चाहिए।

त्रिप्रदेशी स्कन्ध के चार स्पर्श के सर्व-अंश एकवचन में हों, तब **प्रथम भंग** बनता है। जैसे—एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष। इनमें से अन्तिम रूक्ष पद को अनेकवचन में रखने पर **दूसरा भंग** बनता है, अर्थात्—दो परमाणुरूप एकदेश शीत और परमाणुरूप एकदेश उष्ण, फिर दो शीतपरमाणुओं में एक परमाणु स्निग्ध और दूसरा शीत, परमाणुओं में से एक परमाणु तथा उष्ण परमाणुरूप एकदेश, ये दो अंश रूक्ष। जब तीसरे 'स्निग्ध' पद को अनेकवचन में रखा जाय, तब **तीसरा भंग** बनता है। यथा—एक परमाणुरूप देश शीत, दो परमाणुरूप दो उष्ण, और जो शीत है, वह परमाणु और दो उष्ण परमाणुओं में से एक परमाणु, ये दोनों स्निग्ध तथा जो एक उष्ण है, वह रूक्ष होता है। दूसरे 'उष्ण' पद में अनेकवचन रखने पर **चौथा भंग** बनता है। यथा—स्निग्ध दो परमाणुरूप एकदेश शीत और एक परमाणुरूप दूसरा अंश रूक्ष, स्निग्ध दो परमाणुओं में से एक परमाणुरूप अंश तथा रूक्ष अंश, ये दोनों उष्ण होते हैं। पांचवाँ भंग इस प्रकार है—एक अंश शीत और स्निग्ध तथा दूसरे दो अंश उष्ण और रूक्ष। छठा भंग इस प्रकार है—एक अंश शीत और रूक्ष तथा दूसरे दो अंश—उष्ण और स्निग्ध। सातवाँ भंग इस प्रकार है—स्निग्धरूप दो परमाणुओं में से एक और दूसरा एक, इस प्रकार दो अंश शीत और शेष एक अंश उष्ण तथा एक अंश स्निग्ध और रूक्ष होता है। आठवाँ भंग यों है—दो अंश शीत और रूक्ष तथा एक अंश उष्ण और स्निग्ध। नौवां भंग इस प्रकार है—भिन्न देशवर्ती दो परमाणु शीत और स्निग्ध, तथा एक अंश उष्ण और रूक्ष होता है। इस प्रकार त्रिप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श-सम्बन्धी पच्चीस भंग होते हैं।[3]

इस प्रकार त्रिप्रदेशी स्कन्ध में वर्ण के ४५, गन्ध के ५, रस के ४५ और स्पर्श के २५, ये सब मिल कर १२० भंग होते हैं।

चतुष्प्रदेशी स्कन्ध में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की प्ररूपणा

४. चउपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे० ?

जहा अट्ठारसमसए (स० ८ उ० ६ सु० ९) जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे—सिय कालए य जाव सुक्किलए ५। जति दुवण्णे—सिय कालए य, नीलए य १; सिय कालए य, नीलगा य २; सिय कालगा य, नीलए य ३; सिय कालगा य, नीलगा य ४; सिय कालए य, लोहियए य, एत्थ वि चत्तारि भंगा ४; सिय कालए य, हालिद्दए य ४; सिय कालए य, सुक्किलए य ४; सिय नीलए य, लोहियए य ४; सिय नीलए य, हालिद्दए य ४; सिय नीलए य, सुक्किलए य ४; सिय लोहियए य, हालिद्दए य ४; सिय लोहियए य, सुक्किलए य ४; सिय हालिद्दए य,

३. (क) भगवती. चतुर्थ खण्ड (गु. अनुवाद) (पं. भगवानदासजी) पृ. १०१
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २८५२-५३

सुक्किलए य ४; एवं एए दस दुयासंजोगा, भंगा पुण चत्तालीसं ४० । जति तिवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य २; सिय कालए य, नीलगा य लोहियए य, ३; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य ४; एए भंगा ४ । एवं काल-नील-हालिद्दएहिं भंगा ४; काल-नील-सुक्किल० ४; काल-लोहिय-हालिद्द० ४; काल-लोहिय-सुक्किल० ४; काल-हालिद्द-सुक्किल० ४; नील-लोहिय-हालिद्दगाणं भंगा ४; नील-लोहिय-सुक्किल० ४; नील-हालिद्द-सुक्किल० ४; लोहिय-हालिद्द-सुक्किलगाणं भंगा ४; एवं एए दस तियगसंजोगा, एक्केक्के संजोए चत्तारि भंगा, सव्वेते चत्तालीसं भंगा ४० । जति चउवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, सुक्किलए य २; सिय कालए य, नीलए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ३; सिय कालए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ४; सिय नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य; एवमेते चउक्कगसंयोए पंच भंगा । एए सव्वे नउइभंगा ।

जदि एगगंधे—सिय सुब्भिगंधे १, सिय दुब्भिगंधे २ । जदि दुगंधे—सिय सुब्भिगंधे य, सिय दुब्भिगंधे य ।

रसा जहा वण्णा ।

जइ दुफासे—जहेव परमाणुपोग्गले ४ । जइ तिफासे—सव्वे सीते, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; सव्वे सीए, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ३; सव्वे सीए, देसा निद्धा देसा लुक्खा ४ । सव्वे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे, एवं भंगा ४ । सव्वे निद्धे, देसे सीए, देसे उसिणे ४ । सव्वे लुक्खे, देसे सीए, देसे उसिणे ४ । एए तिफासे सोलसभंगा । जति चउफासे—देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; देसे सीए, देसे उसिणे, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ३; देसे सीए, देसे उसिणे, देसा निद्धा, देसा लुक्खा ४; देसे सीए, देसा उसिणा देसे निद्धे, देसे लुक्खे ५; देसे सीए, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसा लुक्खा ६; देसे सीए, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ७; देसे सीए, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसा लुक्खा ८ । देसा सीया, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ९—एवं एए चउफासे सोलस भंगा भाणियव्वा जाव देसा सीया, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसा लुक्खा । सव्वेते फासेसु छत्तीसं भंगा ।

[४ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है, इत्यादि प्रश्न ?

[४ उ.] गौतम ! अठारहवें शतक के छठे उद्देशकवत् यावत्—'वह कदाचित् चार स्पर्श वाला है', तक कहना चाहिए ।

यदि वह एक वर्ण वाला होता है तो कदाचित् काला, यावत् श्वेत होता है । जब दो वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् उसका एक अंश काला और एक अंश नीला होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला और अनेकदेश नीले होते हैं, (३) कदाचित् अनेकदेश काले और एकदेश नीला होता है, (४) कदाचित् अनेक देश काले और अनेक देश नीले होते हैं । (५-८) अथवा

कदाचित् एक देश काला और देश लाल होता है; यहाँ भी पूर्ववत् चार भंग कहने चाहिए। (९-१२) अथवा कदाचित् एक देश काला और एक देश पीला; इत्यादि पूर्ववत् चार भंग कहने चाहिए। इसी तरह (१३-१६) अथवा कदाचित् एक अंश काला और एक अंश श्वेत, इत्यादि पूर्ववत् चार भंग कहने चाहिए। (१७-२०) अथवा कदाचित् एक अंश नीला और एक अंश लाल आदि पूर्ववत् चार भंग। (२१-२४) कदाचित् नीला और पीला के पूर्ववत् चार भंग। (२५-२८) कदाचित् नीला और श्वेत के पूर्ववत् चार भंग। फिर (२९-३२) कदाचित् लाल और पीला के पूर्ववत् चार भंग। (३३-३६) कदाचित् लाल और श्वेत के पूर्ववत् चार भंग। इसी प्रकार (३७-४०) अथवा कदाचित् पीला और श्वेत के भी चार भंग कहने चाहिए। यों इन दस द्विकसंयोग के ४० भंग होते हैं।

यदि वह तीन वर्ण वाला होता है तो—(१) कदाचित् काला, नीला और लाल होता है, अथवा (२) कदाचित् एक अंश काला, एक अंश नीला और अनेक अंश लाल होते हैं, अथवा (३) कदाचित् एक देश काला, अनेक देश नीला और एक देश लाल होता है। अथवा (४) कदाचित् अनेक देश काले, एक देश नीला और एक देश लाल होता है। इस प्रकार प्रथम त्रिकसंयोग के चार भंग होते हैं। (५-८) इसी प्रकार द्वितीय त्रिकसंयोग—काला, नीला और पीला वर्ण के चार भंग, (९-१२) तृतीय त्रिकसंयोग—काला, नीला और श्वेत वर्ण के चार भंग, (१३-१६) काला, लाल और पीला वर्ण के चार भंग, (१७-२०) काला, लाल और श्वेत वर्ण के चार भंग, (२१-२४) अथवा काला, पीला और श्वेत वर्ण के चार भंग, (२५-२८) अथवा नीला, लाल और पीला वर्ण के चार भंग, (२९-३२) या नीला, लाल और श्वेत वर्ण के चार भंग; (३३-३६) अथवा नीला, पीला और श्वेत वर्ण के चार भंग, (३७-४०) अथवा कदाचित् लाल, पीला और श्वेत वर्ण के चार भंग होते हैं। इस प्रकार १० त्रिकसंयोगों के प्रत्येक के चार-चार भंग होने से सब मिला कर ४० भंग हुए।

यदि वह चार वर्ण वाला है तो (१) कदाचित् काला, नीला, लाल और पीला होता है, (२) कदाचित् काला, लाल, नीला और श्वेत होता है, (३) कदाचित् काला, नीला, पीला और श्वेत होता है, (४) अथवा कदाचित् काला, लाल, पीला और श्वेत होता है, (५) अथवा कदाचित् नीला, लाल पीला और श्वेत होता है। इस प्रकार चतु:संयोगी के कुल पांच भंग होते हैं। इस प्रकार चतु:प्रदेशी स्कन्ध के एक वर्ण के असंयोगी ५, दो वर्ण के द्विकसंयोगी ४०, तीन वर्ण के त्रिकसंयोगी के ४० और चार वर्ण के चतु:संयोगी ५ भंग हुए। कुल मिलाकर वर्णसम्वन्धी ९० भंग हुए।

यदि वह चतु:प्रदेशी स्कन्ध एक गन्ध वाला होता है तो (१) कदाचित् सुरभिगन्ध और (२) कदाचित् दुरभिगन्ध वाला होता है। यदि वह दो गन्ध वाला होता है तो कदाचित् सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध वाला होता है, इसके (एकवचन और वहुवचन की अपेक्षा से) चार भंग होते हैं। इस प्रकार गन्ध-सम्वन्धी कुल ६ भंग होते हैं।

जिस प्रकार वर्ण सम्वन्धी (९० भंग कहे गए हैं) उसी प्रकार रस-सम्वन्धी (९० भंग कहने चाहिए)।

यदि वह (चतुष्प्रदेशी स्कन्ध) दो स्पर्श वाला होता है, तो उसके परमाणुपुद्गल के समान चार भंग कहने चाहिए। यदि वह तीन स्पर्श वाला होता है तो, (१) सर्वशीत, एक देश स्निग्ध और

एक देश रूक्ष होता है, (२) अथवा सर्वशीत, एक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष होते हैं, (३) अथवा सर्वशीत, अनेक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष होता है, अथवा (४) सर्वशीत, अनेक देश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष होते हैं। (इस प्रकार ये सर्वशीत के ४ भंग हुए।) इसी प्रकार सर्व उष्ण, एक देश स्निग्ध और एक देश रूक्ष इत्यादि चार भंग होते हैं। तथा सर्व स्निग्ध, एक देश शीत और एक देश उष्ण, इत्यादि के चार भंग होते हैं, अथवा सर्वरूक्ष, एक देश शीत और एक देश उष्ण, इत्यादि के भी चार भंग होते हैं। कुल मिला कर तीन स्पर्श के त्रिसंयोगी १६ भंग होते हैं। यदि वह चार स्पर्श वाला हो तो (१) उसका एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। (२) अथवा एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं। (३) अथवा एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। अथवा (४) एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होता है। (५) अथवा एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। अथवा (६) एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं। अथवा (७) एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। अथवा (८) एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं। अथवा (९) अनेकदेश शीत, एक-देश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। इस प्रकार चार स्पर्श के सोलह भंग, यावत्—अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं, (यहाँ तक कहने चाहिए)। इस प्रकार द्विक-संयोगी ४, त्रिकसंयोगी १६ और चतुःसंयोगी १६, ये सब मिल कर स्पर्श सम्बन्धी ३६ भंग होते हैं।

विवेचन—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के वर्णादि-सम्बन्धी दो सौ बाईस भंग—प्रस्तुत सूत्र में चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के विषय में वर्ण के ९०, गन्ध के ६, रस के ९० और स्पर्श के ३६, ये सब मिलकर २२२ भंग होते हैं।

चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के रससम्बन्धी ९० भंग—रस के द्विकसंयोगी और त्रिकसंयोगी दस-दस भंग होते हैं और एक-एक संयोग में एकवचन और अनेक वचन द्वारा चतुर्भंगी होने से १०×२=२० को चार गुना (२०×४) करने से इसके कुल ८० भंग होते हैं। चतुःसंयोगी भंग के अंक क्रम से ५ भंग निम्नोक्त रेखाचित्र के अनुसार जानना—
१ तीखा, २ कडुआ, ३ कसैला, ४ खट्टा, ५ मीठा
इस प्रकार चतुःसंयोगी ५ भंग और असंयोगी ५ भाग मिलाने से रस के कुल १०+१०×४ =८०+५+५=९० भंग होते हैं।

१	२	३	४
१	२	३	५
१	२	४	५
१	३	४	५
२	३	४	५

चार स्पर्श के १६ भंग—चतुष्प्रदेशी स्कन्ध में चार स्पर्श वाले १६ भंग होते हैं। उनमें से ९ भंग तो मूलपाठ में कहे गए हैं। शेष ७ भंग इस प्रकार हैं—(१०) अनेकदेश शीत, एकदेश, उष्ण, एक देश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष। (११) अनेकदेश शीत, एकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष। (१२) अथवा अनेकदेश शीत, एकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष। (१३) अथवा अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध, एकदेश रूक्ष। (१४) अथवा अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष, (१५) अथवा अनेकदेश शीत,

अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष। अथवा (१६) अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेक देश रूक्ष।[४]

पंच-प्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि की प्ररूपणा

५. पंचपदेसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे० ?

जहा अट्ठारसमसए (स० १८ उ० ६ सु० १०) जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे, एगवण्णदुवण्णा जहेव चउपदेसिए। जति तिवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य २; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियए य ३; सिय कालए य; नीलगा य, लोहिगा य ४; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य ५; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगा य ६; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य ७। सिय कालए य, नीलए य, हालिद्दए य, एत्थ वि सत्त भंगा ७। एवं कालग-नीलग-सुक्किलएसु सत्त भंगा ७; कालग-लोहिय-हालिद्देसु ७; कालग-लोहिय-सुक्किलेसु ७; कालग-हालिद्द-सुक्किलेसु ७; नीलग-लोहिय-हालिद्देसु ७; नीलग-लोहिय-सुक्किलेसु सत्त भंगा ७; नीलग-लोलिद्द-सुक्किलेसु ७; लोहिय-हालिद्द-सुक्किलेसु वि सत्त भंगा ७; एवमेते तियासंजोएण सत्तरि भंगा। जति चउवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य २; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दगे य ३; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियगे य, हालिद्दए य ४; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगे य, हालिद्दए य ५—एए पंच भंगा; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, सुक्किलए य—एत्थ वि पंच भंगा; एवं कालग-नीलग-हालिद्द-सुक्किलेसु वि पंच भंगा; कालग-लोहिय-हालिद्द-सुक्किलएसु वि पंच भंगा ५; नीलग-लोहिय-हालिद्द-सुक्किलेसु वि पंच भंगा; एवमेते चउक्कगसंजोएणं पणुवीसं भंगा। जति पंचवण्णे—कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किल्लए य—सव्वमेते एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचगसंजोएणं ईयालं भंगसयं भवति।

गंधा जहा चउपएसियस्स।

रसा जहा वण्णा।

फासा जहा चउपदेसियस्स।

[५ प्र०] भगवन् ! पंचप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला है; इत्यादि प्रश्न पूर्ववत् ?

[५ उ०] गौतम ! अठारहवें शतक के छठे उद्देशक के अनुसार, यावत्—'वह कदाचित् चार स्पर्श वाला कहा गया है'; तक जानना चाहिए।

यदि वह एक वर्ण वाला या दो वर्ण वाला होता है, तो चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान (उसके ५ और ४० भंग क्रमश: जानना चाहिए)। जब वह तीन वर्ण वाला होता है तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला और एकदेश लाल होता है; (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला

४ (क) भगवती. चतुर्थ खण्ड (गु. अनुवाद) (पं. भगवानदासजी) पृ. १०३-१०४
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६ (पं घेवरचंदजी) पृ. २८५८

और अनेकदेश लाल होता है, (३) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला और एकदेश लाल होता है; (४) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला और अनेकदेश लाल होते हैं, (५) अथवा कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला और एकदेश लाल होता है। (६) अथवा अनेकदेश काला एकदेश नीला और अनेकदेश लाल होते हैं। (७) अथवा अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला और एकदेश लाल होता है। (८-१४), अथवा कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला और एकदेश पीला होता है। इस त्रिक-संयोग से भी सात भंग होते हैं। (१५-२१) इसी प्रकार काला, नीला और श्वेत के भी सात भंग होते हैं। (२२-२८) (इसी प्रकार) काला, लाल और पीला के भी सात भंग होते हैं। (२९-३५) काला, लाल और श्वेत के सात भंग होते हैं। अथवा (३६-४२) काला, पीला और श्वेत के भी सात भंग होते हैं। अथवा (४३-४९) नीला, लाल और पीला के भी सात भंग होते हैं। अथवा (५०-५६) नीला, लाल और श्वेत के सात भंग होते हैं। अथवा (५७-६३) नीला, पीला और श्वेत के सात भंग होते हैं। अथवा (६४-७०) लाल, पीला और श्वेत के सात भंग होते हैं। इस प्रकार दस त्रिक-संयोगों के प्रत्येक के सात-सात भंग होने से ७० भंग होते हैं।

यदि वह चार वर्ण वाला हो तो, (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है। (२) अथवा एकदेश काला, नीला और लाल तथा अनेकदेश पीला होता है। (३) अथवा कदाचित् एकदेश काला, नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है। (४) अथवा एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है। (५) अथवा अनेकदेश काला, एकदेश नीला एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है। इस प्रकार चतुःसंयोगी पांच भंग होते हैं। इसी प्रकार (६-१०) कदाचित् एकदेश काला, नीला, लाल और श्वेत के भी पांच भंग (पूर्ववत्) होते हैं। (११-१५) तथैव एकदेश काला, नीला, पीला और श्वेत के भी पांच भंग होते हैं। इसी प्रकार (१६-२०) अथवा काला, लाल, पीला और श्वेत के भी पांच भंग होते हैं। अथवा (२१-२५) नीला, लाल, पीला और श्वेत के पांच भंग होते हैं। इस प्रकार चतुःसंयोगी पच्चीस भंग होते हैं।

यदि वह पांच वर्ण वाला हो तो काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत होता है। इस प्रकार असंयोगी ५, द्विकसंयोगी ४०, त्रिकसंयोगी ७०, चतुःसंयोगी २५, और पंचसंयोगी एक, इस प्रकार सब मिल कर वर्ण के १४१ भंग होते हैं।

गन्ध के चतुष्प्रदेशी—स्कन्ध के समान यहाँ भी ६ भंग होते हैं। वर्ण के समान रस के भी १४१ भंग होते हैं। स्पर्श के ३६ भंग चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान होते हैं।

विवेचन—पञ्चप्रदेशी स्कन्ध के वर्णादि—सम्बन्धी तीन सौ चौबीस भंग—पंचप्रदेशी स्कन्ध के विषय में वर्ण के १४१, गन्ध के ६, रस के १४१, और स्पर्श के ३६, ये कुल मिला कर ३२४ भंग होते हैं।

षट्प्रदेशी-स्कन्ध में वर्णादि के भंगों का निरूपण

६. छप्पएसिए णं भंते! खंधे कतिवण्णे० ?

एवं जहा पंचपएसिए जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जदि एगवण्णे, एगवण्ण-दुवण्णा जहा पंचपदेसियस्स। जति तिवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य—एवं जहेव पंच पएसियस्स

सत्त भंगा जाव सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य ७; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य ८, एए अट्ठ भंगा; एवमेते दस तियासंजोगा, एक्केक्के संजोगे अट्ठ भंगा; एवं सव्वे वि तियगसंजोगे असीतिभंगा। जति चउवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य २; सिय कालए य, नीलए य, लोहिगा य, हालिद्दए य ३; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दगा य, ४; सिय कालए य नीलया य, लोहियए य, हालिद्दए य ५; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दगा य ६; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दए य ७; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य ८; सिय कासगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य ९; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य १०; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दए य ११; एए एक्कारस भंगा। एवमेए पंच चउक्का संजोगा कायव्वा, एक्केक्के संजोए एक्कारस भंगा, सव्वेते चउक्कगसंजोएणं पणपन्नं भंगा। जति पंचवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य २; सिय कालए य नीलए य लोहियए य हालिद्दगा य सुक्किलए य ३; सिय कालए य नीलए य लोहियगा य हालिद्दए य सुक्किलए य ४; सिय कालए य नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ५; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगे य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ६; एवं एए छब्भंगा भाणियव्वा। एवमेते सव्वे वि एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचग-संजोएसु छासीयं भंगसयं भवति।

गंधा जहा पंचपएसियस्स।

रसा जहा एयस्सेव वण्णा।

फासा जहा चउप्पएसियस्स।

[६ प्र०] भगवन्! षट्—प्रदेशिक स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है; इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ?

[६ उ०] गौतम! जिस प्रकार पंचप्रदेशी स्कन्ध के (वर्णादि के विषय में कहा है,) उसी प्रकार (यहाँ भी) यावत्—कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है, तक (जानना चाहिए।)

यदि वह एक वर्ण और दो वर्ण वाला है तो एक वर्ण के ५ और दो वर्ण के ४ भंग पंच-प्रदेशी स्कन्ध के समान होते हैं। यदि वह तीन वर्ण वाला हो तो कदाचित् काला, नीला और लाल होता है, इत्यादि, जिस प्रकार पंच-प्रदेशिक स्कन्ध के, यावत्—'कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला और एकदेश लाल होता है, तक सात भंग कहे हैं', वे उसी प्रकार समझने चाहिए, आठवाँ भंग इस प्रकार है—(८) कदाचित् अनेकदेश काला, नीला और लाल होते हैं। इस प्रकार ये दस त्रिकसंयोग होते हैं। प्रत्येक त्रिकसंयोग में ८ भंग होते हैं। अतएव सभी त्रिकसंयोगों के कुल मिला कर (८ × १० =) ८० भंग होते हैं।

यदि वह चार वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल

और अनेकदेश पीला होता है (३) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, (४) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है, (५) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, (६) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है, (७) कदाचित् एकदेश काला अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है। (८) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है; (९) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है। अथवा (१०) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, अथवा (११) कदाचित् अनेकदेश काला अनेकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है।

इस प्रकार ये चतुःसंयोगी ग्यारह भंग होते हैं। यों पांच चतुःसंयोग कहने चाहिए। प्रत्येक चतुःसंयोग में ग्यारह-ग्यारह भंग होते हैं। सब मिलकर ये ११ × ५ = ५५ भंग होते हैं।

यदि वह पांच वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (३) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (४) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (५) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, अथवा (६) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है। इस प्रकार ये छह भंग कहने चाहिए। इस प्रकार असंयोगी ५, द्विकसंयोगी ४०, त्रिक-संयोगी ८०, चतुःसंयोगी ५५ और पंचसंयोगी ६, यों सब मिला कर वर्णसम्बन्धी १८६ भंग होते हैं। गन्धसम्बन्धी छह भंग पंचप्रदेशी स्कन्ध के समान (समझने चाहिए।)

रससम्बन्धी १८६ भंग इसी के वर्णसम्बन्धी भंग के समान (कहने चाहिए।)

स्पर्शसम्बन्धी ३६ भंग चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान जानने चाहिए।

विवेचन—षट्प्रदेशी-स्कन्ध के वर्णादिविषयक चार-सौ चौदह भंग—षट्-प्रदेशीस्कन्ध के वर्ण के १८६, गन्ध के ६, रस के १८६, और स्पर्श के ३६, यों कुल मिलाकर ४१४ भंग होते हैं।

सप्तप्रदेशी-स्कन्ध में वर्णादि भंगों का निरूपण

७. सत्तपएसिए णं भंते ! खंधे कतिवण्णे० ?

जहा पंचपएसिए जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे, एवं एगवण्ण-दुवण्ण-तिवण्णा जहा छप्पएसियस्स। जइ चउवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए, य, हालिद्दए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य २; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य ३; एवमेते चउक्कगसंजोएणं पन्नरस भंगा भाणियव्वा जाव सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दए य १५। एवमेते पंच चउक्का संजोगा नेयव्वा; एक्केक्के संजोए पन्नरस भंगा—सव्वमेते पंचसत्तरि भंगा भवंति। जति पंचवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य,

सुक्किलगा य २; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य ३; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किल्लगा य ४; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ५; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य ६; सिय कालए य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य ७; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियगे य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ८; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य ९; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य १०; सिय कालए य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलए य ११; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १२; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य १३; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य १४; सिय कालगा य, नीलगे य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलए य, १५; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १६; एए सोलस भंगा। एवं सव्वमेते एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचग-संजोगेणं दो सोला भंगसता भवंति।

गंधा जहा चउप्पएसियस्स।
रसा जहा एयस्स चेव वण्णा।
फासा जहा चउप्पएसियस्स।

[७ प्र.] भगवन् ! सप्त-प्रदेशी-स्कन्ध कितने वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का होता है, इत्यादि प्रश्न ?

[७ उ.] गौतम ! पंच-प्रदेशिक-स्कन्ध के समान, यावत् 'कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है'—तक कहना चाहिए। यदि वह एक वर्ण, दो वर्ण अथवा तीन वर्ण वाला हो तो षट्प्रदेशी स्कन्ध के एक वर्ण, दो वर्ण एवं तीन वर्ण के भंगों के समान जानना चाहिए।

यदि वह चार वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है, (३) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, [(४) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है।] इस प्रकार चतुष्क-संयोग में यावत्—कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, तक ये पन्द्रह भंग होते हैं। इस प्रकार पांच चतुःसंयोगी भंग होते हैं। एक-एक चतुष्कसंयोग में पन्द्रह-पन्द्रह भंग होते हैं। सब मिल कर ये ७५ भंग होते हैं।

यदि वह पाँच वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (३) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (४) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (५) कदाचित् एकदेश

काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (६) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल और एकदेश पीला तथा अनेकदेश श्वेत होता है, (७) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (८) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (९) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (१०) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश शुक्ल होता है, (११) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एक देश श्वेत होता है, (१२) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (१३) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (१४) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (१५) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (१६) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश शुक्ल होता है। इस प्रकार सोलह भंग होते हैं। अर्थात्—असंयोगी ५, द्विकसंयोगी ४०, त्रिसंयोगी ८०, चतु:संयोगी ७५ और पंचसंयोगी १६ भंग होते हैं। कुल मिलाकर वर्ण के २१६ भंग होते हैं।

गन्ध के छह भंग चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान होते हैं। रस के २१६ भंग इसी के वर्ण के समान कहने चाहिए। स्पर्श के भंग ३६ चतु:प्रदेशी स्कन्ध के समान कहने चाहिये।

विवेचन—सप्त-प्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि-विषयक चार सौ चौहत्तर भंग—सप्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में वर्ण के २१६, गन्ध के ६, रस के २१६ और स्पर्श के ३६, यों कुल मिला कर ४७४ भंग होते हैं।

अष्टप्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि-भंगों का निरूपण

८. अट्ठपदेसियस्स णं भंते ! खंधे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय एगवण्णे जहा सत्तपदेसियस्स जाव सिय चतुफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे, एवं एगवण्ण-दुवण्ण-तिवण्णा जहेव सत्तपएसिए। जति चउवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दगा य २; एवं जहेव सत्तपदेसिए जाव सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दगे य १५, सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दगा य १६; एए सोलस भंगा। एवमेते पंच चउक्कगसंजोगा; सव्वमेते असीति भंगा ८०। जति पंचवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १; सिय कालगे य, नीलगे य, लोहियगे य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य २; एवं एएणं कमेणं भंगा चारेयव्वा जाव सिय कालए य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दगा य, सुक्किलगे य १५—एसो पन्नरसमो भंगो; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १६, सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य १७; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियए य हालिद्दगा य, सुक्किलए य १८; सिय कालगा य, नीलगे य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किलगा

य १९; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलए य २०; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य २१; सिय कालगा य, नीलए य, लोहियगा य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य २२; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगे य, हालिद्दए य, सुक्किलगे य २३; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य २४; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियए य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य २५; सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दए य, सुक्किलए य २६; एए पंचगसंजोएणं छव्वीसं भंगा भवंति। एवामेव सपुव्वावरेणं एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचगसंजोएहिं दो एक्कतीसं भंगसया भवंति।

गंधा जहा सत्तपएसियस्स।

रसा जहा एयस्स चेव वण्णा।

फासा जहा चउप्पएसियस्स।

[८ प्र.] भगवन्! अष्टप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है? इत्यादि प्रश्न!

[८ उ.] गौतम! जब वह एक वर्ण वाला होता है, इत्यादि वर्णन सप्तप्रदेशी स्कन्ध के समान यावत्—कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है, इत्यादि कहना चाहिए। यदि एक वर्ण, दो वर्ण या तीन वर्ण वाला हो तो सप्तप्रदेशी स्कन्ध के एक वर्ण, द्विवर्ण एवं त्रिवर्ण के समान भंग कहने चाहिए। यदि वह चार वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और एकदेश पीला होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है; इस प्रकार सप्तप्रदेशी स्कन्ध के समान पन्द्रह भंग यावत्—(पन्द्रहवाँ भंग), कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल एवं एकदेश पीला, तथा (सोलहवाँ भंग) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है; तक जानना चाहिए। एक चतुःसंयोग में सोलह भंग होते हैं। इस प्रकार इन पांच चतुःसंयोगों के प्रत्येक के सोलह-सोलह भंग होने से ५ × १६ = ८० भंग होते हैं।

यदि वह पाँच वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है। इस प्रकार इस क्रम से यावत्—(१५) कदाचित् एकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल और अनेकदेश पीला होता है, इस पन्द्रहवें भंग तक कहना चाहिए। (१६) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (१७) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (१८) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश लाल और अनेकदेश पीला तथा एकदेश श्वेत होता है, (१९) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२०) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२१) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (२२) कदाचित् अनेकदेश काला, एकदेश नीला, अनेकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२३) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता

है, (२४) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, एकदेश पीला और अनेकदेश श्वेत होता है, (२५) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, एकदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, अथवा (२६) कदाचित् अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश लाल, एकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है। इस प्रकार पंचसंयोगी छव्वीस भंग होते हैं। इसी प्रकार कुल मिला कर वर्ण के क्रमशः—असंयोगी ५, द्विक-संयोगी ४०, त्रिक-संयोगी ८०, चतुःसंयोगी ८० और पंच-संयोगी २६, यों वर्णसम्बन्धी कुल २३१ भंग होते हैं।

गन्ध के सप्तप्रदेशी स्कन्ध के समान ६ भंग होते हैं।

रस के इसी स्कन्ध के वर्ण के समान २३१ भंग होते हैं।

स्पर्श के चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के ३६ भंग होते हैं।

विवेचन—अष्टप्रदेशी स्कन्ध के वर्णादिविषयक पांच सौ चार भंग—अष्टप्रदेशीय स्कन्ध के विषय में वर्ण के २३१, गन्ध के ६, रस के २३१ और स्पर्श के ३६, ये कुल मिला कर ५०४ भंग होते हैं।

नवप्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि के भंगों का निरूपण

९. नवपदेसियस्स० पुच्छा।

गोयमा! सिय एगवण्णे जहा अट्ठपएसिए जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे, एगवण्ण-दुवण्ण-तिवण्ण-चउवण्णा जहेव अट्ठपएसियस्स। जति पंचवण्णे—सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलए य १; सिय कालए य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्दए य, सुक्किलगा य २; एवं परिवाडीए एक्कतीसं भंगा भाणियव्वा जाव सिय कालगा य, नीलगा य, लोहियगा य, हालिद्दगा य, सुक्किलए य; एए एक्कत्तीसं भंगा। एवं एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचगसंजोएहिं दो छत्तीसा भंगसया भवंति।

गंधा जहा अट्ठपएसियस्स।

रसा जहा एयस्स चेव वण्णा।

फासा जहा चउप्पएसियस्स।

[९ प्र.] भगवन्! नव-प्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है? इत्यादि प्रश्न?

[९ उ.] गौतम! अष्टप्रदेशी स्कन्ध के समान, कदाचित् एकवर्ण (से लेकर) यावत्—कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है; तक कहना चाहिए। यदि वह एक वर्ण, दो वर्ण, तीन वर्ण अथवा चार वर्ण वाला हो तो उसके भंग अष्टप्रदेशी स्कन्ध के (एक वर्ण, दो वर्ण, तीन वर्ण और चार वर्ण के) समान (कहने चाहिए।)

यदि वह पांच वर्ण वाला होता है, तो (१) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश भाणियव्वा जेल पीला और एकदेश श्वेत होता है, (२) कदाचित् एकदेश काला, एकदेश नीला, एकदेश पन्नरसमो भंगो; सिय कालगा कदेश श्वेत होता है। इस प्रकार इस क्रम से यावत्—कदाचित् अनेक-य, नीलए य, लोहियए य, हालिद्द कदेश लाल, अनेकदेश पीला और एकदेश श्वेत होता है, (यहाँ तक) हालिद्दगा य, सुक्किलए य १८; प्रकार पांच वर्ण के ३१ भंग होते हैं।

यों वर्ण की अपेक्षा—असंयोगी ५, द्विक-संयोगी ४०, त्रिक-संयोगी ८०, चतुःसंयोगी ८० और पंच-संयोगी ३१, ये सब मिलाकर वर्णसम्बन्धी २३६ भंग होते हैं।

गन्ध-विषयक ६ भंग अष्टप्रदेशी के समान होते हैं।

रस-विषयक २३६ भंग इसी (अष्टप्रदेशी) के वर्ण के समान २३६ भंग कहने चाहिए।

स्पर्श के ३६ भंग चतुष्प्रदेशी के समान समझने चाहिए।

विवेचन—नवप्रदेशी स्कन्ध के वर्णादि-विषयक पांच सौ चौदह भंग—प्रस्तुत नौ प्रदेशी स्कन्ध के विषय में वर्ण के २३६, गन्ध के ६, रस के २३६ और स्पर्श के ३६, ये कुल मिला कर ५१४ भंग होते हैं।

दश-प्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि के भंगों का निरूपण

१०. दसपदेसिए णं भंते ! खंधे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय एगवण्णे जहा नवपदेसिए जाव सिय चउफासे पन्नत्ते। जति एगवण्णे, एगवण्ण-दुवण्ण-तिवण्ण-चउवण्णा जहेव नवपएसियस्स। पंचवण्णे वि तहेव, नवरं बत्तीसतिमो वि भंगो भण्णति। एवमेते एक्कग-दुयग-तियग-चउक्कग-पंचगसंजोएसु दोन्नि सत्ततीसा भंगसया भवंति।

गंधा जहा नवपएसियस्स।

रसा जहा एयस्स चेव वण्णा।

फासा जहा चउप्पएसियस्स।

[१०. प्र.] भगवन् ! दश-प्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है, इत्यादि प्रश्न ?

[१०. उ.] गौतम ! नव-प्रदेशिक स्कन्ध के समान यावत्—कदाचित् चार स्पर्श वाला होता है—तक कहना चाहिए। यदि एकवर्णादि वाला हो तो नव-प्रदेशिक स्कन्ध के एक वर्ण, दो वर्ण, तीन वर्ण और चार वर्ण-(सम्बन्धी भंग) के समान कहना चाहिए। यदि वह पांच वर्ण वाला हो तो नव-प्रदेशी के समान समझना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ अनेकदेश काला, अनेकदेश नीला, अनेकदेश पीला और अनेकप्रदेश श्वेत होता है। यह बत्तीसवाँ भंग अधिक कहना चाहिए।

इस प्रकार असंयोगी ५, द्विकसंयोगी ४०, त्रिकसंयोगी ८०, चतुष्कसंयोगी ८० और पंच-संयोगी ३२, ये सब मिला कर वर्ण के २३७ भंग होते हैं।

गन्ध के ६ भंग नव-प्रदेशी-सम्बन्धी के समान हैं।

रस के २३७ भंग इसी के वर्ण के समान होते हैं।

स्पर्शसम्बन्धी ३६ भंग चतुष्प्रदेशी के समान होते हैं।

११. जहा दसपएसिओ एवं संखेज्जपएसिओ वि।

[११] दशप्रदेशी स्कन्ध के समान संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध (के) भी (वर्णादिसम्बन्धी भंग कहने चाहिए।)

१२. एवं असंखेज्जपएसिओ वि।

[१२] इसी प्रकार असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी समझना चाहिए।

१३. सुहुमपरिणओ अणंतपएसिओ वि एवं चेव।

[१३] सूक्ष्मपरिणाम वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी इसी प्रकार भंग कहने चाहिए।

विवेचन—दशप्रदेशी स्कन्ध के वर्णादि-विषयक भंग—दशप्रदेशी स्कन्ध में वर्ण के २३७, गन्ध के ६, रस के २३७, स्पर्श के ३६, ये सब मिलाकर ५१६ भंग होते हैं।

इसी प्रकार संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी और सूक्ष्मपरिणाम वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के विषय में भी इसी के समान भंग कहने चाहिए।

बादरपरिणामी अनन्तप्रदेशी स्कन्ध में वर्णादि-प्ररूपणा

१४. बादरपरिणए णं भंते ! अणंतपएसिए खंधे कतिवण्णे० ?

एवं जहा अट्ठारसमसए जाव सिय अट्ठफासे पन्नत्ते। वण्ण-गंध-रसा जहा दसपएसियस्स। जति चउफासे—सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे १; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, सव्वे लुक्खे २; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे उसिणे, सव्वे निद्धे ३; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे उसिणे, सव्वे लुक्खे ४; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे ५; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे सीए, सव्वे लुक्खे ६; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, सव्वे निद्धे ७; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, सव्वे लुक्खे ८; सव्वे मउए, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे ९; सव्वे मउए, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, सव्वे लुक्खे १०; सव्वे मउए, सव्वे गरुए, सव्वे उसिणे, सव्वे निद्धे ११; सव्वे मउए, सव्वे गरुए, सव्वे उसिणे, सव्वे लुक्खे १२; सव्वे मउए, सव्वे लहुए, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे १३; सव्वे मउए, सव्वे लहुए, सव्वे सीए, सव्वे लुक्खे १४; सव्वे मउए, सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, सव्वे निद्धे १५; सव्वे मउए, सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, सव्वे लुक्खे १६; एए सोलस भंगा।

जइ पंचफासे—सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसा निद्धा, देसे लुक्खे ३; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसा निद्धा, देसा लुक्खा ४। सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे० ४; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे० ४; सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे० ४; एवं एए कक्खडेणं सोलस भंगा। सव्वे मउए, सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे० ४; एवं मउएण वि सोलस भंगा। एवं बत्तीसं भंगा। सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे निद्धे, देसे सीए, देसे उसिणे० ४; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, सव्वे लुक्खे, देसे सीए, देसे उसिणे ४; ० एए बत्तीसं भंगा। सव्वे कक्खडे, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे, देसे गरुए, देसे लहुए ४; एत्थ वि बत्तीसं भंगा। सव्वे गरुए, सव्वे सीए, सव्वे निद्धे, देसे कक्खडे, देसे मउए ४; ० एत्थ वि बत्तीसं भंगा। एवं सव्वेते पंचफासे अट्ठावीसं भंगसयं भवति।

जदि छफासे—सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसा लुक्खा २; एवं जाव सव्वे कक्खडे, सव्वे गरुए, देसा सीता, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसा लुक्खा १६; एए सोलस भंगा। सव्वे कक्खडे, सव्वे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एत्थ वि सोलस भंगा। सव्वे मउए, सव्वे गरुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एत्थ वि सोलस भंगा। सव्वे मउए, सव्वे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एत्थ वि सोलस भंगा १६। एए चउसट्ठि भंगा। सव्वे कक्खडे, सव्वे सीए, देसे गरुए, देसे लहुए; देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं जाव सव्वे मउए, सव्वे उसिणे, देसा गरुआ, देसा लहुया, देसा णिद्धा, देसा लुक्खा; एत्थ वि चउसट्ठि भंगा। सव्वे कक्खडे, सव्वे निद्धे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे जाव सव्वे मउए, सव्वे लुक्खे, देसा गरुया, देसा लहुया, देसा सीया, देसा उसिणा १६; एए चउसट्ठि भंगा। सव्वे गरुए, सव्वे सीए, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं जाव सव्वे लहुए, सव्वे उसिणे, देसा कक्खडा, देसा मउया, देसा निद्धा, देसा लुक्खा; एए चउसट्ठि भंगा। सव्वे निद्धे, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे सीए, देसे उसिणे, जाव सव्वे लहुए, सव्वे लुक्खे, देसा कक्खडा, देसा मउया, देसा सीता, देसा उसिणा; एए चउसट्ठि भंगा। सव्वे सीए, सव्वे निद्धे, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए; जाव सव्वे उसिणे, सव्वे लुक्खे, देसा कक्खडा, देसा मउया, देसा गरुया, देसा लहुया; एए चउसट्ठि भंगा। सव्वेते छफासे तिन्नि चउरासीया भंगसता भवंति ३८४।

जति सत्तफासे—सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे १; सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसा लुक्खा ४; सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीते, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसा सीता, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसे लहुए, देसा सीता, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; सव्वेते सोलस भंगा। सव्वे कक्खडे, देसे गरुए, देसा लहुया, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे, एवं गरुएणं एगत्तएणं, लहुएणं पुहत्तएणं एए वि सोलस भंगा। सव्वे कक्खडे, देसा गरुया, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एए वि सोलस भंगा भाणियव्वा। सव्वे कक्खडे, देसा गरुया, देसा लहुया, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एए वि सोलस भंगा भाणियव्वा। एवमेए चउसट्ठि भंगा कक्खडेण समं। सव्वे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं मउएण वि समं चउसट्ठि भंगा भाणियव्वा। सव्वे गरुए, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं गरुएण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। सव्वे लहुए, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं लहुएण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। सव्वे सीए, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं सीएण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। सव्वे उसिणे, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे

गरुए, देसे लहुए, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं उसिणेण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। सव्वे निद्धे, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे; एवं निद्धेण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। सव्वे लुक्खे, देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे; एवं लुक्खेण वि समं चउसट्ठि भंगा कायव्वा जाव सव्वे लुक्खे, देसा कक्खडा, देसा मउया, देसा गरुया, देसा लहुया, देसा सीया, देसा उसिणा। एवं सत्तफासे पंच बारसुत्तरा भंगसता भवंति।

जति अट्ठफासे—देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीते, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसे सीते, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसा सीता, देसे उसिणा, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसे लहुए, देसा सीता, देसा उसिणा, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; एए चत्तारि चउक्का सोलस भंगा। देसे कक्खडे, देसे मउए, देसे गरुए, देसा लहुया, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एवं एए गरुएणं एगत्तएणं, लहुएणं पोहत्तएणं सोलस भंगा कायव्वा। देसे कक्खडे, देसे मउए, देसा गरुया, देसे लहुए, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे ४; एए वि सोलस भंगा कायव्वा। देसे कक्खडे, देसे मउए, देसा गरुया, देसा लहुया, देसे सीए, देसे उसिणे, देसे निद्धे, देसे लुक्खे; एए वि सोलस भंगा कायव्वा। सव्वेते चउसट्ठि भंगा कक्खड-मउएहिं एगत्तएहिं। ताहे कक्खडेणं एगत्तएणं, मउएणं पुहत्तएणं एए चेव चउसट्ठि भंगा कायव्वा। ताहे कक्खडेणं पुहत्तएणं, मउएणं एगत्तएणं चउसट्ठि भंगा कायव्वा। ताहे एतेहिं चेव दोहि वि पुहत्तएहिं चउसट्ठि भंगा कायव्वा जाव देसा कक्खडा, देसा मउया, देसा गरुया, देसा लहुया, देसा सीता, देसा उसिणा, देसा निद्धा, देसा लुक्खा—एसो अपच्छिमो भंगो। सव्वेते अट्ठफासे दो छप्पण्णा भंगसया भवंति।

एवं एए बादरपरिणए अणंतपएसिए खंधे सव्वेसु संजोएसु बारस छण्णउया भंगसया भवंति।

[१४ प्र.] भगवन् ! बादर-परिणाम वाला (स्थूल) अनन्तप्रदेशी स्कन्ध कितने वर्ण वाला होता है, इत्यादि प्रश्न ?

[१४ उ.] गौतम ! अठारहवें शतक के छठे उद्देशक में कथित निरूपण के समान यावत्—'कदाचित् आठ स्पर्श वाला कहा गया है.' (यहाँ तक) जानना चाहिए। अनन्तप्रदेशी बादर परिणामी स्कन्ध के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के भंग, दशप्रदेशी स्कन्ध के समान कहने चाहिए।

यदि वह चार स्पर्श वाला होता है, तो (१) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत और सर्वस्निग्ध होता है. (२) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत और सर्वरूक्ष होता है. (३) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वउष्ण और सर्वस्निग्ध होता है. (४) कदाचित् सर्वगुरु, सर्वउष्ण और सर्वरूक्ष

होता है। (५) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु (हलका), सर्वशीत और सर्वस्निग्ध होता है। (६) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, सर्वशीत, और सर्वरूक्ष होता है। (७) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, सर्वउष्ण और सर्वस्निग्ध होता है। (८) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, सर्वउष्ण और सर्वरूक्ष होता है। (९) कदाचित् सर्वमृदु (कोमल), सर्वगुरु, सर्वशीत और सर्वस्निग्ध होता है। (१०) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वगुरु, सर्वशीत और सर्वरूक्ष होता है। (११) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वगुरु, सर्वउष्ण और सर्वस्निग्ध होता है। (१२) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वगुरु, सर्वउष्ण और सर्वरूक्ष होता है। (१३) कदाचित् सर्वमृदु सर्वलघु सर्वशीत और सर्वस्निग्ध होता है। (१४) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वलघु, सर्वशीत और सर्वरूक्ष होता है। (१५) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वलघु, सर्वउष्ण और सर्वस्निग्ध होता है। (१६) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वलघु, सर्वउष्ण और सर्वरूक्ष होता है। इस प्रकार ये सोलह भंग होते हैं।

यदि पांच स्पर्श वाला होता है, तो (१) सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष होता है। (२) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत, एकदेश-स्निग्ध और अनेकदेश-रूक्ष होता है। (३) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत, अनेकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष होता है। (४) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वशीत, अनेकदेश-स्निग्ध और अनेकदेश-रूक्ष होता है। (५-८) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वउष्ण, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष होता है, इनके चार भंग। (९-१२) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, सर्वशीत, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष होते हैं, इनके भी चार भंग। (१३-१६) अथवा कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, सर्वउष्ण, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष इसके भी पूर्ववत् चार भंग। इस प्रकार कर्कश के साथ सोलह भंग होते हैं। (१-४) अथवा सर्वमृदु सर्वगुरु, सर्वशीत, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है, इस (मृदु) के भी पूर्ववत् चार भंग होते हैं। पहले के १६ और ये १६ भंग मिल कर कुल ३२ भंग होते हैं। (१-१६) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वस्निग्ध, एकदेश-शीत और एकदेश-उष्ण के भी १६ भंग होते हैं। (१-१६) अथवा सर्वकर्कश, सर्वगुरु, सर्वरूक्ष, एकदेश-शीत और एकदेश-उष्ण के १६ भंग; दोनों (१६+१६=३२) मिला कर वत्तीस भंग होते हैं।

अथवा (१-३२) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वशीत, सर्वस्निग्ध, एकदेश गुरु और एकदेश लघु; के पूर्ववत् वत्तीस भंग होते हैं। अथवा (१-३२) कदाचित् सर्वगुरु, सर्वशीत, सर्व-स्निग्ध, एकदेश-कर्कश और एकदेश-मृदु के भी पूर्ववत् वत्तीस भंग होते हैं।

इस प्रकार सब मिला कर पांच स्पर्श वाले १२८ भंग हुए।

यदि छह स्पर्श वाला होता है, तो (१) सर्वकर्कश, सर्वगुरु, एकदेश-शीत, एकदेश-उष्ण, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष होता है; कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वगुरु, एकदेश-शीत, एकदेश-उष्ण, एकदेश-स्निग्ध और अनेकदेश-रूक्ष; इस प्रकार यावत्—सर्वकर्कश, सर्वलघु, अनेकदेश-शीत, अनेकदेश-उष्ण अनेकदेश-स्निग्ध और अनेकदेश-रूक्ष; इम प्रकार सोलहवें भंग तक कहना चाहिए। इस प्रकार ये १६ भंग हुए। (२) कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वलघु, एकदेश-शीत, एकदेश-उष्ण, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष; यहाँ भी (पूर्ववत् सब मिलकर) सोलह भंग होते हैं। (३) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वगुरु, एकदेश-शीत, एकदेश-उष्ण, एकदेश-स्निग्ध और एकदेश-रूक्ष, यहाँ भी सब मिल कर सोलह भंग

होते हैं। (४) कदाचित् सर्वमृदु, सर्वलघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष यहां भी कुल सोलह भंग होते हैं। ये सब मिल कर १६+१६+१६+१६=६४ भंग होते हैं।

[१-६४] अथवा कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वशीत, एकदेश-गुरु, एकदेश-लघु, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है; इस प्रकार यावत्—सर्वमृदु सर्वउष्ण, अनेकदेशलघु, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं; यह चौसठवाँ भंग है। इस प्रकार यहाँ भी चौसठ भंग होते हैं। [१-६४] अथवा कदाचित् सर्वकर्कश, सर्वस्निग्ध, एकदेश गुरु, एकदेश लघ, एकदेश शीत और एकदेश-उष्ण होता है; यावत् कदाचित् सर्वमृदु, सर्वरूक्ष, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, अनेकदेश शीत और अनेकदेश-उष्ण होता है। यह चौसठवाँ भंग है। इस प्रकार यहाँ भी १६+१६+१६+१६=६४ भंग होते हैं। कदाचित् सर्वगुरु, सर्वशीत, एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश उष्ण होता है, इस प्रकार यावत्—सर्वलघु, सर्वउष्ण, अनेकदेश कर्कश, अनेकदेश मृदु, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष होते हैं; यह चौसठवाँ भंग है। यहाँ भी चौसठ भंग होते हैं।

[१-६४] कदाचित् सर्वगुरु, सर्वस्निग्ध, एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश शीत और एकदेश उष्ण होता है; यावत् कदचित् सर्वलघु, सर्वरूक्ष अनेकदेश कर्कश, अनेकदेश मृदु, अनेकदेश शीत और अनेकदेश उष्ण होते हैं; यह चौसठवाँ भंग है। इस प्रकार यहाँ भी ६४ भंग होते हैं।

[१-६४] कदाचित् सर्वशीत, सर्वस्निग्ध, एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु और एकदेश लघु होता है; यावत् कदाचित् सर्वउष्ण, सर्वरूक्ष, अनेकदेश कर्कश, अनेकदेशमृदु, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु होता है। यह चौसठवाँ भंग है। इस प्रकार यहाँ भी चौसठ भंग होते हैं। षट्-स्पर्श-सम्बन्धी ये सब ६४×६=३८४ भंग होते हैं।

यदि वह सात स्पर्श वाला होता है तो (१) कदाचित् सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। (२-३-४) कदाचित् सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध, और अनेकदेश रूक्ष होते हैं (इस प्रकार चार भंग होते हैं।), (२) कदाचित् सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रुक्ष होता है, इत्यादि चार भंग। (३) कदाचित् सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, अनेकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एक-देश रूक्ष, इत्यादि चार भंग तथा (४) कदाचित् सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष इत्यादि चार भंग; ये सब मिलाकर ४×४=१६ भंग होते हैं। अथवा कदाचित् (२) सर्वकर्कश, एकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है। इस प्रकार 'गुरु' पद को एकवचन में और 'लघु' पद को अनेक (बहु-) वचन में रखकर पूर्ववत् यहाँ भी सोलह भंग कहने चाहिये। अथवा कदाचित् ३. सर्वकर्कश, अनेकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध एवं एकदेश रूक्ष, इत्यादि, ये भी सोलह भंग कहने चाहिये। (४) अथवा कदाचित् सर्वकर्कश, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष, ये सब मिलकर सोलह भंग कहने चाहिये।

इस प्रकार ये १६×४=६४ भंग 'सर्वकर्कश' के साथ होते हैं।

(२) अथवा कदाचित् सर्वमृदु, एकदेशगुरु, एकदेशलघु, एकदेशशीत, एकदेशउष्ण, एकदेशस्निग्ध और एकदेशरूक्ष होता है । रूक्ष की तरह 'मृदु' शब्द के साथ भी पूर्ववत् १६×४=६४ भंग होते हैं ।

(३) अथवा कदाचित् सर्वगुरु, एकदेशकर्कश, एकदेशमृदु, एकदेशशीत, एकदेशउष्ण, एकदेशस्निग्ध, और एकदेशरूक्ष, इस प्रकार 'गुरु' के साथ भी पूर्ववत् १६×४=६४ भंग कहने चाहिए ।

(४) अथवा कदाचित् सर्वलघु, एकदेशकर्कश, एकदेशमृदु, एकदेशशीत, एकदेशउष्ण, एकदेशस्निग्ध, एकदेशरूक्ष; इस प्रकार 'लघु' के साथ भी पूर्ववत् १६×४=६४ भंग कहने चाहिये ।

(५) कदाचित् सर्वशीत, एकदेशकर्कश, एकदेशमृदु, एकदेशगुरु, एकदेशलघु, एकदेश स्निग्ध और एकदेशरूक्ष, इस प्रकार 'शीत' के साथ भी ६४ भंग कहने चाहिये ।

(६) कदाचित् सर्वउष्ण, एकदेश कर्कश, एकदेशमृदु, एकदेशगुरु, एकदेश लघु, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष; इस प्रकार 'उष्ण' के साथ भी ६४ भंग कहने चाहिये ।

(७) कदाचित् सर्वस्निग्ध, एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत और एकदेश उष्ण होता है; इस प्रकार 'स्निग्ध' के साथ भी ६४ भंग होते हैं ।

(८) कदाचित् सर्वरूक्ष, एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत और एकदेश उष्ण; इस प्रकार 'रूक्ष' के साथ भी ६४ भंग कहने चाहिए ।

यावत् सर्वरूक्ष, अनेकदेश कर्कश, अनेकदेश मृदु, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, अनेकदेश शीत और अनेकदेश उष्ण होता है । इस प्रकार ये सब मिलकर ८×६४=५१२ भंग सप्तस्पर्शी (बादरपरिणामी अनन्तप्रदेशी स्कन्ध) के होते हैं ।

यदि वह आठ स्पर्शवाला होता है, तो (१. I) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष होता है (इत्यादि, इसके) चार भंग (कहने चाहिए)। (II) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत और अनेकदेश उष्ण तथा एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष, इत्यादि चार भंग कहने चाहिये । (III) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, अनेकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष; इत्यादि चार भंग । (IV) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, एकदेश लघु, अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष, ये चार भंग । इस प्रकार इन चार चतुष्कों के १६ भंग होते हैं । अथवा (२) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, एकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष; इस प्रकार 'गुरु' पद को एकवचन में और 'लघु' पद को बहुवचन में रखकर पूर्ववत् १६ भंग कहने चाहिये । (३) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, अनेकदेश गुरु, एकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष, इसके भी १६ भंग (पूर्ववत्) होते हैं । (४) कदाचित् एकदेश कर्कश, एकदेश मृदु, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, एकदेश शीत, एकदेश उष्ण, एकदेश स्निग्ध और एकदेश रूक्ष; इसके भी पूर्ववत् १६ भंग कहने चाहिये ।

ये सब मिलाकर (१६×४=६४) चौसठ भंग 'कर्कश' और 'मृदु' को एकवचन में रखने से होते हैं। इन्हीं भंगों में 'कर्कश' को एकवचन में और 'मृदु' को वहुवचन में रखकर ६४ भंग कहने चाहिए। अथवा उन्हीं भंगों में 'कर्कश' को वहुवचन में और 'मृदु' को एकवचन में रखकर पूर्ववत् ६४ भंग कहने चाहिये। अथवा 'कर्कश' और मृदु दोनों को वहुवचन में रख कर फिर ६४ भंग कहने चाहिये; यावत् अनेकदेश कर्कश, अनेकदेश मृदु, अनेकदेश गुरु, अनेकदेश लघु, अनेकदेश शीत, अनेकदेश उष्ण, अनेकदेश स्निग्ध और अनेकदेश रूक्ष; यह अन्तिम भंग है। ये सब मिला कर अष्टस्पर्शी भंग-२५६ होते हैं।

इस प्रकार वादर परिणाम वाले अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के सर्वसंयोगों के कुल १२९६ भंग होते हैं।

विवेचन—वादर परिणामी अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के स्पर्श सम्बन्धी एक हजार दो सौ छियानवें भंग—इसके स्पर्श-सम्वन्धी चतु:संयोगी १६, पंचसंयोगी १२८, षट्संयोगी ३८४, सप्तसंयोगी ५१२, और अष्टसंयोगी २५६, ये सब मिला कर बादर अनन्तप्रदेशी स्कन्धों के स्पर्श के १२९६ भंग होते हैं। एक परमाणु से लेकर सूक्ष्म अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक स्पर्श सम्बन्धी २९८ भंग होते हैं। परमाणु से लेकर वादर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के कुल ६४७० भंग होते हैं, जो पहले गिना दिये हैं।[1]

१५. कतिविधे णं भंते ! परमाणू पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे परमाणू पन्नत्ते, तं जहा—दव्वपरमाणू खेत्तपरमाणू कालपरमाणू भावपरमाणू।

[१५ प्र.] भगवन् ! परमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१५ उ.] गौतम ! परमाण चार प्रकार का कहा गया है। यथा द्रव्यपरमाणु, क्षेत्रपरमाणु, कालपरमाणु और भावपरमाणु।

१६. दव्वपरमाणू णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—अच्छेज्जे अभेज्जे अडज्झे अगेज्झे।

[१६ प्र.] भगवन् ! द्रव्यपरमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१६ उ.] गौतम ! (द्रव्यपरमाणु) चार प्रकार का कहा गया है। यथा अच्छेद्य, अभेद्य, अदाह्य और अग्राह्य।

१७. खेत्तपरमाणू णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विहे पन्नत्ते, तं जहा—अणड्ढे अमज्झे अपएसे अविभाइमे।

[१७ प्र.] भगवन् ! क्षेत्रपरमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१७ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है। यथा अनर्द्ध, अमध्य, अप्रदेश और अविभाज्य।

---

१. वियाहपण्णत्ति सुत्तं भा. २, पृ. ८६९-७०

१८. कालपरमाणू० पुच्छा ।

गोयमा ! चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—अवण्णे अगंधे अरसे अफासे ।

[१८ प्र.] भगवन् ! कालपरमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१८ उ.] गौतम ! कालपरमाणु चार प्रकार का कहा गया है । यथा—अवर्ण, अगन्ध, अरस और अस्पर्श ।

१९. भावपरमाणू णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—वण्णमंते गंधमंते रसमंते फासमंते ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति ।

।। वीसइमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ।। २०-५ ।।

[१९ प्र.] भगवन् ! भावपरमाणु कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१९ उ.] गौतम ! वह चार प्रकार का कहा गया है । यथा—वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् और स्पर्शवान् ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—परमाणु : द्रव्यादि की अपेक्षा से क्या है, क्या नहीं ?—प्रस्तुत पांच सूत्रों (१५ से १९ सू. तक) में परमाणु के स्वरूप का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से विश्लेषण किया गया है ।

द्रव्यपरमाणु : स्वरूप—वर्णादिधर्म की विवक्षा किये विना एक परमाणु को द्रव्यपरमाणु कहते हैं । क्योंकि यहाँ केवल द्रव्य की ही विवक्षा की गई है । **अच्छेद्य**—द्रव्यपरमाणु का शस्त्रादि द्वारा छेदन नहीं हो सकता, इसलिये वह अच्छेद्य है । **अभेद्य**—उसका सूई आदि द्वारा भेदन नहीं हो सकता, इसलिये अभेद्य है । **अदाह्य**—वह अग्नि आदि से जलाया नहीं जा सकता, इसलिये अदाह्य है । **अग्राह्य**—उसे हाथ आदि से पकड़ा नहीं जा सकता, इसलिये अग्राह्य है ।

क्षेत्रपरमाणु : स्वरूप—एक आकाशप्रदेश को क्षेत्रपरमाणु कहते हैं । **अनर्द्ध**—परमाणु के सम-संख्यावाले अवयव नहीं होते, इसलिये वह अनर्द्ध कहलाता है । **अमध्य**—विषम संख्या वाले अवयव नहीं हैं, इसलिये अमध्य कहलाता है । **अप्रदेश**—इसके प्रदेश (अवयव) नहीं हैं, इसलिए अप्रदेश है । **अविभाज्य**—परमाणु का विभाजन या विभाग नहीं हो सकता, इसलिए वह अविभाग या अविभाज्य है ।

कालपरमाणु : स्वरूप—एक समय को कालपरमाणु कहते हैं । इसलिये एक समय में उसके लिये वर्णादि की विवक्षा नहीं होती ।

भावपरमाणु : स्वरूप—वर्णादिधर्म की प्रधानता की विवक्षापूर्वक परमाणु को भाव-परमाणु कहते हैं । भावपरमाणु—वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श से युक्त होता है ।[1]

।। वीसवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ।।

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७८८
(ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २८८७

छठो उद्देसओ : 'अन्तर'

छठा उद्देशक : 'अन्तर'

प्रथम से सप्तम नरकपृथ्वी तक की दो-दो पृथ्वियों के बीच में मरणसमुद्घात करके सौधर्मादिकल्प से ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक पृथ्वीकायिकरूप में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक द्वारा पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-निरूपण

१. पुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए, समोहण्णित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! किं पुव्वि उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा, पुव्वि आहारेत्ता पच्छा उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! पुव्वि वा उववज्जित्ता० एवं जहा सत्तरसमसए छट्ठुद्देसे (स० १७ उ० ६ सु० १) जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पुव्वि वा जाव उववज्जेज्जा, नवरं तहि संपाउणणा, इमेहि आहारो भण्णइ, सेसं तं चेव ।

[१ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभा पृथ्वी और शर्कराप्रभा पृथ्वी के बीच में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में पृथ्वीकायिक के रूप में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करते हैं, अथवा पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! वे पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करते हैं अथवा पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं; इत्यादि वर्णन सत्तरहवें शतक के छठे उद्देशक के (सू. १ के) अनुसार यावत्—हे गौतम ! इसलिए ऐसा कहा जाता है कि यावत् पीछे उत्पन्न होते हैं; (यहाँ तक कहना चाहिए।) विशेष यह है कि वहाँ पृथ्वीकायिक 'सम्प्राप्त करते हैं'—पुद्गल-ग्रहण करते हैं—ऐसा कहा है, और यहाँ 'आहार करते हैं'—ऐसा कहना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् ।

२. पुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए० जे भविए ईसाणे कप्पे पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं चेव ।

[२ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वी के मध्य में मरणसमुद्घात करके ईशानकल्प में पृथ्वीकायिकरूप से उत्पन्न होने योग्य हैं, वे पहले उत्पन्न हो कर पीछे आहार करते हैं या पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! (इसका उत्तर भी) पूर्ववत् (समझना चाहिए।)

३. एवं जाव ईसिपब्भाराए उववातेयव्वो ।

[३] इस प्रकार (सनत्कुमार से लेकर) यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक (उपपात आलापक) कहना चाहिए ।

४. पुढविकाइए णं भंते ! सक्करप्पभाए वालुयप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए, समो० २ जे भविए सोहम्मे कप्पे जाव ईसिपब्भाराए० ?

एवं ।

[४ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिकजीव शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा के मध्य में मरण—समुद्घात करके सौधर्मकल्प में यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करते हैं, या पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] ये (सब आलापक) पूर्ववत् कहने चाहिए ।

५. एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए य पुढवीए अंतरा समोहए समाणे जे भविए सोहम्मे जाव ईसिपब्भाराए उववाएयव्वो ।

[५] इसी क्रम से यावत् तमःप्रभा और अधःसप्तम पृथ्वी के मध्य में मरणसमुद्घात करके (पृथ्वीकायिक जीवों में) सौधर्मकल्प (से लेकर) यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में (पूर्ववत्) उपपात (आलापक) कहने चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रों (सू. १ से ५ तक) में पृथ्वीकायिक जीव, जो रत्नप्रभादि दो-दो नरकपृथ्वियों के बीच में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प से लेकर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी में, पृथ्वीकायिकरूप में उत्पन्न होने योग्य हैं, उनका पहले उत्पाद होकर पीछे आहार होता है, अथवा पहले आहार होकर पीछे उत्पाद होता है ? यह चर्चा की गई ।

पहले उत्पाद और पीछे आहार या पहले आहार और पीछे उत्पाद का तात्पर्य—जो जीव गेंद के समान समुद्घातगामी होता है, वह मर कर पहले उत्पत्तिस्थान में उत्पन्न होता है, अर्थात् उत्पत्तिस्थान में जाता है । तत्पश्चात् आहार करता है, अर्थात्—आहार-प्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है । किन्तु जो जीव ईलिका की गति के समान समुद्घातगामी (समुद्घात करके उत्पत्तिक्षेत्र में उत्पन्न होने हेतु जाने वाला) होता है, वह पहले आहार करता है, अर्थात्—उत्पत्तिक्षेत्र में प्रदेश-प्रक्षेप (पहुँचाए हुए प्रदेशों) के द्वारा आहार ग्रहण करता है और इसके पश्चात्—पूर्व शरीर में रहे हुए प्रदेशों को उत्पत्तिक्षेत्र में खींचता है ।[1]

सौधर्मादिकल्प से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक के बीच में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभा से अधःसप्तम पृथ्वी तक पृथ्वीकायिकरूप में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक की पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-प्ररूपणा

६. पुढविकाइए णं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमार-माहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए,

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९०

समो० २ जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुढवियाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! किं पुव्विं उववज्जित्ता पच्छा आहारेज्जा ?

सेसं तं चेव जाव सेतेणट्ठेणं जाव णिक्खेवओ।

[६ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक जीव, सौधर्म-ईशान और सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प के मध्य में मरणसमुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी में पृथ्वीकायिकरूप में उत्पन्न होने योग्य है, वह पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करता है, अथवा पहले आहार करके फिर उत्पन्न होता है।

[६ उ.] गौतम ! इसका उत्तर पूर्ववत् समझना चाहिए। यावत् इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया है, इत्यादि उपसंहार तक कहना चाहिए।

७. पुढविकाइए णं भंते ! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमार-माहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहए, स० २ जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए ?

एवं चेव।

[७ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, सौधर्म-ईशान और सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प के मध्य में मरणसमुद्घात करके शर्कराप्रभा पृथ्वी में पृथ्वीकायिकरूप से उत्पन्न होने योग्य है, वह पहले यावत् पीछे उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] गौतम ! (इसका उत्तर भी) पूर्ववत् (समझना चाहिए।)

८. एवं जाव अहेसत्तमाए उववातेतव्वो।

[८] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तम पृथ्वी तक उपपात (आलापक) (कहने चाहिए।)

एवं सणंकुमार-माहिंदाणं बंभलोगस्स य कप्पस्स अंतरा समोहए, समो० २ पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो।

[९] इसी प्रकार सनत्कुमार-माहेन्द्र और ब्रह्मलोक कल्प के मध्य में मरणसमुद्घात करके पुनः रत्नप्रभा से लेकर यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक उपपात (आलापक) कहने चाहिए।

१०. एवं बंभलोगस्स लंतगस्स य कप्पस्स अंतरा समोहए० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए०।

[१०] इसी प्रकार ब्रह्मलोक और लान्तक कल्प के मध्य में मरणसमुद्घातपूर्वक पुनः (रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

११. एवं लंतगस्स महासुक्कस्स य कप्पस्स अंतरा समोहए, समोहणित्ता पुणरवि जाव अहेसत्तमाए०।

[११] इसी प्रकार लान्तक और महाशुक्रकल्प के मध्य में मरणसमुद्घातपूर्वक पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक....।

१२. एवं महासुक्कस्स सहस्सारस्स य कप्पस्स अंतरा० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए०।

[१२] इसी प्रकार महाशुक्र और सहस्रार कल्प के अन्तराल में मरणसमुद्घात करके पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक....।

१३. एवं सहस्सारस्स आणय-पाणयाण य कप्पाणं अंतरा० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए० ।

[१३] इसी प्रकार सहस्रार और आनत-प्राणत कल्प के बीच में मरणसमुद्घात करके पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक····।

१४. एवं आणय-पाणयाणं आरणऽच्चुयाण य कप्पाणं अंतरा० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए० ।

[१४] इसी प्रकार आनत-प्राणत और आरण-अच्युत कल्प के बीच में मरणसमुद्घात करके पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक····।

१५. एवं आरणऽच्चुताणं गेवेज्जविमाणाण य अंतरा० जाव अहेसत्तमाए० ।

[१५] इसी प्रकार आरण-अच्युत और ग्रैवेयक विमानों के अन्तराल में, मरणसमुद्घात करके पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक ···।

१६. एवं गेवेज्जविमाणाण अनुत्तर विमाणाण य अंतरा० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए० ।

[१६] इसी प्रकार ग्रैवेयकविमानों और अनुत्तरविमानों के अन्तराल में (मरणसमुद्घात-पूर्वक) पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक····।

१७. एवं अणुत्तरविमाणाणं ईसि दब्भाराए य अंतरा० पुणरवि जाव अहेसत्तमाए उववाएयव्वो ।

[१७] इसी प्रकार अनुत्तरविमानों और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के अन्तराल में (मरणसमुद्घात-पूर्वक) पुनः यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक····।

विवेचन—प्रस्तुत १२ सूत्रों (सू. ६ से १७ तक) में पहले से विपरीत निरूपण है। अर्थात् पहले के आलापकों में सात नरकपृथ्वियों में से दो-दो के मध्य में मरणसमुद्घात का निरूपण था, इन आलापकों में सौधर्मदेवलोक से ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक में से चार, तीन या अधिक देवलोकों के बीच में मरणसमुद्घात करने का वर्णन है। वहाँ सौधर्म से लेकर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक विशेषण तथा यहाँ उसके स्थान पर रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर अधःसप्तमपृथ्वी तक में उत्पन्न होने योग्य पृथ्वीकायिक का विशेषण है।

पृथ्वीकायिकविषयक सूत्रों के अतिदेश-पूर्वक अप्कायिकविषयक पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-निरूपण

१८. आउकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए, समो० २ जे भविए सोहम्मे कप्पे आउक्काइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

सेसं जहा पुढविकाइयस्स जाव से तेणट्ठेणं० ।

[१८ प्र.] भगवन् ! जो अप्कायिक जीव, इस रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वी के बीच में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में अप्कायिक के रूप में उत्पन्न होने योग्य है, वह पहले उत्पन्न होकर पीछे आहार करता है या पहले आहार करके पीछे उत्पन्न होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! (अप्कायिक नाम के सिवाय) शेष समग्र (समाधान) पृथ्वीकायिक (इसी उद्देश्य के सू. १) के समान जानना चहिये; यावत् इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि····इत्यादि।

१९. एवं पढम-दोच्चाणं अंतरा समोहयओ जाव ईसिपब्भाराए य उववातेयव्वो।

[१९] इसी प्रकार पहली और दूसरी पृथ्वी के बीच में मरणसमुद्घातपूर्वक अप्कायिक जीवों का यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक उपपात (आलापक) जानना चाहिए।

२०. एवं एएणं कमेणं जाव तमाए अहेसत्तमाए य पुढवीए अंतरा० समोहए, समो० २ जाव इसिपब्भाराए उववातेयव्वो आउक्काइयत्ताए।

[२०] इसी प्रकार इसी क्रम से यावत् तमःप्रभा और अधःसप्तमा पृथ्वी के मध्य में मरण-समुद्घातपूर्वक अप्कायिक जीवों का यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक अप्कायिक रूप से उपपात जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत तीन अप्कायिक-विषयक सूत्रों (१८ से २० तक) में पृथ्वीकायिक जीव विषयक पांच सूत्रों (सू. १ से ५ तक) के अतिदेशपूर्वक अप्कायिक जीवों के विषय में निरूपण किया गया है।

पृथ्वीकायिक-विषयक सूत्रों के अतिदेशपूर्वक अप्कायिक जीवविषयक (विशिष्ट परिस्थिति में) पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-प्ररूपणा

२१. आउयाए णं भंते! सोहम्मीसाणाणं सणंकुमार-माहिंदाण य कप्पाणं अंतरा समोहते, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए[1] घणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ? सेसं तं चेव।

[२१ प्र.] भगवन्! जो अप्कायिक जीव, सौधर्म-ईशान और सनत्कुमार-माहेन्द्रकल्प के बीच में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभा-पृथ्वी में (घनोदधि और) घनोदधि-वलयों में अप्कायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है; इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न?

[२१ उ.] (गौतम! 'अप्कायिक' इस शब्दोच्चार के सिवाय) शेष सब (निरूपण) पृथ्वी-कायिक के समान (सू. ६ के उल्लेखानुसार) जानना चाहिए।

२२. एवं एएहिं चेव अंतरा समोहयओ जाव अहेसत्तमाए पुढवीए घणोदधिवलएसु आउकाइयत्ताए उववाएयव्वो।

[२२] इस प्रकार इन (पूर्वोक्त) अन्तरालों में मरणसमुद्घात को प्राप्त अप्कायिक जीवों का अधःसप्तमपृथ्वी तक के (घनोदधि और) घनोदधिवलयों में अप्कायिकरूप से उपपात कहना चाहिए।

२३. एवं जाव अणुत्तरविमाणाणं ईसिपब्भाराए य पुढवीए अंतरा समोहए जाव अहेसत्तमाए घणोदधिवलएसु उववातेयव्वो।

[२३] इसी प्रकार यावत् अनुत्तरविमान और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के बीच मरणसमुद्घात प्राप्त अप्कायिक जीवों का यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक के (घनोदधि और) घनोदधिवलयों में अप्कायिक के रूप में उपपात जानना चाहिए।

---

१. पाठभेद—यहां 'घणोदधि-घणोदधिवलएसु' इस प्रकार का पाठभेद है।

विवेचन—प्रस्तुत तीन अप्कायिक-विषयक सूत्रों (२१ से २३ तक) में पृथ्वीकायिक-विषयक १२ सूत्रों (६ से १७ सू. तक) के अतिदेशपूर्वक निरूपण किया गया है। विशेष यह है कि यहाँ घनोदधिवलयों में अप्कायिकरूप से उत्पाद का निरूपण है।

सत्तरहवें शतक के दसवें उद्देशक के अनुसार वायुकायिक जीवों के विषय में पूर्व-पश्चात् आहार-उत्पाद-विषयक-प्ररूपणा

२४. वाउकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए सक्करप्पभाए य पुढवीए अंतरा समोहए, समोहणित्ता जे भविए सोहम्मे कप्पे वाउकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं जहा सत्तरसमसए वाउकाइयउद्देसए (स० १७ उ० १० सु० १) तहा इह वि, नवरं अंतरेसु समोहणावेयव्वो, सेसं तं चेव जाव अणुत्तरविमाणाणं ईसिपब्भाराए य पुढवीए अंतरा समोहए, समोह० २ जे भविए अहेसत्तमाए घणवात-तणुवाते घणवातवलएसु तणुवायवलएसु वाउक्काइयत्ताए उववज्जित्तए, सेसं तं चेव, से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।[1]

॥ वीसइमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ २०-६ ॥

[२४ प्र.] भगवन् ! जो वायुकायिक जीव, इस रत्नप्रभा और शर्कराप्रभा पृथ्वी के मध्य में मरणसमुद्घात करके सौधर्मकल्प में वायुकायिक रूप से उत्पन्न होने योग्य हैं; इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ?

[२४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार सत्तरहवें शतक के दसवें वायुकायिक उद्देशक (के सूत्र १) में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि रत्नप्रभा आदि पृथ्वियों के अन्तरालों में मरणसमुद्घातपूर्वक कहना चाहिये। शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए।

इस प्रकार यावत् अनुत्तरविमानों और ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के मध्य में मरणसमुद्घात करके जो वायुकायिक जीव अधःसप्तमपृथ्वी में घनवात और तनुवात तथा घनवातवलयों और तनुवातवलयों में वायुकायिकरूप से उत्पन्न होने योग्य है, इत्यादि सब कथन पूर्ववत् जानना चाहिए, यावत्—'इस कारण उत्पन्न होते हैं।'

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतम-स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र २४ में सत्तरहवें शतक के दसवें वायुकायिक उद्देशक के अतिदेशपूर्वक वायुकायिक जीव-विषयक निरूपण किया गया है। सभी आलापक पूर्ववत् ही हैं, किन्तु विशेष इतना ही है कि वायुकायिक जीव के विशेषण के रूप में घनवात-तनुवात तथा घनवात-तनुवात-वलयों में उत्पन्न होने योग्य—ऐसा निरूपण किया गया है।

॥ वीसवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

---

१. **तीन उद्देशक**—दूसरी वाचना के अभिप्रायानुसार यहाँ पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और वायुकायिक विषयक पृथक्-पृथक् उद्देशक माने गए हैं। —अ. वृ.

सत्तमो उद्देसओ : 'बंधे'

सप्तम उद्देशक : बन्ध

बन्ध के तीन भेद और चौवीस दण्डकों में उनकी प्ररूपणा

१. कतिविधे णं भंते ! बंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे बंधे पन्नत्ते, तं जहा—जीवप्पयोगबंधे अणंतरबंधे परंपरबंधे ।

[१ प्र.] भगवन् ! बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१ उ.] गौतम ! बन्ध तीन प्रकार का कहा गया है । यथा—जीवप्रयोगबन्ध, अनन्तरबन्ध और परम्परबन्ध ।

२. नेरतियाणं भंते ! कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

एवं चेव ।

[२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीवों के बन्ध कितने प्रकार के हैं ?

[२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (तीनों प्रकार के) हैं ।

३. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[३] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (के बन्ध के विषय में जानना चाहिए ।)

विवेचन—बन्ध के प्रकार, एवं चौबीस दण्डकों में बन्ध-निरूपण—प्रस्तुत तीन सूत्रों में बन्ध, उसके प्रकार एवं नैरयिकों से लेकर वैमानिकों तक के जीवों के बन्ध के विषय में निरूपण किया गया है ।

बन्ध का स्वरूप—आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों के सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं । उसके तीन प्रकार हैं ।

जीवप्रयोगबन्ध—जीव के प्रयोग से अर्थात् मन-वचन-काया के व्यापार से आत्मा के साथ कर्म-पुद्गलों का सम्वन्ध होना अर्थात्—आत्मप्रदेशों में संश्लेष होना जीवप्रयोगबन्ध कहलाता है । **अनन्तरबन्ध**—जिन पुद्गलों का वन्ध हुए अनन्तर-अव्यवहित समय है—दो-तीन आदि समय नहीं हुए, उनका वन्ध अनन्तरबन्ध कहलाता है और जिनके बन्ध को दो-तीन आदि समय हो चुके हैं, उनका वन्ध **परस्परबन्ध** कहा जाता है ।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९१
   (ख) भगवती-उपक्रम, पृ. ४५८

अष्टविध कर्मों के त्रिविधबन्ध एवं उनकी चौवीस दण्डको में प्ररूपणा

४. नाणावरणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे बंधे पन्नत्ते, तं जहा—जीवप्पयोगबंधे अणंतरबंधे परंपरबंधे।

[४ प्र.] भगवन् ! ज्ञानावरणीयकर्म का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४ उ.] गौतम ! वह बन्ध तीन प्रकार का कहा गया है। यथा जीवप्रयोगबन्ध, अनन्तर-बन्ध और परम्परबन्ध।

५. नेरइयाणं भंते ! नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

एवं चेव।

[५ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों के ज्ञानावरणीयकर्म का वन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?
[५ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (त्रिविध वन्ध होता है।)

६. एवं जाव वेमाणियाणं।

[६] इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त (बन्धनिरूपण समझना चाहिए।)

७. एवं जाव अंतराइयस्स।

[७] इसी प्रकार (दर्शनावरणीय से लेकर) यावत् अन्तराय कर्म तक के (वन्ध के विषय में जानना चाहिए।)

विवेचन—ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध : जीवों से सम्बद्ध या असम्बद्ध ?—प्रस्तुत सूत्र ४ में ज्ञानावरणीय कर्म का तीन प्रकार का बन्ध कहा है, परन्तु वह जीव से सम्बद्ध हुए बिना हो नहीं सकता, इसलिए जीव (आत्मा) के साथ ज्ञानावरणीय कर्मपुद्गलों के सम्बन्ध की अपेक्षा से ही जीव-प्रयोगवन्ध आदि वन्धत्रय घटित हो सकते हैं। यही कारण है कि अगले दो सूत्रों में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के प्रकार की प्ररूपणा की गई है।

आठों कर्मों के उदयकाल में प्राप्त होने वाले बन्धत्रय का २४ दण्डकों में निरूपण

८. णाणावरणिज्जोदयस्स णं भंते ! कम्मस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविहे बंधे पन्नत्ते। एवं चेव।

[८ प्र.] भगवन् ! उदयप्राप्त ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?
[८ उ.] गौतम ! वह पूर्ववत् तीन प्रकार का कहा गया है।

९. एवं नेरइयाण वि।

[९] इसी प्रकार नैरयिकों के भी (उदयप्राप्त ज्ञानावरणीय कर्म के बन्ध-प्रकार के विषय में जान लेना चाहिए।)

१०. एवं जाव वेमाणियाणं।

[१०] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक (के उदयप्राप्त०....।)

११. एवं जाव अंतराइओदयस्स ।

[११] और इसी प्रकार (उदयप्राप्त दर्शनावरणीय से लेकर) यावत् अनन्तराय कर्म तक के (बन्ध-प्रकार के विषय में कहना चाहिए।)

विवेचन—णाणावरणिज्जोदयस्स : तीन व्याख्याएँ—वृत्तिकार ने प्रस्तुत सू. ८ की इस पंक्ति की तीन व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं—(१) ज्ञानावरणीय के उदयरूप कर्म का, अर्थात्—उदय-प्राप्त ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध, यह बन्ध-भूतभाव (पूर्वकाल) की अपेक्षा से समझना चाहिए। (२) अथवा ज्ञानावरणीय रूप में जिस कर्म का उदय है, ऐसे कर्म का बन्ध समझना चाहिए, क्योंकि ज्ञानावरणीयादि कर्म ज्ञानादि का आवारक रूप होने से कुछ विपाक से और कुछ प्रदेश से वेदा जाता है, अतः विपाकोदय से वेदे जाने योग्य उदय को ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध समझना चाहिए। (३) अथवा ज्ञानावरणीय के उदय में जो ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है अथवा वेदा जाता है, वह भी ज्ञानावरणीय कर्म का उदय ही है। उस कर्म का बन्ध समझना।[1]

वेदत्रय तथा दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय में त्रिविधबन्ध-प्ररूपणा

१२. इत्थिवेदस्स णं भंते ! कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे बंधे पन्नत्ते। एवं चेव।

[१२ प्र.] भगवन् ! स्त्रीवेद का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१२ उ.] गौतम ! उसका पूर्ववत् तीन प्रकार का बन्ध कहा गया है।

१३. असुरकुमाराणं भंते ! इत्थिवेदस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

एवं चेव।

[१३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमारों के स्त्रीवेद का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[१३ उ.] (गौतम !) पूर्ववत् (तीन प्रकार का है।)

१४. एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं जस्स इत्थिवेदो अत्थि ।

[१४] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए। विशेष यह कि जिसके स्त्रीवेद है, (उसके लिए ही यह जानना चाहिए।)

१५. एवं पुरिसवेदस्स वि; एवं नपुंसगवेदस्स वि; जाव वेमाणियाणं, नवरं जस्स जो अत्थि वेदो।

[१५] इसी प्रकार पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद के (बन्ध के) विषय में भी जानना चाहिए। यावत् वैमानिकों तक कथन करना चाहिए। विशेष यही है कि जिसके जो वेद हो, वही जानना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९१

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ६, पृ. २८९९

१६. दंसणमोहणिज्जस्स णं भंते ! कम्मस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ? एवं चेव।

[१६ प्र.] भगवन् ! दर्शनमोहनीय कर्म का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?
[१६ उ.] गौतम ! (वह भी) पूर्ववत् (तीन प्रकार का है।)

१७. [एवं] निरंतरं जाव वेमाणियाणं।

[१७] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त अन्तर-रहित (बन्ध-कथन करना चाहिए।)

१८. एवं चरित्तमोहणिज्जस्स वि जाव वेमाणियाणं।

[१८] इसी प्रकार चारित्रमोहनीय के बन्ध के विषय में भी यावत् वैमानिकों तक (जानना चाहिए।)

विवेचन—स्त्रीवेद आदि के त्रिविध बन्ध का आशय—वेद के त्रिविध बन्ध का यहाँ आशय है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपुंसकवेद के उदय होने पर जो बन्ध हो, उदयप्राप्त स्त्रीवेदादि का बन्ध।

दर्शनमोहनीय-चारित्रमोहनीय के बन्ध के विषय में स्पष्टीकरण—केवल दर्शन-चारित्रमोहनीय के जो बन्धत्रय बताए हैं वे जीव की अपेक्षा से बताए हैं, क्योंकि जीव के साथ कर्मपुद्गलों (दर्शन-चारित्रमोहनीय कर्म के पुद्गलों) का सम्बन्ध होने पर ही बन्ध होता है।

शरीर, संज्ञा, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान एवं ज्ञानाज्ञानविषयों में त्रिविधबन्धप्ररूपणा

१९. एवं एएणं कमेणं ओरालियसरीरस्स जाव कम्मगसरीरस्स, आहार-सण्णाए जाव परिग्गहसण्णाए, कण्हलेसाए जाव सुक्कलेसाए, सम्मद्दिट्ठीए मिच्छादिट्ठीए सम्मामिच्छादिट्ठीए, आभिणिबोहियणाणस्स जाव केवलनाणस्स, मतिअन्नाणस्स सुयअन्नाणस्य विभंगनाणस्स।

[१९] इस प्रकार इसी क्रम से औदारिक शरीर, यावत् कार्मण शरीर के आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा के, कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या के, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि एवं सम्यग्मिथ्यादृष्टि के, आभिनिवोधिकज्ञान यावत् केवलज्ञान के, मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान तथा विभंगज्ञान के पूर्ववत् (त्रिविधवन्ध समझना चाहिए।)

२०. एवं आभिनिवोहियनाणविसयस्स णं भंते ! कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

जाव केवलनाणविसयस्स, मतिअन्नाणविसयस्स, सुयअन्नाणविसयस्स, विभंगनाणविसयस्स; एएसिं सव्वेसिं पयाणं तिविधे बंधे पन्नत्ते।

[२० प्र.] भगवन् ! इसी प्रकार आभिनिवोधिकज्ञान के विषय का बन्ध कितने प्रकार का है ?

[२० उ.] गौतम ! आभिनिवोधिकज्ञान के विषय से लेकर यावत् केवलज्ञान के विषय, मति-अज्ञान के विषय, श्रुत-अज्ञान के विषय और विभंगज्ञान के विषय, इन सब पदों के तीन-तीन प्रकार का बन्ध कहा गया है।

२१. सव्वेते चउवीसं दंडगा भाणियव्वा, नवरं जाणियव्वं जस्स जं अत्थि; जाव वेमाणियाणं भंते ! विभंगणाणविसयस्स कतिविधे बंधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तिविधे बंधे पन्नत्ते, तं जहा—जीवप्पयोगबंधे अणंतरबंधे परंपरबंधे ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति ।

॥ वीसइमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ २०-७ ॥

[२१] इन सब पदों का चौवीस दण्डकों के विषय में (बन्ध-विषयक) कथन करना चाहिए। इतना विशेष है कि जिसके जो हो, वही जानना चाहिए। यावत्—(निम्नोक्त प्रश्नोत्तर तक।)

[प्र.] भगवन् ! वैमानिकों के विभंगज्ञान-विषय का बन्ध कितने प्रकार का कहा गया है ?

[उ.] गौतम ! (उनके इसका) बन्ध तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—जीवप्रयोगबन्ध, अनन्तरबन्ध और परम्परबन्ध ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है;' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—दृष्टि, ज्ञान आदि के साथ बन्ध कैसे ?—यह तो पहले कहा जा चुका है कि आत्मा के साथ कर्मों के सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं, परन्तु यहाँ यदि कर्मपुद्गलों या अन्य पुद्गलों का आत्मा के साथ सम्बन्ध माना जाए तो औदारिकादि शरीर, अष्टविध कर्मपुद्गल, आहारादि संज्ञाजनक कर्म और कृष्णादि लेश्याओं के पुद्गलों का बन्ध तो घटित हो सकता है, परन्तु दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान और तद्विषयक बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है, क्योंकि ये सब अपौद्गलिक (आत्मिक) हैं ?

इसका समाधान यह है कि यहाँ बन्ध शब्द से केवल कर्मपुद्गलों का बन्ध ही विवक्षित नहीं है, अपितु सम्बन्धमात्र को यहाँ बन्ध माना गया है और ऐसा बन्ध दृष्टि आदि धर्मों के साथ जीव का है ही, फिर बन्ध जीव के वीर्य से जनित होने के कारण उनके लिए जीवप्रयोगबन्ध आदि का व्यपदेश किया गया है। ज्ञेय के साथ ज्ञान के सम्बन्ध की विवक्षा के कारण आभिनिबोधिकज्ञान के विषय आदि के भी त्रिविध बन्ध घटित हो जाते हैं।[1]

पचपन बोलों में से किसमें कितने ?—८ कर्मप्रकृति, ८ कर्मोदय, ३ वेद, १ दर्शनमोहनीय, १ चारित्रमोहनीय, ५ शरीर, ४ संज्ञा, ६ लेश्या, ३ दृष्टि, ५ ज्ञान, ३ अज्ञान और ८ ज्ञान-अज्ञान के विषय, यों कुल ५५ बोल होते हैं। नारकों में ४४ बोल पाए जाते हैं (उपर्युक्त ५५ में से २ वेद, २ शरीर, ३ लेश्या, २ ज्ञान तथा २ अज्ञान के विषय—ये ११ बोल कम हुए)। भवनपति और वाणव्यन्तर देवों में ४६ बोल, उपर्युक्त ४४ में से एक नपुसंक वेद कम तथा २ वेद और १ लेश्या अधिक)। ज्योतिष्क देवों में ४३ बोल (उपर्युक्त ४६ में से ३ लेश्या कम), वैमानिक देवों में ४५ बोल (उपर्युक्त ४३ में दो लेश्याएँ अधिक)। पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में ३५ बोल (८ कर्म, ८ कर्मोदय, १ वेद, १ दर्शनमोह, १ चारित्रमोह, ३ शरीर, ४ संज्ञा, ४ लेश्या, १ दृष्टि, २ अज्ञान, २ अज्ञान के विषय, यों कुल ३५)। अग्निकाय में ३४ बोल(उपर्युक्त ३५ में से १ लेश्या कम)। वायुकाय में ३५ बोल (उपर्युक्त ३४ में १ शरीर बढ़ा)। तीन विकलेन्द्रिय में ३६ बोल, (उपर्युक्त ३४ में १ दृष्टि, २ ज्ञान और दो ज्ञान के विपय बढ़े)। तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय में ५० बोल, (५५ में से १ शरीर, २ ज्ञान, २ ज्ञान के विषय

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७२१,
(ख) भगवती. खण्ड ४ (पं भगवानदास दोशी), पृ. ११५

कम हुए) तथा मनुष्य में ५५ बोल पाए जाते हैं । २४ दण्डकों में ५५ में जितने-जितने बोल पाए जाते है, उनमें से प्रत्येक में त्रिविध वन्ध होते हैं ।[1]

॥ वीसवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥ □□

१. (क) भगवती उपक्रम पृ. ४५९
(ख) पगडी ८ उदये ८ वेए ३ दंसणमोहे चरित्ते य ।
ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेय-कम्मए चेव ॥१॥
सन्ना ४ लेस्सा ६ दिट्ठी ३ णाणाऽणाणेसु ५+३, तव्विसए ८ ।
जीवप्पओगबंधे अणंतर-परंपरे च बोद्धव्वे । ॥२॥ अ. वृ.

अट्ठमो उद्देसओ : 'भूमी'

आठवाँ उद्देशक : (कर्म-अकर्म) भूमि (आदि-सम्बन्धी)

कर्मभूमियों और अकर्मभूमियों की संख्या का निरूपण

१. कति णं भंते ! कम्मभूमीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! पन्नरस कम्मभूमीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पंच भरहाइं, पंच एरवताइं, पंच महाविदेहाइं।

[१ प्र.] भगवन् ! कर्मभूमियां कितनी कही गई हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कर्मभूमियां पन्द्रह कही गई हैं। यथा—पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह।

२. कति णं भंते ! अकम्मभूमीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! तीसं अकम्मभूमीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—पंच हेमवयाइं, पंच हेरण्णवयाइं, पंच हरिवासाइं, पंच रम्मगवासाइं, पंच देवकुरूओ, पंच उत्तरकुरूओ।

[२ प्र.] भगवन् ! अकर्मभूमियां कितनी कही गई हैं ?

[२ उ.] गौतम! अकर्मभूमियां तीस कही गई हैं। यथा—पांच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देवकुरु, और पांच उत्तरकुरु।

विवेचन—कर्मभूमि और अकर्मभूमि—जिन क्षेत्रों में असि (शस्त्रास्त्र और युद्धविद्या,) मसि (लेखन और अध्ययन-अध्यापनादि) तथा कृषि (खेतीबाड़ी तथा आजीविका के अन्य उपाय) रूप कर्म (व्यवसाय) हों, उन्हें 'कर्मभूमि' कहते हैं। जहाँ असि, मषि, कृषि आदि न हों, किन्तु कल्पवृक्षों से निर्वाह होता हो, उन्हें 'अकर्मभूमि' कहते हैं।

कर्मभूमियां कहाँ-कहाँ ?—जम्बूद्वीप में एक भरत, एक ऐरवत और एक महाविदेह है। धातकीखण्डद्वीप में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह हैं। अर्धपुष्करद्वीप में दो भरत, दो ऐरवत और दो महाविदेह हैं। इस प्रकार कुल १५ कर्मभूमियां हैं।

तीस अकर्मभूमियां कहाँ-कहाँ ?—तीस अकर्मभूमियों में से एक हैमवत, एक हैरण्यवत, एक हरिवर्ष, एक रम्यकवर्ष, एक देवकुरु और एक उत्तरकुरु, ये छह क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं और इनसे दुगुने—बारह क्षेत्र धातकीखण्डद्वीप में और बारह क्षेत्र अर्धपुष्करद्वीप में हैं।[1]

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्द जी) भा. ६, पृ. २९०१

अकर्मभूमि और कर्मभूमि के विविध क्षेत्रों में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सद्भाव-अभाव का निरूपण

३. एयासु णं भंते ! तीसासु अकम्मभूमीसु अत्थि ओसप्पिणी ति वा, उस्सप्पिणी ति वा ?

णो तिणट्ठे समट्ठे ।

[३ प्र.] भगवन् ! इन (उपर्युक्त) तीस अकर्मभूमियों में क्या उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीरूप काल हैं ?

[३ उ.] (गौतम!) यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है ।

४. एएसु णं भंते ! पंचसु भरहेसु पंचसु एरवएसु, अत्थि ओसप्पिणी ति वा, उस्सप्पिणी ति वा ?

हंता, अत्थि ।

[४ प्र.] भगवन् ! इन पांच भरत और पांच ऐरवत (क्षेत्रों) में क्या उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप काल है ?

[४ उ.] हाँ, (गौतम!) है ।

५. एएसु णं भंते ! पंचसु महाविदेहेसु० ?

णेवत्थि ओसप्पिणी, नेवत्थि उस्सप्पिणी, अवट्ठिए णं तत्थ काले पन्नत्ते समणाउसो !

[५ प्र.] भगवन् ! इन (उपर्युक्त) पांच महाविदेह क्षेत्रों में क्या उत्सर्पिणी अथवा अवसर्पिणी रूप काल है ?

[५ उ.] आयुष्मन् श्रमण ! वहाँ न तो उत्सर्पिणीकाल है और न अवसर्पिणीकाल है। वहाँ (एकमात्र) अवस्थित काल कहा गया है ।

विवेचन—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल का स्वरूप—जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान उत्तरोत्तर अधिकाधिक शुभ होते चले जाएँ, आयु और अवगाहना उत्तरोत्तर बढ़ती जाए तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम की भी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाए, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं । इस काल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमशः शुभ, शुभतर होते जाते हैं । अर्थात्—अशुभतम, अशुभतर और अशुभ भाव क्रमशः-क्रमशः शुभ, शुभतर और शुभतम हो जाते हैं । इसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होते-होते क्रमशः उच्चतम अवस्था आ जाती है। उत्सर्पिणीकाल का कालमान दस कोड़ाकोड़ी सागरोपमवर्ष का होता है ।

जिस काल में संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक हीन होते जाएँ, आयु और अवगाहना भी उत्तरोत्तर घटती चली जाए तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार-पराक्रम का क्रमशः ह्रास होता जाए, उसे 'अवसर्पिणीकाल' कहते हैं । अवसर्पिणीकाल में पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हीन, हीनतर होते जाते हैं। शुभभाव घटते जाते हैं, अशुभभाव बढ़ते जाते हैं। अवसर्पिणीकाल का कालमान भी दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम वर्ष का होता है ।[1]

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २९०२

अरहंतों द्वारा महाविदेह और भरत-ऐरवतक्षेत्र में कौन-कौन से धर्म का निरूपण ?

६. एएसु णं भंते ! पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो पंचमहव्वतियं सपडिक्कमणं धम्मं पण्णवयंति ?

णो तिणट्ठे समट्ठे । एएसु णं पंचसु भरहेसु, पंचसु एरवएसु पुरिम-पच्छिमगा दुवे अरहंता भगवंतो पंचमहव्वतियं (पंचाणुव्वइयं) सपडिक्कमणं धम्मं पण्णवयंति, अवसेसा णं अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति । एएसु णं पंचसु महाविदेहेसु अरहंता भगवंतो चाउज्जामं धम्मं पण्णवयंति ।

[६ प्र.] भगवन् ! इन (उपर्युक्त) पांच महाविदेह क्षेत्रों में अरहन्त भगवन्त क्या सप्रतिक्रमण पंच-महाव्रत वाले धर्म का उपदेश करते हैं ?

[६ उ.] (गौतम !) यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है ।

इन (उपर्युक्त) पांच भरत क्षेत्रों में तथा पांच ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम ये दो अरहन्त भगवन्त सप्रतिक्रमण पांच महाव्रतों वाले धर्म का उपदेश करते हैं । शेष (बाईस) अरहन्त भगवन्त चातुर्याम (चार यामरूप) धर्म का उपदेश करते हैं और पांच महाविदेह क्षेत्रों में भी अरिहन्त भगवन्त चातुर्याम-धर्म का उपदेश करते हैं ।

विवेचन—फलितार्थ—पांच भरत और ऐरवत क्षेत्रों में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् प्रतिक्रमण-सहित पंचमहाव्रतरूप धर्म की प्ररूपणा करते हैं, शेष बाईस तीर्थंकर भगवान् तथा पांच महाविदेह क्षेत्र में होने वाले तीर्थंकर भगवान् चातुर्याम-धर्म की प्ररूपणा करते हैं ।

भरतक्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणीकाल में चौवीस तीर्थंकरों के नाम

७. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए कति तित्थयरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउवीसं तित्थयरा पन्नत्ता, तं जहा—उसभ-अजिय-संभव-अभिनंदण-सुमति-सुप्पभ-सुपास-ससि-पुप्फदंत-सीयल-सेज्जंस-वासुपुज्ज-विमल-अणंतइ-धम्म-संति-कुंथु-अर-मल्लि-मुणिसुव्वय-नमि-नेमि-पास-वद्धमाणा ।

[७ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भरतक्षेत्र (भारतवर्ष) में इस अवसर्पिणी काल में कितने तीर्थंकर हुए हैं ?

[७ उ.] गौतम ! चौवीस तीर्थंकर हुए हैं । यथा—१. ऋषभ, २. अजित, ३. सम्भव, ४. अभिनन्दन, ५. सुमति, ६. सुप्रभ (पद्मप्रभ), ७. सुपार्श्व, ८. शशी (चन्द्रप्रभ), ९. पुष्पदन्त (सुविधि), १०. शीतल, ११. श्रेयांस, १२. वासुपूज्य, १३. विमल, १४. अनन्त, १५. धर्म, १६. शान्ति, १७. कुन्थु १८. अर, १९. मल्लि, २०. मुनिसुव्रत, २१. नमि, २२. नेमि, २३. पार्श्व और २४. वर्द्धमान (महावीर)।

विवेचन—कतिपय तीर्थंकरों के नामान्तर—प्रस्तुत सूत्र में कितने ही तीर्थंकरों के दूसरे नाम का उल्लेख किया गया है । यथा—पद्मप्रभ का सुप्रभ, चन्द्रप्रभ का शशी, सुविधिनाथ का पुष्पदन्त, अरिष्टनेमि का नेमि और महावीर का वर्द्धमान नाम से उल्लेख किया गया है ।

चौवीस तीर्थकरों के अन्तर तथा तेईस जिनान्तरों में कालिकश्रुत के व्यवच्छेद-अव्यवच्छेद का निरूपण

८. एएसि णं भंते ! चउवीसाए तित्थयराणं कति जिणंतरा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तेवीसं जिणंतरा पन्नत्ता।

[८ प्र.] भगवन् ! इन चौवीस तीर्थकरों के कितने जिनान्तर (तीर्थकरों के व्यवधान) कहे गए हैं ?

[८ उ.] गौतम ! इनके तेईस अन्तर कहे गए हैं।

९. एएसु णं भंते ! तेवीसाए जिणंतरेसु कस्स कहिं कालियसुयस्स वोच्छेदे पन्नत्ते ?

गोयमा ! एएसु णं तेवीसाए जिणंतरेसु पुरिम-पच्छिमएसु अट्ठसु अट्ठसु जिणंतरेसु, एत्थ णं कालियसुयस्स अवोच्छेदे पन्नत्ते, मज्झिमएसु सत्तसु जिणंतरेसु एत्थ णं कालियसुयस्स वोच्छेदे पन्नत्ते, सव्वत्थ वि णं वोच्छिन्ने दिट्ठिवाए।

[९ प्र.] भगवन् ! इन तेईस जिनान्तरों में किस जिन के अन्तर में कब कालिकश्रुत (सूत्र) का विच्छेद (लोप) कहा गया है ?

[९ उ.] गौतम ! इन तेईस जिनान्तरों में से पहले और पीछे के आठ-आठ जिनान्तरों (के समय) में कालिकश्रुत (सूत्र) का अव्यवच्छेद (लोप नहीं) कहा गया है और मध्य के आठ जिनान्तरों में कालिकश्रुत का व्यवच्छेद कहा गया है; किन्तु दृष्टिवाद का व्यवच्छेद तो सभी जिनान्तरों (के समय) में हुआ है।

विवेचन—कालिकश्रुत और अकालिकश्रुत का स्वरूप—जिन सूत्रों (शास्त्रों) का स्वाध्याय दिन और रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में ही किया जाता हो, उन्हें **कालिकश्रुत** कहते हैं। जैसे—आचारांग आदि २३ सूत्र, (११ अंगशास्त्र, निरयावलिका आदि ५ सूत्र, चार छेदसूत्र, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और उत्तराध्ययनसूत्र)। जिन सूत्रों का स्वाध्याय (अस्वाध्याय के समय या परिस्थिति को छोड़कर) सभी समय किया जा सकता हो, उन्हें **उत्कालिकश्रुत** कहते हैं। जैसे—दशवैकालिक आदि ९ सूत्र (दशवैकालिक, नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वार, औपपातिकसूत्र, राजप्रश्नीय, सूर्यप्रज्ञप्ति, जीवाभिगम, प्रज्ञापना और आवश्यकसूत्र)। **कालिकश्रुत का विच्छेद कब और कितने काल तक ?** नौवें तीर्थंकर श्रीसुविधिनाथ से ले कर सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ भगवान् तक सात अन्तरों (मध्यकाल) में कालिकश्रुत का विच्छेद (लोप) हो गया था और दृष्टिवाद का विच्छेद तो सभी जिनान्तरों में हुआ और होता है।

सात जिनान्तरों में कालिकश्रुत का विच्छेदकाल इस प्रकार है—सुविधिनाथ और शीतलनाथ के बीच में पल्योपम के चतुर्थ भाग तक, शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के बीच में पल्योपम के चतुर्थभाग तक, श्रेयांसनाथ और वासुपूज्यस्वामी के बीच में पल्योपम के तीन चौथाई भाग (पौन पल्योपम) तक, वासुपूज्य और विमलनाथ के मध्य में एक पल्योपम तक, विमलनाथ और अनन्तनाथ के मध्य में

पल्योपम के तीन चौथाई भाग, अनन्तनाथ और धर्मनाथ के मध्य में पल्योपम के चतुर्थभाग तक तथा धर्मनाथ और शान्तिनाथ के मध्य में पल्योपम के चतुर्थ भाग तक कालिकश्रुत का विच्छेद हो गया था। इसकी एक संग्रहणीगाथा इस प्रकार है—

"चउभागो १ चउभागो २ तिण्णि य, चउभाग ३ पलियमेगं च ४ ।
तिण्णेव चउब्भागा ५ चउत्थभागो य ६ चउभागो ७ ॥"[1]

भ. महावीर और शेष तीर्थंकरों के समय में पूर्वश्रुत की अविच्छिन्नता की कालावधि

१०. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति ?

गोयमा ! जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति।

[१० प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष (भरतक्षेत्र) में इस अवसर्पिणीकाल में आप देवानुप्रिय का पूर्वगतश्रुत कितने काल तक (स्थायी) रहेगा ?

[१० उ.] गौतम ! इस जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में मेरा पूर्वगतश्रुत एक हजार वर्ष तक (अविच्छिन्न) रहेगा।

११. जहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं एगं वाससहस्सं पुव्वगए अणुसज्जिस्सति तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए अवसेसाणं तित्थगराणं केवतियं कालं पुव्वगए अणुसज्जित्था ?

गोयमा ! अत्थेगइयाणं संखेज्जं कालं, अत्थेगइयाणं असंखेज्जं कालं।

[११ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में, इस अवसर्पिणीकाल में, आप देवानुप्रिय का पूर्वगतश्रुत एक हजार वर्ष तक रहेगा, भगवन् ! उसी प्रकार जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में, इस अवसर्पिणीकाल में अवशिष्ट अन्य तीर्थकरों का पूर्वगतश्रुत कितने काल तक (अविच्छिन्न) रहा था ?

[११ उ.] गौतम ! कितने ही तीर्थंकरों का पूर्वगतश्रुत संख्यात काल तक रहा और कितने ही तीर्थंकरों का असंख्यात काल तक रहा।

भगवान् महावीर और भावी तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ की अविच्छिन्नता की कालावधि

१२. जंबुद्दीवे णं भंते ! दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुप्पियाणं केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९३
(ख) भगवती. विवेचन, भाग ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९०५

गोयमा ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए ममं एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति ।

[१२ प्र.] भगवन् ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय का तीर्थ कितने काल तक (अविच्छिन्न) रहेगा ?

[१२ उ.] गौतम ! जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में मेरा तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक (अविच्छिन्न) रहेगा ।

१३. जहा णं भंते जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे इमीसे ओसप्पिणीए देवाणुपियाणं एक्कवीसं वाससहस्साइं तित्थे अणुसज्जिस्सति तहा णं भंते ! जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे आगमेस्साणं चरिमतित्थगरस्स केवतियं कालं तित्थे अणुसज्जिस्सति ? गोयमा ! जावतिए णं उसभस्स अरहओ कोसलियस्स जिणपरियाए तावतियाइं संखेज्जाइं आगमेस्साणं चरिमतित्थगरस्स तित्थे अणुसज्जिस्सति ।

[१३ प्र.] भगवन् ! जिस प्रकार जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में इस अवसर्पिणी काल में आप देवानुप्रिय. का तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक रहेगा, हे भगवन् ! उसी प्रकार जम्बूद्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में भावी तीर्थंकरों में से अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ कितने काल तक अविच्छिन्न रहेगा ?

[१३ उ.] गौतम ! कौशलिक (कौशलदेशोत्पन्न) ऋषभदेव अरहन्त का जितना जिनपर्याय है, उतने (एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व) वर्ष तक भावी तीर्थंकारों में से अन्तिम तीर्थंकर का तीर्थ रहेगा ।

विवेचन—पूर्वश्रुत और तीर्थ : स्वरूप और अविच्छिन्नत्व की कालावधि—पूर्वश्रुत वह है, जो अतिप्राचीन है । इन सभी शास्त्रों से बहुत पहले का है, विशिष्ट श्रुतज्ञानी अथवा अतिशयज्ञानी ही जिसकी वाचना दे सकते हैं । वह पूर्वश्रुत १४ प्रकार का है । यथा—उत्पादपूर्व, अग्रायणीपूर्व आदि । तीर्थ का यहाँ अर्थ है—धर्मतीर्थ—धर्मसंघ या धर्ममयशासन । प्रत्येक तीर्थंकर नये तीर्थ (संघ) की स्थापना करता है ।

यहाँ बताया गया है कि भगवान् महावीर का पूर्वगतश्रुत एक हजार वर्ष तक अविच्छिन्न रहेगा, जबकि अन्य तीर्थंकरों में से कई तीर्थंकरों (पार्श्वनाथ आदि) का पूर्वश्रुत संख्यात काल तक रहा था और कई (ऋषभदेव आदि) तीर्थंकरों का पूर्वश्रुत असंख्यात काल तक रहा था ।

इसी प्रकार श्रमण भगवान् महावीर का तीर्थ इक्कीस हजार वर्ष तक चलेगा, जबकि पश्चानुपूर्वी के क्रम से पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकरों का तीर्थ संख्यात काल तक रहा था और ऋषभदेव आदि का तीर्थ[1] असंख्यात काल तक रहा था ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९३
(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २९०७

तीर्थ और प्रवचन क्या और कौन ?

१४. तित्थं भंते ! तित्थं, तित्थगरे तित्थं ?

गोयमा ! अरहा ताव नियमं तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वण्णाइण्णो समणसंघो, तंजहा—समणा समणीओ सावगा साविगाओ।

[१४ प्र.] भगवन् ! तीर्थ को तीर्थ कहते हैं अथवा तीर्थंकर को तीर्थ कहते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! अर्हन् (अरिहन्त) तो अवश्य (नियम से) तीर्थंकर हैं, (तीर्थ नहीं), किन्तु तीर्थ चार प्रकार के वर्णों (वर्गों) से युक्त श्रमणसंघ है। यथा—श्रमण, श्रमणियां, श्रावक और श्राविकाएँ।

१५. पवयणं भंते ! पवयणं, पावयणी पवयणं ?

गोयमा ! अरहा ताव नियमं पावयणी, पवयणं पुण दुवालसंगे गणिपिडगे, तंजहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ।

[१५ प्र.] भगवन् ! प्रवचन को ही प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रवचनी को प्रवचन कहते हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! अरिहन्त तो अवश्य (निश्चितरूप से) प्रवचनी हैं (प्रवचन नहीं), किन्तु द्वादशांग गणिपिटक प्रवचन हैं। यथा—आचारांग यावत् दृष्टिवाद।

विवेचन—तीर्थ क्या है और क्या नहीं ? संघ को तीर्थ कहते हैं। वह ज्ञानादिगुणों से युक्त होता है। तीर्थंकर स्वय तीर्थ नहीं होते, वे तीर्थ के प्रवर्त्तक—संस्थापक होते हैं।

चाउवण्णाइण्णे : विशेषार्थ—जिसमें श्रमणादि चार वर्ण (वर्ग) हों, वह चतुर्वर्ण, उसके गुणों, क्षमादि तथा ज्ञानादि आचरणों से आकीर्ण—व्याप्त श्रमणसंघ है। चतुर्वर्ण से यहाँ ब्राह्मणादि चार वर्ण नहीं, किन्तु श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्वर्ण समझना चाहिए।

प्रवचन क्या है, क्या नहीं ? प्रवचन का अर्थ है—जो वचन प्रकर्ष रूप से कहा जाए अर्थात् जो मुक्तिमार्ग का प्रदर्शक हो, आत्महितकारी हो, अबाधित हो उसे प्रवचन कहते हैं। उसका दूसरा नाम 'आगम' है। तीर्थंकर प्रवचनों के प्रणेता— प्रवचनी होते हैं, प्रवचन नहीं।[1]

निर्ग्रन्थ-धर्म में प्रविष्ट उग्रादि क्षत्रियों द्वारा रत्नत्रयसाधना से सिद्धगति या देवगति में गमन तथा चतुर्विध देवलोक-निरूपण

१६. जे इमे भंते ! उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा नाया कोरव्वा, एए णं अस्सिं धम्मे ओगाहंति, अस्सिं अट्ठविहं कम्मरयमलं पवाहेंति, अट्ठ० पवा० २ ततो पच्छा सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९३

(ख) प्रकर्षेणोच्यतेऽभिधेयमनेनेति प्रवचनम्—आगमः।

(ग) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचंदजी), पृ. २९०८

हंता, गोयमा ! जे इमे उग्गा भोगा० तं चेव जाव अंतं करेंति। अत्थेगइया अन्नयरेसु देवलोएसु देवत्ताए उववत्तारो भवंति।

[१६ प्र.] भगवन् ! जो ये उग्रकुल, भोगकुल, राजन्यकुल, इक्ष्वाकुकुल, ज्ञातकुल और कौरव्यकुल हैं, वे (इन कुलों में उत्पन्न क्षत्रिय) क्या इस धर्म में प्रवेश करते हैं और प्रवेश करके अष्टविध कर्मरूपी रज—मैल को धोते हैं और नष्ट करते हैं ? तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होते हैं, यावत् सर्वदु:खों का अन्त करते हैं ?

[१६ उ.] हाँ गौतम ! जो ये उग्र आदि कुलों में उत्पन्न क्षत्रिय हैं, वे यावत् सर्व दु:खों का अन्त करते हैं; अथवा कितने ही किन्हीं देवलोकों में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

१७. कतिविधा णं भंते ! देवलोया पन्नत्ता ?

गोयमा ! चउव्विहा देवलोगा पन्नत्ता, तंजहा—भवणवासी वाणमंतरा जोतिसिया वेमाणिया।

सेवं भंते ! सवं भंते ! त्ति०।

।। वीसइमे सए : अट्ठमो उद्दसओ समत्तो ।। २०-८ ।।

[१७ प्र.] भगवन् ! देवलोक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! देवलोक चार प्रकार के कहे हैं। यथा—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—किन उग्रादि क्षत्रियों की सिद्धगति या देवगति ? जो क्षत्रिय निरर्थक या राज्यलिप्सावश भयंकर नरसंहार करते हैं, महारम्भी-महापरिग्रही या निदानकर्ता आदि हैं उन्हें स्वर्ग या मोक्ष प्राप्त नहीं होता, किन्तु जो निर्ग्रन्थधर्म (मुनिधर्म) में प्रविष्ट होते हैं, ज्ञानादि की उत्कृष्ट साधना करके अष्टकर्म क्षय करते हैं, वे ही मुक्त होते हैं, शेष देवलोक में जाते हैं। यही इस सूत्र का आशय है।

।। वीसवाँ शतक : अष्टम उद्देशक समाप्त ।।

नवमो उद्देसओ : 'चारण'

नौवाँ उद्देशक : चारण (-मुनि सम्बन्धी)

चारण मुनि के दो प्रकार : विद्याचारण और जंघाचरण

१. कतिविधा णं भंते ! चारणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा चारणा पन्नत्ता, तं जहा—विज्जाचारणा य जंघाचारणा य ।

[१ प्र.] *भगवन् ! चारण कितने प्रकार के कहे हैं ?*

[१ उ.] गौतम ! चारण दो प्रकार के कहे हैं, यथा— विद्याचारण और जंघाचारण ।

विवेचन—चारण मुनि : स्वरूप और प्रकार—लब्धि के प्रभाव से आकाश में अतिशय गमन करने की शक्ति वाले मुनि को 'चारण' कहते हैं। चारण मुनि दो प्रकार के होते हैं—विद्याचारण और जंघाचारण। पूर्वगत श्रुत (शास्त्रज्ञान) से तीव्र गमन करने की लब्धि को प्राप्त मुनि 'विद्याचारण' कहलाते हैं और जंघा के व्यापार से गमन करने की लब्धि वाले मुनिराज को जंघाचारण कहते हैं।[1]

विद्याचारणलब्धि समुत्पन्न होने से विद्याचारण कहलाता है

२. से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—विज्जाचारणे विज्जाचारणे ?

गोयमा ! तस्स णं छट्ठंछट्ठेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं विज्जाए उत्तरगुणलद्धिं खममाणस्स विज्जाचारणलद्धी नामं लद्धी समुप्पज्जति, सेतेणट्ठेणं जाव विज्जाचारणे विज्जाचारणे ।

[२ प्र.] भगवन् ! विद्याचारण मुनि को 'विद्याचारण' क्यों कहते हैं ?

[२ उ.] अन्तर-(व्यवधान) रहित छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) के तपश्चरणपूर्वक पूर्वश्रुतरूप विद्या द्वारा उत्तरगुणलब्धि (तपोलब्धि)को प्राप्त मुनि को विद्याचारणलब्धि नाम की लब्धि उत्पन्न होती है। इस कारण से यावत् वे विद्याचारण कहलाते हैं।

विवेचन—विद्याचारणलब्धि की प्राप्ति का उपाय—विद्याचारणलब्धि की प्राप्ति उसी मुनि को होती है, जिसने पूर्वो का विधिवत् अध्ययन किया हो तथा जिसने बीच में व्यवधान किये बिना लगातार बेले-बेले की तपस्या की हो एवं जिसे उत्तरगुण अर्थात् पिण्डविशुद्धि आदि उत्तरगुणों में

---

१. (क) चरणं—गमनमतिशयवदाकाशे एषामस्तीति चारणाः। विद्या—श्रुतं, तच्च पूर्वगतं, तत्कृतोपकाराश्चारणा विद्याचारणाः। जंघाव्यापारकृतोपकाराश्चारणा जंघाचारणाः।

—भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९४

(ख) 'अइसय-चरण-समत्था, जंघा-विज्जाहिं चारणा मुणओ।
जंघाहिं जाइ पढमो, निस्सं काउं रविकरे वि ॥ १ ॥' —अ. वृत्ति, पत्र ७९४

पराक्रम करने से उत्तरगुणलब्धि, अर्थात्—तपोलब्धि प्राप्त हो गई हो। यही विद्याचारणलब्धि है, जिसके प्रभाव से वह मुनि आकाश में शीघ्रगति से गमन कर सकता है।[1]

खममाणस्स—सहने वाले—तपश्चर्या करने वाले को।

विद्याचारण की शीघ्र, तिर्यक् एवं ऊर्ध्वगति-सामर्थ्य तथा विषय

३. विज्जाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहा गती ? कहं सीहे गतिविसए पन्नत्ते ?

गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे सव्वदीव० जाव किंचिविसेसाहिए परिक्खेवेणं, देवे णं महिड्डीए जाव महेसक्खे जाव 'इणामेव इणामेव' त्ति कट्टु केवलकप्पं जंबुद्दीवं दीवं तिहिं अच्छरानिवाएहिं तिक्खुत्तो अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छेज्जा, विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहा गती, तहा सीहे गतिविसए पन्नत्ते।

[३. प्र.] भगवन् ! विद्याचारण की शीघ्र गति कैसी होती है ? और उसका गति-विषय कितना शीघ्र होता है ?

[३ उ.] गौतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप, जो सर्वद्वीपों में (आभ्यन्तर है,) यावत् जिसकी परिधि (तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से) कुछ विशेषाधिक है, उस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के चारों ओर कोई महर्द्धिक यावत् महासौख्य-सम्पन्न देव यावत्—'यह चक्कर लगा कर आता हूँ' यों कहकर तीन चुटकी बजाए उतने समय में, तीन वार चक्कर लगा कर आ जाए, ऐसी शीघ्र गति विद्याचारण की है। उसका इस प्रकार का शीघ्रगति का विषय कहा है।

४. विज्जाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?

गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं माणुसुत्तरे पव्वए समोसरणं करेति, माणु० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं० २ बितिएणं उप्पाएणं नंदिस्सरवरे दीवे समोसरणं करेति, नंदि० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं० २ तओ पडिनियत्तति, त० प० २ इहमागच्छति, इहमा० २ इहं चेतियाइं वंदइ। विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते।

[४ प्र.] भगवन् ! विद्याचारण की तिरछी (तिर्यग्) गति का विषय कितना कहा है ?

[४ उ.] गौतम ! वह (विद्याचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात (उड़ान) से मानुषोत्तर-पर्वत पर समवसरण करता है (अर्थात् वहाँ जा कर ठहरता है)। फिर वहाँ चैत्यों (ज्ञानियों) की स्तुति करता है। तत्पश्चात् वहाँ से दूसरे उत्पात में नन्दीश्वरद्वीप में समवसरण (स्थिति) करता है, फिर वहाँ चैत्यों की वन्दना (स्तुति) करता है, तत्पश्चात् वहाँ से (एक ही उत्पात में) वापस लौटता है और यहाँ आ जाता है। यहाँ आकर चैत्यवन्दन करता है। गौतम विद्याचरण ! मुनि की तिरछी गति का विषय ऐसा कहा गया है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९५
(ख) भगवती. उपक्रम, पृ. ४६३

५. विज्जाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ?

गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं नंदणवणे समोसरणं करेति, नं० क० २ तहिं चेतियाइं वंदइ, तहिं० वं० २ बितिएणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेइ, पं० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं० २ तओ पडिनियत्तति, तओ० प० २ इहमागच्छति, इहमा० २ इहं चेतियाइं वंदइ। विज्जाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते। से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा; से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति, अत्थि तस्स आराहणा।

[५ प्र.] भगवन् ! विद्याचारण की ऊर्ध्वगति का विषय कितना कहा है ?

[५ उ.] गौतम ! वह (विद्याचारण) यहाँ से एक उत्पात से नन्दनवन में समवसरण (स्थिति) करता है। वहाँ ठहर कर वह चैत्यों की वन्दना करता है। फिर वहाँ से दूसरे उत्पात से पण्डकवन में समवसरण करता है, वहाँ भी वह चैत्यों की वन्दना करता है। फिर वहाँ से वह लौटता है और वापस यहाँ आ जाता है। यहाँ आकर वह चैत्यों की वन्दना करता है। हे गौतम ! विद्याचारण मुनि की ऊर्ध्वगति का विषय ऐसा कहा गया है।

यदि वह विद्याचारण मुनि (लब्धि का प्रयोग करने सम्बन्धी) उस (प्रमाद) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण किये विना ही काल कर (मृत्यु को प्राप्त हो) जाए तो उसकी (चारित्र-) आराधना नहीं होती और यदि वह विद्याचारण मुनि उस (प्रमाद) स्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसकी (चारित्र-) आराधना होती है।

विवेचन—विद्याचारण की शीघ्रगति का परिमाण—प्रस्तुत तीन सूत्रों (३-४-५) में से प्रथम सूत्र में विद्याचारण मुनि का सार्वत्रिक (सर्व दिशागत) गमनक्रिया की तीव्रता का परिमाण तीन चुटकी बजाने जितने समय में एक महर्द्धिक देव द्वारा तीन वार सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का चक्कर लगा कर आने जितना बताया गया है। द्वितीय और तृतीय सूत्र में क्रमशः उसकी तिर्यग्गति और ऊर्ध्वगति के विषय (क्षेत्र) का प्रतिपादन है।

कठिन शब्दार्थ—सीहा—शीघ्र। **उप्पाएण**—उत्पात—उड़ान से।

विद्याचारण की तिर्यक् और ऊर्ध्व गति का विषय—प्रस्तुत सूत्रद्वय में कहा गया है कि विद्याचारण का गमन दो उत्पात से और आगमन एक उत्पात से होता है। इसका कारण उक्त लब्धि का स्वभाव समझना चाहिए। किन्हीं आचार्यों का मत है कि विद्याचारण की विद्या आते समय विशेष अभ्यास वाली हो जाती है, किन्तु गमन के समय में वैसी अभ्यास वाली नहीं होती। इस कारण आते समय वह एक ही उत्पात में यहाँ आ जाता है, किन्तु जाते समय दो उत्पात से वहाँ पहुँचता है।[१]

मानुषोत्तरपर्वत, नन्दीश्वरद्वीप, नन्दनवन एवं पण्डकवन में समवसरण एवं चैत्यवन्दन : विशेष संगत अर्थ और भ्रान्तिनिवारण—प्रस्तुत में समवसरण का अर्थ—धर्मसभा नहीं, किन्तु सम्यक् रूप से अवसरण—अवस्थान यानी ठहरना या स्थित होना है। यहाँ समवसरण का धर्मसभा अर्थ

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९५

संगत नहीं हो सकता, क्योंकि एक तो समवसरण तीर्थंकरों के लिए देवों द्वारा रचित धर्मसभा-स्थल होता है, वह विद्याचारण या जंघाचारण जैसे मुनियों के लिए नहीं होता। दूसरे समवसरण अर्थात् धर्मसभा की रचना करने का वहाँ कोई औचित्य नहीं, क्योंकि वहाँ कोई श्रोता उनका धर्मोपदेश सुनने नहीं आता। इसलिए **'समवसरणं करेति'** यह वाक्यप्रयोग स्पष्ट करता है कि वहाँ चारण-मुनि उतरता है—ठहरता है।

'चेतिआइं वंदति'—में चैत्य का अर्थ 'मन्दिर' किया जाए तो यह अर्थ यहाँ संगत नहीं होता, क्योंकि न तो मानुषोत्तरपर्वत पर मन्दिर का वर्णन है और न ही स्वस्थान अर्थात्—जहाँ से उन्होंने उत्पात (उड़ान) किया है, वहाँ भी मन्दिर है। अतः चैत्य का अर्थ मन्दिर या मूर्ति करना संगत नहीं है, अपितु **'चिति संज्ञाने'** धातु से निष्पन्न 'चैत्य' शब्द का अर्थ—विशिष्ट सम्यक्ज्ञानी है तथा 'वंदइ' का अर्थ—स्तुति करना है, अभिवादन करना है, क्योंकि **'वदि अभिवादन-स्तुत्योः'** के अनुसार यहाँ प्रसंगसंगत अर्थ 'स्तुति करना' है। क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत आदि पर अभिवादन करने योग्य कोई पुरुष नहीं रहता है, अतः वे उन-उन पर्वत, द्वीप एवं वनों में शीघ्रगति से पहुँचते हैं, वहाँ चैत्यवन्दन करते हैं, अर्थात्—विशिष्ट सम्यग्ज्ञानियों की स्तुति करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि मानुषोत्तर पर्वत, नन्दीश्वर द्वीप आदि की रचना का वर्णन जैसा उन विशिष्ट ज्ञानियों या आगमों से जाना था,[1] वैसा ही रचना को साक्षात् देखते हैं तब वे (चारणलब्धिधारक) उन विशिष्ट ज्ञानियों की स्तुति करते हैं।

गतिविषय का तात्पर्य—गतिविषय का अर्थ—गतिगोचर होता है, किन्तु उसका तात्पर्य वृत्तिकार ने बताया है कि वे भले ही उन क्षेत्रों में गमन न करें, फिर भी उनका शीघ्रगति का विषयभूत क्षेत्र अमुक-अमुक है।[2]

विद्याचारण : कब विराधक, कब आराधक?—लब्धि का प्रयोग करना प्रमाद है। लब्धि का प्रयोग करने के बाद अन्तिम समय में आलोचना न की जाने पर चारित्र की आराधना नहीं होती, किन्तु विराधना होती है। अर्थात् यदि लब्धि का प्रयोग करने के बाद चारणलब्धिसम्पन्न साधक मरणकाल में उक्त प्रमादस्थान की आलोचना एवं प्रतिक्रमण नहीं करता, तो वह चारित्र का विराधक होने से चारित्र की आराधना का फल नहीं पाता। इसके विपरीत यदि लब्धिप्रयोग करने के बाद चारणलब्धिसम्पन्न मुनि उस प्रमादस्थान की आलोचना-प्रतिक्रमण कर लेता है तो वह चारित्राराधक होता है और आराधनाफल भी पाता है।[3]

जंघाचारण का स्वरूप

६. से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—जंघाचारणे जंघाचारणे?

गोयमा! तस्स णं अट्ठमंअट्ठमेणं अनिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं अप्पाणं भावेमाणस्स जंघाचारणलद्धी नामं लद्धी समुप्पज्जइ। सेतेणट्ठेणं जाव जंघाचारणे जंघाचारणे।

---

१. (क) भगवती. विवेचन, भाग. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९१७
   (ख) वियाहपण्णत्ति-सुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ८८०
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९५
३. (क) वही, पत्र ७९५ (ख) भगवती. विवेचन भा. ६, (पं. घे.), पृ. २९१६

[६ प्र.] भगवन् ! जंघाचारण को जंघाचारण क्यों कहते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! अन्तररहित (लगातार) अट्ठम-अट्ठम (तेले-तेले) के तपश्चरण-पूर्वक आत्मा को भावित करते हुए मुनि को 'जंघाचारण' नामक लब्धि उत्पन्न होती है, इस कारण उसे 'जंघाचारण' कहते हैं।

विवेचन—जंघाचारण का स्वरूप—पूर्वोक्त विधिपूर्वक तेले-तेले की तपश्चर्या करने वाले मुनि को जंघाचारण-लब्धि प्राप्त होती है। विद्याचारण की अपेक्षा जंघाचारण की गति सात गुणी अधिक शीघ्र होती है।[1]

जंघाचारण की शीघ्र, तिर्यक् और ऊर्ध्वगति का सामर्थ्य और विषय

७. जंघाचारणस्स णं भंते ! कहं सीहा गीत ? कहं सीहे गतिविसए पन्नत्ते ? गोयमा ! अयं णं जंबुद्दीवे दीवे एवं जहेव विज्जाचारणस्स, नवरं तिसत्तखुत्तो अणुपरियट्टित्ताणं हव्वमागच्छेज्जा। जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तहा सीहा गती, तहा सीहे गतिविसए पन्नत्ते। सेसं तं चेव।

[७ प्र.] भगवन् ! जंघाचारण की शीघ्र गति कैसी होती है ? और उसकी शीघ्रगति का विषय कितना होता है ?

[७ उ.] गौतम ! यह जम्बूद्वीप, यावत् (जिसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन से कुछ) विशेषाधिक है, इत्यादि समग्र वर्णन विद्याचारणवत् (जानना चाहिए)। विशेष यह है कि (कोई महर्द्धिक यावत् तीन चुटकी बजाए, उतने समय में इस समग्र जम्बूद्वीप की) इक्कीस बार परिक्रमा करके शीघ्र वापस लौटकर आ जाता है। हे गौतम ! जंघाचारण की इतनी शीघ्रगति और इतना शीघ्रगति-विषय कहा है। शेष कथन सब पूर्ववत् है।

८. जंघाचारणस्स णं भंते ! तिरियं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ? गोयमा ! से णं इओ एगेणं उप्पाएणं रुयगवरे दीवे समोसरणं करेति, रुय० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं० २ ततो पडिनियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं नंदीसरवरदीवे समोसरणं करेति, नं० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं २ इहमागच्छति, इहमा० २ इह चेतियाइं वंदति। जंघाचारणस्स णं गोयमा ! तिरियं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते।

[८ प्र.] भगवन् ! जंघाचारण की तिर्छी गति का विषय कितना कहा है ?

[८ उ.] गौतम ! वह (जंघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात से रुचकवरद्वीप में समवसरण करता है, फिर वहाँ ठहर कर वह चैत्य-वन्दना करता है। चैत्यों की स्तुति करके लौटते समय दूसरे उत्पात से नन्दीश्वरद्वीप में समवसरण करता है तथा वहाँ स्थित हो कर चैत्यस्तुति करता है। तत्पश्चात् वहाँ से लौटकर यहाँ आता है। यहाँ आ कर वह चैत्य-स्तुति करता है। हे गौतम ! जंघाचारण की तिर्छी गति का ऐसा (शीघ्र) गतिविषय कहा गया है।

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९५
(ख) भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९१६

९. जंघाचारणस्स णं भंते ! उड्ढं केवतिए गतिविसए पन्नत्ते ? गोयमा ! से णं इम्रो एगेणं उप्पाएणं पंडगवणे समोसरणं करेति, स० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं वं० २ ततो पडिनियत्तमाणे बितिएणं उप्पाएणं नंदणवणे समोसरणं करेति, नं० क० २ तहिं चेतियाइं वंदति, तहिं० वं २ इहमागच्छति, इहमा० २ इहं चेतियाइं वंदइ। जंघाचारणस्स णं गोयमा ! उड्ढं एवतिए गतिविसए पन्नत्ते। से णं तस्स ठाणस्स अणालोइयपडिक्कंते कालं करेति, नत्थि तस्स आराहणा; से णं तस्स ठाणस्स आलोइयपडिक्कंते कालं करेति, अत्थि तस्स आराहणा।

सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ वीसइमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥ २०-९ ॥

[९ प्र.] भगवन् ! जंघाचारण की ऊर्ध्व-गति का विषय कितना कहा गया है ?

[९ उ.] गौतम ! वह (जंघाचारण मुनि) यहाँ से एक उत्पात में पण्डकवन में समवसरण करता है। फिर वहाँ ठहर कर चैत्यस्तुति करता है। फिर वहाँ से लौटते हुए दूसरे उत्पात से नन्दनवन में समवसरण करता है। फिर वहाँ चैत्यस्तुति करता है। तत्पश्चात् वहाँ से वापस यहाँ आ जाता है। यहाँ आकर चैत्यस्तुति करता है। इसीलिए हे गौतम ! जंघाचारण का ऐसा ऊर्ध्वगति का विषय कहा गया है। वह जंघाचारण उस (लब्धिप्रयोग-सम्बन्धी प्रमाद-) स्थान की आलोचना तथा प्रतिक्रमण किये बिना यदि काल कर जावे तो उसकी (चरित्र-) आराधना नहीं होती। (इसके विपरीत) यदि वह जंघाचारण उस प्रमादस्थान की आलोचना और प्रतिक्रमण करके काल करता है तो उसकी आराधना होती है।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—जंघाचारण का शीघ्रतर गति-सामर्थ्य—तीन चुटकी बजाने जितने समय में जंघाचारण २१ बार समग्र जम्बूद्वीप के चक्कर लगाकर लौट आता है। यह गति विद्याचारण से सात गुणी अधिक शीघ्र है। जंघाचारण की लब्धि का ज्यों-ज्यों प्रयोग होता है, त्यों-त्यों वह अल्प सामर्थ्य वाली हो जाती है, इसलिए वह जाते समय तो एक ही उत्पात में वहाँ पहुंच जाता है, किन्तु लौटते समय दो उत्पात से पहुंचता है।[1]

॥ वीसवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र, ७९५-७९६

दसमो उद्देसओ : 'सोवक्कमा जीवा'

दसवाँ उद्देशक : 'सोपक्रम जीव'

चौवीस दण्डकों में सोपक्रम एवं निरुपक्रम आयुष्य की प्ररूपणा

१. जीवा णं भंते ! किं सोवक्कमाउया, निरुवक्कमाउया ? गोयमा ! जीवा सोवक्कमाउया वि निरुवक्कमाउया वि।

[१ प्र.] भगवन् ! जीव सोपक्रम आयुष्य वाले होते हैं या निरुपक्रम आयुष्य वाले होते हैं ?
[१ उ.] गौतम ! जीव सोपक्रम आयुष्य वाले भी होते हैं और निरुपक्रम आयु वाले भी।

२. नेरतिया णं० पुच्छा। गोयमा ! नेरतिया नो सोवक्कमाउया, निरुवक्कमाउया।

[२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक सोपक्रम आयुष्य वाले होते हैं, अथवा निरुपक्रम आयुष्य वाले ?

[२ उ.] गौतम ! नैरयिक जीव सोपक्रम आयुष्य वाले नहीं होते, वे निरुपक्रम आयुष्य वाले होते हैं।

३. एवं जाव थणियकुमारा।

[३] इसी प्रकार (नैरयिकों के समान) यावत् स्तनितकुमार-पर्यन्त (जानना चाहिए)।

४. पुढविकाइया जहा जीवा।

[४] पृथ्वीकायिकों का आयुष्य औधिक जीवों के (सू. १ के अनुसार) जानना चाहिए।

५. एवं जाव मणुस्सा।

[५] इसी प्रकार यावत् मनुष्य-पर्यन्त कहना चाहिए।

६. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरतिया।

[६] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का (आयुष्यसम्बन्धी कथन) नैरयिकों के समान है।

विवेचन—सोपक्रम और निरुपक्रम आयुष्य वालों का लक्षण—सोपक्रम और निरुपक्रम, ये दोनों जैनपारिभाषिक शब्द हैं। उपक्रम कहते हैं—(व्यवहार से) अप्राप्तकाल (असमय) में ही आयुष्य के समाप्त हो जाने को। जिन जीवों का आयुष्य उपक्रम सहित है, वे सोपक्रमायुष्क कहलाते हैं, इसके विपरीत जिन जीवों का आयुष्य बीच में टूटता नहीं है, असमय में समाप्त नहीं होता, वे निरुपक्रम कहलाते हैं।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९५
(ख) भगवती. विवेचन, भा. ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९२१

फलितार्थ—चारों जाति के देव और नारक निरुपक्रमायुष्क होते हैं। शेष संसारी जीवों में दोनों ही प्रकार की आयु वाले जीव होते हैं। मनुष्यों और तिर्यञ्चों में असंख्यात वर्ष की आयु वाले तथा चरमशरीरी मनुष्य और उत्तमपुरुष निरुपक्रमायुष्क होते हैं। शेष मनुष्य, तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और एकेन्द्रिय जीवों का दोनों ही प्रकार का आयुष्य होता है—सोपक्रम भी, निरुपक्रम भी।[1]

चौवीस दण्डकों में उत्पत्ति और उद्वर्त्तना की आत्मोपक्रम-परोपक्रम आदि विभिन्न पहलुओं से प्ररूपणा

७. नेरतिया णं भंते ! किं आओवक्कमेणं उववज्जंति, परोवक्कमेणं उववज्जंति, निरुवक्कमेणं उववज्जंति ?

गोयमा ! आतोवक्कमेण वि उववज्जंति, परोवक्कमेण वि उववज्जंति, निरुवक्कमेण वि उववज्जंति।

[७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव, आत्मोपक्रम से, परोक्रम से या निरुपक्रम से उत्पन्न होते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! वे आत्मोपक्रम से भी उत्पन्न होते हैं, परोपक्रम से भी और निरुपक्रम से भी उत्पन्न होते हैं।

८. एवं जाव वेमाणिया।

[८] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

९. नेरतिया णं भंते ! किं आओवक्कमेणं उव्वट्टंति, परोवक्कमेणं उव्वट्टंति, निरुवक्कमेणं उव्वट्टंति ?

गोयमा ! नो आओवक्कमेणं उव्वट्टंति, नो परोवक्कमेणं उव्वट्टंति, निरुवक्कमेणं उव्वट्टंति।

[९ प्र.] भगवन् ! नैरयिक आत्मोपक्रम से उद्वर्त्तते (मरते) हैं अथवा परोपक्रम से या निरुपक्रम से उद्वर्त्तते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! वे न तो आत्मोपक्रम से उद्वर्त्तते हैं और न परोपक्रम से; किन्तु निरुपक्रम से उद्वर्तित होते हैं।

१०. एवं जाव थणियकुमारा।

[१०] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारपर्यन्त कहना चाहिए।

---

१. 'देवा नेरइया वि य, असंखवासाउया य तिरि-मणुआ।
उत्तमपुरिसा य तहा चरिमसरीरा निरुवक्कमा ॥१॥
सेसा संसारत्था हवेज्ज, सोवक्कमा उ इयरे यं।
सोवक्कम-निरुवक्कम-भेओ, भणिओ समासेणं ॥२॥'
—भगवती. अ. वृ. पत्र ७९५

११. पुढविकाइया जाव मणुस्सा तिसु उव्वट्टंति ।

[११] पृथ्वीकायिकों से लेकर यावत् मनुष्यों तक का उद्वर्त्तन (उपर्युक्त) तीनों ही उपक्रमों से होता है ।

१२. सेसा जहा नेरइया, नवरं जोतिसिय-वेमाणिया चयंति ।

[१२] शेष सब जीवों का उद्वर्त्तन नैरयिकों के समान कहना चाहिए । विशेष यह है, कि ज्योतिष्क एवं वैमानिक के लिए ('उद्वर्त्तन करते हैं' के बदले) च्यवन करते हैं, (कहना चाहिए ।)

१३ नेरतिया णं भंते ! किं आतिड्ढीए उववज्जंति, परिड्ढीए उववज्जंति ?
गोयमा ! आतिड्ढीए उववज्जंति, नो परिड्ढीए उववज्जंति ।

[१३ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव आत्मऋद्धि से उत्पन्न होते हैं या परऋद्धि से उत्पन्न होते हैं ?
[१३ उ.] गौतम ! वे आत्मऋद्धि से उत्पन्न होते हैं, परऋद्धि से उत्पन्न नहीं होते ।

१४. एवं जाव वेमाणिया ।

[१४] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए ।

१५. नेरतिया णं भंते ! किं आतिड्ढीए उव्वट्टंति, परिड्ढीए उव्वट्टंति ?
गोयमा ! आतिड्ढीए उव्वट्टंति, नो परिड्ढीए उव्वट्टंति ।

[१५ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव आत्मऋद्धि से उद्वर्त्तित होते हैं या परऋद्धि से उद्वर्त्तित होते (मरते) हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! वे (नैरयिक) आत्मऋद्धि से .उद्वर्तित होते हैं, किन्तु परऋद्धि से उद्वर्तित नहीं होते ।

१६. एवं जाव वेमाणिया, नवरं जोतिसिय-वेमाणिया चयंतीति अभिलावो ।

[१६] इसी प्रकार यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए । विशेष यह है कि ज्योतिष्क और वैमानिक के लिए ('उद्वर्त्तन' के बदले) 'च्यवन' (कहना चाहिए ।)

१७. नेरइया णं भंते ! किं आयकम्मुणा उववज्जंति, परकम्मुणा उववज्जंति ?
गोयमा ! आयकम्मुणा उववज्जंति, नो परकम्मुणा उववज्जंति ।

[१७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव अपने कर्म से उत्पन्न होते हैं या परकर्म से उत्पन्न होते हैं ?
[१७ उ.] गौतम ! वे आत्मकर्म से उत्पन्न होते हैं, परकर्म से नहीं ।

१८. एवं जाव वेमाणिया ।

[१८] इसी प्रकार यावत् वैमानिक (तक कहना चाहिए) ।

१९. एवं उव्वट्टणादंडओ वि ।

[१९] इसी प्रकार उद्वर्त्तना-दण्डक भी कहना चाहिए ।

२०. नेरइया णं भंते ! किं आयप्पयोगेणं उववज्जंति, परप्पयोगेणं उववज्जंति ?

गोयमा ! आयप्पयोगेणं उववज्जंति, नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

[२० प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव आत्मप्रयोग से उत्पन्न होते हैं, अथवा परप्रयोग से उत्पन्न होते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! वे आत्मप्रयोग से उत्पन्न होते हैं, परप्रयोग से उत्पन्न नहीं होते ।

२१. एवं जाव वेमाणिया ।

[२१] इसी प्रकार यावत् वैमानिक-पर्यन्त (कहना चाहिए) ।

२२. एवं उव्वट्टणादंडओ वि ।

[२२] इसी प्रकार उद्वर्त्तना-दण्डक भी (कहना चाहिए) ।

विवेचन—प्रस्तुत १६ सूत्रों (७ से २२ तक) में नैरयिकों से वैमानिकों पर्यन्त चौवीस दण्डकवर्ती जीवों के उत्पत्ति और उद्वर्त्तना (मृत्यु) के विषय में आत्मोपक्रम-परोपक्रम-निरुपक्रम, आत्म-ऋद्धि-परऋद्धि, आत्मकर्म-पर कर्म, आत्मप्रयोग-परप्रयोग आदि विभिन्न पहलुओं से चर्चा की गई है ।[1]

आत्मोपक्रम-परोपक्रम-निरुपक्रम का स्वरूप—आत्मोपक्रम—व्यवहार दृष्टि से आयुष्य को स्वयमेव घटा देना । यथा—श्रेणिक नरेश । **परोपक्रम**—अन्य के द्वारा आयुष्य का घटाया जाना अर्थात् अन्य के द्वारा आयुष्य घटाने से मरना । यथा—कोणिक सम्राट् । **निरुपक्रम**—उपक्रम के अभाव में मरना । यथाकालसौकरिक ।[2]

आतिड्ढिए—आत्मऋद्धि अर्थात् अपने सामर्थ्य से, दूसरे (ईश्वरादि) के सामर्थ्य से नहीं ।

आयकम्मुणा—आत्मकर्म से अर्थात् स्वकृत आयुष्य आदि कर्मों से ।

आयप्पओगेण—अपने ही व्यापार से ।[3]

चौवीस दण्डकों और सिद्धों में कति-अकति-अवक्तव्य-संचित पदों का यथायोग्य निरूपण

२३. [१] नेरइया णं भंते ! किं कतिसंचिता, अकतिसंचिता, अव्वत्तव्वगसंचिता ?

गोयमा ! नेरइया कतिसंचिया वि, अकतिसंचिता वि, अवत्तव्वगसंचिता वि ।

[२३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक कतिसंचित हैं, अकतिसंचित हैं अथवा अवक्तव्यसंचित हैं ?

[२३-१ उ.] गौतम ! नैरयिक कतिसंचित भी हैं, अकतिसंचित भी हैं और अवक्तव्यसंचित भी हैं ।

[२] से केणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचिता वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया कतिसंचिता, जे णं

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ८८२-८८३

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९६

३. वही, पत्र ७९६

नेरइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया अकतिसंचिया, जे णं नेरइया एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया अवत्तव्वगसंचिता; सेतेणट्ठेणं गोयमा ! जाव अवत्तव्वग-संचिता वि।

[२३-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा गया कि (नैरयिक कतिसंचित भी हैं) यावत् अवक्तव्यसंचित भी हैं ?

[२३-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक (नरकगति में एक साथ) संख्यात प्रवेश करते (उत्पन्न होते) हैं, वे कतिसंचित हैं, जो नैरयिक (एक साथ) असंख्यात प्रवेश करते हैं, वे अकतिसंचित हैं और जो नैरयिक एक-एक (करके) प्रवेश करते हैं, वे अवक्तव्यसंचित हैं। हे गौतम ! इसी कारण कहा गया है कि (नैरयिक कतिसंचित भी हैं,) यावत् अवक्तव्यसंचित भी हैं।

२४. एवं जाव थणियकुमारा।

[२४] इसी प्रकार (असुरकुमारों से लेकर) यावत् स्तनितकुमारों तक (के विषय में कहना चाहिए।)

२५. [१] पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! पुढविकाइया नो कतिसंचिता, अकतिसंचिता, नो अवत्तव्वगसंचिता।

[२५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक कतिसंचित हैं, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ?

[२५-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव कतिसंचित भी नहीं और अवक्तव्यसंचित भी नहीं किन्तु अकतिसंचित हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव नो अवत्तव्वगसंचिता ?

गोयमा ! पुढविकाइया असंखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति; सेतेणट्ठेणं जाव नो अवत्तव्वग-संचिता।

[२५-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि (पृथ्वीकायिक जीव····) यावत् अवक्तव्य-संचित नहीं हैं ?

[२५-२ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव एक साथ असंख्य प्रवेशनक से प्रवेश करते (उत्पन्न होते) हैं, इसलिए कहा जाता है कि वे अकतिसंचित हैं, किन्तु कतिसंचित नहीं हैं और अवक्तव्यसंचित भी नहीं हैं।

२६. एवं जाव वणस्सतिकाइय।

[२६] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक (जानना चाहिए)।

२७. बेंदिया जाव वेमाणिया जहा नेरइया।

[२७] द्वीन्द्रियों से लेकर यावत् वैमानिक-पर्यन्त नैरयिकों के समान (कहना चाहिए)।

२८. [१] सिद्धाणं पुच्छा।

गोयमा ! सिद्धा कतिसंचिता, नो अकतिसंचिता, अवत्तव्वगसंचिता वि।

[२८-१ प्र.] भगवन् ! सिद्ध कतिसंचित हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[२८-१ उ.] गौतम ! सिद्ध कतिसंचित और अवक्तव्यसंचित हैं, किन्तु अकतिसंचित नहीं हैं ।

[२] से केणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचिता वि ?

गोयमा ! जे णं सिद्धा संखेज्जएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं सिद्धा कतिसंचिता, जे णं सिद्धा एक्कएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं सिद्धा अवत्तव्वगसंचिता; सेतेणट्ठेणं जाव अवत्तव्वगसंचिता वि ।

[२८-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है कि सिद्ध कतिसंचित और अवक्तव्यसंचित भी हैं, किन्तु अकतिसंचित नहीं हैं ?

[२८-२ उ.] गौतम ! जो सिद्ध संख्यातप्रवेशनक से प्रवेश करते हैं, वे कतिसंचित हैं और जो सिद्ध एक-एक करके प्रवेश करते हैं, वे अवक्तव्यसंचित हैं । इसीलिए कहा गया है कि सिद्ध यावत् अवक्तव्यसंचित भी हैं ।

विवेचन—कतिसंचित आदि की परिभाषा—जो जीव दूसरी जाति में से आकर एक समय में एक साथ संख्यात उत्पन्न होते हैं, वे **कतिसंचित** कहलाते हैं । अर्थात् दो से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या वालों को यहाँ कतिसचित (संख्यात) कहा गया है । जो एक समय में एक साथ असंख्यात उत्पन्न होते हैं, (जिनकी संख्या न की जा सके) उन्हें **अकतिसंचित** (असंख्यात) कहते हैं और जिसे न संख्यात कहा जा सकता हो, न असंख्यात, किन्तु एक समय में सिर्फ एक जीव उत्पन्न हो, उसे **अवक्तव्यसंचित** कहते हैं ।[1]

फलितार्थ—पृथ्वीकायादि पांच स्थावरों और सिद्धों को छोड़कर शेष समस्त जीव तीनों ही प्रकार के हैं । जैसे—नैरयिक जीव एक-एक करके भी उत्पन्न होते हैं, दो से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक संख्यात भी उत्पन्न होते हैं और असंख्यात भी उत्पन्न होते हैं ।

पृथ्वीकायादि पांच स्थावर अकतिसंचित हैं, क्योंकि वे एक समय में एक साथ एक, दो से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक नहीं, किन्तु असंख्यात उत्पन्न होते हैं । यद्यपि वनस्पतिकायिक जीव एक साथ एक समय में अनन्त उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे अनन्त तो स्वजातीय-वनस्पतिजीव ही वनस्पति (स्व) जाति में उत्पन्न होते हैं, विजातीय जीवों में से आकर वनस्पतिकायिक के रूप में उत्पन्न होने वाले जीव तो असंख्यात ही होते हैं । इसी की यहाँ विवक्षा है ।

सिद्ध भगवान् अकतिसंचित नहीं हैं, क्योंकि मोक्ष जाने वाले जीव एक समय में एक से लेकर संख्यात (१०८ तक) ही होते हैं । असंख्यात जीव एक साथ सिद्ध नहीं होते । जब एक जीव सिद्ध होता है, तब वह अवक्तव्यसंचित कहलाता है किन्तु जब दो से लेकर १०८ जीव तक सिद्ध होते हैं, तब वे 'कतिसंचित' कहलाते हैं ।[2]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९९
   (ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी) भा. ६, पृ. २९२५

२. (क) वही, पृ. २९२५
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९९

कति-अकति-अवक्तव्य-संचित यथायोग्य चौवीस दण्डकों और सिद्धों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

२९. एएसि णं भंते ! नेरइयाणं कतिसंचिताणं अकतिसंचियाणं अवत्तव्वगसंचिताण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

सव्वत्थोवा नेरइया अवत्तव्वगसंचिता, कतिसंचिया संखेज्जगुणा, अकतिसंचिता असंखेज्जगुणा।

[२९ प्र.] भगवन् ! इन कतिसंचित, अकतिसंचित और अवक्तव्यसंचित नैरयिकों में से कौन किससे (अल्प, अधिक, तुल्य अथवा) यावत् विशेषाधिक हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े अवक्तव्यसंचित नैरयिक हैं, उनसे कतिसंचित नैरयिक संख्यातगुणे हैं और अकतिसंचित उनसे असंख्यातगुणे हैं।

३०. एवं एगिंदियवज्जाणं जाव वेमाणियाणं अप्पाबहुगं, एगिंदियाणं नत्थि अप्पाबहुगं।

[३०] एकेन्द्रिय जीवों के सिवाय यावत् वैमानिकों तक का इसी प्रकार (नैरयिकवत्) अल्पबहुत्व कहना चाहिए। एकेन्द्रिय जीवों का अल्पबहुत्व नहीं है।

३१. एएसि णं भंते ! सिद्धाणं कतिसंचियाणं, अवत्तव्वगसंचिताण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा कतिसंचिता, अवत्तव्वगसंचिता संखेज्जगुणा।

[३१ प्र.] भगवन् ! कतिसंचित और अवक्तव्यसंचित सिद्धों में कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े कतिसंचित सिद्ध होते हैं, उनसे अवक्तव्यसंचित सिद्ध संख्यातगुणे हैं।

विवेचन—कतिसंचितादि का अल्पबहुत्व—एकेन्द्रिय को छोड़कर शेष समस्त संसारी जीवों में सबसे थोड़े जो अवक्तव्यसंचित बतलाए हैं, वे इसलिए कि अवक्तव्यस्थान एक ही है। उनसे कतिसंचित संख्यातगुणे हैं, क्योंकि उनके संख्यात स्थान हैं और उनसे अकतिसंचित असंख्यातगुणे हैं, क्योंकि उनके असंख्यात स्थान हैं। प्रश्न होता है, फिर सिद्धों में कतिसंचित सिद्ध सबसे थोड़े क्यों बतलाए हैं ? कुछ आचार्य इसका समाधान यों देते हैं कि इस (अल्पबहुत्व) में स्थान की अल्पता कारण नहीं है, वस्तुस्वभाव ही ऐसा है। कतिसंचित स्थान अवक्तव्यसंचित स्थान से बहुत होने पर भी सिद्धों में कतिसंचित सिद्ध सबसे थोड़े बताए हैं और अवक्तव्यसंचित स्थान एक होने पर भी अवक्तव्यसंचित सिद्ध उनसे संख्यातगुणे अधिक हैं; क्योंकि दो आदि रूप से केवली अल्पसंख्या में सिद्ध होते हैं। अतः वस्तुस्वभाव और लोकस्वभाव ऐसा ही है, यह मानना चाहिए।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९९

(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी) भा. ६, पृ. २९२५

चौवीस दण्डकों और सिद्धों में षट्क-समर्जित आदि पांच विकल्पों का यथायोग्य निरूपण

३२. [१] नेरइया णं भंते ! किं छक्कसमज्जिया, नोछक्कसमज्जिया, छक्केण य नोछक्केण य समज्जिया, छक्केहिं समज्जिया, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया ?

गोयमा ! नेरइया छक्कसमज्जिया वि, नोछक्कसमज्जिया वि, छक्केण य नोछक्केण य समज्जिया वि, छक्केहिं समज्जिया वि, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया वि।

[३२-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक षट्क-समर्जित हैं, नो-षट्क-समर्जित हैं, (एक) षट्क और नोषट्क-समर्जित हैं, अथवा अनेक षट्क-समर्जित हैं या अनेक षट्क-समर्जित—एक नो-षट्क-समर्जित हैं ?

[३२-१ उ.] गौतम ! नैरयिक षट्क-समर्जित भी हैं, नो-षट्क-समर्जित भी हैं, और एक षट्क तथा एक नोषट्क-समर्जित भी हैं, अनेक षट्क-समर्जित और एक नोषट्क-समर्जित भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते एवं वुच्चइ—नेरइया छक्कसमज्जिया वि जाव छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया छक्कएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया छक्कसमज्जिता। जे णं नेरइया जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया नोछक्कसमज्जिया। जे णं नेरइया एगेणं छक्कएणं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया छक्केण य नोछक्केण य समज्जिया जे णं नेरइया णेगेहिं छक्कएहिं पवेसणगं पविसंति ते णं नेरइया छक्केहिं समज्जिया। जे णं नेरइया णेगेहिं छक्कएहिं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया। सेतेणट्ठे तं चेव जाव समज्जिया वि।

[३२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि नैरयिक षट्क-समर्जित भी हैं, यावत् अनेक षट्क-समर्जित तथा एक नो-षट्क-समर्जित भी हैं ?

[३२-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक (एक समय में एक साथ) छह की संख्या में प्रवेश करते हैं, वे नैरयिक 'षट्क-समर्जित' (कहलाते) हैं। जो नैरयिक (एक साथ) जघन्य एक, दो अथवा तीन और उत्कृष्ट पांच संख्या में प्रवेश करते हैं, वे नो-षट्क-समर्जित (कहलाते) हैं। जो नैरयिक एक षट्क संख्या से और अन्य जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट पांच की संख्या में प्रवेश करते हैं, वे 'षट्क और नो-षट्क-समर्जित' (कहलाते) हैं। जो नैरयिक अनेक षट्क संख्या में प्रवेश करते हैं, वे नैरयिक अनेक षट्क-समर्जित (कहलाते) हैं। जो नैरयिक अनेक षट्क तथा जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट पांच संख्या में प्रवेश करते हैं, वे नैरयिक 'अनेक षट्क और एक नो-षट्क-समर्जित' (कहलाते) हैं। इसलिए हे गौतम ! इस प्रकार कहा गया है कि यावत् अनेक षट्क और एक नो-षट्क-समर्जित भी होते हैं।

३३. एवं जाव थणियकुमारा।

[३३] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त कहना चाहिए।

३४. [१] पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! पुढविकाइया नो छक्कसमज्जिया, नो नोछक्कसमज्जिया, नो छक्केण य नोछक्केणं य समज्जिया, छक्केहिं समज्जिया वि, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया वि।

[३४-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव षट्क-समर्जित हैं ? इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्।

[३४-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक जीव न तो षट्क-समर्जित हैं, न नो-षट्क-समर्जित हैं और न एक षट्क और एक नो-षट्क से समर्जित हैं; किन्तु अनेक षट्क-समर्जित हैं तथा अनेक षटक और एक नो-षट्क से समर्जित भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव समज्जिता वि ?

गोयमा ! जे णं पुढविकाइया णेगेहिं छक्कएहिं पवेसणगं पविसंति ते णं पुढविकाइया छक्केहिं समज्जिया। जे णं पुढविकाइया णेगेहिं छक्कएहिं; अन्नेणं य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तिहिं वा, उक्कोसेणं पंचएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं पुढविकाइया छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया। से तेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि।

[३४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि (पृथ्वीकायिक जीव यावत् अनेक षट्क-समर्जित हैं तथा अनेक षट्क और एक नो-षट्क-) समर्जित भी हैं ?

[३४-२ उ.] गौतम ! जो पृथ्वीकायिक जीव अनेक षट्क से प्रवेश करते हैं, वे अनेक-षट्क-समर्जित हैं तथा जो पृथ्वीकायिक अनेक षट्क से तथा जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट पांच संख्या में प्रवेश करते हैं, वे अनेक-षट्क और एक नो-षट्क-समर्जित कहलाते हैं। हे गौतम ! इसीलिए कहा गया है कि पृथ्वीकायिक जीव यावत् एक नो-षट्क-समर्जित हैं।

३५. एवं जाव वणस्सइकाइया, बेइंदिया जाव वेमाणिया।

[३५] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक समझना चाहिए। द्वीन्द्रिय से ले कर यावत् वैमानिकों तक पूर्ववत्।

३६. सिद्धा जहा नेरइया।

[३६] सिद्धों का कथन नैरयिकों के समान है।

विवेचन—षट्क-समर्जित आदि की परिभाषा—जिसका छह का परिमाण हो, उसे षट्क कहते हैं। षट्क से यानी छह के समूह से जो समर्जित हों—अर्थात्—पिण्डित—एकत्रित हों, वह षट्क-समर्जित हैं। भाव यह है कि एक समय में एक साथ जो उत्पन्न होते हैं, यदि उनकी राशि छह हो तो वे **षट्क-समर्जित** कहलाते हैं। जो एक साथ एक समय में एक, दो, तीन, चार या पांच उत्पन्न हुए हों, वे **नोषट्क-समर्जित** कहलाते हैं। जो एक समय में एक साथ एक षट्क के रूप में (छह) उत्पन्न हुए हों, साथ ही एक साथ एक समय में एक से लेकर पाँच तक यानी सात, आठ, नौ, दस और ग्यारह तक उत्पन्न हुए हों, वे **एक षट्क, एक नो-षट्क-समर्जित** कहलाते हैं। जो एक समय में, एक साथ छह-छह के अनेक समूहों के रूप में उत्पन्न हुए हों, वे **अनेकषट्क-समर्जित** कहलाते हैं। जो

एक समय में अनेक षट्क-समुदायरूप से और एकादि (एक से लेकर पांच तक) अधिक रूप से उत्पन्न हुए हों, वे **अनेकषट्क और एक नोषट्क-समर्जित** कहलाते हैं।[1]

किन में कितने भंगों की प्राप्ति ? नैरयिकों में ये पांचों भंग पाए जाते हैं, क्योंकि नैरयिकों में एक समय में एक से लेकर असंख्यात तक उत्पन्न होते हैं। असंख्यातों में भी ज्ञानीजनों के ज्ञान से षट्क आदि की व्यवस्था बन जाती है।

एकेन्द्रिय जीवों में एक समय में एक साथ असंख्यात उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें अनेक षट्क-समर्जित तथा अनेकषट्क-एक नोषट्क-समर्जित, ये दो भंग ही पाए जाते हैं।

शेष सब संसारी जीवों में पूर्वोक्त पांचों ही भंग पाए जाते हैं।[2]

षट्कसमर्जित आदि से विशिष्ट चौवीस दण्डकों और सिद्धों के अल्पबहुत्व का यथायोग्य निरूपण

३७. एएसि णं भंते ! नेरतियाणं छक्कसमज्जियाणं, नोछक्कसमज्जिताणं, छक्केण य नोछक्केण य समज्जियाणं, छक्केहिं समज्जियाणं, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा नेरइया छक्कसमज्जिया, नोछक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा, छक्केण य नो छक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा, छक्केहिं समज्जिया असंखेज्जगुणा, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा।

[३७ प्र.] भगवन् ! १. षट्कसमर्जित, २. नो-षट्कसमर्जित ३. एक षट्क एक नोषट्कसमर्जित ४. अनेक षट्कसमर्जित तथा ५. अनेक षट्क एक नोषट्क-समर्जित नैरयिकों में कौन किन से (अल्प, बहुत, तुल्य) यावत् विशेषाधिक हैं ?

[३७ उ.] गौतम ! १. सबसे कम एक षट्क-समर्जित नैरयिक हैं, २. नो-षट्क-समर्जित नैरयिक उनसे संख्यातगुणे हैं, ३. एक षट्क और नो-षट्क समर्जित नैरयिक उनसे संख्यातगुणे हैं, ४. अनेक षट्क-समर्जित नैरयिक उनसे असंख्यातगुणे हैं, और ५. अनेक षट्क और एक नो-षट्क-समर्जित नैरयिक उनसे संख्यातगुणे हैं।

३८. एवं जाव थणियकुमारा।

[३८] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक (का अल्पबहुत्व समझना चाहिए।)

३९. एएसि णं भंते ! पुढविकाइयाणं छक्केहिं समज्जिताणं, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा पुढविकाइया छक्केहिं समज्जिया, छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा।

---

१. (क) भगवती. विवेचन भा. ६ (घेवरचन्दजी), पृ. २९३१

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ७९९-८०.

२. वही, पत्र ८००

[३९ प्र.] भगवन् ! अनेक पट्क-समर्जित और अनेक षट्क तथा नो-षट्क-समर्जित पृथ्वी-कायिकों में कौन किससे (अल्प, बहुत, तुल्य) यावत् विशेषाधिक हैं ?

[३९ उ.] गौतम ! सबसे अल्प अनेक षट्कसमर्जित पृथ्वीकायिक हैं। अनेक षट्क और नो-षट्क-समर्जित पृथ्वीकायिक उनसे संख्यातगुणे हैं।

४०. एवं जाव वणस्सइकाइयाणं।

[४०] इस प्रकार यावत् वनस्पतिकायिकों तक (जानना चाहिए)।

४१. बेइंदियाणं जाव वेमाणियाणं जहा नेरइयाणं।

[४१] द्वीन्द्रियों से लेकर यावत् वैमानिकों तक (का अल्पबहुत्व) नैरयिकों के समान (जानना चाहिए)।

४२. एएसि णं भंते ! सिद्धाणं छक्कसमज्जियाणं, नोछक्कसमज्जियाणं जाव छक्केहि य नोछक्केण य समज्जियाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा छक्केहि य नोछक्केण य समज्जिया, छक्केहिं समज्जिया संखेज्जगुणा, छक्केण य नोछक्केण य समज्जिया संखेज्जगुणा, छक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा, नोछक्कसमज्जिया संखेज्जगुणा।

[४२ प्र.] भगवन् ! इन षट्कसमर्जित, नो-षट्कसमर्जित, यावत् अनेक षट्क और एक नो-षट्क-समर्जित सिद्धों में कौन किन-से अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[४२ उ.] गौतम ! अनेक षट्क और नोषट्क से समर्जित सिद्ध सबसे थोड़े हैं। उनसे अनेक-षट्क-समर्जित सिद्ध संख्यातगुणे हैं। उनसे एक षट्क और नो-षट्कसमर्जित सिद्ध संख्यातगुणे हैं। उनसे षट्कसमर्जित सिद्ध संख्यातगुणे हैं और उनसे भी नो-पट्क-समर्जित सिद्ध संख्यातगुणे हैं।

विवेचन—षट्क-समर्जित आदि से विशिष्ट चौवीस दण्डकों और सिद्धों का अल्पबहुत्व— प्रस्तुत छह सूत्रों (३७ से ४२ तक) में जो षट्क-समर्जित आदि से विशिष्ट जीवों का अल्पबहुत्व बताया गया है, वह स्थान के अल्पत्व एवं बाहुल्य की अपेक्षा से समझना चाहिए। अन्य आचार्यों का कहना है कि वस्तु-स्वभाव ही ऐसा है।[1]

चौवीस दण्डकों और सिद्धों में द्वादश, नोद्वादश आदि पदों का यथायोग्य निरूपण

४३. [१] नेरइया णं भंते ! किं बारससमज्जिता, नोबारससमज्जिया, बारसएण य नोबारसएण य समज्जिया, बारसएहिं समज्जिया, बारसएहि य नोबारसएण य समज्जिया ?

गोयमा ! नेरइया बारससमज्जिया वि जाव बारसएहि य नोबारसएण य समज्जिया वि।

[४३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव क्या द्वादश-समर्जित हैं, या नो-द्वादश-समर्जित हैं, अथवा द्वादश-नो-द्वादश-समर्जित हैं, या अनेक द्वादश और नो-द्वादश-समर्जित हैं ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८००

[४३-१ उ.] गौतम ! नैरयिक द्वादश-समर्जित भी हैं और यावत् अनेक द्वादश और नो-द्वादश-समर्जित भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव समज्जिया वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया बारसएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया बारससमज्जिया। जे णं नेरइया जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया नोबारससमज्जिया। जे णं नेरइया बारसएणं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया बारसएण य नोबारसएण य समज्जिया। जे णं नेरइया णेगेहिं बारसएहिं पवेसणगं पविसंति ते णं नेरतिया बारसएहिं समज्जिया। जे णं नेरइया णेगेहिं बारसएहिं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया बारसएहि य नोबारसएण य समज्जिया। सेतेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि।

[४३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि नैरयिक द्वादश-समर्जित भी हैं, यावत् अनेकद्वादश और नो-द्वादश-समर्जित भी हैं ?

[४३-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक (एक समय में एक साथ) बारह की संख्या में (नरक में जाकर) प्रवेश करते हैं, वे द्वादश-समर्जित हैं। जो नैरयिक जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट ग्यारह तक प्रवेश करते हैं, वे नो-द्वादश-समर्जित हैं। जो नैरयिक एक समय में बारह तथा जघन्य एक, दो, तीन तथा उत्कृष्ट ग्यारह तक प्रवेश करते हैं, वे द्वादश-नोद्वादश-समर्जित हैं। जो नैरयिक एक समय में अनेक बारह-बारह की संख्या में प्रवेश करते हैं, वे अनेक द्वादश-समर्जित हैं। जो नैरयिक एक समय में अनेक-बारह-बारह की संख्या में तथा जघन्य एक-दो-तीन और उत्कृष्ट ग्यारह तक प्रवेश करते हैं, वे अनेक द्वादश-नो-द्वादश-समर्जित हैं।

हे गौतम ! इस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक द्वादश-समर्जित यावत् अनेक-द्वादश तथा नोद्वादश-समर्जित कहलाते हैं।

४४. एवं जाव थणियकुमारा।

[४४] इसी प्रकार (पांचों विकल्प) यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

४५. [१] पुढविकाइयाणं पुच्छा।

गोयमा ! पुढविकाइया नो बारसयसमज्जिया, नो नोबारसयसमज्जिया, नो बारसएण य नोबारसएण य समज्जिया, बारसएहिं समज्जिया वि, बारसएहि य नोबारसएण य समज्जिया वि।

[४५-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक क्या द्वादश-समर्जित हैं, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ?

[४५-१ उ.] गौतम ! पृथ्वीकायिक न तो द्वादश-समर्जित हैं, न नो-द्वादश-समर्जित हैं और न ही वे द्वादश-समर्जित-नोद्वादश-समर्जित हैं, किन्तु वे अनेक-द्वादश-समर्जित भी हैं और अनेक द्वादश-नो-द्वादश-समर्जित भी हैं।

[२] सेकेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि ? गोयमा ! जे णं पुढविकाइया णेगेहिं बारसएहिं पवेसणगं पविसंति ते णं पुढविकाइया बारसएहिं समज्जिया। जे णं पुढविकाइया णेगेहिं बारसएहिं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं एक्कारसएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं पुढविकाइया बारसएहि य नोबारसएण य समज्जिया। सेतेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि।

[४५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि (पृथ्वीकायिक ... यावत् अनेक-द्वादशसमर्जित भी हैं और अनेक द्वादश-नोद्वादश) समर्जित भी हैं ?

[४५-२ उ.] गौतम ! जो पृथ्वीकायिक जीव (एक समय में एक साथ) अनेक द्वादश-द्वादश की संख्या में प्रवेश करते हैं, वे अनेक-द्वादश-समर्जित हैं और जो पृथ्वीकायिक जीव अनेक द्वादश तथा जघन्य एक, दो, तीन एवं उत्कृष्ट ग्यारह प्रवेशनक से प्रवेश करते हैं, वे अनेक-द्वादश और एक नो-द्वादश-समर्जित हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है कि पृथ्वीकायिक ... यावत् अनेक द्वादश-नो-द्वादश-समर्जित भी हैं।

४६. एवं जाव वणस्सइकाइया।

[४६] इसी प्रकार (के अभिलाप) यावत् वनस्पतिकायिक तक (कहने चाहिए)।

४७. बेइंदिया जाव सिद्धा जहा नेरइया।

[४७] द्वीन्द्रियों जीवों से लेकर यावत् सिद्धों तक नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

विवेचन—द्वादश-समर्जित आदि का स्वरूप—जो जीव एक समय में एक साथ बारह की संख्या में सामूहिक रूप से उत्पन्न हों उन्हें द्वादश-समर्जित कहते हैं तथा जो जीव एक से लेकर ग्यारह तक एक साथ उत्पन्न हों, उन्हें नो-द्वादश-समर्जित कहते हैं। शेष कथन षट्क-समर्जित के समान समझना चाहिए।[1]

द्वादश, नोद्वादश आदि से समर्जित चौवीस दण्डकों तथा सिद्धों का अल्पबहुत्व

एएसि णं भंते ! नेरइयाणं बारससमज्जियाणं०।

सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं, नवरं बारसाभिलावो, सेसं तं चेव।

[४८ प्र.] भगवन् ! इन द्वादश-समर्जित यावत् अनेक-द्वादश-नो-द्वादश-समर्जित नैरयिकों में कौन किनसे अल्प यावत् विशेषाधिक हैं ?

[४८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार षट्क-समर्जित आदि जीवों का अल्पबहुत्व कहा, उसी प्रकार द्वादश-समर्जित आदि सभी जीवों का अल्पबहुत्व कहना चाहिए। विशेष इतना ही है कि 'षट्क' के स्थान में 'द्वादश', ऐसा अभिलाप करना (कहना) चाहिए। शेष सब पूर्ववत् है।

विवेचन—द्वादशसमर्जित आदि का अल्पबहुत्व षट्कसमर्जित आदि के समान ही है। केवल षट्क के बदले द्वादश शब्द का प्रयोग करना चाहिए।

---

१. भगवती. विवेचन भा. ६ (पं. घेवरचंदजी), पृ. २९३४

चौबीस दण्डकों और सिद्धों में चतुरशीति-समर्जित आदि पदों का यथायोग्य निरूपण

४९. [१] नेरतिया णं भंते ! किं चुलसीतिसमज्जिया, नोचुलसीतिसमज्जिया, चुलसीतीए य नोचुलसीतीते य समज्जिया, चुलसीतीहिं समज्जिया, चुलसीतीहि य नोचुलसीतीए य समज्जिया ?

गोयमा ! नेरतिया चुलसीतिसमज्जिया वि जाव चुलसीतीहि य नोचुलसीतीए य समज्जिया वि।

[४९-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव चतुरशीति (चौरासी)- सर्मजित हैं या नो-चतुरशीति-सर्मजित हैं, अथवा चतुरशीति-नो-चतुरशीति सर्मजित हैं, या वे अनेक चतुरशीति-सर्मजित हैं, अथवा अनेक-चतुरशीति-नो-चतुरशीति-सर्मजित हैं ?

[४९-१ उ.] गौतम ! नैरयिक चतुरशीति-सर्मजित भी हैं, यावत् अनेक-चतुरशीति-नो-चतुरशीति-सर्मजित भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ जाव समज्जिया वि ?

गोयमा ! जे णं नेरइया चुलसीतीएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया चुलसीतिसमज्जिया। जे णं नेरइया जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं तेसीतिपवेसणएणं पविसंति ते णं नेरइया नोचुलसीतिसमज्जिया। जे णं नेरइया चुलसीतीएणं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं तेसीतीएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरतिया चुलसीतीए य नोचुलसीतीए समज्जिया। जे णं नेरइया णेगेहिं चुलसीतीएहिं पवेसणगं पविसंति ते णं नेरतिया चुलसीतीहिं समज्जिया। जे णं नेरइया णेगेहिं चुलसीतीएहिं, अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा जाव उक्कोसेणं तेसीयएणं जाव पवेसणएणं पविसंति ते णं नेरतिया चुलसीतीहि य नोचुलसीतीए य समज्जिया; सेतेणट्ठेणं जाव समज्जिया वि।

[४९-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि (नैरयिक) यावत् (अनेक-चतुरशीति-नो-चतुरशीति-) सर्मजित भी हैं ?

[४९-२ उ.] गौतम ! जो नैरयिक (एक समय में एक साथ) चौरासी प्रवेशनक से (८४ संख्या में) प्रवेश करते हैं, वे चतुरशीति-सर्मजित हैं। जो नैरयिक जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट तेयासी (८३) (एक साथ) प्रवेश करते हैं, वे नो-चतुरशीति-सर्मजित हैं। जो नैरयिक एक साथ, एक समय में चौरासी तथा जघन्य एक, दो, तीन, यावत् उत्कृष्ट तेयासी प्रवेश करते हैं, वे चतुरशीति-नो-चतुरशीति-सर्मजित हैं। जो नैरयिक एक साथ एक समय में अनेक चौरासी प्रवेश करते हैं, वे अनेक चतुरशीति-सर्मजित हैं और जो नैरयिक एक-एक समय में अनेक चौरासी तथा जघन्य एक-दो-तीन उत्कृष्ट तेयासी प्रवेश करते हैं, वे अनेक चतुरशीति-नो-चतुरशीति-सर्मजित हैं। इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि नैरयिक चतुरशीति-सर्मजित भी हैं, यावत् अनेक चतुरशीति-नो-चतुरशीति-सर्मजित भी हैं।

५०. एवं जाव थणियकुमारा।

[५०] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त कहना चाहिए।

५१. पुढविकाइया तहेव पच्छिल्लएहिं दोहिं, नवरं अभिलावो चुलसीतिईओ।

[५१] पृथ्वीकायिक जीवों के विषय में अनेक चतुरशीति-समर्जित और अनेक चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित, ये दो पिछले भंग समझने चाहिए। विशेष यह कि यहाँ 'चौरासी' ऐसा कहना चाहिए।

५२. एवं जाव वणस्सतिकाइया।

[५२] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक तक (पूर्वोक्त दो भंग) जानने चाहिए।

५३. बेइंदिया जाव वेमाणिया जहा नेरइया।

[५३] द्वीन्द्रिय जीवों से लेकर यावत् वैमानिकों तक नैरयिकों के समान (आलापक कहने चाहिए)।

५४. [१] सिद्धाणं पुच्छा।

गोयमा! सिद्धा चुलसीतिसमज्जिता वि, नोचुलसीतिसमज्जिया वि, चुलसीतीए य नोचुलसीतीए य समज्जिया वि, नो चुलसीतीहिं समज्जिया, नो चुलसीतीहि य नोचुलसीतीए य समज्जिया।

[५४-१ प्र.] भगवन्! सिद्ध चतुरशीति-समर्जित हैं, इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न?

[५४-१ उ.] गौतम! सिद्ध भगवान् चतुरशीति-समर्जित भी हैं तथा नो-चतुरशीति-समर्जित भी हैं तथा चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित भी हैं, किन्तु वे अनेक चतुरशीति-समर्जित नहीं हैं, और न ही वे अनेक चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव समज्जिया?

गोयमा! जे णं सिद्धा चुलसीतिएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं सिद्धा चुलसीतिसमज्जिया। जे णं सिद्धा जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं तेसीतीएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं सिद्धा नोचुलसीतिसमज्जिया। जे णं सिद्धा चुलसीतएणं; अन्नेण य जहन्नेणं एक्केण वा दोहिं वा तीहिं वा, उक्कोसेणं तेसीतएणं पवेसणएणं पविसंति ते णं सिद्धा चुलसीतीए य नोचुलसीतीए य समज्जिया। सेतेणट्ठेणं जाव समज्जिता।

[५४-२ प्र.] भगवन्! उपर्युक्त कथन का कारण क्या है?

[५४-२ उ.] गौतम! जो सिद्ध एक साथ, एक समय में चौरासी संख्या में प्रवेश करते हैं वे चतुरशीति-समर्जित हैं। जो सिद्ध एक समय में, जघन्य एक-दो-तीन और उत्कृष्ट तेयासी तक प्रवेश करते हैं, वे नो-चतुरशीति-समर्जित हैं। जो सिद्ध एक समय में एक साथ चौरासी और साथ ही जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट तेयासी तक प्रवेश करते हैं, वे चतुरशीति-समर्जित और नो-चतुरशीति-समर्जित हैं। इसी कारण हे गौतम! सिद्ध भगवान् यावत् चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित कहे जाते हैं।

विवेचन—चतुरशीति-समर्जित आदि शब्दों का भावार्थ—जो जीव एक समय में एक साथ चौरासी संख्या में सामूहिकरूप से उत्पन्न हों वे चतुरशीति-समर्जित कहलाते हैं। जो एक से लेकर

तेयासी तक एक साथ उत्पन्न हों, वे नो-चतुरशीति-समर्जित कहलाते हैं। शेष शब्दों का अर्थ सुगम है।[1]

सिद्धों में प्रारम्भ के तीन भंग क्यों और कैसे ? सिद्ध भगवान् एक समय में १०८ से अधिक मुक्त नहीं होते, इसलिए पिछले दो भंग—अनेक चतुरशीति-समर्जित, एवं अनेक चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित नहीं पाए जाते। प्रारम्भ के पूर्वोक्त तीन भंग पाए जाते हैं। परन्तु तीसरे भंग—(चतुरशीति-नोचतुरशीति-समर्जित) में 'नो-चतुरशीति' में एक से लेकर चौवीस तक ही लेने चाहिए, क्योंकि सिद्ध भगवान् एक समय में एक साथ अधिक से अधिक १०८ ही सिद्ध होते हैं, इसलिए चौरासी में २४ संख्या को जोड़ने से १०८ हो जाते हैं। अतः यहाँ नोचतुरशीति में उत्कृष्ट संख्या ८३ न लेकर २४ तक ही लेनी चाहिए।

चतुरशीति-नोचतुरशीति इत्यादि से समर्जित चौवीस दण्डकों और सिद्धों का अल्पबहुत्व निरूपण

५५. एएसि णं भंते ! नेरतियाणं चुलसीतिसमज्जियाणं नोचुलसीतिसमज्जियाणं ?

सव्वेसिं अप्पाबहुगं जहा छक्कसमज्जियाणं जाव वेमाणियाणं, नवरं अभिलावो चुलसीतम्रो।

[५५ प्र.] भगवन् ! चतुरशीति-समर्जित आदि नैरयिकों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[५५ उ.] गौतम ! चतुरशीति-समर्जित नोचतुरशीति-समर्जित इत्यादि-विशिष्ट नैरयिकों का अल्प-बहुत्व षट्क समर्जित आदि के समान समझना चाहिए। यावत् वैमानिक-पर्यन्त इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ 'षट्क' के स्थान में 'चतुरशीति' शब्द कहना चाहिए।

५६. एएसि णं भंते ! सिद्धाणं चुलसीतिसमज्जियाणं, नोचुलसीतिसमज्जियाणं, चुलसीतीए य नोचुलसीतीए य समज्जियाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सिद्धा चुलसीतीए य नोचुलसीतीए य समज्जिया, चुलसीतिसमज्जिया अणंतगुणा, नोचुलसीतिसमज्जिया अणंतगुणा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ वीसइमे सए : दसमो उद्देसम्रो समत्तो ॥ २०-१० ॥

॥ वीसइमं सयं समत्तं ॥ २० ॥

[५६ प्र.] भगवन् ! चतुरशीति-समर्जित, नो-चतुरशीति-समर्जित तथा चतुरशीति-नो-चतुरशीति-समर्जित सिद्धों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

---

१. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी), पृ. २९३९

२. वही, पृ. २९३९

[५६ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े चतुरशीति-नो-चतुशीति-समर्जित सिद्ध हैं, उनसे चतुरशीति-समर्जित सिद्ध अनन्तगुणे हैं, उनसे नो-चतुरशीति सिद्ध अनन्तगुणे हैं ।

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, यों कह कर यावत्—गौतम स्वामी विचरते हैं ।

॥ वीसवाँ शतक : दशम उद्देशक समाप्त ॥

॥ वीसवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

एगवीसइमं बावीसइमं तेवीसइमं य सयं

इक्कीसवाँ, बाईसवाँ और तेईसवाँ शतक

प्राथमिक

※ ये व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के क्रमशः इक्कीसवाँ, बाईसवाँ और तेईसवाँ तीन शतक हैं। इन तीनों शतकों का वर्ण्यविषय प्रायः एक सरीखा है और एक दूसरे से सम्बन्धित है।

※ इन तीनों शतकों में विभिन्न जाति की वनस्पतियों के विविध वर्गों के मूल से लेकर बीज तक दस प्रकारों के विषय में निम्नोक्त पहलुओं से चर्चा की गई है—

(१) उनके मूल आदि दसों में उत्पन्न होने वाले जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?
(२) वे जीव एक समय में कितनी संख्या में उत्पन्न होते हैं ?
(३) उनका अपहार कितने काल में होता है ?
(४) उनके शरीर की अवगाहना कितनी होती है ?
(५) वे जीव ज्ञानावरणीयादि कर्मों का बन्ध, वेदन, उदय और उदीरणा करते हैं या नहीं ?
(६) वे जीव कितनी लेश्या वाले हैं ? उनमें लेश्या के कितने भंग पाए जाते हैं ?
(७) उनमें दृष्टियाँ कितनी पाई जाती हैं ?
(८) उनमें योग कितने हैं, उपयोग कितने होते हैं ?
(९) उनमें ज्ञान, अज्ञान कितने हैं ?
(१०) उनमें इन्द्रियाँ कितनी होती हैं ?
(११) उनकी भवस्थिति कितनी है ? कितने काल तक गति-आगति करते हैं ? अर्थात् गमनागमन की स्थिति कितनी है ?
(१२) उनकी कायस्थिति कितने काल तक की होती है ?
(१३) वे कितनी दिशाओं से क्या आहार लेते हैं ?
(१४) उन जीवों में कितने समुद्घात होते हैं, वे समुद्घात करके मरते हैं या समुद्घात किये विना ही मरते हैं ?
(१५) वे मूलादि के जीव के रूप में पहले उत्पन्न हो चुके हैं या नहीं ?

इन सब प्रश्नों का सामान्यतया समाधान इक्कीसवें शतक के प्रथम वर्ग के प्रथम (मूल) उद्देशक में किया गया है। इनमें से कई प्रश्नों का समाधान ग्यारहवें शतक के प्रथम उत्पलोद्देशक के अतिदेशपूर्वक किया गया है। आगे के शतकों में उल्लिखित वर्गों में निर्दिष्ट मूलादि दस-दस उद्देशकों में इसी वर्ग के अनुसार समाधान सूचित किया गया है।

※ इन तीनों शतकों के प्रत्येक वर्ग के दस-दस उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) मूल, (२) कन्द, (३) स्कन्ध, (४) त्वचा (छाल), (५) शाखा, (६) प्रवाल, (७) पत्र, (८) पुष्प, (९) फल और (१०) बीज।

※ इक्कीसवें शतक में ८ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग के १०-१० उद्देशक होने से आठ वर्गों के कुल ८० उद्देशक होते हैं। बाईसवें शतक के ६ वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग के दस-दस उद्देशक होने से ६० उद्देशक होते हैं। तेईसवें शतक के ५ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग के दस-दस उद्देशक होने से ५० उद्देशक होते हैं।

※ इन तीनों शतकों में प्रतिपाद्य विषयों के पूर्वोक्त उत्पत्ति आदि द्वारों की चर्चा में प्रायः इक्कीसवें शतक के प्रथम वर्ग या चतुर्थ वर्ग अथवा बाईसवें शतक के प्रथम वर्ग का अथवा आलुक वर्ग का अतिदेश किया गया है।[१]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ८९० से ९०३ तक

एगवीसतिमं सयं : इक्कीसवाँ शतक

इक्कीसवें शतक के आठ वर्गों के नाम तथा ८० उद्देशकों का निरूपण

१. सालि १ कल २ अयसि ३ वंसे ४ उक्खू ५ दब्भे ६ य अब्भ ७ तुलसी ८ य।
अट्ठेते दसवग्गा असीति पुण होंति उद्देसा ॥१॥

[१. गाथार्थ—] (१) शालि, (२) कलाय, (३) अलसी, (४) वांस, (५) इक्षु, (६) दर्भ (डाभ), (७) अभ्र (वनस्पति), (८) तुलसी, इस प्रकार इक्कीसवें शतक में ये आठ वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग में दस-दस उद्देशक हैं। इस प्रकार आठ वर्गों में कुल ८० उद्देशक हैं।

विवेचन—आठ वर्गों में प्रतिपाद्य-विषय—इक्कीसवें शतक में कुल आठ वर्ग हैं। जिनमें मुख्यतया प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार हैं—(१) **शालि**—इस वर्ग में शालि आदि धान्यों की उत्पत्ति आदि के विषय में वर्णन है। (२) **कलाय**—मटर आदि दालों (धान्यों) की उत्पत्ति आदि से सम्बन्धित निरूपण है। (३) **अलसी**—इस वर्ग में अलसी आदि तिलहनों से सम्बन्धित वर्णन है। (४) **वंस**—इसमें वांस आदि वनस्पतियों का वर्णन है। (५) **इक्षु**—इसमें गन्ना आदि पर्ववाली वनस्पति से सम्बन्धित वर्णन है। (६) **दर्भ**—डाभ आदि तृण के विषय में वर्णन है। (७) **अभ्र**—इस वर्ग में अभ्र नामक वनस्पति के समान अनेक वनस्पतियों सम्बन्धी वर्णन है। (८) **तुलसी**—इस वर्ग में तुलसी आदि वनस्पतियों से सम्बन्धित वर्णन है।[1]

प्रत्येक वर्ग में दस-दस उद्देशक—इस प्रकार हैं—(१) मूल, (२) कन्द, (३) स्कन्ध, (४) त्वचा, (५) शाखा, (६) प्रवाल (कोमल पत्ते), (७) पत्र, (८) पुष्प, (९) फल और (१०) वीज। इस तरह प्रत्येक वर्ग में ये दस उद्देशक हैं।[2]

---

१. भगवती. विवेचन भाग ६ (पं. घेवरचंदजी), पृ. २९३०

२. मूले १, कंदे २, खंधे ३, तया ४, य साले ५, पवाल ६, पत्ते य ७।
पुप्फे फल ८-९ बीए १० वि य एक्केक्को होइ उद्देसो ॥ १ ॥

—भगवती. अ. वृत्ति, पृ. ८००

पढमे 'सालिवग्गे' पढमो उद्देसओ : 'मूल'

प्रथम वर्ग : शालि (आदि), प्रथम उद्देशक : 'मूल'

मूल-रूप में उत्पन्न होने वाले शालि आदि जीवों के उत्पाद-संख्या-शरीरावगाहना-कर्म-बन्ध-वेद-उदय-उदीरणा-दृष्टि आदि पदों की प्ररूपणा

२. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[२] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. अह भंते ! साली-वीही-गोधूम-जव-जवजवाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरि० मणु० देव० ।

जहा वक्कंतीए तहेव उववातो, नवरं देववज्जं ।

[३ प्र.] भगवन् ! अब (प्रश्न यह है कि)—शालि, व्रीहि, गेहूँ (गोधूम) (यावत्) जौ, जवजव, इन सब धान्यों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आ कर उत्पन्न होते हैं, अथवा तिर्यञ्चों, मनुष्यों या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्ति-पद में कथित प्ररूपणा के अनुसार इनका उपपात समझना चाहिए । विशेष यह है कि देवगति से आ कर ये मूलरूप में उत्पन्न नहीं होते ।

४. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उववज्जंति । अवहारो जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० ७) ।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक, दो या तीन, उत्कृष्ट संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं ।

इनका अपहार (ग्यारहवें शतक के प्रथम) उत्पल-उद्देशक (के सूत्र ७) के अनुसार (जानना चाहिए ।)

५. एतेसि णं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं ।

[५ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त शालि आदि) जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी कही गई है ?

[५ उ.] गौतम ! (इनके शरीर की अवगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुष-पृथक्त्व (दो से नौ धनुष तक) की कही गई है।

६. ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा, अबंधगा ?

तहेव जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० ६)।

[६ प्र.] भगवन् ! वे जीव ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धक हैं या अबन्धक ?

[६ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (ग्यारहवें शतक के प्रथम) उत्पल-उद्देशक (के सू. ६) में कहा गया है, उसके समान (जानना चाहिए)।

७. एवं वेदे वि, उदए वि, उदीरणाए वि।

[७] इसी प्रकार (कर्मों के) वेदन, उदय और उदीरणा के विषय में भी (जानना चाहिए।)

८. ते णं भंते ! जीवा किं कण्हलेस्सा नील० काउ० ?

छव्वीसं भंगा।

[८ प्र.] भगवन् ! वे जीव कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी या कापोतलेश्यी होते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! (यहाँ तीन लेश्या-सम्बन्धी) छव्वीस भंग कहने चाहिए।

९. दिट्ठी जाव इंदिया जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० १५-३०)।

[९] दृष्टि से ले कर यावत् इन्द्रियों के विषय में (ग्यारहवें शतक के प्रथम) उत्पलोद्देशक के अनुसार (प्ररूपणा समझनी चाहिए।)

१०. से णं भंते ! साली-वीही-गोधूम-[? □ जव-] जवजवगमूलगजीवे कालओ केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं,उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[१० प्र.] भगवन् ! शालि, व्रीहि, गेहूं, यावत् जौ, जवजव आदि, (इन सब धान्यों) के मूल का जीव कितने काल तक रहता है ?

[१० उ.] गौतम ! (वह मूल का जीव) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक रहता है।

११. से णं भंते ! साली-वीही-गोधूम-[? + जव-] जवजवगमूलगजीवे पुढविजीवे पुणरवि साली-वीही जाव जवजवगमूलगजीवे केवतियं कालं सेवेज्जा ?, केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ?

एवं जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० ३२)।

[११ प्र.] भगवन् ! शालि, व्रीहि, गोधूम, जौ, (यावत्) जवजव (आदि धान्यों) के मूल का जीव, यदि पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न हो और फिर पुनः शालि, व्रीहि यावत् जौ, जवजव आदि

□ + [?] पाठान्तर—जाव

धान्यों के मूल रूप में उत्पन्न हो, तो इस रूप में वह कितने काल तक सेवन करता (रहता) है? तथा कितने काल तक गति-आगति (गमनागमन) करता रहता है?

[११ उ,] हे गौतम! (इसका समाधान ग्यारहवें शतक के प्रथम) उत्पल-उद्देशक के अनुसार (जानना चाहिए)।

१२. एएणं अभिलावेणं जाव मणुस्सजीवे।

[१२] इस अभिलाप से,(लेकर) यावत्—मनुष्य एवं सामान्य जीव के (अभिलाप तक कहना चाहिए)।

१३. आहारो जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० २१)।

[१३] आहार (सम्बन्धी निरूपण) भी (पूर्वोक्त) उत्पलोद्देशक के समान है।

१४. ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वासपुहत्तं।

[१४] (इन जीवों की) स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट वर्ष-पृथक्त्व (दो वर्ष से ले कर नौ वर्ष तक) की है।

१५. समुग्घायसमोहया य उव्वट्टणा य जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० ४२-४४)।

[१५] समुद्घात-समवहत (समुद्घात की प्राप्ति) और उद्वर्त्तना (पूर्वोक्त) उत्पलोद्देशक के अनुसार है।

१६. अह भंते! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता साली वीही जाव जवजवगमूलगजीवत्ताए उववन्नपुव्वा?

हंता, गोयमा! असतिं अदुवा अणंतखुत्तो।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ एगवीसतिमे सए : पढमे वग्गे पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ २१-१-१ ॥

[१६ प्र.] भगवन्! क्या सर्व प्राण, सर्व भूत, सर्व जीव और सर्व सत्त्व शालि, व्रीहि, यावत् जवजव मूल के जीव रूप में इससे पूर्व उत्पन्न हो चुके हैं?

[१६ उ.] हाँ, गौतम! (वे इससे पूर्व मूल के जीवरूप में) अनेक बार अथवा अनन्त बार (उत्पन्न हो चुके हैं)।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—प्रस्तुत प्रथम उद्देशक के १५ सूत्रों (सू. २ से १६ तक) में शालि आदि के मूल के रूप में उत्पन्न होने वाले जीवों की उत्पत्ति, संख्या, आदि के विषय में प्रायः प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के प्रथम उत्पलोद्देशक के अतिदेश-पूर्वक प्ररूपणा की गई है।

देवों की उत्पत्ति मूल में क्यों नहीं ?—प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद में वनस्पति में देवों की उत्पत्ति बतलाई गई है, किन्तु यहाँ शालि आदि वनस्पति के मूल में देवों की उत्पत्ति का निषेध इसलिए किया गया है कि देव वनस्पति के पुष्प आदि शुभ अंगों में उत्पन्न होते हैं, परन्तु उसके मूल आदि अशुभ अंगों में नहीं। इसलिए मूलपाठ में कहा गया है—**'णवरं देववज्जं।'** अर्थात् देव देवगति से आकर शालि आदि के मूल आदि में उत्पन्न नहीं होते।

वनस्पति में जघन्य एक, दो आदि की उत्पत्ति का कथन कैसे ?—यद्यपि वनस्पति में सामान्यतया प्रतिसमय अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं, किन्तु शालि आदि प्रत्येकशरीरी होने से इनमें जघन्यतः एक, दो आदि की उत्पत्ति का कथन सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है।

अपहार—उन शालि आदि के जीवों का प्रतिसमय अपहार किया जाए (एक-एक करके निकाला जाए), तो असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी बीत जाने पर भी वे पूरी तरह निकाले नहीं जा सकते। (यद्यपि ऐसा किसी ने कभी किया नहीं और किया भी नहीं जा सकता)।

कर्मबन्धक—शालि आदि के जीव ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के बन्धक हैं, अबन्धक नहीं।

लेश्या सम्बन्धी छब्बीस भंग—कृष्ण, नील और कापोत, इन तीन लेश्याओं के एकवचन और बहुवचन से सम्बन्धित असंयोगी तीन-तीन भंग होने से छह भंग असंयोगी होते हैं। कृष्ण-नील, कृष्ण-कापोत, और नील-कापोत, यों द्विकसंयोगी तीन भंग होते हैं। इनके प्रत्येक के एकवचन और बहुवचन से सम्बन्धित चार-चार भंग होने से कुल १२ भंग द्विकसंयोगी हुए। त्रिकसंयोगी एकवचन और बहुवचन सम्बन्धी आठ भंग होते हैं। इस प्रकार ये कुल ६+१२+८=२६ भंग होते हैं।

दो प्रकार की स्थिति—भव की अपेक्षा इनकी गमनागमन की स्थिति जघन्य दो भव की और उत्कृष्ट असंख्यात भव तक की है, जबकि काल की अपेक्षा स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक की है।

समुद्घात-प्राप्ति—शालि आदि जीवों में वेदना, कषाय और मरण, ये तीन समुद्घात होते हैं। ये समुद्घात करके भी मरते हैं और समुद्घात किये बिना भी मरते हैं। मर कर ये मनुष्य और तिर्यञ्च गति में जाते हैं, इत्यादि वर्णन ग्यारहवें शतक के प्रथम उद्देशक के अनुसार जान लेना चाहिए।

दृष्टि आदि—मिथ्यादृष्टि हैं, अज्ञानी हैं, काययोगी हैं, द्विविध उपयोगी हैं, इत्यादि सब उत्पलोद्देशक के अनुसार कहना चाहिए।[1]

॥ इक्कीसवां शतक : प्रथमवर्ग, प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०१

(ख) 'गोयमा ! नो अवंधगा, वंधए वा वंधगा वा।' —उत्पलोद्देशक शतक ११, उ. १.

(ग) भगवती. विवेचन भा. ६. (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९४५

पढमे सालिवग्गो : सेसा नव उद्देसगा

प्रथम 'शालि' वर्ग : शेष नौ उद्देशक

कन्द आदि के रूप में उत्पन्न शालि आदि जीवों का प्रथमोद्देशकानुसार निरूपण

२-१. अह भंते ! साली वीही जाव जवजवाणं, एएसि णं जे जीवा कंदत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ?

एवं कंदाहिगारेण सो चेव मूलुद्देसो अपरिसेसो भाणियव्वो जाव असतिं अदुवा अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

[उ. २, सू. १ प्र.] भगवन् ! शालि, व्रीहि, यावत् जवजव, इन सबके 'कन्द' रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[उ. २, सू. १ उ.] (गौतम !) 'कन्द' के विषय में, वही (पूर्वोक्त) मूल का समग्र उद्देशक, यावत्—'अनेक बार या अनन्त बार इससे पूर्व उत्पन्न हो चुके हैं, (यहाँ तक) कहना चाहिए। (विशेष यह है कि यहाँ 'मूल' के स्थान में 'कन्द' पाठ कहना चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

३-१. एवं खंधे वि उद्देसओ नेतव्वो।

[उ. ३, सू. १] इसी प्रकार (प्रथम उद्देशकवत्) स्कन्ध का (तृतीय) उद्देशक भी जानना चाहिए।

४-१. एवं तयाए वि उद्देसो भाणितव्वो।

[उ. ४, सू. १] इसी प्रकार (प्रथम उद्देशकवत्) 'त्वचा' का (चतुर्थ) उद्देशक भी कहना चाहिए।

५-१. साले वि उद्देसो भाणियव्वो।

[उ. ५, सू. १] शाखा (शाल) के विषय में भी (पूर्ववत् समग्र पंचम) उद्देशक कहना चाहिए।

६-१. पवाले वि उद्देसो भाणियव्वो।

[उ. ६, सू. १] प्रवाल (कोंपल) के विषय में भी (पूर्ववत् समग्र छठा) उद्देशक कहना चाहिए।

७-१. पत्ते वि उद्देसो भाणियव्वो।

एए सत्त वि उद्देसगा अपरिसेसं जहा मूले तहा नेयव्वा।

[उ. ७, सू. १] पत्र के विषय में भी (पूर्ववत् समग्र सप्तम) उद्देशक कहना चाहिए।

ये सातों ही उद्देशक समग्ररूप से 'मूल' उद्देशक के समान जानने चाहिए।

८-१. एवं पुप्फे वि उद्देसओ, नवरं देवो उववज्जति जहा उप्पलुद्देसे (स० ११ उ० १ सु० ५)। चत्तारि लेस्साओ, असीति भंगा। ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं अंगुलपुहत्तं। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ०।

[उ. ८, सू. १] 'पुष्प' के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत् समग्र अष्टम) उद्देशक कहना चाहिए। विशेष यह है कि 'पुष्प' के रूप में देव (आकर) उत्पन्न होता है। ग्यारहवें शतक के प्रथम उत्पलोद्देशक में जिस प्रकार चार लेश्याएँ और उनके अस्सी भंग कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी कहने चाहिए। इसकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट अंगुल-पृथक्त्व की होती है। शेष सब पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरने लगे।

९-१. जहा पुप्फे एवं फले वि उद्देसओ अपरिसेसो भाणियव्वो।

[उ. ९, सू. १] जिस प्रकार 'पुष्प' के विषय में कहा है, उसी प्रकार 'फल' के विषय में भी समग्र (नौवाँ) उद्देशक कहना चाहिए।

१०-१. एवं बीए वि उद्देसओ।

एए दस उद्देसगा।

॥ पढमो वग्गो समत्तो ॥

[उ. १०, सू. १] 'बीज' के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत् दसवाँ) उद्देशक कहना चाहिए।

इस प्रकार प्रथम वर्ग के ये दस उद्देशक पूर्ण हुए।

विवेचन—इन नौ उद्देशकों को नौ सूत्रों में दूसरे से दसवें उद्देशक के रूप में 'मूल' उद्देशक के अतिदेशपूर्वक (कुछ बातों में अन्तर के सिवाय) क्रमशः कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज नाम से समग्र एक-एक उद्देशक कहा गया है।

देवों की उत्पत्ति—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और पत्र, इन सात में देव उत्पन्न नहीं होते, वे पुष्प, फल और बीज के रूप में उत्पन्न होते हैं।

पुष्पादि में चार लेश्याएँ, अस्सी भंग—पुष्प, फल और बीज में चार लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि इनमें देव आकर उत्पन्न होते हैं। कृष्ण, नील, कापोत और तेजोलेश्याओं के एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा से असंयोगी चार-चार भंग गिनने से आठ भंग होते हैं। द्विकसंयोगी छह विकल्प होते हैं, उनके प्रत्येक के एकवचन और बहुवचन की अपेक्षा चार-चार भंग होने से ६ × ४ = २४ भंग होते हैं। त्रिकसंयोगी चार विकल्प होते हैं। एक-एक विकल्प के आठ-आठ भंग होने से ४ × ८ = ३२ भंग

होते हैं। चतुःसंयोगी सोलह भंग होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ८+२४+३२+१६=८० भंग होते हैं।[1]

इन दसों की अवगाहना—एक गाथा के अनुसार—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा, शाखा, प्रवाल और पत्र, इन सातों की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुष-पृथक्त्व की है। पुष्प, फल और बीज, इन तीनों की जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट अंगुलपृथक्त्व की है।[2]

॥ इक्कीसवाँ शतक : प्रथम वर्ग : शेष नौ उद्देशक समाप्त ॥

॥ प्रथम वर्ग सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०२
   (ख) भगवती. विवेचन. भाग ६ (पं. घेवरचन्दजी), पृ. २९४७

२. मूले कंदे खंधे तया य साले पवाल-पत्ते य।
   सत्तसु वि धणु-पुहुत्तं, अंगुलिमो पुप्फ-फल-बीए॥ —भगवती. अ. वृ., पत्र ८०२

बितिए 'कल' वग्गे : दस उद्देसगा

द्वितीय 'कल' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम शालिवर्गानुसार द्वितीय कलवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! कल-मसूर-तिल - मुग्ग-मास-निप्फाव-कुलत्थ-आलिसंदग-सडिण-पलिमंथगाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? एवं मूलाईया दस उद्देसगा भाणियव्वा जहेव सालीणं निरवसेसं तहेव ।

॥ एगवीसइमे सए : बितियो वग्गो समत्तो ॥ २१-२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कलाय (मटर), मसूर, तिल, मूंग, उड़द (माष), निष्पाव (वल्ल—वालोर नामक धान्य), कुलथ, आलिसंदक, सटिन और पलिमंथक (चना); इन सबके मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार शालि आदि के विषय में मूल आदि दस उद्देशक कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मूल आदि समग्र दस उद्देशक कहने चाहिए ।

॥ द्वितीय वर्ग समाप्त ॥

तंतिए 'अयसि' वग्गे : दस उद्देसगा

तृतीय 'अतसी' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम शालिवर्गानुसार तृतीय अतसी वर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! अयसि-कुसुंभ-कोद्दव-कंगु-रालग-तुवरी-कोद्दूसा-सण-सरिसव-मूलगबीयाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ? एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा जहेव सालीणं निरवसेसं तहेव भाणियव्वं ।

॥ एगवीसइमे सए : तइओ वग्गो समत्तो ॥ २१-३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! अलसी, कुसुम्ब, कोद्रव, कांग, राल, तूअर, कोदूसा, सण और सर्षप (सरसों) तथा मूलक बीज, इन वनस्पतियों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (गौतम !) 'शालि' आदि के (प्रथम वर्ग के) दस उद्देशकों के समान यहाँ भी समग्ररूप से मूलादि दस उद्देशक कहने चाहिए ।

॥ तृतीय वर्ग समाप्त ॥

चउत्थे 'वंस' वग्गे : दस उद्देसगा

चतुर्थ 'वंश' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम शालिवर्ग के अनुसार चतुर्थ वंशवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! वंस-वेणु-कणग-कक्कावंस-चारुवंस-उडाकुडा[1]-विमा-कंडा-वेणुया-कल्लाणीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ? एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा जहेव सालीणं, नवरं देवो सव्वत्थ वि न उववज्जति। तिन्नि लेसाओ। सव्वत्थ वि छव्वीसं भंगा। सेसं तं चेव।

।। एगवीसइमे सए : चउत्थो वग्गो समत्तो ।। २१-४ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! बांस, वेणु, कनक, कर्कावंश, चारुवंश, उड़ा (दण्डा), कुडा, विमा, कण्डा, वेणुका और कल्याणी, इन सब वनस्पतियों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (गौतम !) यहाँ भी पूर्ववत् शालि-वर्ग के समान मूल आदि दश उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि देव यहाँ किसी स्थान में उत्पन्न नहीं होते। अतः सर्वत्र तीन लेश्याएँ और उनके छव्वीस भंग जानने चाहिए। शेष सब पूर्ववत्।

।। चतुर्थ वर्ग समाप्त ।।

---

१. पाठान्तर—'दंडा'

पंचमे 'उक्खु' वग्गे : दस उद्देसगा

पंचम 'इक्षु' वर्ग : दश उद्देशक

चतुर्थ वंशवर्गानुसार पंचम इक्षुवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! उक्खु - उक्खुवाडिया - वीरण-इक्कड-भमास-सुंठि-सर-वेत्त-तिमिर-सतबोरग-नलाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ? एवं जहेव वंसवग्गो तहेव एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा नवरं खंधुद्देसे देवो उववज्जति । चत्तारि लेसाओ । सेसं तं चेव ।

॥ एगवीसइमे सए : पंचमो वग्गो समत्तो ॥ २१-५ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! इक्षु (गन्ना), इक्षुवाटिका, वीरण, इक्कड़, भमास, सुंठि, शर, वेत्र (बेंत), तिमिर, सतबोरग, (शतपर्वक) और नल, इन सब वनस्पतियों के मूल रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] जिस प्रकार वंशवर्ग (चतुर्थ) के मूलादि दस उद्देशक कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी मूलादि दस उद्देशक कहने चाहिए । विशेष यह है कि स्कन्धोद्देशक में देव भी उत्पन्न होते है, अतः उनके चार लेश्याएँ होती हैं (इत्यादि कहना चाहिए) । शेष पूर्ववत् ।

॥ पंचम 'इक्षु' वर्ग समाप्त ॥

छट्ठें 'दब्भ' वग्गें : दस उद्देसगा

छठा 'दर्भ' वर्ग : दश उद्देशक

चतुर्थ वंशवर्गानुसार छठे दर्भवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! सेडिय-भंतिय[1]-कोंतिय-दब्भ-कुस-पव्वग-पोदइल-अज्जुण-आसाढग-रोहियंस-मुतव-खीर-भुस-एरंड-कुरुकुंद-करकर-सुंठ-विभंगु-महुरयण[2]-थुरग-सिप्पिय-सुंकलितणाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ? एवं एत्थ वि दस उद्देसगा निरवसेसं जहेव वंसवग्गो।

॥ एगवीसइमे सए : छट्ठो वग्गो समत्तो ॥ २१-६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! सेडिय (संडिय), भंतिय (भण्डिय), कौन्तिय, दर्भ-कुश, पर्वक, पोदेइल (पोदीना), अर्जुन, आषाढक, रोहितक (रोहितांश), मुतअ, खीर (समू, अवखीर या तवखीर), भुस, एरण्ड, कुरुकुन्द, करकर, (करवर), सूंठ, विभंगु, मधुरयण (मधुवयण), थुरग, शिल्पिक और सुंकलि-तृण, इन सब वनस्पतियों के मूलरूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी चतुर्थ वंशवर्ग के समान समग्र मूल आदि दश उद्देशक कहने चाहिए।

॥ छठा वर्ग समाप्त ॥

पाठान्तर—१. भंडिय-कोतिय-दब्भ-कुस-दब्भग-योदइल-अंजुण—। २. वयण

सत्तमे 'अब्भ' वग्गे : दस उद्देसगा

सप्तम 'अभ्र' वर्ग : दश उद्देशक

चतुर्थ वंशवर्गानुसार सप्तम अभ्रवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! अब्भरुह-वायाण[1]-हरितग-तंदुलेज्जग-तण-वत्थुल-बोरग-मज्जार-[2]पाइ-विल्लि-पालक्क-दगपिप्पलिय-दव्वि-सोत्थिक-सायमंडुक्कि-मूलग-सरिसव-अंबिलसाग-जियंतगाणं,[3] एएसि णं जे जीवा मूल० ? एवं एत्थ वि दस उद्देसगा जहेव वंसवग्गो ।।

।। एगवीसइमे सए : सत्तमो वग्गो समत्तो ।। २१-७ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! अभ्ररुह, वायाण (वोयाण), हरीतक (हरड़), तंदुलेय्यक (चंदलिया), तृण, वत्थुल (बथुआ), बोरक (बेर, पोरक), मार्जारक, पाई, विल्ली (चिल्ली), पालक, दगपिप्पली, दर्वी, स्वस्तिक, शाकमण्डुकी, मूलक, सर्षप (सरसों), अम्बिलशाक, जीयन्तक (जीवन्तक), इन सब वनस्पतियों के मूल रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (गौतम !) यहाँ भी चतुर्थ वंशवर्ग के समान समग्ररूप में मूलादि दश उद्देशक कहने चाहिए ।

विवेचन—अभ्रवृक्ष का स्वरूप—एक वृक्ष में दूसरी जाति के वृक्ष के उग जाने को अभ्रवृक्ष कहते हैं । यथा—नीम के वृक्ष में पीपल के वृक्ष का उग जाना या वड़ में पीपल का उग जाना ।[4]

।। दश उद्देशक सहित सप्तम वर्ग समाप्त ।।

---

१. वोयाण । २. मज्जारयाईचिल्लियालक्क···· । ३. जिवंतगा····।

४. भगवती. विवेचन (पं. घेवरचंदजी) भा. ६, पृ. २९५४

अट्ठमे 'तुलसी' वग्गे : दस उद्देसगा

अष्टम तुलसी वर्ग : दश उद्देशक

चतुर्थ वंशवर्गानुसार अष्टम तुलसीवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! तुलसी-कण्हदराल-फणेज्जा-अज्जा-भूयणा[1]-चोरा-जीरा-दमणा-मरुया-इंदीवर-सयपुप्फाणं, एतेसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ? एत्थ वि दस उद्देसगा निरवसेसं जहा वंसाणं।

एवं एएसु अट्ठसु वग्गेसु असीतिं उद्देसगा भवंति।

॥ एगवीसतिमे सए : अट्ठमो वग्गो समत्तो ॥ २१-८ ॥

॥ एगवीसतिमं सयं समत्तं ॥ २१ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! तुलसी, कृष्णदराल, फणेज्जा, अज्जा, भूयणा (चूयणा), चोरा, जीरा, दमणा, मरुया, इन्दीवर और शतपुष्प, इन सबके मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (गौतम !) चौथे वंशवर्ग के समान यहाँ भी समग्र रूप से मूलादि दश उद्देशक कहने चाहिए।

इस प्रकार इन आठ वर्गों में अस्सी उद्देशक होते हैं।

विवेचन—इन आठों ही वर्गों में जिन-जिन वनस्पतियों का उल्लेख किया है, उनमें से अधिकांश वनस्पतियाँ अप्रसिद्ध हैं। उनकी जानकारी 'निघण्टु' आदि से कर लेनी चाहिए।

आठों ही वर्गों में प्रथम शालिवर्ग का अतिदेश किया गया है। इसलिए प्रथम वर्ग में किये गए दसों उद्देशकों के विवेचन के अनुसार सभी वर्गों का विवेचन समझ लेना चाहिए।

॥ अष्टम वर्ग समाप्त ॥

इक्कीसवाँ शतक सम्पूर्ण

---

१. अज्जाचूयणा

बावीसइमं सयं : बाईसवाँ शतक

वाईसवें शतक के छह वर्गों के नाम : इनके आठ उद्देशकों का निरूपण

१. तालेगट्ठिय १-२ बहुबीयगा ३ य गुच्छा ४ य गुम्म ५ वल्ली ६ य।
छद्दसवग्गा एए सट्ठिं पुण होंति उद्देसा ॥१॥

[१ गाथार्थ—] इस शतक में दस-दस उद्देशकों के छह वर्ग इस प्रकार हैं—(१) ताल, (२) अगस्तिक (या एकास्थिक), (३) बहुबीजक, (४) गुच्छ, (५) गुल्म और (६) वल्लि (बेल)। प्रत्येक वर्ग के १०-१० उद्देशक होने से, सब मिला कर साठ उद्देशक होते हैं।

विवेचन—वाईसवें शतक के वर्गों में प्रतिपाद्य विषय—(१) प्रथम वर्ग ताल—इसमें ताल, तमाल आदि वृक्षों के विषय में दश उद्देशक हैं। **(२) द्वितीय वर्ग एकास्थिक**—जिसमें एक गुठली हो, ऐसे नीम, आम, जामुन आदि का इसमें वर्णन है। **(३) तृतीय वर्ग—बहुबीजक**—इसमें बहुत बीज वाली अस्थिक, तिन्दुक आदि वनस्पतियों का वर्णन है। **(४) चौथा वर्ग—गुच्छ**—इसमें गुच्छ वाली बैंगन आदि वनस्पतियों का वर्णन है। **(५) पंचम वर्ग—गुल्म**—इसमें नवमालिका, सिरियक आदि वनस्पतियों से सम्बन्धित वर्णन है और (६) **छठा वर्ग—वल्ली**—इसमें बेलों से सम्बन्धित निरूपण है। प्रत्येक वर्ग के मूल आदि दस-दस उद्देशक पूर्ववत् हैं।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ८९७

पढमे तालवग्गे : दस उद्देसगा

प्रथम 'ताल' वर्ग : दश उद्देशक

इक्कीसवें शतक के प्रथमवर्गानुसार प्रथम तालवर्ग का निरूपण

२. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[२] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. अह भंते ! ताल-तमाल-तक्कलि-तेतलि-साल-सरलासारगल्लाणं जाव केयति-कयलि-कदलि-चम्मरुक्ख-गुंतरुक्ख-हिंगुरुक्ख-लवंगरुक्ख-पूयफलि-खज्जूरि-नालिएरीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! जीवा कओहिंतो उववज्जंति ?०

एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा कायव्वा जहेव सालीणं (स० २१ व० १ उ० १-१०), नवरं इमं नाणत्तं—मूले कंदे खंधे तयाए साले य, एएसु पंचसु उद्देसगेसु देवो न उववज्जति; तिण्णि लेसाओ; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं दसवाससहस्साइं; उवरिल्लेसु पंचसु उद्देसएसु देवो उववज्जति; चत्तारि लेसाओ; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वासपुहत्तं; ओगाहणा मूले कंदे धणुपुहत्तं, खंधे तयाए साले य गाउयपुहत्तं, पवाले पत्ते य धणुपुहत्तं, पुप्फे हत्थपुहत्तं, फले बीए य अंगुलपुहत्तं, सव्वेसिं जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । सेसं जहा सालीणं ।

एवं एए दस उद्देसगा ।

॥ बावीसइमे सए : पढमो वग्गो समत्तो ॥ २२-१ ॥

[३ प्र.] भगवन् ! ताल (ताड़), तमाल, तक्कली, तेतली, शाल, सरल (देवदार), सारगल्ल, यावत्—केतकी (केवड़ा), कदली (केला), चर्मवृक्ष, गुन्दवृक्ष, हिंगुवृक्ष, लवंगवृक्ष, पूगफल (सुपारी), खजूर और नारियल, इन सबके मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] (गौतम !) (इक्कीसवें शतक व. १ उ. १ सू. १-१० में अंकित) शालिवर्ग के दश उद्देशकों के समान यहाँ भी वर्णन समझना चाहिए। विशेष यह है कि इन वृक्षों के मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा और शाखा, इन पांचों अवयवों में देव आकर उत्पन्न नहीं होते, इसलिए इन पांचों में तीन लेश्याएँ होती हैं, शेष पांच में देव उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनमें चार लेश्याएँ होती हैं। पूर्वोक्त पांच की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की होती है, अन्तिम पांच की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट वर्ष-पृथक्त्व की होती है। मूल और कन्द की अवगाहना धनुष-पृथक्त्व की और स्कन्ध, त्वचा एवं शाखा की गव्यूति (गाऊ—दो कोस)-पृथक्त्व की

होती है। प्रवाल और पत्र की अवगाहना धनुष-पृथक्त्व की होती है। पुष्प की अवगाहना हस्त-पृथक्त्व की और फल तथा बीज की उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल-पृथक्त्व की होती है। इन सबकी जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है। शेष सब कथन शालिवर्ग के समान जानना चाहिए।

इस प्रकार ये दश उद्देशक पूर्ण हुए।

विवेचन—शालिवर्ग के अतिदेशपूर्वक दश उद्देशक—इस शतक के वर्गों और उद्देशकों का प्रतिपाद्य विषय और व्याख्या प्रायः पूर्वोक्त इक्कीसवें शतक के समान है।

प्राचीन आचार्यों द्वारा निरूपित गाथा—देवों में से आकर किन-किन में उत्पत्ति होती है, किन में नहीं ? इसके लिए एक गाथा है—

'पत्त-पवाले पुप्फे फले य बीए य होइ उववाओ।
रुक्खेसु सुरगणाणं पसत्थ-रस-वन्न-गंधेसु ॥'

अर्थात्—इनमें से प्रशस्त रस, वर्ण और गन्ध वाले पत्र, प्रवाल, पुष्प, फल और बीज में देव आकर उत्पन्न होते हैं।[1]

॥ बाईसवाँ शतक : प्रथम वर्ग समाप्त ॥

□□

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०४

बीए 'एगट्ठिय' वग्गे : दस उद्देसगा

द्वितीय 'एकास्थिक' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम तालवर्गानुसार द्वितीय एकास्थिक वर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! निंबंब-जंबु-कोसंब-ताल-अंकोल्ल-पीलु-सेलु-सल्लइ-मोयइ-मालुय-बउल-पलास-करंज-पुत्तंजीवग-ऽरिट्ठ-विहेलग-हरियग-भल्लाय-उंबरिय[1]- खीरणि-धायइ-पियाल-पूइय-णिवाग-सेण्हण-पासिय-सीसव-अयसि-पुन्नाग-नागरुक्ख-सीवण्णि-असोगाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ?

एवं मूलाईया दस उद्देसगा कायव्वा निरवसेसं जहा तालवग्गे।

।। बावीसइमे सए : बितिओ वग्गो समत्तो ।। २२-२ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! नीम, आम्र, जम्बू (जामुन), कोशम्ब, ताल, अंकोल्ल, पीलु, सेलु, सल्लकी, मोचकी, मालुक, वकुल, पलाश, करंज, पुत्रंजीवक, अरिष्ट (अरीठा), वहेड़ा, हरितक (हर्डे), भिल्लामा, उम्वरिय (उम्वभरिक), क्षीरणी (खिरनी), धातकी (धावड़ी), प्रियाल (चारोली), पूतिक, निवाग (नीपाक), सेण्हक, पासिय, शीशम, अतसी, पुन्नाग (नागकेसर), नागवृक्ष, श्रीपर्णी और अशोक, इन सब वृक्षों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी तालवर्ग के समान समग्र रूप से मूल आदि दस उद्देशक कहने चाहिए।

।। बाईसवें शतक का द्वितीय वर्ग समाप्त ।।

□□

पाठान्तर—१. उंबभरिय

तइए 'बहुबीयग' वग्गो : दस उद्देसगा

तृतीय 'बहुबीजक' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम तालवर्गानुसार तृतीय बहुबीजकवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! अत्थिय-तेंदुय-बोर-कविट्ठ,अंबाडग-माउलुंग[1]-बिल्ल-आमलग-फणस-दाडिम-आसोट्ठ[2]-उंबर-वड-णग्गोह-नंदिरुक्ख- पिप्पलि-सतर-पिलक्खुरुक्ख - काउंबरिय- कुत्थुंभरिय- देवदालि-तिलग-लउय-छत्तोह-सिरीस-सत्तिवण्ण-दधिवण्ण-लोद्ध-धव-चंदण-अज्जुण-णीव-कुडग-कलंबाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति ते णं भंते ! ० ?

एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा तालवग्गसरिसा नेयव्वा जाव बीयं।

॥ बावीसइमे सए : तइओ वग्गो समत्तो ॥ २२-३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! अगस्तिक, तिन्दुक, बोर, कवीठ, अम्बाडक, बिजौरा, बिल्व (बेल), आमलक (आँवला), फणस (अनन्नास), दाड़िम (अनार), अश्वत्थ (पीपल), उंबर (उदुम्बर), बड़, न्यग्रोध, नन्दिवृक्ष, पिप्पली (पीपर), सतर, प्लक्षवृक्ष (ढाक का पेड़), काकोदुम्बरी, कुस्तुम्भरी, देवदालि, तिलक, लकुच (लोची), छत्रौघ, शिरीष, सप्तपर्ण (सादड़), दधिपर्ण, लोध्रक (लोद), धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज और कदम्ब, इन सब वृक्षों के मूलरूप से जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी प्रथम तालवर्ग के सदृश मूल आदि (मूल से लेकर) यावत् बीज तक दस उद्देशक कहने चाहिए।

॥ बाईसवें शतक का तृतीय वर्ग समाप्त ॥

□□

---

१. माउलिंग २. आसत्थ

चउत्थे 'गुच्छ' वग्गो : दस उद्देसगा

चतुर्थ 'गुच्छ' वर्ग : दश उद्देशक

इक्कीसवें शतक के चतुर्थवर्गानुसार चतुर्थ गुच्छवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! वाइंगणि-अल्लइ-बोंडइ० एवं जहा पण्णवणाए गाहाणुसारेणं[1] णेयव्वं जाव गंजपाडला-दासि-अंकोल्लाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ?

एवं एत्थ वि मूलादीया दस उद्देसगा[2] जाव बीयं ति निरवसेसं जहा वंसवग्गो (स० २१ व० ४)।

॥ बावीसइमे सए : चउत्थो वग्गो समत्तो ॥ २२-४ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! बैंगन, अल्लइ, बोंडइ (पोंडइ) इत्यादि वृक्षों के नाम प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद की गाथा के अनुसार जानना चाहिए, यावत् गंजपाटला, दासि (वासी) अंकोल्ल तक, इन सभी वृक्षों (पौधों) के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी मूल से लेकर यावत् बीज तक समग्ररूप से मूलादि दस उद्देशक (इक्कीसवें शतक चतुर्थ) वंशवर्ग के समान जानने चाहिए।

॥ बाईसवें शतक का चतुर्थ वर्ग समाप्त ॥

□□

---

१. देखिये प्रज्ञापनासूत्र की ये गाथाएँ—

वाइंगणि-सल्लइ-थुंडइ य तह कत्थुरी य जीभुमणा।
रूवी आढईणीली तुलसी तह माउलिंगी य ॥ १८ ॥

इत्यादि यावत्—जीवइ केयइ तह गंजपाडला दा (वा) सि अंकोले ॥ २२ ॥ —प्रज्ञापना. पद १, पत्र ३२-२.

२. अधिकपाठ तालवग्गा-सरिसा नेयव्वा.....

पंचमे 'गुम्म' वग्गो : दस उद्देसगा

पंचम 'गुल्म' वर्ग : दश उद्देशक

इक्कीसवें शतक के प्रथम वर्गानुसार पंचम गुल्मवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! सिरियक-णवमालिय-कोरंटग-बंधुजीवग-मणोज्जा, जहा पण्णवणाए पढमपए,[1] गाहाणुसारेणं जाव नलणीय-कुंद-महाजातीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ?

एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा निरवसेसं जहा सालीणं (स० २१ व० १ उ० १-१०)।

॥ बावीसइमे सए : पंचमो वग्गो समत्तो ॥ २२-५ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! सिरियक, नवमालिक, कोरंटक, वन्धुजीवक, मणोज्ज, इत्यादि सव नाम प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद की गाथा के अनुसार, यावत् नलिनी, कुन्द और महाजाति (तक जानने चाहिए;) इन सव पौधों के मूलरूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी मूलादि समग्र दश उद्देशक (इक्कीसवें शतक के प्रथम) शालिवर्ग के समान (जानने चाहिए)।

॥ बाईसवें शतक का पंचम वर्ग समाप्त ॥

□□

---

१. देखिये प्रज्ञापना पद १ की वे गाथाएँ—
सेण (सिरि) यए णोमालिय कोरंटय-वंधुजीवग-मणोज्जे ।
पिइयं पाणं कणयर कुंजय तह सिंदुवारे य ॥ २३ ॥
जाई-मोग्गर तह जूहिया य तह मल्लिया य वासंती ।
वत्थुल कत्थुल सेवाल गंठी मगदंतिया चेव ॥ २४ ॥
चंपक-जी (जा) ई णीइया कुंदो तहा महाजाई ॥ —प्रज्ञापना पद १, पत्र ३२-२

छट्ठे 'वल्ली' वग्गे : दस उद्देसगा

छठा 'वल्ली' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम तालवर्गानुसार छठे वल्लिवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! पूसफलि-कालिंगी-तुंबी-तउसी-एला-वालुंकी एवं पदाणि छिंदियव्वाणि पण्णवणागाहाणुसारेणं जहा तालवग्गे जाव दधिफोल्लइ[1]-काकलि-सोक्कलि-अक्कबोंदीणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ?

एवं मूलाईया दस उद्देसगा कायव्वा जहा तालवग्गे। नवरं फलउद्देसे[2], ओगाहणाए जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं; ठिती सव्वत्थ जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं वासपुहत्तं। सेसं तं चेव।

एवं छसु वि वग्गेसु सट्ठिं उद्देसगा भवंति।

॥ बावीसइमे सए : छट्ठो वग्गो समत्तो ॥ २२-६ ॥

॥ बावीसतिमं सयं समत्तं २२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! पूसफलिका, कालिंगी (तरबूज की बेल), तुम्बी, त्रपुषी (ककड़ी), एला (इलायची), वालुंकी, इत्यादि वल्लीवाचक पद (नाम) प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद की गाथा के अनुसार अलग कर लेने चाहिए, फिर तालवर्ग के समान, यावत् दधिफोल्लइ, काकली (कागणी), सोक्कली और अर्कबोन्दी, इन सब वल्लियों (बेलों—लताओं) के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं। ऐसा प्रश्न समझना चाहिए।

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी तालवर्ग के समान मूल आदि दस उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि फलोद्देशक में फल की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुष-पृथक्त्व की होती है। सब जगह स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट वर्ष-पृथक्त्व की है। शेष सर्व पूर्ववत् है।

पाठान्तर—१. 'दहफुल्लइ कागणि-मोगली' २. 'फलउद्देसओ'

विवेचन—यहाँ वल्लियों के नाम-निर्देश प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम पद की छव्बीसवीं गाथा से लेकर तीसवीं गाथा तक में इस प्रकार हैं—

पुसफली कालिंगी तुंबी तउसी य एलवालुंकी ।
घोसाडइ पंडोला, पंचंगुली आयणीली य ।।२६।। यावत्
दधिफोल्लइ कागली सोगली य तह अक्कबोंदी य ।।३०।।[1]

इस प्रकार इन छह वर्गों में सब मिलाकर साठ उद्देशक होते हैं ।

।। बाईसवें शतक का छठा वर्ग समाप्त ।।

।। बाईसवाँ शतक सम्पूर्ण ।।

□□

१. (क) प्रज्ञापनासूत्र पद १, पत्र ३३/१
(ख) भगवती. विवेचन (पं. घेवरचन्दजी), भा. ६, पृ.२९६५

तेवीसइमं सयं : तेईसवाँ शतक

तेईसवें शतक का मंगलाचरण

१. नमो सुयदेवयाए भगवतीए ।[1]

[१] भगवद्वाणीरूप श्रुतदेवता भगवती को नमस्कार हो ।

विवेचन—यह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का मध्य-मंगलाचरण प्रतीत होता है ।

तेईसवें शतक के पांच वर्गों के नाम तथा उसके पचास उद्देशकों का निरूपण

२. आलुय १ लोही २ अवए ३ पाढा ४ तह मासवण्णि वल्ली य ५ ।
पंचेते दसवग्गा पण्णासं होंति उद्देसा ॥१॥

[२ गाथार्थ—] तेईसवें शतक में दस-दस उद्देशकों के पांच वर्ग ये हैं—(१) आलुक, (२) लोही, (३) अवक, (४) पाठा और (५) माषपर्णी वल्ली । इस प्रकार पांच वर्गों के पचास उद्देशक होते हैं ॥१॥

विवेचन—पांच वर्गों का संक्षिप्त परिचय—(१) **प्रथम वर्ग : आलुक** में-आलू, मूला, आर्द्रक, हल्दी आदि साधारण वनस्पति के प्रकार सम्बन्धी मूलादि १० उद्देशक हैं । (२) **द्वितीय वर्ग : लोही** में लोही, नीहू, थीहू आदि अनन्तकायिक वनस्पति से सम्बन्धित दस उद्देशक हैं । (३) **तृतीय वर्ग : आय** में अवक आदि वनस्पति सम्बन्धी दस उद्देशक हैं । (४) **चतुर्थ वर्ग : पाठा** में पाठा, मृगवालुकी आदि वनस्पति सम्बन्धी दस उद्देशक हैं और (५) **पंचम वर्ग : माषपर्णी** आदि वनस्पतियों से सम्बन्धित दश उद्देशात्मक है । प्रत्येक वर्ग के दस-दस उद्देशक होने से इस शतक में पांचों वर्गों के ५० उद्देशक होते हैं ।[2]

---

१. भगवतीसूत्र चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवाद, पं. भगवानदासजी सम्पादित) प्रति में (पृ. १३६) यह मंगलाचरण-पाठ नहीं है । —सं.

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०५

पढमे 'आलुय' वग्गो : दस उद्देसगा

प्रथम आलुक वर्ग : दश उद्देशक

इक्कीसवें शतक के चतुर्थवर्गानुसार प्रथम आलुकवर्ग का निरूपण

३. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[३] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

४. अह भंते ! आलुय-मूलग-सिंगबेर-हलिद्द-रुरु-कंडरिय-जारु-छीरबिरालि-किट्ठि-कुंदु-कण्हकडसु-मधुपयलइ-महुसिंगि-णेरुहा-सप्पसुगंधा-छिन्नरुहा-बीयरुहाणं, एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए वक्कमंति० ? एवं मूलाईया दस उद्देसगा कायव्वा वंसवग्ग (स० २१ व० ४) सरिसा, नवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति; अवहारो-गोयमा ! ते णं अणंता समये समये अवहीरमाणा अवहीरमाणा अणंताहिं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहिं एवतिकालेणं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिया; ठिती जहन्नेण वि उक्कोसेण बि अंतोमुहुत्तं। सेसं तं चेव।

॥ तेवीसइमे सए : पढमो वग्गो समत्तो ॥ २३-१ ॥

[४ प्र.] भगवन् ! आलू, मूला, अदरक (शृंगबेर), हल्दी, रुरु, कंडरिक, जीरु, क्षीर-विराली (क्षीर विदारीकन्द), किट्ठि, कुन्दु, कृष्णकडसु, मधु, पयलइ, मधुशृंगी, निरुहा, सर्पसुगन्धा, छिन्नरुहा और बीजरुहा, इन सब (साधारण) वनस्पतियों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! यहाँ (इक्कीसवें शतक के चतुर्थ) वंशवर्ग के (दश उद्देशकों के) समान मूलादि दस उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इनके मूल के रूप में जघन्य एक, दो या तीन, और उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात और अनन्त जीव आकर उत्पन्न होते हैं। हे गौतम ! यदि एक-एक समय में, एक-एक जीव का अपहार किया जाए तो अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल तक किये जाने पर भी उनका अपहार नहीं हो सकता; (यद्यपि ऐसा किसी ने किया नहीं और कोई कर भी नहीं सकता); क्योंकि उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। शेष सब पूर्ववत्।

॥ तेईसवें शतक का प्रथम वर्ग समाप्त ॥

□□

बिइए 'लोही'वग्गे : दस उद्देसगा

द्वितीय 'लोही'वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम वर्गानुसार द्वितीय लोहीवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! [1]लोही-णीहू-थीहू-थीभगा-अस्सकण्णी-सीहकण्णी-सीउंढी-मुसुंढीणं, एएसि णं जे जीवा मूल० ? एवं एत्थ वि दस उद्देसगा जहेव आलुवग्गे, णवरं ओगाहणा तालवग्गसरिसा, सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ बितियो वग्गो समत्तो ॥ २३-२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! लोही, नीहू, थीहू, थीभगा, अश्वकर्णी, सिंहकर्णी, सींउंढी और मुसुंढी इन सब वनस्पतियों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! आलुकवर्ग के समान यहाँ भी मूलादि दस उद्देशक (कहने चाहिए)। विशेष यह है कि इनकी अवगाहना तालवर्ग के समान है। शेष (सब कथन) पूर्ववत् (समझना चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ तेईसवें शतक का द्वितीय वर्ग समाप्त ॥

□□

---

१. पाठभेद—प्रज्ञापनासूत्र में कुछ पदों में पाठभेद है। यथा—

अवए पणए सेवाल लोहिणी, मिहूत्थिहूत्थिभागा।
असकण्णी सीहकण्णी सिउंढि तत्तो मुसुढी य॥ ४३॥ —प्रज्ञापना पद १, पत्र ३४-२

तइए 'अवय' वग्गे : दस उद्देसगा

तृतीय अवकवर्ग : दश उद्देशक

प्रथम वर्गानुसार तृतीय अवकवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! आय[1]-काय-कुहुण[2]-कुंदुक्क[3]-उव्वेहलिय-सफा-सज्झा[4]-छत्ता-वंसाणिय-कुराणं[5], एएसि णं जे जीवा मूलत्ताए० ? एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा निरवसेसं जहा आलुवग्गे।[6]

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ ततिओ वग्गो समत्तो ॥ २३-३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! आय, काय, कुहणा, कुन्दुक्क, उव्वेहलिय, सफा, सज्झा, छत्ता, वंशानिका और कुरा (अथवा कुमारी); इन वनस्पतियों के मूल रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी आलु-वर्ग के मूलादि समग्र दस उद्देशक कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि।

॥ तेईसवें शतक का तृतीय वर्ग समाप्त ॥

□□

पाठान्तर—१. अवय कवय।

२. 'कुहणा अणेगविहा प. तं.—आए काए कुहणे कुणक्के दव्वहलिया, सफाए सज्झाए छत्तोए वंसीण हिताकुरए।' —प्रज्ञापना. प. १, पत्र ३३-२

३. कुंदुरुक्क तथा कुहुक्क ४. सज्जा ५. कुमाराणं

६. अधिकपाठ—नवरं ओगाहणा तालवग्गसरिसा। सेसं तं चेव।

चउत्थे 'पाठा' वग्गे : दस उद्देसगा

चतुर्थ 'पाठा'वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम वर्गानुसार चतुर्थ पाठावर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! पाढा-मियवालुंकि-मधुररस-रायवल्लि-पउम-मोढरि-दंति-चंडीणं[१], एएसि णं जे जीवा मूल० ?

एवं एत्थ वि मूलाईया दस उद्देसगा आलुयवग्गसरिसा, नवरं ओगाहणा जहा वल्लीणं, सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। तेवीसइमे सए : चउत्थो वग्गो समत्तो ।। २३-४ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! पाठा, मृगवालुंकी, मधुररसा, राजवल्ली, पद्मा, मोढरी, दन्ती और चण्डी, इन सब वनस्पतियों के मूल के रूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इस विषय में भी आलूवर्ग के समान मूलादि दश उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इनकी अवगाहना (२२ वें शतक के छठे) वल्लीवर्ग के समान समझनी चाहिए। शेष सब वर्णन पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' इत्यादि।

।। तेईसवें शतक का चतुर्थ वर्ग समाप्त ।।

□□

---

१. **देखिये प्रज्ञापना. में**—पाढा मियवालुकी महुररसा चेव रायवत्ती(ल्ली) य।
पउमा माढरि दंतीति चंडीकिट्ठी त्ति यावरा। —प्रज्ञापना प. १, पत्र ३४-२

पंचमे 'मासपण्णी' वग्गे : दस उद्देसगा

पंचम 'माषपर्णी' वर्ग : दश उद्देशक

प्रथम वर्गानुसार माषपर्णी नामक पंचमवर्ग का निरूपण

१. अह भंते ! मासपण्णी-मुग्गपण्णी-जीवग-सरिसव-करेणुया-काओलि-खीरकाओलि-भंगि-णहि-किमिरासि-भद्दमुत्थ-णंगलइ-[1]पयुयकिण्णा-पयोयलया-ढेहरेणुया-लोहीणं,[2] एएसि णं जे जीवा मूल० ?

एवं एत्थ वि दस उद्देसगा निरवसेसं आलुयवग्गसरिसा।

।। तेवीसइमे सए : पंचमो वग्गो समत्तो ।। २३-५ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! माषपर्णी, मुद्गपर्णी, जीवक, सरसव, करेणुका, काकोली, क्षीरकाकोली, भंगी, णही, कृमिराशि, भद्रमुस्ता, लाँगली, पयोदकिण्णा, पयोदलता, (पाढहढ) हरेणुका और लोही, इन सब वनस्पतियों के मूलरूप में जो जीव उत्पन्न होते हैं, वे कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (गौतम !) यहाँ आलुकवर्ग के समान मूलादि दश उद्देशक समग्ररूप से कहने चाहिए।

एवं एएसु पंचसु वि वग्गेसु पण्णासं उद्देसगा भाणियव्व त्ति। सव्वत्थ देवा ण उववज्जंति। तिन्नि लेसाओ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। तेवीसतिमं सयं समत्तं ।। २३ ।।

इस प्रकार इन पांचों वर्गों के कुल मिला कर (मूलादि) पचास उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इन पांचों वर्गों में कथित वनस्पतियों के सभी स्थानों में देव आकर उत्पन्न नहीं होते; इसलिए इन सब में तीन लेश्याएँ जाननी चाहिए।

---

१. तुलना कीजिए—मासपण्णि मुग्गपण्णी जीवय (व) रसहे य रेणुया चेव।
काओली खीरकाओली तहा भंगी नही इय ।। ४७ ।।
किमिरासी भद्दमुच्छा णंगलइ पेलुया इय।
किण्ह पडले य हढे हरतणुया चेव लोयाणी ।। ४८ ।।
कण्हे कंदे वज्जे सूरणकंदे तहेव खल्लूरे।
एए अणंतजीवा जे यावन्ने तहाविहा ।। ४९ ।। —प्रज्ञापना. पद १, पत्र ३४-२

२. पाठान्तर—'पओयकिण्णा पडल पाढे-हरेणुया···· ।'

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पांचों वर्गों में बतलाई हुई वनस्पतियाँ प्रायः अप्रसिद्ध हैं। प्रज्ञापना के प्रथमपद में इनका विस्तृत वर्णन तथा विवेचन है। जिज्ञासुओं को वहीं देखना चाहिए।

।। तेईसवाँ शतक सम्पूर्ण ।।

□□

चउवीसइमं सयं : चौवीसवाँ शतक

प्राथमिक

※ यह व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र का चौवीसवाँ शतक है ।

※ कतिपय दर्शनों का अभिमत है कि ईश्वर से प्रेरित होकर जीव स्वर्ग या नरक में जाता है । वह चाहे तो जीव को कठोर दण्ड दे सकता है, जीव की गति-मति बदल सकता है । वही सांसारिक जीवों का कर्त्ता-धर्ता-हर्त्ता है । परन्तु जैनदर्शन कहता है कि सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार चारों गतियों में से किसी भी गति या योनि में जाता है; उसको शरीर, इन्द्रिय, ज्ञान, अज्ञान, योग, उपयोग, लेश्या, वेद, सुख-दुःख-वेदन, आयुष्य, अध्यवसाय तथा अन्य साधन अपने-अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार मिलते हैं ।

※ अवतार या तीर्थंकर कहलाने वाले महापुरुष भी पूर्वकृत कर्मों को भोगे विना छूट नहीं सकते । बड़े-बड़े सत्ताधारी, धनपति, विद्यावान्, बलवान् भी कर्मों के चक्कर से छूट नहीं सकते । यह बात दूसरी है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कर्मों का फल भोगते समय समभाव से भोगते हैं, पुराने कर्मों का क्षय करते हैं, नये कर्मों को आने से या बंधने से रोकते हैं । परन्तु जब तक कर्मों का—विशेषतः घातीकर्मों का क्षय नहीं हो जाता, तब तक व्यक्ति संसार में—चारों गतियों, विविध योनियों में भ्रमण करता रहता है ।

※ प्राणिमात्र के प्रति परमवत्सल भगवान् महावीर ने यही तथ्य समझाने के लिए चौवीस उद्देशकों से युक्त यह शतक प्ररूपित किया है । गणधर श्री गौतम स्वामी को लक्ष्य करके समस्त संसारी जीवों को, विशेषतः मनुष्यों को परोक्ष रूप से यह सद्बोध दिया है कि अगर जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होना हो, उपपात आदि वीस बोलों से छुटकारा पाना हो तो इन सबके मूल शुभ-अशुभ कर्मों से मुक्त होने और ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप द्वारा आत्मशुद्धि करने तथा आत्मस्वरूप में रमण करने का प्रयत्न करो ।

※ इसी उद्देश्य से प्रस्तुत शतक में चौवीस दण्डकवर्ती समस्त सांसारिक जीवों को लेकर २० द्वारों के माध्यम से शुभाशुभ कर्मजन्य वीस बोलों का निरूपण किया गया है । प्रत्येक दण्डक के अनुसार एक-एक उद्देशक की रचना की गई है । प्रत्येक दण्डकवर्ती जीव के साथ २० बोलों का कथन किया गया है । निःसंदेह आत्महितैषी मुमुक्षु जीवों के लिए प्रत्येक उद्देशक मननीय है । जब तक शरीर है, तब तक कुछ शुभ तत्त्व इनमें से कथंचित् उपादेय भी हैं ।

※ वीस द्वार इस प्रकार हैं—(१) उपपात, (२) परिमाण, (३) संहनन, (४) ऊँचाई (अवगाहना), (५) संस्थान, (६) लेश्या, (७) दृष्टि, (८) ज्ञान, अज्ञान, (९) योग, (१०) उपयोग ।(११)

संज्ञा, (१२) कषाय, (१३) इन्द्रिय, (१४) समुद्घात, (१५) वेदना, (१६) वेद, (१७) आयुष्य, (१८) अध्यवसाय, (१९) अनुबन्ध और (२०) कायसंवेध ।[1]

* चौवीस दण्डक इस प्रकार हैं—(१) सात नरक पृथ्वियों का एक दण्डक, (२-११) असुरकुमार आदि १० भवनपति देवों के १० दण्डक, (१२-१६) पांच स्थावरों के पांच दण्डक, (१७-१९) तीन विकलेन्द्रियों के तीन दण्डक, (२०) तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय का एक दण्डक, (२१) मनुष्य का एक दण्डक, (२२) वाणव्यन्तर देव का एक दण्डक, (२३) ज्योतिष्क देव का एक दण्डक और (२४) वैमानिक देव का एक दण्डक ।[2]

* उपपात का अर्थ है—नैरयिकादि कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

* परिमाण का अर्थ—नैरयिकादि में उत्पन्न होने वाले जीवों की संख्या । संहनन का अर्थ है—शरीर की अस्थियों आदि की रचना । संस्थान—आकृति, डीलडौल । उच्चत्व –शरीर की ऊँचाई । लेश्या—कृष्णादि द्रव्यों के सान्निध्य से आत्मा में उत्पन्न हुआ शुभाशुभ परिणाम । अथवा एक प्रकार की दीप्ति (ओरा) । दृष्टि का अर्थ है—दर्शन (सम्यक् या मिथ्या बुद्धि) ज्ञान, अज्ञान, इन्द्रिय वेदना आदि प्रसिद्ध हैं । योग—मन-वचन-काया का व्यापार (प्रवृत्ति) । उपयोग—ज्ञान-दर्शनरूप व्यापार (या ध्यान) । संज्ञा—आहार आदि की अभिलाषा या बुद्धि । कषाय—क्रोध-मान-माया-लोभरूप वृत्ति, क्रोधादि का रस-विशेष । समुद्घात का अर्थ है—जिस समय आत्मा वेदना, कषाय आदि से परिणत होता है, उस समय वह अपने कतिपय प्रदेशों को शरीर से बाहर निकाल करके उन प्रदेशों से वेदनीय-कषायादि कर्मप्रदेशों की जो निर्जरा करता है, वह । वेद का अर्थ है—मोहनीयकर्म का एक भेद, जिसके उदय से मैथुन की इच्छा होती है । आयुष्य का अर्थ है—किसी पर्याय में जीवित रहने का कारणभूत कर्म । अध्यवसाय का अर्थ है, आत्मा का शुभाशुभ परिणाम, विचार या मानसिक संकल्प । अनुबन्ध का अर्थ है—विवक्षित पर्याय से अविच्छिन्न रहना । कायसंवेध का अर्थ है—विवक्षित काय से कायान्तर (दूसरी काय) या तुल्यकाय में जाकर पुनः यथासम्भव उसी काया में आना । निष्कर्ष यह है कि ये सब जीव के शरीर, मन, वचन आदि से सम्बद्ध एवं कर्मजन्य विविध परिणतियाँ हैं, जो जन्म-मरण के साथ लगी हुई हैं ।

* कुल मिलाकर इसमें आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान का सार भरा हुआ है, जिससे प्रेरणा लेकर मुमुक्षु भव्य साधक अपने आत्मकल्याण का पथ आसानी से पकड़ सकता है ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ९०४ से ९६८

२. दण्डकप्रकरण ।

चउवीसतिमं सयं : चौवीसवां शतक

चौवीसवें शतक के चौवीसदण्डकीय चौवीस उद्देशकों में उपपात आदि वीस द्वारों का निरूपण

१. उववाय १ परीमाणं २ संघयणुच्चत्तमेव ३-४ संठाणं ५।
लेस्सा ६ दिट्ठी ७ णाणे अण्णाणे ८ जोग ९ उवओगे १०॥१॥
सण्णा ११ कसाय १२ इंदिय १३ समुग्घाए १४ वेदणा १५ य वेदे १६ य।
आउं १७ अज्झवसाणा १८ अणुबंधो १९ कायसंवेहो २०॥२॥
जीवपए जीवपए जीवाणं दंडगम्मि उद्देसो।
चउवीसतिमम्मि सए चउवीसं होंति उद्देसा॥३॥

[१ गाथार्थ—] चौवीसवें शतक में चौवीस उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) उपपात, (२) परिमाण, (३) संहनन, (४) उच्चता (ऊँचाई), (५) संस्थान, (६) लेश्या, (७) दृष्टि, [८] ज्ञान, अज्ञान, (९) योग, (१०) उपयोग, (११) संज्ञा, (१२) कषाय, (१३) इन्द्रिय, (१४) समुद्घात, (१५) वेदना, (१६) वेद, (१७) आयुष्य, (१८) अध्यवसाय, (१९) अनुबन्ध, (२०) काय-संवेध ॥ १-२ ॥ [ये वीस द्वार हैं।

यह सब विषय चौवीस दण्डक में से प्रत्येक जीवपद में कहे जायेंगे। [अर्थात्—प्रत्येक दण्डक पर ये वीस द्वार कहे जायेंगे।] इस प्रकार चौवीसवें शतक में चौवीस दण्डक-सम्बन्धी चौवीस उद्देशक कहे जायेंगे।

विवेचन—उपपात आदि वीस द्वारों का अर्थ—(१) उपपात—नैरयिक आदि कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?, **(२) परिमाण**—नैरयिकादि में जो जीव उत्पन्न होते हैं, उन में उत्पद्यमान जीवों का परिमाण (गणना), (३ से १८ तक) संहनन से लेकर अध्यवसाय तक का अर्थ स्पष्ट है। **(१९) अनुबन्ध**—विवक्षित पर्याय से अविच्छिन्न रहना। **(२०) कायसंवेध**—विवक्षित काया से कायान्तर (दूसरी काया) में अथवा तुल्यकाया में जाकर पुनः यथासम्भव उसी काया में आना।[१]

इन वीस द्वारों में से पहला-दूसरा द्वार तो जीव जहाँ उत्पन्न होता है, उस स्थान की अपेक्षा से है। तीसरे से उन्नीसवें तक सत्रह द्वार, उत्पन्न होने वाले जीव के उस भव-सम्बन्धी हैं और वीसवाँ द्वार दोनों भव-सम्बन्धी सम्मिलित है।[२]

---

१. [क] भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०८
[ख] भगवती. विवेचन [पं घेवरचन्दजी] भा. ६, पृ. २९७५
२. वही, भाग ६, पृ. २९७५

पढमो नेरइय - उद्देसओ

प्रथम उद्देशक : नैरयिक का उपपात

गति की अपेक्षा से नैरयिकादि-उपपात-निरूपण

२. रायगिहे जाव एवं वदासि—

[२] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. [१] नेरइया णं भंते ! कम्रोहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति, नो देवेहिंतो उववज्जंति।

[३-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से उत्पन्न होते हैं ?, या तिर्यग्योनिकों से उत्पन्न होते हैं, मनुष्यों से उत्पन्न होते हैं, अथवा देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३-१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, (किन्तु) तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं, मनुष्यों से भी उत्पन्न होते हैं, (परन्तु) देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते।

[२] जति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, बेइंदियतिरिक्ख०, तेइंदियतिरिक्ख०, चउरिंदियतिरिक्ख०, पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नो एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, नो बेइंदिय०, नो तेइंदिय०, नो चउरिंदिय०, पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति।

[३-२ प्र.] (भगवन् !) यदि (नैरयिकजीव) तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, या द्वीन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से, त्रीन्द्रिय तिर्यञ्चयोनियों से, चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से, अथवा पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३-२ उ.] गौतम ! वे न तो एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं और न द्वीन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से, न त्रीन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से और न चतुरिन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, (किन्तु) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं।

[३] जति पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति, असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो वि उववज्जंति।

[३-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या संज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, या असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं।

[३-३ उ.] गौतम ! वे संज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, असंज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से भी उत्पन्न होते हैं।

[४] जति सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति, थलचरेहिंतो उववज्जंति, खहचरेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! जलचरेहिंतो वि उववज्जंति, थलचरेहिंतो वि उववज्जंति, खहचरेहिंतो वि उववज्जंति।

[३-४ प्र.] भगवन् ! यदि वे [नैरयिक] संज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या जलचरों से उत्पन्न होते हैं, या स्थलचरों से अथवा खेचरों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३-४ उ.] गौतम ! वे जलचरों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, स्थलचरों से भी तथा खेचरों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

[५] जति जलचर-थलचर-खहचरेहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति, अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति, नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति ?

[३-५ प्र.] (भगवन् !) यदि वे जलचर, स्थलचर और खेचर जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या पर्याप्त (जलचरादि) से अथवा अपर्याप्त (जलचरादि) से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३-५ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त (जलचरादि) से (आकर) उत्पन्न होते हैं, (किन्तु) अपर्याप्त (जलचरादि) से (आकर) उत्पन्न नहीं होते।

विवेचन—निष्कर्ष—द्वितीय सूत्र में पूछा गया है कि क्या नैरयिक जीव चार गतियों में से आकर (नरक में) उत्पन्न होते हैं ? इसके उत्तर में कहा गया है कि वे तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति से आकर उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् तीसरे सूत्र के पांच विभागों के प्रश्नों का उत्तर है—वे तिर्यञ्चगति में से आकर उत्पन्न होते हैं तो सिर्फ पंचेन्द्रिय तिर्यचयोनिकों से और उनमें भी जलचर, स्थलचर और खेचर तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं।[१]

---

३. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २. पृ. ९०४-९०५

प्रथम नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त-असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच के विषय में उपपात आदि वीस द्वारों की प्ररूपणा

४. पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसु पुढवीसु उववज्जेज्जा।

गोयमा ! एगाए रयणप्पभाए पुढवीए उववज्जेज्जा।

[४ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव, जो नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितनी नरक-पृथ्वियों में उत्पन्न होता है ?

[४ उ.] गौतम ! वह एक रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होता है।

५. पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[५ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव, जो रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[५ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

६. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति।

[६ प्र.] भगवन् ! वे (पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक) जीव (रत्नप्रभापृथ्वी में) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! वे (एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

७. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंघयणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! सेवट्टसंघयणा पन्नत्ता।

[७ प्र.] भगवन् ! उनके शरीर किससंहनन वाले होते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! वे सेवार्त्तसंहनन वाले होते हैं।

८. तेसि णं भंते ! जीवाणं केमहालिया सरीरोगाहणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं।

[८ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी होती है ?

[८ उ.] गौतम ! (उनके शरीर की अवगाहना) जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट एक हजार योजन की होती है।

९. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंठिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! हुंडसंठाणसंठिया पन्नत्ता।

[९ प्र.] भगवन् ! उनके शरीर का संस्थान कौन-सा कहा गया है ?

[९ उ.] गौतम ! उनके हुण्डकसंस्थान होता है।

१०. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! तिन्नि लेस्साओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा नीललेस्सा काउलेस्सा।

[१० प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[१० उ] गौतम ! उनके (आदि की) तीन लेश्याएँ कही गई हैं—कृष्ण, नील, कापोत।

११. ते णं भंते ! जीवा किं सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी ?

गोयमा ! नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी।

[११ प्र.] भगवन् ! वे जीव सम्यग्दृष्टि होते हैं, मिथ्यादृष्टि होते हैं अथवा सम्यग्मिथ्यादृष्टि होते हैं ?

[११ उ.] गौतम ! वे सम्यग्दृष्टि नहीं होते, मिथ्यादृष्टि होते हैं, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते।

१२. ते णं भंते जीवा किं नाणी, अन्नाणी ?

गोयमा ! नो नाणी, अन्नाणी, नियमं दुअन्नाणी, तं जहा—मतिअन्नाणी य सुयअन्नाणी य।

[१२ प्र.] भगवन् ! वे जीव ज्ञानी होते हैं या अज्ञानी ?

[१२ उ.] गौतम ! वे ज्ञानी नहीं होते; अज्ञानी होते हैं, उनके अवश्य दो अज्ञान होते हैं, यथा—मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान।

१३. ते णं भंते ! जीवा किं मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी ?

गोयमा ! नो मणजोगी, वइजोगी वि, कायजोगी वि।

[१३ प्र.] भगवन् ! वे जीव मनोयोगी होते हैं, या वचनयोगी अथवा काययोगी होते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! वे मनोयोगी नहीं, (किन्तु) वचनयोगी और काययोगी होते हैं।

१४. ते णं भंते ! जीवा किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता ?

गोयमा ! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि।

[१४ प्र.] भगवन् ! वे जीव साकारोपयोग वाले हैं या अनाकारोपयोग-युक्त हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! वे साकारोपयोग-युक्त भी होते हैं और अनाकारोपयोग-युक्त भी होते हैं।

१५. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति सन्नाओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! चत्तारि सन्नाम्रो पन्नत्ताओ, तं जहा—आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा।

[१५ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितनी संज्ञाएं कही गई हैं ?

[१५ उ.] गौतम ! उनके चार संज्ञाएं कही गई हैं। यथा—आहारसंज्ञा, भयसंज्ञा, मैथुनसंज्ञा और परिग्रहसंज्ञा।

१६. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति कसाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि कसाया पन्नत्ता, तं जहा—कोहकसाये माणकसाये मायाकसाये लोभकसाये।

[१६ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितने कषाय होते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! उनके चार कपाय होते हैं। यथा—क्रोधकषाय, मानकषाय, मायाकषाय और लोभकपाय।

१७. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति इंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच इंदिया पन्नत्ता, तं जहा—सोतिंदिए चक्खिदिए जाव फासिंदिए।

[१७ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितनी इन्द्रियाँ कही गई हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! उनके पांच इन्द्रियाँ कही हैं। यथा—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, यावत् स्पर्शेन्द्रिय।

१८. तेसि णं भंते ! जीवाणं कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! तओ समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए।

[१८ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! उनके तीन समुद्घात कहे हैं। यथा—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात और मारणान्तिकसमुद्घात।

१९. ते णं भंते जीवा किं सायावेदगा, असायावेदगा ?

गोयमा ! सायावेदगा वि, असातावेदगा वि।

[१९ प्र.] भगवन् ! वे जीव साता-वेदक हैं या असाता-वेदक ?

[१९ उ.] गौतम ! वे सातावेदक भी हैं और असातावेदक भी।

२०. ते णं भंते ! जीवा किं इत्थिवेदगा, पुरिसवेदगा, नपुंसगवेदगा ?

गोयमा ! नो इत्थिवेदगा, नो पुरिसवेदगा, नपुंसगवेदगा।

[२० प्र.] भगवन् ! वे जीव स्त्रीवेदक हैं, पुरुषवेदक हैं या नपुंसकवेदक हैं ?

[२० उ.] गौतम ! वे न तो स्त्रीवेदक होते हैं और न ही पुरुषवेदक होते हैं, किन्तु नपुंसकवेदक हैं।

२१. तेसि णं भंते ! जीवाणं केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

[२१ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितने काल की स्थिति कही है ?
[२१ उ.] गौतम ! उनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की है।

२२. तेसि णं भंते ! जीवाणं केवतिया अज्झवसाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता।

[२२ प्र.] भगवन् ! उनके अध्यवसाय-स्थान कितने कहे हैं ?
[२२ उ.] गौतम ! उनके अध्यवसाय-स्थान असंख्यात हैं ?

२३. ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ?

गोयमा ! पसत्था वि, अप्पसत्था वि।

[२३ प्र.] भगवन् ! उनके वे अध्यवसाय-स्थान प्रशस्त होते हैं या अप्रशस्त ?
[२३ उ.] गौतम ! वे प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी।

२४. से णं भंते ! 'पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिये' इति कालओ केवचिरं होइ ?
गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी।

[२४ प्र.] भगवन् ! वे जीव पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकरूप में कितने काल तक रहते हैं ?

[२४ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त तक और उत्कृष्ट पूर्वकोटि तक (उस अवस्था में) रहते हैं।

२५. से णं भंते ! 'पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए रयणप्पभापुढविनेरइए पुणरवि 'पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए' त्ति केवतियं कालं सेवेज्जा ?, केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ?

गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडिमब्भहियं; एवतियं कालं सेवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा। [सु० ५—२५ पढमो गमओ]।

[२५ प्र.] भगवन् ! वे जीव पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव हों, फिर रत्नप्रभा-पृथ्वी में नैरयिकरूप से उत्पन्न हों, और पुनः (उसी) पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हों, यों कितना काल सेवन (व्यतीत) करते हैं और कितने काल तक गति-आगति (गमनागमन) करते हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! वे भवादेश (भव की अपेक्षा) से दो भव और कालादेश (काल की अपेक्षा) से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग, इतना काल सेवन (व्यतीत) करते हैं और इतने काल तक गमनागमन करते रहते हैं। [सू. ५ से २५ तक प्रथम गमक]

२६. पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्ठितीएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीयेसु उववज्जेज्जा।

[२६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, जो जघन्यकाल-स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हों, तो हे भगवन् ! वे कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं ?

[२६ उ.] गौतम ! वे जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट भी दस हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं।

२७. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

एवं स च्चेव वत्तव्वता निरवसेसा भाणियव्वा जाव अणुबंधो त्ति।

[२७ प्र.] भगवन् ! वे (असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक) जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[२७ उ.] गौतम ! पूर्वकथित समग्र वक्तव्यता, यावत् अनुबन्ध (सू. ५ से २४) तक इसी प्रकार (पूर्ववत्) कह देनी चाहिए।

२८. से णं भंते ! पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए जहन्नकालट्ठितीयरयणप्पभापुढविणेरइए, पुणरवि [जहण्णकाल०] पज्जत्ताअसण्णि० जाव गतिरागतिं करेज्जा ?

गोयमा ! भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, एवतियं कालं सेवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा। [सु० २६—२८ बीओ गमओ]।

[२८ प्र.] भगवन् ! वे जीव पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हों, फिर जघन्य काल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हों और पुनः पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हों तो यावत् (कितना काल सेवन—व्यतीत करते हैं और) कितने काल तक गति-आगति (गमनागमन) करते हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! वे भवादेश (भव की अपेक्षा) से दो भव-ग्रहण करते हैं, और कालादेश (काल की अपेक्षा) से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटि काल सेवन करते हैं और इतने काल तक गमनागमन करते हैं। [सू. २६ से २८ तक द्वितीय गमक]

२९. पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठितीयेसु रतणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[२९ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, रत्नप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो, तो वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[२९ उ.] गौतम ! वह जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

३०. ते णं भंते ! जीवा० ?

अवसेसं तं चेव जाव अणुबंधो।

[३० प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३०. उ.] गौतम ! पूर्ववत् (सू. ६ से २४ तक के समान) समग्र वक्तव्यता यावत् अनुबन्ध-पर्यन्त जानना चाहिए।

३१. से णं भंते ! पज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितीयरयणप्पभापुढविनेरइए [उक्कोस०][1] पुणरवि पज्जत्ता० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालादेसेणं जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडिअब्भहियं; एवतियं कालं सेवेज्जा, एवइयं कालं गतिरागतिं करेज्जा। [सु० २९—३१ तइओ गमओ]।

[३१ प्र.] भगवन् ! वह जीव, पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो, फिर उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, और पुनः पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो तो वह यावत् (कितना काल सेवन करता है और कितने काल तक) गमनागमन करता रहता है ?

[३१ उ.] गौतम ! भवादेश से (भवापेक्षया) दो भव ग्रहण करता है और काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग तथा उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग; इतना काल सेवन करता है और इतने काल तक गमनागमन करता है। [सू. २९ से ३१ तक तृतीय गमक]

३२. जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[३२ प्र.] भगवन् ! जघन्य स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव जो रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

---

१. [ ] इस कोष्ठक के अन्तर्गत पाठ अन्य प्रतियों में नहीं है। —सं.

[३२ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

३३. [१] ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केव० ?

अवसेसं तं चेव, णवरं इमाइं तिन्नि णाणत्ताइं—आउं अज्झवसाणा अणुबंधो य। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३३-१ उ.] गौतम ! (यहाँ से लेकर अनुबन्ध तक) समस्त (आलापक) पूर्ववत् समझना चाहिए। विशेषतः आयु (स्थिति), अध्यवसाय और अनुबन्ध, इन तीन बातों में अन्तर है। यथा—स्थिति (आयुष्य) जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त की है।

[२] तेसि णं भंते ! जीवाणं केवतिया अज्झवसाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा अज्झवसाणा पन्नत्ता।

[३३-२ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के अध्यवसाय कितने कहे हैं ?
[३३-२ उ.] गौतम ! उनके अध्यवसाय असंख्यात कहे हैं।

[३] ते णं भंते ! किं पसत्था, अप्पसत्था ?

गोयमा ! नो पसत्था, अप्पसत्था।

[३३-३ प्र.] भगवन् ! (उनके) वे (अध्यवसाय) प्रशस्त होते हैं, या अप्रशस्त ?

[३३-३ उ.] गौतम ! वे प्रशस्त नहीं होते, अप्रशस्त होते हैं।

[४] अणुबंधो अंतोमुहुत्तं। सेसं तं चेव।

[३३-४ उ.] उनका अनुबन्ध (जघन्यकाल स्थिति वाले, पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक रूप में) अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है। शेष सब कथन पूर्ववत्।

३४. से णं भंते ! जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ताअसन्निपंचेंदिय० रयणप्पभा० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालादेसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, एवतियं कालं सेविज्जा जाव करेज्जा। [सु० ३२—३४ चउत्थो गमओ]।

[३४ प्र.] भगवन् ! वह जीव, जघन्यकाल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हो, (फिर) रत्नप्रभापृथ्वी में यावत् (नैरयिकरूप से उत्पन्न हो, और पुनः जघन्यकाल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक रूप में उत्पन्न हो, तो वह कितना काल सेवन करता है और कितने काल तक गमनागमन) करता रहता है ?

[३४ उ.] गौतम ! वह भवादेश से दो भव ग्रहण करता है और कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त-अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त-अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग

काल सेवन करता है, यावत् (इतने काल तक गमनागमन) करता है। [सू. ३२ से ३४ तक चतुर्थ गमक]

३५. जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्ठितीएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[३५ प्र.] भगवन्! जघन्यकाल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिक जो जीव जघन्यकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो, भगवन् ! वह जीव कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[३५ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट भी दस हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

३६. ते णं भंते ! जीवा० ?

सेसं तं चेव। ताइं चेव तिन्नि णाणत्ताइं जाव—(अणुबंधो)।

[३६ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३६ उ.] (गौतम !) यहाँ से लेकर अनुबन्ध तक पूर्ववत् (सू. ६ से २४ तक) समझना चाहिए।

विशेषतः उन्हीं (पूर्वोक्त) तीन बातों (आयु-स्थिति, अध्यवसाय और अनुबन्ध) में अन्तर है। (जिसे पूर्वकथित) यावत् (अनुबन्ध तक सू. ३३/१-२-३-४ सूत्रवत् जानना चाहिए।)

३७. से णं भंते ! जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ता० जाव जोणिए जहन्नकालट्ठितीयरयणप्पभापुढवि० पुणरवि जाव ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेण वि दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं; एवइयं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा। [सु० ३५—३७ पंचमो गमओ]।

[३७ प्र.] भगवन् ! जो जीव, जघन्यकाल की स्थिति वाला, पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो, फिर वह जघन्यस्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो, और पुनः वह पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो तो, कितना काल सेवन करता है और कितने काल तक गमनागमन करता है रहता ?

[३७ उ.] गौतम ! भवादेश से वह दो भव ग्रहण करता है और कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष, और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष, काल सेवन करता है, यावत् (और इतने काल तक गमनागमन) करता है। [सू. ३५ से ३७ तक पंचम गमक]

३८. जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ता० जाव तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठितीएसु रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[३८ प्र.] भगवन् ! जघन्यकाल की स्थिति वाले, पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, जो रत्नप्रभापृथ्वी के उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[३८ उ.] गौतम ! वह जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

३९. ते णं भंते जीवा० ?

अवसेसं तं चेव। ताइं चेव तिन्नि नाणत्ताइं जाव—(अणुबंधो)।

[३९ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३९ उ.] गौतम ! (यह सब सू. ६ से २४ तक के समान) पूर्ववत्। विशेषतः उन्हीं (पूर्वोक्त) तीन बातों (आयु, अध्यवसाय और अनुबन्ध) में अन्तर है। (जिसे पूर्वकथित) यावत् (अनुबन्ध तक सूत्र ३३/१-२-३-४ के समान जानना चाहिए।)

४०. से णं भंते ! जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्ता जाव तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितीयरयण० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं; उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० ३८—४० छट्ठो गमओ]।

[४० प्र.] भगवन् ! वह जीव, जघन्यकाल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिक हो, फिर वह उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में यावत् उत्पन्न हो और पुनः पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो तो, वह कितना काल सेवन करता है और कितने काल तक गमनागमन करता है ?

[४० उ.] गौतम ! भवादेश से (वह) दो भव ग्रहण करता है और कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग तथा उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, काल यावत् (सेवन करता है और इतने काल तक गमनागमन) करता है। [सू. ३८ से ४० तक छठा गमक]

४१. उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ताअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालं जाव उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं जाव उववज्जेज्जा।

[४१ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जो जीव, रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, भंते ! वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[४१ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले (नैरयिकों में) उत्पन्न होता है, (और) उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

४२. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं० ?

अवसेसं जहेव ओहियगमए तहेव अणुगंतव्वं, नवरं इमाइं दोन्नि नाणत्ताइं—ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो वि। अवसेसं तं चेव।

[४२ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? (इत्यादि प्रश्न।)

[४२ उ.] गौतम ! सारी वक्तव्यता पूर्वोक्त औघिक (सामान्य) (सू. ६ से २५ तक) के अनुसार जाननी चाहिए। विशेषतः इन दो बातों (स्थिति और अनुबन्ध) में अन्तर है। (यथा—) स्थिति—जघन्य पूर्वकोटि वर्ष की और उत्कृष्ट भी पूर्वकोटि वर्ष की है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी है। शेष सब पूर्ववत् (जानना चाहिए।)

४३. से णं भंते ! उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ताअसन्नि० जाव तिरिक्खजोणिए रतणप्पभा० ?

भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ४१—४३ सत्तमो गमओ]।

[४३ प्र.] भगवन् ! वह जीव, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञी०—यावत् (पंचेन्द्रिय-) तिर्यञ्चयोनिक हो; (फिर) रत्नप्रभापृथ्वी (के नैरयिकों में उत्पन्न हो, और पुनः उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक हो तो वह वहाँ कितने काल तक यावत् (सेवन एवं गमनागमन करता है ?)

[४३ उ.] गौतम ! वह भवादेश से दो भव ग्रहण करता है और कालादेश से जघन्य दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटि वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ४१ से ४३ तक सप्तम गमक]

४४. उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ता० तिरिक्खजोणिए० णं भंते ! जे भविए जहन्नकालट्ठितीएसु रयण जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० जाव उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेजा।

[४४ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्टकाल की स्थिति वाला पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जो जीव जघन्यकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभा के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[४४ उ.] गौतम ! वह जघन्य और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

४५. ते णं भंते ! ० ?

सेसं तं चेव जहा—सत्तमगमे जाव—(अणुबंधो)।

[४५ प्र.] भगवन् ! वे जीव एकसमय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! जैसे सप्तम गमक में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी यावत् अनुबन्ध तक (जानना चाहिए।)

४६. से णं भंते ! उक्कोसकालट्ठिती० जाव तिरिक्खजोणिए जहन्नकालट्ठितीयरयणप्पभा० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ४४—४६ अट्ठमो गमओ]।

[४६ प्र.] भगवन् ! जो जीव उत्कृष्टकाल की स्थिति वाला यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हो, फिर वह जघन्यकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो और पुनः यावत् वही पर्याप्त० हो यावत् तो वह कितना काल सेवन तथा गमनागमन करता है ?

[४६ उ.] गौतम ! वह भवादेश से दो भव ग्रहण करता है तथा कालादेश से जघन्य और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ४४ से ४६ तक अष्टम गमक]

४७. उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ता० जाव तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकालट्ठितीएसु रयण० जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकाल० जाव उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखज्जतिभागट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[४७ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्टकाल की स्थिति वाला पर्याप्त० यावत् तिर्यञ्चयोनिक जो जीव, रत्नप्रभापृथ्वी के उत्कृष्टस्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो तो भगवन् ! वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[४७ उ.] गौतम ! वह जघन्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले और उत्कृष्ट भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

४८. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं० ?

सेसं जहा सत्तमगमए जाव—(अणुबंधो)।

[४८ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४८ उ.] गौतम ! पूर्ववत् यावत् (अनुबन्ध तक) सभी (आलापक) सप्तम गमक के अनुसार (समझने चाहिए ।)

४९. से णं भंते ! उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ता० जाव तिरिक्खजोणिए उक्कोसकालट्ठितीयरयणप्पभा० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडीए अब्भहियं, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडिमब्भहियं; एवतियं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा । [सु० ४७—४९ नवमो गमओ] ।

[४९ प्र.] भगवन् ! वह जीव, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पर्याप्त यावत् (पंचेन्द्रिय) तिर्यञ्चयोनिक हो, फिर वह उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में (उत्पन्न हो और पुनः) यावत् उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक में हो तो (कितना काल सेवन एवं गमनागमन) करता है ?

[४९ उ.] गौतम ! भवादेश से वह दो भव ग्रहण करता है तथा कालादेश से जघन्य पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट भी पूर्वकोटि अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग, इतना काल सेवन (व्यतीत करता है) यावत् (गमनागमन) करता है । [सू. ४७ से ४९ तक नौवाँ गमक]

५०. एवं एए ओहिया तिण्णि गमगा, जहन्नकालट्ठितीएसु तिन्नि गमगा, उक्कोसकालट्ठितीएसु तिन्नि गमगा; सव्वेते नव गमा भवंति ।

[५०] इस प्रकार (पूर्वोक्त गमकों में से) ये तीन गमक औघिक (सामान्य) हैं, तीन गमक जघन्यकाल की स्थिति वालों (में उत्पत्ति) के हैं और तीन गमक उत्कृष्टकाल की स्थिति वालों (में उत्पत्ति) के हैं । ये सब मिला कर नौ गमक होते हैं ।

विवेचन—नौ गमकों का स्पष्टीकरण—(१) पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव का रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होना, यह पहला गमक है; (२) जघन्य काल-स्थिति वाले प्रथम नरक के नैरयिकों में उत्पन्न होना, यह दूसरा गमक है; (३) उत्कृष्टस्थिति वाले प्रथम नरक के नैरयिकों में उत्पन्न होना, यह तीसरा गमक है । इस प्रकार पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक के साथ किसी प्रकार का विशेषण लगाये बिना तीन गमक होते हैं । तत्पश्चात् जघन्य स्थिति वाले पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव से सम्बन्धित पूर्ववत् तीन गमक होते हैं, तथा उत्कृष्टस्थिति वाले पर्याप्त-असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव से सम्बन्धित भी पूर्ववत् तीन गमक होते हैं । इस प्रकार ये नौ गमक (आलापक) होते हैं ।[1]

पर्याप्त-असंज्ञीतिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीव के विषय में वीस द्वार—सूत्र ४ से लेकर २५ वें तक पर्याप्त-असंज्ञीतिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीव के विषय में २० द्वार हैं । विवरण इस प्रकार है—

---

१. (क) भगवती (हिन्दी विवेचन, पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २९९८
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०९

उपपात (उत्पत्ति)—के विषय में दो प्रश्न किये गए हैं—(१) पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक कितनी नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होता है ?, और (२) कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ? उत्तर स्पष्ट है—वह एकमात्र रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होता है, रत्नप्रभा के नैरयिकों की जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की है। किन्तु पर्याप्त-असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जो नरक में जाता है, वह पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले नैरयिकों तक ही उत्पन्न होता है, इससे आगे नहीं। इसलिए यहाँ उत्कृष्टतः पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले प्रथम नरकीय नारकों तक ही उत्पन्न होना बताया है।[1]

अन्य द्वारों का स्पष्टीकरण—यहाँ से आगे अनुवन्ध तक प्रायः सभी द्वार स्पष्ट हैं। दृष्टिद्वार में इन्हें केवल मिथ्यादृष्टि तथा ज्ञान-अज्ञानद्वार में इन्हें अज्ञानी बताया गया है, परन्तु श्रेणिक महाराज का जीव जो प्रथम नरक में गया है, वह तो क्षायिक सम्यग्दृष्टि तथा ज्ञानी था। इसका समाधान यह है कि यहाँ पर्याप्त-असंज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीवों में से मर कर जो प्रथम नरक में जाता है, उसका कथन है, मनुष्य में से मर कर प्रथम नरक में जाने वाले का कथन नहीं। इसलिए इस कथन में विरोध नहीं है। असंज्ञी की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, नरक में जाने वाले के अध्यवसायस्थान अप्रशस्त होते हैं, किन्तु आयुष्य की दीर्घस्थिति हो, तो प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के अध्यवसाय हो सकते हैं। अनुवन्ध आयुष्य के समान ही होता है किन्तु कायसंवेध नैरयिक और तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों स्थितियों को मिला कर जानना चाहिए।[2]

कायसंवेध के विषय में स्पष्टीकरण—कायसंवेध का पर.भव और काल दोनों अपेक्षाओं से विचार किया गया है। **भव की अपेक्षा से** दो भव का कायसंवेध इसलिए बताया है कि जो जीव पूर्वभव में असंज्ञी तिर्यचपंचेन्द्रिय हो और वहाँ से मर कर नरक में उत्पन्न हो तो वह नरक से निकल कर फिर असंज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय नहीं होता, वह अवश्य ही संज्ञीपन प्राप्त कर लेता है।

काल की अपेक्षा से असंज्ञी तिर्यचपंचेन्द्रिय का कायसंवेध—जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त आयुष्य-सहित, प्रथम नरक की जघन्य १० हजार वर्ष की स्थिति वाला होता है, इसलिए जघन्य कायसंवेध अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष का बताया है। उत्कृष्ट कायसंवेध—असंज्ञी के पूर्वकोटिवर्ष प्रमाण उत्कृष्ट आयुष्यसहित प्रथम नरक (रत्नप्रभा) में उसका उत्कृष्ट आयुष्य पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण है, इसलिए इन दोनों के आयुष्य को मिला कर असंज्ञी तिर्यचपंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट कायसंवेध पूर्वकोटिवर्ष अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भागप्रमाण बताया गया है।[3]

नरक में उत्पन्न होनेवाले संख्यातवर्षायुष्क पर्याप्त संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों को उपपात-प्ररूपणा

५१. जदि सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय-तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्ख० जाव उववज्जंति ?

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २९७९
२. (क) वियाहपण्णत्ति सुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणीयुक्त) पृ. ९०६ तथा ९६५
   (ख) भगवती. (हिन्दी पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. २९९९
३. (क) वही. भा. ६, पृ. २९८६
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८०९

गोयमा ! संखेज्जवासाउयसण्णिपंचेंदिय० जाव उववज्जंति, नो असंखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति।

[५१ प्र.] भगवन् ! यदि नैरयिक संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५१ उ.] गौतम ! वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यंचयोनिकों में से आकर उत्पन्न नहीं होते।

५२. जदि संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय जाव उववज्जंति किं जलचरेहिंतो उववज्जंति ?० पुच्छा।

गोयमा ! जलचरेहिंतो उववज्जंति जहा असन्नी जाव पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति, नो अपज्जत्तएहिंतो उववज्जंति।

[५२ प्र.] भगवन् ! यदि नैरयिक संख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी-तिर्यञ्चपंचेन्द्रियों में से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे जलचरों में से आकर उत्पन्न होते हैं, स्थलचरों में से अथवा खेचरों में से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५२ उ.] गौतम ! वे जलचरों में से आकर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि सब असंज्ञी के समान, यावत् पर्याप्तकों में से आकर उत्पन्न होते हैं, अपर्याप्तकों में से नहीं; (यहाँ तक कहना चाहिए।)

५३. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा, तं जहा—रयणप्पभाए जाव अहेसत्तमाए।

[५३ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क-संज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जो जीव, नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितनी नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होता है ?

[५३ उ.] गौतम ! वह सातों ही नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होता है। यथा—रत्नप्रभा यावत् अधःसप्तम पृथ्वी।

विवेचन—निष्कर्ष—उपर्युक्त तीन प्रश्नों (५१ से ५३ तक) के उत्तर का सार यह है कि जो नैरयिक संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में से आते हैं, वे संख्यातवर्ष की आयु वाले, पर्याप्तक, जलचर, स्थलचर, खेचर तीनों से आकर उत्पन्न होते हैं।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण-युक्त) भा. २, पृ. ९११

रत्नप्रभानरक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त-संख्यातवर्षायुष्क-संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के उपपात-परिमाणादि वीस द्वार-प्ररूपणा

५४. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ।

[५४ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्यात-वर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, जो रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[५४ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ।

५५. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

जहेव असन्नी ।

[५५ प्र.] भगवन् ! वे जीव (संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय), एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?
[५५ उ.] गौतम ! (पूर्ववत्) असंज्ञी के समान समझना ।

५६. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंघयणी पन्नत्ता ?

गोयमा ! छव्विहसंघयणी पन्नत्ता, तं जहा—वइरोसभनारायसंघयणी उसभनारायसंघयणी जाव सेवट्टसंघयणी ।

[५६ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर किस संहनन वाले होते हैं ?

[५६ उ.] गौतम ! उनके शरीर छहों प्रकार के संहनन वाले हैं । यथा—वे वज्रऋषभनाराच-संहनन वाले, ऋषभनाराचसंहनन वाले यावत् सेवार्त्तसंहनन वाले होते हैं ।

५७. सरीरोगाहणा जहेव असन्नीणं ।[1]

[५७] (उनके) शरीर की अवगाहना असंज्ञी के समान जानना ।

५८. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंठिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! छव्विहसंठिया पन्नत्ता, तं जहा—समचतुरंस० नग्गोह० जाव हुंडा० ।

[५८ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर किस संस्थान वाले होते हैं ?

[५८. उ.] गौतम ! वे छहों प्रकार के संस्थान वाले होते हैं । यथा—समचतुरस्र, न्यग्रोध-परिमण्डल यावत् हुण्डक संस्थान ।

---

१. अधिकपाठ—'जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं ।'
(अर्थात्—जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन) ।

५९. [१] तेसि णं भंते ! जीवाणं कति लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जाव सुक्कलेस्सा ।

[५९-१ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के कितनी लेश्याएँ कही गई हैं ?

[५९-१ उ.] गौतम ! उनके छहों लेश्याएँ कही गई हैं । यथा—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या ।

[२] दिट्ठी तिविहा वि । तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए । जोगो तिविहो वि । सेसं जहा असण्णीणं जाव अणुबंधो । नवरं पंच समुग्घाया आदिल्लगा । वेदो तिविहो वि, अवसेसं तं चेव जाव—

[५९-२] (उनमें) दृष्टियाँ तीनों ही होती हैं । तीन ज्ञान तथा तीन अज्ञान भजना से होते हैं । योग तीनों ही होते हैं । शेष सब यावत् अनुबन्ध तक असंज्ञी के समान समझना । 'विशेष यह है कि समुद्घात आदि के पांच होते हैं तथा वेद तीनों ही होते हैं । शेष सब पूर्ववत् समझना चाहिए । यावत्—

६०. से णं भंते ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय जाव तिरिक्खजोणिए रयणप्पभ० जाव करेज्जा ?

गोयमा ! भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालाएसेण जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं । एवतियं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा । [सु० ५४ –६० पढमो गमओ] ।

[६० प्र.] भगवन् ! वह पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव, रत्नप्रभापृथ्वी में नारकरूप में उत्पन्न हो और फिर संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक हो, तो वह कितने काल तक यावत् गमनागमन करता है ?

[६० उ.] गौतम ! भव की अपेक्षा जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव तक ग्रहण करता है तथा काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम काल तक सेवन (व्यतीत) करता है और इतने ही काल तक गमनागमन करता है । [सू. ५४ से ६० तक प्रथम गमक]

६१. पज्जत्तसंखेज्ज जाव जे भविए जहन्नकाल जाव से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीएसु जाव उववज्जेज्जा ।

[६१ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव रत्नप्रभापृथ्वी में जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[६१ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट भी दस हजार वर्ष की स्थिति वाले (नैरयिकों) में उत्पन्न होता है ।

६२. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं सो चेव पढमगमश्रो निरवसेसो नेयव्वो जाव कालादेसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीश्रो चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाश्रो; एवतियं कालं सेवेज्जा०।[1] [सु० ६१—६२ बीश्रो गमश्रो]।

[६२ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय के कितने उत्पन्न होते हैं ?

[६२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् प्रथम गमक (सू. ५४ से ६० तक) पूरा, यावत् काल की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और चालीस हजार वर्ष अधिक चार पूर्वकोटि काल तक सेवन (व्यतीत) करता है और इतने ही काल तक गमनागमन करता है। [सू. ६१-६२ द्वितीय गमक]

६३. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं सागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा। श्रवसेसो परिमाणादीश्रो भवादेसपज्जवसाणो सो चेव पढमगमो नेयव्वो जाव कालाएसेणं जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं श्रब्भहियाइं; एवतियं कालं सेविज्जा०। [सु० ६३ तइश्रो गमओ]।

[६३] यदि वह उत्कृष्ट काल की स्थिति में उत्पन्न हो तो जघन्य एक सागरोपम की स्थिति वाले और उत्कृष्ट भी एक सागरोपम की स्थिति वाले (नैरयिकों) में उत्पन्न होता है।

शेष परिमाणादि से लेकर भवादेश-पर्यन्त कथन उसी पूर्वोक्त प्रथम गमक के समान, यावत् काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम काल तक सेवन करता है तथा इतने ही काल तक गमनागमन करता है; ऐसा समझना चाहिए। [सू. ६३ तृतीय गमक]

६४. जहन्नकालट्ठितीयपज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए रयणप्पभपुढवि जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[६४ प्र.] भगवन् ! जघन्यकाल की स्थिति वाला, पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो रत्नप्रभापृथ्वी में नैरयिकरूप में उत्पन्न होने वाला हो, तो वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[६४ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों) में उत्पन्न होता है।

६५. ते णं भंते ! जीवा० ?

अवसेसो सो चेव गमश्रो। नवरं इमाइं श्रट्ठ णाणत्ताइं—सरीरोगाहणा जहन्नेणं श्रंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं धणुपुहत्तं १। लेस्साश्रो तिण्णि श्रादिल्लाश्रो २। नो सम्मद्दिट्ठी,

---

१. 'एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा।'

मिच्छद्दिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी ३। दो अन्नाणा णियमं ४। समुग्घाया आदिल्ला तिन्नि ५। आउं ६, अज्झवसाणा ७, अणुबंधो ८ य जहेव असन्नीणं। अवसेसं जहा पढमे गमए जाव कालादेसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं; उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० ६४—६५ चउत्थो गमओ]।

[६५ प्र.] भगवन् ! वे जीव (एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।)

[६५ उ.] गौतम ! यह सब वक्तव्यता उसी (प्रथम) गमक के समान (जाननी चाहिए।) विशेषता इन आठ विषयों में है। यथा—(१) (इनके) शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट धनुषपृथक्त्व (दो धनुष से नौ धनुष तक) की होती है। (२) इनमें प्रथम की तीन लेश्याएँ होती हैं। (३) वे सम्यग्दृष्टि नहीं होते, और न ही सम्यग्-मिथ्यादृष्टि होते हैं; एकमात्र मिथ्यादृष्टि होते हैं। (४) इनमें नियम से दो अज्ञान होते हैं। (५) इनमें प्रथम के तीन समुद्घात होते हैं। (६-७-८) इनके आयुष्य, अध्यवसाय और अनुबन्ध का कथन असंज्ञी के समान समझना चाहिए। शेष सब प्रथम गमक के समान, यावत् काल की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार सागरोपम काल तक यावत् इतने काल तक गमनागमन करते हैं। [सू. ६४-६५ चतुर्थ गमक]

६६. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[६६] जघन्य काल की स्थिति वाला, वही (पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक) जीव, (रत्नप्रभापृथ्वी में) जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले तथा उत्कृष्ट भी दस हजार वर्ष की स्थिति वाले (नैरयिकों) में उत्पन्न होता है।

६७. ते णं भंते ! ० ?

एवं सो चेव चउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो जाव कालाएसेणं जहन्नेणं दसवाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ६६—६७ पंचमो गमओ]।

[६७ प्र.] भगवन् ! वे जीव (एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?) इत्यादि प्रश्न।

[६७ उ.] गौतम ! यहाँ सम्पूर्ण कथन पूर्वोक्त चतुर्थ गमक (सू. ६४-६५) के समान समझना चाहिए; यावत्—काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष तक और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चालीस हजार वर्ष तक कालयापन करते हैं तथा इतने ही काल तक गमनागमन करता है। [६६-६७ पंचम गमक]

६८. सो च्चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[६८] वही (जघन्य स्थिति वाला यावत् संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च रत्नप्रभा में) उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो जघन्य सागरोपम स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है और उत्कृष्ट भी सागरोपम स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

६९. ते णं भंते ! ०

एवं सो चेव चउत्थो गमओ निरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसेणं जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ६८—६९ छट्ठो गमओ]।

[६९ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[६९ उ.] यहाँ पूर्ववत् सम्पूर्ण चतुर्थ गमक, यावत्—काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक सागरोपम और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार सागरोपम काल तक यावत् गमनागमन करता है; (यहाँ तक) कहना चाहिए। [६८-६९ छठा गमक]

७०. उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्तसंखेज्जवासा० जाव तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जाव जे भविए रयणप्पभापुढविनेरइएसु उववज्जित्तए, से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[७० प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट स्थिति वाला पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-योनिक जीव जो रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[७० उ.] गौतम ! वह जघन्यतः दस हजार वर्ष की और उत्कृष्टतः एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

७१. ते णं भंते ! जीवा० ?

अवसेसो परिमाणादीओ भवादेसपज्जवसाणो एतेसिं चेव पढमगमओ णेतव्वो, नवरं ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो वि। सेसं तं चेव। कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० ७०—७१ सत्तमो गमओ]।

[७१ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[७१ उ.] गौतम ! परिमाण आदि से लेकर भवादेश तक की वक्तव्यता के लिए इनका (संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों का) प्रथम गमक जानना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् समझना तथा काल की अपेक्षा से जघन्य दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम—इतना काल यावत् गमनागमन करता है। [सू. ७०-७१ सप्तम गमक]

७२. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[७२] यदि वह (उत्कृष्ट० संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) जघन्यस्थिति वाले (रत्नप्रभापृथ्वी

के नैरयिकों) में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ।

७३. ते णं भंते ! जीवा० ?

सो चेव सत्तमो गमश्रो निरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहिआओ; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ७२—७३ अट्ठमो गमओ]।

[७३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[७३ उ.] गौतम ! (परिमाण से लेकर भवादेशपर्यन्त) सम्पूर्ण सप्तम गमक कहना चाहिए। काल की अपेक्षा से, जघन्य दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष और उत्कृष्ट चालीस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटिवर्ष तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ७२-७३ अष्टम गमक]

७४. उक्कोसकालट्ठितीयपज्जत्ता जाव तिरिक्ख जोणिए णं भंते ! जे भविए उक्कोसकाल-ट्ठितीय जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[७४ प्र.] भगवन् ! उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पर्याप्त यावत्………तिर्यञ्चयोनिक, जो उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[७४ उ.] गौतम ! वह जघन्य और उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

७५. ते णं भंते ! जीवा० ?

सो चेव सत्तमगमश्रो निरवसेसो भाणियव्वो जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवइयं जाव करेज्जा। [सु० ७४—७५ नवमो गमओ]।

[७५ प्र.] भगवन् ! वे जीव (एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?) इत्यादि प्रश्न ।

[७५ उ.] गौतम ! परिमाण से लेकर भवादेश तक के लिए वही पूर्वोक्त सप्तम गमक सम्पूर्ण कहना चाहिये। काल की अपेक्षा से जघन्य पूर्वकोटि अधिक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम काल तक यावत् गमनागमन करता है। [७४-७५ नौवाँ गमक]

७६. एवं एते नव गमगा उक्खेवनिक्खेवश्रो नवसु वि जहेव असन्नीणं।

[७६] इस प्रकार ये नौ गमक होते हैं; और इन नौ ही गमकों का प्रारम्भ और उपसंहार (उत्क्षेप और निक्षेप) असंज्ञी जीवों के समान (कहना चाहिए।)

विवेचन—नौ गमक—यहाँ पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक की अपेक्षा से रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों की उत्पत्ति-सम्बन्धी नौ गमक कहे गए हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) औघिक (सामान्य) संज्ञी तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय का, औघिक नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप प्रथम गमक है। (२) जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप दूसरा गमक है। (३) उत्कृष्ट स्थिति वाले

नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप तीसरा गमक है। (४) जघन्य स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का रत्नप्रभा नरक में उत्पन्न होने रूप चौथा गमक है। (५) जघन्य स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का जघन्य स्थिति (१० हजार वर्ष) वाली रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों में उत्पन्न होने रूप पंचम गमक है। (६) जघन्य स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप छठा गमक है। (७) उत्कृष्ट स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का रत्नप्रभा-नारकों में उत्पन्न होने रूप सप्तम गमक है। (८) उत्कृष्ट स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का जघन्य स्थिति वाले रत्नप्रभा-नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप आठवाँ गमक है और (९) उत्कृष्ट स्थिति वाले संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का उत्कृष्ट स्थिति वाले रत्नप्रभा-नैरयिकों में उत्पन्न होने रूप नौवाँ गमक है।[1]

नौ गमकों के परिमाणादि द्वारों में अन्तर—(१) प्रथम गमक में विशेष—एक समय में उत्पत्ति-संख्या, शरीरावगाहना तथा उपयोग से लेकर अनुवन्ध (आयु, अध्यवसाय और अनुवन्ध) तक के द्वार असंज्ञी के समान वताए गए हैं। उनमें छहों संहनन, छहों संस्थान, छहों लेश्याएँ, तीनों दृष्टियां तथा तीनों ही योग एवं वेद होते हैं। नरक में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में तीन ज्ञान या तीन अज्ञान विकल्प से पाये जाते हैं। अर्थात्—किसी में दो या तीन ज्ञान और किसी में दो या तीन अज्ञान होते हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में आदि के तीन समुद्घात होते हैं और नरक में जाने वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में आदि के पांच समुद्घात होते हैं। अर्थात्—उनमें अन्तिम दो (आहार और केवली) समुद्घात नहीं होते, क्योंकि ये दोनों समुद्घात मनुष्यों के सिवाय अन्य जीवों में नहीं होते। संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, प्रथम नरक में उत्पन्न होकर पुनः उसी (सं. ति. प.) भव में उत्पन्न हो, तो भव की अपेक्षा जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव करता है। अर्थात्—वह पहले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में उत्पन्न होता है, वहाँ से निकल कर पुनः नरक में उत्पन्न होता है, फिर मनुष्य में, यों अधिकृत कायसंवेध में दो भव जघन्यतः होते हैं। आठ भव इस प्रकार होते हैं—प्रथम संज्ञीपंचेन्द्रियतिर्यञ्च, फिर नारक, फिर संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, फिर नारक, तदनन्तर संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च, फिर नारक, तत्पश्चात् संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और फिर उसी नरकपृथ्वी में नारक; इस प्रकार वह आठ वार उत्पन्न होता है। नौवें भव में मनुष्य होता है।

चौथे गमक में आठ नानात्व (अन्तर) हैं—(१) अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की, उत्कृष्ट धनुपपृथक्त्व की है, (२) लेश्या आदि की तीन, (३) दृष्टि सिर्फ मिथ्यादृष्टि, (४) अज्ञान दो, (५) प्रथम के तीन समुद्घात, (६) आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त, (७) अध्यवसायस्थान अप्रशस्त, (अशुभ) और अनुवन्ध आयुष्यानुसार होता है। शेष कथन संज्ञी के प्रथम गमक के समान है।

सातवें गमक में अन्तर—इसका आयुष्य और अनुवन्ध पूर्वकोटिवर्ष का होता है।[2]

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ—उत्क्षेप प्रारम्भवाक्य (प्रस्तावना) रूप होता है और निक्षेप समाप्तिवाक्य रूप होता है। निक्षेप का दूसरा नाम निगमन या उपसंहार है।[3]

---

१. (क) भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्र ८११-८१२
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३०११

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८११-८१२
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३०११

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१२

शर्कराप्रभा से तमःप्रभा नरक तक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च के उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

७७. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए णेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तिसागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ।

[७७ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, जो शर्करा-प्रभापृथ्वी में नैरयिक रूप से उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[७७ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक सागरोपम की स्थिति वाले और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ।

७८. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं० ?

एवं ज च्चेव रयणप्पभाए उववज्जंतगस्स लद्धी स च्चेव निरवसेसा भाणियव्वा जाव भवादेसो त्ति । कालादेसेणं जहन्नेणं सागरोवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं बारस सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा ।

[७८ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[७८ उ.] गौतम ! रत्नप्रभा नरक में उत्पन्न होने वाले पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों की समग्र वक्तव्यता यहाँ भवादेश पर्यन्त कहनी चाहिए तथा काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक बारह सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है ।

७९. एवं रयणप्पभपुढविगमगसरिसा नव वि गमगा भाणियव्वा, नवरं सव्वगमएसु वि नेरइयट्ठिती-संवेहेसु सागरोवमा भाणितव्वा ।

[७९] इस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी के गमक के समान नौ ही गमक जानने चाहिए । परन्तु विशेष यह है कि सभी नरकों में नैरयिकों की स्थिति और संवेध के सम्बन्ध में 'सागरोपम' कहने चाहिए ।

८०. एवं जाव छट्ठपुढवि त्ति, णवरं नेरइयठिती जा जत्थ पुढवीए जहन्नुक्कोसिया सा तेणं चेव कमेणं चउग्गुणा कायव्वा, वालुयप्पभाए अट्ठावीसं सागरोवमा चउग्गुणिया भवति, पंकप्पभाए चत्तालीसं, धूमप्पभाए अट्ठसट्ठि, तमाए अट्ठासीतिं । संघयणाइं वालुयप्पभाए पंचविहसंघयणी, तं जहा—वइरोसभनाराय जाव खीलियासंघयणी । पंकप्पभाए चउव्विहसंघयणी । धूमप्पभाए तिविहसंघयणी । तमाए दुविहसंघयणी, तं जहा—वइरोसभनारायणी य उसभनारायसंघयणी य । सेसं तं चेव ।

[८०] इसी प्रकार यावत् छठी नरकपृथ्वी पर्यन्त जानना चाहिए । परन्तु जिस नरकपृथ्वी

में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति जितने काल की हो, उसे उसी क्रम से चार गुणी करनी चाहिए। जैसे—वालुकाप्रभापृथ्वी में उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है; उसे चार गुणा करने से अट्ठाईस सागरोपम होती है। इसी प्रकार पंकप्रभा में चालीस सागरोपम की, धूमप्रभा में अड़सठ सागरोपम की और तमःप्रभा में ८८ सागरोपम की स्थिति होती है। संहनन के विषय में—वालुकाप्रभा में वज्रऋषभनाराच से कीलिका संहनन तक पांच संहनन वाले जाते हैं। पंकप्रभा में आदि के चार संहनन वाले, धूमप्रभा में प्रथम के तीन संहनन, तमःप्रभा में प्रथम के दो संहनन वाले नैरयिक रूप में उत्पन्न होते हैं। यथा—वज्रऋषभनाराच और ऋषभनाराच संहनन वाले। शेष सब कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

विवेचन—शर्कराप्रभा सम्बन्धी वक्तव्यता—परिमाण, संहनन आदि की जो वक्तव्यता रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने वाले नैरयिक की कही गई है, वही शर्कराप्रभा के सम्बन्ध में जाननी चाहिए।

स्थिति सम्बन्धी कथन में अन्तर—शर्कराप्रभा में संज्ञी जीव की अपेक्षा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त अधिक एक सागरोपम की और उत्कृष्ट स्थिति १२ सागरोपम की कही गई है, क्योंकि शर्कराप्रभा में उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम की है, उसे चार से गुणा करने पर बारह सागरोपम होती है।

रत्नप्रभा में जघन्य स्थिति १० हजार वर्ष की तथा उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम की है। शर्कराप्रभा आदि नरकपृथ्वियों की उत्कृष्ट स्थिति क्रमशः ३, ७, १०, १७, २२ और ३३ सागरोपम की है। पूर्व-पूर्व की नरकपृथ्वियों में जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगे-आगे की नरकपृथ्वियों में जघन्य स्थिति होती है। अतः शर्कराप्रभा आदि में स्थिति और कायसंवेध के विषय में 'सागरोपम' कहना चाहिए।

छठी नरकपृथ्वी तक नौ ही गमकों की वक्तव्यता रत्नप्रभानरकपृथ्वी के गमकों के समान है। जिस नरक की जितनी उत्कृष्ट स्थिति है, उसका उत्कृष्ट कायसंवेध उससे चार गुणा है। जैसे—बालुकाप्रभा नरकपृथ्वी की उत्कृष्ट स्थिति ७ सागरोपम की है। उसे चार से गुणा करने पर अट्ठाईस सागरोपम उत्कृष्ट कायसंवेध होता है। इसी तरह आगे-आगे की नरकपृथ्वियों में समझना चाहिए।[1]

छठी नरक तक संहननादि विशेष—पहली और दूसरी नरकपृथ्वी में छहों संहनन वाले जीव जाते हैं। तत्पश्चात् आगे-आगे की नरकपृथ्वियों में एक-एक संहनन कम होता जाता है। इस दृष्टि से तीसरी नरकपृथ्वी में पांच संहनन वाले, चौथी में चार संहनन वाले, पांचवीं में तीन संहनन वाले और छठी नरकपृथ्वी में दो संहनन वाले जीव जाते हैं।[2]

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचनयुक्त) भाग ६, पृ. ३०१९

२. वही, पृ. ३०१९

सप्तम नरकपृथ्वी में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के उत्पाद-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

८१. पज्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव तिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए अहेसत्तमपुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं बावीससागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[८१ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी-पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक, जो सप्तमनरकपृथ्वी में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[८१ उ.] गौतम ! वह जघन्य बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

८२. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जहेव रयणप्पभाए णव गमका, लद्धी वि स च्चेव; णवरं वइरोसभनारायसंघयणी, इत्थिवेदगा न उववज्जंति। सेसं तं चेव जाव अणुबंधो त्ति। संवेहो भवाएसेणं जहन्नेणं तिण्णि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा १। [सु० ८१—८२ पढमो गमओ]।

[८२ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८२ उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी के समान इसके भी नौ गमक और अन्य सब वक्तव्यता समझनी चाहिए। विशेष यह है कि वहाँ वज्रऋषभनाराचसंहनन वाला ही उत्पन्न होता है, स्त्रीवेद वाले जीव वहाँ उत्पन्न नहीं होते। शेष समग्र कथन यावत् अनुबन्ध तक पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। संवेध—भव की अपेक्षा से जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट सात भव तथा काल की अपेक्षा से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम तक यावत् गमनागमन करता है। [८१-८२ प्रथम गमक]

८३. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव वत्तव्वया जाव भवादेसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं० कालादेसो वि तहेव जाव चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ८३ बीओ गमओ]।

[८३] वे (संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) जघन्य काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं; इत्यादि सब वक्तव्यता यावत् भवादेश तक पूर्वोक्त रूप से जानना। कालादेश से भी जघन्यतः उसी प्रकार यावत् चार पूर्वकोटि अधिक (६६ सागरोपम), इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है, (यहाँ तक कहना चाहिए।) [सू. ८३ द्वितीय गमक]

८४. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव लद्धी जाव अणुबंधो त्ति, भवाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं

दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ८४ तइओ गमओ]।

[८४] वह जीव उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न हो, इत्यादि सब वक्तव्यता, यावत् अनुबन्ध तक पूर्ववत् जानना। भव की अपेक्षा से—जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट पांच भव ग्रहण करता है। काल की अपेक्षा से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ८४ तृतीय गमक]

८५. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, स च्चेव रयणप्पभपुढविजहन्नकालट्ठितीय-वत्तव्वता भाणियव्वा जाव भवादेसो त्ति। नवरं पढमं संघयणं; नो इत्थिवेदगा; भवाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ८५ चउत्थो गमओ]।

[८५] वही (संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) जीव स्वयं जघन्य स्थिति वाला हो और वह सप्तम नरकपृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो तत्सम्बन्धी समस्त वक्तव्यता रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने योग्य जघन्य स्थिति वाले (संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) की वक्तव्यता के अनुसार यावत् भवादेश तक कहना चाहिए। विशेष यह है कि वह (सप्तम नरकपृथ्वी में उत्पन्न होने वाला) प्रथम संहननी होता है, वह स्त्रीवेदी नहीं होता। भव की अपेक्षा से—जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट सात भव ग्रहण करता है। काल की अपेक्षा से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ६६ सागरोपम इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ८५ चतुर्थ गमक]

८६. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एवं सो चेव चउत्थगमओ निरवसेसो भाणियव्वो जाव कालादेसो त्ति। [सु० ८६ पंचमो गमओ]।

[८६] वही (जघन्य स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव) जघन्य स्थिति वाले सप्तम नरकपृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो तो उस सम्बन्ध में समग्र चतुर्थ गमक यावत् कालादेश तक कहना चाहिए। [सू. ८६ पंचम गमक]

८७. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव लद्धी जाव अणुबंधो त्ति। भवाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० ८७ छट्ठो गमओ]।

[८७] वही (जघन्य स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) उत्कृष्ट स्थिति वाले सप्तम नरक-पृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो तो, इस सम्बन्ध में, यावत् अनुबन्ध तक पूर्वोक्त वक्तव्यता जाननी चाहिए। भव की अपेक्षा से—जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट पाँच भव ग्रहण करता है तथा काल की अपेक्षा से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ६६ सागरोपम; काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ८७ छठा गमक]

८८. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं बावीससागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[८८] वही स्वयं उत्कृष्ट स्थिति वाला (संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) हो और सप्तम नरकपृथ्वी में उत्पन्न हो तो जघन्य बाईस सागरोपम की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

८९. ते णं भंते ! ० ?

अवसेसा स च्चेव सत्तमपुढविपढमगमगवत्तव्वया भाणियव्वा जाव भवादेसो त्ति, नवरं ठिती अणुबंधो य जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तं चेव। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ८८—८९ सत्तमो गमओ]।

[८९ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८९ उ.] इस विषय में समग्र वक्तव्यता सप्तम नरकपृथ्वी के गमक के समान, यावत् भवादेश तक कहनी चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत्। संवेध—काल की अपेक्षा से—जघन्य दो पूर्वकोटि अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ८८-८९ सप्तम गमक]

९०. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव लद्धी, संवेहो वि तहेव सत्तमगमगसरिसो। [सु० ९० अट्ठमो गमओ]।

[९०] यदि वह (उत्कृष्ट स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीव) जघन्य स्थिति वाले सप्तम नरकपृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो तो उसके सम्बन्ध में वही वक्तव्यता और वही संवेध सप्तम गमक के सदृश कहना चाहिए। [सू. ९० अष्टम गमक]

९१. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव लद्धी जाव अणुबंधो त्ति। भवाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा। [सु० ९१ नवमो गमओ]।

[९१] यदि वह (उत्कृष्ट स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च जीव) उत्कृष्ट स्थिति वाले सप्तम नरक के नैरयिकों में उत्पन्न हो तो, वही पूर्वोक्त वक्तव्यता, यावत् अनुबन्ध तक (जाननी चाहिए।) संवेध—भव की अपेक्षा से जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट पांच भव, तथा काल की अपेक्षा से जघन्य दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम इतने काल तक वह यावत् गमनागमन करता है। [सू. ९१ नौवाँ गमक]

विवेचन—सप्तम नरकभूमि में उत्पत्ति आदि सम्बन्धी गमक—यहाँ रत्नप्रभापृथ्वी के ९ गमकों की तरह सारी वक्तव्यता समझनी चाहिए, विशेष अन्तर यह है कि सप्तम नरकपृथ्वी में

एक (वज्रऋषभनाराच) संहनन वाले जीव ही उत्पन्न होते हैं तथा स्त्रीवेद वाले जीव वहाँ उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि स्त्रीवेदी जीवों की उत्पत्ति छठे नरक तक ही होती है। भवादेश से जघन्य तीन भव सातवें नरक में कहे गए हैं। वह इस प्रकार होते हैं—प्रथम भव मत्स्य का, द्वितीय भव नारक का और तृतीय भव मत्स्य का, इस क्रम से दो भव मत्स्यों के और एक भव नारक का होता है तथा उत्कृष्टतः सात भव इस प्रकार से होते हैं—प्रथम भव मत्स्य का, द्वितीय भव सप्तम पृथ्वी के नारक का, तृतीय भव पुनः मत्स्य का, चौथा भव पुनः सप्तम पृथ्वी के नारक का, पांचवाँ भव मत्स्य का, छठा भव सप्तम पृथ्वी के नारक का और सातवाँ भव पुनः मत्स्य का। इस प्रकार से उत्कृष्टतः ७ भव वे ग्रहण करते हैं तथा काल की अपेक्षा से जो दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक २२ सागरोपम कहा गया है, वह इस प्रकार है—सातवें नरक की भव सम्बन्धी जघन्य स्थिति २२ सागरोपम की है। इस अपेक्षा से २२ सागरोपम और तृतीय मत्स्यभव-सम्बन्धी दो अन्तर्मुहूर्त समझने चाहिए तथा उत्कृष्ट ६६ सागरोपम कहा है। वह यों समझना चाहिए कि सातवीं नरकपृथ्वी में २२ सागरोपम की स्थिति से तीन वार उत्पन्न होता है, इस दृष्टि से ६६ सागरोपम हो जाते हैं तथा ४ पूर्वकोटि की अधिकता जो कही गई है, वह नारक भवों से अन्तरित चार मत्स्यभवों की अपेक्षा से होती है। फलितार्थ यह है कि सातवीं नरकपृथ्वी में जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्कृष्टतः तीन वार ही उत्पन्न होता है, इस अपेक्षा से ६६ सागरोपम घटित हो जाते हैं। यदि ऐसा न हो तो उपर्युक्त परिमाण घटित नहीं हो सकता। यहाँ उत्कृष्ट काल की विवक्षा है। इसलिए जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में ३ वार उत्पन्न होने का कथन किया गया है तथा चार मत्स्यभवों की अपेक्षा से ४ पूर्वकोटि का कथन किया गया है। उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में दो वार के उत्पाद से ६६ सागरोपम का प्रमाण लभ्य होता है और तीन मत्स्यभवों की अपेक्षा से तीन पूर्वकोटि का कथन किया गया है। यह **प्रथम गमक** है। जघन्यकाल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होने का **दूसरा गमक** है। उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पाद-सम्बन्धी **तृतीय गमक** है। इसमें उत्कृष्टतः पांच भव-ग्रहण का कथन है, जिनमें तीन मत्स्यभव और दो नारकभव समझने चाहिए। इनसे यह निश्चित हो जाता है कि सातवें नरक में उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकों में दो ही वार उत्पत्ति होती है। जघन्य स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च का जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पादसम्बन्धी **चतुर्थ गमक** है। इसकी वक्तव्यता रत्नप्रभापृथ्वी के चौथे गमक के तुल्य है। अन्तर केवल इतना ही है कि रत्नप्रभा में ६ संहनन और ३ वेद कहे गए हैं, किन्तु सातवें नरक के चौथे गमक में केवल एक वज्रऋषभनाराचसंहनन का कथन और स्त्रीवेद का निषेध करना चाहिए। शेष गमकों का कथन स्पष्ट ही है।[1]

पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों की समुच्चयरूप से सातों नरकों में उत्पाद आदि प्ररूपणा

६२. जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति, असन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति, नो असन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति।

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१२
(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भाग १४, पृ. ४७६ से ४८७

[९२ प्र.] भगवन् ! यदि वह नैरयिक, मनुष्यों में से आकर उत्पन्न होता है, तो क्या वह संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है या असंज्ञी मनुष्यों में से ?

[९२ उ.] गौतम ! वह संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है, असंज्ञी मनुष्यों में से नहीं।

९३. जति सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति, असंखेज्जवा० जाव उववज्जंति ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउयसन्निमणु०, नो असंखेज्जवासाउय जाव उववज्जंति ।

[९३ प्र.] भगवन् ! यदि वह संज्ञी मनुष्यों में से आ कर उत्पन्न होता है तो क्या संख्येय वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है, अथवा असंख्येय वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों में से ?

[९३ उ.] गौतम ! वह संख्येय वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है, असंख्येय वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों में से नहीं।

९४. जदि संखेज्जवासा० जाव उववज्जंति किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय०, अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय० ?

गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय०, नो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति ।

[९४ प्र.] भगवन् ! यदि वह संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में से आकर उत्पन्न होता है, तो क्या वह पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है, या अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में से ?

[९४ उ.] गौतम ! वह पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में से उत्पन्न होता है, अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में से नहीं।

९५. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए नेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसु पुढवीसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! सत्तसु पुढवीसु उववज्जेज्जा, तं जहा—रयणप्पभाए जाव अहेसत्तमाए ।

[९५ प्र.] भगवन् ! संख्यात वर्ष की आयु वाला पर्याप्त मनुष्य, जो नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितनी नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होता है ?

[९५ उ.] गौतम ! वह सातों ही नरकपृथ्वियों में उत्पन्न होता है। यथा—रत्नप्रभा में, यावत् अधःसप्तम नरकपृथ्वी में।

विवेचन—निष्कर्ष—संख्यात वर्ष की आयु वाला, पर्याप्त संज्ञी मनुष्य सातों ही नरकपृथ्वियों में से किसी में भी उत्पन्न हो सकता है।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९१७-९१८

रत्नप्रभानरक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क मनुष्य में उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

९६. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए रतणप्पभपुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहण्णेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ।

[९६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य जो रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

[९६ उ,] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट एक सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ।

९७. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उववज्जंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति । संघयणा छ । सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलपुहत्तं, उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं । एवं सेसं जहा सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं जाव भवादेसो त्ति, नवरं चत्तारि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए, छ समुग्घाया केवलिवज्जा; ठिती अणुबंधो य जहन्नेणं मासपुहत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । सेसं तं चेव । कालाएसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं मासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा । [सु० ९६-९७ पढमो गमओ] ।

[९७ प्र.] भगवन् ! वे जीव (संख्येयवर्षायुष्क पर्याप्त संज्ञी मनुष्य) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[९७ उ.] गौतम ! वे जीव जघन्य एक, दो या तीन, और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं । उनमें छहों संहनन होते हैं । उनके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल-पृथक्त्व (दो अंगुल से नौ अंगुल तक) की और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की होती है । शेष सब कथन यावत् भवादेश तक, संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों के समान है । विशेष यह है, कि उनमें चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान विकल्प से होते हैं । केवलिसमुद्घात को छोड़कर शेष छह समुद्घात होते हैं । उनकी स्थिति और अनुबन्ध जघन्य मासपृथक्त्व और उत्कृष्ट पूर्वकोटि होता है । शेष सब पूर्ववत् । संवेधकाल की अपेक्षा से जघन्य मासपृथक्त्व अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम तक यावत् गमनागमन करता है । [सू. ९६-९७ प्रथम गमक]

९८. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं मासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ, एवतियं० । [सु० ९८ बीओ गमओ] ।

[९८] यदि वह मनुष्य, जघन्यकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो उपर्युक्त सर्ववक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य मास-

पृथक्त्व अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चालीस हजार वर्ष तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ९८ द्वितीय गमक]

९९. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वता, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं सागरोवमं मासपुहत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ९९ तइओ गमओ]।

[९९] यदि वह मनुष्य, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो पूर्वोक्त सर्व वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य मास-पृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम, काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ९९ तृतीय गमक]

१००. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, एसा चेव वत्तव्वता, नवरं इमाइं पंच नाणत्ताइं—सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलपुहत्तं, उक्कोसेण वि अंगुलपुहत्तं १, तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा भयणाए २, पंच समुग्घाया आदिल्ला ३, ठिती ४ अणुबंधो ५ य जहन्नेणं मासपुहत्तं, उक्कोसेण वि मासपुहत्तं। सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं मासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० १०० चउत्थो गमओ]।

[१००] यदि वह मनुष्य स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो उसके विषय में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। इसमें इन पाँच बातों में विशेषता है—(१) उनके शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल-पृथक्त्व होती है। (२) उनके तीन ज्ञान और तीन अज्ञान विकल्प (भजना) से होते हैं। (३) उनके आदि के पांच समुद्घात होते हैं। (४-५) उनकी स्थिति और अनुबन्ध जघन्य मासपृथक्त्व और उत्कृष्ट मास-पृथक्त्व होता है। शेष सब भवादेश तक पूर्ववत् जानना चाहिए। काल की अपेक्षा से—जघन्य मास-पृथक्त्व अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार मासपृथक्त्व अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०० चतुर्थ गमक]

१०१. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया चउत्थगमगसरिसा, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं मासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तालीसं वाससहस्साइं चउहिं मासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० १०१ पंचमो गमओ]।

[१०१] यदि वह मनुष्य स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो पूर्वोक्त चतुर्थगमक के समान इसकी वक्तव्यता समझना। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य मासपृथक्त्व अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार मासपृथक्त्व अधिक चालीस हजार वर्ष काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०१ पंचम गमक]

१०२. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव गमगो, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं सागरोवमं मासपुहत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं मासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० १०२ छट्ठो गमओ]।

[१०२] यदि वह जघन्य कालस्थिति वाला मनुष्य, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो पूर्वोक्त गमक के समान जानना। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य मासपृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार मासपृथक्त्व अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०२ छठा गमक]

१०३. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जातो, सो चेव पढमगमओ नेतव्वो, नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं; ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी; एवं अणुबंधो वि, कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० १०३ सत्तमो गमओ]।

[१०३] यदि वह मनुष्य स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो और (रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में) उत्पन्न हो, तो उसके विषय में प्रथम गमक के समान समझना। विशेषता यह है कि उनके शरीर की अवगाहना जघन्य पांच सौ धनुष और उत्कृष्ट भी पाँच सौ धनुष की होती है। उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की होती है एवं अनुबन्ध भी उसी प्रकार जानना। काल की अपेक्षा से—जघन्य दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०३ सप्तम गमक]

१०४. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव सत्तमगमगवत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चत्तालीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ, एवतियं कालं जाव करेज्जा। [सु० १०४ अट्ठमो गमओ]।

[१०४] यदि वही (उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला) मनुष्य, जघन्य काल की स्थिति वाले (रत्नप्रभापृथ्वी के नैरियकों) में उत्पन्न हो, तो उसकी वक्तव्यता सप्तम गमक के समान जानना। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से जघन्य दस हजार वर्ष अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट चालीस हजार वर्ष अधिक चार पूर्वकोटि; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०४ अष्टम गमक]

१०५. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, सा चेव सत्तमगमगवत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं सागरोवमं पुव्वकोडीए अब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं कालं सेवेज्जा जाव करेज्जा। [सु० १०५ नवमो गमओ]।

[१०५] यदि वह उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला मनुष्य, उत्कृष्ट स्थिति वाले (रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों) में उत्पन्न हो तो उसी पूर्वोक्त सप्तम गमक के समान वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य पूर्वकोटि अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १०५ नौवाँ गमक]

विवेचन—रत्नप्रभा के नैरयिकों में उत्पत्ति-परिमाणादि-विचार—रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य पर्याप्तक, संख्यात वर्ष की आयु वाले और संज्ञी होते हैं, क्योंकि संज्ञी मनुष्य सदा संख्यात ही होते हैं, इसलिए उत्कृष्ट रूप से इनकी उत्पत्ति संख्यात ही होती है।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१६-८१७

ज्ञान-अज्ञान—नरक में उत्पन्न होने वाले गर्भज मनुष्य में चार ज्ञान और तीन अज्ञान विकल्प से कहे गए हैं, चूर्णिकार द्वारा इसका समाधान किया गया है कि जो मनुष्य अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और आहारक शरीर प्राप्त करके वहाँ से गिर कर नरक में उत्पन्न होता है, उस मनुष्य में अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और आहारक शरीर उसकी पूर्वावस्था को लेकर समझना चाहिए। इस दृष्टि से उक्त मनुष्य में ४ ज्ञान और तीन अज्ञान विकल्प से बताये गए हैं।[1]

जघन्य स्थिति मासपृथक्त्व : कैसे ?—सिद्धान्त यह है कि दो मास से कम आयुष्य (स्थिति) वाला मनुष्य नरकगति में नहीं जाता, इसलिए नरकगति में जाने वाले मनुष्य की जघन्य आयु (स्थिति) मासपृथक्त्व होती है।[2]

संवेधकाल—मनुष्यभव की अपेक्षा—मनुष्य होकर यदि नरकगति में उत्पन्न हो तो एक नरकपृथ्वी में चार बार उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् वह निश्चय ही तिर्यञ्च होता है। इसलिए मनुष्यभवसम्बन्धी संवेधकाल चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम का कहा गया है।[3]

चौथे गमक में पांच विशेष बातें—जघन्य स्थिति वाले मनुष्य की नरकोत्पत्ति सम्बन्धी चतुर्थ गमक में पांच नानात्व (विशेषताएँ) पाए जाते हैं—(१) यहाँ शरीरावगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुलपृथक्त्व बताई गई है, जबकि प्रथम गमक में जघन्य अंगुलपृथक्त्व और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की बताई गई है। (२) प्रथम गमक में ४ ज्ञान और ३ अज्ञान भजना से बताए गए हैं, परन्तु यहाँ ३ ज्ञान और ३ अज्ञान भजना से बतलाए गए हैं; क्योंकि जघन्य स्थिति वाले मनुष्य में इन्हीं का सद्भाव होता है। (३) प्रथम गमक में ६ समुद्घात बतलाये गए हैं, जबकि यहाँ जघन्य स्थिति वाले मनुष्य में आहारकसमुद्घात नहीं पाया जाता। (४-५) प्रथम गमक में स्थिति और अनुबन्ध जघन्य मासपृथक्त्व, उत्कृष्ट पूर्वकोटि बतलाया गया है; जबकि यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट मास पृथक्त्व ही बतलाया गया है। शेष गमकों का कथन स्पष्ट है, स्वयमेव चिन्तन कर लेना चाहिए।[4]

शर्कराप्रभानरक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा

१०६. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए नेरइएसु जाव उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति जाव उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं सागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तिसागरोवमठितीएसु उववज्जेज्जा।

[१०६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य, जो शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य हो; वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है ?

---

१. (क) ओहिनाण-मणपज्जवनाण-आहारय-शरीराणि लद्धूणं परिसाडित्ता उववज्जंति।'—भगवती. चूर्णि
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१७

२. वही, पत्र ८१७

३. वही, पत्र ८१७

४. वही, पत्र ८१७

[१०६ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक सागरोपम की और उत्कृष्ट तीन सागरोपम की स्थिति वाले शर्कराप्रभानैरयिकों में उत्पन्न होता है ।

१०७. ते णं भंते ! ० ?

एवं सो चेव रयणप्पभपुढविगमश्रो नेयव्वो, नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं रयणिपुहत्तं, उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं; ठिती जहन्नेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी; एवं अणुबंधो वि। सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति; कालाएसेणं जहन्नेणं सागरोवमं वासपुहत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं बारस सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा ।

[१०७ प्र.] भगवन् ! वे जीव वहाँ एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[१०७ उ.] गौतम ! उनके विषय में रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के समान गमक जानना चाहिए। विशेष यह है कि उनके शरीर की अवगाहना जघन्य रत्निपृथक्त्व (दो हाथ से लेकर नौ हाथ तक) और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष होती हैं। उनकी स्थिति जघन्य वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की होती है। इसी प्रकार अनुवन्ध भी समझना चाहिए। शेष सब कथन यावत् भवादेश तक पूर्ववत् समझना। काल की अपेक्षा से—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक बारह सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।

१०८. एवं एसा ओहिएसु तिसु गमएसु मणूसस्स लद्धी, नाणत्तं नेरइयट्ठितिं कालाएसेणं संवेहं च जाणेज्जा। [सु० १०६—८ पढम-बीय-तइयगमा] ।

[१०८] इस प्रकार औधिक के तीनों गमक (औधिक का औधिक में उत्पन्न होना, औधिक का जघन्य स्थिति वाले शर्कराप्रभा-नैरयिकों में उत्पन्न होना और औधिक का उत्कृष्ट स्थिति वाले शर्कराप्रभा-नैरयिकों में उत्पन्न होना) मनुष्य की वक्तव्यता के समान जानना। विशेषता नैरयिक की स्थिति और कालादेश से संवेध जान लेना चाहिए। [सू. १०६-१०७-१०८ प्रथम-द्वितीय-तृतीय गमक]

१०९. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु गमएसु एसा चेव लद्धी; नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं रयणिपुहत्तं, उक्कोसेण वि रयणिपुहत्तं; ठिती जहन्नेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेण वि वासपुहत्तं; एवं अणुबंधो वि। सेसं जहा ओहियाणं। संवेहो उवजुंजिऊण भाणियव्वो। [सु० १०९ चउत्थ-पंचम-छट्ठगमा] ।

[१०९] यदि वह स्वयं जघन्य स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्य, शर्कराप्रभा पृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो तीनों गमकों (शर्कराप्रभा नैरयिकों में जघन्यकाल की स्थिति वाले श. प्र. नैरयिकों में और उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले श. प्र. नैरयिकों में उत्पन्न होने से सम्बन्धित गमक) में पूर्वोक्त वही वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि उनके शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट भी रत्निपृथक्त्व होती है। उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व की होती है। इसी प्रकार अनुवन्ध भी होता है। शेष सब कथन औधिक गमक के समान जानना। संवेध भी उपयोगपूर्वक समझ लेना चाहिए। [सू. १०९ चार-पांच-छह गमक]

११०. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु इमं णाणत्तं—सरीरोगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं; ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी; एवं अणुबंधो वि। सेसं जहा पढमगमए, नवरं नेरइयठितिं कायसंवेहं च जाणेज्जा [सु० ११० सत्तम-अट्ठम-नवमगमा]।

[११०] यदि वह मनुष्य स्वयं उत्कृष्ट स्थिति वाला हो और शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न हो, तो उसके भी तीनों गमकों (शर्कराप्रभापृथ्वीनैरयिकों में, जघन्य स्थिति वाले श. प्र. नैरयिकों में और उत्कृष्ट स्थिति वाले श. प्र. नैरयिकों में उत्पन्न होने सम्बन्धी गमक) में विशेषता इस प्रकार है—उनके शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की होती है। उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट भी पूर्वकोटिवर्ष की होती है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी समझना। शेष सब प्रथम गमक के समान है। विशेषता यह है कि नैरयिक की स्थिति और कायसंवेध तदनुकूल जानना चाहिए। [सू. ११० सातवाँ-आठवाँ-नौवाँ गमक]

विवेचन—शर्कराप्रभापृथ्वी में उत्पत्ति आदि सम्बन्धी प्रश्नोत्तर—दो रत्नि (हाथ) से कम की अवगाहना वाले और दो वर्ष से कम आयुष्य वाले मनुष्य दूसरी शर्कराप्रभापृथ्वी में उत्पन्न नहीं होते।

प्रथम-द्वितीय-तृतीय गमक में नानात्व कथन—(१) औघिक मनुष्य की औघिक नारकों में उत्पत्ति-सम्बन्धी प्रथम गमक में स्थिति आदि का निर्देश मूल पाठ में कर दिया है। (२) औघिक मनुष्य की जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पत्तिसम्बन्धी द्वितीय गमक में नैरयिक की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम होती है। काल की अपेक्षा से संवेध—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम होता है। (३) औघिक मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पत्ति सम्बन्धी तृतीय गमक में भी इसी प्रकार जानना चाहिए, किन्तु इसका कालतः संवेध जघन्य तीन सागरोपम और उत्कृष्ट बारह सागरोपम होता है।

चार-पांच-छह गमक में विशेष कथन—(४) जघन्य स्थिति वाले मनुष्य की औघिक नरक में उत्पत्तिसम्बन्धी चतुर्थ गमक में काल की अपेक्षा संवेध वर्षपृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार वर्षपृथक्त्व अधिक बारह सागरोपम होता है, (५) जघन्य स्थिति वाले मनुष्य की जघन्य स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पत्ति सम्बन्धी पंचम गमक में कायसंवेध काल की अपेक्षा से जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक एक सागरोपम और उत्कृष्ट चार वर्षपृथक्त्व अधिक चार सागरोपम होता है। इसी प्रकार (६) छठा गमक भी उपयोग-पूर्वक जानना चाहिए।

सप्तम-अष्टम-नवम गमक में विशेष कथन—(७) उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य की औघिक नारकों में उत्पत्ति सम्बन्धी सप्तम गमक, (८) उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य की जघन्य स्थिति वाले नारकों में उत्पत्ति सम्बन्धी अष्टम गमक एवं (९) उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति वाले नारकों में उत्पत्ति-सम्बन्धी नवम गमक में शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की है। इसी प्रकार दूसरे नानात्व भी समझ लेने चाहिए। तिर्यञ्च की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त की कही गई थी, लेकिन मनुष्यगमकों में मनुष्य स्थिति कहनी चाहिए। किन्तु शर्करा-

प्रभादि नरकों में जाने वाले मनुष्यों की स्थिति जघन्य वर्षपृथक्त्व की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की होती है।[1]

बालुका-पंक-धूम-तमःप्रभा नरक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क-संज्ञी-मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा

१११. एवं जाव छट्ठपुढवी, नवरं तच्चाए आढवेत्ता एक्केक्कं संघयणं परिहायति जहेव तिरिक्खजोणियाणं; कालादेसो वि तहेव, नवरं मणुस्सट्ठिती जाणियव्वा।

[१११] इसी प्रकार यावत् छठी नरकपृथ्वी-पर्यन्त जानना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि तीसरी नरकपृथ्वी से लेकर आगे तिर्यञ्चयोनिक के समान एक-एक संहनन कम होता है। कालादेश भी इसी प्रकार कहना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि यहाँ मनुष्यों की स्थिति जाननी चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत १११ वें सूत्र में तीसरी से छठी नरकपृथ्वी तक उत्पत्ति आदि के कथन का पूर्ववत् अतिदेश किया गया है। जो विशेषताएँ हैं वे मूल पाठ में स्पष्ट हैं।

सप्तमनरक में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क-संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा

११२. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते! जे भविए अहेसत्तमपुढविनेरइएसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा?

गोयमा! जहन्नेणं बावीससागरोवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[११२ प्र.] भगवन्! पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क-संज्ञी मनुष्य, जो सप्तमपृथ्वी के नैरयिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है?

[११२ उ.] गौतम! वह जघन्य बाईस सागरोपम की स्थिति वाले और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले नैरयिकों में उत्पन्न होता है।

११३. ते णं भंते! जीवा एगसमएणं० ?

अवसेसो सो चेव सक्करप्पभापुढविगमओ नेयव्वो, नवरं पढमं संघयणं, इत्थिवेदगा न उववज्जंति। सेसं तं चेव जाव अणुबंधो त्ति। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं; कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [सु० ११२—१३ पढमो गमओ]।

[११३ प्र.] भगवन्! वे जीव एक समय में (कितने उत्पन्न होते हैं? इत्यादि प्रश्न।)

[११३ उ.] (गौतम!) इसकी सभी वक्तव्यता पूर्ववत् शर्कराप्रभापृथ्वी के गमक के समान समझनी चाहिए। विशेष यह है कि सातवीं नरकपृथ्वी में प्रथम संहनन वाले ही उत्पन्न होते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१७

वहाँ स्त्रीवेदी उत्पन्न नहीं होते। शेष समग्र कथन यावत् अनुबन्ध तक पूर्ववत् जानना चाहिए। भव की अपेक्षा से—दो भव ग्रहण और काल की अपेक्षा से—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक तैतीस सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ११२-११३ प्रथम गमक]

११४. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं नेरइयट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [सु० ११४ बीओ गमओ]।

[११४] यदि वही मनुष्य, जघन्य काल की स्थिति वाले सप्तमपृथ्वी-नारकों में उत्पन्न हो, तो भी यही (पूर्वोक्त)वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ नैरयिक की स्थिति और संवेध स्वयं विचार करके कहना चाहिए। [११४ द्वितीय गमक]

११५. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं संवेहं जाणेज्जा। [सु० ११५ तइओ गमओ]।

[११५] यदि वही मनुष्य, उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले सप्तमपृथ्वी के नारकों में उत्पन्न हो, तो भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि इसका संवेध स्वयं जान लेना चाहिए। [११५ तृतीय गमक]

११६. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु एसा चेव वत्तव्वया, नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं रयणिपुहत्तं; उक्कोसेण वि रयणिपुहत्तं, ठिती जहन्नेणं वासपुहत्तं, उक्कोसेण वि वासपुहत्तं; एवं अणुबंधो वि; संवेहो उवजुंजिऊण भाणियव्वो। [सु० ११६ चउत्थ-पंचम-छट्ठगमा]।

[११६] यदि वही (पर्याप्त-संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और सप्तमपृथ्वी के नारकों में उत्पन्न हो, तो तीनों गमकों (जघन्य स्थिति वाले संज्ञी मनुष्य की सप्तमनरकपृथ्वी के नारकों में उत्पत्ति-सम्बन्धी चतुर्थ गमक, इसी मनुष्य की जघन्य स्थिति वाले सप्तम नरक के नारकों में उत्पत्ति-सम्बन्धी पंचम गमक और इसी मनुष्य की उत्कृष्ट स्थिति वाले सप्तमपृथ्वी के नारकों में उत्पत्ति सम्बन्धी छठे गमक) में यही वक्तव्यता समझनी चाहिए। विशेष यह है कि उसके शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट रत्निपृथक्त्व होती है। उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार होता है। संवेध के विषय में उपयोग पूर्वक कहना चाहिए। [सू. ११६ चतुर्थ-पंचम-षष्ठ गमक]

११७. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु एसा चेव वत्तव्वया, नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं; ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी; एवं अणुबंधो वि। नवसु वि एएसु गमएसु नेरइयट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सव्वत्थ भवग्गहणाइं दोन्नि जाव नवमगमए कालादेसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, एवतियं कालं सेवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा। [सु० ११७ सत्तम-अट्ठम-नवमगमा]।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति ।

।। चउवीसइम सते : पढमो उद्देसओ समत्तो ।। २४-१ ।।

[११७] यदि वह संज्ञी मनुष्य स्वयं उत्कृष्ट स्थिति वाला हो और सप्तम नरकपृथ्वी में उत्पन्न हो, तो उसके भी तीनों गमकों में (उत्कृष्ट स्थिति वाले संज्ञी मनुष्य की सप्तम नरक के नारकों में उत्पत्तिसम्बन्धी सप्तम गमक, ऐसे ही मनुष्य की जघन्य स्थिति वाले सप्तम नरक के नारकों में उत्पत्तिसम्बन्धी अष्टम गमक, और ऐसे ही मनुष्य की, उत्कृष्ट स्थिति वाले सप्तम नरक के नारकों में उत्पत्तिसम्बन्धी नवम गमक यही (पूर्वोक्त) वक्तव्यता समझना चाहिए । विशेष इतना ही है कि शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की है । स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट भी पूर्वकोटिवर्ष की है । इसी प्रकार अनुबन्ध भी जानना चाहिए । इन (उपर्युक्त) नौ ही गमकों में नैरयिकों की स्थिति और संवेध स्वयं विचार कर जान लेना चाहिए । यावत् नौवें गमक तक दो ही भवग्रहण होता है; काल की अपेक्षा से जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम; इतना काल सेवन (यापन) करता है और इतने काल तक गमनागमन करता है । [सू. ११७ सप्तम-अष्टम-नवम-गमक]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं ।

विवेचन—सप्तम नरकपृथ्वी में कायसंवेध—सप्तम नरकपृथ्वीसम्बन्धी प्रथम गमक में कायसंवेध उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम कहा गया है, क्योंकि सातवें नरक से निकला हुआ जीव मनुष्य रूप से उत्पन्न नहीं होता । अतः प्रथम मनुष्य का भव और दूसरा सप्तम नरक का भव, इन दो भवों में कायसंवेध इतने ही काल का होता है । नौ ही गमकों में भव की अपेक्षा से संज्ञी मनुष्य दो भव ही ग्रहण करता है । शेष कथन स्पष्ट ही है ।[1]

।। चौवीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८१७

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणी) पृ. ९२१

बिइओ : असुरकुमारुद्देसओ

द्वितीय उद्देशक : असुरकुमारों का उपपात

गति की अपेक्षा से असुरकुमारों के उपपात की प्ररूपणा

१. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[१] राजगृह नगर में गौतम स्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. असुरकुमारा णं भंते ! कम्रोहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरि-मणु-देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! णो णेरतिएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, नो देवेहिंतो उववज्जंति।

[२ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार कहाँ से—किस गति से उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या तिर्यञ्चों से, मनुष्यों से अथवा देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, तिर्यञ्चयोनिकों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते।

विवेचन—असुरकुमारों की उत्पत्ति—वे नारकों और देवों से उत्पन्न नहीं होते, या तो वे तिर्यञ्चों से अथवा मनुष्यों से मरण करके उत्पन्न होते हैं।

असुरकुमार में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त-असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक की उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

३. एवं जहेव नेरइयउद्देसए जाव पज्जत्तअसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए असुकुरमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीयेसु, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागकाल-ट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[३ प्र.] जिस प्रकार नैरयिक उद्देशक में प्रश्न है, इसी प्रकार (यहाँ भी प्रश्न है—) भगवन् ! पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, जो असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है।

४. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं रयणप्पभागमगसरिसा नव वि गमा भाणियव्वा, नवरं जाहे अप्पणा जहन्नकालट्ठितीयो भवति ताहे अज्झवसाणा पसत्था, नो अप्पसत्था तिसु वि गमएसु। अवसेसं तं चेव। [गमा १—९]।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] (गौतम !) यहाँ रत्नप्रभापृथ्वी के गमकों के समान सभी—नौ ही गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि यदि वह स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो, तो तीनों गमकों में अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं, अप्रशस्त नहीं होते। शेष सब कथन पूर्ववत् जानना। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—उत्कृष्ट स्थिति के समकक्ष मान—यहाँ पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, जो असुर-कुमारों में उत्पन्न होता है, उसकी उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग बतलाई है, यह कालमान पूर्वकोटिरूप समझना चाहिए, क्योंकि सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च का उत्कृष्ट आयुष्य पूर्वकोटि-परिमाण होता है और वह अपने आयुष्य के समान ही उत्कृष्ट देवायु बांधता है। चूर्णिकार भी इसी तथ्य का समर्थन करते हैं—

'उक्कोसेणं स तुल्लपुव्वकोडी आउयत्तं णिव्वत्तेइ ण य
सम्मुच्छिमो पुव्वकोडी-आउयत्ताओ परो अत्थि।'

अर्थात्—सम्मूर्च्छिम तिर्यञ्च का आयुष्य पूर्वकोटि से अधिक नहीं होता। इसलिये वह देवभव में भी उत्कृष्टतः पूर्वकोटि-परिणाम ही आयुष्य बांधता है, अधिक नहीं।[1]

अध्यवसाय : प्रशस्त या अप्रशस्त ?—पर्याप्त असंज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के चौथे, पाँचवें और छठे गमक में प्रशस्त अध्यवसाय होते हैं, अप्रशस्त अध्यवसाय नहीं।[2]

संख्येयवर्षायुष्क-असंख्येयवर्षायुष्क-संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक की असुरकुमारों में उपपात-प्ररूपणा

५. जदि सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसन्नि० जाव उववज्जंति, असंखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति, असंखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति।

[५ प्र.] भगवन् ! यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव असुरकुमारों में उत्पन्न हो तो क्या वह संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होता है, अथवा असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न होता है ?

[५ उ.] गौतम ! वह संख्यात वर्ष और असंख्यात वर्ष की आयु वाले दोनों प्रकार के तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होता है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२०

२. वही, पत्र ८२०

विवेचन—निष्कर्ष—जो संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय असुरकुमारों में आकर उत्पन्न होते हैं, वे दोनों प्रकार के होते हैं—संख्यात वर्ष को आयु वाले और असंख्यात वर्ष की आयु वाले।[1]

असुरकुमार में उत्पन्न होनेवाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक की उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

६. असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा, उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[६ प्र.] भगवन्! असंख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, जो असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है?

[६ उ.] गौतम! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है।

७. ते णं भंते! जीवा एगसमएणं० पुच्छा।

गोयमा! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। वयरोसभनारायसंघयणी। ओगाहणा जहन्नेणं धणुपुहत्तं, उक्कोसेणं छग्गाउयाइं। समचउरंससंठाणसंठिया पन्नत्ता। चत्तारि लेस्साओ आदिल्लाओ। नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी। नो नाणी, अन्नाणी, नियमं दुअण्णाणी, तं जहा—मतिअन्नाणी, सुयअन्नाणी य। जोगो तिविहो वि। उवयोगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ। चत्तारि कसाया। पंच इंदिया। तिन्नि समुग्घाया आदिल्लगा। समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति। वेयणा दुविहा वि। इत्थिवेदगा वि, पुरिसवेदगा वि, नो नपुंसगवेदगा। ठिती जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि। अणुबंधो जहेव ठिती। कायसंवेहो भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं छप्पलिओवमाइं, एवतियं जाव करेज्जा। [पढमो गमओ]।

[७ प्र.] भगवन्! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं? इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] गौतम! वे जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। वे वज्र-ऋषभनाराचसंहनन वाले होते हैं। उनकी अवगाहना जघन्य धनुषपृथक्त्व की और उत्कृष्ट छह गाऊ (गव्यूति दो कोस) की होती है। वे समचतुरस्रसंस्थान वाले होते हैं। उनमें प्रारम्भ की चार लेश्याएँ होती हैं। वे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, केवल मिथ्यादृष्टि होते हैं। वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी होते हैं। उनमें नियम से दो अज्ञान होते हैं—मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान। उनमें योग तीनों ही पाये जाते हैं। उपयोग भी दोनों प्रकार के होते हैं। उनमें चार

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. ९२२

संज्ञा, चार कषाय, पांच इन्द्रियाँ तथा आदि के तीन समुद्घात होते हैं। वे समुद्घात करके भी मरते हैं और समुद्घात किये बिना भी मरते हैं। उनमें साता और असाता दोनों प्रकार की वेदना होती है। वे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी होते हैं, नपुंसकवेदी नहीं। उनकी स्थिति जघन्य कुछ अधिक (सातिरेक) पूर्वकोटि वर्ष की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। उनके अध्यवसाय प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी। उनका अनुबन्ध स्थिति के तुल्य होता है, कायसंवेध—भव की अपेक्षा से—दो भव ग्रहण करते हैं, काल की अपेक्षा से—जघन्य दस हजार वर्ष अधिक सातिरेक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट छह पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करते हैं। [सू. ६-७ प्रथम गमक]

८. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं असुरकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [बीओ गमओ]।

[८] यदि वह (असंख्यातवर्षायुष्क पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च) जीव जघन्य काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न हो तो इसकी वक्तव्यता पूर्वोक्तानुसार जाननी चाहिए। विशेष असुरकुमारों की स्थिति और संवेध स्वयं जान लेना चाहिए। [सू. ८ द्वितीय गमक]

९. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा। एसा चेव वत्तव्वया, नवरं ठिती से जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि, कालाएसेणं जहन्नेणं छप्पलिओवमाइं, एवतियं० सेसं तं चेव। [तइओ गमओ]।

[९] यदि वह उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है, इत्यादि वर्णन पूर्ववत् जानना। विशेष यह है कि उसकी स्थिति अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम होता है। काल की अपेक्षा से—जघन्य और उत्कृष्ट छह पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। शेष सब कथन पूर्ववत् जानना। [सू. ९ तृतीय गमक]

१०. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सातिरेगपुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जा।

[१०] यदि वह (असंख्यातवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट सातिरेक पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है।

११. ते णं भंते!० ?

अवसेसं तं चेव जाव भवाएसो त्ति, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं धणुपुहत्तं, उक्कोसेणं सातिरेगं धणुसहस्सं। ठिती जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि सातिरेगा पुव्वकोडी, एवं अणुबंधो वि। कालाएसेणं जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं सातिरेगाओ दो पुव्वकोडीओ, एवतियं०। [चउत्थो गमओ]।

[११ प्र.] भगवन्! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं? इत्यादि प्रश्न।

[११ उ.] (गौतम !) शेष सब कथन, यावत् भवादेश तक उसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना। विशेष यह है कि उनकी अवगाहना जघन्य धनुषपृथक्त्व और उत्कृष्ट सातिरेक एक हजार धनुष। उनकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट सातिरेक पूर्वकोटि की जानना। अनुबन्ध भी इसी प्रकार है। काल की अपेक्षा से—जघन्य दस हजार वर्ष अधिक सातिरेक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट सातिरेक दो पूर्वकोटि, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ११ चतुर्थ गमक]

१२. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं असुरकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [पंचमो गमओ]।

[१२] यदि वह जघन्य काल की स्थिति वाले असुकुमारों में उत्पन्न हो तो उसके विषय में यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ असुरकुमारों की स्थिति और संवेध के विषय में विचार कर स्वयं जान लेना। [सू. १२ पंचम गमक]

१३. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं सातिरेगपुव्वकोडिआउएसु, उक्कोसेण वि सातिरेगपुव्वकोडिआउएसु उववज्जेज्जा। सेसं तं चेव, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं सातिरेगाओ दो पुव्वकोडीओ, उक्कोसेण वि सातिरेगाओ दो पुव्वकोडीओ, एवतियं कालं सेवेज्जा०। [छट्ठो गमओ]।

[१३] यदि वह उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट सातिरेक पूर्वकोटिवर्ष की आयु वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है। शेष सब पूर्वकथित वक्तव्यतानुसार जानना। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य और उत्कृष्ट सातिरेक (कुछ अधिक) दो पूर्वकोटिवर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १३ छठा गमक]

१४. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, सो चेव पढमगमओ भाणियव्वो, नवरं ठिती जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि। कालाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छ पलितोवमाइं, एवतियं० [समत्तो गमओ]।

[१४] वही जीव स्वयं उत्कृष्टकाल की स्थिति वाला हो और असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो उसके लिये वही प्रथम गमक कहना चाहिए। विशेष यह है कि उसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम है तथा उसका अनुबन्ध भी इसी प्रकार जानना। काल की अपेक्षा से—जघन्य दस हजार वर्ष अधिक तीन पल्योपम और उत्कृष्ट छह पल्योपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १४ सप्तम गमक]

१५. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं असुरकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणिज्जा। [अट्ठमो गमओ]।

[१५] यदि वह (उत्कृष्ट स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च जघन्य काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो उसके विषय में भी पूर्वोक्त वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष

यह है कि असुरकुमारों की स्थिति और संवेध का कथन यहाँ विचारपूर्वक जान लेना चाहिए। [सू. १५ अष्टम गमक]

१६. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिश्रोवमं, उक्कोसेण वि तिपलिश्रोवमं। एसा चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं छप्पलिश्रोवमाइं, उक्कोसेण वि छप्पलिश्रोवमाइं, एवतियं०। [नवमो गमश्रो]।

[१६] यदि वह (उत्कृष्ट स्थिति वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च) उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है; इत्यादि वही पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से—जघन्य और उत्कृष्ट छह पल्योपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १६ नौवां गमक]

विवेचन—असुरकुमारों में संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय की उत्पत्ति आदि से सम्बन्धित कुछ स्पष्टीकरण—(१) असंख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च की जो उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की बतलाई गई है, वह देवकुरु आदि के युगलिक तिर्यञ्चों की अपेक्षा से समझनी चाहिए; क्योंकि उनकी तीन पल्योपमरूप असंख्यात वर्ष की आयु होती है और वे उत्कृष्ट अपनी आयु के तुल्य ही देवायु का बन्ध करते हैं। वे उत्कृष्ट *संख्यात उत्पन्न* होते हैं, क्योंकि असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च, मनुष्यक्षेत्रवर्ती ही होने से सदा संख्यात ही होते हैं, असंख्यात कदापि नहीं होते।[1]

उनके संहनन आदि—उनमें एकमात्र वज्रऋषभनाराच संहनन ही पाया जाता है; क्योंकि असंख्यात वर्षायुष्कों में यही संहनन होता है। उनकी अवगाहना जो धनुषपृथक्त्व कही गई है, वह पक्षियों की अपेक्षा समझनी चाहिए। उनकी आयु पल्योपम के असंख्यातवें भाग परिमाण होने से वे असंख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं। *उत्कृष्ट अवगाहना, जो छह गाऊ* की बताई गई है, वह देवकुरु आदि में उत्पन्न हाथी आदि की अपेक्षा से समझनी चाहिए। असंख्यातवर्ष की आयु वाले नपुंसकवेदी नहीं होते, वे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी ही होते हैं। उत्कृष्ट छह पल्योपम की स्थिति बतलाई गई है, वह तीन पल्योपम तो तिर्यञ्च-भव-सम्बन्धी और तीन पल्योपम असुरकुमार-भव-सम्बन्धी समझनी चाहिए। जीव, देवभव से निकल कर फिर असंख्यातवर्ष की आयुष्य वाले जीवों में उत्पन्न नहीं होते।[2]

जघन्य काल की स्थिति रूप चतुर्थ गमक के विषय में कुछ स्पष्टीकरण—जघन्य काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की स्थिति सातिरेक पूर्वकोटि की कही है, वह पक्षी आदि के लिए समझनी चाहिए। उत्कृष्ट स्थिति सातिरेक पूर्वकोटि की बतलाई गई है, उसका आशय यह है कि असंख्यात वर्ष की आयु वाले पक्षी आदि की स्थिति सातिरेक पूर्वकोटि की होती है और वह अपनी उत्कृष्ट आयु के बराबर ही देवायु का बन्ध करता है। उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक एक हजार धनुष की बतलाई गई है, वह सातवें कुलकर से पहले होने वाले हस्ती आदि की अपेक्षा से समझनी

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र, ८२०

२. वही, पत्र ८२०

चाहिए; क्योंकि यहाँ जघन्य स्थिति वाले असंख्यात वर्षायुष्क तिर्यञ्च का प्रकरण चल रहा है। उसकी आयु सातिरेक पूर्वकोटि की होती है। इस प्रकार का हस्ती आदि सातवें कुलकर के समय में या उससे पहले पाया जाता है। सातवें कुलकर की अवगाहना तो ५०० धनुष होती है, उससे पहले होने वाले कुलकरों की अवगाहना उससे अधिक होती है और उसके समय में होने वाले हस्ती आदि की अवगाहना उससे दुगुनी होती है। अतः सप्तम कुलकर अथवा उससे पहले होने वाले असंख्यात वर्ष की आयु वाले हस्ती आदि में ही उपर्युक्त अवगाहना-प्रमाण पाया जाता है।[1]

चौथे गमक में जो सातिरेक दो पूर्वकोटि की स्थिति बताई गई है उसमें एक सातिरेक पूर्वकोटि तो तिर्यञ्च-भव-सम्बन्धी जाननी चाहिए और एक सातिरेकपूर्वकोटि असुरकुमार-भव-सम्बन्धी समझनी चाहिए। असुरकुमारों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की होती है और उनका संवेध सातिरेक पूर्वकोटि सहित दस हजार वर्ष का होता है।[2] शेष गमकों के विषय में स्वयमेव विचार कर लेना चाहिए।

असुरकुमार में उत्पन्न होनेवाले संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक में उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१७. जति संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय० जाव उववज्जंति किं जलचर एवं जाव पज्जत्त-संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा?

गोयमा! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सातिरेगसागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[१७ प्र.] भगवन्! यदि असुरकुमार, संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे जलचरों से आकर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि यावत्—पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव जो असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है?

[१७ उ.] गौतम! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट सातिरेक एक सागरोपम की स्थिति वाले (असुरकुमारों) में उत्पन्न होता है।

१८. ते णं भंते! जीवा एगसमएणं०?

एवं एएसिं रयणप्पभपुढविगमगसरिसा नव गमगा नेयव्वा, नवरं जाहे अप्पणा जहन्नकाल-ट्ठितीयो भवति ताहे तिसु वि गमएसु इमं नाणत्तं—चत्तारि लेस्साओ; अज्झवसाणा पसत्था, नो अप्पसत्था। सेसं तं चेव। संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वो। [१—९ गमगा]।

[१८ प्र.] भगवन्! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं?

[१८ उ.] (गौतम!) इनके सम्बन्ध में रत्नप्रभापृथ्वी के विषय में वर्णित नौ गमकों के

१. वही, पत्र ८२०

२. वही, पत्र ८२०

सदृश यहाँ भी नौ गमक जानने चाहिए। विशेष यह है कि जब वह स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला होता है, तब तीनों ही गमकों (४-५-६) में यह अन्तर जानना चाहिए—इनमें चार लेश्याएँ होती हैं। इनके अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं, अप्रशस्त नहीं। शेष सब कथन पूर्ववत्। संवेध सातिरेक सागरोपम से कहना चाहिए। [सू. १७-१८, एक से नौ गमक तक]

विवेचन—निष्कर्ष—(१) असुरकुमारों में पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनिक जीव उत्पन्न होते हैं। (२) विशेषतया वे जघन्य १० हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सातिरेक एक सागरोपम की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होते हैं। (३) इसके नौ गमक रत्नप्रभा के गमकसदृश होते हैं। (४) कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—जघन्यकालिक स्थिति वाले तीनों (४-५-६) गमकों में लेश्याएँ चार, अध्यवसाय प्रशस्त और संवेध सातिरेक सागरोपम से।[1]

उत्कृष्ट सातिरेक सागरोपम स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पत्ति का कथन बलीन्द्रनिकाय की अपेक्षा से समझना चाहिए।[2]

अन्य विशेषताओं का स्पष्टीकरण—(१) जघन्यकाल की स्थिति वाले रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने योग्य तिर्यञ्चों के चौथे, पाँचवें और छठे गमक में तीन लेश्याएँ—(कृष्ण, नील, कापोत) कही गई हैं, किन्तु यहाँ इन्हीं तीन गमकों में चार लेश्याएँ कही गई हैं, इसका कारण यह है कि असुरकुमारों में तेजोलेश्या वाले जीव भी उत्पन्न होते हैं। (२) रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने वाले जघन्य स्थिति के तिर्यञ्चों के अध्यवसायस्थान अप्रशस्त कहे गए हैं, किन्तु यहाँ असुरकुमारों में प्रशस्त बताए हैं, दीर्घकालिक स्थिति वालों में तो प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों अध्यवसायस्थान होते हैं, किन्तु जघन्य स्थिति वालों में अप्रशस्त नहीं होते, क्योंकि काल अल्प होता है। (३) रत्नप्रभा-पृथ्वी के गमकों में संवेध एक सागरोपम से बताया गया है, जबकि यहाँ असुरकुमार-गमकों में सातिरेक (कुछ अधिक) एक सागरोपम बतलाया गया है। यह भी बलीन्द्रनिकाय की अपेक्षा से समझना चाहिए।[3]

संख्येयवर्षायुष्क-असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों की असुरकुमारों में उत्पत्ति का निरूपण

१९. जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सन्निमणुस्सेहिंतो, असन्निमणुस्सेहिंतो ?

गोयमा ! सन्निमणुस्सेहिंतो, नो असन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति।

[१९ प्र.] भगवन् ! यदि वे (असुरकुमार) मनुष्यों से आ कर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंज्ञी मनुष्यों से ?

[१९ उ.] गौतम ! वे संज्ञी मनुष्यों से आ कर उत्पन्न होते हैं, असंज्ञी मनुष्यों से नहीं।

२०. जदि सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति, असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति, असंखेज्जवासाउय० जाव उववज्जंति।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भाग २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९२५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२०

३. वही, पत्र ८२१

[२० प्र.] भगवन् ! यदि वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या संख्यात वर्ष की, आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! वे संख्यात वर्ष की आयु वाले (संज्ञी मनुष्यों से आकर) भी उत्पन्न होते हैं और असंख्यात वर्ष की आयु वाले (संज्ञी मनुष्यों) से (आकर) भी ।

विवेचन—निष्कर्ष—असुरकुमार संख्यातवर्ष की और असंख्यातवर्ष की आयु वाले भी संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं ।

असुरकुमारों में उत्पन्न होनेवाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

२१. असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ।

[२१ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य, जो असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[२१ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले (असुरकुमारों) में उत्पन्न होता है ।

२२. एवं असंखेज्जवासाउयतिरिक्खजोणियसरिसा आदिल्ला तिन्नि गमगा नेयव्वा, नवरं सरीरोगाहणा पढम-बितिएसु गमएसु जहन्नेणं सातिरेगाइं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। सेसं तं चेव। ततियगमे ओगाहणा जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेण वि तिण्णि गाउयाइं। सेसं जहेव तिरिक्खजोणियाणं। [१—३ गमगा]।

[२२] इस प्रकार पूर्वोक्त असुरकुमारों की उत्पत्ति के प्रथम के तीनों गमक (१-२-३) असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चयोनिक जीवों के गमक के समान जानने चाहिए। विशेषता यह है कि प्रथम और द्वितीय गमक में शरीरावगाहना जघन्य सातिरेक पांच सौ धनुष की और उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। शेष सब कथन पूर्ववत्। तृतीय गमक में शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट तीन गाऊ की समझनी चाहिए। शेष सब कथन तिर्यञ्चयोनिकों के समान है। [सू. २१-२२, गमक १-२-३]

२३. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि जहन्नकालट्ठितीयतिरिक्खजोणियसरिसा गमगा भाणियव्वा, नवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहन्नेणं सातिरेगाइं पंच धणुसयाइं। सेसं तं चेव। [४—६ गमगा]।

[२३] यदि वह स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और असुरकुमारों में

उत्पन्न हो तो उसके भी तीनों गमक जघन्यकाल की स्थिति वाले तिर्यञ्चयोनिक के समान कहने चाहिए। विशेषता यह है कि तीनों ही गमकों में शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट सातिरेक पांच सौ धनुष की होती है। शेष सब वर्णन पूर्ववत् जानना चाहिए। [सू. २३, गमक ४-५-६]

२४. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि ते चेव पच्छिल्लगा तिन्नि गमगा भाणियव्वा, नवरं सरीरोगाहणा तिसु वि गमएसु जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि गाउयाइं। अवसेसं तं चेव। [७—९ गमगा]।

[२४] यदि वह स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो तो उसके विषय में भी पूर्वोक्त अन्तिम तीनों गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि तीनों गमकों में शरीरावगाहना जघन्य और उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। शेष सब कथन पूर्ववत् है। [सू. २४, गमक ७-८-९]

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—(१) असंख्यातवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों की तीन पल्योपम की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पत्ति का कथन देवकुरु आदि के यौगलिक मनुष्यों की अपेक्षा से समझना चाहिए; क्योंकि वे ही अपनी आयु के सदृश देवायु का उत्कृष्ट बन्ध करते हैं। (२) आदि के तीनों गमकों में अवगाहना-सम्बन्धी—शरीरावगाहना के विषय में औघिक मनुष्य का औघिक असुरकुमारों में उत्पन्न होने सम्बन्धी प्रथम गमक है और औघिक मनुष्य का जघन्य स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होने सम्बन्धी द्वितीय गमक है। इनमें से औघिक असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य की जघन्य सातिरेक ५०० धनुष की अवगाहना होती है, वह सातवें कुलकर या उससे पहले होने वाले यौगलिक मनुष्य की अपेक्षा से समझनी चाहिए तथा उसकी उत्कृष्ट अवगाहना तीन गाऊ की होती है, जो देवकुरु आदि के यौगलिक मनुष्य की अपेक्षा से समझनी चाहिए। यह प्रथम गमक में होता है,। दूसरे गमक में भी इसी तरह दोनों प्रकार की अवगाहना समझनी चाहिए। तीसरे गमक में अवगाहना तीन गाऊ की बताई है, क्योंकि वही तीन पल्योपमरूप उत्कृष्ट स्थिति में उत्पन्न होता है और वह अपनी उत्कृष्ट आयु के समान ही देवायु का बन्धक होता है।[1]

असुरकुमारों में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त-असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२५. जइ संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जइ किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय० अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय० ?

गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्ज०, नो अपज्जत्तसंखेज्ज०।

[२५ प्र.] भगवन् ! यदि वह (असुरकुमार) संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है, तो क्या वह पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है, अथवा अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से ?

[२५ उ.] गौतम ! वह पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है, अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से नहीं।

---

१. (क) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. ३०५१

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२१

२६. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्से णं भंते ! जे भविए असुरकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं सातिरेगसागरोवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ।

[२६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्य, जो असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थितिवाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[२६ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट सातिरेक सागरोपम काल की स्थिति वाले असुरकुमारों में उत्पन्न होता है।

२७. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जहेव एएसिं रयणप्पभाए उववज्जमाणाणं नव गमका तहेव इह वि नव गमगा भाणियव्वा, णवरं संवेहो सातिरेगेण सागरोवमेण कायव्वो, सेसं तं चेव । [१—९ गमगा] ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चतुरवीसइमे सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ।। २४-२ ।।

[२७ प्र.] भगवन् ! वे जीव (असुरकुमार) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२७ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के नौ गमक कहे गए हैं; उसी प्रकार यहाँ भी नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इसका संवेध सातिरेक सागरोपम से कहना चाहिए। शेष समग्र कथन पूर्ववत् समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है; भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—संज्ञी मनुष्य के नौ ही गमकों का कथन पूर्वोक्त रत्नप्रभा-गमकों के समान समझना चाहिए। विशेषता सिर्फ इतनी है कि इनका संवेध सातिरेक सागरोपम से समझना चाहिये।[1]

।। चौवीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

□□

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२१

तइओ नागकुमारुद्देसओ

तृतीय उद्देशक : नागकुमार–(उत्पादादि-प्ररूपणा)

गति की अपेक्षा से नागकुमारों की उत्पत्ति का निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासि—

[१] राजगृह नगर में गौतमस्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. नागकुमारा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरि-मणु-देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नो णेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्खजोणिय-मणुस्सेहिंतो उववज्जंति, नो देवेहिंतो उववज्जंति।

[२ प्र.] भगवन् ! नागकुमार कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा तिर्यञ्चयोनिकों से, मनुष्यों से या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे न तो नैरयिकों से और न देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, वे तिर्यञ्चयोनिकों से या मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—नागकुमार न तो नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं और न ही देवों से; वे तिर्यञ्चों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

नागकुमार में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों में उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

३. जदि तिरिक्ख० ?

एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया (उ० २ सु० ३) तहा एतेसिं पि जाव असण्णि त्ति।

[३ प्र.] (भगवन् !) यदि वे (नागकुमार) तिर्यञ्चों से आते हैं, तो····इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार (उ. २ सू. ३ में) असुरकुमारों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार इनकी भी वक्तव्यता, यावत् असंज्ञी-पर्यन्त कहनी चाहिए।

संख्येयवर्षायुष्क-असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों की नागकुमारों में उत्पत्ति की प्ररूपणा

४. जदि सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो० किं संखेज्जवासाउय०, असंखेज्जवासाउय० ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय०, असंखेज्जवासायउ० जाव उववज्जंति।

[४ प्र.] भगवन् ! यदि वे (नागकुमार) संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, या असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से ?

[४ उ.] गौतम ! वे संख्येयवर्षायुष्क एवं असंख्येयवर्षायुष्क (दोनों प्रकार के) संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—नागकुमार, असुरकुमार की तरह संख्यातवर्ष की और असंख्यातवर्ष की आयु वाले दोनों प्रकार के संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।

नागकुमारों में उत्पन्न होनेवाले असंख्येयवर्षायुष्क-संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक में उपपात-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

५. असंखिज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितो० ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[५ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, जो नागकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[५ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है।

६. ते णं भंते ! जीवा० ?

अवसेसो सो चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स गमगो भाणियव्वो जाव भवाएसो त्ति; कालादेसेणं जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं देसूणाइं पंच पलिओवमाइं, एवतियं० जाव करेज्जा। [पढमो गमओ]।

[६ प्र.] भगवन् ! वे जीव (नागकुमार) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] (गौतम !) असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के समान यहाँ भी भवादेश तक गमक कहना चाहिए। काल की अपेक्षा से—जघन्य दस हजार वर्ष अधिक सातिरेक पूर्वकोटिवर्ष और उत्कृष्ट देशोन पांच पल्योपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ५-६ प्रथम गमक]

७. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं नागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [बीओ गमओ]।

[७] यदि वह जघन्यकाल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न हो, तो उसके लिये भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ नागकुमारों की स्थिति और संवेध जानना चाहिए। [सू. ७, द्वितीय गमक]

८. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, तस्स वि एस चेव वत्तव्वया, नवरं ठिती जहन्नेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं देसूणाइं चत्तारि पलिओवमाइं, उक्कोसेणं देसूणाइं पंच पलिओवमाइं, एवतियं कालं०। [तइओ गमओ]।

[८] यदि वह उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न हो, तो उसके लिए भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि उसकी स्थिति जघन्य देशोन दो पल्योपम की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। शेष सब पूर्ववत् यावत् भवादेश तक। काल की अपेक्षा से—जघन्य देशोन चार पल्योपम और उत्कृष्ट देशोन पांच पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ८, तृतीय गमक]

९. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जहन्नकालट्ठितीयस्स तहेव निरवसेसं। [४—६ गमगा]।

[९] यदि वह स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न हुआ हो तो उसके भी तीनों गमकों में असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले जघन्य काल की स्थिति के असंख्यातवर्षायुष्क संज्ञी तिर्यञ्च के तीनों गमकों के समान समग्र कथन जानना चाहिए।

[सू. ९, ४-५-६ गमक]

१०. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीयो जाओ, तस्स वि तहेव तिन्नि गमका जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स, नवरं नागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तं चेव जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स। [७—९ गमगा]।

[१०] यदि वह स्वयं उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न हुआ हो, तो उसके भी तीनों गमक, असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले तिर्यञ्चयोनिक के तीनों गमकों के समान कहने चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ नागकुमार की स्थिति और संवेध जानना चाहिए। शेष सब वर्णन असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले तिर्यञ्चयोनिक के समान जानना चाहिए।

[सू. १०, ७-८-९ गमक]

विवेचन—नागकुमारों की उत्पत्तिविषयक स्पष्टीकरण—(१) 'उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति वालों में उत्पन्न होता है'; यह कथन उत्तरदिशा के नागकुमारनिकाय की अपेक्षा से समझना चाहिए; क्योंकि उन्हीं में देशोन दो पल्योपम की उत्कृष्ट आयु होती है। (२) उत्कृष्ट संवेधपद में जो देशोन पांच पल्योपम कहे गए हैं, वे असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च सम्बन्धी तीन पल्योपम और नागकुमार सम्बन्धी देशोन दो पल्योपम, इस प्रकार देशोन पांच पल्योपम समझना चाहिए। (३) दूसरे गमक में नागकुमारों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की बताई है। संवेधकाल की अपेक्षा से—जघन्य सातिरेक पूर्वकोटि सहित दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट तीन पल्योपम सहित दस हजार वर्ष समझना चाहिए। (४) तीसरे गमक में देशोन दो पल्योपम की स्थिति वालों में उत्पत्ति समझनी चाहिए। जघन्य देशोन दो पल्योपम की जो स्थिति कही है, वह अवसर्पिणीकाल के सुषमा नामक दूसरे आरे का कुछ भाग बीत जाने पर असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों की

अपेक्षा से समझनी चाहिए; क्योंकि उन्हीं में इतना आयुष्य हो सकता है और वे ही अपनी उत्कृष्ट आयु के समान देवायु का बन्ध करके उत्कृष्ट स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होते हैं। (५) तीन पल्योपम की जो स्थिति कही गई है, वह देवकुरु आदि के असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले तिर्यञ्चों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। तीन पल्योपम की आयु वाले भी नागकुमारों में देशोन दो पल्योपम की आयु बांधते हैं, क्योंकि वे अपनी आयु के बराबर अथवा उससे कम आयु तो बांध लेते हैं, परन्तु अधिक देवायु नहीं बांधते।[1]

नागकुमार में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक में उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

११. जदि संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय० जाव किं पज्जत्तसंखेज्जवासाउय०, अपज्जत्तसंखे० ?

गोयमा ! पज्जत्तसंखेज्जवासाउय०, नो अपज्जत्तसंखेज्जवासाउय०। जाव—

[११ प्र.] भगवन् ! यदि वे (नागकुमार) संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[११ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से नहीं।

१२. पज्जत्तसंखेज्जवासाउय० जाव जे भविए णागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलितोवमाइं। एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स वत्तव्वया तहेव इह वि नवसु वि गमएसु, णवरं नागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तं चेव। [१—९ गमगा]।

[१२ प्र.] भगवन् ! यदि पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, जो नागकुमारों में उत्पन्न होने योग्य हो, तो वह कितने काल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है; इत्यादि जिस प्रकार असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यहाँ नौ ही गमकों में कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि यहाँ नागकुमारों की स्थिति और संवेध जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना।
[१-९ गमक]

---

१. (क) कहा है—दाहिण—'दिवड्ढपलियं दो देसूणुत्तरिल्लाणं'
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२३
(ग) भगवती. (हिन्दी विवेचन पं. घेवरचन्दजी) भा. ६, पृ. ३०५७

नागकुमार में उत्पन्न होनेवाले असंख्यातवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१३. जइ मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सन्निमणु०, असण्णिमणु० ?

गोयमा ! सन्निमणु०, नो असन्निमणु० जहा असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स जाव—

[१३ प्र.] भगवन् ! यदि वे (नागकुमार) मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, या असंज्ञी मनुष्यों से ?

[१३ उ.] गौतम ! वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंज्ञी मनुष्यों से नहीं; इत्यादि जैसे असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य मनुष्यों की वक्तव्यता कही है, वैसे ही यहाँ कहनी चाहिए। यावत्—

१४. असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्स०, उक्कोसेणं देसूणदुपलिओवम०। एवं जहेव असंखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं नागकुमारेसु आदिल्ला तिण्णि गमका तहेव इमस्स वि, नवरं पढम-बितिएसु गमएसु सरीरोगाहणा जहन्नेणं सातिरेगाइं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं, ततियगमे ओगाहणा जहन्नेणं देसूणाइं दो गाउयाइं, उक्कोसेणं तिण्णि गाउयाइं। सेसं तं चेव। [१—३ गमगा]।

[१४ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य, जो नागकुमारों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है ?

[१४ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होता है। इस प्रकार असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों का नागकुमारों में उत्पन्न होने सम्बन्धी प्रथम के तीन गमक जानने चाहिए। परन्तु पहले और दूसरे गमक में शरीर की अवगाहना जघन्य सातिरेक पांच सौ धनुष और उत्कृष्ट तीन गाऊ होती है। तीसरे गमक में अवगाहना जघन्य देशोन दो गाऊ और उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। शेष सब पूर्ववत्। [गमक १-२-३]

१५. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि तिसु वि गमएसु जहा तस्स चेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव निरवसेसं। [४—६ गमगा]।

[१५] यदि वह स्वयं (नागकुमार), जघन्य काल की स्थिति वाला हो, तो उसके भी तीनों गमकों में असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाले संज्ञी मनुष्य के समान समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए। [गमक ४-५-६]

१६. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीयो जाओ तस्स तिसु वि गमएसु जहा तस्स चेव उक्कोसकालट्ठितीयस्स असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स, नवरं नागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तं चेव। [७—९ गमगा]।

[१६] यदि वह (नागकुमार) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो, तो उसके सम्बन्ध में भी तीनों गमकों में असुरकुमारों में उत्पन्न होने योग्य उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले असंख्यातवर्षीय

संज्ञी मनुष्य के समान वक्तव्यता जाननी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि यहाँ नागकुमारों की स्थिति और संवेध जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना। [गमक ७-८-९]

नागकुमार में उत्पन्न होनेवाले पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी-मनुष्य में उपपात आदि प्ररूपणा

१७. जदि संखेज्जवासाउयसन्निमणु० किं पज्जत्तासंखेज्ज०, अपज्जत्तासं० ?

गोयमा ! पज्जत्तासंखे०, नो अपज्जत्तासंखे०।

[१७ प्र.] भगवन् ! यदि वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आते हैं तो पर्याप्त या अपर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आते हैं ?

[१७ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आते हैं, अपर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से नहीं।

१८. पज्जत्तासंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए नागकुमारेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्स०, उक्कोसेणं देसूणदोपलिओवमट्ठिती०। एवं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स स च्चेव लद्धी निरवसेसा नवसु गमएसु, नवरं नागकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [१—९ गमगा]।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसतिमे सए : ततिओ उद्देसगो समत्तो ॥ २४-३ ॥

[१८ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त संख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य नागकुमारों में उत्पन्न हो तो कितनी काल की स्थिति वालों में उत्पन्न होता है ?

[१८ उ.] गौतम ! जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की स्थिति के नागकुमारों में उत्पन्न होता है, इत्यादि असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य की वक्तव्यता के समान किन्तु स्थिति और संवेध नागकुमारों के समान जानना चाहिए। [१-९-गमक]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतम स्वामी, यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—(१) नागकुमार पर्याप्त संख्यात अथवा असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर नागकुमारों में उत्पन्न होते हैं। (२) वे जघन्य १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट कुछ न्यून दो पल्योपम की स्थिति वाले नागकुमारों में उत्पन्न होते हैं। (३) नागकुमारों में उत्पन्न होने सम्बन्धी नौ ही गमकों की वक्तव्यता प्रायः असुरकुमारों के समान है। जहाँ-जहाँ कुछ अन्तर है, वहाँ मूलपाठ में ही वह बता दिया गया है।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : तृतीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भाग २, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ९२८-९२९

(ख) भगवती० (हिन्दी विवेचन) भाग ६, पृ. ३०६१

चउत्थाइ-एगारस-पज्जंता सुवण्णकुमाराइ-थणियकुमार-पज्जंता उद्देसगा

चतुर्थ से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक : सुवर्णकुमार से स्तनितकुमार तक

चौथे से लेकर ग्यारहवें उद्देशक की समग्र वक्तव्यता : तृतीय नागकुमार-उद्देशकानुसार

१. अवसेसा सुवण्णकुमारादी जाव थणियकुमारा, एए अट्ठ वि उद्देसगा जहेव नागकुमाराणं तहेव निरवसेसा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसतिमे सए : चउत्थाइ-एगारसपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ २४-४-११ ॥

[१] सुवर्णकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक अवशिष्ट आठ भवनपति देवों के ये आठ उद्देशक भी नागकुमारों के समान समग्र वक्तव्यता-युक्त कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है;' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ चौवीसवां शतक : चार से ग्यारह उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

बारसमो : पुढविकाइय उद्देसओ

बारहवाँ उद्देशक : पृथ्वीकायिक (उपपातादि प्ररूपणा)

गति की अपेक्षा से पृथ्वीकायिकों की उत्पत्तिप्ररूपणा

१. [१] पुढविकाइया णं भंते ! कओहिंओ उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्ख-मणुस्स-देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्ख-मणुस्स-देवेहिंतो उववज्जंति ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? या तिर्यञ्चों, मनुष्यों या देवों से उत्पन्न होते हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से नहीं, किन्तु तिर्यञ्चों, मनुष्यों या देवों से उत्पन्न होते हैं ।

[२] जदि तिरिक्खजोणि० किं एगिंदियतिरिक्खजोणि०, ?

एवं जहा वक्कंतीए उववातो जाव—

[१-२ प्र.] यदि वे (पृथ्वीकायिक जीव) तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं, तो क्या एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१-२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के (छठे) व्युत्क्रान्ति पद में कहा गया है, तदनुसार यहाँ भी उपपात कहना चाहिए । यावत्—

[३] जदि बादरपुढविकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्ताबायर० जाव उववज्जंति, अपज्जत्ताबादरपुढवि० ?

गोयमा ! पज्जत्ताबायरपुढवि०, अपज्जत्ताबादरपुढवि जाव उववज्जंति ।

[१-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक जीव) बादर पृथ्वीकायिक एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं तो पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक से उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक से ?

[१-३ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के बादर पृथ्वीकायिक जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं, (यहाँ तक कहना चाहिए ।)

विवेचन—दो निष्कर्ष—(१) पृथ्वीकायिक जीव नारकों से नहीं आते, वे तिर्यञ्चों, मनुष्यों या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं । (२) तिर्यञ्चयोनिकों में भी वे पर्याप्त और अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं ।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा.२, (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ९३०

प्रज्ञापनासूत्र का अतिदेश— प्रश्न १-२ में प्रज्ञापनासूत्र के व्युत्क्रान्ति नामक छठे पद का अतिदेश किया गया है। वहाँ के पाठ का भावार्थ इस प्रकार है—(प्र.) 'भगवन् ! वे एकेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? (उ.) गौतम ! वे एकेन्द्रिय यावत् पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं।'[1]

पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होनेवाले पृथ्वीकायिक संबंधी उत्पत्ति-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२. पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[२ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक जीव, पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य हो, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाले और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है।

३. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं० पुच्छा।

गोयमा अणुसमयं अविरहिया असंखेज्जा उववज्जंति। सेवट्टसंघयणी, सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं। मसूराचंदासंठिया। चत्तारि लेस्साओ। नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो अन्नाणा नियमं। नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी। उवयोगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ। चत्तारि कसाया। एगे फासिंदिए पन्नत्ते। तिण्णि समुग्घाया। वेयणा दुविहा। नो इत्थिवेयगा, नो पुरिसवेयगा, नपुंसगवेयगा। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। अज्झवसाणा पसत्था वि, अपसत्था वि। अणुबंधो जहा ठिती।

[३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] गौतम ! वे प्रतिसमय निरन्तर असंख्यात उत्पन्न होते हैं। वे सेवार्त्तसंहनन वाले होते हैं। उनके शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होती है। उनका संस्थान (आकार) मसूर की दाल जैसा होता है। उनमें चार लेश्याएँ होती हैं। सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी ही होते हैं। उनमें दो अज्ञान (मति-अज्ञान और श्रुत-अज्ञान) नियम से होते हैं। वे मनोयोगी और वचनयोगी नहीं होते, काययोगी ही होते हैं। उनमें साकार और अनाकार दोनों उपयोग होते हैं। उनमें चारों संज्ञाएँ, चारों कषाय और एकमात्र स्पर्शेन्द्रिय होती हैं। उनमें प्रथम के तीन समुद्घात होते हैं, साता और असाता- दोनों वेदना होती है। वे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी नहीं होते, नपुंसकवेदी ही होते हैं। उनकी स्थिति

---

१. देखो—पण्णवणासुत्तं भा.१, छठा व्युत्क्रान्तिपद सू. ६५०, पृ. १७४ (महा. वि. प्रकाशन)

जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है। उनके अध्यवसाय प्रशस्त और अप्रशस्त, दोनों प्रकार के होते हैं। अनुबन्ध स्थिति के अनुसार होता है।

४. से णं भंते ! पुढविकाइए पुणरवि 'पुढविकाइए' त्ति केवतियं कालं सेवेज्जा ? केवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा ?

गोयमा ! भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं, एवतियं जाव करेज्जा। [पढमो गमओ]।

[४ प्र.] भगवन् ! वह पृथ्वीकायिक मर कर पुनः पृथ्वीकायिक रूप में उत्पन्न हो तो इस प्रकार कितने काल तक सेवन करता है और कितने काल तक गमनागमन करता रहता है ?

[४ उ.] गौतम ! भव की अपेक्षा से—वह जघन्य दो भव एवं उत्कृष्ट असंख्यात भव ग्रहण करता है और काल की अपेक्षा से—वह जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट असंख्यात काल, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता रहता है। [सू. २-३-४ प्रथम गमक]

५. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु। एवं चेव वत्तव्वया निरवसेसा। [बीओ गमओ]।

[५] यदि वह (पृथ्वीकायिक) जघन्य काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है। इस प्रकार समग्र वक्तव्यता जाननी चाहिए।[सू. ५ द्वितीय गमक]

६. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु। सेसं चेव जाव अणुबंधो त्ति, णवरं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा। भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं कालं जाव करेज्जा। [तइओ गमओ]।

[६] यदि वह (पृथ्वीकायिक) उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है। शेष सब कथन यावत् अनुबन्ध तक पूर्वोक्त प्रकार से जानना। विशेष यह है कि वे जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। भव की अपेक्षा से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख छिहत्तर हजार (१७६०००) वर्ष इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ६, तृतीय गमक]

७. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, सो चेव पढमिल्लओ गमओ भाणियव्वो, नवरं लेस्साओ तिन्नि; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं; अप्पसत्था अज्झवसाणा; अणुबंधो जहा ठिती। सेसं तं चेव। [चउत्थो गमओ]।

[७] यदि वह (पृथ्वीकायिक) स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और पृथ्वीकायिक में उत्पन्न हो तो उसके सम्बन्ध में पूर्वोक्त प्रथम गमक के समान कहना चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि उसमें लेश्याएँ तीन होती हैं। उसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। उसका अध्यवसाय अप्रशस्त और अनुबन्ध स्थिति के समान होता है। शेष सब पूर्ववत् कहना चाहिए। [सू. ७, चतुर्थ गमक]

८. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, स च्चेव चतुत्थगमकवत्तव्वता भाणियव्वा। [पंचमो गमओ]।

[८] यदि वह (जघन्य स्थिति वाला पृथ्वीकायिक) जघन्य काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो उसके सम्बन्ध में पूर्वोक्त चतुर्थ गमक के अनुसार वक्तव्यता कहनी चाहिए। [सू. ८, पंचम गमक]

९. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वता, नवरं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा जाव भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। [छट्ठो गमओ]।

[९] यदि वह (जघन्य स्थिति वाला पृथ्वीकायिक) उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक में उत्पन्न हो, तो यही वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि वह जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं। यावत् भवादेश से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है। काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष, और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८ हजार वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ९, छठा गमक]

१०. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जातो, एवं तइयगमगसरिसो निरवसेसो भाणियव्वो, नवरं अप्पणा से ठिती जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं, उक्कोसेण वि बावीसं वाससहस्साइं। [सत्तमो गमओ]।

[१०] यदि वह (पृथ्वीकायिक) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो और पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो, तो उसके विषय में तृतीय गमक के समान समग्र गमक कहना चाहिए। विशेष यह है कि उसकी स्वयं की स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की होती है। [सू. १०, सप्तम गमक]

११. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं। एवं जहा सत्तमगमगो जाव भवादेसो। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। [अट्ठमो गमओ]।

[११] यदि वह (उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पृथ्वीकायिक) स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों

में उत्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ सातवें गमक की वक्तव्यता यावत् भवादेश तक कहनी चाहिए। काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८ हजार वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. ११, अष्टम गमक]

१२. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो जहन्नेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु। एस चेव सत्तमगमकवत्तव्वया जाव भवादेसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं चोयालीसं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं छावत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं०। [नवमो गमओ]।

[१२] यदि वही (उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला पृथ्वीकायिक जीव) उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो जघन्य और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है। यहाँ सप्तम गमक की समग्र वक्तव्यता यावत् भवादेश तक कहनी चाहिए। काल की अपेक्षा से—जघन्य ४४ हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख छिहत्तर हजार वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सू. १२, नौवाँ गमक]

विवेचन—पृथ्वीकायिकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ स्पष्टीकरण—तृतीय गमक में उत्पत्ति-परिमाण—तृतीय गमक में उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों की उत्पत्ति के विषय में जो यह कहा गया है कि 'वे एक, दो या तीन उत्पन्न होते हैं' इसका आशय यह है कि प्रथम और द्वितीय गमक में उत्पन्न होने वाले बहुत होने से असंख्यात ही उत्पन्न होते हैं, किन्तु तृतीय गमक में उत्कृष्ट स्थिति वाले एक आदि से लेकर असंख्यात तक उत्पन्न होते हैं। क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले कम होने से वे एक आदि रूप में भी उत्पन्न हो सकते हैं।[1]

तृतीय गमक के आठ भवों का स्पष्टीकरण—तृतीय गमक में पृथ्वीकायिकों के उत्कृष्ट ८ भव बताए गए हैं, उसका कारण यह है कि जिस संवेध में दोनों पक्षों में, अथवा दोनों पक्षों में से किसी एक पक्ष में, अर्थात्—उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिक जीव की अथवा जिसमें उत्पन्न होता है, उन पृथ्वीकायिक जीवों की स्थिति उत्कृष्ट हो तो अधिक से अधिक आठ भव की कायस्थिति होती है। इससे भिन्न (जघन्य और मध्यम स्थिति हो तो) असंख्यात भवों की कायस्थिति होती है। अतः यहाँ उत्पत्ति के विषयभूत (जिनमें उत्पन्न होता है, उन) जीवों की उत्कृष्ट स्थिति होने से आठ भव कहे गए हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

एक भव की उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष की होती है। इस दृष्टि से आठ भवों की उत्कृष्ट स्थिति एक लाख छिहत्तर हजार (१७६०००) वर्ष की होती है।[2]

चौथे गमक में तीन लेश्याएँ : क्यों और कैसे ?—चौथे गमक में तीन लेश्याएँ कही गई हैं, इसका कारण यह है कि जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक में जीव, देवों से च्यव कर उत्पन्न नहीं होता, अतः उसमें (जघन्यकाल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक में) तेजोलेश्या नहीं होती।[3]

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२५
२. वही, पत्र ८२५
३. वही, पत्र ८२५

छठे गमक में उत्कृष्ट काल कितना और क्यों ?—छठे गमक में चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८ हजार वर्ष काल कहा गया है, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति वाले की चार-चार बार उत्पत्ति होती है। एक वार की उत्पत्ति का जघन्य एवं उत्कृष्ट काल बाईस हजार वर्ष है, अतः चार बार उत्पत्ति होने में इतना काल होता है।

नौवें गमक में जघन्य काल कितना और क्यों ?—नौवें गमक में जघन्य ४४ हजार वर्ष कहे गए हैं। वह इस दृष्टि से कहा गया है कि बाईस हजार वर्ष रूप उत्कृष्ट स्थिति के दो भव करने से ४४ हजार वर्ष होते हैं।[१]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले अप्कायिकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१३. जति आउकाइयएगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सुहुमआउ० बादरआउ० एवं चउक्कओ भेदो भाणियव्वो जहा पुढविकाइयाणं।

[१३ प्र.] (भगवन् !) यदि वह (पृथ्वीकायिक जीव) अप्कायिक-एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होता है, तो क्या सूक्ष्म अप्कायिक० से आकर उत्पन्न होता है, या बादर अप्कायिक० से ?

[१३ उ.] (गौतम !) पृथ्वीकायिक जीवों के समान यहाँ भी (सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, ये) चार भेद कहने चाहिए।

१४. आउकाइए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जिज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु। एवं पुढविकाइयगमगसरिसा नव गमगा भाणियव्वा। नवरं थिबुगाबिंदुसंठिते। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं सत्त वाससहस्साइं। एवं अणुबंधो वि। एवं तिसु गमएसु। ठिती संवेहो तइय-छट्ठ-सत्तमऽट्ठम-नवमेसु गमएसु भवादेसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं सेसेसु चउसु गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं असंखेज्जाइं भवग्गहणाइं। तइयगमए कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं सोलसुत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं०। छट्ठे गमए कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। सत्तमगमए कालाएसेणं जहन्नेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं सोलसुत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं०। अट्ठमे गमए कालाएसेणं जहन्नेणं सत्त वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। नवमे गमए भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं

---

६. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२५

अट्ठ भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं एकूणतीसं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सोलसुत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं० । एवं नवसु वि गमएसु आउकाइयठिई जाणियव्वा । [१—९ गमगा] ।

[१४ प्र.] भगवन् ! जो अप्कायिक जीव पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होता है ?

[१४ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट वाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होता है । इस प्रकार पृथ्वीकायिक के समान अप्कायिक के भी नौ गमक जानना चाहिए । विशेष यह है कि अप्कायिक का संस्थान स्तिवुक (—वुलवुले) के आकार का होता है । स्थिति और अनुवन्ध जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष है । इसी प्रकार तीनों गमकों में जानना चाहिए । तीसरे, छठे, सातवें, आठवें और नौवें गमक में संवेध—भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण होते हैं । शेष चार गमकों में जघन्य दो भव और उत्कृष्ट असंख्यात भव होते हैं । तीसरे गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख सोलह हजार वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है । छठे गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक वाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८ हजार वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है । सातवें गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक सात हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख सोलह हजार वर्ष तक यावत् गमनागमन करता है । आठवें गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक सात हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक २८ हजार वर्ष तक यावत् गमनागमन करता है । नौवें गमक में भवादेश से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य उनतीस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख सोलह हजार वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है । इस प्रकार नौ ही गमकों में अप्कायिक की स्थिति जाननी चाहिए ।

(गमक १ से ९ तक)

विवेचन—अप्काय के भेद—सूक्ष्म और बादर अप्काय में से प्रत्येक के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार प्रकार होते हैं ।

भवादेश से संवेध का कथन—भव की अपेक्षा से सभी गमकों में जघन्यतः दो भवग्रहण प्रसिद्ध है, किन्तु उत्कृष्ट में विशेषता है । यथा—तीसरे, छठे, सातवें, आठवें और नौवें गमक में उत्कृष्टतः संवेध आठ भवग्रहण करते हैं । शेष पहले, दूसरे, चौथे और पांचवें गमक में उत्कृष्ट असंख्यात भव होते हैं; क्योंकि इन चार गमकों में किसी भी पक्ष में उत्कृष्ट स्थिति नहीं है ।[1]

कालादेश से कथन—काल की अपेक्षा से—तीसरे गमक में जघन्य २२,००० वर्ष कहे गए हैं, क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति इतनी ही है और अन्तर्मुहूर्त्त जो अधिक कहा गया है, वह वहाँ पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने वाले अप्कायिक की जघन्यकाल-स्थिति की विवक्षा से कहा गया है । इसी गमक में १,१६,००० वर्ष कहे गए हैं । यहाँ उत्कृष्ट स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों के चार इसी प्रकार औघिक में उत्कृष्ट स्थिति वाले अप्कायिक जीवों के चार इन दोनों को मिलाने से कुल एक लाख सोलह हजार वर्ष होते हैं ।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२५
२. वही, पत्र ८२५
३. वही, पत्र ८२५

छठे गमक में जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पत्ति बतलाई गई है। इसलिए दोनों के चार भवों के चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८,००० वर्ष होते हैं। सातवें और आठवें गमक का संवेध भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

नौवें गमक में जघन्यत: पृथ्वीकायिक और अप्कायिक की उत्कृष्ट स्थिति मिलाने से २९,००० वर्ष होते हैं तथा उत्कृष्टत: पूर्वोक्त दृष्टि से एक लाख सोलह हजार वर्ष होते हैं।

अन्य सब बातें मूलपाठ में स्पष्ट हैं।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले तेजस्कायिकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१५. जति तेउक्काइएहिंतो उवव० ?

तेउक्काइयाण वि एस चेव वत्तव्वया, नवरं नवसु वि गमएसु तिन्नि लेस्साओ। तेउकाइयाणं सूयीकलावसंठिया। ठिती जाणियव्वा। तइयगमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं बारसहिं रातिंदिएहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। एवं संवेहो उवजंजिऊण भाणियव्वो। [१—९ गमगा]।

[१५ प्र.] भगवन् ! यदि वह तेजस्कायिक (अग्निकायिक) से आकर उत्पन्न होता हो तो ? इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] तेजस्कायिकों के विषय में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि नौ ही गमकों में तीन लेश्याएँ होती हैं। तेजस्काय का संस्थान सूचीकलाप (सूइयों के ढेर) के समान होता है। इसकी स्थिति (तीन अहोरात्र की) जाननी चाहिए। तीसरे गमक में काल की अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट बारह अहोरात्र अधिक ८८,००० वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इसी प्रकार संवेध भी उपयोग (ध्यान) रख कर कहना चाहिए। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण—(१) **तीन लेश्याएँ क्यों ?**—अप्काय में देवों की उत्पत्ति होती है, इसलिए चार लेश्याएँ कही गई हैं, जबकि तेजस्काय में देवों की उत्पत्ति नहीं होती, इसलिए इसके नौ ही गमकों में तीन लेश्याएँ कही गई हैं। (२) **स्थिति**—तेजस्काय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र की है। (३) **तृतीय गमक में तेजस्कायिक की उत्पत्ति**—उत्कृष्ट स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में इसकी उत्पत्ति होती है, तब एक पक्ष उत्कृष्ट स्थिति वाला होने से पृथ्वीकायिक के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ८८,००० वर्ष की होती है तथा तेजस्काय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति बारह अहोरात्र होती है। (४) **संवेध**—छठे से नौवें गमक तक में भव की अपेक्षा से—आठ भव होते हैं और काल की अपेक्षा उपयोगपूर्वक कहना चाहिए। शेष गमकों में उत्कृष्ट असंख्यात भव होते हैं और काल भी असंख्यात होता है।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२६

२. वही, पत्र ८२६

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले वायुकायिकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१६. जति वाउकाइएहिंतो० ?

वाउकाइयाण वि एवं चेव नव गमगा जहेव तेउकाइयाणं, नवरं पडागासंठिया पन्नत्ता, संवेहो वाससहस्सेहिं कायव्वो, तइयगमए कालादेसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं एगं वाससयसहस्सं, एवतियं० । एवं संवेहो उवजुंजिऊण भाणियव्वो । [१—९ गमगा] ।

[१६ प्र.] (भगवन् !) यदि वे वायुकायिकों से आकर उत्पन्न हों तो ? इत्यादि प्रश्न ।

[१६ उ.] वायुकायिकों के विषय में तेजस्कायिकों की तरह नौ ही गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि वायुकाय का संस्थान पताका के आकार का होता है । संवेध हजारों वर्षों से कहना चाहिए । तीसरे गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है । इस प्रकार उपयोगपूर्वक संवेध कहना चाहिए । [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—(१) वायुकायिक जीवों का संवेध—हजारों से कहना चाहिए, इस कथन का आशय यह है कि तेजस्काय के अधिकार में तीन अहोरात्र से संवेध किया गया था, क्योंकि उनकी उत्कृष्ट स्थिति तीन अहोरात्र की होती है, जबकि वायुकायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन हजार वर्ष की होती है, इसलिए इनका संवेध तीन हजार वर्षों से कहना चाहिए । (२) तीसरे गमक में उत्कृष्ट आठ भव बताए हैं, उनमें से पृथ्वीकायिक के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ८८००० वर्ष की होती है और वायुकायिक जीवों के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति १२००० वर्ष की होती है । इन दोनों को मिलाने से संवेध एक लाख वर्ष का होता है । इस प्रकार जहाँ उत्कृष्ट स्थिति का गमक हो, वहाँ उत्कृष्ट आठ भव और तदनुसार काल कहना चाहिए । इसके अतिरिक्त दूसरे गमकों में असंख्यात भव और तदनुसार असंख्यात काल कहना चाहिए ।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले वनस्पतिकायिकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१७. जति वणस्सतिकाइएहिंतो० ?

वणस्सइकाइयाणं आउकाइयगमगसरिसा नव गमगा भाणियव्वा, नवरं नाणासंठिया । सरीरोगाहणा पन्नत्ता—पढमएसु पच्छिल्लएसु य तिसु गमएसु जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं सातिरेगं जोयणसहस्सं, मज्झिल्लएसु तिसु तहेव जहा पुढविकाइयाइं । संवेहो ठिती य जाणितव्वा । ततिए गमए कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठावीसुत्तरं वाससयसहस्सं, एवतियं० । एवं संवेहो उवजुंजिऊण भाणियव्वो ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२६

[१७ प्र.] भगवन् ! यदि वे वनस्पतिकायिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो ? इत्यादि प्रश्न।

[१७ उ.] अप्कायिकों के गमकों के समान वनस्पतिकायिकों के नौ गमक कहने चाहिए। वनस्पतिकायिकों का संस्थान अनेक प्रकार का होता है। उनके शरीर की अवगाहना इस प्रकार कही गई है—प्रथम के तीन गमकों और अन्तिम तीन गमकों में जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सातिरेक एक हजार योजन की होती है। बीच के तीन गमकों में अवगाहना पृथ्वीकायिकों के समान समझनी चाहिए। इसकी संवेध और स्थिति (जो भिन्न है) जान लेनी चाहिए। तृतीय गमक में काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष, उत्कृष्ट एक लाख अट्ठाईस हजार वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इस प्रकार उपयोगपूर्वक संवेध भी कहना चाहिए।

विवेचन—वनस्पतिकायिकों के नौ गमकों का स्पष्टीकरण—(१) वनस्पतिकायिक के नौ गमकों के लिए अप्कायिक-गमकों का अतिदेश किया गया है। (२) **विशेषताएँ इस प्रकार हैं**—वनस्पतिकाय का संस्थान नाना प्रकार का है। वनस्पतिकाय के प्रथम तीन औघिक गमकों में और अन्तिम तीन (७-८-९) गमकों में अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की होती है। जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सातिरेक एक हजार योजन की होती है। बीच के (४-५-६) तीन गमकों में जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यतावें भाग की होती है। वनस्पतिकाय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष की होती है। इसके अनुसार संवेध भी जानना चाहिए। किसी भी पक्ष में उत्कृष्ट स्थिति के गमकों में उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। उनमें से पृथ्वीकाय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ८८,००० वर्ष होती है और वनस्पतिकाय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ४०,००० वर्ष होती है। दोनों को मिलाने से एक लाख अट्ठाईस हजार वर्ष का संवेधकाल होता है।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले द्वीन्द्रिय जीवों में उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१८. जदि बेइंदिएहिंतो उववज्जंति किं पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उववज्जंति, अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो० ?

गोयमा ! पज्जत्तबेइंदिएहिंतो उवव०, अपज्जत्तबेइंदिएहिंतो वि उववज्जंति।

[१८ प्र.] भगवन् ! यदि वे द्वीन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न हों तो क्या पर्याप्त द्वीन्द्रियजीवों से आकर उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त द्वीन्द्रिय जीवों से ?

[१८ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त द्वीन्द्रियों से भी तथा अपर्याप्त द्वीन्द्रियों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

१९. बेइंदिए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकाल० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु।

[१९ प्र.] भगवन् ! जो द्वीन्द्रिय जीव पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होते हैं ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२६

[१९ उ.] गौतम ! वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होते हैं ।

२०. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं० ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति । सेवट्टसंघयणी । ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं । हुंडसंठिता । तिन्नि लेसाओ । सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी । दो णाणा, दो अन्नाणा नियमं । नो मणजोगी, वइजोगी वि, कायजोगी वि । उवयोगो दुविहो वि । चत्तारि सण्णाओ । चत्तारि कसाया । दो इंदिया पन्नत्ता, तं जहा—जिब्भिदिए य फासिदिए य । तिन्नि समुग्घाया । सेसं जहा पुढविकाइयाणं, नवरं ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं । एवं अणुबंधो वि । सेसं तं चेव । भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं । कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं, एवतियं० । [पढमो गमओ] ।

[२० प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२० उ.] गौतम ! वे (एक समय में) जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं । वे सेवार्त्तसंहनन वाले होते हैं । उनकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट बारह योजन की होती है । उनका संस्थान हुंडक होता है । उनमें लेश्याएँ तीन और दृष्टियाँ दो—सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होती है । सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होती । उनमें दो ज्ञान या दो अज्ञान अवश्य होते हैं । वे मनोयोगी नहीं होते, वचनयोगी और काययोगी होते हैं । उनमें दो उपयोग, चार संज्ञाएँ और चार कषाय होते हैं । उनके जिह्वेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, ये दो इन्द्रियाँ होती हैं । उनमें तीन समुद्घात होते हैं । शेष सभी बातें पृथ्वीकायिकों के समान जाननी चाहिए । विशेष—उनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है । अनुबन्ध भी इसी प्रकार होता है । शेष सब पूर्ववत् समझना । भव की अपेक्षा से—वे जघन्य दो भव और उत्कृष्ट संख्यात भव ग्रहण करते हैं । काल की अपेक्षा से—वे जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्यात काल तक यावत् गमनागमन करते हैं । [प्रथम गमक]

२१. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया सव्वा । [बीओ गमओ] ।

[२१] यदि वह (द्वीन्द्रिय) जघन्य काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो पूर्वोक्त सभी वक्तव्यता समझनी चाहिए । [द्वितीय गमक]

२२. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव बेंदियस्स लद्धी, नवरं भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, एवतियं० । [तइओ गमओ] ।

[२२] यदि वह (द्वीन्द्रिय), उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो भी पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है। काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस हजार वर्ष और उत्कृष्ट ४८ वर्ष अधिक ८८,००० वर्ष तक यावत् गमनागमन करता है। [तृतीय गमक]

२३. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, तस्स वि एस चेव वत्तव्वता तिसु वि गमएसु, नवरं इमाइं सत्त नाणत्ताइं—सरीरोगाहणा जहा पुढविकाइयाणं; नो सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी; दो अन्नाणा णियमं; नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं; अज्झवसाणा अप्पसत्था; अणुबंधो जहा ठिती। संवेहो तहेव आदिल्लेसु दोसु गमएसु, ततियगमए भवादेसो तहेव अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं। [४—६ गमगा]।

[२३] यदि वह (द्वीन्द्रिय) स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न हो, तो उसके भी तीनों गमकों में पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यहाँ सात नानात्व (भेद) हैं। यथा—(१) शरीर की अवगाहना पृथ्वीकायिकों के समान (अंगुल के असंख्यातवाँ भाग) है, (२) वह सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होता, किन्तु मिथ्यादृष्टि होता है, (३) इसमें दो अज्ञान नियम से होते हैं, (४) वह मनोयोगी और वचनयोगी नहीं किन्तु काययोगी होता है, (५) उसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है, (६) उसके अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं और (७) अनुबन्ध स्थिति के अनुसार होता है। दूसरे त्रिक के पहले के दो गमकों (चौथे और पांचवें गमक) में संवेध भी इसी प्रकार समझना चाहिए। (दूसरे त्रिक के तृतीय गमक) छठे गमक में भवादेश भी उसी प्रकार आठ भव जानने चाहिए। कालादेश—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८,००० वर्ष तक यावत् गमागमन करता है। [गमक ४-५-६]

२४. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, एयस्स वि ओहियगमगसरिसा तिन्नि गमगा भाणियव्वा, नवरं तिसु वि गमएसु ठिती जहन्नेणं बारस संवच्छराइं, उक्कोसेण वि बारस संवच्छराइं। एवं अणुबंधो वि। भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं उवयुज्जिऊण भाणियव्वं जाव नवमे गमए जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं बारसहिं संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं अडयालीसाए संवच्छरेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। [७—९ गमगा]।

[२४] यदि वह (द्वीन्द्रिय जीव), स्वयं उत्कृष्ट स्थिति वाला हो और पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न हो तो उसके भी तीनों गमक (७-८-९) औधिक गमकों (१-२-३) के समान कहने चाहिए। विशेष यह है कि इन (अन्तिम) तीनों गमकों में स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार समझना चाहिए। भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है। काल की अपेक्षा से—विचार करके संवेध कहना चाहिए, यावत् नौवें गमक में जघन्य

वारह वर्ष अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट ४८ वर्ष अधिक ८८,००० वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [गमक ७-८-९]

विवेचन—द्वीन्द्रिय में उत्पत्ति-सम्बन्धी नौ गमकों के विषय में स्पष्टीकरण—(१) अवगाहना—द्वीन्द्रियों की उत्कृष्ट अवगाहना जो बारह योजन की बताई गई है, वह शंख आदि की अपेक्षा से समझनी चाहिए। कहा गया है—**'संखो पुण बारस जोयणाइं।'**

(२) **सम्यग्दृष्टित्व**—औघिक द्वीन्द्रिय का औघिक पृथ्वीकायिकों में उत्पत्तिरूप प्रथम गमक में जो सम्यग्दृष्टित्व कहा गया है, वह सास्वादन-सम्यक्त्व की अपेक्षा से समझना चाहिए।

(३) **भवादेश और कालादेश**—द्वीन्द्रिय सम्बन्धी तृतीय गमक में भवादेश से उत्कृष्ट ८ भव बतलाए हैं, क्योंकि यहाँ एक पक्ष उत्कृष्ट स्थिति वाला है। कालादेश से द्वीन्द्रिय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ४८ वर्ष होती है और पृथ्वीकाय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ८८,००० वर्ष होती है। दोनों मिलाकर ४८ वर्ष अधिक ८८,००० वर्ष बताए गए हैं। (४) **द्वीन्द्रिय के मध्यम-त्रिक में सात बातों का अन्तर**—प्रथम त्रिक (तीनों गमक) में उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन बताई गई थी, किन्तु यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग बताई गई है। प्रथम के तीन गमकों में सम्यग्दृष्टि बताया गया है, किन्तु इन (मध्यम के) तीन गमकों में सम्यग्दृष्टित्व का अभाव है, क्योंकि जघन्य स्थिति होने से इनमें सास्वादन सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति नहीं होती। इनमें दो अज्ञान ही पाये जाते हैं, ज्ञान नहीं। योगद्वार में जघन्य स्थिति होने के कारण अपर्याप्तक होने से इनमें वचनयोग नहीं पाया जाता। इनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की होती है। जबकि पहले १२ वर्ष की बतलाई थी। अल्प स्थिति होने से अध्यवसाय भी अप्रशस्त होते हैं। सातवाँ नानात्व अनुबन्ध स्थिति के अनुसार होता है।[1]

(५) **संवेध**—चौथे और पांचवें गमक में भवादेश से उत्कृष्ट संख्यात भव होते हैं और कालादेश से संख्यातकाल होता है। छठे गमक का संवेध भवादेश से आठ भव तथा कालादेश से अन्तर्मुहूर्त्त अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ८८,००० होता है।

सातवें गमक का संवेध भवादेश से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव। कालादेश से ४८ वर्ष अधिक ८८,००० वर्ष। आठवें गमक में चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ४८ वर्ष। नौवें गमक का संवेध जघन्य १२ वर्ष अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट ४८ वर्ष अधिक ८८,००० वर्ष का होता है। अतः इस प्रकार सर्वत्र उपयोग पूर्वक जघन्य और उत्कृष्ट संवेध कहना चाहिए।[2]

पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होनेवाले त्रीन्द्रिय में उपपात-परिमाण आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२५. जति तेइंदिएहिंतो उववज्जइ० ?

एवं चेव नव गमका भाणियव्वा। नवरं आदिल्लेसु तिसु वि गमएसु सरीरोगाहणा जहन्नेणं

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२९

२. वही, पत्र ८२९

अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। तिन्नि इंदियाइं। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं एकूणपण्णं रातिंदियाइं। ततियगमए कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं छण्णउयरातिंदियसतमब्भहियाइं, एवतियं०। मज्झिमा तिन्नि गमगा तहेव। पच्छिमा वि तिण्णि गमगा तहेव, नवरं ठिती जहन्नेणं एकूणपण्णं राइंदियाइं, उक्कोसेण वि एकूणपण्णं राइंदियाइं। संवेहो उवजुंजिऊण भाणितव्वो। [१—९ गमगा]।

[२५ प्र.] यदि वह पृथ्वीकायिक त्रीन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न होता हो, तो ? इत्यादि प्रश्न।

[२५ उ.] यहाँ भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) नौ गमक कहना चाहिए। प्रथम के तीन गमकों में शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग तथा उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। इनके तीन इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट ४९ अहोरात्र की होती है। तृतीय गमक में काल की अपेक्षा—जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट १९६ अहोरात्र अधिक ८८,००० वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। बीच के तीन (४-५-६) गमकों का कथन उसी प्रकार (पूर्वोक्त द्वीन्द्रिय के समान) जानना चाहिए। अन्तिम तीन (७-८-९) गमकों की वक्तव्यता भी पूर्ववत् जानना चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट ४९ रात्रि-दिवस की होती है। इनका संवेध उपयोगपूर्वक कहना चाहिए। [गमक १ से ९ तक]।

विवेचन—त्रीन्द्रिय-उत्पत्ति-सम्बन्धी नौ गमकों में विशेषता का स्पष्टीकरण—(१) त्रीन्द्रिय के तृतीय गमक में उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। उनमें से त्रीन्द्रिय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति १९६ अहोरात्र और पृथ्वीकाय के चार भवों की उत्कृष्ट स्थिति ८८ हजार वर्ष होती है। दोनों को मिलाने से कुल १९६ रात्रि-दिवस अधिक ८८ हजार वर्ष होते हैं। (२) चौथे, पांचवें और छठे गमक की तथा सातवें, आठवें, और नौवें गमक की वक्तव्यता द्वीन्द्रिय के समान है। परन्तु सातवें, आठवें और नौवें गमक का संवेध—भवादेश से प्रत्येक के ८ भव तथा कालादेश से सातवें और नौवें गमक में उत्कृष्ट १९६ रात्रि-दिन अधिक ८८ हजार वर्ष होते हैं। आठवें गमक में चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १९६ रात्रि-दिवस होते हैं। शेष विषय मूलपाठ से ही स्पष्ट हैं।[1]

पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होनेवाले चतुरिन्द्रिय जीवों के उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२६. जति चउरिंदिएहिंतो उवव० ?

एवं चेव चउरिंदियाण वि नव गमगा भाणियव्वा, नवरं एएसु चेव ठाणेसु नाणत्ता भाणितव्वा—सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं। ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं छम्मासा। एवं अणुबंधो वि। चत्तारि इंदिया। सेसं तहेव जाव

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८२९

नवमगमए कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं वाससहस्साइं छहिं मासेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं अट्ठासीतिं वाससहस्साइं चउवीसाए मासेहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। [१—९ गमगा]।

[२६ प्र.] (भगवन् !) यदि वे पृथ्वीकायिक जीव चतुरिन्द्रिय जीवों से आकर उत्पन्न हों, तो ? इत्यादि प्रश्न।

[२६ उ.] चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्वोक्त त्रीन्द्रिय के समान) नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इन (कुछ) स्थानों में नानात्व कहना चाहिए—इनके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट चार गाऊ की होती है। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त की और उत्कृष्ट छह माह की होती है। अनुबन्ध भी स्थिति के अनुसार होता है। इनके चार इन्द्रियाँ होती हैं। शेष सब पूर्ववत् जानना, यावत् नौवें गमक में कालादेश से जघन्य छह मास अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट चौवीस मास अधिक ८८,००० वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—चतुरिन्द्रिय-उत्पत्तिविषयक विशेषता—चतुरिन्द्रिय के नौ ही गमकों का कथन त्रीन्द्रिय के समान है; किन्तु संवेध में कुछ विशेषता है, वह मूल पाठ में स्पष्ट कर दी गई है। जिसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, उसे स्वयं उपयोग लगाकर यथायोग्य जान लेनी चाहिए।[1]

पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक की अपेक्षा पृथ्वीकायिक-उत्पत्तिनिरूपण

२७. जइ पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति असन्निपंचेंदियतिरिक्खजो० ?

गोयमा ! सन्निपंचेंदिय०, असन्निपंचेंदिय०।

[२७ प्र.] (भगवन् !) यदि वे (पृथ्वीकायिक) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक जीवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से ?

[२७ उ.] गौतम ! वे संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं और असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से भी उत्पन्न होते हैं।

२८. जइ असण्णिपंचिंदिय० किं जलचरेहिंतो उवव० जाव किं पज्जत्तएहिंतो उववज्जंति अपज्जत्तएहिंतो उव० ?

गोयमा ! पज्जत्तएहिंतो वि उवव०, अपज्जत्तएहिंतो वि उववज्जंति।

[२८ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक) असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से उत्पन्न होते हैं तो क्या वे जलचरों से उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् क्या पर्याप्तकों से या अपर्याप्तकों से ?

[२८ उ.] गौतम ! वे यावत् सभी के पर्याप्तकों से भी आते हैं और अपर्याप्तकों से भी।

---

1. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२९

विवेचन—निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक जीव संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से तथा उनमें भी जलचरादि पाँचों के पर्याप्तकों और अपर्याप्तकों से आकर उत्पन्न होते हैं।[1]

पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होनेवाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिक के उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२९. असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त० उक्कोसेणं बावीसवाससह० ।

[२९ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव जो पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[२९ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है।

३०. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जहेव बेइंदियस्स ओहियगमए लद्धी तहेव, नवरं सरीरोगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जति०, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं । पंच इंदिया । ठिती अणुबंधो य जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी । सेसं तं चेव । भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीतीए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ, एवतियं० । नवसु वि गमएसु कायसंवेहो भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं । कालाएसेणं उवजुज्जिऊण भाणितव्वं, नवरं मज्झिमएसु तिसु गमएसु—जहेव बेइंदियस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु । पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहा एयस्स चेव पढमगमए, नवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी । सेसं तहेव जाव नवमगमए जहन्नेणं पुव्वकोडी बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीतीए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ, एवतियं कालं सेविज्जा० । [१—९ गमगा] ।

[३० प्र.] भगवन् ! वे जीव (असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक), एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[३० उ.] गौतम ! द्वीन्द्रिय के औघिक गमक में जो वक्तव्यता कही है, वही वक्तव्यता यहाँ कहनी चाहिए । परन्तु विशेष यह है कि इनके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन की है । इनके पांचों इन्द्रियां होती हैं । स्थिति और अनुबन्ध जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष का है । शेष सब पूर्वोक्तानुसार जानना । भव की अपेक्षा से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव होते हैं । काल की अपेक्षा से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ८८ हजार वर्ष अधिक चार पूर्वकोटि वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९३६

नौ ही गमकों में कायसंवेध—भव की अपेक्षा से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। काल की अपेक्षा से कायसंवेध उपयोगपूर्वक कहना चाहिए। विशेष यह है कि तीनों (चौथे-पाँचवें-छठे) गमकों में द्वीन्द्रिय के मध्य के तीनों गमकों के समान कहना चाहिए। पिछले तीन गमकों (सातवें-आठवें-नौवें) का कथन प्रथम के तीन गमकों के समान समझना चाहिए। यह स्थिति और अनुबन्ध जघन्य तथा उत्कृष्ट पूर्वकोटि समझना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना, यावत्—नौवें गमक में जघन्य पूर्वकोटि-अधिक २२,००० वर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि-अधिक ८८,००० वर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों की स्थिति तथा नौ ही गमकों में जो विशेष अन्तर है, वह मूलपाठ में अंकित है। इसलिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है।[1]

पृथ्वीकाय में उत्पन्न होनेवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

३१. जदि सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए० किं संखेज्जवासाउय०, असंखेज्जवासाउय० ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय०, नो असंखेज्जवासाउय० ।

[३१ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक), संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संख्यातवर्ष की आयुवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंच से आकर उत्पन्न होते हैं या असंख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पं. ति. से ?

[३१ उ.] गौतम ! वे संख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिकों से नहीं।

३२. जदि संखेज्जवासाउय० किं जलचरेहिंतो० ?

सेसं जहा असण्णीणं जाव—

[३२ प्र.] यदि वे पृथ्वीकायिक संख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से उत्पन्न होते हैं, तो क्या जलचरों से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३२ उ.] यहाँ समग्र वक्तव्यता असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों के समान जाननी चाहिए। यावत्—

३३. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति० ?

एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमासस्स सन्निस्स तहेव इह वि, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं। सेसं तहेव जाव कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ अट्ठासीतीए वाससहस्सेहिं अब्भहियाओ, एवतियं०। एवं संवेहो णवसु वि गमएसु जहा असण्णीणं तहेव निरवसेसं। लद्धी से आदिल्लएसु तिसु वि गमएसु

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मू. पा. टिप्पण), पृ. ९३६-९३७

एस चेव, मज्झिल्लएसु वि तिसु गमएसु एस चेव। नवरं इमाइं नव नाणत्ताइं—ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जति०, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जति०। तिन्नि लेस्साओ, मिच्छादिट्ठी, दो अन्नाणा, कायजोगी, तिन्नि समुग्घाया; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं; अप्पसत्था अज्झवसाणा, अणुबंधो जहा ठिती। सेसं तं चेव। पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहेव पढमगमए, नवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तं चेव। [१—९ गमगा]।

[३३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?; इत्यादि प्रश्न।

[३३ उ.] (गौतम !) जैसी रत्नप्रभा में उत्पन्न होने योग्य संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की वक्तव्यता कही है, वैसी यहाँ भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि उनके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट हजार योजन की होती है। शेष सब उसी प्रकार जानना चाहिए। यावत् कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ८८ हजार वर्ष अधिक चार पूर्वकोटि, इतने काल तक यावत् गमनागमन करते हैं। इसी प्रकार नौ ही गमकों में संवेध भी असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च की तरह कहना चाहिए। प्रथम के तीन (१-२-३) गमकों और मध्य के तीन (४-५-६) गमकों में भी यही वक्तव्यता जाननी चाहिए। परन्तु मध्य के तीन (४-५-६) गमकों में नौ नानात्व हैं। यथा—(१) शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट अंगुल का असंख्यातवाँ भाग होती है। (२) लेश्याएँ तीन होती हैं। (३) वे मिथ्यादृष्टि होते हैं। (४) उनमें दो अज्ञान होते हैं। (५) काययोगी होते हैं। (६) तीन समुद्घात होते हैं। (७) स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होती है। (८) अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं और (९) अनुवन्ध भी स्थिति के अनुसार होता है। शेष सव पूर्वोक्त कथनानुसार कहना चाहिए। अन्तिम तीन (७-८-९) गमकों में प्रथम गमक के समान वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि स्थिति और अनुवन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि का होता है। शेप सब पूर्ववत्।

विवेचन—निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय जीवों की स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की होती है। इनके प्रथम तीन गमकों का कथन रत्नप्रभा में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के प्रथम, द्वितीय और तृतीय गमक के समान ही है। चौथे, पांचवें और छठे गमक का कथन भी इसी प्रकार है। किन्तु नौ विपयों में अन्तर है, जो मूलपाठ में बताया गया है। अन्तिम तीन गमकों का कथन प्रथम के तीन गमकों के समान है। स्थिति और अनुवन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि का होता है।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले असंज्ञी-संज्ञी-संख्येयवर्षायुष्क पर्याप्तक-अपर्याप्तक मनुष्यों के उत्पादादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

३४. जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सन्निमणुस्सेहिंतो उवव०, असन्निमणुस्सेहिंतो० ?

गोयमा ! सन्निमणुस्सेहिंतो०, असण्णिमणुस्सेहिंतो वि उववज्जंति।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८२९

[३४ प्र.] (भगवन् !) यदि वे (पृथ्वीकायिक) मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंज्ञी मनुष्यों से ?

[३४ उ.] गौतम ! वे संज्ञी और असंज्ञी दोनों प्रकार के मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

३५. असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु० से णं भंते ! केवतिकाल० ?

एवं जहा असन्निपंचेंदियतिरिक्खस्स जहन्नकालट्ठितीयस्स तिन्नि गमगा तहा एतस्स वि ओहिया तिन्नि गमगा भाणियव्वा तहेव निरवसेसं। सेसा छ न भण्णंति। [१—३ गमगा]।

[३४ प्र.] भगवन् ! यदि असंज्ञी मनुष्य, जो पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने योग्य है, कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[३५ उ.] जिस प्रकार जघन्य काल की स्थिति वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक के विषय में तीन गमक कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी औधिक तीन गमक सम्पूर्ण कहने चाहिए। शेष गमक नहीं कहने चाहिए। [गमक १ से ३ तक]

३६. जइ सन्निमणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासाउय०, असंखेज्जवासाउय० ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय०, णो असंखेज्जवासाउय०।

[३६ प्र.] यदि वे (पृथ्वीकायिक) संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से ?

[३६ उ.] गौतम ! वे संख्यात वर्ष की आयुवाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से उत्पन्न नहीं होते।

३७. जदि संखेज्जवासाउय० किं पज्जत्त०, अपज्जत्त० ?

गोयमा ! पज्जत्तसंखे०, अपज्जत्तसंखेज्जवासा०।

[३७ प्र.] भगवन् ! यदि वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त संख्येय-वर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से ?

[३७ उ.] गौतम ! वे पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों प्रकार के संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

३८. सन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उवव०, से णं भंते ! केवितकाल० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठितीएसु।

[३८ प्र.] भगवन् ! संख्येयवर्षायुष्क पर्याप्त संज्ञी मनुष्य जो पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[३८ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है।

३९. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जहेव रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स तहेव तिसु वि गमएसु लद्धी। नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं पंच धणुसताइं; ठिती जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो। संवेहो नवसु गमएसु जहेव सन्निपंचेंदियस्स। मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु लद्धी—जहेव सन्निपंचेंदियस्स मज्झिल्लएसु तिसु। सेसं तं चेव निरवसेसं। पच्छिल्ला तिन्नि गमगा जहा एयस्स चेव ओहिया गमगा, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं; ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तहेव, नवरं पच्छिल्लएसु गमएसु संखेज्जा उववज्जंति, नो असंखेज्जा उवव०। [१-९ गमगा]।

[३९ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३९ उ.] गौतम ! रत्नप्रभा में उत्पन्न होने योग्य मनुष्य की जो वक्तव्यता पहले कही है, वही यहाँ तीनों गमकों में कहनी चाहिए। विशेष यह है कि उसके शरीर की अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट पांच सौ धनुप की होती है; स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार जानना चाहिए। संवेध—जैसे संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च का कहा है, वैसे ही यहाँ नौ ही गमकों में कहना चाहिए। बीच के तीन गमकों (४-५-६) में संज्ञी पंचेन्द्रिय के मध्यम तीन गमकों की वक्तव्यता के समान कहना चाहिए। शेष सब पूर्वोक्त प्रकार से जानना। पिछले तीन गमकों (७-८-९) का कथन इसी के प्रथम तीन औधिक गमकों के समान कहना चाहिए। विशेष यह है कि शरीर की अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की है; स्थिति और अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के होते हैं। शेष सब पूर्ववत्। विशेषता यह है कि पिछले तीन गमकों (७-८-९) में संख्यात ही उत्पन्न होते हैं, असंख्यात नहीं। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—मनुष्यों की पृथ्वीकायिकादि में उत्पत्ति आदि से सम्बद्ध गमकों में विशेषता— (१) **निष्कर्ष**—पृथ्वीकायिक जीव संज्ञी और असंज्ञी, संख्यात वर्ष की आयु वाले, पर्याप्तक और अपर्याप्तक मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं। (२) **कितने काल की स्थिति सम्बन्धी प्रश्न** का समाधान यह है कि जिस प्रकार जघन्य काल की स्थिति वाले असंज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के विषय में तीन गमक कहे गए हैं, उसी प्रकार यहाँ असंज्ञी मनुष्यों के भी आदि के औघिक तीनों समग्र गमक समझने चाहिए। शेष छह गमक सम्मूर्च्छिम (असंज्ञी) मनुष्यों में सम्भव नहीं हैं, इसलिए यहाँ शेष छह गमकों का निषेध किया गया है। (३) **संज्ञी मनुष्यों के नौ गमकों में विशेष ज्ञातव्य**—जिस प्रकार रत्नप्रभा में उत्पन्न होने योग्य संज्ञी मनुष्य के गमक कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने योग्य संज्ञी मनुष्य के छह गमकों (प्रथम, द्वितीय, तृतीय और सप्तम, अष्टम और नवम गमक) का कथन करना चाहिए। विशेषता यह है कि रत्नप्रभा में उत्पन्न होने वाले मनुष्य की अवगाहना जघन्य अंगुल-पृथक्त्व की और स्थिति जघन्य मास-पृथक्त्व कही थी, किन्तु यहाँ अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की है। संवेध—नौ गमकों में पृथ्वीकायिकों में आकर उत्पन्न होनेवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के समान है, क्योंकि पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी मनुष्य और तिर्यञ्च की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि

की होती है। मध्य के तीन गमकों का कथन संज्ञी-पंचेन्द्रिय के मध्य के तीनों गमकों के समान है। प्रथम के तीन औघिक गमकों में जो अवगाहना और स्थिति कही गई है वह अन्तिम तीन गमकों में नहीं होती, किन्तु इनमें अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष की और स्थिति तथा अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि के हैं।[1]

देवों से आकर पृथ्वीकायिकों में उत्पाद-निरूपण

४०. जति देवेहिंतो उववज्जंति किं भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति, वाणमंतर०, जोतिसिय-देवेहिंतो उवव०, वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! भवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव वेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति।

[४० प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक) देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क या वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[४० उ.] गौतम ! वे भवनवासी देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् वैमानिक देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक जीवों में भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक, चारों निकायों के देव उत्पन्न हो सकते हैं।

भवनवासी देवों की अपेक्षा पृथ्वीकायिकों में उत्पत्ति-निरूपण

४१. जइ भवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति किं असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासिदेवेहिंतो० ?

गोयमा ! असुरकुमारभवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति जाव थणियकुमारभवणवासिदेवेहिंतो वि उववज्जंति।

[४१ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक जीव) भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे असुरकुमार-भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् स्तनितकुमार-भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[४१ उ.] गौतम ! वे असुरकुमार-भवनवासी देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् स्तनितकुमार-भवनवासी देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—पृथ्वीकायिक जीव दसों प्रकार के भवनपति देवों से आकर उत्पन्न होते हैं। दस प्रकार के भवनपति देवों के नाम इस प्रकार हैं—(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार,

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भाग २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९३८-९३९
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८३२

(३) सुपर्णकुमार, (४) विद्युत्कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वायुकुमार, (७) उदधिकुमार, (८) द्वीपकुमार, (९) दिक्कुमार और (१०) स्तनितकुमार।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले असुरकुमार में उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

४२. असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं बावीसवाससहस्सट्ठिती०।

[४२ प्र.] भगवन् ! जो असुरकुमार पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ?

[४२ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है।

४३. ते णं भंते ! जीवा० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा असंखेज्जा वा उवव०।

[४३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४३ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

४४. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंघयणी पन्नत्ता ?

गोयमा ! छण्हं संघयणाणं असंघयणी जाव[2] परिणमंति।

[४४ प्र.] भगवन् ! उन जीवों (पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने वाले भवनपति देवों) के शरीर किस प्रकार के संहनन वाले कहे गए हैं ?

[४४ उ.] गौतम ! उनके शरीर छहों प्रकार के संहननों से रहित होते हैं, (क्योंकि उनके अस्थि, शिरा, स्नायु इत्यादि नहीं होते; परन्तु जो इष्ट, कान्त और मनोज्ञ पुद्गल हैं, वे शरीर-संघातरूप से) यावत् परिणत होते हैं।

४५. तेसि णं भंते ! केमहालिया सरीरोगाहणा० ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जा सा

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९३९
(ख) भवनवासिनोऽसुर-नाग-सुपर्ण-विद्युदग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-दिक्कुमाराः।
—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. ११

२. 'जाव' पद से सूचितपाठ—"णेवट्ठी णेव छिरा नेव ण्हारू नेव संघयणमत्थि। जे पोग्गला इट्ठा कंता पिया मणुण्णा मणामा ते तेसिं सरीरसंघायत्ताए त्ति।" भ. वृ., पत्र ८३२

भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं सत्त रयणीओ। तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं जोयणसयसहस्सं।

[४५ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर की अवगाहना कितनी बड़ी होती है ?

[४५ उ.] गौतम ! (उनके शरीर की अवगाहना) दो प्रकार की कही गई है। यथा—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। उनमें जो भवधारणीय अवगाहना है, वह जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सप्त रत्नि (हाथ) की है तथा उनमें जो उत्तरवैक्रिया अवगाहना है, वह जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट एक लाख योजन की है।

४६. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंठिता पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—भवधारणिज्जा य, उत्तरवेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते समचतुरंससंठिया पन्नत्ता। तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते नाणासंठिया पन्नत्ता। लेस्साओ चत्तारि। दिट्ठी तिविहा वि। तिण्णि णाणा नियमं, तिण्णि अण्णाणा भयणाए। जोगो तिविहो वि। उवयोगो दुविहो वि। चत्तारि सण्णाओ। चत्तारि कसाया। पंच इंदिया। पंच समुग्घाया। वेयणा दुविहा वि। इत्थिवेदगा वि, पुरिसवेदगा वि, नो नपुंसगवेयगा। ठिती जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं। अज्झवसाणा असंखेज्जा, पसत्था वि अप्पसत्था वि। अणुबंधो जहा ठिती। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं सातिरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं, एवतियं०। एवं णव वि गमा नेयव्वा, नवरं मज्झिल्लएसु पच्छिल्लएसु य तिसु गमएसु असुरकुमाराणं ठितिविसेसो जाणियव्वो। सेसा ओहिया चेव लद्धी कायसंवेहं च जाणेज्जा। सव्वत्थ दो भवग्गहणा जाव णवमगमए कालादेसेणं जहन्नेणं सातिरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिमब्भहियं, उक्कोसेण वि सातिरेगं सागरोवमं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं, एवतियं०। [१-९ गमगा]।

[४६ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर का संस्थान कौन-सा कहा गया है ? (इत्यादि प्रश्न।)

[४६ उ.] गौतम ! उनके शरीर दो प्रकार के कहे गए हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय। उनमें जो भवधारणीय शरीर हैं, वे समचतुरस्रसंस्थान वाले कहे गए हैं तथा जो उत्तरवैक्रिय शरीर हैं, वे अनेक प्रकार के संस्थान वाले कहे गए हैं। उनके चार लेश्याएं, तीन दृष्टियाँ, नियमतः तीन ज्ञान, तीन अज्ञान भजना (विकल्प) से, योग तीन, उपयोग दो, संज्ञाएं चार, कषाय चार, इन्द्रियां पांच, समुद्घात पांच और वेदना दो प्रकार की होती है। वे स्त्रीवेदी और पुरुषवेदी होते हैं, नपुंसकवेदी नहीं होते। उनकी स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट सातिरेक सागरोपम की होती है। उनके अध्यवसाय असंख्यात प्रकार के प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकार के होते हैं। अनुबन्ध स्थिति के अनुसार होता है। (संवेध) भवादेश से वह दो भव ग्रहण करता है। कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष अधिक सातिरेक सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इस प्रकार नौ ही गमक जानने चाहिए। विशेष यह है कि

मध्यम और अन्तिम तीन-तीन गमकों में असुरकुमारों की स्थिति-विषयक विशेषता जान लेनी चाहिए। शेष औघिक वक्तव्यता और काय-संवेध जानना चाहिए। संवेध में सर्वत्र दो भव जानने चाहिए। इस प्रकार यावत् नौवें गमक में कालादेश से जघन्य बाईस हजार वर्ष अधिक साधिक सागरोपम काल तक यावत् गमनागमन करता है। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—पृथ्वीकायिक में असुरकुमारों की उत्पत्तिसम्बन्धी कुछ स्पष्टीकरण—(१) असुरकुमारों का संहनन—सिद्धान्ततः देवों का शरीर संहनन वाला नहीं होता, उनके शरीर में हड्डी, शिरा (नसें) तथा स्नायु आदि नहीं होते, किन्तु इष्ट, कान्त, प्रिय, एवं मनोज्ञ पुद्गल संघातरूप से परिणत हो जाते हैं। (२) **अवगाहना**—उत्पत्ति के समय देवों के भवधारणीय शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग होती है, जबकि उत्तरवैक्रिय अवगाहना आभोग (उपयोग)—जनित होने से जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग होती है; भवधारणीय अवगाहना के समान वे अंगुल के असंख्यातवें भाग अवगाहना नहीं कर सकते। उत्तरवैक्रिय अवगाहना इच्छानुसार होने से उत्कृष्ट एक लाख योजन तक की की जा सकती है। (३) **संस्थान**—इसी प्रकार उत्तरवैक्रिय संस्थान अपनी इच्छानुसार बनाया जाता है, इसलिए वह नाना प्रकार का होता है। (४) **अज्ञान**—इनमें तीन अज्ञान भजना से कहे गए हैं, इसका कारण यह है कि जो असुरकुमार असंज्ञी जीवों से आते हैं, उनमें अपर्याप्त-अवस्था में विभंगज्ञान नहीं होता। शेष में होता है। इसलिए अज्ञान के विषय में भजना कही गई है। (५) **संवेध**—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष का जो कहा गया है, उसमें, पृथ्वीकायिक की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की और असुरकुमारों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की, दोनों को मिला कर कहा गया है। इसी प्रकार उत्कृष्ट के विषय में समझना चाहिए कि पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट स्थिति २२,००० वर्ष की है और असुरकुमारों की उत्कृष्ट स्थिति सातिरेक सागरोपम है। इन दोनों को मिला कर उत्कृष्ट संवेध कहा गया है। इसका संवेधकाल भी इतना ही है, क्योंकि असुरकुमारादि से निकल कर पृथ्वीकाय में आते हैं किन्तु पृथ्वीकाय से निकल कर असुरकुमारादि में नहीं आते। मध्य के तीन गमकों में असुरकुमारों की स्थिति दस हजार वर्ष की तथा अन्तिम तीन गमकों में सातिरेक सागरोपम की समझनी चाहिए।[1]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले नागकुमार से लेकर स्तनितकुमार तक के भवनपति देवों में उत्पत्ति-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

४७. नागकुमारे णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु० ?

एस चेव वत्तव्वया जाव भवादेसो त्ति। णवरं ठिती जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलितोवमाइं। एवं अणुबंधो वि, कालाएसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं देसूणाइं दो पलिओवमाइं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं। एवं णव वि गमगा असुरकुमारगमगसरिसा, नवरं ठितिं कालाएसं च जाणेज्जा। एवं जाव थणियकुमाराणं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८३२

(ख) भगवती. हिन्दी विवेचन भा. ६, पृ. ३०९७-३०९८

[४७ प्र.] भगवन् ! जो नागकुमार देव पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न ।

[४७ उ.] गौतम! यहाँ असुरकुमार देव की पूर्वोक्त समस्त वक्तव्यता यावत्—भवादेश तक कहनी चाहिए । विशेष यह है कि उसकी स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट देशोन दो पल्योपम की होती है । अनुबन्ध भी इसी प्रकार समझना चाहिए । (संवेध) कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष अधिक देशोन दो पल्योपम, (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है ।) इस प्रकार नौ ही गमक असुरकुमार के गमकों के समान जानना चाहिए । परन्तु विशेष यह है कि यहाँ स्थिति और कालादेश इनको (भिन्न) जानना । इसी प्रकार (सुपर्णकुमार से लेकर) यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त जानना चाहिए ।

विवेचन—नागकुमार से स्तनितकुमार तक में उत्पन्न होने सम्बन्धी द्वार—कुछ बातों को छोड़कर प्रायः सभी गमक असुरकुमार के गमकों की तरह हैं । तीन बातों में भिन्नता है—स्थिति, अनुबन्ध और संवेध (कालादेश), जिनका उल्लेख मूलपाठ में किया गया है ।

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले वाणव्यन्तर देवों में उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

४८. जति वाणमंतरेहिंतो उववज्जंति किं पिसायवाणमंतर० जाव गंधव्ववाणमंतर० ?

गोयमा ! पिसायवाणमंतर० जाव गंधव्ववाणमंतर० ।

[४८ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक जीव), वाणव्यन्तर देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे पिशाच वाणव्यन्तरों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् गन्धर्व वाणव्यन्तरों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[४८ उ.] गौतम ! वे पिशाच वाणव्यन्तरों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् गन्धर्व वाणव्यन्तरों से भी आकर उत्पन्न होते हैं ।

४९. वाणमंतरदेवे णं भंते ! जे भविए पुढविकाइए० ?

एएसिं पि असुरकुमारगमगसरिसा नव गमगा भाणियव्वा । नवरं ठितिं कालादेसं च जाणेज्जा । ठिती जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं पलिओवमं । सेसं तहेव ।

[४९ प्र.] भगवन् ! जो वाणव्यन्तर देव, पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है ? ....इत्यादि प्रश्न ।

[४९ उ.] गौतम ! इनके भी नौ गमक असुरकुमार के नौ गमकों के सदृश कहने चाहिए । परन्तु विशेष यह है कि यहाँ स्थिति और कालादेश (भिन्न) जानना चाहिए । इनकी स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक पल्योपम की होती है । शेष सब उसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना चाहिए । [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—निष्कर्ष—(१) वाणव्यन्तर देवों से आकर पृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने वाले पिशाचादि सभी प्रकार के वाणव्यन्तर देव होते हैं । वाणव्यन्तर देवों के ८ भेद इस प्रकार हैं—

(१) किन्नर, (२) किम्पुरुष, (३) महोरग, (४) गान्धर्व, (५) यक्ष, (६) भूत (प्रेत आदि) (७) राक्षस, (८) पिशाच।[1]

(२) इनके नौ ही गमक स्थिति और कालादेश को छोड़ कर असुरकुमार के नौ ही गमकों के समान समझना चाहिए।[2]

पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होनेवाले ज्योतिष्कदेवों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

५०. जति जोतिसियदेवेहिंतो उवव० किं चंदविमाणजोतिसियदेवेहिंतो उववज्जंति जाव ताराविमाणजोतिसियदेवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! चंदविमाण० जाव ताराविमाण०।

[५० प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक) ज्योतिष्क देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे चन्द्रविमान-ज्योतिष्क देवों से आकर उत्पन्न होते हैं अथवा यावत् ताराविमान-ज्योतिष्क देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५० उ.] गौतम ! वे चन्द्रविमान-ज्योतिष्क देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् ताराविमान-ज्योतिष्कदेवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

५१. जोतिसियदेवे णं भंते ! भविए पुढविकाइए० ?

लद्धी जहा असुरकुमाराणं। णवरं एगा तेउलेस्सा पन्नत्ता। तिन्नि नाणा, तिन्नि अन्नाणा नियमं। ठिती जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं, एवं अणुबंधो वि। कालाएसेणं जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं पलिओवमं वाससयसहस्सेणं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियं, एवतियं०। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, नवरं ठिति कालाएसं च जाणेज्जा।

[५१ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देव जो पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होते हैं ?

[५१ उ.] (गौतम !) इनके विषय में उत्पत्ति-परिमाणादि की लब्धि (प्राप्ति) असुरकुमारों की वक्तव्यता के समान जानना चाहिए। विशेषता यह है कि इनके एकमात्र तेजोलेश्या होती है। इनमें तीन ज्ञान और तीन अज्ञान नियम से होते हैं। इनकी स्थिति जघन्य पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार जानना चाहिए। (संवेध) काल की अपेक्षा से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पल्योपम का आठवां भाग और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम तथा एक लाख वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इसी प्रकार शेष आठ गमक भी कहने चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और कालादेश (पूर्वापेक्षया भिन्न) समझने चाहिए।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९४१

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ९४१

विवेचन— कुछ तथ्यों का स्पष्टीकरण—(१) ज्योतिष्क देवों में तीन ज्ञान और तीन अज्ञान नियम से कहे गए हैं, इसका कारण यह है कि इनमें असंज्ञी जीव नहीं आते, जो सम्यग्दृष्टि संज्ञी जीव आते हैं, उनके उत्पत्ति के समय ही मतिज्ञान आदि तीन ज्ञान होते हैं और जो मिथ्यादृष्टि संज्ञी आते हैं, उनके मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान होते हैं। (२) पल्योपम के आठवें भाग (⅛) की जो जघन्य स्थिति कही गई है, वह तारा-विमानवासी देवी-देवों की अपेक्षा समझनी चाहिए तथा एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की उत्कृष्ट स्थिति कही गई है, वह चन्द्र-विमानवासी देवों की अपेक्षा समझनी चाहिए।[1] (३) पृथ्वीकायिक जीवों में पांचों प्रकार के ज्योतिष्क देव आकर उत्पन्न होते हैं। ज्योतिष्क देवों के ५ भेद इस प्रकार हैं—(१) चन्द्र, (२) सूर्य, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र और (५) तारा।[2]

वैमानिक देवों की अपेक्षा पृथ्वीकायिक-उत्पत्ति-निरूपण

५२. जइ वेमाणियदेवेहिंतो उववज्जंति किं कप्पोवगवेमाणिय० कप्पातीयवेमाणिय० ?

गोयमा ! कप्पोवगवेमाणिय०, नो कप्पातीयवेमाणिय०।

[५२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पृथ्वीकायिक जीव), वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं अथवा कल्पातीत वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५२ उ.] गौतम ! वे कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, कल्पातीत से नहीं।

५३. जदि कप्पोवगवेमाणिय० किं सोहम्मकप्पोवगवेमाणिय० जाव अच्चुयकप्पोवगवेमा० ?

गोयमा ! सोहम्मकप्पोवगवेमाणिय०, ईसाणकप्पोवगवेमाणिय०, नो सणंकुमारकप्पोवगवेमाणिय० जाव नो अच्चुयकप्पोवगवेमाणिय०।

[५३ प्र.] (भगवन् !) यदि वे (पृथ्वीकायिक) कल्पोपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे सौधर्म-कल्पोपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् अच्युत-कल्पोपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५३ उ.] गौतम ! वे सौधर्म-कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से तथा ईशान-कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु सनत्कुमार-वैमानिकदेवों से लेकर यावत् अच्युत-कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते।

विवेचन—निष्कर्ष—(१) सौधर्म देवलोक से लेकर अच्युत देवलोक तक के देव **'कल्पोपक'** या **'कल्पोपपन्न'** कहलाते हैं। इनसे आगे के नौ ग्रैवेयक एवं पांच अनुत्तर विमानवासी देव **'कल्पातीत'** कहलाते हैं। कल्पातीत देव वहाँ से च्यवन करके पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न नहीं होते। अब रहे कल्पोपपन्नक, उनमें से सौधर्म और ईशान कल्प के देव ही च्यव कर पृथ्वीकायिक आदि में उत्पन्न हो सकते

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, प० ८३१

(ख) जघन्या त्वष्टभागः। ज्योतिष्काणामधिकम्। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. ५१, ४८

२. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसौ-ग्रह-नक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च। —तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. १३

हैं, इनके आगे सनत्कुमारकल्प से लेकर अच्युतकल्प के देव च्यवन करके पृथ्वीकायादि में उत्पन्न नहीं होते ।[1]

५४. सोहम्मदेवे णं भंते ! जे भविए पुढविकाइएसु उवव० से णं भंते ! केवति० ?

एवं जहा जोतिसियस्स गमगो। णवरं ठिती अणुबंधो य जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं। कालादेसेणं जहण्णेणं पलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं बावीसाए वाससहस्सेहिं अब्भहियाइं, एवतियं कालं०। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, णवरं ठितिं कालाएसं च जाणेज्जा। [१-९ गमगा]।

[५४ प्र.] भगवन् ! सौधर्म कल्पोपपन्न वैमानिक देव, जो पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५४ उ.] गौतम ! ज्योतिष्क देवों के गमक के समान (यहाँ भी प्रथम गमक) कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इनकी स्थिति और अनुबन्ध जघन्य एक पल्योपम और उत्कृष्ट दो सागरोपम है। (संवेध) कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक एक पल्योपम और उत्कृष्ट बाईस हजार वर्ष अधिक दो सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इसी प्रकार शेष आठ गमक भी जानने चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ स्थिति और कालादेश (पहले की अपेक्षा भिन्न) समझने चाहिए। [गमक १ से ९ तक]

५५. ईसाणदेवे णं भंते ! जे भविए० ?

एवं ईसाणदेवेण वि नव गमगा भाणियव्वा, नवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं सातिरेगं पलिओवमं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो सागरोवमाइं। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

।। चउवीसइमे सते : बारसमो उद्देसओ समत्तो ।। २४-१२ ।।

[५५ प्र.] भगवन् ! ईशानदेव, जो पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, कितने काल की स्थिति वाले पृथ्वीकायिकों में उसकी उत्पत्ति होती है ?

[५५ उ.] (गौतम !) इस (ईशानदेव के) सम्बन्ध में पूर्वोक्त नौ ही गमक इसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और अनुबन्ध जघन्य सातिरेक एक पल्योपम और उत्कृष्ट सातिरेक दो सागरोपम होता है। शेष सब पूर्ववत् समझना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. हिन्दीविवेचन, भा. ७, पृ. ३१०२

(ख) वैमानिकाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । सौधर्मैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ताऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ।

—तत्त्वार्थसूत्र अ. ४, सू. १७, १८, २० ।

(ग) वियाहपण्णत्तिसुत्त, भा. २ (मू. पा टि.), पृ. ९४१-९४२

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' इस प्रकार कह कर गौतम-स्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन— इन सब गमकों की व्याख्या पूर्ववत् जाननी चाहिए ।

॥ चौवीसवाँ शतक : बारहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

□□

तेरसमो : आउकाइय-उद्देसओ

तेरहवाँ उद्देशक : अप्कायिकों की उत्पत्ति आदि सम्बन्धी

तेरहवें उद्देशक के प्रारम्भ में मध्य मंगलाचरण

१. नमो सुयदेवयाए।

[१] श्रुत-देवता को नमस्कार हो।

विवेचन—यह मध्य-मंगलाचरण है। आदि-मंगलाचरण करने के बाद अब शास्त्रकार शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिए शास्त्र के मध्य में अर्थात् चौवीसवें शतक के तेरहवें उद्देशक के आदि में मंगलाचरण करते हैं।

अप्कायिकों में उत्पन्न होनेवाले चौबीस दण्डकों में उत्पादादि प्ररूपणा

२. आउकाइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

एवं जहेव पुढविकाइयउद्देसए जाव पुढविकाइये णं भंते ! जे भविए आउकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं सत्तवाससहस्सट्ठितीएसु उववज्जेज्जा।

[२ प्र.] भगवन् ! अप्कायिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२ उ.] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक-उद्देशक (बारहवें) में कथन किया है, उसी प्रकार यहाँ भी कहना। यावत्—

[प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, जो अप्कायिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले अप्कायिक में उत्पन्न होता है ?

[उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की स्थिति वाले अप्कायिकों में उत्पन्न होता है।

३. एवं पुढविकाइयउद्देसगसरिसो भाणियव्वो, णवरं ठिइं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ चउवीसमे सते : तेरसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-१३ ॥

[३] इस प्रकार यह समग्र उद्देशक (नौ गमकों सहित) पृथ्वीकायिक के समान कहना चाहिए। विशेष यह है कि इसकी स्थिति और संवेध (के विषय में यथायोग्य) जान लेना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—स्थिति और संवेध के सिवाय अप्कायिक का समग्र वर्णन पृथ्वीकायिक-उद्देशक (पूर्वोक्त बारहवें उद्देशक) के समान समझना चाहिए।

॥ चौवीसवाँ शतक : तेरहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

□□

चउद्दसमो : तेउक्काइय-उद्देसओ

चौदहवाँ उद्देशक : तेजस्कायिक (की उत्पत्ति आदि-सम्बन्धी)

तेजस्कायिकों में उत्पन्न होनेवाले दण्डकों में बारहवें उद्देशक के अनुसार वक्तव्यता-निर्देश

१. तेउक्काइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

एवं पुढविकाइयउद्देसगसरिसो उद्देसो भाणितव्वो, नवरं ठिति संवेहं च जाणेज्जा। देवेहिंतो न उववज्जंति। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ चउवीसइमे सए : चतुद्दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-१४ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! तेजस्कायिक जीव, कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] यह उद्देशक भी पृथ्वीकायिक-उद्देशक की तरह कहना चाहिए। विशेष यह है कि इसकी स्थिति और संवेध (पहले से भिन्न) समझने चाहिये। तेजस्कायिक जीव देवों से आ कर उत्पन्न नहीं होते। शेष सब पूर्ववत् जानना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर श्रीगौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—स्थिति और संवेध को छोड़ कर समग्र तेजस्कायिक—उद्देशक भी पृथ्वीकायिक उद्देशक के समान कहना चाहिए। विशेष—कोई भी देव च्यव कर तेजस्काय जीवों में उत्पन्न नहीं होता। तेजस्काय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन अहोरात्र है।[1]

चौवीसवाँ शतक : चौदहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) वियाहपण्णत्ति सुत्तं भा. २, पृ. ९४३

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८३३

पण्णरसमो : वाउकाइय-उद्देसओ

पन्द्रहवाँ उद्देशक : वायुकायिक की उत्पत्ति आदि-सम्बन्धी

वायुकायिकों में उत्पन्न होनेवाले दण्डकों में चौदहवें उद्देशक के अनुसार वक्तव्यता-निर्देश

१. वाउकाइया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

एवं जहेव तेउक्काइयउद्देसओ तहेव, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चउवीसइमे सते : पनरसमो उद्देसओ समत्तो ।। २४-१५ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! वायुकायिक जीव, कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] तेजस्कायिक-उद्देशक के समान इसकी समग्र वक्तव्यता है । स्थिति और संवेध तेजस्कायिक से भिन्न समझना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर श्रीगौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—निष्कर्ष—स्थिति और संवेध के अतिरिक्त वायुकायिक-सम्बन्धी समग्र वक्तव्य तेजस्कायिक-उद्देशक के समान कहना चाहिए । देवों से च्यव कर आया हुआ जीव वायुकायिकों में उत्पन्न नहीं होता । वायुकायिक की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है ।

।। चौवीसवाँ शतक : पन्द्रहवाँ उद्देशक समाप्त ।।

सोलसमो : वणस्सइकाइय-उद्देसओ

सोलहवाँ उद्देशक : वनस्पतिकायिक (की उत्पत्ति आदि-सम्बन्धी)

वनस्पतिकायिकों में उत्पन्न होनेवाले चौबीस दण्डकों में बारहवें उद्देशकानुसार वक्तव्यता

१. वणस्सतिकाइया णं भंते ! कग्रोहिंतो उववज्जंति ?०

एवं पुढविकाइयसरिसो उद्देसो, नवरं जाहे वणस्सतिकाइओ वणस्सतिकाइएसु उववज्जति ताहे पढम-बितिय-चतुत्थ-पंचमेसु गमएसु परिमाणं अणुसमयं अविरहियं अणंता उववज्जंति; भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अणंताइं भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं अणंतं कालं; एवतियं० । सेसा पंच गमा अट्ठभवग्गहणिया तहेव; नवरं ठिंतिं संवेहं च जाणेज्जा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति० ।

।। चउवीसइमे सए : सोलसमो उद्देसओ समत्तो ।। २४-१६ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिक जीव, कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] यह उद्देशक पृथ्वीकायिक-उद्देशक के समान है। विशेष यह है कि जब वनस्पतिकायिक जीव, वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं, तब पहले, चौथे और पांचवें गमक में परिमाण यह है कि प्रतिसमय निरन्तर वे अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं।' भव की अपेक्षा से—वे जघन्य दो भव और उत्कृष्ट अनन्त भव ग्रहण करते हैं, तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है । शेष पांच गमकों में उसी प्रकार आठ भव जानने चाहिए । विशेष यह है कि स्थिति और संवेध पहले से भिन्न जानना चाहिए।

विवेचन—(१) वनस्पतिकाय के जीवों का वनस्पतिकाय में उद्वर्तन और उत्पाद अनन्त है, दूसरी कायों का नहीं, क्योंकि दूसरी सभी कायों के जीव असंख्यात ही हैं । इसलिए उनका उद्वर्तन और उत्पाद असंख्यात का ही होता है, अनन्त का नहीं । (२) वनस्पतिकाय के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पंचम गमक की स्थिति उत्कृष्ट नहीं होने से अनन्त उत्पन्न होते हैं । शेष पांच गमकों की उत्कृष्ट स्थिति होने से उनमें एक, दो या तीन, इत्यादि रूप से भी उत्पन्न होते हैं । पहले, दूसरे, चौथे और पांचवें गमक की स्थिति उत्कृष्ट न होने के कारण ही उनमें भवादेश से उत्कृष्ट अनन्तभव और कालादेश से अनन्तकाल है । शेष पांच गमकों में उत्कृष्ट स्थिति होने से भवादेश से उत्कृष्ट आठ भव और कालादेश से उत्कृष्ट ८० हजार वर्ष है सर्वगमकों में जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति प्रतीत है । अर्थात्—जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट १० हजार वर्ष है । संवेध—तीसरे और सातवें गमक

में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट आठ भव की अपेक्षा ८० हजार वर्ष है। छठे और आठवें गमक में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक १० हजार वर्ष और उत्कृष्ट ४ अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ४० हजार वर्ष है। नौवें गमक में जघन्य २० हजार वर्ष और उत्कृष्ट ८० हजार वर्ष है।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : सोलहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति पत्र ८३३

सत्तरसमो : बेइंदिय-उद्देसओ

सत्तरहवाँ उद्देशक : द्वीन्द्रियों में उत्पादादि सम्बन्धी

दीन्द्रियों में उत्पन्न होनेवाले दण्डकों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१. बेइंदिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?० जाव पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए बेइंदिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

स च्चेव पुढविकाइयस्स लद्धी जाव कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं संखेज्जाइं भवग्गहणाइं; एवतियं० ।

[१ प्र.] भगवन् ! द्वीन्द्रिय जीव कहाँ से आ कर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि, यावत्—हे भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव, जो द्वीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने योग्य हो, तो कितने काल की स्थिति वाले द्वीन्द्रियों में उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ पूर्वोक्त (पृथ्वीकाय में उत्पन्न होने योग्य) पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता के समान, यावत् कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट संख्यात भव, इतने काल तक यावत् गमनागमन करते हैं ।

२. एवं तेसु चेव चउसु गमएसु संवेहो, सेसेसु पंचसु तहेव अट्ठ भवा । एवं जाव चतुरिंदिएणं समं चउसु संखेज्जा भवा, पंचसु अट्ठ भवा, पंचेंदियतिरिक्खजोणिय-मणुस्सेसु समं तहेव अट्ठभवा । देवेसु न चेव उववज्जंति, ठिति संवेहं च जाणेज्जा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चउवीसइमे सए : सत्तरसमो उद्देसओ समत्तो ।। २४-१७ ।।

[२] जिस प्रकार (पृथ्वीकायिक के साथ द्वीन्द्रिय का संवेध कहा गया है,) इसी प्रकार पहला, दूसरा, चौथा और पाँचवाँ इन चार गमकों में संवेध जानना चाहिए । शेष पांच गमकों में उसी प्रकार आठ भव होते हैं । पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों और मनुष्यों के साथ पूर्वोक्त आठ भव जानना चाहिए । देवों से च्यव कर आया हुआ जीव द्वीन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता । यहाँ स्थिति और संवेध पहले से भिन्न है ।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—स्पष्टीकरण—पृथ्वीकायिक जीव के पृथ्वीकायिक जीव में ही उत्पन्न होने की वक्तव्यता के समान द्वीन्द्रिय में उत्पन्न होने के विषय में भी जानना चाहिए तथा पृथ्वीकायिक जीव

का वेइन्द्रिय के साथ जो संवेध कहा गया है, वही अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय के साथ कहना चाहिए। अर्थात्—पहले, दूसरे, चौथे और पांचवें गमक में उत्कृष्ट संख्यात भव और शेष पांच गमकों में उत्कृष्ट आठ भव जानने चाहिए। कालादेश से पृथ्वीकायिकादि की जो स्थिति हो, उसे द्वीन्द्रिय की स्थिति के साथ जोड़ कर संवेध जानना चाहिए। पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों और मनुष्यों के साथ द्वीन्द्रिय के पूर्वोक्तवत् सभी गमकों में उत्कृष्ट आठ-आठ भव होते हैं।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : सत्रहवाँ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८३४

(ख) भगवती, (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३११०

अट्ठारसमो : तेइंदिय-उद्देसओ

अठारहवाँ उद्देशक : त्रीन्द्रिय की उत्पातादि-प्ररूपणा

त्रीन्द्रियों में उत्पन्न होनेवाले दण्डकों में सत्रहवें उद्देशकानुसार वक्तव्यता-निर्देश

१. तेइंदिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

एवं तेइंदियाणं जहेव बेंदियाणं उद्देसो, नवरं ठिति संवेहं च जाणेज्जा। तेउकाइएसु समं ततियगमे उक्कोसेणं अट्ठुत्तराइं बे राइंदियसयाइं। बेइंदिएहिं समं ततियगमे उक्कोसेणं अडयालीसं संवच्छराइं छण्णउयराइंदियसयमब्भहियाइं। तेइंदिएहिं समं ततियगमे उक्कोसेणं बाणउयाइं तिन्नि राइंदियसयाइं। एवं सव्वत्थ जाणेज्जा जाव सन्निमणुस्स त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सए : अट्ठारसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-१८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! त्रीन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?; इत्यदि प्रश्न।

[१ उ.] द्वीन्द्रिय-उद्देशक के समान त्रीन्द्रियों के विषय में भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और संवेध (द्वीन्द्रिय से भिन्न) समझना चाहिए। तेजस्कायिकों के साथ (त्रीन्द्रियों का संवेध) तीसरे गमक में उत्कृष्ट २०८ रात्रि-दिवस का और द्वीन्द्रियों के साथ तीसरे गमक में उत्कृष्ट १९६ रात्रि-दिवस अधिक ४८ वर्ष होता है। त्रीन्द्रियों के साथ तीसरे गमक में उत्कृष्ट ३९२ रात्रि दिवस होता है। इस प्रकार यावत्—संज्ञी मनुष्य तक सर्वत्र जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् यह इसी प्रकार है'; यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—त्रीन्द्रियजीवों के स्थिति और संवेध-विशेषता का स्पष्टीकरण—(१) त्रीन्द्रिय जीवों में उत्पन्न होने वाले जीवों की स्थिति और त्रीन्द्रिय जीवों की स्थिति को मिला कर संवेध कहना चाहिए। यथा—त्रीन्द्रियों में उत्पन्न होने वाले तेजस्कायिक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन रात्रि-दिवस है, उसे चार भवों के साथ गुणा करने पर बारह रात्रि-दिवस होते हैं। तथा त्रीन्द्रिय की उत्कृष्ट स्थिति ४९ रात्रि-दिवस की हैं। उसे चार भवों के साथ गुणा करने पर १९६ रात्रि-दिवस होते हैं। इन दोनों राशियों को जोड़ने से २०८ रात्रिदिवस होते हैं। यही तेजस्कायिक का त्रीन्द्रिय के तीसरे गमक का संवेध-काल है।

(२) द्वीन्द्रिय का संवेध चार भवों की अपेक्षा ४८ वर्ष होते हैं और त्रीन्द्रिय के चार भवों का संवेध १९६ रात्रि-दिवस होता है। दोनों को मिलाने से १९६ रात्रि-दिवस अधिक ४८ वर्ष, द्वीन्द्रिय के साथ त्रीन्द्रिय का तीसरे गमक का संवेधकाल होता है। त्रीन्द्रिय का त्रीन्द्रिय के साथ

आठ भवों का संवेधकाल ३९२ रात्रि-दिवस होता है। इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी तिर्यञ्च, संज्ञीतिर्यंच, असंज्ञी मनुष्य और संज्ञी मनुष्य के साथ तीसरे गमक का संवेधकाल जानना चाहिए।

(३) तीसरे गमक का संवेध-काल बताया गया है, इसलिए तदनुसार छठे आदि गमकों का संवेधकाल सूचित हुआ समझना चाहिए। क्योंकि उनमें भी आठ भव होते हैं। एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के साथ प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पंचम—इन चार गमकों का संवेध भवादेश से संख्यात भव और कालादेश से संख्यातकाल जानना चाहिए।[1]

। चौवीसवाँ शतक : अठारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ।।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८३४

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ६, पृ. ३१११, ३११२

एगूणवीसइमो : चउरिंदिय-उद्देसओ

उन्नीसवाँ उद्देशक : चतुरिन्द्रिय (जीवों की उत्पत्ति आदि सम्बधी)

चतुरिन्द्रियों में उत्पन्न होनेवाले दण्डकों में उपपात-परिमाण आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१. चउरिंदिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

जहा तेइंदियाणं उद्देसओ तहा चउरिंदियाण वि, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सए : एगूणवीसइमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-१९ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! चतुरिन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] जिस प्रकार त्रीन्द्रिय-उद्देशक कहा है, उसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में समझना चाहिए। विशेष—स्थिति और संवेध (त्रीन्द्रिय से भिन्न) जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—स्थिति और संवेध के सिवाय चतुरिन्द्रिय-सम्बन्धी समग्र उद्देशक त्रीन्द्रिय-उद्देशक के समान जानना चाहिए।

॥ चौवीसवाँ शतक : उन्नीसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

वीसइमो : पंचेंदिय-तिरिक्खजोणिय-उद्देसओ

वीसवाँ उद्देशक : पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-सम्बन्धी

१. पंचिदियतिरिक्खजोणिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरतिएहिंतो उवव०, तिरिक्ख-मणुस्स-देवेहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! नेरइएहिंतो वि उवव०, तिरिक्ख-मणुएहिंतो वि उववज्जंति, देवेहिंतो वा उववज्जंति।

[१ प्र.] भगवन् ! पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या तिर्यञ्चों, मनुष्यों अथवा देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तिर्यञ्चों, मनुष्यों तथा देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनिक जीव, नारकों, तिर्यञ्चों, मनुष्यों एवं देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

नरक-पृथ्वियों की अपेक्षा पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पत्ति-निरूपण

२. जइ नेरइएहिंतो उववज्जंति किं रयणप्पभपुढविनेरइएहिंतो उववज्जंति जाव अहेसत्तम-पुढविनेरइएहिंतो उववज्जंति ?

गोयमा ! रयणप्पभपुढविनेरइएहिंतो वि उवव० जाव अहेसत्तमपुढविनेरइएहिंतो वि०।

[२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनिक,) नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् वे अधःसप्तम-पृथ्वी के नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे रत्नप्रभा-पृथ्वी के नैरयिकों से, यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी के नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जीव, प्रथम से लेकर सप्तम नरक के नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं।

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होनेवाले सात नरकों के नैरयिकों के उत्पाद-परिमाणादि द्वारों की प्ररूपणा

३. रयणप्पभपुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उवव० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडीआउएसु उववज्जेज्जा ।

[३ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभा-पृथ्वी का नैरयिक, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले (पंचेन्द्रिय-तिर्यंचयोनिकों) में उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ।

४. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवइया उवव० ?

एवं जहा असुरकुमाराणं वत्तव्वया । नवरं संघयणे पोग्गला अणिट्ठा अकंता जाव परिणमंति । ओगाहणा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—भवधारिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जा सा भवधारणिज्जा सा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं सत्त धणूइं तिन्नि रयणीओ छच्च अंगुलाइं । तत्थ णं जा सा उत्तरवेउव्विया सा जहन्नेणं अंगुलस्स संखेज्जतिभागं, उक्कोसेणं पन्नरस धणूइं अड्ढातिज्जाओ य रयणीओ ।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव, एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[४ उ.] जैसे असुरकुमारों की वक्तव्यता कही है, वैसे यहाँ भी कहनी चाहिए । विशेष यह है कि (रत्नप्रभा नैरयिकों के) संहनन में अनिष्ट और अकान्त (अप्रिय) पुद्गल यावत् परिणमन करते हैं । उनकी अवगाहना दो प्रकार की कही गई है—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । उनमें से जो भवधारणीय अवगाहना है, वह जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट सात धनुष, तीन रत्नि (हाथ) और छह अंगुल की होती है । उत्तरवैक्रिय अवगाहना जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट पन्द्रह धनुष ढाई हाथ (रत्नि) की होती है ।

५. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा किंसंठिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तंजहा—भवधारणिज्जा य उत्तरवेउव्विया य । तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंडसंठिया पन्नत्ता । तत्थ णं जे ते उत्तरवेउव्विया ते वि हुंडसंठिया पन्नत्ता । एगा काउलेस्सा पन्नत्ता । समुग्घाया चत्तारि । नो इत्थिवेदगा, नो पुरिसवेदगा; नपुंसगवेदगा । ठिती जहन्नेणं दस वाससहस्साइं, उक्कोसेणं सागरोवमं । एवं अणुबंधो वि । सेसं तहेव । भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं कालाएसेणं जहन्नेणं दस वाससहस्साइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं० । [पढमो गमओ] ।

[५ प्र.] भगवन् ! उन जीवों के शरीर किस संस्थान वाले होते हैं ?; इत्यादि प्रश्न ।

[५ उ.] गौतम ! उनके शरीर दो प्रकार के कहे गए हैं—भवधारणीय और उत्तरवैक्रिय । दोनों प्रकार के शरीर केवल हुण्डक-संस्थान वाले होते हैं । उनमें एक मात्र कापोतलेश्या होती है । चार समुद्घात होते हैं । वे स्त्रीवेदी तथा पुरुषवेदी नहीं होते, केवल नपुंसकवेदी होते हैं । उनकी स्थिति जघन्य दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट एक सागरोपम की होती है । अनुबन्ध भी इसी प्रकार

होता है। शेष सब पूर्वोक्त प्रकार से जानना। भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करते हैं। (प्रथम गमक]

६. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उववन्नो, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु उववन्नो। अवसेसं तहेव, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं तहेव, उक्कोसेणं चत्तारि सागरोवमाइं चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं०। [बीओ गमओ]।

[६] यदि वह (रत्नप्रभा-नैरयिक) जघन्य काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है। शेष सब पूर्ववत् कहना। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से पूर्वोक्त अनुसार और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [द्वितीय गमक]

७. एवं सेसा वि सत्त गमगा भाणियव्वा जहेव नेरइयउद्देसए सन्निपंचेंदिएहिं समं णेरइयाणं। मज्झिमएसु य तिसु गमएसु पच्छिमएसु य तिसु गमएसु ठितिनाणत्तं भवति। सेसं तं चेव। सव्वत्थ ठिंति संवेहं च जाणेज्जा। [३—९ गमगा]।

[७] इसी प्रकार शेष सात गमक, नैरयिक-उद्देशक में संज्ञी पंचेन्द्रियों के साथ बतलाए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। बीच के तीन गमकों (४-५-६) में तथा अन्तिम तीन गमकों (७-८-९) में स्थिति की विशेषता है। शेष सब पूर्ववत् जानना। सर्वत्र स्थिति और संवेध उपयोगपूर्वक जान लेना चाहिए। [गमक ३ से ९ तक]

८. सक्करप्पभापुढविनेरइए णं भंते! जे भविए० ?

एवं जहा रयणप्पभाए नव गमगा तहेव सक्करप्पभाए वि, नवरं सरीरोगाहणा जहा ओगाहण-संठाणे; तिन्नि अन्नाणा नियमं। ठिति-अणुबंधा पुव्वभणिया। एवं नव वि गमगा उवजुंजिऊण भाणियव्वा।

[८ प्र.] भगवन्! शर्कराप्रभापृथ्वी का नैरयिक जो पंचेन्द्रिय- तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने योग्य है (वह कितने काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है?) इत्यादि प्रश्न।

[८ उ.] जैसे रत्नप्रभा के सम्बन्ध में नौ गमक कहे हैं, वैसे यहाँ भी नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि शरीर की अवगाहना, (प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें) अवगाहना-संस्थान-पद के अनुसार जानना। उनमें तीन ज्ञान और तीन अज्ञान नियम से होते हैं। स्थिति और अनुबन्ध पहले कहा गया है। इस प्रकार नौ ही गमक उपयोग-पूर्वक कहने चाहिए।

९. एवं जाव छट्ठपुढवी, नवरं ओगाहणा-लेस्सा-ठिति-अणुबंधा संवेहा य जाणियव्वा।

[९] इसी प्रकार यावत् छठी नरक पृथ्वी तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ अवगाहना, लेश्या, स्थिति, अनुबन्ध और संवेध (यथायोग्य भिन्न-भिन्न) जानने चाहिए।

१०. अहेसत्तमपुढविनेरइए णं भंते! जे भविए० ?

एवं चेव णव गमगा, नवरं ओगाहणा-लेस्सा-ठिति-अणुबंधा जाणियव्वा। संवेहे भवाएसेणं

जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं०। आदिल्लएसु छसु गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं। पच्छिल्लएसु तिसु गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं। लद्धी नवसु वि गमएसु जहा पढमगमए, नवरं ठितिविसेसो कालाएसो य—बितियगमए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं०। ततियगमए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं। चउत्थगमे जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं। पंचमगमए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं। छट्ठगमए जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं। सत्तमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं। अट्ठमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाइं। णवमगमए जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठिं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, एवतियं०। [१—६ गमगा]।

[१० प्र.] भगवान्! अधःसप्तम-पृथ्वी का नैरयिक, जो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में उत्पन्न होने योग्य हो, तो वह कितने काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है?, इत्यादि प्रश्न।

[१० उ.] गौतम! पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार इसके भी नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ अवगाहना, लेश्या, स्थिति और अनुबन्ध भिन्न-भिन्न जानने चाहिए। संवेध—भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट छह भव, तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। प्रथम के छह गमकों (१ से ६ तक) में जघन्य दो भव और उत्कृष्ट छह भव तथा अन्तिम तीन गमकों (७-८-९) में जघन्य दो भव और उत्कृष्ट चार भव जानने चाहिए। नौ ही गमकों में प्रथम गमक के समान वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु दूसरे गमक में स्थिति की विशेषता है तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ६६ सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। तीसरे गमक में जघन्य पूर्वकोटि अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि-अधिक ६६ सागरोपम, चौथे गमक में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक छासठ सागरोपम, पाँचवें गमक में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक २२ सागरोपम और उत्कृष्ट तीन अन्तर्मुहूर्त्त अधिक छासठ सागरोपम, छठे गमक में जघन्य पूर्वकोटि अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम, तथा सातवें गमक में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम और

उत्कृष्ट दो पूर्वकोटि अधिक ३६ सागरोपम, आठवें गमक में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ३३ सागरोपम और उत्कृष्ट दो अन्तर्मुहूर्त्त अधिक ६६ सागरोपम, तथा नौवें गमक में जघन्य पूर्वकोटि अधिक ३३ सागरोपम और उत्कृष्ट दो पूर्वकोटि-अधिक ६६ सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करना है। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—(१) नरक से निकले हुए जीव असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च आदि में आकर उत्पन्न नहीं होते। वे पूर्वकोटि तक की आयु वाले से आकर उत्पन्न होते हैं।

(२) पृथ्वीकायिक जीवों में आने वाले असुरकुमार के परिमाण आदि की जो वक्तव्यता कही गई है, वही पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में आने वाले नैरयिक के विषय में जाननी चाहिए।

(३) उत्पत्ति के समय नैरयिक की अवगाहना जघन्यतः अंगुल के असंख्यातवें भाग होती है।

(४) **प्रथम से सप्तम नरक तक के नारकों की अवगाहना**—प्रथम नरक में उत्कृष्ट अवगाहना सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल कही है, वह तेरहवें प्रस्तट (पाथड़े) की अपेक्षा समझनी चाहिए। प्रथम प्रस्तटादि में अवगाहना का क्रम इस प्रकार है—

'रयणाइ पढम-पयरे, हत्थतियं देह-उस्सयं भणियं।
छप्पन्नंगुलसड्ढा, पयरे-पयरे य बुड्ढीओ॥'

अर्थात्—रत्नप्रभा-पृथ्वी के प्रथम प्रस्तट में तीन हाथ की अवगाहना होती है। आगे के प्रत्येक प्रस्तट में साढ़े छप्पन अंगुल की वृद्धि होती जाती है। इस क्रम से तेरहवें प्रस्तट के नैरयिक की अवगाहना सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल होती है। यह भवधारणीय अवगाहना है। नैरयिक में जितनी भवधारणीय अवगाहना होती है, उससे दुगुनी उत्तरवैक्रिय अवगाहना होती है।

सात नरकों की अवगाहवा का कथन प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें पद में इस प्रकार है—

सत्त धणु तिण्णि रयणी, छच्चेव अंगुलाइं उच्चत्तं।
पढमाए पुढवीए विउणा विउणं च सेसासु॥

अर्थात्—प्रथम नरक में नारकों की अवगाहना सात धनुष तीन हाथ छह अंगुल की होती है। आगे दूसरे आदि नरकों में क्रमशः दुगुनी-दुगुनी अवगाहना होती है।[1]

(५) यहाँ मूल में दो गमकों में स्थिति आदि का कथन किया गया है। इससे आगे सात गमकों में स्थिति आदि का कथन इसी शतक के प्रथम उद्देशक में संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के साथ नैरयिक जीवों के समान है।

(६) दूसरे आदि नरकों में संज्ञी जीव ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए उनमें तीन ज्ञान या तीन अज्ञान नियम से होते हैं।

(७) **सप्तम पृथ्वी के नारक का संवेध**— यहाँ तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम का जो कथन किया गया है, वह भव और काल की बहुलता की विवक्षा से किया गया है। यह संवेध जघन्य

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४०
(ख) पण्णवणासुत्तं (महावीरविद्यालय द्वारा प्रकाशित) भा-१, सू. १५२९/३, पृ. ३४०

स्थिति वाले सप्तम पृथ्वी के नैरयिक में पाया जाता है, क्योंकि सप्तम नरक में तीन भवों की जघन्य स्थिति ६६ सागरोपम की होती है, और पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के तीन भवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पूर्वकोटि की होती है। यदि उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागरोपम की आयु वाला नैरयिक हो, और पूर्वकोटि की आयु वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में आकर उत्पन्न हो तो इस प्रकार दो बार ही उत्पत्ति होती है। इससे दो पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम ही स्थिति होती है। तिर्यञ्चभवसम्बन्धी पूर्वकोटि नहीं होती। इस प्रकार भव और काल की उत्कृष्टता नहीं होती।[1]

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होनेवाले एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियों के उपपात-परिमाणादि की प्ररूपणा

११. जति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो० ?

एवं उववाओ जहा पुढविकाइयउद्देसए जाव—

[११ प्र.] यदि वह (संज्ञीपंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होता है तो क्या एकेन्द्रिय-तिर्यञ्च योनिकों से आकर उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[११ उ.] पृथ्वीकायिक-उद्देशक में कहे अनुसार यहाँ उपपात समझना चाहिए। यावत्—

१२. पुढविकाइए णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जति।

[१२ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक जीव, पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों) में उत्पन्न होता है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों) में उत्पन्न होता है।

१३. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं परिमाणाईया अणुबंधपज्जवसाणा जा चेव अप्पणो सट्ठाणे वत्तव्वया सा चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स भाणियव्वा, नवरं नवसु वि गमएसु परिमाणे जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा वा उववज्जंति। भवादेसेण वि नवसु वि गमएसु—भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। सेसं तं चेव। कालाएसेणं उभओ ठितिं करेज्जा।

[१३ प्र.] भगवन् ! वे पृथ्वीकायिक जीव (एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।)

[१३ उ.] यहाँ परिमाण से ले कर अनुबन्ध तक, अपने-अपने स्वस्थान में जो वक्तव्यता कही है, तदनुसार ही पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि नौ ही

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४०

गमकों में परिमाण—जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं, ऐसा जानना। (संवेध-) नौ ही गमकों में भव की अपेक्षा से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करते हैं। शेष पूर्ववत्। कालादेश से—दोनों पक्षों की स्थिति को जोड़ने से (काल) संवेध जानना चाहिए।

१४. जदि आउकाइएहिंतो उवव० ?

एवं आउकाइयाण वि।

[१४ प्र.] भगवन् ! यदि वह (पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) अप्कायिक जीवों से आकर उत्पन्न हो तो ? इत्यादि प्रश्न।

[१४ उ.] पूर्ववत् अप्काय के सम्बन्ध में कहना चाहिए।

१५. एवं जाव चउरिंदिया उववाएयव्वा, नवरं सव्वत्थ अप्पणो लद्धी भाणियव्वा। नवसु वि गमएसु भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं उभओ ठिंति करेज्जा। सव्वेसिं सव्वगमएसु जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणाणं लद्धी तहेव। सव्वत्थ ठिंति संवेहं च जाणेज्जा।

[१५] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय तक उपपात कहना चाहिए; परन्तु सर्वत्र अपनी-अपनी वक्तव्यता कहनी चाहिए। नौ ही गमकों में भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव, और उत्कृष्ट आठ भव तथा कालादेश से दोनों की स्थिति को जोड़ना चाहिए। जिस प्रकार पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार सभी गमकों में सभी जीवों के सम्बन्ध में कहनी चाहिए। सर्वत्र स्थिति और संवेध यथायोग्य भिन्न-भिन्न जानना चाहिए।

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण : एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-सम्बन्धी—(१) पृथ्वीकायिक जीव, यदि पृथ्वीकायिक में उत्पन्न हो तो प्रतिसमय असंख्यात उत्पन्न होते हैं, किन्तु यदि पृथ्वीकायिक, पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पन्न हो तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। (२) संवेध-भव की अपेक्षा से नौ ही गमकों में उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। (३) अप्कायिक से लेकर चतुरिन्द्रिय तक से निकल कर पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होने में परिमाणादि की वक्तव्यता सर्वत्र अपनी अपनी कहनी चाहिए।[1]

पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले असंज्ञीपंचेन्द्रिय तिर्यंचों के उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१६. जदि पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणि० ?

गोयमा ! सन्निपंचेंदिय०, असन्निपंचेंदिय०। भेदो जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स जाव—

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८४०

[१६ प्र.] भगवन् ! यदि (वे पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च,) पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से० ?

[१६ उ.] गौतम ! वे संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से भी आकर उत्पन्न होते हैं; इत्यादि; पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले तिर्यञ्चों के भेद कहे हैं, तदनुसार यहाँ भी कहने चाहिए। यावत्—

१७. असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकाल ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीए उवव०।

[१७ प्र.] भगवन् ! असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य हैं, वह कितने काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ?

[१७ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है।

१८. ते णं भंते०! ?

अवसेसं जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स असन्निस्स तहेव निरवसेसं जाव भवाएसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंज्जतिभागं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियं; एवतियं०। [पढमो गमओ]

[१८ प्र.] भगवन् ! वे (असंज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१८ उ.] इस सम्बन्ध में पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी-तिर्यञ्च-पंचेन्द्रियों की जो वक्तव्यता कही है, तदनुसार यावत् भवादेश तक कहनी चाहिए। कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवां भाग, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

१९. बितियगमए एस चेव लद्धी, णवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ; एवतियं०। [बीओ गमओ]।

[१९] द्वितीय गमक में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त, और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [द्वितीय गमक]

२०. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागट्ठितीएसु उवव०।

[२०] यदि वह (असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-

तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है।

२१. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असन्निस्स तहेव निरवसेसं जाव कालादेसो त्ति, नवरं परिमाणे—जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। सेसं तं चेव।[तइओ गमओ]

[२१ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२१ उ.] जैसे रत्नप्रभा-पृथ्वी में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार की वक्तव्यता यहाँ यावत्—कालादेश तक कहनी चाहिए। परन्तु परिमाण के सम्बन्ध में विशेष यह है कि वह जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष सब पूर्ववत् जानना। [तृतीय गमक]

२२. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उवव०।

[२२] यदि वह स्वयं (असंज्ञी पं. तिर्यञ्च) जघन्यकाल की स्थिति वाला हो, तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति वाले सं. पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है।

२३. ते णं भंते !० ?

अवसेसं जहा एयस्स पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तहा इह वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु जाव अणुबंधो त्ति। भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ। [चउत्थो गमओ]।

[२३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२३ उ.] पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले जघन्य स्थिति के असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों के बिचले तीन गमकों (४-५-६) में जिस प्रकार कथन किया गया है, उसी प्रकार यहां भी तीनों ही गमकों में यावत् अनुबन्ध तक सब कहना चाहिए। भवादेश से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है, तथा कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्व कोटिवर्ष; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [चतुर्थ गमक]

२४. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं अट्ठ अंतोमुहुत्ता; एवतियं०। [पंचमो गमओ।

[२४] यदि वह (असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) जघन्य काल की स्थिति वाले सं. पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो उसके विषय में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि

कालादेश से जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट आठ अन्तर्मुहूर्त्त; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [पंचम गमक]

२५. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं पुव्वकोडीआउएसु, उक्कोसेण वि पुव्वकोडीआउएसु उवव०। एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जाणेज्जा। [छट्ठो गमओ]।

[२५] यदि वह (असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले सं. पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है। यहाँ यही पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ कालादेश (भिन्न) समझना चाहिए। [छठा गमक]

२६. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, सच्चेव पढमगमगवत्तव्वया, नवरं ठिती से जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तं चेव। कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्त-मब्भहिया, उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जतिभागं पुव्वकोडीपुहत्तमब्भहियं; एवतियं०। [सत्तमो गमओ]।

[२६] यदि वह (असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो, तो प्रथम गमक के अनुसार उसकी वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि उसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की होती है। शेष पूर्ववत् जानना। काल की अपेक्षा से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक पल्योपम के असंख्यातवें भाग; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सप्तम गमक]

२६. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वता जहा सत्तमगमे, नवरं कालाए-सेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ; एवतियं०। [अट्ठमो गमओ]।

[२७] यदि वह (उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला असंज्ञी पं. तिर्यञ्च) जघन्य काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में उत्पन्न हो, तो भी यही सातवें गमक की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि, इतने काल तक (यावत् गमनागमन करता है।) [आठवाँ गमक]

२८. सो चेव उक्कोसकालट्ठिईएसु उववन्नो, जहन्नेणं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं, उक्को-सेणवि पलिओवमस्स असंखेज्जइभागं। एवं जहा रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स असन्निस्स नवमगमए तहेव निरवसेसं जाव कालादेसो त्ति, नवरं परिमाणं जहा एयस्सेव ततियगमे। सेसं तं चेव। [नवमो गमओ]।

[२८] यदि वही (असंज्ञी पं. ति.), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है; इत्यादि समग्र वक्तव्यता, रत्नप्रभा में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-सम्बन्धी नवम गमक की वक्तव्यता के अनुसार यावत् कालादेश तक कहनी चाहिए। परन्तु परिमाण

में विशेष यह है कि वह इसके तीसरे गमक में कहे अनुसार कहना। शेष पूर्ववत् जानना। [नौवां गमक]

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—(१) असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, जो पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, वह असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च से निकल कर असंख्यात वर्ष की आयु वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न हो सकता है; इसलिए कहा गया है—**उक्कोसेणं पलिओवमस्स असंखेज्जभागठिईएसु**। अर्थात्—वह उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। (२) **परिमाणादि द्वारों का कथन** जिस प्रकार पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी के पृथ्वीकायिक उद्देशक में परिमाणादि द्वारों का कथन किया गया है उसी प्रकार यहाँ भी पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में होने वाले असंज्ञी का भी करना चाहिए। (३) **इसका उत्कृष्ट कालादेश**—पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग कहा गया है, वह इस कारण से है कि पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति वाला असंज्ञी, पूर्वकोटि की आयुवाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्चों में सात वार उत्पन्न होता है, इसलिए सात भवग्रहण करने में सात पूर्वकोटिवर्ष हुए। आठवें भव में पल्योपम के असंख्यातवें भाग की स्थिति वाले यौगलिक तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्वोक्त कालादेश बनता है। (३) असंख्यात वर्ष की स्थिति वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च असंख्यात उत्पन्न नहीं होते वे संख्या ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि वे संख्यात ही होते हैं। (४) जघन्य स्थिति वाला असंज्ञी, संख्यात वर्ष की स्थिति वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में ही उत्पन्न होता है। इसीलिए चौथे गमक में कहा गया है—उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार नौ गमकों का कथन विचारपूर्वक करना चाहिए। (५) असंज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की परिमाणादि अवशिष्ट विषयों की वक्तव्यता तीनों मध्यम गमों अर्थात् जघन्य स्थिति वाले तीनों (४-५-६) गमों में अनुबन्धपर्यन्त (पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले के तीनों मध्यम गमकों के अनुसार) कहनी चाहिए।[1]

पंचेन्द्रियतिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों के उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२९. जदि सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं संखेज्जवासा०, असंखेज्ज० ?

गोयमा ! संखेज्ज०, नो असंखेज्ज०।

[२९ प्र.] यदि वे (संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च), संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-योनिकों से आ कर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से आ कर उत्पन्न होते हैं या असंख्यात वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों से ?

[२९ उ.] गौतम ! वे संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आ कर उत्पन्न होते हैं, किन्तु असंख्यात वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों से नहीं।

३०. जदि संखेज्ज० जाव किं पज्जत्तासंखेज्ज, अपज्जत्तासंखेज्ज ?

दोसु वि।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४१

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ६, पृ. ३१३४

[३० प्र.] भगवन् ! यदि वे (सं. पं. तिर्यञ्च) संख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे पर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं या अपर्याप्त संख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्चों से ?

[३० उ.] गौतम ! वे दोनों (पर्याप्तक और अपर्याप्तक सं. पं. ति.) से आकर उत्पन्न होते हैं।

३१. संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उववज्जिज्जा।

[३१ प्र.] भगवन् ! यदि संख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ?

[३१ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है।

३२. ते णं भंते !०

अवसेसं जहा एयस्स चेव सन्निस्स रयणप्पभाए उववज्जमाणस्स पढमगमए, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं, सेसं तं चेव जाव भवादेसो त्ति। कालादेसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं; एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[३२ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३२ उ.] (गौतम !) रत्नप्रभापृथ्वी में उत्पन्न होने वाले इस संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के प्रथम गमक के समान सब वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु इसकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक हजार योजन की होती है। शेष सब कथन यावत् भवादेश तक पूर्ववत् जानना। काल की अपेक्षा से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

३३. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ। [बीओ गमओ]।

[३३] यदि वही (संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) जीव, जघन्य काल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो वही पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि, (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।) [द्वितीय गमक]

३४. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो, जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु उवव०। एस चेव वत्तव्वया, नवरं परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि

वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयण-सहस्सं। सेसं तं चेव जाव अणुबंधो त्ति। भवादेसेणं दो भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं। [तइओ गमओ]।

[३४] यदि वह (संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च) उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यंचों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है, इत्यादि पूर्वोक्त वक्तव्यतानुसार कहना चाहिए। परन्तु परिमाण में विशेष यह है कि वह जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। (उसके शरीर की) अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट एक हजार योजन की होती है। शेष पूर्ववत् यावत् अनुबन्ध तक जानना। भवादेश से—दो भव और कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तीन पल्योपम और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [तृतीय गमक]

३५. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उवव०। लद्धी से जहा एयस्स चेव सन्निपंचेंदियस्स पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स मज्झिल्लएसु तिसु गमएसु सच्चेव इह वि मज्झिमएसु तिसु गमएसु कायव्वा। संवेहो जहेव एत्थ चेव असन्निस्स मज्झिमएसु तिसु गमएसु। [४–६ गमगा]।

[३५] यदि वह (संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च), स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला हो और (संज्ञी पं. तिर्यञ्चों में) उत्पन्न हो, तो वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-वर्ष की स्थितिवाले सं. पंचे. तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होता है। इस विषय में पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले इसी संज्ञी पंचेन्द्रिय की वक्तव्यता के अनुसार मध्य के तीन (४-५-६) गमक जानने चाहिए तथा पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय के बीच के तीन गमकों (४-५-६) में जो संवेध कहा है, तदनुसार यहाँ भी कहना चाहिए। [गमक ४-५-६]

३६. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, जहा पढमगमओ, णवरं ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं। [सत्तमो गमओ]।

[३६] यदि वह (संज्ञी पं. तिर्यञ्च) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो, तो उसके विषय में प्रथम गमक के समान कहना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि स्थिति और अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष कहना चाहिए। कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सप्तम गमक]

३७. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववण्णो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ, [अट्ठमो गमओ]।

[३७] यदि वही (उत्कृष्ट स्थिति वाला संज्ञी पं. तिर्यञ्च) जघन्य काल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो उसके विषय में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि, इतने काल तक यावत् गति-आगति करता रहता है। [अष्टम गमक]

३८. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठितीएसु। अवसेसं तं चेव, नवरं परिमाणं ओगाहणा य जहा एयस्सेव ततियगमए। भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं; एवतियं०। [नवमो गमओ]।

[३८] यदि वह (उत्कृष्टकाल की स्थिति वाला सं. पं. ति.), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न हो तो वह जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। शेष सब पूर्वोक्त कथनानुसार जानना। विशेष यह है कि परिमाण और अवगाहना इसी के तीसरे गमक में कहे अनुसार समझना। भवादेश से—दो भव, और कालादेश से—जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गति-आगति करता रहता है। [नौवाँ गमक]

विवेचन—विशेष तथ्यों का स्पष्टीकरण—(१) संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, संख्यात-वर्ष की आयु वाले पर्याप्तकों एवं अपर्याप्तकों से उत्पन्न होते हैं। (२) वह तीन पल्योपम की स्थिति तक में उत्पन्न हो सकते हैं। (३) **संख्यात ही क्यों ?**—उत्कृष्ट स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च असंख्यात वर्ष की आयु वाले ही होते हैं और वे (परिमाण में) संख्यात होने से उत्कृष्ट रूप से भी संख्यात ही उत्पन्न होते हैं। (४) **अवगाहना**—सं. पं. तिर्यञ्च में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों की अवगाहना, रत्नप्रभा में उत्पन्न होने वाले संज्ञी ति. पं. के समान नहीं होती, क्योंकि वहाँ संज्ञी ति. पं. की अवगाहना केवल सात धनुष की बतलाई गई है, जबकि यहाँ उत्कृष्टतः एक हजार योजन की है, यह मत्स्य आदि की अपेक्षा से कही गई है। (५) संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च से आता हो तो भी पूर्वोक्त प्रकार से जानना चाहिए। पहले और सातवें गमक में कालादेश सात पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम होता है। तीसरे और नौवें गमक में उत्कृष्ट संख्यात ही उत्पन्न होते हैं और भव भी दो ही होते हैं। अतः दो भवों का ही कालादेश कहना चाहिए। शेष गमकों में यौगलिक पं. तिर्यञ्च नहीं होते। अतः उनकी स्थिति का आकलन विचारपूर्वक करना चाहिए।[1]

मनुष्य की अपेक्षा पंचेन्द्रिय तिर्यंचयोनिकों में उत्पत्तिनिरूपण

३९. जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति किं सण्णिमणु०, असण्णिमणु० ?

गोयमा ! सण्णिमणु०, असण्णिमणु०।

[३९ प्र.] भगवन् ! यदि संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं या असंज्ञी मनुष्यों से ?

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८४१

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ६, पृ. ३१३४

[३९ उ.] गौतम ! वे संज्ञी और असंज्ञी—दोनों प्रकार के मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष– संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, संज्ञी और असंज्ञी—दोनों प्रकार के मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।

पंचेन्द्रियतिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी मनुष्यों में उत्पादादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

४०. असन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्ख० उवव० से णं भंते ! केवतिकाल० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उववज्जति। लद्धी से तिसु वि गमएसु जहेव पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स, संवेहो जहा एत्थ चेव असन्निस्स पंचेंदियस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु तहेव निरवसेसो भाणियव्वो।

[४० प्र.] भगवन् ! असंज्ञी मनुष्य, जो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्च में उत्पन्न होता है ?

[४० उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले असंज्ञी मनुष्य की प्रथम के तीन गमकों में जो वक्तव्यता कही है, उसके अनुसार यहाँ भी प्रथम के तीन गमकों में कहनी चाहिए। जिस प्रकार असंज्ञीपंचेन्द्रिय के मध्यम तीन गमकों में संवेध कहा है, उसी प्रकार सब यहाँ भी कहना चाहिए।

विवेचन—असंज्ञी मनुष्यों में आद्य तीन ही गमक—असंज्ञी मनुष्य के विषय में नौ गमकों में से प्रथम के तीन गमक ही सम्भव हैं, क्योंकि असंज्ञी मनुष्य की ज़घन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त की ही होने से ये तीन ही गम हो सकते हैं, शेष छह गम नहीं होते।[1]

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी मनुष्य के उत्पाद-परिमाण आदि द्वार

४१. जइ सण्णिमणुस्स० किं संखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स०, असंखेज्जवासाउयसण्णिमणुस्स०?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय०, नो असंखेज्जवासाउय०।

[४१ प्र.] भगवन् ! यदि वह (सं. पं. तिर्यञ्च) संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है तो, क्या वह संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है या असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से ?

[४१ उ.] गौतम ! वह संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है, असंख्यात वर्ष की आयु वाले सं. म. से नहीं।

४२. जदि संखेज्ज० किं पज्जत्ता०, अपज्जत्ता० ?

गोयमा ! पज्जत्त०, अपज्जत्त०।

[४२ प्र.] भगवन् ! यदि वह (सं. पं. तिर्यञ्च) संख्यात-वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४१

से आकर उत्पन्न होता है, तो क्या वह पर्याप्तक संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है या अपर्याप्तक संज्ञी मनुष्यों से ?

[४२ उ.] गौतम ! वह पर्याप्तक और अपर्याप्तक दोनों प्रकार के संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है।

४३. संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्ख० उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उवव० ।

[४३ प्र.] भगवन् ! संख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ?

[४३ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है।

४४. ते णं भंते ! ० ?

लद्धी से जहा एयस्सेव सन्निमणुस्सस्स पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स पढमगमए जाव भवादेसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं० । [पढमो गमओ] ।

[४४ प्र.] भगवन् ! वे जीव (संज्ञी मनुष्य) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?; इत्यादि प्रश्न।

[४४ उ.] (गौतम !) पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले इसी संज्ञी मनुष्य की प्रथम गमक में कही हुई वक्तव्यता, यावत्—भवादेश तक कहनी चाहिए। कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम, (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।) [प्रथम गमक]

४५. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दो अंतोमुहुत्ता, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ० । [बीओ गमओ] ।

[४५] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) जघन्यकाल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न हो, तो उसके लिए यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु कालादेश से—जघन्य दो अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि वर्ष, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [द्वितीय गमक]

४६. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिओवमट्ठिईएसु, उक्कोसेण वि तिपलिओवमट्ठिईएसु। एसा चेव वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलपुहत्तं, उक्कोसेणं पंच धणुसयाइं। ठिती जहन्नेणं मासपुहत्तं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। एवं अणुबंधो वि। भवादेसेणं दो

भवग्गहणाइं। कालादेसेणं जहन्नेणं तिण्णि पलिओवमाइं मासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं; एवतियं०। [तइओ गमओ]।

[४६] यदि वही (संज्ञी मनुष्य), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो वह जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है। यहाँ भी वही पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि उसकी अवगाहना जघन्य अंगुल-पृथक्त्व और उत्कृष्ट पांच-सौ धनुष की होती है। स्थिति जघन्य मास-पृथक्त्व और उत्कृष्ट पूर्व-कोटि की होती है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी जान लेना। भवादेश से—जघन्य दो भव तथा कालादेश से—जघन्य मासपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम और उत्कृष्ट पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [तृतीय गमक]

४७. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहा सन्निस्स पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स मज्झिमेसु तिसु गमएसु वत्तव्वया भणिया सच्चेव एतस्स वि मज्झिमेसु तिसु गमएसु निरवसेसा भाणियव्वा, नवरं परिमाणं उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। सेसं तं चेव। [४—६ गमगा]।

[४७] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो जिस प्रकार संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक में उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रियतिर्यञ्च की बीच के तीन गमकों (४-५-६) में वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार इसके भी बीच के तीन गमकों की समस्त वक्तव्यता यावत्—भवादेश तक कहनी चाहिए। परन्तु विशेषता परिमाण के विषय में यह है कि वे उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं, शेष पूर्वोक्तवत् कहना चाहिए। (४-५-६ गमक)

४८. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, सच्चेव पढमगमगवत्तव्वया, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं। ठिती अणुबंधो जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तहेव जाव भवाएसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्त-मब्भहिया, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडिपुहत्तमब्भहियाइं; एवतियं०। [सत्तमो गमओ]।

[४८] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो और सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो, तो उसके लिए प्रथम गमक की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष—शरीर की अव-गाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच-सौ धनुष की होती है। स्थिति और अनुबन्ध जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष का है। शेष पूर्ववत् यावत् भवादेश तक। कालादेश से—जघन्य अन्तर्मुहूर्त अधिक पूर्वकोटि वर्ष और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम, (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [सप्तम गमक]

४९. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एसा चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं पुव्वकोडी अंतोमुहुत्तमब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पुव्वकोडीओ चउहिं अंतोमुहुत्तेहिं अब्भहियाओ०। [अट्ठमो गमओ]।

[४९] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) जघन्यकाल की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्च में उत्पन्न हो तो भी यही (पूर्ववत्) वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पूर्वकोटि वर्ष और उत्कृष्ट चार अन्तर्मुहूर्त्त अधिक चार पूर्वकोटि, (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।) [अष्टम गमक]

५०. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिओवमा, उक्कोसेण वि तिपलिओवमा। एस चेव लद्धी जहेव सत्तमगमे। भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं; उक्कोसेणं वि तिण्णि पलिओवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, एवतियं०। [नवमो गमओ]।

[५०] यदि (संज्ञी मनुष्य) उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पन्न हो तो जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले सं. पं. ति. में उत्पन्न होता है। यहाँ पूर्वोक्त सप्तम गमक की वक्तव्यता कहनी चाहिए। भवादेश से—जघन्य दो भव ग्रहण करता है तथा कालादेश से—जघन्य पूर्वकोटि-अधिक तीन पल्योपम और उत्कृष्ट भी पूर्वकोटि अधिक तीन पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [नौवां गमक]

विवेचन—स्पष्टीकरण—(१) असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य देव में ही उत्पन्न होते हैं, तिर्यञ्च आदि में नहीं। (२) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च के तीसरे गमक में अवगाहना और स्थिति के विषय में जो विशेषता बताई गई है, उससे स्पष्ट है कि अंगुलपृथक्त्व (दो अंगुल से नौ अंगुल तक) से कम अवगाहना वाला और मासपृथक्त्व (दो मास से नौ मास तक) से कम स्थिति वाला मनुष्य, उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न नहीं होता। (३) संज्ञी मनुष्य के मध्य के तीन गमक के परिमाण में उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं, क्योंकि संज्ञी मनुष्य संख्यात ही हैं इसलिए वे उत्कृष्ट रूप से भी संख्यात ही उत्पन्न होते हैं।[1]

देवों से पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पत्ति का निरूपण

५१. जदि देवेहिंतो उवव० किं भवणवासिदेवेहिंतो उवव०, वाणमंतर०, जोतिसिय०, वेमाणियदेवेहिंतो० ?

गोयमा ! भवणवासिदेवे० जाव वेमाणियदेवे०।

[५१ प्र.] यदि देवों से आकर वे (सं. पं. तिर्यञ्च) उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, वाणव्यंतर., ज्योतिष्क अथवा वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५१ उ.] गौतम ! वे भवनवासी देवों से, यावत् वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च, भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक, चारों प्रकार के देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३१४०

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न होनेवाले भवनवासी देवों के उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

५२. जदि भवणवासि० किं असुरकुमारभवण० जाव थणियकुमारभवण० ?

गोयमा ! असुरकुमार० जाव थणियकुमारभवण० ।

[५२ प्र.] (भगवन् !) यदि वे (सं. पं. तिर्यञ्च) भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे असुरकुमार अथवा यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५२ उ.] गौतम ! वे असुरकुमार यावत् स्तनितकुमार भवनवासी देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं ।

५३. असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उवव० । असुरकुमाराणं लद्धी नवसु वि गमएसु जहा पुढविकाइएसु उववज्जमाणस्स एवं जाव ईसाणदेवस्स तहेव लद्धी । भवाएसेणं सव्वत्थ अट्ठ भवग्गहणाइं उक्कोसेणं, जहन्नेणं दोन्नि भव० । ठितिं संवेहं च सव्वत्थ जाणेज्जा ।

[५३ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार, जो पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ?

[५३ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है । उसके नौ ही गमकों में जो वक्तव्यता पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले असुरकुमारों की कही है, वैसी ही वक्तव्यता यहाँ कहनी चाहिए । इसी प्रकार यावत् ईशान देवलोक पर्यन्त वक्तव्यता कहनी चाहिए । भवादेश से—सर्वत्र उत्कृष्टत: आठ भव और जघन्यत: दो भव ग्रहण करता है । सर्वत्र स्थिति और संवेध भिन्न भिन्न समझना चाहिए ।

५४. नागकुमारे णं भंते ! जे भविए० ? एस चेव वत्तव्वया, नवरं ठितिं संवेधं च जाणेज्जा ।

[५४ प्र.] भगवन् ! नागकुमार, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले (सं. पं. तिर्यञ्चों) में उत्पन्न होता है ?

[५४ उ.] गौतम ! यहाँ भी पूर्वोक्त समस्त वक्तव्यता कहनी चाहिए । परन्तु विशेष यह है कि स्थिति और संवेध भिन्न जानना ।

५५. एवं जाव थणियकुमारे ।

[५५] इसी प्रकार (सुपर्णकुमार से ले कर) यावत् स्तनितकुमार तक जानना चाहिए ।

विवेचन—स्पष्टीकरण—पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में उत्पन्न होने वाले असुरकुमारादि देवों के लिए वक्तव्यता में पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होने वाले देव यावत् ईशान देवलोक तक के देवों का अतिदेश

किया गया है, इसका कारण यह है कि ईशान देवलोक तक के देव ही पृथ्वीकायिकादि में उत्पन्न होते हैं।[1]

पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उत्पन्न होनेवाले वाणव्यन्तर देवों के उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

५६. जदि वाणमंतरे० किं पिसाय० ?

तहेव जाव—

[५६ प्र.] भगवन् ! यदि वे (सं. पं. तिर्यञ्च), वाणव्यन्तर देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे पिशाच वाणव्यन्तर देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[५६ उ.] पूर्ववत् समझना चाहिए, यावत्—

५७. वाणमंतरे णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्ख० ?

एवं चेव, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

[५७ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देव, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ?

[५७ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना। स्थिति और संवेध उससे भिन्न जानना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में सभी प्रकार के वाणव्यन्तर जाति के देव आकर उत्पन्न होते हैं तथा वे जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होते हैं।

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होनेवाले ज्योतिष्क देवों में उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

५८. जदि जोतिसिय० ?

उववातो तहेव जाव—

[५८ प्र.] यदि वह (सं. पं. तिर्यञ्च) ज्योतिष्क देवों से आकर उत्पन्न होता है, तो ? इत्यादि प्रश्न।

[५८ उ.] उसका उपपात पूर्वोक्त कथनानुसार (पृथ्वीकायिक में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के उपपात के समान) कहना चाहिए। यावत्—

५९. जोतिसिए णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्ख० ?

एस चेव वत्तव्वया जहा पुढविकाइयउद्देसए। भवग्गहणाइं नवसु वि गमएसु अट्ठ जाव कालाएसेणं जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं अंतोमुहुत्तमब्भहियं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं चउहि य वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं; एवतियं०।

1. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४२

[५९ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देव, जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५९ उ.] गौतम ! यही पूर्वोक्त वक्तव्यता जो पृथ्वीकायिक-उद्देशक में कही है, तदनुसार कहनी चाहिए। नौ ही गमकों में भवादेश से आठ भव जानना; यावत् कालादेश से जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त अधिक पल्योपम का आठवाँ भाग और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि और चार लाख वर्ष अधिक चार पल्योपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है ।

६०. एवं नवसु वि गमएसु, नवरं ठिंति संवेहं च जाणेज्जा ।

[६०] इसी प्रकार नौ ही गमकों के विषय में जानना चाहिए । किन्तु यहाँ स्थिति और संवेध भिन्न (विशेष) जानना चाहिए । [गमक १ से ९ तक]

वैमानिक देवों की पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पत्तिनिरूपरणा

६१. जदि वेमाणियदेवे० किं कप्पोवग०, कप्पातीतवेमाणिय० ?

गोयमा ! कप्पोवगवेमाणिय०, नो कप्पातीतवेमा० ।

[६१ प्र.] यदि वे (सं. पं. तिर्यञ्च) वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, या कल्पातीत-वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[६१ उ.] गौतम ! वे कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, कल्पातीत वैमानिक देवों से नहीं ।

६२. जदि कप्पोवग० ?

जाव सहस्सारकप्पोवगवेमाणियदेवेहिंतो वि उववज्जंति, नो आणय जाव नो अच्चुयकप्पोवगवेमा० ।

[६२ प्र.] भगवन् ! यदि वे कल्पोपपन्न देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो (कौन-से कल्प से)? इत्यादि प्रश्न ।

[६२ उ.] गौतम ! वे (सौधर्म-क. वै. देव से ले कर) यावत् सहस्रार कल्पोपपन्न-वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु आनत (से लेकर) यावत् अच्युत कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते ।

विवेचन—निष्कर्ष—संज्ञी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च, कल्पोपपन्न वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तथा कल्पोपपन्न में भी सौधर्मकल्प से लेकर सहस्रारकल्प तक के देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, आगे के आनत से लेकर अच्युतकल्प के देवों से नहीं ।[1]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मूलपाठटिप्पणयुक्त), पृ. ९५५

पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में उत्पन्न होनेवाले सौधर्म से सहस्रारदेव पर्यन्त के उत्पाद-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

६३. सोहम्मदेवे णं भंते ! जे भविए पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्त०, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु। सेसं जहेव पुढविकाइय-उद्देसए नवसु वि गमएसु, नवरं नवसु वि गमएसु जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं अट्ठ भवग्गहणाइं। ठिंति कालादेसं च जाणेज्जा।

[६३ प्र.] भगवन् ! सौधर्म देव जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले (सं. पं. तिर्यञ्चों) में उत्पन्न होता है ?

[६३ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले (सं. पं. तिर्यञ्चों) में उत्पन्न होता है। शेष सब नौ ही गमकों से सम्बन्धित वक्तव्यता पृथ्वीकायिक-उद्देशक में कहे अनुसार जानना। परन्तु विशेष यह है कि नौ ही गमकों में (संवेध)—भवादेश से जघन्य दो भव और उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। स्थिति और कालादेश भी भिन्न-भिन्न समझना चाहिए।

६४. एवं ईसाणदेवे वि।

[६४] इसी प्रकार ईशान देव के विषय में भी जानना चाहिए।

६५. एवं एएणं कमेणं अवसेसा वि जाव सहस्सारदेवेसु उववातेयव्वा, नवरं ओगाहणा जहा ओगाहणसंठाणे। लेस्सा—सणंकुमार-माहिंद-बंभलोएसु एगा पम्हलेस्सा, सेसाणं एगा सुक्कलेस्सा। वेदे—नो इत्थिवेदगा, पुरिसवेदगा, नो नपुंसगवेदगा। आउ-अणुबंधा जहा ठितिपदे। सेसं जहेव ईसाणगाणं। कायसंवेहं च जाणेज्जा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सए : वीसतिमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-२० ॥

[६५] इसी क्रम से शेष सब देवों का—सहस्रारकल्प पर्यन्त के देवों का—उपपात कहना चाहिए। परन्तु अवगाहना, (प्रज्ञापनासूत्र के इक्कीसवें) अवगाहना-संस्थान-पद के अनुसार जानना। लेश्या (इस प्रकार है)—सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में एक पद्मलेश्या तथा लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार में एक शुक्ललेश्या होती है। वेद—ये स्त्रीवेद और नपुंसकवेदी नहीं होते, केवल पुरुषवेदी होते हैं। (प्रज्ञापनासूत्र के चतुर्थ) स्थितिपद के अनुसार आयु (स्थिति) और अनुबन्ध जानना चाहिए। शेष सब ईशानदेव के समान कहना चाहिए। कायसंवेध भिन्न-भिन्न जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरने लगे।

विवेचन—स्पष्टीकरण—(१) पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में आठवें देवलोक से आकर उत्पन्न होते हैं। इनके परिणाम, संहनन आदि की वक्तव्यता पूर्ववत् समझना चाहिए। भवादेश आदि के लिए भी पूर्ववत् अतिदेश किया गया है।[1]

(२) **अवगाहना**—प्रज्ञापनासूत्र के २१ वें पद के अनुसार इस प्रकार है—

'भवण-वण-जोइ-सोहम्मीसाणे सत्त हुंति रयणीओ।
एक्केक्क-हाणि सेसे दुदुगे य दुगे चउक्के य ॥'

अर्थात्—भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म और ईशान देवलोक में भवधारणीय अवगाहना जघन्य अंगुल का असंख्यातवां भाग, उत्कृष्ट सात रत्नि (हाथ) है। सनत्कुमार और माहेन्द्र में ६ रत्नि है। ब्रह्मलोक और लान्तक में ५ रत्नि, महाशुक्र और सहस्रार में ४ रत्नि तथा आनत, प्राणत, आरण और अच्युत में तीन रत्नि की अवगाहना होती है। उत्तरवैक्रिय अवगाहना सभी देवलोकों में जघन्य अंगुल का संख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट एक लाख योजन की होती है। (३) स्थिति सभी की भिन्न-भिन्न है, जिसका निर्देश अन्यत्र किया जा चुका है। स्थिति के अनुसार उपयोग पूर्वक संवेध जान लेना चाहिए।[2]

॥ चौवीसवाँ शतक : वीसवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

□□

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४२

२. (क) वही, पत्र ८४२

(ख) पण्णवणासुत्तं, भा. १ सू. १५३२/५, पृ. ३४१ (महावीरविद्यालय प्रकाशन)

एक्कवीसइमो : मणुस्स-उद्देसओ

इक्कीसवाँ उद्देशक : मनुष्य (की उत्पादादिप्ररूपणा)

गति की अपेक्षा मनुष्यों के उपपात का निरूपण

१. मणुस्सा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति जाव देवेहिंतो उवव० ?

गोयमा ! नेरइएहिंतो वि उववज्जंति, एवं उववाओ जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणियउद्देसए (उ० २० सु० १—२) जाव तमापुढविनेरइएहिंतो वि उववज्जंति, नो अहेसत्तमपुढविनेरइएहिंतो उवव० ।

[१ प्र.] भगवन् ! मनुष्य कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं। क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? या मनुष्यों, तिर्यञ्चों अथवा देवों से आकर होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! नैरयिकों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, यावत् देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार यहाँ 'पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक-उद्देशक' (उ. २०, सू. १-२) में कहे अनुसार, यावत्—तमःप्रभापृथ्वी के नैरयिकों से भी आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु अधःसप्तम-पृथ्वी के नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, यहाँ तक उपपात का कथन करना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—मनुष्य, चारों गतियों से आकर उत्पन्न होते हैं। यदि वे नरकगति से उत्पन्न होते हैं तो छठे नरक तक से आकर होते हैं, सप्तम नरक से आकर उत्पन्न नहीं होते।[1]

मनुष्यों में उत्पन्न होनेवाले रत्नप्रभा से तमःप्रभा तक के नैरयिकों में उत्पाद-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२. रयणप्पभपुढविनेरइए णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवतिकाल० ?

गोयमा ! जहन्नेणं मासपुहत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु ।

[२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी का नैरयिक जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है।

[२ उ.] गौतम ! वह जघन्य मासपृथक्त्व और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले (मनुष्यों में उत्पन्न होता है।)

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठटिप्पणयुक्त), पृ. ९५६

३. अवसेसा वत्तव्वया जहा पंचिंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जंतस्स तहेव, नवरं परिमाणे जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति, जहा तहिं अंतोमुहुत्तेहिं तहा इहं मासपुहत्तेहिं संवेहं करेज्जा। सेसं तं चेव।

[३] शेष वक्तव्यता पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक में उत्पन्न होने वाले रत्नप्रभा के नैरयिक के समान जानना चाहिए। परिमाण में विशेष यह है कि वे जघन्य एक, दो या तीन, अथवा उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। वहाँ तो अन्तर्मुहूर्त्त के साथ संवेध किया था, किन्तु यहाँ मासपृथक्त्व के साथ संवेध करना चाहिए। शेष पूर्व-कथित-अनुसार जानना चाहिए।

४. जहा रयणप्पभाए तहा सक्करप्पभाए वि वत्तव्वया, नवरं जहन्नेणं वासपुहत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडि०। ओगाहणा-लेस्सा-नाण-ट्ठिति-अणुबंध-संवेहनाणत्तं च जाणेज्जा जहेव तिरिक्खजोणियउद्देसए (उ० २० सु० ८-९) एवं जाव तमापुढविनेरइए।

[४] रत्नप्रभा की वक्तव्यता के समान शर्कराप्रभा की भी वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यह जघन्य वर्षपृथक्त्व की तथा उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है। अवगाहना, लेश्या, ज्ञान, स्थिति, अनुबन्ध और संवेध का नानात्व (विशेषता) तिर्यंच-योनिक-उद्देशक (उ. २०, सू. ८-९) में कहे अनुसार जानना। इस प्रकार यावत् तमःप्रभापृथ्वी के नैरयिक तक जानना चाहिए।

विवेचन—मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले नारकों के सम्बन्ध में—(१) रत्नप्रभापृथ्वी के नारक यदि मनुष्यायु का बन्ध करते हैं, तो वे मासपृथक्त्व (दो महीने से नौ महीने तक) से कम आयु का बन्ध नहीं करते, क्योंकि उनमें तथाविध परिणाम का अभाव होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी (आगे की नरक पृथ्वियों में भी) यही कारण समझना चाहिए। (२) **परिमाणद्वार में विशेष**—नारक, सम्मूर्च्छिम मनुष्यों में नहीं उत्पन्न होते हैं। गर्भज संख्यात हैं, इसलिए वे (नारक) संख्यात ही उत्पन्न होते हैं। (३) रत्नप्रभापृथ्वी से आकर पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में उत्पन्न होने वालों की जघन्य स्थिति पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-उद्देशक (२० वें उद्देशक) में अन्तर्मुहूर्त्त बताई है, अतः अन्तर्मुहूर्त्त के साथ संवेध किया है, किन्तु यहाँ मनुष्य-उद्देशक (उ. २१) में मनुष्यों की जघन्य स्थिति को लेकर मासपृथक्त्व के साथ संवेध किया है, क्योंकि काल की अपेक्षा से जघन्य संवेध मासपृथक्त्व अधिक दस हजार वर्ष है।

(४) शर्कराप्रभा आदि की समग्र वक्तव्यता पंचेन्द्रियतिर्यञ्च-उद्देशक के अनुसार जाननी चाहिए।[1]

मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले अग्नि-वायुकाय के सिवाय एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय-पंचेन्द्रिय-तिर्यंच-मनुष्यों के उत्पाद-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

५. जति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति किं एगिंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उवव० ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४५

गोयमा ! एगिंदियतिरिक्ख० भेदो जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणिउद्देसए (उ० २० सु० ११) नवरं तेउ-वाऊ पडिसेहेयव्वा । सेसं तं चेव जाव—

[५ प्र.] भगवन् ! यदि वे (मनुष्य), तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या वे एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, या यावत् पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! वे एकेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, इत्यादि वक्तव्यता पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-उद्देशक (उ. २०, सू. ११) में कहे अनुसार जाननी चाहिए। किन्तु विशेष यह है कि इस विषय में तेजस्काय और वायुकाय का निषेध करना चाहिए (क्योंकि इन दोनों से आकर मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता)। शेष समग्र कथन पूर्ववत् समझना चाहिए। यावत्—

६. पुढविकाइए णं भंते जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उवव० ।

[६ प्र.] भगवन् ! जो पृथ्वीकायिक, मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ?

[६ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है।

७. ते णं भंते ! जीवा० ?

एवं जा चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणिएसु उववज्जमाणस्स पुढविकाइयस्स वत्तव्वया सा चेव इह वि उववज्जमाणस्स भाणियव्वा नवसु वि गमएसु, नवरं ततिय-छट्ठ-णवमेसु गमएसु परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति ।

[७ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] जो पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता है, वही यहाँ मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिक की वक्तव्यता नौ गमकों में कहनी चाहिए। विशेष यह है कि तीसरे, छठे और नौवें गमक में परिमाण जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं, (ऐसा कहना चाहिए)।

८. जाहे अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ भवति ताहे पढमगमए अज्झवसाणा पसत्था वि अप्पसत्था वि, बितियगमए अप्पसत्था, ततिए गमए पसत्था भवंति । सेसं तं चेव निरवसेसं ।

[८] जब स्वयं (पृथ्वीकायिक) जघन्यकाल की स्थिति वाला होता है, तब मध्य के तीन गमकों में से प्रथम (चौथे) गमक में अध्यवसाय प्रशस्त भी होते हैं और अप्रशस्त भी। द्वितीय (पाँचवें) गमक में अप्रशस्त और तृतीय (छठे) गमक में प्रशस्त अध्यवसाय होते हैं। शेष सब पूर्ववत् जानना।

९. जति आउकाइए० एवं आउकाइयाण वि ।

[९ प्र.] यदि वे अप्कायिकों से आकर उत्पन्न हो तो।

[९ उ.] अप्कायिकों के लिए भी (पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए।)

१०. एवं वणस्सतिकाइयाण वि।

[१०] इसी प्रकार वनस्पतिकायिकों के लिए भी (पूर्वोक्त वक्तव्यता जाननी चाहिए।)

११. एवं जाव चउरिंदियाणं।

[११] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय-पर्यन्त जानना।

१२. असन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिया सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिया असन्निमणुस्सा सन्निमणुस्सा य, एए सव्वे वि जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणिउद्देसए तहेव भाणितव्वा, नवरं एताणि चेव परिमाण-अज्झवसाणणाणत्ताणि जाणिज्जा पुढविकाइयस्स एत्थ चेव उद्देसए भणियाणि। सेसं तहेव निरवसेसं।

[१२] असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, असंज्ञी मनुष्य और संज्ञी मनुष्य, इन सभी के विषय में पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक उद्देशक में कहे अनुसार कहना चाहिए। परन्तु विशेषता यह है कि इन सबके परिणाम और अध्यवसायों की भिन्नता पृथ्वीकायिक के इसी उद्देशक में कहे अनुसार समझनी चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना।

विवेचन—स्पष्टीकरण—(१) यहाँ पृथ्वीकाय से उत्पन्न होने वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च की जो वक्तव्यता कही है, वही पृथ्वीकाय से उत्पन्न होने वाले मनुष्य के लिए भी जाननी चाहिए।

(२) तृतीय गमक में पृथ्वीकायिक से निकल कर उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य में जो उत्पन्न होते हैं, वे उत्कृष्ट संख्यात होते हैं। यद्यपि यहाँ सामान्य रूप (औघिकरूप) से मनुष्य का ग्रहण होने से सम्मूच्छिम मनुष्यों का भी ग्रहण हो जाता है और वे असंख्यात हैं, तथापि उत्कृष्ट स्थिति में पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले मनुष्य संख्यात ही होते हैं, जबकि पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च असंख्यात हो जाते हैं। छठे और नौवें गमक में भी यही कथन समझना चाहिए।

(३) मध्यत्रिक के प्रथम (अर्थात् चौथे) गमक में जघन्य स्थिति वाले पृथ्वीकायिक का मनुष्य में अधिक उत्पाद होता है। उस समय पृथ्वीकायिक की उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य में उत्पत्ति होती है, तब उसके अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं और जब उसी गमक में जघन्य स्थिति वाले मनुष्य में उत्पत्ति होती है तब अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं। इसलिए चौथे गमक में दोनों प्रकार के अध्यवसाय बताए हैं। मध्यत्रिक में दूसरे (अर्थात् पाँचवें) गमक में जघन्य स्थिति वाला पृथ्वीकायिक जब जघन्य स्थिति वाले मनुष्य में उत्पन्न होता है, तब उसके अध्यवसाय अप्रशस्त होते हैं। क्योंकि जघन्य स्थिति में प्रशस्त अध्यवसायों से उत्पत्ति नहीं होती। मध्यत्रिक के तीसरे (यानी छठे) गमक में जब जघन्य स्थिति वाला पृथ्वीकायिक, उत्कृष्ट स्थिति वाले मनुष्य में उत्पन्न होता है, तब उसके अध्यवसाय प्रशस्त होते हैं।[१]

देवों की अपेक्षा मनुष्यों में उत्पत्ति-प्ररूपणा

१३. जदि देवेहिंतो उवव० किं भवणवासिदेवेहिंतो उवव०, वाणमंतरजोतिसिय वेमाणियदेवेहिंतो उवव० ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४५

(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ६, पृ. ३१५१-५२

गोयमा ! भवणवासि० जाव वेमाणिय० ।

[१३ प्र.] भगवन् ! यदि वे (मनुष्य) देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, या वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क अथवा वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! वे (मनुष्य) भवनवासी यावत् वैमानिक देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—मनुष्य भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क एवं वैमानिक, इन चारों प्रकार के देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले भवनवासी आदि चारों प्रकार के देवों के उत्पाद-परिमाणादि वीस द्वारों की प्ररूपणा

१४. जदि भवण० किं असुर० जाव थणिय० ?

गोयमा ! असुर० जाव थणिय० ।

[१४ प्र.] भगवन् ! यदि वे (मनुष्य), भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे असुरकुमार-भवनवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् स्तनितकुमार भ० देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! वे असुरकुमार. यावत् स्तनितकुमार भ. देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

१५. असुरकुमारे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं मासपुहत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु, उववज्जेज्जा। एवं जच्चेव पंचेंदियतिरिक्खजोणिउद्देसयवत्तव्वया सा चेव एत्थ वि भाणियव्वा, नवरं जहा तहिं जहन्नगं अंतोमुहुत्तट्ठितीएसु तहा इहं मासपुहत्तट्ठिईएसु, परिमाणं जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। सेसं तं चेव जाव ईसाणदेवो त्ति। एयाणि चेव णाणत्ताणि। सणंकुमारादीया जाव सहस्सारो त्ति, जहेव पंचेंदियतिरिक्खजोणिउद्देसए नवरं परिमाणे जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं संखेज्जा उववज्जंति। उववाओ जहन्नेणं वासपुहत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडिआउएसु उवव०। सेसं तं चेव। संवेहं वासपुहत्तपुव्वकोडीसु करेज्जा।

[१५ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार भ० देव, जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ?

[१५ उ.] गौतम ! वह (असुर०) जघन्य मासपृथक्त्व वौर उत्कृष्ट पूर्वकोटि की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है। इसी प्रकार पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक उद्देशक में जो वक्तव्यता कही है, वही वक्तव्यता यहाँ भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि जिस प्रकार वहाँ जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त की स्थिति वाले तिर्यंच में उत्पन्न होने का कहा है, उसी प्रकार यहाँ मासपृथक्त्व की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होने का कथन करना चाहिए। इसके परिमाण में विशेष-जघन्य एक, दो, तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं, शेष सब पूर्वकथितानुसार जानना चाहिए। इस प्रकार यावत् ईशान देव तक वक्तव्यता कहनी चाहिए तथा ये (उपर्युक्त) विशेषताएँ भी जाननी चाहिए। जैसे पंचेन्द्रिय-

तिर्यञ्चयोनिक उद्देशक में कहा है, उसी प्रकार सनत्कुमार से लेकर यावत् सहस्रार तक के देव के सम्बन्ध में कहना चाहिए। परन्तु विशेष यह है कि उनका परिमाण—जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट संख्यात उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति जघन्य वर्षपृथक्त्व और उत्कृष्ट पूर्वकोटि वर्ष की स्थिति वाले मनुष्यों में होती है। शेष सब पूर्व-कथनानुसार जानना चाहिए। संवेध—(जघन्य) वर्ष-पृथक्त्व (और उत्कृष्ट) पूर्वकोटि वर्ष से करना चाहिए।

१६. सणंकुमारे ठिती चउग्गुणिया अट्ठावीसं सागरोवमा भवंति। माहिंदे ताणि चेव सातिरेगाणि। बंभलोए चत्तालीसं। लंतए छप्पण्णं। महासुक्के अट्ठसट्ठिं। सहस्सारे बावत्तरिं सागरोवमाइं। एसा उक्कोसा ठिती भणिया, जहन्नट्ठिंति पि चउगुणेज्जा।

[१६] सनत्कुमार में (संवेध) स्वयं की उत्कृष्ट स्थिति को चार गुणा करने पर अट्ठाईस सागरोपम होता है। माहेन्द्र में (संवेध) कुछ अधिक अट्ठाईस सागरोपम होता है। (इसी प्रकार स्वयं की उत्कृष्ट स्थिति को चार गुणा करने पर) ब्रह्मलोक में ४० सागरोपम, लान्तक में छप्पन सागरोपम, महाशुक्र में अड़सठ सागरोपम तथा सहस्रार में बहत्तर सागरोपम होता है। यह उत्कृष्ट स्थिति कही गई है। जघन्य स्थिति को भी चार गुणी करनी चाहिए। (यों कायसंवेध कहना चाहिए।) [गमक १ से ९ तक]

१७. आणयदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं वासपुहत्तट्ठितीएसु उवव०, उक्कोसेणं पुव्वकोडिट्ठितीएसु।

[१७ प्र.] भगवन् ! आनतदेव, जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ?

[१७ उ.] गौतम ! वह (आनतदेव), जघन्य वर्षपृथक्त्व की और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है।

१८. ते णं भंते ! ०?

एवं जहेव सहस्सारदेवाणं वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा-ठिति-अणुबंधे य जाणेज्जा। सेसं तं चेव। भवाएसेणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं छ भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं०। एवं नव वि गमा, नवरं ठितिं अणुबंधं संवेहं च जाणेज्जा।

[१८ प्र.] भगवन् ! वे (मनुष्य) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१८ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार सहस्रारदेवों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए। परन्तु इनकी अवगाहना, स्थिति और अनुबन्ध के विषय में भिन्नता जाननी चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना। भव की अपेक्षा से—जघन्य दो भव और उत्कृष्ट छह भव ग्रहण करते हैं तथा काल की अपेक्षा से—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक अठारह सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक सत्तावन सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। इसी प्रकार नौ ही गमकों में जानना चाहिए। विशेष यह है कि इनकी स्थिति, अनुबन्ध और संवेध भिन्न-भिन्न जानना चाहिए।

१९. एवं जाव अच्चुयदेवो, नवरं ठिंति अणुबंधं संवेहं च जाणेज्जा। पाणयदेवस्स ठिती तिउणा—सट्ठि सागरोवमाइं, आरणगस्स तेवट्ठि सागरोवमाइं, अच्चुयदेवस्स छावट्ठि सागरोवमाइं।

[१९] इसी प्रकार यावत् अच्युतदेव तक जानना चाहिए। विशेष यह है कि इनकी स्थिति, अनुबन्ध और संवेध, भिन्न-भिन्न जानने चाहिए। प्राणतदेव की स्थिति को तीन गुणी करने पर साठ सागरोपम, आरणदेव की स्थिति को तीन गुणी करने पर तिरेसठ (६३) सागरोपम और अच्युतदेव की स्थिति को तीन गुणी करने पर छासठ (६६) सागरोपम की हो जाती है।

२०. जदि कप्पातीतवेमाणियदेवेहिंतो उवव० किं गेवेज्जकप्पातीत०, अणुत्तरोववातिय-कप्पातीत० ?

गोयमा ! गेवेज्ज० अणुत्तरोववा०।

[२० प्र.] भगवन् ! यदि वे मनुष्य कल्पातीत वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं तो क्या ग्रैवेयक-कल्पातीत देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा अनुत्तरौपपातिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२० उ.] गौतम ! वे (मनुष्य) ग्रैवेयक और अनुत्तरौपपातिक दोनों प्रकार के कल्पातीत देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

२१. जइ गेवेज्ज० किं हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्जकप्पातीत० जाव उवरिमउवरिमगेवेज्ज० ?

गोयमा ! हेट्ठिमहेट्ठिमगेवेज्ज० जाव उवरिमउवरिम०।

[२१ प्र.] यदि वे (मनुष्य), ग्रैवेयक-कल्पातीत देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे अधस्तन-अधस्तन (सबसे नीचे के) ग्रैवेयक-कल्पा० देवों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा यावत् उपरितन-उपरितन (सबसे ऊपर के) ग्रै० कल्पातीत देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२१ उ.] गौतम ! वे (मनुष्य), अधस्तन-अधस्तन यावत् उपरितन-उपरितन ग्रै० कल्पा० देवों से भी आकर उत्पन्न होते हैं।

२२. गेवेज्जगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिका० ?

गोयमा ! जहन्नेणं वासपुहत्तट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पुव्वकोडि०। अवसेसं जहा आणयदेवस्स वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा, गोयमा ! एगे भवधारणिज्जे सरीरए से जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं दो रयणीओ। संठाणं गोयमा ! एगे भवधारणिज्जे सरीरए से समचउरंससंठिते पन्नत्ते। पंच समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा – वेयणासमुग्घाए जाव तेयगसमु०, नो चेव णं वेउव्विय-तेयगसमुग्घाएहिं समोहन्निसु वा, समोहन्नंति वा, समोहण्णिस्संति वा, ठिति-अणुबंधा जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं एक्कतीसं सागरोवमाइं। सेसं तं चेव। कालाएसेणं जहन्नेणं बावीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तेणउतिं सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं०। एवं सेसेसु वि अट्ठगमएसु, नवरं ठिंति संवेहं च जाणेज्जा।

[२२ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयक देव, जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है ?

[२२ उ.] गौतम ! वह जघन्य वर्षपृथक्त्व की और उत्कृष्ट पूर्वकोटिवर्ष की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होता है। शेष वक्तव्यता आनतदेव की वक्तव्यता के समान जाननी चाहिए। विशेष यह है कि हे गौतम ! उसके एकमात्र भवधारणीय शरीर होता है। उसकी अवगाहना—जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट दो रत्नि (हाथ) की होती है। उसका केवल भवधारणीय शरीर समचतुरस्रसंस्थान से युक्त कहा गया है। उसमें पाँच समुद्घात पाये जाते हैं। यथा—वेदना-समुद्घात यावत् तैजस-समुद्घात। किन्तु उन्होंने वैक्रिय-समुद्घात और तैजस-समुद्घात कभी किये नहीं, करते भी नहीं, और करेंगे भी नहीं। उनकी स्थिति और अनुबन्ध जघन्य बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट इकतीस सागरोपम होता है। शेष पूर्ववत् जानना। कालादेश से—जघन्य वर्षपृथकत्व-अधिक बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि-अधिक तिरानवै (९३) सागरोपम, इतने काल तक यावत् गति-आगति करता है। (यह प्रथम गमक हुआ), शेष आठों ही गमकों में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। परन्तु स्थिति और संवेध भिन्न समझना चाहिए।

२३. जदि अणुत्तरोववातियकप्पातीतवेमाणि० किं विजयअणुत्तरोववातिय० वेजयंतअणुत्तरोववातिय० जाव सवट्ठसिद्ध० ?

गोयमा ! विजयअणुत्तरोववातिय० जाव सव्वट्ठसिद्धअणुत्तरोववातिय०।

[२३ प्र.] भगवन् ! यदि वे (मनुष्य), अनुत्तरौपपातिक कल्पातीत वैमानिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे विजय, वैजयन्त, जयन्त, अथवा यावत् सर्वार्थसिद्ध वैमानिक देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! वे (मनुष्य), विजय, वैजयन्त, जयंत, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध अनुत्तर विमानवासी देवों से आकर उत्पन्न होते हैं।

२४. विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजितदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उवव० से णं भंते ! केवति० ?

एवं जहेव गेवेज्जगदेवाणं, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जतिभागं, उक्कोसणं एगा रयणी। सम्मद्दिट्ठी, नो मिच्छादिट्ठी, नो सम्मामिच्छादिट्ठी, णाणी, णो अण्णाणी, नियमं तिनाणी, तं जहा—आभिणिबोहिय० सुय० ओहिणाणी। ठिती जहन्नेणं एक्कत्तीसं सागरोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। सेसं तं चेव। भवाएसणं जहन्नेणं दो भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं चत्तारि भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं एक्कत्तीस सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडिहिं अब्भहियाइं; एवतियं०। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, नवरं ठितिं अणुबंधं च जाणेज्जा। सेसं एवं चेव।

[२४ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देव, जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य हैं, वे कितने काल की स्थितिवाले मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं।

[२४ उ.] गौतम ! ग्रैवेयक देवों के अनुसार वक्तव्यता कहनी चाहिए। उनकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग और उत्कृष्ट एक रत्नि (हाथ) की होती है। वे सम्यग्दृष्टि होते हैं,

किन्तु मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृटि नहीं होते। वे ज्ञानी होते है, अज्ञानी नहीं। उनके नियम से तीन ज्ञान होते हैं। यथा—आभिनिबोधिक, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। उनकी स्थिति जघन्य इकतीस सागरोपम की और उत्कृष्ट ३३ सागरोपम की होती है। शेष पूर्ववत् जानना। भवादेश से—वे जघन्य दो भव और उत्कृष्ट चार भव ग्रहण करते हैं। कालादेश से—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक इकतीस सागरोपम और उत्कृष्ट दो पूर्वकोटि अधिक छयासठ सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करते हैं। (यह प्रथम गमक हुआ।) इसी प्रकार शेष आठ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इनके स्थिति, अनुबन्ध और संवेध भिन्न-भिन्न जानने चाहिए। शेष सब इसी प्रकार है। [गमक १ से ९ तक]

२५. सव्वट्ठसिद्धगदेवे णं भंते ! जे भविए मणुस्सेसु उववज्जित्तए० ?

सा चेव विजयादिदेववत्तव्वया भाणियव्वा, णवरं ठिती अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। एवं अणुबंधो वि। सेसं तं चेव। भवाएसेणं दो भवग्गहणाइं, कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[२५ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध देव, जो मनुष्यों में उत्पन्न होने योग्य हैं, कितने काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न होते हैं ?

[२५ उ.] (गौतम !) वही विजयादि-देव-सम्बन्धी वक्तव्यता इनके विषय में कहनी चाहिए। इनकी स्थिति अजघन्य-अनुत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्। भवादेश से—दो भव तथा कालादेश से—जघन्य वर्षपृथक्त्व अधिक तेतीस सागरोपम और उत्कृष्ट भी इतने ही काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

२६. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं, उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं वासपुहत्तमब्भहियाइं; एवतियं०। [बीओ गमओ]।

[२६] यदि वह सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक देव, जघन्य काल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न हो तो उसके विषय में यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। कालादेश के सम्बन्ध में विशेष यह है कि जघन्य और उत्कृष्ट वर्षपृथक्त्व-अधिक तेतीस सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [द्वितीय गमक]

२७. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं, उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं पुव्वकोडीए अब्भहियाइं; एवतियं०। [तइओ गमओ]। एए चेव तिण्णि गमगा, सेसा न भण्णंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सए : इक्कवीसइमो उद्देसो समत्तो ॥ २४-२१ ॥

[२७] यदि वह (सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक देव) उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले मनुष्यों में उत्पन्न हो तो, उसके सम्बन्ध में यही वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि कालादेश से—जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-अधिक तेतीस सागरोपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [तृतीय गमक]। यहाँ ये तीन ही गमक कहने चाहिए। शेष छह गमक नहीं कहे जाते, (क्योंकि ये बनते नहीं)।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—विशिष्ट तथ्यों का स्पष्टीकरण—(१) मनुष्यों में उत्पन्न होने वाले असुरकुमार देव से लेकर ईशानदेव तक की वक्तव्यता के लिए यहाँ पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च-उद्देशक का अतिदेश किया गया है, क्योंकि दोनों की वक्तव्यता समान है। (२) सनत्कुमार आदि की वक्तव्यता में भिन्नता है, अतः उनका कथन पृथक् किया गया है। (३) **संवेध का मापदण्ड**—जब औघिक या उत्कृष्ट स्थिति के देव, औघिक आदि मनुष्य में उत्पन्न होते हैं, तब उत्कृष्ट स्थिति और संवेध का कथन करने के लिए चार मनुष्यभव की तथा चार देवभव की स्थिति को जोड़ना चाहिए। आनत आदि देवों में उत्कृष्ट ६ भव होते हैं। इसलिए तीन मनुष्य के भवों और तीन देव के भवों की स्थिति को जोड़ कर संवेध करना चाहिए। (४) **कल्पातीत देवों में अक्रिय समुद्घात**—कल्पातीत देवों में लब्धि की अपेक्षा ५ समुद्घात पाये जाते हैं, किन्तु उनमें दो समुद्घात—वैक्रिय और तैजस—अक्रिय रहते हैं। ये दोनों समुद्घात वे कभी करते नहीं, करेंगे भी नहीं और किये भी नहीं। क्योंकि उनको इनसे कोई मतलब नहीं है। (५) प्रथम ग्रैवेयक में जघन्य स्थिति बाईस और उत्कृष्ट तेईस सागरोपम की है। आगे क्रमशः प्रत्येक ग्रैवेयक में क्रमशः एक-एक सागरोपम की वृद्धि होती है। नौवें ग्रैवेयक में उत्कृष्ट स्थिति ३१ सागरोपम की है। वहाँ भवादेश से उत्कृष्ट छह भव होते हैं। इसलिए तीन मनुष्यभव की उत्कृष्ट स्थिति तीन पूर्वकोटि और तीन ग्रैवेयकभव की उत्कृष्ट स्थिति ९३ सागरोपम की होती है। यह कालादेश से उत्कृष्ट संवेध है। (६) गमक—सर्वार्थसिद्ध अनुत्तरौपपातिक देवों में प्रथम के तीन गमक ही सम्भव होते हैं, क्योंकि उनकी अजघन्य—अनुत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की होती है। जघन्य स्थिति न होने से चतुर्थ, पंचम और षष्ठ (छठा), ये तीन गमक नहीं बनते तथा उत्कृष्ट स्थिति न होने से सप्तम, अष्टम और नवम, ये तीन गमक भी नहीं बनते।

(७) दृष्टि—अनुत्तरौपपातिक देव मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, सम्यग्दृष्टि ही होते हैं, जबकि नौ ग्रैवेयक देवों में तीनों दृष्टियाँ पाई जाती हैं।

॥ चौवीसवाँ शतक : इक्कीसवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

१. भगवतीसूत्र अ. वृत्ति, पत्रांक ८४५-८४६

बावीसइमो : वाणमंतरुद्देसओ

बाईसवाँ : वाणव्यन्तर-उद्देशक

वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होनेवाले असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उपपात-परिमाणादि का नागकुमार-उद्देशक के अतिदेशपूर्वक निर्देश

१. वाणमंतरा णं भंते कओहिंतो उववज्जंति, किं नेरइएहिंतो उववज्जंति तिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति० ? एवं जहेव णागकुमारुद्देसए असण्णी तहेव निरवसेसं।

[१ प्र.] भगवन् ! वाणव्यन्तर देव कहाँ से उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? या तिर्यंचयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार नागकुमार-उद्देशक में कहा है, उसी प्रकार यावत् असंज्ञी तक सारी वक्तव्यता कहनी चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—वाणव्यन्तर देव, मनुष्य और तिर्यञ्च गतियों से आकर उत्पन्न होते हैं, देवों और नारकों से आकर उत्पन्न नहीं होते। शेष परिमाणादि बातों के लिए अतिदेश किया गया है।

वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों के उत्पाद-परिमाण आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२. जदि सन्निपंचेंदिय० जाव असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय० जे भविए वाणमंतर० से णं भंते ! केवति० ?

गोयमा ! जहन्नेणं दसवाससहस्सट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पलिओवमट्ठितीएसु। सेसं तं चेव जहा नागकुमारउद्देसए जाव कालाएसेणं जहन्नेणं सातिरेगा पुव्वकोडी दसहिं वाससहस्सेहिं अब्भहिया, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं; एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[२ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयुष्य वाला यावत् संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक जो वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] गौतम ! वह जघन्य दस हजार वर्ष की स्थिति वाले और उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति वाले वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होता है। शेष सब नागकुमार-उद्देशक में कहा है, उसी के अनुसार जानना। यावत् कालादेश से जघन्य दस हजार वर्ष अधिक सातिरेक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट चार पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

३. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहेव णागकुमाराणं बितियगमे वत्तव्वया। [बीओ गमओ]।

[३] यदि वह जघन्य काल की स्थिति वाले वाणव्यन्तर में उत्पन्न होता है, तो नागकुमार के दूसरे गमक में कही हुई वक्तव्यता जाननी चाहिए। [द्वितीय गमक]

४. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं पलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि पलिओवमट्ठितीएसु। एस चेव वत्तव्वया, नवरं ठिती जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। संवेहो जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं; एवतियं०। [तइओ गमओ]।

[४] यदि वह उत्कृष्टकाल की स्थिति वाले वाणव्यन्तरों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम की स्थिति वाले वाणव्यन्तरों में उत्पन्न होता है, इत्यादि वक्तव्यता पूर्ववत् जानना। स्थिति जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की जाननी चाहिए। संवेध—जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट चार पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [तृतीय गमक]

५. मज्झिमगमगा तिन्नि वि जहेव नागकुमारेसु। [४—६ गमगा]।

[५] मध्य के तीन गमक नागकुमार के तीन मध्य गमकों के समान कहने चाहिए। [४-५-६]

६. पच्छिमेसु तिसु गमएसु तं चेव जहा नागकुमारुद्देसए, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। [७—९ गमगा]।

[६] अन्तिम तीन गमक भी नागकुमार-उद्देशक में कहे अनुसार कहने चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और संवेध भिन्न-भिन्न जानना चाहिए। [गमक ७-८-९]

७. संखेज्जवासाउय० तहेव, नवरं ठिती अणुबंधो, संवेहं च उभओ ठितीए जाणेज्जा। [१—९ गमगा]।

[७] संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों की वक्तव्यता भी उसी प्रकार जाननी चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और अनुबन्ध भिन्न है तथा संवेध, दोनों की स्थिति को मिलाकर कहना चाहिए। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—कुछ स्पष्टीकरण—(१) वाणव्यन्तर देवों के प्रकरण में असंख्येय वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रियों के अधिकार में उत्कृष्ट चार पल्योपम का जो कथन किया गया है, वह संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम और वाणव्यन्तर देव की एक पल्योपम, इस प्रकार दोनों की स्थिति को मिलाकर चार पल्योपम का संवेध जानना चाहिए। (२) नागकुमार के दूसरे गमक की वक्तव्यता प्रथम गमक के समान है। परन्तु यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति दस हजार वर्ष की जाननी चाहिए। (३) संवेध—कालादेश से जघन्य १० हजार वर्ष अधिक सातिरेक पूर्वकोटि और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष अधिक तीन पल्योपम का जानना चाहिए।[1]

---

१ भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४६

वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों के उत्पाद-परिमाण आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा

८. जदि मणुस्से० असंखेज्जवासाउयाणं जहेव नागकुमाराणं उद्देसे तहेव वत्तव्वया, नवरं ततियगमए ठिती जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। ओगाहणा जहन्नेणं गाउयं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। सेसं तहेव। संवेहो से जहा एत्थ चेव उद्देसए असंखेज्जवासाउयसन्निपंचिंदियाणं।

[८] यदि वे (वाणव्यन्तर देव), मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो उनकी वक्तव्यता नागकुमार-उद्देशक में कहे अनुसार असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्यों के समान कहना चाहिए। विशेष यह है कि तीसरे गमक में स्थिति जघन्य एक पल्योपम की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की जाननी चाहिए। अवगाहना जघन्य एक गाऊ की और उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। शेष सब पूर्ववत् जानना। इसका संवेध इसी उद्देशक में जैसे असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च का कहा गया है, वैसे ही कहना चाहिए।

९. संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सा जहेव नागकुमारुद्देसए, नवरं वाणमंतर-ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सए : बावीसइमो उद्देसो समत्तो ॥ २४-२२ ॥

[९] जिस प्रकार नागकुमार उद्देशक में कहा गया है, उसी प्रकार संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों की वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु वाणव्यन्तर देवों की स्थिति और संवेध उससे भिन्न जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—स्थितिसम्बन्धी स्पष्टीकरण—यहाँ तीसरे गमक में जघन्य स्थिति पल्योपम की बताई गई है। यद्यपि असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की जघन्य स्थिति सातिरेक पूर्वकोटि वर्ष की होती है, तथापि यहाँ पल्योपम की बताई गई है, इसका कारण यह है कि वह पल्योपम की आयु वाले वाणव्यन्तर देवों में उत्पन्न होने वाला है और असंख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्च अपनी आयु से अधिक आयु वाले देवों में उत्पन्न नहीं होते, यह बात पहले कही जा चुकी है।

अवगाहना—जिनकी पल्योपमप्रमाण आयु है, उनकी अवगाहना सुषम-दुःषम आरे में एक गाऊ की होती है।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : बाईसवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४६-८४७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३१६६

तेवीसइमो : जोतिसिय-उद्देसओ

तेईसवाँ : ज्योतिष्क-उद्देशक

गति की अपेक्षा ज्योतिष्क देवों के उपपात का निरूपण

१. जोतिसिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरइए० ?

भेदो जाव सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिएहिंतो उववज्जंति, नो असन्निपंचिंदियतिरिक्ख-जोणिएहिंतो उवव० ।

[१ प्र.] भगवन् ! ज्योतिष्क देव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! (वे नारकों और देवों से नहीं, किन्तु तिर्यञ्चों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, अतः तिर्यञ्च के) भेद कहना, यावत्—वे संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं, किन्तु असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते ।

२. जदि सन्नि० किं संखेज्ज०, असंखेज्ज० ?

गोयमा ! संखेज्जवासाउय०, असंखेज्जवासाउय० ।

[२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (ज्योतिष्क देव) संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, तो क्या वे संख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं, अथवा असंख्यात-वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों से ?

[२ उ.] गौतम ! वे संख्यातवर्ष की और असंख्यातवर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।

विवेचन—ज्योतिष्कों की उत्पत्ति का निष्कर्ष—(१) ज्योतिष्क देव कहाँ से आकर ज्योतिष्क-रूप में उत्पन्न होते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार अन्यत्र कहते हैं—वे नारकों और देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु तिर्यञ्चों और मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्चों में भी वे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु संख्यातवर्ष की तथा असंख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।[१]

---

१. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भाग-१५, पृ.४३३-४३४

ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होनेवाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यंचों के उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

३. असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते! जे भविए जोतिसिएसु उववज्जित्तए से णं भंते! केवति० ?

गोयमा! जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं पलिओवमवाससहस्सट्ठितीएसु उवव०। अवसेसं जहा असुरकुमारुद्देसए, नवरं ठिती जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि। सेसं तहेव, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं; एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[३ प्र.] भगवन् असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह जघन्य पल्योपम के आठवें भाग की और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की स्थिति वाले ज्योतिष्कों में उत्पन्न होता है। शेष असुरकुमार उद्देशक के अनुसार जानना। विशेष यह है कि उसकी स्थिति जघन्य पल्योपम के आठवें भाग और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार होता है। शेष पूर्ववत्। विशेष यह है कि काल की अपेक्षा से जघन्य दो आठवें भाग ($\frac{2}{8}$) भाग और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक चार पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

४. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि अट्ठभागपलिओवमट्ठितीएसु। एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसं जाणेज्जा। [बीओ गमओ]।

[४] यदि वह (संज्ञी पं. तिर्यञ्च), जघन्य काल की स्थिति वाले ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृट पल्योपम के आठवें भाग की स्थिति वाले ज्योतिष्कों में उत्पन्न होता है, इत्यादि वही पूर्वोक्त वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ कालादेश (भिन्न) जानना चाहिए। [द्वितीय गमक]

५. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववण्णो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं ठिती जहन्नेणं पलिओवमं वाससयसहस्समब्भहियं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि। कालाएसेणं जहन्नेणं दो पलिओवमाइं दोहिं वाससयसहस्सेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं वाससयसहस्समब्भहियाइं०। [तइओ गमओ]।

[५] यदि वह (सं. पं. तिर्यञ्च), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले ज्योतिष्क देवों उत्पन्न हो, तो यही (पूर्वोक्त वक्तव्यता) कहनी चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति जघन्य एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। इसी प्रकार अनुबन्ध भी समझना, कालादेश से—जघन्य दो लाख वर्ष अधिक दो पल्योपम और उत्कृष्ट एक लाख वर्ष अधिक चार पल्योपम (इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।) [तृतीय गमक]

६. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि अट्ठभागपलिओवमट्ठितीएसु उवव०।

[६] यदि वह (सं. पं. तिर्यञ्च) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न हो, तो जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के आठवें भाग की स्थिति वाले ज्योतिष्कों में उत्पन्न होता है। [चतुर्थ गमक]

७. ते णं भंते ! जीवा एग० ?

एस चेव वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं धणुपुहत्तं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं अट्ठारस धणुसयाइं। ठिती जहन्नेणं अट्ठभागपलिओवमं, उक्कोसेण वि अट्ठभागपलिओवमं। एवं अणुबंधो वि। सेसं तहेव। कालाएसेणं जहन्नेणं दो अट्ठभागपलिओवमाइं, उक्कोसेण वि दो अट्ठभागपलिओवमाइं, एवतियं०। जहन्नकालट्ठितीयस्स एस चेव एक्को गमगो। [चउत्थो गमओ]।

[७ प्र.] भगवन् ! वे जीव (असंख्यात-वर्षायुष्क सं. पं. ति.) एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[७ उ.] गौतम ! इस विषय में पूर्वोक्त वक्तव्यता जानना। विशेष यह है कि उनकी अवगाहना जघन्य धनुषपृथक्त्व और उत्कृष्ट सातिरेक अठारह सौ धनुष की होती है। स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के आठवें भाग की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार समझना। शेष पूर्ववत्। कालादेश से—जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम के दो आठवें ($\frac{2}{8}$) भाग, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। जघन्यकाल की स्थिति वाले के लिए यह एक ही गमक होता है। [चतुर्थ गमक]

८. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, सा चेव ओहिया वत्तव्वया, नवरं ठिती जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि। सेसं तं चेव। एवं पच्छिमा तिण्णि गमगा नेयव्वा, नवरं ठिंति संवेहं च जाणेज्जा। एते सत्त गमगा। [७-८-९ गमगा]।

[८] यदि वह (असंख्यात-वर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्च) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो और ज्योतिष्कों में उत्पन्न हो, तो औघिक (सामान्य) गमक के समान वक्तव्यता जानना। विशेष यह है कि स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार जानना। शेष सब पूर्ववत्। इसी प्रकार अन्तिम तीन गमक [७-८-९] जानने चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और संवेध (भिन्न) समझना चाहिए। ये कुल सात गमक हुए। [गमक ७-८-९]

विवेचन—स्पष्टीकरण—(१) प्रथम गमक में जो पल्योपम का $\frac{2}{8}$ भाग जघन्य कालादेश कहा है, उसमें से एक तो असंख्यातवर्षायुष्क-सम्बन्धी है और दूसरा तारा-ज्योतिष्क-सम्बन्धी है तथा उत्कृष्ट जो एक लाख वर्ष अधिक चार पल्योपम बताए हैं, उनमें से तीन पल्योपम तो असंख्यात-वर्षायुष्क-सम्बन्धी हैं और सातिरेक एक पल्योपम चन्द्र-विमानवासी ज्योतिष्क-सम्बन्धी है।

(२) तीसरे गमक में स्थिति जघन्य एक लाख वर्ष अधिक पल्योपम की कही है, इस विषय में यद्यपि असंख्यात वर्ष की आयु वालों की जघन्य स्थिति सातिरेक पूर्वकोटि होती है, तथापि यहाँ एक

लाख वर्ष अधिक पल्योपम कहा है, इसका कारण यह है कि वहाँ इतनी ही स्थिति वाले ज्योतिष्क देव में उत्पन्न होने वाला है, क्योंकि असंख्यात वर्ष की आयु वाले जीव अपने से अधिक आयुवाले देवों में उत्पन्न नहीं होते। यह पहले भी कहा जा चुका है।

(३) चौथे गमक में जघन्य काल की स्थिति वाले की उत्पत्ति औधिक ज्योतिष्क में बताई है, सो असंख्यात वर्ष की आयु वाला जीव तो पल्योपम के आठवें भाग से कम जघन्य आयु वाला हो सकता है, किन्तु ज्योतिष्कदेवों में इससे कम आयु नहीं है। असंख्येयवर्षायुष्क अपनी आयु के समान उत्कृष्ट देवायुबन्धक होते हैं। इसलिए जघन्य स्थिति वाले वे पल्योपम के आठवें भाग की स्थिति वाले होते हैं। प्रथम कुलकर विमलवाहन के पूर्वकाल में होने वाले हस्ती आदि की यह स्थिति थी। इसी प्रकार औधिक ज्योतिष्कदेव भी उस उत्पत्तिस्थान को प्राप्त होते हैं।

(४) अवगाहना-विषयक—यहाँ जो अवगाहना धनुषपृथक्त्व की कही है, वह भी विमलवाहन कुलकर से पूर्व होने वाले पल्योपम के आठवें (⅛) भाग की स्थिति वाले हस्ती आदि से भिन्न क्षुद्रकाय चतुष्पदों की अपेक्षा जाननी चाहिए और उत्कृष्ट अवगाहना सातिरेक १८०० धनुष की कही है, वह विमलवाहन कुलकर से पूर्व होने वाले हस्त्यादि की अपेक्षा से जाननी चाहिए, क्योंकि विमलवाहन कुलकर की अवगाहना ९०० धनुष की थी और उस समय में होने वाले हस्ती आदि की अवगाहना उससे दुगुनी थी तथा उससे पहले समय में होने वाले हस्ती आदि की अवगाहना सातिरेक १८०० धनुष की थी।

(५) चौथे गमक की जो वक्तव्यता है, उसी में पांचवें और छठे गमक का अन्तर्भाव कर दिया गया है। क्योंकि पल्योपम के आठवें भाग की आयुवाले यौगलिक तिर्यञ्चों की पांचवें और छठे गमक में भी पल्योपम के आठवें भाग की ही आयु होती है।

(६) सप्तम आदि गमकों में तिर्यञ्चों की तीन पल्योपम की स्थिति होती है, जो उत्कृष्ट ही है। *ज्योतिष्कदेव की सातवें गमक में जघन्य और उत्कृष्ट, यह दो प्रकार की स्थिति होती है।*

(७) आठवें गमक में स्थिति पल्योपम के ८वें (⅛) भाग तथा नौवें गमक में सातिरेक पल्योपम होती है।

(८) इसी के अनुसार संवेध करना चाहिए।

(९) इस प्रकार पहला-दूसरा-तीसरा, ये तीन गमक, मध्य में तीन गमकों के स्थान में एक ही गमक और अन्तिम तीन गमक, यों कुल मिलाकर ये सात[1] गमक होते हैं।

ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होनेवाले संख्यातवर्षायुष्क संज्ञी-पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में उपपातादि बीस द्वारों का निरूपण

९. जइ संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय० ?

संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव नव वि गमगा भाणियव्वा, नवरं जोतिसियठिंति संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तहेव निरवसेसं।

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४८
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ६, पृ. ३१७३-३१७४

[९ प्र.] भगवन् ! यदि वह (ज्योतिष्कदेव) संख्यात वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्च से आकर उत्पन्न हो तो ?

[९ उ.] यहाँ असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों के समान नौ ही गमक जानने चाहिए। विशेष यह है कि ज्योतिष्क की स्थिति और संवेध भिन्न जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् समझना। [गमक १ से ९ तक]

विवेचन—संख्येय-वर्षायुष्क तिर्यञ्च-सम्बन्धी अतिदेश—यहाँ संख्यात वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों में उत्पन्न होने वाले ज्योतिष्कदेवों के नौ गमकों के लिए असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संज्ञी पं. तिर्यञ्चों के नौ गमकों का अतिदेश किया गया है। केवल स्थिति और संवेध में अन्तर है।[1]

ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों में उपपात आदि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१०. जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति० ? भेदो तहेव जाव—

[१० प्र.] (भगवन् !) यदि वे (ज्योतिष्क देव) मनुष्यों से आकर उत्पन्न हों तो ? (इत्यादि प्रश्न।)

[१० उ.] (गौतम !) पूर्वोक्त संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के समान जानना चाहिए। पूर्ववत् मनुष्यों के भेदों का उल्लेख करना चाहिए।

११. असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए जोतिसिएसु उववज्जित्तए से णं भंते !० ?

एवं जहा असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियस्स जोतिसिएसु चेव उववज्जमाणस्स सत्त गमगा तहेव मणुस्साण वि, नवरं ओगाहणाविसेसो—पढमेसु तिसु गमएसु ओगाहणा जहन्नेणं सातिरेगाइं नव धणुसयाइं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। मज्झिमगमए जहन्नेणं सातिरेगाइं नव धणुसयाइं, उक्कोसेण वि सातिरेगाइं नव धणुसयाइं। पच्छिमेसु तिसु गमएसु जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि गाउयाइं। सेसं तहेव निरवसेसं जाव संवेहो त्ति।

[११ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य, जो ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न होता है ?

[११ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार ज्योतिष्कों में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पं. तिर्यञ्च के सात गमक कहे गये हैं, उसी प्रकार यहाँ मनुष्य के विषय में भी समझना। प्रथम के तीन गमकों में अवगाहना की विशेषता है। उनकी अवगाहना जघन्य सातिरेक नौ सौ धनुष और उत्कृष्ट तीन गाऊ की होती है। मध्य के तीन गमक में जघन्य और उत्कृष्ट सातिरेक नौ सौ धनुष होती है तथा अन्तिम तीन गमकों में जघन्य और उत्कृष्ट तीन गाऊ होती है। शेष. यावत् संवेध तक पूर्ववत् जानना चाहिए।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. ९६३

१२. जदि संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से० ?

संखेज्जवासाउयाणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव नव गमगा भाणियव्वा, नवरं जोतिसियठिंति संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तहेव निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ चउवीसइमे सते : तेवीसइमो उद्देसओ समत्तो ॥ २४-२३ ॥

[१२ प्र.] यदि वह संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य से आकर उत्पन्न होता है, तो ? इत्यादि प्रश्न।

[१२ उ.] असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों के गमकों के समान यहाँ नौ गमक कहने चाहिए। किन्तु ज्योतिष्क देवों की स्थिति और संवेध (भिन्न) जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—सातिरेक नौ सौ धनुष की अवगाहना कैसे—असंख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य के अधिकार में अवगाहना, जो सातिरेक नौ सौ धनुष की बताई गई है, वह विमलवाहन कुलकर के पूर्वकालीन मनुष्यों की अपेक्षा से समझनी चाहिए और तीन गाऊ की अवगाहना सुषम-सुषमा नामक प्रथम आरे में होने वाले यौगलिकों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। पूर्वोक्त दृष्टि से मनुष्य के विषय में भी यहाँ सात ही गमक बताये गए हैं।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : तेईसवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

□□

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८४२

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३१७४

चउवीसइमो : वेमाणिय-उद्देसओ

चौवीसवाँ : वैमानिक-उद्देशक

गति को लेकर सौधर्म-देव के उपपात का निरूपण

१. सोहम्मगदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ? किं नेरतिएहिंतो उववज्जंति० ?

भेदो जहा जोतिसियउद्देसए।

[१ प्र.] भगवन् ! सौधर्म-देव, किस गति से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से उत्पन्न होते हैं ? अथवा तिर्यञ्चों से, मनुष्यों से या देवों से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] (पूर्वोक्त) ज्योतिष्क-उद्देशक के अनुसार भेद जानना चाहिए।

विवेचन– ज्योतिष्क-उद्देशक के अनुसार भेद का रहस्य—सौधर्म-देव नैरयिकों एवं देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु तिर्यञ्चों एवं मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं। तिर्यञ्चों में भी एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न नहीं होते, किन्तु संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं। संज्ञी-पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों में भी संख्यात वर्ष की तथा असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न होते हैं।[1]

सौधर्म-देव में उत्पन्न होनेवाले असंख्येय-संख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२. असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सोहम्मगदेवेसु उववज्जित्तए से णं भंते ! केवतिकाल० ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेणं तिपलिओवमट्ठितीएसु उवव०।

[२ प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो सौधर्म-देवों में उत्पन्न होने योग्य है, कितने काल की स्थिति वाले सौधर्म देवों में उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] गौतम ! वह जघन्य पल्योपम की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले सौधर्म-देवों में उत्पन्न होता है।

३. ते णं भंते !०,

अवसेसं जहा जोतिसिएसु उववज्जमाणस्स, नवरं सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छादिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी; नाणी वि, अन्नाणी वि, दो नाणा, दो अन्नाणा नियमं; ठिती जहन्नेणं दो

---

१. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिकाटीका-सहित) भा. १५, पृ. ४३६-४६४

पलिओवमाइं, उक्कोसेणं तिन्नि पलिओवमाइं। एवं अणुबंधो वि। सेसं तहेव। कालाएसेणं जहण्णेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं छ पलिओवमाइं; एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] (गौतम !) जैसी वक्तव्यता ज्योतिष्कदेवों में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्चों की कही गई है, वैसी ही वक्तव्यता यहाँ (सौधर्म-देवों के लिए) भी कहनी चाहिए। विशेषता (भिन्नता) यह है कि वे सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होते हैं, सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं, वे ज्ञानी भी होते हैं, अज्ञानी भी। उनमें दो ज्ञान या अज्ञान नियम से होते हैं। उनकी स्थिति जघन्य दो पल्योपम की और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है। अनुबन्ध भी इसी प्रकार जानना। शेष पूर्ववत्। कालादेश से—जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट छह पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

४. सो चेव जहन्नकालट्ठितीएसु उववन्नो, एस चेव वत्तव्वया, नवरं कालाएसेणं जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं चत्तारि पलिओवमाइं; एवतियं०। [बीओ गमओ]।

[४] यदि वह (असंख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्च), जघन्यकाल की स्थिति वाले सौधर्मदेवों में उत्पन्न हो, तो उसके सम्बन्ध में भी यही वक्तव्यता है। विशेष यह है कि कालादेश से—जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट चार पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [द्वितीय गमक]

५. सो चेव उक्कोसकालट्ठितीएसु उववन्नो, जहन्नेणं तिपलिओवम०, उक्कोसेण वि तिपलिओवम०। एस चेव वत्तव्वया, नवरं ठिती जहन्नेणं तिन्नि पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि पलिओवमाइं। सेसं तहेव। कालाएसेणं जहन्नेणं छ पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि छप्पलिओवमाइं०। [तइओ गमओ]।

[५] यदि वह (असंख्येयवर्षायुष्क सं. पं. ति.), उत्कृष्ट काल की स्थिति वाले सौधर्मदेवों में उत्पन्न हो तो वह जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति वाले सौधर्मदेवों में उत्पन्न होता है, इत्यादि वही पूर्वोक्त वक्तव्यता यहाँ कहना। विशेष यह है कि स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट तीन पल्योपम। शेष पूर्ववत्। कालादेश से—जघन्य और उत्कृष्ट छह पल्योपम। इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है।

६. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, जहन्नेणं पलिओवमट्ठितीएसु, उक्कोसेण वि पलिओवमट्ठितीएसु। एस चेव वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं धणुपुहत्तं, उक्कोसेणं दो गाउयाइं। ठिती जहन्नेणं पलिओवमं, उक्कोसेण वि पलिओवमं। सेसं तहेव। कालाएसेणं जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेण वि दो पलिओवमाइं; एवतियं०। [४-६ गमगा]।

[६] यदि वह (असंख्ये. सं. पं. तिर्यञ्च) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और सौधर्म देवों में उत्पन्न हो, जघन्य और उत्कृष्ट एक पल्योपम की स्थिति वाले सौधर्म देवों में उत्पन्न होता है, इत्यादि सब वक्तव्यता पूर्वोक्त कथनानुसार। विशेष इतना है कि अवगाहना जघन्य धनुषपृथक्त्व और उत्कृष्ट दो गाऊ। स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पल्योपम की होती है। शेष पूर्ववत्। कालादेशसे जघन्य और उत्कृष्ट दो पल्योपम, इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [गमक ४-५-६]

७. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, आदिल्लगमगसरिसा तिन्नि गमगा नेयव्वा, नवरं ठिति कालादेसं च जाणेज्जा। [७-८-९ गमगा]।

[७] यदि वह (असंख्ये. सं. पं. तिर्यञ्च) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो और सौधर्म-देवों में उत्पन्न हो, तो उसके अन्तिम तीन गमकों (७-८-९) का कथन प्रथम के तीन गमकों के समान जानना चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और कालादेश (भिन्न) जानना चाहिए। [गमक ७-८-९]

८. जदि संखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय० ?

संखेज्जवासाउयस्स जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणस्स तहेव नव वि गमा, नवरं ठिति संवेहं च जाणेज्जा। जाहे य अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ भवति ताहे तिसु वि गमएसु सम्मद्दिट्ठी वि, मिच्छद्दिट्ठी वि, नो सम्मामिच्छादिट्ठी। दो नाणा, दो अन्नाणा नियमं। सेसं तं चेव।

[८ प्र.] यदि वह सौधर्मदेव, संख्यात वर्ष की आयु वाले सं. पं. तिर्यञ्चों से आकर उत्पन्न हो तो ? इत्यादि प्रश्न।

[८ उ.] असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संख्येयवर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्च के समान ही इस के नौ ही गमक जानने चाहिए। किन्तु यहाँ स्थिति और संवेध (भिन्न) समझना चाहिए। जब वह स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो तो तीनों गमकों में सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि होता है, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होता। इसमें दो ज्ञान या दो अज्ञान नियम से होते हैं। शेष पूर्ववत्।

विवेचन—स्थिति एवं अवगाहना आदि के विषय में स्पष्टीकरण—(१) सौधर्म देवलोक में जघन्य स्थिति पल्योपम से कम की नहीं होती, इसलिए वहाँ उत्पन्न होने वाला जीव, जघन्य पल्योपम की तथा उत्कृष्ट तीन पल्योपम की स्थिति में उत्पन्न होता है। यद्यपि सौधर्म देवलोक में इससे भी बहुत अधिक स्थिति है, तथापि यौगलिक तिर्यञ्च उत्कृष्ट तीन पल्योपम की आयु वाले ही होते हैं। अतः वे इससे अधिक देवायु का बन्ध नहीं करते। दो पल्योपम का जो कथन किया है, उसमें से एक पल्योपम तिर्यञ्चभव-सम्बन्धी और एक पल्योपम देवभव-सम्बन्धी समझना चाहिए तथा उत्कृष्ट ६ पल्योपम का जो कथन है, उसमें तीन पल्योपम तिर्यञ्चभव और तीन पल्योपम देवभव के समझने चाहिए। (२) जघन्य अवगाहना जो धनुष पृथक्त्व कही है, वह क्षुद्रकाय चौपाये (छोटे शरीर वाले चतुष्पाद) की अपेक्षा समझनी चाहिए और उत्कृष्ट दो गाऊ की कही है, वह जिस काल और जिस क्षेत्र में एक गाऊ के मनुष्य होते हैं, उस क्षेत्र के हाथी आदि की अपेक्षा समझनी चाहिए। (३) संख्येय-वर्षायुष्क सं. पंचे. तिर्यञ्च के अधिकार में मिश्रदृष्टि का निषेध किया है, क्योंकि जघन्य स्थिति वाले में मिश्रदृष्टि नहीं होती। उत्कृष्ट स्थिति वालों में तीनों दृष्टियाँ होती हैं। यही तथ्य ज्ञान और अज्ञान के विषय में समझना चाहिए।[1] यौगलिक तिर्यञ्च और मनुष्य (जो सौधर्म देवों में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क हैं), उनमें भी दो ही दृष्टियाँ पाई जाती हैं। किन्तु भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिष्क में उत्पन्न होने वाले यौगलिक मनुष्य और तिर्यञ्च में सिर्फ एक मिथ्यादृष्टि ही बताई है तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च एकमात्र वैमानिक देव की आयु का बन्ध करते हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५१

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३१८१-३१८२

सौधर्मदेव में उत्पन्न होनेवाले असंख्येय-संख्येय-वर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों के उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

९. जदि मणुस्सेहिंतो उववज्जंति० ?

भेदो जहेव जोतिसिएसु उववज्जमाणस्स जाव—

[९ प्र.] यदि वह (सौधर्मदेव) मनुष्यों से आकर उत्पन्न हो तो ?

[९ उ.] ज्योतिष्कदेवों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की वक्तव्यता के समान यहाँ भी कहनी चाहिए।

१०. असंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए सोहम्मे कप्पे देवत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं जहेव असंखेज्जवासाउयस्स सन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स सोहम्मे कप्पे उववज्जमाणस्स तहेव सत्त गमगा, नवरं आदिल्लएसु दोसु गमएसु ओगाहणा जहन्नेणं गाउयं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं। ततियगमे जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि गाउयाइं। चउत्थगमए जहन्नेणं गाउयं, उक्कोसेण वि गाउयं। पच्छिमेसु गमएसु जहन्नेणं तिन्नि गाउयाइं, उक्कोसेण वि तिन्नि गाउयाइं। सेसं तहेव निरवसेसं। [१-९ गमगा]।

[१० प्र.] भगवन् ! असंख्यात वर्ष की आयु वाला संज्ञी मनुष्य, जो सौधर्मकल्प में देवरूप से उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले सौधर्मकल्प के देवों में उत्पन्न होता है ?

[१० उ.] सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने वाले असंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक के समान सातों ही गमक जानने चाहिए। विशेष यह है कि प्रथम के दो गमकों में अवगाहना जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट तीन गाऊ होती है। तीसरे गमक में जघन्य और उत्कृष्ट तीन गाऊ, चौथे गमक में जघन्य और उत्कृष्ट एक गाऊ और अन्तिम तीन गमकों में जघन्य और उत्कृष्ट तीन गाऊ की अवगाहना होती है। शेष पूर्ववत्। [१-९ गमक]

११. जदि संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्सेहिंतो० ?

एवं संखेज्जवासाउयसन्निमणुस्साणं जहेव असुरकुमारेसु उववज्जमाणाणं तहेव नव गमगा भाणियव्वा, नवरं सोहम्मदेवट्ठिंति संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तं चेव।

[११ प्र.] यदि वह (सौधर्मदेव) संख्यातवर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होता है तो ? (इत्यादि प्रश्न।)

[११ उ.] असुरकुमारों में उत्पन्न होने वाले संख्यातवर्षायुष्क संज्ञी मनुष्यों के समान नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि सौधर्मदेव की स्थिति और संवेध (उससे भिन्न) समझना चाहिए।

विवेचन—सौधर्मदेवों में उत्पन्न मनुष्यों की वक्तव्यता का निष्कर्ष—सौधर्मदेवों में उत्पद्यमान मनुष्यों की वक्तव्यता इस प्रकार है—(१) वे संज्ञी मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं, असंज्ञी

मनुष्यों से नहीं, संज्ञी मनुष्यों में भी असंख्यांत वर्ष एवं संख्यात वर्ष दोनों प्रकार की आयु वालों से आकर उत्पन्न होते हैं ।[1]

अवगाहना-विषयक स्पष्टीकरण—पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च के अधिकार में प्रथम के दो गमकों में जघन्य अवगाहना धनुषपृथक्त्व और उत्कृष्ट छह गाऊ की कही है, किन्तु यहाँ मनुष्य के प्रकरण में पहले और दूसरे गमक में अवगाहना जघन्य एक गाऊ और उत्कृष्ट तीन गाऊ की कही है । तिर्यञ्च के तीसरे गमक में जघन्य, उत्कृष्ट अवगाहना ६ गाऊ की कही है, किन्तु यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट ३ गाऊ की कही है। चौथे गमक में तिर्यञ्च में जघन्य धनुषपृथक्त्व और उत्कृष्ट दो गाऊ कही है जबकि यहाँ जघन्य और उत्कृष्ट एक गाऊ की अवगाहना कही है ।[2]

ईशान से सहस्रार देव तक में उत्पन्न होनेवाले तिर्यञ्चों व मनुष्यों के उपपातादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

१२. ईसाणा देवा णं भंते ! कओ० उववज्जंति ?०

ईसाणदेवाणं एस चेव सोहम्मगदेवसरिसा वत्तव्वया, नवरं असंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदिय-तिरिक्खजोणियस्स जेसु ठाणेसु सोहम्मे उववज्जमाणस्स पलिओवमठितीएसु ठाणेसु इहं सातिरेगं पलिओवमं कायव्वं। चउत्थगमे ओगाहणा जहन्नेणं धणुपुहत्तं, उक्कोसेणं सातिरेगाइं दो गाउयाइं। सेसं तहेव ।

[१२ प्र.] भगवन् ! ईशानदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?, इत्यादि प्रश्न ।

[१२ उ.] ईशानदेव की यह वक्तव्यता सौधर्मदेवों के समान है। विशेष यह है कि सौधर्मदेवों में उत्पन्न होने वाले जिन स्थानों में असंख्या तवर्ष की आयु वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च की स्थिति एक पल्योपम की कही है, वहाँ सातिरेक पल्योपम की जाननी चाहिए। चतुर्थ गमक में अवगाहना जघन्य धनुषपृथक्त्व, उत्कृष्ट सातिरेक दो गाऊ की होती है। शेष पूर्ववत् ।

१३. असंखेज्जवासाउयसन्निमणूसस्स वि तहेव ठिती जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणियस्स असंखेज्जवासाउयस्स, ओगाहणा वि जेसु ठाणेसु गाउयं तेसु ठाणेसु इहं सातिरेगं गाउयं। सेसं तहेव ।

[१३] असंख्यात वर्ष की आयु वाले संज्ञी मनुष्य की स्थिति, असंख्य वर्ष कीं आयु वाले पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक के समान जाननी चाहिए। अवगाहना जहाँ एक गाऊ की कही है वहाँ सातिरेक गाऊ की जानना। शेष पूर्ववत् ।

१४. संखेज्जवासाउयाणं तिरिक्खजोणियाणं मणूसाण य जहेव सोहम्मे उववज्जमाणाणं तहेव निरवसेसं णव वि गमगा, नवरं ईसाणे ठिंतिं संवेहं च जाणेज्जा ।

[१४] सौधर्मदेवों में उत्पन्न होने वाले संख्यात वर्ष की आयु वाले तिर्यञ्चों और मनुष्यों के विषय में जो नौ गमक कहे हैं, वे ही ईशानदेव के विषय में समझने चाहिए। विशेष यह है कि स्थिति और संवेध ईशानदेवों के जानने चाहिए ।

---

१. भगवतीसूत्र (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १५, पृ. ४७६-४७७

२. भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ६, पृ. ३१८२

१५. सणंकुमारगदेवा णं भंते ! कतोहिंतो उवव० ?
उववालो जहा सक्करप्पभपुढविनेरइयाणं जाव—

[१५ प्र.] भगवन् ! सनत्कुमारदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?
[१५ उ.] इनका उपपात शर्कराप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के समान जानना चाहिए।

१६. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निपंचेंदियतिरिक्खजोणिए णं भंते ! जे भविए सणंकुमारदेवेसु उववज्जित्तए० ?

अवसेसा परिमाणादीया भवाएसपज्जवसाणा सच्चेव वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सोहम्मे उववज्जमाणस्स, नवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। जाहे य अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ भवति ताहे तिसु वि गमएसु पंच लेस्साओ आदिल्लाओ कायव्वाओ। सेसं तं चेव।

[१६ प्र.] भगवन् ! पर्याप्तसंख्येयवर्षायुष्क संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्चयोनिक, जो सनत्कुमार-देवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने काल की स्थिति वाले सनत्कुमारदेवों में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[१६ उ.] परिमाण से लेकर भवादेश तक की सभी वक्तव्यता, सौधर्मकल्प में उत्पन्न होने वाले (संख्येय-वर्षायुष्क सं. पं. तिर्यञ्च) के समान कहनी चाहिए। परन्तु सनत्कुमार की स्थिति और संवेध (उससे भिन्न) जानना। जब वह स्वयं जघन्य काल की स्थिति वाला होता है, तब तीनों ही गमकों में प्रथम की पांच लेश्याएँ होती हैं। शेष पूर्ववत्।

१७. जदि मणुस्सेहिंतो उवव० ?

मणुस्साणं जहेव सक्करप्पभाए उववज्जमाणाणं तहेव णव वि गमगा भाणियव्वा, नवरं सणंकुमारट्ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

[१७ प्र.] यदि सनत्कुमारदेव, मनुष्यों से आकर उत्पन्न हो तो ? इत्यादि प्रश्न।

[१७ उ.] शर्कराप्रभा में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के समान यहाँ भी नौ गमक कहने चाहिए। विशेष यह है कि सनत्कुमारदेवों की स्थिति और संवेध (उससे भिन्न) कहना चाहिए।

१८. माहिंदगदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

जहा सणंकुमारगदेवाणं वत्तव्वया तहा माहिंदगदेवाण वि भाणियव्वा, नवरं माहिंदगदेवाणं ठिती सातिरेगा भाणियव्वा सा चेव।

[१८ प्र.] भगवन् ! माहेन्द्रदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१८ उ.] जिस प्रकार सनत्कुमारदेव की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार माहेन्द्रदेव की भी जाननी चाहिए। किन्तु माहेन्द्रदेव की स्थिति सनत्कुमारदेव से सातिरेक कहनी चाहिए।

१९. एवं बंभलोगदेवाण वि वत्तव्वया, नवरं बंभलोगट्ठितिं संवेहं जाणेज्जा। एवं जाव सहस्सारो, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

[१९] इसी प्रकार ब्रह्मलोकदेवों की भी वक्तव्यता जाननी चाहिए। किन्तु ब्रह्मलोकदेव की स्थिति और संवेध (भिन्न) जानना चाहिए। इसी प्रकार यावत् सहस्रारदेव तक पूर्ववत् वक्तव्यता जाननी चाहिए। किन्तु स्थिति और संवेध अपना-अपना जानना चाहिए।

२०. लंतगाईणं जहन्नकालट्ठितीयस्स तिरिक्खजोणियस्स तिसु वि गमएसु छप्पि लेस्साओ कायव्वाओ। संघयणाइं बंभलोग-लंतएसु पंच आदिल्लगाणि, महासुक्क-सहस्सारेसु चत्तारि, तिरिक्खजोणियाण वि मणुस्साण वि। सेसं तं चेव।

[२०] लान्तक आदि (लान्तक, महाशुक्र और सहस्रार) देवों में उत्पन्न होने वाले जघन्य स्थिति वाले सं. पं. तिर्यञ्चयोनिक के तीनों ही गमकों में छहों लेश्याएँ कहनी चाहिए। ब्रह्मलोक और लान्तक देवों में प्रथम के पांच संहनन, महाशुक्र और सहस्रार में आदि के चार संहनन तथा तिर्यञ्चयोनिकों तथा मनुष्यों में भी यही जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

विवेचन—लेश्या-संहननादि के विषय में स्पष्टीकरण—(१) सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न होने वाले जघन्य स्थिति वाले संज्ञी पंचेन्द्रिय-तिर्यञ्च में प्रथम की पांच लेश्याएँ कही हैं; क्योंकि सनत्कुमार देवलोक में उत्पन्न होने वाला जघन्य स्थिति का तिर्यञ्च अपनी जघन्य स्थिति के कारण कृष्णादि चार लेश्याओं में से किसी एक लेश्या में परिणत होकर मरण के समय में पद्मलेश्या को प्राप्त कर मरता है, तब उस देवलोक में उत्पन्न होता है, क्योंकि अगले भव की लेश्या में परिणत हो कर ही जीव परभव में जाता है, ऐसा सैद्धान्तिक नियम है। अतः इसके पाँच लेश्याएं होती हैं। इसी प्रकार माहेन्द्र एवं ब्रह्मलोक के विषय में भी समझना चाहिए। (२) देवलोक में उत्पन्न होने वाले के संहननों के विषय में यह नियम है—

छेवट्टेण उ गम्मइ चत्तारि उ जाव आइमा कप्पा।
वड्ढेज्ज कप्पजुयलं संघयणे कीलियाईए॥

अर्थात्—प्रथम के चार देवलोकों में छह संहनन वाला जाता है। पांचवें और छठे में पांच संहनन वाला, सातवें आठवें में चार संहनन वाला; नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में तीन संहनन वाला, नौ ग्रैवेयक में दो संहनन वाला और पांच अनुत्तर विमान में एक संहनन वाला जाता है।[1]

आनत से सर्वार्थसिद्ध तक के देवों में उत्पन्न होनेवाले मनुष्यों के उपपात-परिमाणादि बीस द्वारों की प्ररूपणा

२१. आणयदेवा णं भंते! कओहिंतो उववज्जंति?०

उववाओ जहा सहस्सारदेवाणं, णवरं तिरिक्खजोणिया खोडेयव्वा जाव—

[२१ प्र.] भगवन्! आनतदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं?

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५१
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ६, पृ. ३११०

[२१ उ.] (गौतम !) सहस्रारदेवों के समान यहाँ उपपात (उत्पत्ति) कहना चाहिए। विशेष यह है कि यहाँ तिर्यञ्च की उत्पत्ति का निषेध करना चाहिए। यावत्—

२२. पज्जत्तसंखेज्जवासाउयसन्निमणुस्से णं भंते ! जे भविए आणयदेवेसु उववज्जित्तए० ?

मणुस्साण य वत्तव्वया जहेव सहस्सारे उववज्जमाणाणं, णवरं तिन्नि संघयणाणि। सेसं तहेव, जाव अणुबंधो। भवाएसेणं जहन्नेणं तिण्णि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं सत्त भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं अट्ठारस सागरोवमाइं दोहिं वासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं सत्तावण्णं सागरोवमाइं चउहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं०। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। सेसं तहेव।

[२२ प्र.] भगवन् ! संख्यात वर्ष की आयु वाला पर्याप्त संज्ञी मनुष्य, जो आनतदेवों में उत्पन्न होने योग्य है; वह कितने काल की स्थिति वाले आनतदेवों में उत्पन्न होता है ?

[२२ उ.] (गौतम !) सहस्रारदेवों में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों की वक्तव्यता के समान यहाँ भी कहना चाहिए। विशेषता यह है कि इसमें प्रथम के तीन संहनन होते हैं। शेष पूर्ववत् यावत् अनुबन्धपर्यन्त। भवादेश से—जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट सात भव ग्रहण करता है। कालादेश से—जघन्य दो वर्षपृथक्त्व अधिक अठारह सागरोपम और उत्कृष्ट चार पूर्वकोटि अधिक सत्तावन सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। (यह प्रथम गमक है।) इसी प्रकार शेष आठ गमक भी कहने चाहिए। परन्तु स्थिति और संवेध (अपना-अपना पृथक्-पृथक्) जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्। [गमक १ से ९ तक]

२३. एवं जाव अच्चुयदेवा, नवरं ठितिं संवेहं च जाणेज्जा। चउसु वि संघयणा तिन्नि आणयादिसु।

[२३] इसी प्रकार यावत् अच्युतदेव-पर्यन्त जानना चाहिए। किन्तु स्थिति और संवेध (भिन्न-भिन्न) कहना चाहिए। आनतादि चार देवलोकों में प्रथम के तीन संहनन वाले उत्पन्न होते हैं।

२४. गेवेज्जगदेवा णं भंते ! कओ० उववज्जंति ?

एस चेव वत्तव्वया, नवरं संघयणा दो। ठितिं संवेहं च जाणेज्जा।

[२४ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयकदेव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२४ उ.] यही (पूर्वोक्त) वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष—इनमें प्रथम के दो संहनन वाले उत्पन्न होते हैं तथा स्थिति और संवेध, (इनका अपना-अपना) समझना चाहिए।

२५. विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजियदेवा णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?०

एस चेव वत्तव्वता निरवसेसा जाव अणुबंधो त्ति, नवरं पढमं संघयणं, सेसं तहेव। भवाएसेणं जहन्नेणं तिन्नि भवग्गहणाइं, उक्कोसेणं पंच भवग्गहणाइं। कालाएसेणं जहन्नेणं एक्कत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं छावट्ठि सागरोवमाइं तिहिं पुव्वकोडीहिं

अब्भहियाइं; एवतियं०। एवं सेसा वि अट्ठ गमगा भाणियव्वा, नवरं ठिंति संवेहं च जाणेज्जा। मणूसलद्धी नवसु वि गमएसु जहा गेवेज्जेसु उववज्जमाणस्स, नवरं पढमसंघयणं।

[२५ प्र.] भगवन् ! विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित देव, कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२५ उ.] पूर्वोक्त सारी वक्तव्यता यावत् अनुबन्ध तक जानना। विशेष—इनमें प्रथम संहनन वाले उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत्। भवादेश से—जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट पांच भव तथा कालादेश से—जघन्य दो वर्षपृथक्त्व-अधिक ३१ सागरोपम और उत्कृष्ट तीन पूर्वकोटि अधिक ६६ सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। शेष आठ गमक भी इसी प्रकार कहने चाहिए। विशेष यह है कि इनमें स्थिति और संवेध (अपना-अपना भिन्न-भिन्न) जान लेना चाहिए। मनुष्य के नौ ही गमकों में (उत्पत्ति आदि), ग्रैवेयक में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों के गमकों के समान कहनी चाहिए। विशेषता यह है कि विजय आदि (चारों वैमानिक देवों) में प्रथम संहनन वाला ही उत्पन्न होता है।

२६. सव्वट्ठसिद्धगदेवा णं भंते ! कओ० उववज्जंति ?०

उववातो जहेव विजयाईणं जाव—

[२६ प्र.] भगवन् ! सर्वार्थसिद्ध देव कहाँ से आकर उत्पन्न होता है ?

[२६ उ.] इसका उपपात (उत्पत्ति) आदि विजय आदि के समान है। यावत्—

२७. से णं भंते ! केवतिकालट्ठितीएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं तेत्तीससागरोवमट्ठिति० उक्कोसेण वि तेत्तीससागरोवमट्ठितीएसु उवव०। अवसेसा जहा विजयादिसु उववज्जंताणं, नवरं भवाएसेणं तिन्नि भवग्गहणाइं; कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं वासपुहत्तेहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं०। [पढमो गमओ]।

[२७ प्र.] भगवन् ! वे (संज्ञी मनुष्य) कितने काल की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धदेवों में उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२७ उ.] गौतम ! वे जघन्य और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति वाले सर्वार्थसिद्धदेवों में उत्पन्न होते हैं। शेष वक्तव्यता विजयादि देवों में उत्पन्न होने वाले मनुष्य के समान है। विशेषता यह है कि भवादेश से—तीन भवों का ग्रहण होता है, कालादेश से—जघन्य दो वर्षपृथक्त्व-अधिक तेतीस सागरोपम और उत्कृष्ट दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम; इतने काल तक यावत् गमनागमन करता है। [प्रथम गमक]

२८. सो चेव अप्पणा जहन्नकालट्ठितीओ जाओ, एस चेव वत्तव्वया, नवरं ओगाहणा-ठितीओ रयणिपुहत्त-वासपुहत्ताणि। सेसं तहेव। संवेहं च जाणेज्जा। [बीओ गमओ]।

[२८] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) स्वयं जघन्यकाल की स्थिति वाला हो और सर्वार्थसिद्धदेवों में उत्पन्न हो, तो भी यही पूर्वोक्त वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि इसकी अवगाहना

रत्निपृथक्त्व और स्थिति वर्षपृथक्त्व होती है। शेष पूर्ववत्। संवेध (इसका अपना) जानना चाहिए।
[द्वितीय गमक]

२९. सो चेव अप्पणा उक्कोसकालट्ठितीओ जाओ, एस चेव वत्तव्वता, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं पंच धणुसयाइं, उक्कोसेण वि पंच धणुसयाइं। ठिती जहन्नेणं पुव्वकोडी, उक्कोसेण वि पुव्वकोडी। सेसं तहेव जाव भवाएसो त्ति। कालाएसेणं जहन्नेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं, उक्कोसेण वि तेत्तीसं सागरोवमाइं दोहिं पुव्वकोडीहिं अब्भहियाइं; एवतियं कालं सेवेज्जा, एवतियं कालं गतिरागतिं करेज्जा। [तइओ गमओ]। एते तिन्नि गमगा सव्वट्ठसिद्धगदेवाणं।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं गोयमे जाव विहरइ।

॥ चउवीसतिमे सए : चउवीसतिमो उद्देसो समत्तो ॥ २४-२४ ॥

॥ समत्तं च चउवीसतिमं सयं ॥ २४ ॥

[२९] यदि वह (संज्ञी मनुष्य) स्वयं उत्कृष्ट काल की स्थिति वाला हो तो यही पूर्वोक्त वक्तव्यता जाननी चाहिए। किन्तु इसकी अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट पांच सौ धनुष है। इसकी स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट पूर्वकोटि है। शेष सब पूर्ववत् यावत् भवादेश तक। काल की अपेक्षा से—जघन्य दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम और उत्कृष्ट भी दो पूर्वकोटि अधिक तेतीस सागरोपम; इतना काल सेवन (यापन) करता है और इतने काल तक गमनागमन करता है। [तीसरा गमक] सर्वार्थसिद्धदेवों में ये तीन ही गमक होते हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—आनत से सर्वार्थसिद्धि तक गमकों की प्ररूपणा—(१) आनतदेव तिर्यञ्चों में आकर उत्पन्न नहीं होता। (२) विजय आदि जघन्य तीन और उत्कृष्ट सात भव ग्रहण करते हैं। आनतादि देव मनुष्य से आकर ही उत्पन्न होते हैं। वहाँ से च्यवकर भी मनुष्य गति में आते है। इस प्रकार जघन्य तीन भव और उत्कृष्ट आनत से अच्युत एवं ग्रैवेयक तक ७ भव करता है, विजयादि में जघन्य ३ और उत्कृष्ट ५ भव ग्रहण करता है तथा सर्वार्थसिद्धदेव में तीन भव ग्रहण करता है। (२) **आनतादि का संवेध**—आनत से अच्युत देव तक में संज्ञी मनुष्य के ४ भवसम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति चार पूर्वकोटि और आनतदेव की तीन भव सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति ५७ सागरोपम की होती है। आनतदेव का उत्कृष्ट संवेध चार पूर्वकोटि अधिक ५७ सागरोपम का होता है। इसी प्रकार आगे के देवलोकों की स्थिति का विचार कर संवेध जानना चाहिए।[1]

॥ चौवीसवाँ शतक : चौवीसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

चौवीसवाँ शतक सम्पूर्ण

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५१

पंचवीसइमं सयं : पच्चीसवाँ शतक

प्राथमिक

* भगवती सूत्र के पच्चीसवें शतक के बारह उद्देशक हैं। जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) लेश्या, (२) द्रव्य, (३) संस्थान, (४) युग्म, (५) पर्यव, (६) निर्ग्रन्थ, (७) श्रमण, (८) ओघ, (९) भव्य, (१०) अभव्य, (११) सम्यक्त्वी और (१२) मिथ्यात्वी।

* मनुष्य चेतनावान् है। वह अनन्त ज्ञान-दर्शन का धनी है, फिर भी वह स्वयं को अज्ञानग्रस्त एवं हीन मानता है। वह अनन्त शक्तिसम्पन्न आत्मा होते हुए भी स्वयं को शक्तिहीन समझता है। वह स्वभावतः वीतराग और परम आत्मा होते हुए भी स्वयं को राग-द्वेष से लिप्त, कषाययुक्त और अपरम आत्मा मानता है। वह अपनी शक्तियों एवं उपलब्धियों से अपरिचित है। असीम और अनन्त होते हुए भी स्वयं को ससीम और सान्त समझता है। कौन-से ऐसे बाधक तत्त्व हैं, जो साधक की शक्ति और उपलब्धि को सीमित कर देते हैं? कौन-से ऐसे बाधक तत्त्व हैं, जो शरीर के भीतर बैठे हुए अनन्त चैतन्य को प्रकट नहीं होने देते? आत्मा की शुद्धता-उज्ज्वलता तथा परमात्मसम्पन्नता को रोके हुए हैं? तथा किन तत्त्वों ने उसे मोक्ष-प्राप्ति के लक्ष्य से दूर भटका दिया है और संसार के जन्म-मरण के बन्धनों में उसे बांध रखा है? उनसे कैसे छुटकारा मिल सकता है? और कैसे साधक अपने चरम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर सकता है? आत्मा को उज्ज्वल, शुद्ध और कर्ममुक्त बना सकता है?

* ये और इन्हीं प्रश्नों का समाधान इस शतक में निहित है। **प्रथम उद्देशक** में लेश्याओं का प्रतिपादन किया है, जो कषाय से अनुरंजित होने के कारण मनुष्य को लक्ष्य से भटका देती हैं, संसार-सागर से पार होने में बाधक बनती हैं। यद्यपि आत्मा अपने आप में परम शुद्ध है, तथापि लेश्या, चाहे वह शुक्ललेश्या ही क्यों न हो, जब तक रहती है, तब तक वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, वह संसारी बना रहता है। इसलिए इसी उद्देशक में संसार-समापन्नक जीवों की सूची दे दी है, ताकि मुमुक्षु जीव यह समझ सके कि जब तक लेश्या, योग आदि हैं, तब तक वह संसारी ही कहलाएगा, साथ ही पन्द्रह प्रकार के योगों का तारतम्य एवं अल्पबहुत्व बताया गया है, ताकि साधक अपने योगों का नापतौल कर सके। इस पाठ से यह भी ध्वनित कर दिया है कि साधक अपनी आत्मशक्तियों का विकास कर ले तो योगों के कम्पनों के प्रभाव को रोक सकता है।

* **दूसरे उद्देशक** में द्रव्यों की चर्चा की है। मनुष्य जीव द्रव्य में है और चेतनाहीन द्रव्य अजीव हैं। इनमें किसकी संख्या अधिक है? कौन किसको प्रभावित करता है? अथवा जीव द्रव्य अजीव द्रव्यों के परिभोग में आते हैं या अजीव द्रव्य जीव द्रव्य के परिभोग में आते हैं? इसका

रहस्य खोलते हुए इस उद्देशक में शास्त्रकार ने जीव की शक्ति को अनन्त और प्रबल बताते हुए कहा है कि जीव द्रव्य अजीव द्रव्यों के परिभोग में नहीं आते हैं, अजीव द्रव्य ही जीव द्रव्य के परिभोग में आते हैं। फिर यह प्रश्न भी उठाया गया है कि असंख्यातप्रदेशात्मक लोकाकाश में जीव और अजीव रूप अनन्त द्रव्य कैसे समा सकते हैं? साथ ही यह भी बताया गया है कि जीव जिस आकाशप्रदेश में रहा हुआ है, उसी क्षेत्र के अन्दर रहे हुए पुद्गल स्थितद्रव्य हैं, उससे बाहर के क्षेत्र में रहे हुए पुद्गल अस्थितद्रव्य हैं। उन्हें जीव वहाँ से खींच कर ग्रहण करता है द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव से भी तथा वह (जीव) पांच शरीर, पांच इन्द्रिय, तीन योग और श्वासोच्छ्वास; इन चौदह के रूप में यथायोग्य ग्रहण भी करता है। इन्हीं से फिर कर्मबन्ध और उनसे जन्म-मरण-परम्परा को बढ़ाता है। साधक को इनसे सावधान रहने का संकेत किया गया है।

※ **तीसरे उद्देशक** में बताया गया है कि जिस प्रकार जीव के छह संस्थान होते हैं, उसी प्रकार अजीव द्रव्य के भी परिमण्डल आदि छह संस्थान होते हैं। उनका अल्पबहुत्व एवं संख्यापरिमाण भी यहाँ बताया है तथा रत्नप्रभादि पृथ्वियों में कौन से संस्थान कितने हैं? कौन-सा संस्थान कितने प्रदेश का तथा कितने प्रदेशों में अवगाढ़ है? वे कृतयुग्म हैं या त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योजरूप हैं? अन्त में लोकाकाश और अलोकाकाश की श्रेणियों की चर्चा की गई है। साथ ही जीवों और पुद्गलों की अनुश्रेणि गति और विश्रेणि गति का प्रतिपादन किया गया है।

इसके पश्चात् इस उद्देशक में इस प्रकार के सूक्ष्म सैद्धान्तिक ज्ञान के प्रदाता गणिपिटक (द्वादशांग) का भी उल्लेख किया है, जिससे साधक सूक्ष्म सैद्धान्तिक ज्ञान प्राप्त कर सके। अन्त में चारों गतियों के तथा सिद्ध गति के जीवों के एवं सइन्द्रिय, एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय एवं अनिन्द्रिय जीवों के तथा जीवों और पुद्गलों के अल्प-बहुत्व की प्ररूपणा की गई है।

इस प्रकार के सूक्ष्म सैद्धान्तिक ज्ञान का प्रयोजन यह है कि साधक आत्मा की व्यापकता, अनन्त शक्तिमत्ता एवं अवगाहन-क्षमता आदि को जान सके तथा आयु आदि कर्मों के बन्ध से बच सके।

※ **चतुर्थ उद्देशक** में नैरयिक से लेकर वैमानिकों तक चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में कृतयुग्म आदि की चर्चा करके फिर धर्मास्तिकाय आदि षट्द्रव्यों में भी उसी की चर्चा की है। तत्पश्चात् द्रव्यार्थ से और प्रदेशार्थ से सभी जीवों के कृतयुग्मादि की, कृतयुग्मप्रदेशावगाढ़ आदि की तथा कृतयुग्मादि समय की स्थिति की तथा आत्मप्रदेशों और शरीरप्रदेशों की अपेक्षा से कृतयुग्मादि की प्ररूपणा की है। फिर मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म आदि की प्ररूपणा की है।

इसके पश्चात् जीवों की सकम्पता-निष्कम्पता तथा देशकंम्पकता, सर्वकम्पकता की चर्चा की गई है तथा परमाणु पुद्गल, एकप्रदेशावगाढ़, एकसमयस्थितिक तथा एकगुणकाले आदि से लेकर संख्यात, असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों के अल्पबहुत्व का निरूपण किया गया है, जो मुमुक्षु आत्माओं के लिए श्रद्धापूर्वक ज्ञेय है। एक परमाणु से अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक के

कृतयुग्मादि की पूर्ववत् चर्चा की गई है। परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सार्द्ध-अनर्द्ध की भी सूक्ष्म चर्चा है। जीवों के समान परमाणु आदि की सकम्पता-निष्कपता तथा कियत्काल-स्थायिता, कियत्काल का अन्तर एवं उनकी सकम्पता, निष्कम्पता व अल्पबहुत्व का निरूपण भी किया गया है। अन्त में धर्मास्तिकाय से लेकर जीवास्तिकाय तक के मध्यप्रदेशों की भी चर्चा है।

* **पंचम उद्देशक** में जीव और अजीव के पर्यवों की प्ररूपणा से प्रारम्भ करके आवलिका से लेकर पुद्गल-परिवर्तन तक के कालसम्बन्धी परिमाण की चर्चा की है। इस चर्चा का उद्देश्य यही संभवित है कि मुमुक्षु साधक अपने अतीत के अनन्तकालिक भवों के लक्ष्यहीन अज्ञानग्रस्त जीवन पर विचार करके भविष्यत्काल को सुधार सके, उज्ज्वल बना सके। इस उद्देशक के अन्त में द्विविध निगोद जीवों तथा औदयिक आदि पांच भावों का निरूपण भी किया गया है।

* **छठे उद्देशक** में मोक्षलक्ष्यी पंचविध निर्ग्रन्थ साधक के मार्ग में कौन-कौन से अवरोध या बाधक तत्त्व आ जाते हैं, जो उसकी मोक्ष की ओर की गति को मन्द कर देते हैं? किन साधक तत्त्वों से वह गति बढ़ सकती है? इस पर ३६ द्वारों के माध्यम से विस्तृत रूप से निरूपण किया गया है।

  वस्तुतः पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थों के आध्यात्मिक विकास के लिए यह तत्त्वज्ञान बहुत ही उपयोगी एवं अनिवार्य हैं।

* **सातवें उद्देशक** में सामायिक से लेकर यथाख्यात तक पांच प्रकार के संयतों का यथार्थ स्वरूप प्रथम प्रज्ञापनद्वार के माध्यम से बताकर उनके मोक्षमार्ग में बाधक-साधक तत्त्वों का भी पूर्वोक्त उद्देशक में कथित ३६ द्वारों के माध्यम से सांगोपांग निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् पंचविध निर्ग्रन्थों तथा पंचविध संयतों को संयम में लगे हुए या लगने वाले दोषों की शुद्धि करके आत्मा को विशुद्ध, उज्ज्वल, स्वरूपस्थ, निजगुणलीन बनाने हेतु प्रतिसेवना, आलोचनादोष, आलोचना-योग्य, आलोचना (सुनकर प्रायश्चित्त) देने योग्य गुरु, समाचारी प्रायश्चित्त और बाह्य-आभ्यन्तर द्वादशविध तप, इन सात विषयों का विशद वर्णन किया गया है।

* **आठवें उद्देशक** में जीवों के आगामी भव में उत्पन्न होने का प्रकार तथा उनकी शीघ्र गति एवं गतिविषय की चर्चा की गई है। जीव परभव की आयु किस प्रकार बांधते हैं? जीवों की गति क्यों और कैसे होती है? तथा जीव आत्मऋद्धि से, स्वकर्मों से, आत्मप्रयोग (व्यापार) से उत्पन्न होते हैं या परऋद्धि, परकर्म या पर-प्रयोग से? इसकी कर्मसिद्धान्तानुसार प्ररूपणा की गई है।

* **नौवें उद्देशक** में भी इसी प्रकार भवसिद्धिक (नैरयिकों से वैमानिकों तक के) जीवों की उत्पत्ति, शीघ्रगति, गति-विषय, गति-कारण, आयुबन्ध, स्वऋद्धि-स्वकर्म-स्वप्रयोग से उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा की गई है।

* **दशवें उद्देशक** में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की उत्पत्ति आदि के विषय में पूर्ववत् प्ररूपणा की गई है।

- ※ **ग्यारहवें उद्देशक** में सम्यग्दृष्टि नैरयिकों से वैमानिकों तक के जीवों की (एकेन्द्रिय को छोड़कर) उत्पत्ति आदि की पूर्ववत् चर्चा की है।
- ※ **बारहवें उद्देशक** में मिथ्यादृष्टि नैरयिक आदि चौबीस दण्डकवर्ती जीवों की उत्पत्ति आदि की पूर्ववत् चर्चा की है।

इन उद्देशकों में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान से मुमुक्षु साधक कर्मसिद्धान्त पर सम्यक् श्रद्धा करके जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए स्वकृत कर्मो को स्वयं काटने के लिए पुरुषार्थ करता है।

- कुल मिलाकर पच्चीसवें शतक के बारह उद्देशकों में आत्मिक विकास में साधक-बाधक तत्त्वों की गहन चर्चा है।

□□

पंचवीसइमं सयं

पच्चीसवाँ शतक

पच्चीसवें शतक के उद्देशकों का नाम निरूपण

१. लेसा य १ दव्व २ संठाण ३ जुम्म ४ पज्जव ५ नियंठ ६ समणा य ७।
ओहे ८ भवियाऽभविए ९—१० सम्मा ११ मिच्छे य १२ उद्देसा ॥१॥

[१ गाथार्थ] पच्चीसवें शतक के ये बारह उद्देशक हैं—(१) लेश्या, (२) द्रव्य, (३) संस्थान, (४) युग्म, (५) पर्यव, (६) निर्ग्रन्थ, (७) श्रमण, (८) ओघ, (९) भव्य, (१०) अभव्य, (११) सम्यग्दृष्टि और (१२) मिथ्यादृष्टि।

विवेचन—उद्देशकों का विशेषार्थ—पच्चीसवें शतक में बारह उद्देशक हैं, जिनके विशेषार्थ इस प्रकार हैं—(१) **लेश्या**—लेश्या आदि के सम्बन्ध में प्रथम उद्देशक है। (२) **द्रव्य**—जीवद्रव्य, अजीवद्रव्य से सम्बन्धित द्वितीय उद्देशक है। (३) **संस्थान**—परिमण्डल, वृत्त आदि छह संस्थानों के विषय में तृतीय उद्देशक है। (४) **युग्म**—कृतयुग्म आदि चार युग्मों (राशियों) के विषय में चतुर्थ उद्देशक है। (५) **पर्यव**—जीव-अजीव-पर्यव आदि से सम्बद्ध विवेचन वाला पंचम उद्देशक है। (६) **निर्ग्रन्थ**—पुलाकादि पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों का ३६ द्वारों के माध्यम से विवेचनयुक्त छठा उद्देशक हैं। (७) **श्रमण**—सामायिक आदि पांच प्रकार के संयतों का विविध पहलुओं से विवरणयुक्त सप्तम उद्देशक है। (८) **ओघ**—सामान्य नारकादि जीवों की उत्पत्ति से सम्बन्धित आठवाँ उद्देशक है। (९) **भव्य**—चातुर्गतिक भव्य जीवों की उत्पत्ति आदि से सम्बद्ध नौवाँ उद्देशक है। (१०) **अभव्य**—अभव्य जीवों की उत्पत्ति-सम्बन्धी दसवाँ उद्देशक है। (११) **सम्यग्दृष्टि**—चातुर्गतिक सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति से सम्बन्धित ११ वाँ उद्देशक है और (१२) **मिथ्यादृष्टि**—चातुर्गतिक मिथ्यादृष्टि जीवों की उत्पत्ति सम्बन्धी बारहवाँ उद्देशक है। इस प्रकार पच्चीसवें शतक में बारह उद्देशकों की वक्तव्यता है।[1]

□□

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ९६९
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र, पंचम अंग, चतुर्थ खण्ड (गुजराती अनुवाद), पृ. १८९

पढमो उद्देसओ : लेसा

प्रथम उद्देशक : लेश्या आदि का वर्णन

लेश्याओं के भेद, अल्पबहुत्व आदि का अतिदेशपूर्वक निरूपण

२. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वयासी—

[२] उस काल और उस समय में श्री गौतम स्वामी ने राजगृह में यावत् इस प्रकार पूछा—

३. कति णं भंते ! लेस्साओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! छल्लेसाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—कण्हलेस्सा जहा पढमसए बितिउद्देसए (स० १ उ० २ सु० १३) तहेव लेस्साविभागो अप्पाबहुगं च जाव चउव्विहाणं देवाणं चउव्विहाणं देवीणं मीसगं अप्पाबहुगं ति ।

[३ प्र.] भगवन् ! लेश्याएँ कितनी कही गई हैं ?

[३ उ.] गौतम ! छह लेश्याएँ कही गई हैं । यथा कृष्णलेश्या आदि । शेष वर्णन इसी शास्त्र के प्रथम शतक के द्वितीय उद्देशक (श. १, उ. २, सू. १३) में जिस प्रकार किया गया है, तदनुसार यहाँ भी लेश्याओं का विभाग, उनका अल्पबहुत्व, यावत् चार प्रकार के देव और चार प्रकार की देवियों के मिश्रित (सम्मिलित) अल्पबहुत्व-पर्यन्त जानना चाहिए ।

विवेचन—लेश्याओं का पुनः वर्णन क्यों—प्रश्न होता है कि प्रथम शतक में लेश्याओं के स्वरूप, प्रकार आदि का वर्णन किया गया है, फिर इस शतक के प्रथम उद्देशक में उसका पुनः वर्णन क्यों किया गया है ? वृत्तिकार समाधान करते हैं कि अन्य प्रकरण के साथ इस (लेश्या) का सम्बन्ध होने से उस प्रकरण के साथ लेश्या और उनके अल्पबहुत्व का कथन पुनः किया गया है । प्रज्ञापनासूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन मिलता है ।[1]

संसारी जीवों के चौदह भेदों का निरूपण

४. कतिविधा णं भंते ! संसारसमावन्नगा जीवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चोद्दसविहा संसारसमावन्नगा जीवा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमा अपज्जत्तगा १ सुहुमा पज्जत्तगा २ बायरा अपज्जत्तगा ३ बादरा पज्जत्तगा ४ बेइंदिया अपज्जत्तगा ५ बेइंदिया पज्जत्तगा ६ एवं तेइंदिया ७—८ एवं चउरिंदिया ९—१० असन्निपंचेंदिया अपज्जत्तगा ११ असन्निपंचेंदिया पज्जत्तगा १२ सन्निपंचिंदिया अपज्जत्तगा १३ सन्निपंचिंदिया पज्जत्तगा १४ ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५२

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्र खण्ड १, शतक १, उ. २, सूत्रं. १३, पृ. १०४

(ग) प्रज्ञापनासूत्र पद १७, उ. २, पत्र ३४३-३४९

[४ प्र.] भगवन् ! संसारसमापन्नक (संसारी) जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४ उ.] गौतम ! (संसारसमापन्नक जीव) चौदह प्रकार के कहे गए हैं । यथा—(१) सूक्ष्म अपर्याप्तक, (२) सूक्ष्म पर्याप्तक, (३) बादर अपर्याप्तक, (४) बादर पर्याप्तक, (५) द्वीन्द्रिय अपर्याप्तक, (६) द्वीन्द्रिय पर्याप्तक, (७) त्रीन्द्रिय अपर्याप्तक, (८) त्रीन्द्रिय पर्याप्तक, (९-१०) चतुरिन्द्रिय अपर्याप्तक-पर्याप्तक, (११) असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक, (१२) असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक, (१३) संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्तक और (१४) संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तक ।

विवेचन—सूक्ष्म और बादर का स्वरूप और विशेषार्थ—सूक्ष्म—सूक्ष्मनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म हो, अर्थात् असंख्य शरीर एकत्रित होने पर भी जो चक्षुरिन्द्रिय का विषय न हो, उसे सूक्ष्मशरीर कहते हैं । **बादर**—बादरनामकर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर बादर अर्थात् स्थूल हो, उन्हें बादर कहते हैं । **पर्याप्तक-अपर्याप्तक-लक्षण—पर्याप्तक**—जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं, जब वह उतनी पर्याप्तियाँ पूर्ण कर लेता है, तब उसे 'पर्याप्तक' कहते हैं । स्पष्ट शब्दों में कहें तो एकेन्द्रिय (पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय) जीव आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास—इन चार पर्याप्तियों को पूर्ण कर लेने पर, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय उक्त चार पर्याप्तियाँ और पांचवी भाषापर्याप्ति पूरी कर लेने पर तथा संज्ञी-पंचेन्द्रिय उपर्युक्त पाँच पर्याप्तियाँ तथा छठी मनपर्याप्ति पूर्ण कर लेने पर 'पर्याप्तक' कहलाते हैं । जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हो पाई हों, अथवा जो स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूरी होने से पहले ही मरने वाला हो, वह अपर्याप्तक कहलाता है । अपर्याप्त अवस्था में मरने वाला जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके चौथी श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति अधूरी रहने पर ही मरता है, पहले नहीं, क्योंकि सभी सांसारिक जीव आगामी भव की आयु बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं तथा आयुष्य का बन्ध भी उन्हीं जीवों के होता है, जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय पर्याप्तियाँ पूरी कर ली हों ।

एकेन्द्रिय के चार भेद—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्तक और अपर्याप्त, ये चार भेद एकेन्द्रियों के होते हैं ।

द्वीन्द्रियादि के दो-दो भेद—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुररिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय के पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप से दो-दो भेद होते हैं । इस प्रकार १४ भेद सांसारिक जीवों के हुए ।[1]

जघन्य और उत्कृष्ट योग को लेकर संसारी जीवों का अल्पबहुत्व-निरूपण

५. एतेसि णं भंते ! चोद्दसविहाणं संसारसमावन्नगाणं जीवाणं जहन्नुक्कोसगस्स जोगस्स कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नए जोए १, बादरस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे २, बेंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ३, एवं तेइंदियस्स० ४,

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३१९३-३१९४

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्रांक ८५३

एवं चउरिंदियस्स० ५, असन्निस्स पंचेंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ६, सन्निस्स पंचेंदियस्स अपज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ७, सुहुमस्स पज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ८, बादरस्स पज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ६, सुहुमस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १०, बायरस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ११, सुहुमस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १२, बादरस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १३, बेंदियस्स पज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे १४, एवं तेंदियस्स १५, एवं जाव सन्निस्स पंचेंदियस्स पज्जत्तगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे १६—१८, बेंदियस्स अपज्जत्तगए उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे १६, एवं तेंदियस्स वि २०, एवं जाव सण्णिपंचेंदियस्स अपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २१—२३, बेंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २४, एवं तेइंदियस्स वि पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २५, चउरिंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २६, असन्निपंचिंदियपज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २७, एवं सण्णिस्स पंचिंदियस्स पज्जत्तगस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २८।

[५ प्र.] भगवन् ! इन चौदह प्रकार के संसार-समापन्नक जीवों में जघन्य और उत्कृष्ट योग की अपेक्षा से, कौन जीव, किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[५ उ.] गौतम ! १. अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय का जघन्य योग सबसे अल्प है, २. बादर अपर्याप्तक एकेन्द्रिय का जघन्य योग उससे असंख्यातगुना है, ३. उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ४. उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ५. उससे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ६. उससे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ७. उससे अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ८. उससे पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, ९. उससे पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, १०. उससे अपर्याप्तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, ११. उससे अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, १२. उससे पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, १३. उससे पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, १४. उससे पर्याप्त द्वीन्द्रिय का जघन्य योग असंख्यातगुना है, (१५-१६-१७-१८) उससे पर्याप्त त्रीन्द्रिय, पर्याप्त चतुरिन्द्रिय, पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का जघन्य का योग उत्तरोत्तर असंख्यातगुना है, १९. उससे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, (२०-२१-२२-२३) इसी प्रकार उससे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय, अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय, अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय और अपर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग उत्तरोत्तर असंख्यातगुना है, २४. उससे पर्याप्त द्वीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, २५. इसी प्रकार पर्याप्त त्रीन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, २६. उससे पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, २७. उससे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुना है, और २८. उससे भी पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है ।

विवेचन—जघन्य योग, उत्कृष्ट योग तथा अल्पबहुत्व—आत्मप्रदेशों के परिस्पन्दन (हलचल

या कम्पन) को 'योग' कहते हैं। वीर्यान्तिरायकर्म के क्षयोपशमादि की विचित्रता के कारण योग के पन्द्रह भेद होते हैं, जिनका विवेचन आगे सू. ८ में किया जाएगा। किसी-किसी जीव का योग, दूसरे जीव की अपेक्षा जघन्य (अल्प) होता है और किसी जीव की अपेक्षा उत्कृष्ट होता है। जीवों के उपर्युक्त चौदह भेदों से सम्बन्धित प्रत्येक के जघन्य और उत्कृष्ट योग होने से २८ भेद होते हैं। यहाँ जीवों का अल्पबहुत्व न कह कर योगों के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है। इनमें सबसे अल्प, सूक्ष्म अपर्याप्त एकेन्द्रिय का जघन्य-योग है, क्योंकि उन जीवों का शरीर सूक्ष्म और अपर्याप्त (अपूर्ण) होने के कारण दूसरे सभी जीवों के योगों की अपेक्षा उनका योग सबसे अल्प होता है और वह भी कार्मण शरीर द्वारा औदारिक शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय में ही होता है। तत्पश्चात् समय-समय पर योग में वृद्धि होती है, जो उत्तरोत्तर उत्कृष्ट योग तक बढ़ता है। पूर्वोक्त सूक्ष्म अपर्याप्त की अपेक्षा अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव का जघन्य योग असंख्यातगुण होता है। बादर होने के कारण उसका योग असंख्यातगुण बड़ा होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए।[1]

यद्यपि पर्याप्त त्रीन्द्रिय की उत्कृष्ट काया की अपेक्षा पर्याप्तक द्वीन्द्रियों की काया तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट काया, संख्यात योजन होने से संख्यातगुण ही होती है, तथापि यहाँ परिस्पन्दनरूप योग की विवक्षा होने से तथा क्षयोपशम-विशेष की सामर्थ्य से असंख्यात-गुण होने का कथन विरुद्ध नहीं है, क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि अल्पकाय वाले का परिस्पन्दन अल्प हो और महाकाय वाले का परिस्पन्दन बहुत हो, क्योंकि इससे विपरीत भी दृष्टिगोचर होता है। अल्पकाय वाले का परिस्पन्दन महान् भी होता है और महाकाय वाले का परिस्पन्दन अल्प भी होता है।[2]

आगे हम जघन्य और उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का यंत्र भी दे रहे हैं, जिससे स्पष्ट प्रतीत हो जाएगा कि महाकाय वाले का परिस्पन्दन अल्प और अल्पकाय वाले का महान् परिस्पन्द भी होता है।

प्रथम समयोत्पन्नक चतुर्विंशति दण्डकवर्ती दो जीवों का समयोगित्व-विषमयोगित्व-निरूपण

६. [१] दो भंते नेरतिया पढमसमयोववन्नगा किं समजोगी, विसमजोगी ?
गोयमा ! सिय समजोगी, सिय विसमजोगी।

[६-१ प्र.] भगवन् ! प्रथम समय में उत्पन्न दो नैरयिक समयोगी होते हैं या विषमयोगी ?

[६-१ उ.] गौतम ! कदाचित् समयोगी होते हैं और कदाचित् विषमयोगी होते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—सिय समजोगी, सिय विसमजोगी ?

गोयमा ! आहारयाओ वा से अणाहारए, अणाहारयाओ वा से आहारए सिय हीणे, सिय तुल्ले,

---

१. (क) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ७, पृ. ३२०१
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५३-८५४

२. वही, पत्र ८५३

जघन्य और उत्कृष्ट योग के अल्पबहुत्व का यंत्र

क्रम	जीव	जघन्य	उत्कृष्ट
१	सूक्ष्म एकेन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य १	उत्कृष्ट १०
२	सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य ८	उत्कृष्ट १२
३	बादर एकेन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य २	उत्कृष्ट ११
४	बादर एकेन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य ९	उत्कृष्ट १३
५	द्वीन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य ३	उत्कृष्ट १९
६	द्वीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य १४	उत्कृष्ट २४
७	त्रीन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य ४	उत्कृष्ट २०
८	त्रीन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य १५	उत्कृष्ट २५
९	चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य ५	उत्कृष्ट २१
१०	चतुरिन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य १६	उत्कृष्ट २६
११	असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य ६	उत्कृष्ट २२
१२	असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य १७	उत्कृष्ट २७
१३	संज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त	जघन्य ७	उत्कृष्ट २३
१४	संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त	जघन्य १८	उत्कृष्ट २८

[१]

सिय अब्भहिए । जदि हीणे असंखेज्जतिभागहीणे वा संखेज्जतिभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा । अह अब्भहिए असंखेज्जतिभागमब्भहिए वा संखेज्जतिभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा असंखेज्जगुणमब्भहिए वा । सेतेणट्ठेणं जाव सिय विसमजोगी ।

[६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि कदाचित् समयोगी और कदाचित् विषम-योगी होते हैं ?

[६-२ उ.] गौतम ! आहारक नारक से अनाहारक नारक और अनाहारक नारक से आहारक नारक कदाचित् हीनयोगी, कदाचित् तुल्ययोगी और कदाचित् अधिकयोगी होता है। (अर्थात्—आहारक नारक से अनाहारक नारक हीन योग वाला, अनाहारक से आहारक नारक अधिक योग वाला और दोनों अहारक या दोनों अनाहारक नारक परस्पर तुल्य योग वाले होते हैं।) यदि वह हीन योग वाला होता है तो असंख्यातवें भागहीन, संख्यातवें भागहीन, संख्यातगुणहीन या असंख्यातगुणहीन होता है। यदि अधिक योग वाला होता है तो असंख्यातवाँ भाग अधिक, संख्यातवाँ भाग अधिक, संख्यातगुण अधिक या असंख्यातगुण अधिक होता है। इस कारण से कहा गया है कि कदाचित् समयोगी और कदाचित् विषमयोगी भी होता है।

---

१. श्रीमद् भगवतीसूत्रम् चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवादसहित), पृ. १९९

७. एवं जाव वेमाणियाणं।

[७] इस प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए।

विवेचन—प्रथम समयोत्पन्नक—नरकक्षेत्र में प्रथम समय में उत्पन्न नैरयिक **'प्रथम समयोत्पन्नक'** कहलाता है। इस प्रकार के दो नारक, जिनकी उत्पत्ति विग्रहगति से, अथवा ऋजुगति से आकर, अथवा एक की विग्रहगति से और दूसरे की ऋजुगति से आकर हुई है, वे भी **'प्रथमसमयोत्पन्नक'** कहलाते हैं।[1]

समयोगी-विषमयोगी—जिन दो जीवों के योग समान हों, वे 'समयोगी' और जिनके विषम हों, वे 'विषमयोगी' कहलाते हैं।[2]

हीनयोगी, अधिकयोगी और तुल्ययोगी : कौन और कैसे?—आहारक नारक की अपेक्षा अनाहारक नारक हीन योग वाला होता है, क्योंकि जो नारक ऋजुगति से आकर आहारक रूप से उत्पन्न होता है, वह निरन्तर आहारक होने के कारण पुद्गलों से उपचित (वृद्धिगत) होता है, इस कारण अधिक योग वाला होता है। जो नारक विग्रहगति से आकर अनाहारक रूप से उत्पन्न होता है, वह अनाहारक होने से पुद्गलों से अनुपचित होता है, अतः हीनयोग वाला होता है। जो समान समय की विग्रहगति से आकर अनाहारकरूप से उत्पन्न होते हैं अथवा ऋजुगति से आकर आहारकरूप से उत्पन्न होते हैं, वे दोनों एक दूसरे की अपेक्षा तुल्ययोग वाले होते हैं। जो ऋजुगति से आकर आहारक उत्पन्न हुआ है, और दूसरा विग्रहगति से आकर अनाहारक उत्पन्न हुआ है, वह उसकी अपेक्षा उपचित होने से 'अत्यधिक विषमयोगी' होता है। सूत्र में हीनता और अधिकता का कथन किया गया है, वह सापेक्ष है। समानधर्मतारूप तुल्यता प्रसिद्ध होने से उसका पृथक् कथन नहीं किया गया है। किन्तु यह ध्यान रहे कि यहाँ परिस्पन्दन रूप योग की ही विवक्षा की गई है।[3]

योग के पन्द्रह भेदों का निरूपण

८. कतिविधे णं भंते! जोए पन्नत्ते?

गोयमा! पन्नरसविधे जोए पन्नत्ते तं जहा—सच्चमणजोए मोसमणजोए सच्चामोसमणजोए असच्चामोसमणजोए, सच्चवइजोए मोसवइजोए सच्चामोसवइजोए असच्चामोसवइजोए, ओरालियसरीरकायजोए ओरालियमीसासरीरकायजोए वेउव्वियसरीरकायजोए वेउव्वियमीसासरीरकायजोए आहारगसरीरकायजोए आहारगमीसासरीरकायजोगे, कम्मासरीरकायजोए १५।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२०१
 (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५४

२. वही, पत्र ८५४

३. (क) वही, पत्र ८५४
 (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ.-३२०१-३२०२

[८ प्र.] भगवन् ! योग कितने प्रकार का कहा गया है ?

[८ उ.] गौतम ! योग पन्द्रह प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) सत्य-मनोयोग, (२) मृषा-मनोयोग, (३) सत्यमृषा-मनोयोग, (४) असत्यामृषा-मनोयोग, (५) सत्य-वचनयोग, (६) मृषा-वचनयोग, (७) सत्यमृषा-वचनयोग, (८) असत्यामृषा-वचनयोग, (९) औदारिकशरीर-काययोग, (१०) औदारिकमिश्रशरीर-काययोग, (११) वैक्रियशरीर-काययोग, (१२) वैक्रियमिश्र-शरीरकाययोग, (१३) आहारकशरीर-काययोग, (१४) आहारकमिश्रशरीर-काययोग और (१५) कार्मण-शरीर-काययोग।

विवेचन—योग : परिभाषा और प्रकार—पूर्व सूत्रों में प्रयुक्त 'योग' शब्द परिस्पन्दन (हलचल) अर्थ में है, जबकि यहाँ 'योग' पारिभाषिक शब्द है, जो मन, वचन और काया से होने वाली चेष्टा (व्यापार) या प्रवृत्ति के अर्थ में है। ये योग ४ मन के निमित्त से, ४ वचन के निमित्त से और ७ काय के निमित्त से होते हैं, इसलिए वे १५ प्रकार के कहे गये हैं।[1]

पन्द्रह प्रकार के योगों में जघन्य-उत्कृष्ट योगों का अल्पबहुत्व

९. एयस्स णं भंते! पन्नरसविहस्स जहन्नुक्कोसगस्स जोगस्स कयरे कतरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा! सव्वत्थोवे कम्मगसरीरस्स जहन्नए जोए १, ओरालियमीसगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे २, वेउव्वियमीसगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ३, ओरालियसरीरस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ४, वेउव्वियसरीरस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ५, कम्मगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ६, आहारगमीसगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ७, तस्स चेव उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे ८, ओरालियमीसगस्स वेउव्विमीसगस्स य एएसि णं उक्कोसए जोए दोण्ह वि तुल्ले असंखेज्जगुणे ९-१०, असच्चामोसमणजोगस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे ११, आहारगसरीरस्स जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे १२; तिविहस्स मणजोगस्स, चउव्विहस्स वइजोगस्स, एएसि णं सत्तण्ह वि तुल्ले जहन्नए जोए असंखेज्जगुणे १३—१९; आहारगसरीरस्स उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २०; ओरालियसरीरस्स वेउव्वियसरीरस्स चउव्विहस्स य मणजोगस्स, चउव्विहस्स य वइजोगस्स, एएसि णं दसण्ह वि तुल्ले उक्कोसए जोए असंखेज्जगुणे २१-३०।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ पंचवीसइमे सते : पढमो उद्देसो समत्तो ॥ २५-१ ॥

[९ प्र.] भगवन् ! इन पन्द्रह प्रकार के योगों में, कौन किस योग से, जघन्य और उत्कृष्ट रूप से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[९ उ.] गौतम ! (१) कार्मण शरीर का जघन्य काययोग सबसे अल्प है, (२) उससे औदा-

---

१. (क) पाइअसद्दमहण्णवो, पृ. ३६३

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. २, पृ. ९७१

रिकमिश्र का जघन्य योग असंख्यातगुणा है, (३) उससे वैक्रियमिश्र का जघन्य योग असंख्यातगुणा है, (४) उससे औदारिकशरीर का जघन्य योग असंख्यातगुणा है, (५) उससे वैक्रियशरीर का जघन्य योग असंख्यातगुणा है, (६) उससे कार्मणशरीर का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है, (७) उससे आहारकमिश्र का जघन्य योग असंख्यातगुणा है, (८) उससे आहारकशरीर का उत्कृष्ट योग असंख्येयगुण है, (९-१०) उससे औदारिकमिश्र और वैक्रियमिश्र इन दोनों का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है, और दोनों परस्पर तुल्य हैं। (११) उससे असत्यामृषामनोयोग का जघन्य योग असंख्यातगुणा है। (१२) आहारकशरीर का जघन्य योग असंख्यातगुणा है। (१३ से १९ तक) उससे तीन प्रकार का मनोयोग और चार प्रकार का वचनयोग, इन सातों का जघन्य योग असंख्यातगुणा है और परस्पर तुल्य है। (२०) उससे आहारकशरीर का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है, (२१ से ३० तक) उससे औदारिकशरीर, वैक्रिय शरीर, चार प्रकार का मनोयोग और चार प्रकार का वचनयोग, इन दस का उत्कृष्ट योग असंख्यातगुणा है और परस्पर तुल्य है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।

॥ पच्चीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

बीओ उद्देसओ : 'दव्व'

द्वितीय उद्देशक : 'द्रव्य'

द्रव्यों के भेद-प्रभेद तथा दोनों प्रकार के द्रव्यों की अनन्तता की प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! दव्वा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा दव्वा पन्नत्ता, तं जहा—जीवदव्वा य अजीवदव्वा य।

[१ प्र.] भगवन् ! द्रव्य कितने प्रकार के कहे गए गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! द्रव्य दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—(१)—जीवद्रव्य और (२) अजीव-द्रव्य।

२. अजीवदव्वा णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—रूविअजीवदव्वा य, अरूविअजीवदव्वा य। एवं एएणं अभिलावेणं जहा अजीवपज्जवा जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति—ते णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[२ प्र.] भगवन् ! अजीवद्रव्य कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! अजीवद्रव्य दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—(१) रूपी अजीवद्रव्य और (२) अरूपी अजीवद्रव्य। इस प्रकार इस अभिलाप (सूत्रपाठ) द्वारा प्रज्ञापनासूत्र के पांचवें पद में कथित अजीव-पर्यवों के अनुसार, यावत्—हे गौतम ! इस कारण से कहा जाता है, कि अजीवद्रव्य संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं, तक जानना चाहिए।

३. [१] जीवदव्वा णं भंते ! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[३-१ प्र.] भगवन् ! क्या जीवद्रव्य संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[३-१ उ.] गौतम ! जीवद्रव्य संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जीवदव्वा णं नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! असंखेज्जा नेरइया जाव असंखेज्जा वाउकाइया, अणंता वणस्सतिकाइया, असंखिज्जा बेंदिया, एवं जाव वेमाणिया, अणंता सिद्धा, से तेणट्ठेणं जाव अणंता।

[३-२ प्र.] भगवन् ! यह क्यों कहते हैं कि जीवद्रव्य संख्यात, असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं ?

[३-२ उ.] गौतम ! नैरयिक असंख्यात हैं, यावत् वायुकायिक असंख्यात हैं और वनस्पति-

कायिक अनन्त हैं, द्वीन्द्रिय यावत् वैमानिक असंख्यात हैं तथा सिद्ध अनन्त हैं। इस कारण कहा जाता है कि ·· यावत् जीवद्रव्य अनन्त हैं।

विवेचन—प्रज्ञापनासूत्र का अतिदेश—यहाँ जो प्रज्ञापनासूत्र के पांचवें पद का अतिदेश किया गया है, वहाँ पांचवें पद में जीवपर्यव के पाठ हैं, वैसे अजीवपर्यव के पाठ भी हैं। यथा—(प्र.) भगवन् ! अरूपी अजीवद्रव्य कितने प्रकार के कहे गए हैं ? (उ.) गौतम ! वे दस प्रकार के कहे गए हैं। यथा—धर्मास्तिकाय····इत्यादि तथा (प्र.) रूपी अजीवद्रव्य कितने प्रकार के कहे गए हैं ? (उ.) गौतम ! वे चार प्रकार के कहे गए हैं। यथा—स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु। (प्र.) भगवन् ! अजीवद्रव्य क्या संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ? (उ.) गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात नहीं, अनन्त हैं। (प्र.) भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं कि रूपी अजीवद्रव्य संख्यात, असंख्यात नहीं, अनन्त हैं ? (उ.) गौतम ! परमाणु अनन्त हैं, द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक यावत् अनन्तप्रदेशिक स्कन्ध अनन्त हैं, इसलिए···· ।[1]

जीव और चौवीसदण्डगवर्ती जीवों की अजीवद्रव्य परिभोगतानिरूपण

४. [१] जीवदव्वाणं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीवदव्वाणं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! जीवदव्वाणं अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, नो अजीवदव्वाणं जीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति।

[४-१ प्र.] भगवन् ! अजीव-द्रव्य, जीवद्रव्यों के परिभोग में आते हैं, अथवा जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यों के परिभोग में आते हैं ?

[४-१ उ.] गौतम ! अजीवद्रव्य, जीवद्रव्यों के परिभोग में आते हैं, किन्तु जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यों के परिभोग में नहीं आते।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—जाव हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! जीवदव्वा णं अजीवदव्वे परियादियंति, अजीवदव्वे परियादिइत्ता ओरालियं वेउव्वियं आहारगं तेयगं कम्मगं सोतिंदियं जाव फासिंदियं मणजोग वइजोग कायजोग आणापाणुत्तं च निव्वत्तयंति, से तेणट्ठेणं जाव हव्वमागच्छंति।

[४-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से आप ऐसा कहते हैं कि यावत्—(जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यों के परिभोग के रूप में) नहीं आते ?

[४-२ उ.] गौतम ! जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यों को ग्रहण करते हैं। ग्रहण करके औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण—इन पांच शरीरों के रूप में, श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय—इन पांच इन्द्रियों के रूप में, मनोयोग, वचनयोग और काययोग तथा श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणमाते (निष्पन्न करते) हैं। हे गौतम ! इस कारण से ऐसा कहा जाता है कि अजीवद्रव्य, जीवद्रव्यों के परिभोग में आते हैं, किन्तु जीवद्रव्य, अजीवद्रव्यों के परिभोग में नहीं आते हैं।

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५५-५६ (ख) प्रज्ञापनापद ५, सू. ५०१-३, पृ. १५१ (मा. वि. प्रकाशन)

५. [१] नेरतियाणं भंते ! अजीवदव्वा परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति, अजीवदव्वाणं नेरतिया परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति ?

गोयमा ! नेरतियाणं अजीवदव्वा जाव हव्वमागच्छंति, नो अजीवदव्वाणं नेरतिया जाव हव्वमागच्छंति ।

[५-१ प्र.] भगवन् ! अजीवद्रव्य, नैरयिकों के परिभोग में आते हैं अथवा नैरयिक अजीवद्रव्यों के परिभोग में आते हैं ?

[५-१ उ.] गौतम ! अजीवद्रव्य, नैरयिकों के परिभोग में आते हैं, किन्तु नैरयिक, अजीवद्रव्यों के परिभोग में नहीं आते ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

गोयमा ! नेरतिया अजीवदव्वे परियादियंति, अजीवदव्वे परियादिइत्ता वेउव्विय-तेयग-कम्मग-सोतिंदिय जाव फासिंदिय जाव आणापाणुत्तं च निव्वत्तयंति । से तेणट्ठेणं गोतमा ! एवं वुच्चइ० ।

[५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से (ऐसा कहा जाता है कि यावत्....नैरयिक अजीवद्रव्यों के परिभोग में नहीं आते) ?

[५-२ उ.] गौतम ! नैरयिक, अजीवद्रव्यों को ग्रहण करते हैं । ग्रहण करके वैक्रिय, तैजस, कार्मणशरीर के रूप में, श्रोत्रेन्द्रिय यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में तथा यावत् श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करते हैं । हे गौतम ! इसी कारण से ऐसा कहा गया है ।

६. एवं जाव वेमाणिया, नवरं सरीर-इंदिय-जोगा भाणियव्वा जस्स जे अत्थि ।

[६] इसी प्रकार (असुरकुमारादि से लेकर) यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए । किन्तु विशेष यह हैं कि जिसके जितने शरीर, इन्द्रियां तथा योग हों, उतने यथायोग्य कहने चाहिए ।

विवेचन—जीवद्रव्य अजीवद्रव्यों का परिभोग करते हैं, क्यों और कैसे ?—जीवद्रव्य सचेतन हैं और अजीवद्रव्य अचेतन हैं, इसलिए जीवद्रव्य, पहले अजीवद्रव्यों को ग्रहण करते हैं, फिर उनको अपने शरीर, इन्द्रिय, योग और श्वासोच्छ्वास के रूप में परिणत करते हैं । यही उनका परिभोग है । अत: जीवद्रव्य या नैरयिकादि विशिष्ट जीवद्रव्य, परिभोक्ता है और अजीवद्रव्य परिभोग्य हैं । इस प्रकार जीवद्रव्यों और अजीवद्रव्यों में भोक्तृ-भोग्यभाव है ।[1]

असंख्येय लोक में अनन्त द्रव्यों की स्थिति

७. से नूणं भंते ! असंखेज्जे लोए अणंताइं दव्वाइं आगासे भइयव्वाइं ?

हंता, गोयमा ! असंखेज्जे लोए जाव भइयव्वाइं ।

[७ प्र.] भगवन् ! असंख्य लोकाकाश (लोक) में अनन्त द्रव्य रह सकते हैं ?

[७ उ.] हाँ गौतम ! असंख्यप्रदेशात्मक लोक (लोकाकाश) में अनन्त द्रव्य रह सकते हैं ।

---

१ (क) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२०६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५६

विवेचन—असंख्यलोकाकाश में अनन्त द्रव्यों का समावेश कैसे—प्रश्नकार का आशय यह है कि असंख्यप्रदेशात्मक लोकाकाश में अनन्तद्रव्य कैसे समा सकते हैं ? इसका समाधान यह है कि जैसे एक कमरा एक दीपक के प्रकाश के पुद्गलों से भरा हुआ है। उसमें दो, चार, दस, बीस आदि दीपक रख देने पर भी उनके प्रकाश के पुद्गलों का समावेश उसी में हो जाता है, उसके लिए अलग कमरे या स्थान की आवश्यकता नहीं रहती। पुद्गल परिणमन की ऐसी विचित्रता है। इसी प्रकार असंख्यप्रदेशात्मक लोकाकाश में द्रव्यों के तथाविध परिणामवश अनन्तद्रव्य समा जाते हैं। इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है और न उनमें परस्पर संघर्ष होता है। अतः असंख्यप्रदेशात्मक लोक में अनन्तद्रव्यों का अवस्थान हो सकता है।[1]

लोक के एक प्रदेश में पुद्गलों के चय-छेद-उपचय-अपचय का निरूपण

८. लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कतिदिसिं पोग्गला चिज्जंति ?

गोयमा ! निव्वाघातेणं छद्दिसिं; वाघातं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

[८ प्र.] भगवन् ! लोक के एक आकाशप्रदेश में कितनी दिशाओं से आकर पुद्गल एकत्रित होते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! निर्व्याघात से (व्याघात=प्रतिबन्ध न हो तो) छहों दिशाओं से तथा व्याघात की अपेक्षा—कदाचित् तीन दिशाओं से, कदाचित् चार दिशाओं से और कदाचित् पांच दिशाओं से (पुद्गल आकर एकत्रित होते हैं।)

९. लोगस्स णं भंते ! एगम्मि आगासपएसे कतिदिसिं पोग्गला छिज्जंति ?

एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! लोक से एक आकाशप्रदेश में एकत्रित पुद्गल कितनी दिशाओं से पृथक् होते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! यह भी पूर्व कथनानुसार समझना चाहिए।

१०. एवं उवचिज्जंति, एवं अवचिज्जंति।

[१०] इसी प्रकार (अन्य पुद्गलों के मिलने से) स्कन्ध के रूप में पुद्गल उपचित होते (बढ़ते) हैं और (पुद्गलों के अलग-अलग होने पर) अपचित होते (घटते) हैं।

विवेचन—चय, छेद, उपचय और अपचय का लक्षण—**चय**—बहुत-सी दिशाओं से आकर एक स्थान पर (एक आकाशप्रदेश में) इकट्ठा होना—समा जाना। **छेद**—एक आकाशप्रदेश में एकत्रित पुद्गलों का पृथक् हो जाना। **उपचय**—स्कन्धरूप पुद्गलों का दूसरे पुद्गलों के सम्पर्क से बढ़ जाना। **अपचय**—स्कन्धरूप पुद्गलों में से प्रदेशों के पृथक् हो जाने से उस स्कन्ध का कम हो जाना।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२०७
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५६

इन्हीं चार बातों के लिए शास्त्रकार ने चार शब्दों का उल्लेख किया है—चिज्जंति, छिज्जंति उवचिज्जंति, अवचिज्जंति।[1]

शरीरादि के रूप में स्थित-अस्थित द्रव्य-ग्रहण-प्ररूपणा

११. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं ओरालियसरीरत्ताए गेण्हइ ताइं किं ठियाइं गेण्हइ, अठियाइं गेण्हति ?

गोयमा ! ठियाइं पि गेण्हइ, अठियाइं पि गेण्हइ।

[११ प्र.] भगवन् ! जीव जिन पुद्गलद्रव्यों को औदारिक शरीर के रूप में ग्रहण करता है, क्या वह उन स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है या अस्थित द्रव्यों को ?

[११ उ.] गौतम ! वह स्थित द्रव्यों को भी ग्रहण करता है और अस्थित द्रव्यों को भी।

१२. ताइं भंते ! किं दव्वओ गेण्हइ, खेत्तओ गेण्हइ, कालओ गेण्हइ, भावतो गेण्हइ ?

गोयमा ! दव्वओ वि गेण्हति, खेत्तओ वि गेण्हइ, कालओ वि गेण्हइ, भावतो वि गेण्हइ। ताइं दव्वतो अणंतपएसियाइं दव्वाइं, खेत्ततो असंखेज्जपएसोगाढाइं, एवं जहा पण्णवणाए पढमे आहारुद्देसए जाव निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

[१२ प्र.] भगवन् ! (जीव) उन द्रव्यों को, द्रव्य से ग्रहण करता है या क्षेत्र से, काल से या भाव से ग्रहण करता है ?

[१२ उ.] गौतम ! वह उन द्रव्यों को, द्रव्य से भी ग्रहण करता है, क्षेत्र से भी, काल से भी और भाव से भी ग्रहण करता है। द्रव्य से—वह अनन्तप्रदेशी द्रव्यों को ग्रहण करता है, क्षेत्र से—असंख्येय-प्रदेशावगाढ द्रव्यों को ग्रहण करता है, इत्यादि, जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के प्रथम आहार-उद्देशक में कहा है, तदनुसार यहाँ भी यावत्—निर्व्याघात से छहों दिशाओं से और व्याघात हो तो कदाचित् तीन, कदाचित् चार और कदाचित् पांच दिशाओं से आए हुए पुद्गलों को ग्रहण करता है, (यहाँ तक कहना चाहिए।)

१३. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं वेउव्वियसरीरत्ताए गेण्हइ ताइं किं ठियाइं गेण्हति, अठियाइं गेण्हति ?

एवं चेव, नवरं नियमं छद्दिसिं।

[१३ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को वैक्रियशरीर के रूप में ग्रहण करता है, तो क्या वह स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है या अस्थित द्रव्यों को ?

[१३ उ.] गौतम ! इसी प्रकार पूर्ववत् समझना। विशेष यह है कि जिन द्रव्यों को वैक्रिय शरीर के रूप में ग्रहण करता है, वे नियम से छहों दिशाओं से आए हुए होते हैं।

१४. एवं आहारगसरीरत्ताए वि।

[१४] आहारकशरीर के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५६-८५७

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२०७-३२०८

१५. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं तेयगसरीरत्ताए गिण्हति० पुच्छा ।

गोयमा ! ठियाइं गेण्हइ, नो अठियाइं गेण्हइ । सेसं जहा ओरालियसरीरस्स ।

[१५ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को तैजसशरीर के रूप में ग्रहण करता है....? (इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा)

[१५ उ.] गौतम ! वह (तैजसशरीर के) स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थित द्रव्यों को नहीं । शेष औदारिकशरीर के सम्बन्ध में कथित वक्तव्यतानुसार समझना चाहिए ।

१६. कम्मगसरीरे एवं चेव जाव भावओ वि गिण्हति ।

[१६] कार्मणशरीर के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए; यावत् भाव से भी ग्रहण करता है ।

१७. जाइं दव्वाइं दव्वतो गेण्हति ताइं किं एगपएसियाइं गेण्हति, दुपएसियाइं गेण्हइ० ?

एवं जहा भासापदे जाव आणुपुव्वि गेण्हइ, नो अणाणुपुव्वि गेण्हति ।

[१७] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को द्रव्य से ग्रहण करता है, वे एक प्रदेश वाले ग्रहण करता है या दो प्रदेश वाले ग्रहण करता है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१७ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रज्ञापनासूत्र के ग्यारहवें भाषापद में कहा गया है, तदनुसार यावत् आनुपूर्वी से (क्रमपूर्वक) ग्रहण करता है या अनानुपूर्वी से (क्रमरहित) नहीं; यहाँ तक कहना ।

१८. ताइं भंते ! कतिदिसिं गेण्हति ?

गोयमा ! निव्वाघातेणं० जहा ओरालियस्स ।

[१८ प्र.] भगवन् ! जीव कितनी दिशाओं से आए हुए द्रव्य ग्रहण करता है ?

[१८ उ.] गौतम ! निर्व्याघात हो तो छहों दिशाओं से आए हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है, इत्यादि औदारिकशरीर से सम्बन्धित वक्तव्यानुसार कहना ।

१९. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं सोइंदियत्ताए गेण्हइ० ?

जहा वेउव्वियसरीरं ।

[१९ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को श्रोत्रेन्द्रिय रूप में ग्रहण करता है......? (इत्यादि प्रश्न पूर्ववत्) ।

[१९ उ.] गौतम ! वैक्रियशरीर-सम्बन्धी वक्तव्यता के समान ।

२०. एवं जाव जिब्भिंदियत्ताए ।

[२०] इसी प्रकार यावत् जिह्वेन्द्रिय-पर्यन्त जानना ।

२१. फासिंदियत्ताए जहा ओरालियसरीरं ।

[२१] स्पर्शेन्द्रिय के विषय में औदारिकशरीर के समान समझना चाहिए ।

२२. मणजोगत्ताए जहा कम्मगसरीरं, नवरं नियमं छद्दिसिं ।

[२२] कार्मणशरीर की वक्तव्यता के समान मनोयोग की वक्तव्यता समझनी चाहिए तथा नियम से छहों दिशाओं से आए हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है ।

२३. एवं वइजोगत्ताए वि ।

[२३] इसी प्रकार वचनयोग के द्रव्यों के विषय में भी समझना चाहिए ।

२४. कायजोगत्ताए जहा ओरालियसरीरस्स ।

[२४] काययोग के रूप में ग्रहण का कथन औदारिकशरीर विषयक कथनवत् है ।

२५. जीवे णं भंते ! जाइं दव्वाइं आणापाणुत्ताए गेण्हइ ?

जहेव ओरालियसरीरत्ताए जाव सिय पंचदिसिं ।

[२५ प्र.] भगवन् ! जीव जिन द्रव्यों को श्वासोच्छ्वास के रूप में ग्रहण करता है...? इत्यादि प्रश्न ।

[२५ उ.] गौतम ! औदारिकशरीर-सम्बन्धी कथन के समान इस विषय में कहना चाहिए, यावत् कदाचित् चार तथा कदाचित् पांच दिशा से आए हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है ।

२६. केयि चउवीसदंडएणं एयाणि पयाणि भणंति, जस्स जं अत्थि ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचवीसइमे सए : बितिओ उद्देसओ समत्तो ।। २५-२ ।।

[२६] कई आचार्य चौबीस दण्डकों पर इन पदों को कहते हैं, किन्तु जिसके जो (शरीर, इन्द्रिय, योग आदि) हो, वही उसके लिए यथायोग्य कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है'; यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—स्थितद्रव्य : अस्थितद्रव्य : परिभाषा—स्थितद्रव्य—जीव जितने आकाशक्षेत्र में रहा हुआ है, उसी क्षेत्र के अन्दर रहे हुए जो पुद्गलद्रव्य हैं, वे स्थितद्रव्य हैं, और उस क्षेत्र से बाहर रहे हुए द्रव्य अस्थितद्रव्य कहलाते हैं । वहाँ से आकर्षित करके जीव उन्हें ग्रहण करता है । इस विषय में किन्हीं आचार्यों का मत है कि गतिरहित द्रव्य स्थितद्रव्य और गतिसहित द्रव्य अस्थित द्रव्य कहलाते हैं ।[1]

वैक्रियशरीर द्वारा कितनी दिशाओं से द्रव्य-ग्रहण—वैक्रियशरीरी जीव वैक्रियशरीर के योग्य छहों दिशाओं से आए हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है, इस कथन का आशय यह है कि उपयोगपूर्वक वैक्रियशरीर धारण करने वाला जीव प्राय: पंचेन्द्रिय ही होता है और वह त्रसनाड़ी के मध्यभाग में होता है । इसलिए उसके छहों दिशाओं का आहार सम्भव है । कुछ आचार्यों के

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५७

मतानुसार—त्रसनाड़ी के बाहर भी वायुकाय के वैक्रियशरीर होता है, किन्तु अप्रधानता के कारण उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। कुछ आचार्यों का मत है कि तथाविध लोकान्त के निष्कुटों (कोणों) में वैक्रियशरीरी वायु नहीं होती।[१]

तैजसशरीर जीव के द्वारा अवगाढ क्षेत्र के भीतर रहे हुए द्रव्यों को ग्रहण करता है, उससे बाहर रहे हुए द्रव्यों को नहीं, क्योंकि उन्हें खींचने का स्वभाव उसमें नहीं है। अथवा वह स्थित द्रव्यों को ग्रहण करता है, अस्थित द्रव्यों को नहीं, क्योंकि उसका स्वभाव इसी प्रकार का होता है।[२]

चौदह दण्डक : चौदह पद—यहाँ पांच शरीर, पांच इन्द्रियाँ, तीन योग और श्वासोच्छ्वास; ये १४ पद हैं। इन चौदह पद-सम्बन्धी १४ दण्डक हैं, जिनका कथन यथायोग्य रूप से किया गया है। इसीलिए यहाँ कहा गया है—'केयि चउवीसदडएणं ¨।'[३]

॥ पच्चीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५७

२. वही, पत्र ८५८

३. वही पत्र ८५८

ततीओ उद्देसओ : 'संठाण'

तृतीय उद्देशक : 'संस्थान'

संस्थान के ६ भेदों का निरूपण

१. कति णं भंते ! संठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! छ संठाणा पन्नत्ता, तं जहा—परिमंडले वट्टे तंसे चउरंसे आयते अणित्थंथे।

[१ प्र.] भगवन् ! संस्थान कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! संस्थान छह प्रकार के कहे गए हैं। यथा—(१) परिमण्डल, (२) वृत्त, (३) त्र्यस्र, (४) चतुरस्र, (५) आयत और (६) अनित्थंस्थ।

विवेचन—संस्थान : प्रकार और स्वरूप—संस्थान का अर्थ है आकार। जीव के जैसे छह संस्थान होते हैं, वैसे अजीवद्रव्य के भी छह संस्थान होते हैं। प्रस्तुत में अजीवसम्बन्धी छह संस्थानों का निरूपण है। **परिमण्डल**—चूड़ी सरीखा गोलाकार। **वृत्त**—कुम्हार के चाक जैसा गोल आकार। **त्र्यस्र**—सिंघाड़े सरीखा त्रिकोण आकार। **चतुरस्र**—बाजोट-सा चतुष्कोण आकार। **आयत**—लकड़ी जैसा लम्बा आकार। **अनित्थंस्थ**—अनियत आकार यानी परिमण्डल आदि से भिन्न विचित्र प्रकार की आकृति।[1]

छह संस्थानों की द्रव्यार्थ तथा प्रदेशार्थ रूप से अनन्तता-प्ररूपणा

२. परिमंडला णं भंते ! संठाणा दव्वट्ठयाए किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[२ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?
[२ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं हैं, असंख्यात भी नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं।

३. वट्टा णं भंते ! संठाणा० ?

एवं चेव।

[३ प्र.] भगवन् ! वृत्त संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?
[३ उ.] गौतम ! ये भी पूर्ववत् (अनन्त) हैं।

४. एवं जाव अणित्थंथा।

[४] इसी प्रकार यावत् अनित्थंस्थ संस्थान-पर्यन्त जानना चाहिए।

५. एवं पदेसट्ठताए वि, एवं दव्वट्ठ-पदेसट्ठताए वि।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२१६

[५] इसी प्रकार प्रदेशार्थरूप से भी जानना चाहिए तथा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से भी ।

विवेचन—निष्कर्ष—सभी प्रकार के संस्थान द्रव्यार्थ प्रदेशार्थ तथा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ (उभय) रूप से अनन्त हैं ।

छह संस्थानों का द्रव्यार्थादि रूप से अल्पबहुत्व

६. एएसि णं भंते ! परिमंडल-वट्ट-तंस-चतुरंस-आयत-अणित्थंथाणं संठाणाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठताए दव्वट्ठ-पदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा परिमंडला संठाणा दव्वट्ठयाए, वट्टा संठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, चउरंसा संठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, तंसा संठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, आयता संठाणा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, अणित्थंथा संठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

पएसट्ठताए—सव्वत्थोवा परिमंडला संठाणा पएसट्ठयाए, वट्टा संठाणा पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, जहा दव्वट्ठयाए तहा पएसट्ठताए वि जाव अणित्थंथा संठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा परिमंडला संठाणा दव्वट्ठयाए, सो चेव दव्वट्ठतागमओ भाणियव्वो जाव अणित्थंथा संठाणा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा । अणित्थंथेहिंतो संठाणेहिंतो दव्वट्ठयाए, परिमंडला संठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा; वट्टा संठाणा पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, सो चेव पएसट्ठयाए गमओ भाणियव्वो जाव अणित्थंथा संठाणा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ।

[६ प्र.] भगवन् ! इन परिमण्डल, वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र आयत और अनित्थंस्थ संस्थानों में द्रव्यार्थरूप से, प्रदेशार्थरूप से और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से कौन संस्थान किन संस्थानों से अल्प, वहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[६ उ.] गौतम ! (१) द्रव्यार्थरूप से परिमण्डल-संस्थान सबसे अल्प हैं, (२) उनसे वृत्त-संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यातगुणा हैं, (३) उनसे चतुरस्र-संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यातगुणा हैं, (४) उनसे त्र्यस्र-संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यातगुणा हैं, (५) उनसे आयत-संस्थान द्रव्यार्थरूप से संख्यातगुणा हैं और (६) उनसे अनित्थंस्थ-संस्थान द्रव्यार्थरूप से असंख्यातगुणा हैं ।

प्रदेशार्थरूप से—(१) परिमण्डल-संस्थान प्रदेशार्थरूप से सबसे अल्प हैं, (२) उनसे वृत्त-संस्थान प्रदेशार्थरूप से संख्यातगुणा हैं, इत्यादि । जिस प्रकार द्रव्यार्थरूप से कहा गया है, उसी प्रकार प्रदेशार्थरूप से भी यावत्—'अनित्थंस्थ-संस्थान प्रदेशार्थरूप से असंख्यातगुणा हैं,' यहाँ तक कहना चाहिए ।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से—परिमण्डल-संस्थान द्रव्यार्थरूप से सबसे अल्प हैं, इत्यादि जो पाठ द्रव्यार्थ सम्बन्धी हैं, वही यहाँ द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से जानना चाहिए; यावत्—अनित्थंस्थ-संस्थान द्रव्यार्थरूप से असंख्यातगुणा हैं । द्रव्यार्थरूप अनित्थंस्थ-संस्थानों से, प्रदेशार्थरूप से परिमण्डल-संस्थान असंख्यातगुणा हैं; उनसे वृत्त-संस्थान प्रदेशार्थरूप से संख्यातगुणा हैं; इत्यादि, पूर्वोक्त प्रदेशार्थरूप का गमक, यावत् अनित्थंस्थ-संस्थान प्रदेशार्थरूप से असंख्यातगुणा हैं; यहाँ तक कहना चाहिए ।

विवेचन—संस्थानों की अवगाहना के अल्पबहुत्व का विचार—जो संस्थान जिस संस्थान की अपेक्षा बहुप्रदेशावगाही होता है, वह स्वाभाविकरूप से थोड़ा होता है। परिमण्डलसंस्थान जघन्य बीस प्रदेश की अवगाहना वाला होता है और वृत्त, त्र्यस्र, चतुरस्र और आयत संस्थान जघन्यतः अनुक्रम से पाँच, चार, तीन और दो प्रदेशावगाही होता है। इसलिए परिमण्डलसंस्थान बहुतर-प्रदेशावगाही होने से सबसे कम हैं, उनसे वृत्तादि संस्थान अल्प-अल्प प्रदेशावगाही होने से संख्यात-गुण अधिक-अधिक होते हैं। अनित्थंस्थसंस्थान वाले पदार्थ, परिमण्डलादि द्वयादि-संयोगी होने से उनसे बहुत अधिक हैं। इसलिए ये उन सबसे असंख्यातगुणा अधिक हैं।

प्रदेश की अपेक्षा अल्पबहुत्व भी इसी प्रकार है, क्योंकि प्रदेश द्रव्यों के अनुसार होते हैं और इसी प्रकार द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ-रूप से भी अल्पबहुत्व जानना चाहिए। किन्तु द्रव्यार्थरूप के अनित्थंस्थसंस्थान से परिमण्डलसंस्थान प्रदेशार्थरूप से असंख्यातगुणा हैं।[1]

कठिनशब्दार्थ—दव्वट्ठयाए—द्रव्यरूप अर्थ की अपेक्षा से। **पएसट्ठयाए**—प्रदेशरूप अर्थ की अपेक्षा से।[2]

संस्थानों के पांच भेद और उनकी अनन्तता का निरूपण

७, कति णं भंते ! संठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच संठाणा पन्नत्ता, तंजहा—परिमंडले जाव आयते।

[७ प्र.] भगवन् ! संस्थान कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[७ उ.] गौतम ! संस्थान पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—परिमण्डल (से लेकर) यावत् आयत तक।

८. परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[८ प्र.] भगवन् ! परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं, अथवा अनन्त हैं ?

[८ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

९. वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! वृत्तसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं, या अनन्त हैं ?

[९ उ.] (गौतम !) पूर्ववत् (अनन्त) हैं।

१०. एवं जाव आयता।

[१०] इसी प्रकार यावत् आयतसंस्थान तक जानना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५८

२. वही, पत्र ८५८

विवेचन—संस्थान के पांच ही भेद क्यों ?—इससे पूर्व संस्थान के छह भेदों की प्ररूपणा की गई है, किन्तु यहाँ रत्नप्रभादि के विषय में संस्थानों की प्ररूपणा करने की इच्छा से पुनः संस्थान सम्बन्धी प्रश्न किया गया है। छठा अनित्थंस्थसंस्थान अन्य संस्थानों के संयोग से होता है। इसलिए यहाँ छठे अनित्थंस्थसंस्थान की विवक्षा न होने से पांच ही संस्थान कहे हैं।[1]

संस्थानों की अनन्तता—पांचों ही संस्थान अनन्त हैं, संख्यातअसंख्यात नहीं।[2]

११. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[११ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[११ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

१२. वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[१२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी में वृत्तसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[१२ उ.] वे भी पूर्ववत् समझना।

१३. एवं जाव आयता।

[१३] इसी प्रकार यावत् आयत तक समझना।

१४. सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए परिमंडला संठाणा० ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! शर्कराप्रभापृथ्वी में परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१४ उ.] इसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना।

१५. एवं जाव आयता।

[१५] इसी प्रकार आगे यावत् आयत पर्यन्त (समझना चाहिए।)

१६. एवं जाव अहेसत्तमाए।

[१६] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक समझना चाहिए।

१७. सोहम्मे णं भंते ! कप्पे परिमंडला संठाणा० ?

एवं चेव।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८५९

२. वियाहपण्णत्ति सुत्तं (मूलपाठ आदि), पृ. ९७६

[१७ प्र.] भगवन् ! सौधर्मकल्प में परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न ।
[१७ उ.] पूर्ववत् समझना ।

१८. एवं जाव अच्चुते ।

[१८] (ईशान से लेकर) अच्युत तक इसी प्रकार कहना ।

१९. गेविज्जविमाणाणं भंते ! परिमंडला संठाणा० ?

एवं चेव ।

[१९ प्र.] भगवन् ! ग्रैवेयक विमानों में परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न ।
[१९ उ.] (गौतम !) पूर्ववत् जानना ।

२०. एवं अणुत्तरविमाणेसु ।

[२०] इसी प्रकार यावत् अनुत्तरविमानों के विषय में भी कहना चाहिए ।

२१. एवं ईसिपब्भाराए वि ।

[२१] इसी प्रकार यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी के विषय में भी पूर्ववत् जानना ।

विवेचन—निष्कर्ष—रत्नप्रभापृथ्वी से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक में परिमण्डलादि पांचों संस्थान अनन्त होते हैं, संख्यात, असंख्यात नहीं ।[1]

यवमध्यगत परिमण्डलादि संस्थानों की परस्पर अनन्तता की प्ररूपणा

२२. जत्थ णं भंते ! एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता ?

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता ।

[२२ प्र.] भगवन् ! जहाँ एक यवाकार (जौ के आकार) परिमण्डलसंस्थान है, वहाँ अन्य परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[२२ उ.] गौतम ! ये संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं ।

२३. वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा, असंखेज्जा० ?

एवं चेव ।

[२३ प्र.] भगवन् ! वृत्तसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?
[२३ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए ।

२४. एवं जाव आयता ।

[२४ प्र.] इसी प्रकार यावत् आयतसंस्थान तक जानना ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. ९७७

२५. जत्थ णं भंते ! एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा० ?

एवं चेव; वट्टा संठाणा० ?

एवं चेव।

[२५ प्र.] भगवन् ! जहाँ यवाकार एक वृत्तसंस्थान है, वहाँ परिमण्डलसंस्थान कितने हैं ?

[२५ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना।

[प्र.] जहाँ यवाकार अनेक वृत्तसंस्थान हों, वहाँ परिमण्डलसंस्थान कितने हैं ?

[उ.] पूर्ववत् समझना चाहिए।

२६. एवं जाव आयता।

[२६] इसी प्रकार वृत्तसंस्थान (से लेकर) यावत् आयतसंस्थान भी अनन्त हैं।

२७. एवं एक्केक्केणं संठाणेणं पंच वि चारेयव्वा।

[२७] इसी प्रकार एक-एक संस्थान के साथ पांचों संस्थानों के सम्बन्ध का विचार करना चाहिए।

सप्त नरकपृथ्वियों से लेकर ईषत्प्राग्भारापृथ्वी तक में पांचों यवमध्य संस्थानों में परस्पर अनन्तता-प्ररूपणा

२८. जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे परिमंडले संठाणे जवमज्झे तत्थ परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[२८ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में जहाँ एक यवमध्य (यवाकार) परिमण्डल-संस्थान है, वहाँ दूसरे (यवाकृति निष्पादक-परिमण्डल के सिवाय) परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[२८ उ.] गौतम ! वे संख्यात या असंख्यात नहीं हैं, किन्तु अनन्त हैं।

२९. वट्टा णं भंते ! संठाणा किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[२९ प्र.] भगवन् ! जहाँ यवाकार एक वृत्तसंस्थान है वहाँ परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[२९ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए।

३०. एवं जाव आयता।

[३०] इसी प्रकार यावत् आयत-पर्यन्त समझना।

३१. जत्थ णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए एगे वट्टे संठाणे जवमज्झे तत्थ णं परिमंडला संठाणा किं संखेज्जा० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[३१ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में जहाँ यवाकार एक वृत्तसंस्थान है, वहाँ परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[३१ उ.] गौतम ! वे संख्यात या असंख्यात नहीं, किन्तु अनन्त हैं ।

३२. वट्टा संठाणा ?

एवं चेव ।

[३२ प्र.] भगवन् ! जहाँ यवाकर अनेक वृत्तस्थान हैं, वहाँ परिमण्डलसंस्थान संख्यात हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[३२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना ।

३३. एवं जाव आयता ।

[३३] इसी प्रकार यावत् आयत तक जानना ।

३४. एवं पुणरवि एक्केक्केणं संठाणेणं पंच वि चारेतव्वा जहेव हेट्ठिल्ला जाव आयतेणं ।

[३४] यहाँ फिर पूर्ववत् प्रत्येक संस्थान के साथ पांचों संस्थानों का आयतसंस्थान तक विचार करना चाहिए ।

३५. एवं जाव अहेसत्तमाए ।[1]

[३५] इसी प्रकार (आगे शर्कराप्रभापृथ्वी से लेकर) यावत् अध:सप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए ।

३६. एवं कप्पेसु वि जाव ईसीपब्भाराए पुढवीए ।[2]

[३६] इसी प्रकार कल्पों (देवलोकों) यावत् ईषत्प्राग्भारापृथ्वी-पर्यन्त के विषय में जानना चाहिए ।

विवेचन—परिमण्डलसंस्थान विषयक विश्लेषण—यह समग्र लोक परिमण्डलसंस्थान वाले पुद्गलस्कन्धों से निरंतर व्याप्त है । उनमें से तुल्यप्रदेशवाले, तुल्यप्रदेशावगाही और तुल्यवर्णादि पर्याय वाले जो-जो परिमण्डल द्रव्य हों, उन सबको कल्पना से एक-एक पंक्ति में स्थापित करना चाहिए । उसके ऊपर और नीचे एक-एक जाति वाले परिमण्डलद्रव्यों को एक-एक पंक्ति में स्थापित करना चाहिए । इस प्रकार इनमें अल्पबहुत्व होने से परिमण्डलसंस्थान का समुदाय यवाकार बनता है । इनमें जघन्य-प्रदेशिक द्रव्य स्वभावत: अल्प होने से प्रथम पंक्ति छोटी होती है और उसके बाद की पंक्तियाँ अधिक-अधिकतर प्रदेश वाली होने से क्रमश: बड़ी और अधिक बड़ी होती हैं । इसके पश्चात् क्रमश: घटते-घटते अन्त में उत्कृष्ट प्रदेश वाले द्रव्य अत्यन्त अल्प होने से अंतिम पंक्ति अत्यन्त छोटी होती है । इस प्रकार तुल्यप्रदेश वाले और उससे भिन्न परिमण्डल द्रव्यों द्वारा यवाकार क्षेत्र बनता है ।

---

१. पाठान्तर—[प्र.] सक्करप्पभाए णं भंते ! पुढवीए परिमंडला संठाणा० ?
[उ.] एवं चेव । एवं जाव—आयया । एवं जाव अहेसत्तमाए ।

२. [प्र.] सोहम्मे णं भंते ! कप्पे परिमंडला संठाणा० ? [उ.] एवं चेव । एवं जाव—अच्चुए ।
[प्र.] गेवेज्जविमाणाणं भंते ! परिमंडलसंठाणा० ?
[उ.] एवं चेव । एवं अणुत्तरविमाणेसु वि । एवं ईसिप्पभाराए वि ॥ —श्रीमद्भगवतीसूत्र खण्ड ४, पृ. २०५

जहाँ एक यवाकृतिनिष्पादक परिमण्डलसंस्थान-समुदाय होता है, उस क्षेत्र में यवाकारनिष्पादक परिमण्डल के सिवाय दूसरे परिमण्डलसंस्थान कितने होते हैं ? यह प्रश्न किया गया है, जिसका उत्तर दिया गया है—वे परिमण्डलसंस्थान अनन्त-अनन्त होते हैं। इसी प्रकार वृत्तादि संस्थानों के विषय में भी समझना चाहिए।[1]

कठिन शब्दार्थ—जवमज्झे—यवमध्य—यवाकार।[2]

पांच संस्थानों में प्रदेशतः अवगाहना-निरूपण

३७. वट्टे णं भंते ! संठाणे कतिपएसिए, कतिपएसोगाढे पन्नत्ते ?

गोयमा ! वट्टे संठाणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—घणवट्टे य, पयरवट्टे य। तत्थ णं जे से पयरवट्टे से दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पंचपएसिए, पंचपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे। तत्थ णं जे जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बारसपएसिए, बारसपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्ज-पदेसोगाढे। तत्थ णं जे से घणवट्टे से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तपएसिए, सत्तपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बत्तीसपएसिए, बत्तीसपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते।

[३७ प्र.] भगवन् ! वृत्तसंस्थान कितने प्रदेश वाला है और कितने आकाशप्रदेशों में अवगाढ़-रहा हुआ है ?

[३७ उ.] गौतम ! वृत्तसंस्थान दो प्रकार का कहा है। वह इस प्रकार—घनवृत्त और प्रतरवृत्त। इनमें जो प्रतरवृत्त हैं, वह दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। इनमें से ओज-प्रदेशिक प्रतरवृत्त जघन्य पंच-प्रदेशिक और पाँच आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्यात आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ है और जो युग्मप्रदेशिक प्रतरवृत्त है, वह जघन्य बारह प्रदेश वाला और बारह आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्यात आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है।

घनवृत्तसंस्थान दो प्रकार का कहा गया है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। ओज-प्रदेशिक जघन्य सात प्रदेश वाला और सात आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशों वाला और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है। युग्म-प्रदेशिक घनवृत्त-संस्थान जघन्य बत्तीस प्रदेशों वाला और बत्तीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशों वाला और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है।

३८. तंसे णं भंते ! संठाणे कतिपएसिए कतिपएसोगाढे पन्नत्ते ?

गोयमा ! तंसे णं संठाणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—घणतंसे य पयरतंसे य। तत्थ णं जे से

१. श्रीमद्भगवतीसूत्रम् चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवाद), पृ. २०५

२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२१९

पयरतंसे से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं तिपएसिए, तिपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए, छप्पएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते। तत्थ णं जे से घणतंसे से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपदेसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणतीसपएसिए पणतीसपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तं चेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउप्पएसिए चउप्पदेसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तं चेव।

[३८ प्र.] भगवन्! त्र्यस्रसंस्थान कितने प्रदेश वाला और कितने आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ कहा गया है?

[३८ उ.] गौतम! त्र्यस्रसंस्थान दो प्रकार का कहा है। यथा—घनत्र्यस्र और प्रतरत्र्यस्र। उनमें से जो प्रतरत्र्यस्र है, वह दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। ओज-प्रदेशिक जघन्य तीन प्रदेश वाला और तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशों वाला और असंख्यात आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है। उनमें से जो घनत्र्यस्र है, वह दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। ओज-प्रदेशिक घनत्र्यस्र जघन्य पैंतीस प्रदेशों वाला और पैंतीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है। युग्म-प्रदेशिक घनत्र्यस्र जघन्य चार प्रदेशों वाला और चार आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्यात आकाश-प्रदेशों में अवगाढ़ होता है।

३९. चउरंसे णं भंते! संठाणे कतिपदेसिए० पुच्छा।

गोयमा! चउरंसे संठाणे दुविहे पन्नत्ते, भेदो जहेव वट्टस्स जाव तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं नवपएसिए, नवपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं चउपएसिए, चउपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तं चेव। तत्थ णं जे से घणचउरंसे से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं सत्तावीसतिपएसिए, सत्तावीसतिपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तहेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं अट्ठपएसिए, अट्ठपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तहेव।

[३९ प्र.] भगवन्! चतुरस्रसंस्थान कितने प्रदेश वाला और कितने आकाश-प्रदेशों में अवगाढ होता है?

[३९ उ.] गौतम! चतुरस्रसंस्थान दो प्रकार का कहा है। यथा—घन-चतुरस्र और प्रतर-चतुरस्र, इत्यादि, वृत्तसंस्थान के समान, उनमें से प्रतर-चतुरस्र के दो भेद—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक कहना। यावत् ओज-प्रदेशिक प्रतर-चतुरस्र जघन्य नौ प्रदेश वाला और नौ आकाशप्रदेशों में अवगाढ़ तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। युग्म-प्रदेशिक

प्रतरचतुरस्र जघन्य चार प्रदेश वाला और चार आकाशप्रदेशों में अवगाढ तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय प्रदेशों में अवगाढ होता है। घन-चतुरस्र दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। ओज-प्रदेशिक घन-चतुरस्र जघन्य सत्ताईस प्रदेशों वाला और सत्ताईस आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। युग्म-प्रदेशिक घन-चतुरस्र जघन्य आठ प्रदेशों वाला और आठ आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है।

४०. आयते णं भंते ! संठाणे कतिपएसिए कतिपदेसोगाढे पन्नत्ते ?

गोयमा ! आयते णं संठाणे तिविधे पन्नत्ते, तं जहा—सेढिआयते, पयरायते, घणायते। तत्थ णं जे से सेढिआयते से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपदेसिए य जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं तिपएसिए, तिपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, तं चेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं दुपएसिए दुपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंत० तहेव। तत्थ णं जे से पयरायते से दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पन्नरसपएसिए, पन्नरसपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंत० तहेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं छप्पएसिए, छप्पएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंत० तहेव। तत्थ णं जे से घणायते से दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—ओयपएसिए य, जुम्मपएसिए य। तत्थ णं जे से ओयपएसिए से जहन्नेणं पणयालीसपदेसिए पणयालीसपदेसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंत० तहेव। तत्थ णं जे से जुम्मपएसिए से जहन्नेणं बारसपएसिए बारसपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंत० तहेव।

[४० प्र.] भगवन् ! आयतसंस्थान कितने प्रदेश वाला और कितने आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है ?

[४० उ.] गौतम ! आयतसंस्थान तीन प्रकार का कहा है। यथा—श्रेणीआयत, प्रतरआयत और घनआयत। श्रेणीआयत दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। उनमें से जो ओज-प्रदेशिक है, वह जघन्य तीन प्रदेशों वाला और तीन आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। जो युग्म-प्रदेशिक है, वह जघन्य दो प्रदेश वाला और दो आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है, तथा उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशिक और असंख्यात-प्रदेशावगाढ होता है। उनमें से जो प्रतरआयत होता है, वह दो प्रकार का कहा है। यथा—ओज-प्रदेशिक और युग्म-प्रदेशिक। जो ओज-प्रदेशिक है, वह जघन्य पन्द्रह आकाश-प्रदेशों में अवगाढ होता है। तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। जो युग्म-प्रदेशिक है, वह जघन्य छह प्रदेश वाला और छह आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है, तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाश-प्रदेशों में अवगाढ होता है। उनमें से जो घनआयत है, वह दो प्रकार का कहा है। यथा—ओजप्रदेशिक और युग्मप्रदेशिक। जो ओजप्रदेशिक है, वह जघन्य पैंतालीस प्रदेशों वाला और पैंतालीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है, तथा उत्कृष्ट अनन्त-प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। जो

युग्म-प्रदेशिक है, वह जघन्य बारह प्रदेशों वाला और बारह आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशिक और असंख्येय प्रदेशों में अवगाढ होता है।

४१. परिमंडले णं भंते ! संठाणे कतिपएसिए० पुच्छा।

गोयमा ! परिमंडले णं संठाणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—घणपरिमंडले य पयरपरिमंडले य। तत्थ णं जे से पयरपरिमंडले से जहन्नेणं वीसतिपएसिए वीसतिपएसोगाढे; उक्कोसेणं अणंतपए० तहेव। तत्थ णं जे से घणपरिमंडले से जहन्नेणं चत्तालीसतिपएसिए, चत्तालीसतिपएसोगाढे पन्नत्ते; उक्कोसेणं अणंतपएसिए, असंखेज्जपएसोगाढे पन्नत्ते।

[४१ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान कितने प्रदेशों वाला है और कितने आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है ?

[४१ उ.] गौतम ! परिमण्डल-संस्थान दो प्रकार का कहा है। यथा—घन-परिमण्डल और प्रतर-परिमण्डल। उनमें जो प्रतर-परिमण्डल है, वह जघन्य बीस प्रदेश वाला और बीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है, तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशिक और असंख्येय आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है। उनमें जो घन-परिमण्डल है, वह जघन्य चालीस प्रदेशों वाला और चालीस आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है तथा उत्कृष्ट अनन्त प्रदेशिक और असंख्यात आकाशप्रदेशों में अवगाढ होता है।

विवेचन—परिमण्डल का कथन पहले क्यों नहीं—पांच संस्थानों में प्रथम परिमण्डल संस्थान है, उसका कथन पहले किया जाना चाहिए, किन्तु यहाँ परिमण्डल को छोड़कर 'वृत्त', 'त्र्यस्र' आदि क्रम से कथन किया गया है। उसका कारण यह है कि इन चारों में सम-प्रदेशों और विषम-प्रदेशों का कथन होने से सभी में प्रायः समानता है। इसलिए पहले इनका कथन और बाद में परिमण्डल का कथन किया गया है। अथवा सूत्र का क्रम विचित्र होने से इस प्रकार का कथन किया है।[1]

ओज और युग्म की परिभाषा—एक, तीन, पांच आदि विषम (एकीवाली) संख्या को 'ओज' कहते हैं और दो, चार, छः आदि सम (बेकी वाली—जोड़े वाली) संख्या को 'युग्म' कहते हैं।

घनवृत्त और प्रतरवृत्त का स्वरूप—लड्डू अथवा गेंद के समान जो गोल हो, उसे 'घनवृत्त' कहते हैं, और मण्डक—(पकाया हुआ एक प्रकार का अन्न) के समान, जो गोल होने पर भी मोटाई में कम हो, उसे 'प्रतरवृत्त' कहते हैं।

प्रतरवृत्त और घनवृत्त का रेखाचित्र—ओजप्रदेशी प्रतरवृत्त में दो प्रदेश ऊपर, एक प्रदेश बीच में और दो प्रदेश नीचे होते हैं। यथा—

युग्मप्रदेशी प्रतरवृत्त—में बारह प्रदेश होते हैं, जिनमें दो प्रदेश ऊपर, उससे नीचे चार प्रदेश, उसके नीचे फिर चार प्रदेश और उसके नीचे दो प्रदेश होते हैं यथा—

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६१
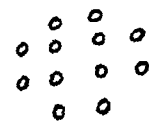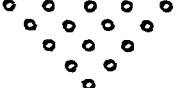
ओजप्रदेशी घनवृत्त—में सात प्रदेश होते हैं। एक मध्य परमाणु के ऊपर एक परमाणु और नीचे भी एक परमाणु तथा उसके चारों ओर चार परमाणु होते हैं।
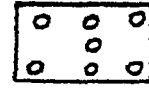
युग्मप्रदेशी घनवृत्त—में बत्तीस प्रदेश होते हैं। उनमें से दो ऊपर, चार नीचे, फिर चार नीचे और उनके नीचे दो प्रदेश स्थापित करने चाहिए। उसके ऊपर इसी प्रकार का बारह प्रदेशों का दूसरा प्रतर रखना चाहिए और दोनों प्रतरों के मध्यभाग के चार प्रदेशों के ऊपर दूसरे चार प्रदेश ऊपर और चार प्रदेश नीचे रखना चाहिए।

	२	२	
२	४	४	२
२	४	४	२
	२	२	
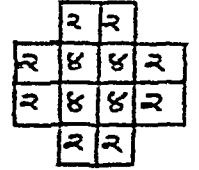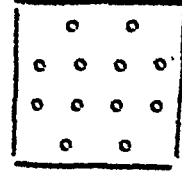
ओज-प्रदेशिक घनत्र्यस्त्र—यह पैंतीस प्रदेशों का होता है। उसमें प्रथम इस प्रकार १५ प्रदेशों के प्रतर पर दूसरे दस प्रदेशों का प्रतर पर तीसरे छह प्रदेशों का प्रतर ——उस पर चौथा तीन प्रदेशों का प्रतर और उस पर एक परमाणु (प्रदेश) ० रखना चाहिए। घनत्र्यस्त्र के चार भेदों में से तीसरे भेद का यह आकार दिया है। शेष तीन भेदों का कथन अर्थ में दे दिया गया है।

चित्र संख्या (१) ओजप्रदेशी घनत्र्यस्त्र का समुच्चय में आकार इस प्रकार है। चित्र संख्या (२) युग्मप्रदेशी घनत्र्यस्त्र। चित्र संख्या (३) ओजप्रदेशी प्रतरत्र्यस्त्र। चित्र संख्या (४) युग्मप्रदेशी प्रतरत्र्यस्त्र।
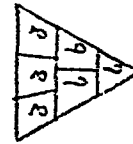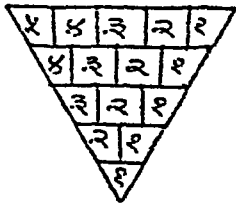
चित्र १.

चित्र २.

चित्र ३.

चित्र ४.

ओजप्रदेशी घनचतुरस्त्र आदि चार भेद—ओ. प्र. घन-चतुरस्त्र २७ प्रदेशों का होता है। नौ प्रदेशों का प्रतर रखकर उस पर उसी प्रकार के दो प्रतर और रखने चाहिए।

३	३	३
३	३	३
३	३	३
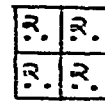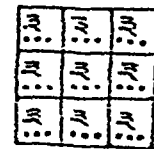
युग्मप्रदेशी घनचतुरस्त्र ८ प्रदेशों का है जो चतुष्प्रदेशी प्रतर के ऊपर दूसरा चतुष्प्रदेशी प्रतर रखने से होता है।

२	२
२	२

इनके ऊपर न रखने से क्रमशः ओ. प्र. प्रतरचतुरस्त्र और यु. प्र. प्रतरचतुरस्त्र संस्थान क्रमशः ९ और ४ प्रदेशों का होता है। यथा—
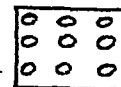
तथा
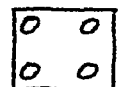
श्रेणी-आयत संस्थान—प्रदेशों की लम्बी श्रेणी को श्रेणी-आयत कहते हैं। जघन्य ओज-प्रदेशी श्रेणी-आयत संस्थान तीन प्रदेशात्मक होता है—|०००| तथा युग्मप्रदेश श्रेणी-आयत द्विप्रदेशिक होता है—|० ०|।

प्रतर-आयत : द्विविध—दो, तीन इत्यादि विष्कम्भ-श्रेणिरूप प्रतर-आयत कहलाता है। **ओजप्रदेशिक प्रतर-आयत**—जघन्य १५ प्रदेशों का है, यथा—|ooooo ooooo ooooo| और युग्म-प्रदेशी प्रतर आयत ६ प्रदेशों का होता है—|ooo ooo|।

घन-आयत : द्विविध—मोटाई और विष्कम्भसहित अनेक श्रेणियों को घन-आयत कहते हैं। **ओजप्रदेशिक घन-आयत** पन्द्रह प्रकार के पूर्वोक्त प्रतर-आयत पर दूसरे दो उसी प्रकार के प्रतर-आयत रखने से जघन्य ४५ प्रदेशों का ओजप्रदेशिक घन-आयत होता है। यथा—

३	३	३	३	३
३	३	३	३	३
३	३	३	३	३

युग्मप्रदेशिक घन-आयत—छह प्रदेशों के युग्म प्रदेशिक प्रतर-आयत के ऊपर उसी प्रकार का दूसरा प्रतर-आयत रखने से १२ प्रदेशों का युग्मप्रदेशिक घन-आयत होता है—

२	२	२
२	२	२

परिमण्डल-संस्थान : द्विविध—युग्म-प्रदेशिक—परि-मण्डल-संस्थान केवल युग्म-प्रदेशिक होता है। इनमें से प्रतर-परि-मण्डल जघन्य २० प्रदेशों का होता है। यथा—

उसके ऊपर दूसरा प्रतर-परिमण्डल रखने से जघन्य ४० प्रदेशों का घन-परिमण्डल होता है।[1] यथा—

पंच संस्थानों में एकत्व-बहुत्वदृष्टि से द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थता की अपेक्षा कृतयुग्मादि निरूपण

४२. परिमंडले णं भंते ! संठाणे दव्वट्ठताए किं कडजुम्मे, तेयोए, दावरजुम्मे, कलियोए ?

गोयमा ! नो कडजुम्मे, णो तेयोए, णो दावरजुम्मे, कलियोए।

[४२ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म है, त्र्योज है, द्वापरयुग्म है अथवा कल्योज है ?

[४२ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म नहीं, त्र्योज नहीं, द्वापरयुग्म भी नहीं, किन्तु कल्योज है।

४३. वट्टे णं भंते ! संठाणे दव्वट्ठताए० ?

एवं चेव।

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६१-८६२

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२२८-३२२९

(ग) भगवती. उपक्रम (परिशिष्ट) पृ. ५६०-५६१

[४३ प्र.] भगवन् ! वृत्त-संस्थान द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न ।
[४३ उ.] गौतम ! (इसका कथन भी) पूर्ववत् जानना ।

४४. एवं जाव आयते ।

[४४] इसी प्रकार यावत् आयत-संस्थान पर्यन्त जानना ।

४५. परिमंडला णं भंते ! संठाणा दव्वट्ठताए किं कडजुम्मा, तेयोगा० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघाएसेणं सिय कडजुम्मा, सिय तेयोगा, सिय दावरजुम्मा, सिय कलियोगा । विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, कलिओगा ।

[४५ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परिमण्डल-संस्थान द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म हैं, त्र्योज हैं या कल्योज हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! ओघादेश से—(सामान्यतः सर्वसमुदितरूप से) कदाचित् कृतयुग्म, कदाचित् त्र्योज, कदाचित् द्वापरयुग्म और कदाचित् कल्योज होते हैं । विधानादेश से—(प्रत्येक की अपेक्षा से) कृतयुग्म नहीं, त्र्योज नहीं, द्वापरयुग्म नहीं, किन्तु कल्योज हैं ।

४६. एवं जाव आयता ।

[४६] इसी प्रकार यावत् (अनेक) आयत-संस्थान तक जानना चाहिए ।

४७. परिमंडले णं भंते ! संठाणे पदेसट्ठताए किं कडजुम्मे० पुच्छा ।
गोयमा ! सिय कडजुम्मे, सिय तेयोगे, सिय दावरजुम्मे, सिय कलियोगे ।

[४७ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न ।

[४७ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म है, कदाचित् त्र्योज है, कदाचित् द्वापरयुग्म है, और कदाचित् कल्योज है ।

४८. एवं जाव आयते ।

[४८] इसी प्रकार यावत् आयत-संस्थान पर्यन्त जानना चाहिए ।

४९. परिमंडला णं भंते ! संठाणा पदेसट्ठताए किं कडजुम्मा० पुच्छा ।
गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा । विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि, तेयोगा वि, दावरजुम्मा वि, कलियोगा वि ।

[४९ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परिमण्डल-संस्थान प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[४९ उ.] गौतम ! ओघादेश से—वे कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज होते हैं । विधानादेश से वे कृतयुग्म भी हैं, त्र्योज भी हैं, द्वापरयुग्म भी हैं और और कल्योज भी हैं ।

५०. एवं जाव आयता ।

[५०] इसी प्रकार यावत् (अनेक) आयत-संस्थान तक जानना चाहिए ।

विवेचन—परिमण्डलादि संस्थान का द्रव्यरूप से विचार—परिमण्डल-संस्थान द्रव्यरूप से एक है और एक वस्तु का चार-चार से अपहार (भाग) नहीं होता। इस कारण एकत्व के विचार करने में कृतयुग्मादि का व्यपदेश नहीं होता, क्योंकि एक ही शेष रहता है, अतः वह कल्योजरूप है। इसी प्रकार वृत्तादि संस्थान के विषय में भी समझना चाहिए।

सामान्य रूप से परिमण्डलादि संस्थान का विचार—सामान्य रूप से यदि सभी परिमण्डल आदि संस्थानों का विचार करते हैं तब उनका चार-चार से अपहार करते हुए किसी समय कुछ भी बाकी नहीं रहता, कदाचित् तीन, कदाचित् दो और कदाचित् एक शेष रहता है। इसलिए कदाचित् कृतयुग्म होते हैं, यावत् कदाचित् कल्योज भी होते हैं। जब विधानादेश से—अर्थात्—विशेष दृष्टि से समुदित संस्थानों में से एक-एक संस्थान का विचार किया जाता है, तब चार से अपहार न होने के कारण एक ही शेष रहता है। अतः वह कल्योज रूप होता है।[1]

प्रदेशार्थरूप से परिमण्डलादि संस्थान का विचार—जब परिमण्डलादि संस्थान का प्रदेशार्थ रूप से विचार किया जाता है, तब बीस आदि क्षेत्रप्रदेशों में जो प्रदेश परिमण्डलादि संस्थानरूप से व्यवस्थित होते हैं, उनकी अपेक्षा से बीस आदि प्रदेशों का कथन किया जाता है। उन प्रदेशों में चार-चार का अपहार करते हुए जब चार शेष रहते हैं, तब कृतयुग्म होते हैं। जब तीन शेष रहते हैं, तब त्र्योज होते हैं, दो शेष रहने पर द्वापरयुग्म और एक शेष रहने पर कल्योज होता है, क्योंकि एक प्रदेश पर भी बहुत से अणु अवगाढ होते हैं[2]

कठिन शब्दार्थ—ओघादेसेणं—ओघादेश से—सामान्यतया सर्वसमुदित रूप से। **विहाणादेसेणं**—विधानादेश से—एक-एक की अपेक्षा से।[3]

पांच संस्थानों में यथायोग्य कृतयुग्मादि प्रदेशावगाह-प्ररूपणा

५१. परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मपएसोगाढे जाव कलियोगपएसोगाढे ?

गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, नो तेयोगपदेसोगाढे, नो दावरजुम्मपएसोगाढे, नो कलियोग-पएसोगाढे।

[५१ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है, त्र्योज-प्रदेशावगाढ है, द्वापर-युग्म-प्रदेशावगाढ है, अथवा कल्योज-प्रदेशावगाढ है ?

[५१ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है किन्तु न तो त्र्योज-प्रदेशावगाढ है, न ही द्वापर-युग्म-प्रदेशावगाढ है और न कल्योज-प्रदेशावगाढ है।

५२. वट्टे णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्म० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मपदेसोगाढे, सिय तेयोगपएसोगाढे, नो दावरजुम्मपदेसोगाढे, सिय कलियोगपएसोगाढे।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६३

२. (क) वही, पत्र ८६३

(ख) भगवती (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२२१

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६३

[५२ प्र.] भगवन् ! वृत्त-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५२ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है, कदाचित् त्र्योज-प्रदेशावगाढ है और कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ है, किन्तु द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं होता ।

५३. तंसे णं भंते ! संठाणे० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे, सिय तेयोगपदेसोगाढे, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, नो कलियोगपएसोगाढे ।

[५३ प्र.] भगवन् ! त्र्यस्र-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५३ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ, कदाचित् त्र्योज-प्रदेशावगाढ और कदाचित् द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ होता है, किन्तु कल्योज-प्रदेशावगाढ नहीं होता ।

५४. चउरंसे णं भंते ! संठाणे०, ?

जहा वट्टे तहा चतुरंसे वि ।

[५४ प्र.] भगवन् ! चतुरस्र-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार वृत्त-संस्थान के विषय में कहा है, उसी प्रकार चतुरस्र-संस्थान के विषय में भी जानना चाहिए ।

५५. आयते णं भंते ! पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे जाव सिय कलियोगपएसोगाढे ।

[५५ प्र.] भगवन् ! आयत-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[५५ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होता है और यावत् कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ होता है ।

५६. परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा, तेयोगपएसोगाढा० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोगपदेसोगाढा, नो दावरजुम्मपदेसोगाढा, नो कलियोगपदेसोगाढा ।

[५६ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परिमण्डल-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं, त्र्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[५६ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से तथा विधानादेश से भी कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं, किन्तु न तो त्र्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं, न द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और न कल्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं ।

५७. वट्टा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मपएसोगाढा० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघाएसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोगपदेसोगाढा, नो दावरजुम्मपदेसोगाढा, नो कलियोगपएसोगाढा; विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि तेयोगपएसोगाढा वि, नो दावरजुम्मपएसोगाढा, कलियोगपएसोगाढा वि ।

[५७ प्र.] भगवन् ! (अनेक) वृत्त-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं ? इत्यादि पृच्छा।

[५७ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं, किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ या कल्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ भी हैं, त्र्योज-प्रदेशावगाढ भी हैं, किन्तु द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं हैं, हाँ, कल्योज-प्रदेशावगाढ हैं।

५८. तंसा णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्म० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोगपदेसोगाढा, नो दावरजुम्मपदेसोगाढा, नो कलियोगपएसोगाढा; विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि, तेयोगपएसोगाढा वि, नो दावरजुम्मपएसोगाढा, कलियोगपएसोगाढा वि।

[५८ प्र.] भगवन् ! (अनेक) त्र्यस्र-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[५८ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं किन्तु न तो त्र्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं, न द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं और न ही कल्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं।

५९. चउरंसा जहा वट्टा।

[५९] चतुरस्र-संस्थानों के विषय में वृत्त-संस्थानों के समान कहना चाहिए।

६०. आयता णं भंते ! संठाणा० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा, नो तेयोगपदेसोगाढा, नो दावरजुम्मपदेसोगाढा, नो कलिओगपदेसोगाढा; विहाणादेसेणं कडजुम्मपदेसोगाढा वि जाव कलियोगपएसोगाढा वि।

[६० प्र.] भगवन् ! (अनेक) आयत-संस्थान कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं ?, इत्यादि प्रश्न।

[६० उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं, किन्तु न तो त्र्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं, न ही द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं और न कल्योज-प्रदेशावगाढ होते हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ भी होते हैं, यावत् कल्योज-प्रदेशावगाढ भी होते हैं।

विवेचन—परिमण्डलादि संस्थानों का अवगाहनसम्बन्धी निरूपण—अवगाह के विषय में कथन करते हुए परिमण्डल-संस्थान बीस प्रदेशावगाढ बताया गया है। बीस में चार का अपहार करते हुए चार शेष रहते हैं, अतः वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होता है। इसी प्रकार आगे भी कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ, त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और कल्योज-प्रदेशावगाढ के विषय में भी यथायोग्य समझना चाहिए।

परिमण्डल आदि संस्थानों का पहले एकवचन-सम्बन्धी विचार किया गया है, बाद में बहुवचन-सम्बन्धी निरूपण है। उसमें भी ओघादेश और विधानादेश—ये दो भेद किये गए हैं। सामान्यतः सर्व-समुदायरूप कथन 'ओघादेश' है और पृथक्-पृथक् विचार 'विधानादेश' है। इसके कथन में जो कृतयुग्म आदि का परिमाण बनता है, वह वस्तुस्वरूप होने से उस-उस प्रकार का कृतयुग्म, त्र्योज आदि परिमाण बनता है।[1]

---

१. भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भाग ७, पृ. ३२३७-३८

इस प्रकरण के सू. ५१ से ६० तक में एकवचन-बहुवचन की अपेक्षा से पंच संस्थानों का क्षेत्र सम्बन्धी विचार किया गया है।

परिमण्डलादि संस्थानों में कृतयुग्मादि समयस्थिति की प्ररूपणा

६१. परिमंडले णं भंते ! संठाणे किं कडजुम्मसमयट्ठितीए, तेयोगसमयट्ठितीए, दावरजुम्मसमयट्ठितीए, कलियोगसमयट्ठितीए ?

गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीए जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीए।

[६१ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है, त्र्योज-समय की स्थिति वाला है, द्वापरयुग्म-समय की स्थिति वाला है या कल्योज-समय की स्थिति वाला है ?

[६१ उ.] गौतम ! कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है, यावत् कदाचित् कल्योज-समय की स्थिति वाला है।

६२. एवं जाव आयते।

[६२] इस प्रकार यावत् आयत-संस्थान पर्यन्त जानना।

६३. परिमंडला णं भंते ! संठाणा किं कडजुम्मसमयट्ठितीया० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीया; विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव कलियोगसमयट्ठितीया वि।

[६३ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परिमण्डल-संस्थान कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[६३ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं यावत् कदाचित् कल्योज- समय की स्थिति वाले हैं। विधानादेश से कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले भी हैं, यावत् कल्योज-समय की स्थिति वाले भी हैं।

६४. एवं जाव आयता।

[६४] इसी प्रकार यावत् आयत-संस्थान तक जानना चाहिए।

विवेचन—परिमण्डलादि संस्थानों का काल की अपेक्षा विचार—आशय यह है कि परिमण्डलादि संस्थानों से परिणत स्कन्ध कितने काल तक ठहरते हैं और उन समयों में चतुष्कादि का अपहार करने पर कितने शेष बचते हैं, जिससे वे कृतयुग्मादि संख्या वाले बनते हैं।[1]

पांच संस्थानों में वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श की अपेक्षा कृतयुग्मादिप्ररूपणा

६५. परिमंडले णं भंते ! संठाणे कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे जाव कलियोगे ?

गोयमा ! सिय कडजुम्मे, एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ठितीए।

[६५ प्र.] भगवन् ! परिमण्डल-संस्थान के काले वर्ण के पर्याय क्या कृतयुग्म हैं, यावत् कल्योज रूप हैं ?

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२३८

[६५ उ.] गौतम ! वे कदाचित् कृतयुग्मरूप होते हैं, इत्यादि जिस प्रकार पूर्वोक्त पाठ से स्थिति के सम्बन्ध में कहा है, उसी प्रकार यहाँ कहना ।

६६. एवं नीलवण्णपज्जवेहि वि ।

[६६] इसी प्रकार नीले वर्ण के पर्यायों के विषय में समझना चाहिए ।

६७. एवं पंचहि वण्णेहिं, दोहिं गंधेहिं, पंचहिं रसेहिं, अट्ठहिं फासेहिं जाव लुक्खफासपज्जवेहिं ।

[६७] इसी प्रकार पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श के विषय में, यावत् रूक्ष-स्पर्शपर्याय तक कहना चाहिए ।

विवेचन—प्रस्तुत दो सूत्रों (६५-६६) में पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस और आठ स्पर्श, इन बीस बोलों की अपेक्षा से कृतयुग्म आदि का विचार किया गया है ।

विविध दिग्वर्ती श्रेणियों की द्रव्यार्थ से यथायोग्य संख्यात-असंख्यात-अनन्तता की प्ररूपणा

६८. सेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ, अणंताओ ?

गोयमा ! नो संखेज्जाओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ ।

[६८ प्र.] भगवन् ! (आकाश-प्रदेश की) श्रेणियाँ द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[६८ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं ।

६९. पाईणपडीणायताओ णं भंते ! सेढीओ दव्वट्ठयाए० ?

एवं चेव ।

[६९ प्र.] भगवन् ! पूर्व और पश्चिम दिशा में लम्बी श्रेणियां द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[६९ उ.] गौतम ! वे पूर्ववत् (अनन्त) हैं ।

७०. एवं दाहिणुत्तरायताओ वि ।

[७०] इसी प्रकार दक्षिण और उत्तर में लम्बी श्रेणियों के विषय में भी जानना चाहिए ।

७१. एवं उड्डमहायताओ वि ।

[७१] इसी प्रकार ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी श्रेणियों के विषय में भी जानना चाहिए ।

७२. लोयागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठताए किं संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ, अणंताओ ?

गोयमा ! नो संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ, नो अणंताओ ।

[७२ प्र.] भगवन् ! लोकाकाश की श्रेणियाँ द्रव्यार्थ रूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[७२ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, अनन्त भी नहीं, किन्तु असंख्यात हैं ।

७३. पाईणपडीणायताओ णं भंते ! लोयागाससेढीओ दव्वट्ठताए किं संखेज्जाओ० ?

एवं चेव।

[७३ प्र.] भगवन् ! पूर्व और पश्चिम में लम्बी लोकाकाश की श्रेणियाँ द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[७३ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (असंख्यात) हैं।

७४. एवं दाहिणुत्तरायताओ वि।

[७४] इसी प्रकार दक्षिण और उत्तर में लम्बी लोकाकाश की श्रेणियों के विषय में समझना चाहिए ?

७५. एवं उड्ढमहायताओ वि।

[७५] इसी प्रकार ऊर्ध्व और अधो दिशा में लम्बी लोकाकाश की श्रेणियों के सम्बन्ध में जानना।

७६. अलोयागाससेढीओ णं भंते ! दव्वट्ठताए किं संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ।

[७६ प्र.] भगवन् ! अलोकाकाश की श्रेणियाँ द्रव्यार्थरूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं ?

[७६ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

७७. एवं पाईणपडीणायताओ वि।

[७७] इसी प्रकार पूर्व और पश्चिम में लम्बी अलोकाकाकाश-श्रेणियों के विषय में भी समझना चाहिए।

७८. एवं दाहिणुत्तरायताओ वि।

[७८] दक्षिण और उत्तर में लम्बी अलोकाकाश-श्रेणियों सम्बन्धी कथन भी इसी प्रकार है।

७९. एवं उड्ढमहायताओ वि।

[७९] ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी अलोकाकाश की श्रेणियाँ भी इसी प्रकार हैं।

विवेचन—श्रेणी : स्वरूप, प्रकार और संख्यातादि निरूपण—यद्यपि श्रेणी पंक्तिमात्र को कहते हैं, तथापि यहाँ श्रेणी शब्द से आकाशप्रदेश की पंक्तियाँ विवक्षित हैं। श्रेणी के सामान्यतया यहाँ चार प्रकार बताए हैं—(१) लोकाकाश या अलोकाकाश की विवक्षा किये बिना सामान्य श्रेणी (२) पूर्व और पश्चिम में, दक्षिण और उत्तर में तथा ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी श्रेणी, (३) लोकाकाश-सम्बन्धी पूर्वोक्त चार श्रेणियाँ और (४) अलोकाकाश-सम्बन्धी पूर्वोक्त चार प्रकार की श्रेणियाँ। द्रव्यार्थरूप से सामान्य आकाशप्रदेश की श्रेणियाँ अनन्त हैं। लोकाकाश की श्रेणियाँ असंख्यात हैं,

क्योंकि लोकाकाश असंख्यात-प्रदेशात्मक ही है। अलोकाकाश की श्रेणियाँ अनन्त हैं, क्योंकि अलोकाकाश अनन्त-प्रदेशात्मक है।[1]

श्रेणियों तथा लोक-अलोकाकाशश्रेणियों में प्रदेशार्थ से यथायोग्य संख्यातादि प्ररूपणा

८०. सेढीओ णं भंते ! पएसट्ठयाए किं संखेज्जाओ० ?

जहा दव्वट्ठयाए तहा पदेसट्ठयाए वि जाव उड्ढमहायताओ, सव्वाओ अणंताओ।

[८० प्र.] भगवन् ! आकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थरूप से संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं ?

[८० उ.] गौतम ! द्रव्यार्थता की वक्तव्यता के समान प्रदेशार्थता की वक्तव्यता; यावत् ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी सभी श्रेणियाँ अनन्त हैं; यहाँ तक कहना चाहिए।

८१. लोयागाससेढीओ णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं संखेज्जाओ० पुच्छा।

गोयमा ! सिय संखेज्जाओ, सिय असंखेज्जाओ, नो अणंताओ।

[८१ प्र.] भगवन् ! लोकाकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थरूप से संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८१ उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात और कदाचित् असंख्यात हैं, किन्तु अनन्त नहीं हैं।

८२. एवं पादीणपडीणायताओ वि, दाहिणुत्तरायताओ वि।

[८२] पूर्व और पश्चिम में लम्बी श्रेणियाँ तथा उत्तर और दक्षिण में लम्बी श्रेणियाँ भी इसी प्रकार हैं।

८३. उड्ढमहायताओ नो संखेज्जाओ, असंखेज्जाओ, नो अणंताओ।

[८३] ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी लोकाकाश की श्रेणियाँ संख्यात नहीं और अनन्त भी नहीं, किन्तु असंख्यात हैं।

८४. अलोयागाससेढीओ णं भंते ! पएसट्ठताए० पुच्छा।

गोयमा ! सिय संखेज्जाओ, सिय असंखेज्जाओ, सिय अणंताओ।

[८४ प्र.] भगवन् ! अलोकाकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थरूप से संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८४ उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात हैं, कदाचित् असंख्यात हैं और कदाचित् अनन्त हैं।

८५. पाईणपडीणायताओ णं भंते ! अलोयागाससेढीओ० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ।

[८५ प्र.] भगवन् ! पूर्व और पश्चिम में लम्बी अलोकाकाश की श्रेणियाँ (प्रदेशार्थ रूप से) संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८५ उ.] गौतम ! वे संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८६५

८६. एवं दाहिणुत्तरायताओ वि।

[८६] इसी प्रकार दक्षिण और उत्तर में लम्बी (अलोकाकाश-श्रेणियाँ प्रदेशार्थ रूप से) समझनी चाहिए।

८७. उड्ढमहायताओ० पुच्छा।

गोयमा ! सिय संखेज्जाओ, सिय असंखेज्जाओ, सिय अणंताओ।

[८७ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी (अलोकाकाश-श्रेणियाँ प्रदेशार्थ रूप से) संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८७ उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात हैं, कदाचित् असंख्यात हैं और कदाचित् अनन्त हैं।

विवेचन—प्रदेशार्थ रूप से श्रेणियों के प्रदेश—सू. ८१-८२ में पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण में लम्बी **लोकाकाश** की श्रेणियाँ प्रदेशार्थरूप से संख्यात तथा असंख्यात हैं, इस विषय में चूर्णिकार का आशय यह है कि वृत्ताकार लोक के दन्तक, जो अलोक में गए हुए हैं, उनकी श्रेणियाँ संख्यात-प्रदेशात्मक हैं तथा अन्य श्रेणियाँ असंख्यात-प्रदेशात्मक हैं। प्राचीन टीकाकार का कथन है कि लोकाकाश वृत्ताकार होने से पर्यन्तवर्ती श्रेणियाँ संख्यात-प्रदेश की होती हैं। वे अनन्त नहीं, क्योंकि लोकाकाश के प्रदेश अनन्त नहीं हैं।

लोकाकाश की ऊर्ध्वलोक से अधोलोक-पर्यन्त ऊर्ध्व और अधो लम्बी श्रेणी असंख्यातप्रदेश की है, किन्तु संख्यात या अनन्त प्रदेश की नहीं हैं। अधोलोक के कोण से या ब्रह्मदेवलोक के तिरछे प्रान्त-भाग से जो श्रेणियाँ निकलती हैं, वे भी इस सूत्र के कथनानुसार संख्यात प्रदेश की नहीं होतीं किन्तु असंख्यात प्रदेश की ही होती हैं।

अलोकाकाश की संख्यात और असंख्यात प्रदेश की जो श्रेणियाँ कही हैं, वे लोकमध्यवर्ती क्षुल्लक प्रतर के निकट आई हुई, ऊर्ध्व—अधो लम्बी अधोलोक की श्रेणियों की अपेक्षा से समझनी चाहिए। इनमें से जो प्रारम्भ में आई हुई श्रेणियाँ हैं, वे संख्यात-प्रदेशी हैं और उसके पश्चात् आई हुई श्रेणियां असंख्यात-प्रदेशी हैं। तिरछी लम्बी अलोकाकाश की श्रेणियाँ तो अनन्तप्रदेशात्मक ही होती हैं।[1]

सामान्य श्रेणियों तथा लोक-अलोकाकाशश्रेणियों में यथायोग्य सादि-सान्तादिप्ररूपणा

८८. सेढीओ णं भंते ! किं सादीयाओ सपज्जवसियाओ, सादीयाओ अपज्जवसिताओ, अणादीयाओ सपज्जवसियाओ, अणादीयाओ अपज्जवसियाओ ? गोयमा ! नो सादीयाओ सपज्जवसियओ, नो सादीयाओ अपज्जवसियाओ, नो अणादीयाओ सपज्जवसियाओ, अणादीयाओ अपज्जवसियाओ।

[८८ प्र.] भगवन् ! क्या श्रेणियाँ सादि-सपर्यवसित (आदि और अन्त-सहित) हैं, अथवा सादि-अपर्यवसित (आदि-सहित और अन्त-रहित) हैं या वे अनादि-सपर्यवसित (आदि-रहित और अन्तसहित) हैं, अथवा अनादि-अपर्यवसित (आदि और अन्त से रहित) हैं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६५ (ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (गुज. अनु.) खण्ड ४, पृ. २११-१२

[८८ उ.] गौतम ! वे न तो सादि-सपर्यवसित हैं, न सादि-अपर्यवसित हैं और न अनादि-सपर्यवसित हैं, किन्तु अनादि-अपर्यवसित हैं।

८९. एवं जाव उड्ढमहायताओ।

[८९] इसी प्रकार का कथन यावत् ऊर्ध्व और अधोदिशा में लम्बी श्रेणियों के विषय में भी जानना चाहिए।

९०. लोयागाससेढीओ णं भंते ! किं सादीयाओ सपज्जवसियाओ० पुच्छा।

गोयमा ! सादीयाओ सपज्जवसियाओ, नो सादीयाओ अपज्जवसियाओ, नो अणादीयाओ सपज्जवसियाओ, नो अणादीयाओ अपज्जवसियाओ।

[९० प्र.] भगवन् ! लोकाकाश की श्रेणियाँ सादि-सपर्यवसित हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९० उ.] गौतम ! वे सादि-सपर्यवसित (आदि-अन्त सहित) हैं, किन्तु न तो सादि-अपर्यवसित हैं, न अनादि-सपर्यवसित हैं और न ही अनादि-अपर्यवसित हैं।

९१. एवं जाव उड्ढमहायताओ।

[९१] इसी प्रकार का कथन यावत् ऊर्ध्व और अधो लंबी लोकाकाश-श्रेणियों के विषय में समझना चाहिए।

९२. अलोयागाससेढीओ णं भंते ! किं सादीयाओ० पुच्छा।

गोयमा ! सिय सादीयाओ सपज्जवसियाओ, सिय सादीयाओ अपज्जवसियाओ, सिय अणादीयाओ सपज्जवसियाओ, सिय अणादीयाओ अपज्जवसियाओ।

[९२ प्र.] भगवन् ! अलोकाकाश की श्रेणियाँ सादि-सपर्यवसित हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९२ उ.] गौतम ! वे कदाचित् सादि-सपर्यवसित हैं, कदाचित् सादि-अपर्यवसित हैं, कदाचित् अनादि-सपर्यवसित हैं और कदाचित् अनादि-अपर्यवसित हैं।

९३, पाईणपडीणायताओ दाहिणुत्तरायताओ य एवं चेव, नवरं नो सादीयाओ सपज्जवसियाओ, सिय सादीयाओ अपज्जवसियाओ, सेसं तं चेव।

[९३] पूर्व-पश्चिम लम्बी तथा दक्षिण-उत्तर लम्बी अलोकाकाश-श्रेणियाँ भी इसी प्रकार समझनी चाहिए। किन्तु इनमें विशेषता यह है कि ये सादि-सपर्यवसित नहीं हैं और कदाचित् सादि-अपर्यवसित हैं। शेष सब पूर्ववत् है।

९४. उड्ढमहायताओ जहा ओहियाओ तहेव चउभंगो।

[९४] ऊर्ध्व और अधो लम्बी श्रेणियों के औधिक श्रेणियों के समान चार भंग जानने चाहिए।

विवेचन—श्रेणियों में सादि-अनादित्व प्ररूपणा—किसी भी प्रकार के विशेषण से रहित सामान्य श्रेणियों में चार भंगों में से अनादि-अपर्यवसित भंग पाया जाता है, शेष तीन भंग नहीं पाए जाते। लोकाकाश की श्रेणियों में 'सादि-सपर्यवसित' भंग पाया जाता है, क्योंकि लोकाकाश परिमित

है। अलोकाकाश की श्रेणियों में चारों भंगों का सद्भाव बताया गया है। वह यों घटित हो सकता है—मध्यलोकवर्ती क्षुल्लकप्रतर के समीप आई हुई ऊर्ध्व-अधो लम्बी श्रेणियों की अपेक्षा प्रथम भंग—'सादि-सान्त' बनता है। लोकान्त से प्रारम्भ होकर चारों ओर जाती हुई श्रेणियों की अपेक्षा द्वितीय भंग—'सादि-अनन्त' बनता है। लोकान्त के निकट सभी श्रेणियों का अन्त होने से उनकी अपेक्षा तृतीय भंग—'अनादि-सान्त' घटित होता है। लोक को छोड़कर जो श्रेणियाँ हैं, उनकी अपेक्षा चतुर्थ भंग—'अनादि-अनन्त' घटित होता है।[1]

अलोक में तिरछी श्रेणियों का सादित्व होने पर भी सपर्यवसितत्व (सान्त) न होने से प्रथम भंग घटित नहीं होता, शेष तीन भंग घटित होते हैं।

सामान्य श्रेणियों तथा लोक-अलोकाकाशश्रेणियों में द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कृतयुग्मादि-प्ररूपणा

९५. सेढीओ णं भंते! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्माओ, तेओयाओ० पुच्छा।

गोयमा! कडजुम्माओ, नो तेयोयाओ, नो दावरजुम्माओ, नो कलियोगाओ।

[९५ प्र.] भगवन्! आकाश की श्रेणियाँ द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म हैं, त्र्योज हैं, द्वापरयुग्म हैं अथवा कल्योज रूप हैं?

[९५ उ.] गौतम! वे कृतयुग्म हैं, किन्तु न तो त्र्योज हैं, न द्वापरयुग्म हैं और न ही कल्योज रूप हैं।

९६. एवं जाव उड्ढमहायताओ।

[९६] इसी प्रकार यावत् ऊर्ध्व और अधो लम्बी श्रेणियों तक के विषय में कहना चाहिए।

९७. लोयागाससेढीओ एवं चेव।

[९७] लोकाकाश की श्रेणियाँ भी इसी प्रकार समझनी चाहिए।

९८. एवं अलोयागाससेढीओ वि।

[९८] इसी प्रकार अलोकाकाश की श्रेणियों के विषय में भी जानना चाहिए।

९९. सेढीओ णं भंते! पएसट्ठयाए किं कडजुम्माओ०?

एवं चेव।

[९९ प्र.] भगवन्! आकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थ रूप से कृतयुग्म हैं? इत्यादि प्रश्न।

[९९ उ.] पूर्ववत् जानना चाहिए।

१००. एवं जाव उड्ढमहायताओ।

[१००] इसी प्रकार यावत् ऊर्ध्व और अधो लम्बी श्रेणियों तक के विषय में कहना चाहिए।

१०१. लोयागाससेढीओ णं भंते! पएसट्ठताए० पुच्छा।

गोयमा! सिय कडजुम्माओ, नो तेयोयाओ, सिय दावरजुम्माओ, नो कलिओयाओ।

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८६६

[१०१ प्र.] भगवन् ! लोकाकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थ रूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१०१ उ.] गौतम ! वे कदाचित् कृतयुग्म हैं और कदाचित् द्वापरयुग्म हैं, किन्तु न तो त्र्योज हैं और न कल्योज रूप ही हैं ।

१०२. एवं पादीणपडीणायताओ वि, दाहिणुत्तरायताओ वि ।

[१०२] इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम लम्बी तथा दक्षिण-उत्तर लम्बी लोकाकाश की श्रेणियों के विषय में भी समझना चाहिए ।

१०३. उड्ढमहायताओ णं० पुच्छा ।

गोयमा ! कडजुम्माओ, नो तेयोगाओ, नो दावरजुम्माओ, नो कलियोगाओ ।

[१०३ प्र.] भगवन् ! ऊर्ध्व और अधो लम्बी लोकाकाश की श्रेणियाँ कृतयुग्म हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१०३ उ.] गौतम ! वे कृतयुग्म हैं, किन्तु न तो त्र्योज हैं, न द्वापरयुग्म हैं और न ही कल्योज रूप हैं ।

१०४. अलोयागाससेढीओ णं भंते ! पदेसट्ठताए० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्माओ जाव सिय कलियोयाओ ।

[१०४ प्र.[भगवन् ! अलोकाकाश की श्रेणियाँ प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि पूर्ववत प्रश्न ।

[१०४ उ.] गौतम ! वे कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज रूप हैं ।

१०५. एवं पाईणपडीणायताओ वि ।

[१०५] इसी प्रकार पूर्व-पश्चिम लम्बी अलोकाकाश श्रेणियों के विषय में समझना चाहिए ।

१०६. एवं दाहिणुत्तरायताओ वि ।

[१०६] दक्षिण-उत्तर लम्बी श्रेणियाँ भी इसी प्रकार हैं ।

१०७. उड्ढमहायताओ वि एवं चेव, नवरं नो कलियोयाओ, सेसं तं चेव ।

[१०७] ऊर्ध्व और अधो लम्बी अलोकाकाश श्रेणियाँ भी इसी प्रकार हैं किन्तु वे कल्योज रूप नहीं हैं, शेष सब पूर्ववत् है ।

विवेचन—श्रेणियों में कृतयुग्मादि प्ररूपणा—रुचक प्रदेशों से प्रारम्भ होकर जो पूर्व और दक्षिण गोलार्द्ध है, वह पश्चिम और उत्तर गोलार्द्ध के बराबर है । इसलिए पूर्व-पश्चिम श्रेणियाँ और दक्षिण-उत्तर श्रेणियाँ समसंख्यक प्रदेशों वाली हैं । उनमें से कोई कृतयुग्म प्रदेशों वाली हैं तथा कोई द्वापरयुग्म प्रदेशों वाली हैं, किन्तु त्र्योज और कल्योज प्रदेशों वाली नहीं हैं । इसके लिए प्रदेशों की असद्भाव-स्थापना बता कर इसी बात को स्पष्ट कर दिया है ।

अलोकाकाश की श्रेणियों के प्रदेशों में कृतयुग्मादि चारों भेद पाए जाते हैं। इसमें वस्तुस्वभाव ही मुख्य हैं।[1]

श्रेणी के प्रकारएन्तर से सात भेद

१०८. कति णं भंते ! सेढीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयता, एगतोवंका, दुहतोवंका, एगओखहा, दुहतोखहा, चक्कवाला, अद्धचक्कवाला।

[१०८ प्र.] भगवन् ! श्रेणियाँ कितनी कही हैं ?

[१०८ उ.] गौतम ! श्रेणियाँ सात कही हैं। यथा—(१) ऋज्वायता, (२) एकतोवक्रा, (३) उभयतोवक्रा, (४) एकत:खा, (५) उभयत:खा, (६) चक्रवाल और (७) अर्द्धचक्रवाल।

विवेचन—श्रेणी : उसके प्रकार और स्वरूप—श्रेणियों का वर्णन इससे पूर्व किया जा चुका है। किन्तु यहाँ प्रकारान्तर से श्रेणियों का वर्णन किया गया है। यहाँ उनके सात भेद बताए हैं। जिसके अनुसार जीव और पुद्गलों की गति होती है, उस आकाशप्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान श्रेणी के अनुसार ही जाते हैं, विश्रेणी (विरुद्ध श्रेणी) से गति नहीं होती।

१. **ऋज्वायता**—जिस श्रेणी से जीव ऊर्ध्वलोक आदि से अधोलोक आदि में सीधे चले जाते हैं, उसे ऋज्वायता श्रेणी कहा जाता है। इस श्रेणी से जाने वाला जीव एक ही समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है। रेखाचित्र [—] इस प्रकार है।

२. **एकतोवक्रा**—जिस श्रेणी से जीव पहले सीधा जाए और फिर वक्तगति प्राप्त करके दूसरी श्रेणी में प्रवेश करे, उसे एकतोवक्रा कहते हैं। इस श्रेणी से जाने वाले जीव को दो समय लगते हैं। रेखाचित्र √ इस प्रकार है।

३. **उभयतोवक्रा**—जिस श्रेणी से जाने वाला जीव दो बार वक्रगति करे, उसे उभयतोवक्रा कहते हैं। इस श्रेणी से गति करने वाले जीव को तीन समय लगते हैं। यह श्रेणी ऊर्ध्वलोक की आग्नेयी (पूर्व और दक्षिण के मध्य कोण) विदिशा से अधोलोक की वायव्य (उत्तर-पश्चिम-कोण) विदिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की होती है। यह पहले समय में आग्नेयी विदिशा से तिरछा पश्चिम की ओर दक्षिण दिशा के नैऋत्य कोण की ओर जाता है। फिर दूसरे समय में वहाँ से तिरछा होकर उत्तर-पश्चिम वायव्य कोण की ओर जाता है और तीसरे समय में नीचे वायव्यकोण की ओर जाता है। यह तीन समय की गति त्रसनाडी अथवा उससे बाहर के भाग में होती है।

४. **एकतः खा**—जिस श्रेणी से जीव या पुद्गल त्रसनाडी के बाँए पक्ष से त्रसनाडी में प्रविष्ट होते हैं, फिर त्रसनाडी से जाकर उसके बांयी ओर वाले भाग में उत्पन्न होते हैं उसे एकत:खा श्रेणी कहा जाता है। इस श्रेणी के एक ओर त्रसनाडी के बाहर का 'ख' अर्थात् आकाश आया हुआ होता

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२४७

है, इसलिये इसे एकतःखा कहते हैं। इस श्रेणी में दो, तीन अथवा चार समय की वक्रगति होने पर भी क्षेत्र की दृष्टि से इसे पृथक् कहा गया है। रेखाचित्र इस प्रकार है—

५. **उभयतः खा**—जिस श्रेणी से जीव, त्रसनाडी के बाहर से बाँये पक्ष में प्रविष्ट हो कर त्रसनाडी से जाते हुए दाहिने पक्ष में उत्पन्न होते हैं, उस श्रेणी को उभयतःखा कहते हैं, क्योंकि इस श्रेणी को त्रसनाडी के बाहर बाँई ओर दाहिनी ओर के आकाश का स्पर्श होता है। रेखाचित्र इस प्रकार है—

६. **चक्रवाल**—जिस श्रेणी से परमाणु आदि गोल चक्कर लगा कर उत्पन्न होते हैं, उसे चक्रवाल-श्रेणी कहते हैं। रेखाचित्र इस प्रकार है—

७. **अर्द्धचक्रवाल**—जिस श्रेणी से परमाणु आदि आधा चक्कर लगा कर उत्पन्न होते हैं, उसे अर्द्ध-चक्रवाल श्रेणी कहते हैं।[1] रेखाचित्र यों है—

परमाणु-पुद्‌गल तथा द्विप्रदेशिकादि स्कन्धों की चौवीस दण्डकों में अनुश्रेणि-गतिप्ररूपणा

१०९. परमाणुपोग्गलाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति, विसेढिं गती पवत्तति ?

गोयमा ! अणुसेढिं गती पवत्तति, नो विसेढिं गती पवत्तति।

[१०९ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्‌गलों की गति अनुश्रेणि (—आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के अनुसार) होती है या विश्रेणि (—आकाश-प्रदेशों की श्रेणी के विपरीत) होती है ?

[१०९ उ.] गौतम ! परमाणु-पुद्‌गलों की गति अनुश्रेणी (—श्रेणी के अनुसार) होती है, विश्रेणि गति (—श्रेणी के बिना) नहीं होती।

११०. दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं किं अणुसेढिं गती पवत्तति, विसेढिं गती पवत्तति ?

एवं चेव।

[११० प्र.] भंते ! द्विप्रदेशिक स्कन्धों की गति अनुश्रेणि होती है या विश्रेणि (श्रेणी के बिना) होती है ?

[११० उ.] पूर्वोक्त कथनानुसार जानना।

१११. एवं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं।

[१११] इसी प्रकार यावत् अनन्त-प्रदेशिक स्कन्ध-पर्यन्त जानना !

११२. नेरइयाणं भंते ! किं अणुसेढिं गती पवत्तति, विसेढिं गती पवत्तति ?

एवं चेव।

[११२ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों की गति अनुश्रेणि होती है या विश्रेणि ?

[११२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना।

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८६८

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२४९-३२५०

११३. एवं जाव वेमाणियाणं।

[११३] इसी प्रकार यावत् वैमानिक-पर्यन्त जानना।

विवेचन—श्रेणि और विश्रेणि—जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान में श्रेणी के अनुसार (अनुश्रेणि) ही जाते हैं, विश्रेणी से (श्रेणी के विपरीत) नहीं। वृत्तिकार के अनुसार अनुकूल यानी पूर्वादि दिशा के अभिमुख आकाशप्रदेश की श्रेणि को अनुश्रेणि और विरुद्ध यानी विदिशा के आश्रित जो श्रेणि हो उसे विश्रेणि कहते हैं।[1]

चौवीस दण्डकों की आवाससंख्या-प्ररूपणा

११४. इमीसे णं भंते ! रयणप्पभाए पुढवीए केवतिया निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता ?

गोयमा ! तीसं निरयावाससयसहस्सा पन्नत्ता। एवं जहा पढमसते पंचमुद्देसए (स० १ उ० ५ सु० २-५) जाव अणुत्तरविमाण त्ति।

[११४ प्र.] भगवन् ! इस रत्नप्रभापृथ्वी में कितने लाख नरकावास कहे हैं ?

[११४ उ.] गौतम ! उसमें तीस लाख नरकावास कहे हैं, इत्यादि प्रथम शतक के पांचवें उद्देशक (के सू. २ से ५ तक) में कहे अनुसार यावत् अनुत्तर-विमान तक जानना चाहिए।

द्वादशविध गणिपिटकों का अतिदेश पूर्वक निर्देश

११५. कतिविधे णं भंते ! गणिपिडए पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुवालसंगे गणिपिडए पन्नत्ते, तं जहा—आयारो जाव दिट्ठिवाओ।

[११५ प्र.] भगवन् ! गणिपिटक कितने प्रकार का कहा है ?

[११५ उ.] गौतम ! गणिपिटक बारह-अंगरूप (द्वादशांग रूप) कहा है। यथा—आचारांग यावत् दृष्टिवाद।

११६. से किं तं आयारो ?

आयारे णं समणाणं निग्गंथाणं आयारगो० एवं अंगपरूवणा भाणियव्वा जहा नंदीए। जाव—

सुत्तत्थो खलु पढमो बीओ निज्जुत्तिमीसओ भणिओ।
तइओ य निरवसेसो एस विही होइ अणुयोगे ॥ १ ॥

[११६ प्र.] भगवन् ! आचारांग किसे कहते हैं ?

[११६ उ.] आचारांग-सूत्र में श्रमण-निर्ग्रन्थों के आचार, गोचर-विधि (भिक्षाविधि) आदि चारित्र-धर्म की प्ररूपणा की गई है। नन्दीसूत्र के अनुसार सभी अंग-सूत्रों का वर्णन जानना चाहिए, यावत्—सुत्तत्थो खलु पढमो (गाथार्थ—) सर्वप्रथम सूत्र का अर्थ कहना चाहिए। दूसरे में निर्युक्ति-मिश्रित अर्थ कहना चाहिए और फिर तीसरे में निरवशेष अर्थात्—सम्पूर्ण अर्थ का कथन करना चाहिए। यह अनुयोग (सूत्रानुसार अर्थ प्रदान करने) की विधि है ॥ १ ॥

---

१. (क) श्रीमद् भगवतीसूत्रम्, खण्ड ४, पृ. २१४
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६८

विवेचन—गणिपिटक : स्वरूप और अंग—गणि अर्थात् आचार्य के लिए, जो पिटक अर्थात् रत्नों के करण्डक के समान पिटारा हो, उसे **'गणिपिटक'** कहते हैं। गणिपिटक के आचारांग से लेकर दृष्टिवाद तक बारह अंगरूप भेद कहे हैं। नन्दीसूत्र में आचारांग आदि में वर्णित विषयों का कथन है। जैसे कि—आचारांगसूत्र में श्रमण-निर्ग्रन्थों के अनेकविध आचार, गोचर (भिक्षाविधि) विनय, विनयफल, ग्रहणशिक्षा, आसेवनशिक्षा आदि का वर्णन किया है। इसी प्रकार अन्य अंगशास्त्रों का वर्णन भी नन्दीसूत्र से जान लेना चाहिए।[1]

नन्दीसूत्र-वर्णित अनुयोगविधि—यहाँ मूलपाठ में **'सुत्तत्थो खलु पढमो'** इत्यादि गाथा द्वारा नन्दीसूत्र में वर्णित अनुयोगविधि अर्थात्—गुरुदेव द्वारा शिष्य को दी जाने वाली वाचना की विधि बताई गई है। वह इस प्रकार है—(१) सर्वप्रथम मूलसूत्र और उसका अर्थ मात्र कहना चाहिए। नवदीक्षित या नवागत शिष्यों को मतिविभ्रम न हो जाए, इसलिए पहले-पहल उन्हें विस्तृत विवेचन न करके केवल सूत्रार्थमात्र कहना उचित है। (२) इसके पश्चात् सूत्रस्पर्शिक (सूत्रानुसारिणी) निर्युक्ति (टीका आदि व्याख्या) सहित अर्थ कहना चाहिए। यह द्वितीय अनुयोग है। (३) तदनन्तर प्रसंगानुप्रसंग के कथन से समग्र व्याख्या कहनी चाहिए। यह तृतीय अनुयोग है। मूलसूत्र को अनुकूल अर्थ के साथ संयोजित करना 'अनुयोग' है। अनुयोग की यह विधि है।[2]

नैरयिकादि सेन्द्रियादि, सकायिकादि, आयुष्य-बन्धक-अबन्धकों के अल्पबहुत्व की प्ररूपणा

११७. एएसि णं भंते ! नेरतियाणं जाव देवाणं सिद्धाण य पंचगतिसमासेणं कयरे कतरेहिंतो० पुच्छा।

गोयमा ! अप्पाबहुयं जहा बहुवत्तव्वताए अट्ठगइसमासऽप्पाबहुगं च।

[११७ प्र.] भगवन् ! नैरयिक यावत् देव और सिद्ध इन पांचों गतियों (गति-समूह) के जीवों में कौन जीव किन जीवों से अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[११७ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के तीसरे बहुवक्तव्यता-पद के अनुसार तथा आठ गतियों के समुदाय का भी अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

११८. एएसि णं भंते ! सइंदियाणं एगिंदियाणं जाव अणिंदियाण य कतरे कतरेहिंतो० ?

एयं पि जहा बहुवत्तव्वयाए तहेव ओहियं पयं भाणितव्वं।

[११८ प्र.] भगवन् ! सइन्द्रिय, एकेन्द्रिय यावत् अनिन्द्रिय जीवों में कौन जीव, किन जीवों से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[११८ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के तीसरे बहुवक्तव्यता-पद के अनुसार औधिक पद कहना चाहिए।

११९. सकाइयअप्पाबहुगं तहेव ओहियं भाणितव्वं।

[११९] सकायिक जीवों का अल्पबहुत्व भी औधिक पद के अनुसार जानना चाहिए।

---

१. भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२६२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६९

१२०. एएसि णं भंते ! जीवाणं पोग्गलाणं जाव सव्वपज्जवाण य कतरे कतरेहितो० ?

जहा बहुवत्तव्वयाए।

[१२० प्र.] भगवन् ! इन जीवों और पुद्गलों, यावत् सर्वपर्यायों में कौन, किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[१२० उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के तृतीय बहुवक्तव्यता पद के अनुसार जानना चाहिए।

१२१. एएसि णं भंते ! जीवाणं आउयस्स कम्मगस्स बंधगाणं अबंधगाणं० ?

जहा बहुवत्तव्वयाए जाव आउयस्स कम्मस्स अबंधगा विसेसाहिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचवीसइमे सए : ततिओ उद्देसो समत्तो ॥

[१२१ प्र.] भगवन् ! आयुकर्म के बन्धक और अबन्धक जीवों में कौन, किनसे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[१२१ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के तीसरे बहुवक्तव्यता पद के अनुसार, यावत्—आयुकर्म के अबन्धक जीव विशेषाधिक हैं तक कहना चाहिए।

विवेचन—पांच के अल्पबहुत्व का अतिदेश—नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध, इन पांचों के अल्पबहुत्व के लिए यहाँ प्रज्ञापनासूत्र के तीसरे पद का अतिदेश किया गया है। प्रज्ञापना-कथित वक्तव्यता का संक्षिप्त सार निम्नोक्त गाथा में बताया गया है—

नर-नेरइया देवा सिद्धा, तिरिया कमेण इय होंती।
थोवमसंख-असंखा, अणंतगुणिया अणंतगुणा ॥

अर्थात्—सबसे थोड़े मनुष्य हैं। उनसे नैरयिक असंख्यातगुणे हैं, उनसे देव असंख्यातगुणे हैं, और उनसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं, तथा उनसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं।[1]

आठ गतियाँ और उनका अल्पबहुत्व—आठ गतियों के नाम एक गाथा के अनुसार इस प्रकार हैं—

नरकगतिस्तथातिर्यक् नरामरगतयः।
स्त्री-पुरुषभेदाद्द्वेधा सिद्धिगतिश्चेत्यष्टौ ॥

अर्थात्—(१) नरकगति, (२) पुरुष-तिर्यञ्च, (३) स्त्री-तिर्यञ्च, (तिर्यञ्चनी) (४) पुरुष-मनुष्यगति, (५) स्त्री-मनुष्यगति, (६) पुरुष-देवगति, (७) स्त्री-देवगति और (८) सिद्धगति।

इन आठों गतियों का अल्पबहुत्व इस प्रकार है—सबसे अल्प मनुष्यिनी (स्त्रियाँ) हैं, उनसे मनुष्य असंख्यातगुणे हैं, उनसे नैरयिक असंख्यातगुणे हैं, उनसे तिर्यञ्चिनी असंख्यातगुणे हैं, उनसे

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६१

देव असंख्यातगुणे हैं, उनसे देवियाँ संख्यातगुणी हैं, उनसे सिद्ध अनन्तगुणे हैं और उनसे तिर्यञ्च अनन्तगुणे हैं ।[1]

सइन्द्रिय आदि का अल्पबहुत्व—सइन्द्रिय, एकेन्द्रिय आदि का अल्पबहुत्व एक गाथा में बताया गया है । इसके लिए भी प्रज्ञापनासूत्र के तीसरे पद का अतिदेश किया है । उसका सारांश इस प्रकार है—

पण-चउ-ति-दुय-अणिंदिय-एगिंदि-सइंदिया कमा हुंति ।
थोवा तिण्णि य अहिया, दो णंतगुणा विसेसाहिया ॥

अर्थात्—सबसे अल्प पंचेन्द्रिय जीव हैं, उनसे चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे त्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अनिन्द्रिय अनन्तगुणे हैं, उनसे एकेन्द्रिय अनन्तगुणे हैं और उनसे सइन्द्रिय विशेषाधिक हैं ।[2]

सकायिक जीवों का अल्पबहुत्व—सकायिक जीवों का अल्पबहुत्व भी प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेश पूर्वक बताया गया है । उसका सारांश इस प्रकार है—

तस-तेउ-पुढवि-जल-वाउ-काय-अकाय-वणस्सइ-सकाया ।
थोव असंख्यातगुणाहिय तिण्णि उ दो णंतगुण अहिया ॥

अर्थात्—सबसे अल्प त्रसकायिक हैं, उनसे तेजस्कायिक जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं, उनसे अकायिक अनन्तगुणे हैं, उनसे वनस्पतिकायिक अनन्तगुणे हैं और उनसे सकायिक विशेषाधिक हैं ।[3]

जीव, पुद्गल आदि का अल्पबहुत्व—अन्त में जीव, पुद्गल, अद्धा-समय, सर्वद्रव्य, सर्वप्रदेश और सर्व-पर्यायों का अल्पबहुत्व बताया गया है । वह संक्षेप में इस प्रकार है—

जीवा पोग्गल-समया, दव्व-पएसा य पज्जवा चेव ।
थोवा णंताणंता विसेसा अहिया दुवेऽणंता ॥

अर्थात् सबसे थोड़े जीव हैं, उनसे पुद्गल अनन्तगुणे हैं, उनसे अद्धा समय अनन्तगुणे हैं, उससे सर्वद्रव्य विशेषाधिक हैं, उनसे सर्वप्रदेश अनन्तगुणे हैं और उनसे सर्व-पर्याय अनन्तगुणे हैं ।[4]

आयुकर्म के बंधक—अबंधक आदि का अल्पबहुत्व—इसके पश्चात् सबसे अन्त में बन्धक, अबन्धक, पर्याप्त-अपर्याप्त, सुप्त-जाग्रत, समवहत-(समुद्घात को प्राप्त)-असमवहत, सातावेदक-असातावेदक, इन्द्रियोपयोगयुक्त (इन्द्रियों के उपयोग वाले)—नो इन्द्रियोपयोगयुक्त, साकारोपयुक्त-अनाकारोपयुक्त, इन जीवों के अल्पबहुत्व का कथन किया गया है । इसके लिए भी प्रज्ञापनासूत्र के तृतीय पद का अतिदेश किया गया है ।[5]

॥ पच्चीसवाँ शतक : तृतीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८६९
२. वही, पत्र ८६९
३. वही, पत्र ८६९
४. वही, पत्र ८६९
५. वही, पत्र ८७०

चउत्थो उद्देसओ : जुम्म

चतुर्थ उद्देशक : युग्म-प्ररूपणा

चार युग्म और उनके अस्तित्व का कारण

१. [१] कति णं भंते ! जुम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पन्नत्ता, तंजहा—कडजुम्मे जाव कलियोए।

[१-१प्र.] भगवन् ! युग्म कितने कहे हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! युग्म चार प्रकार के कहे हैं। यथा—कृतयुग्म यावत् कल्योज।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—चत्तारि जुम्मा पन्नत्ता तंजहा कडजुम्मे० ?

जहा अट्ठारसमसते चउत्थे उद्देसए (स० १८ उ० ४ सु० [२]) तहेव जाव से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ०।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि युग्म चार हैं, कृतयुग्म (से लेकर) यावत् कल्योज।

[१-२ उ.] गौतम ! अठारहवें शतक के चतुर्थ उद्देशक (के सू. ४-२) में कहे अनुसार यहाँ जानना, यावत् इसीलिए हे गौतम ! इस प्रकार कहा है।

विवेचन—कृतयुग्म आदि का स्वरूप—राशि अथवा संख्या को युग्म कहते हैं। जिस राशि में से चार-चार का अपहार करने पर अन्त में चार बाकी रहें, उस राशि को 'कृतयुग्म' कहते हैं, तीन शेष रहें, उसे 'त्र्योज', दो शेष रहें, उसे 'द्वापरयुग्म' और एक शेष रहे, उसे 'कल्योज' कहते हैं।[१]

चौवीस दण्डकों और सिद्धों में युग्मभेद-निरूपण

२. [१] नेरतियाणं भंते ! कति जुम्मा० ?

गोयमा चत्तारि जुम्मा पन्नत्ता, तंजहा—कडजुम्मे जाव कलियोए।

[२-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों में कितने युग्म कहे हैं ?

[२-१ उ.] गौतम ! उनमें चार युग्म कहे हैं। यथा—कृतयुग्म यावत् कल्योज।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—नेरतियाणं चत्तारि जुम्मा पन्नत्ता, तंजहा—कडजुम्मे० ?

अट्ठो तहेव।

---

१ श्रीमद् भगवतीसूत्र, खण्ड ४, पृ. २१५

[२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिकों में चार युग्म होते हैं, यथा—कृतयुग्म इत्यादि ।

[२-२ उ.] वही पूर्वोक्त कारण यहाँ कहना चाहिए ।

३. एवं जाव वाउकाइयाणं ।

[३] इसी प्रकार यावत् वायुकायिक पर्यन्त जानना ।

४. [१] वणस्सतिकाइयाणं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! वणस्सतिकाइया सिय कडजुम्मा, सिय तेयोया, सिय दावरजुम्मा, सिय कलियोया ?

[४-१ प्र.] भगवन् ! वनस्पतिकायिकों में कितने युग्म कहे हैं ?

[४-१ उ.] गौतम ! वनस्पतिकायिक कदाचित् कृतयुग्म होते हैं, कदाचित् त्र्योज होते हैं, कदाचित् द्वापरयुग्म और कदाचित् कल्योज होते हैं ?

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—वणस्सइकाइया जाव कलियोगा ?

गोयमा ! उववायं पडुच्च, से तेणट्ठेणं०, तं चेव ।

[४-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं कि वनस्पतिकायिक कदाचित् कृतयुग्म यावत् कल्योज होते हैं ?

[४-२ उ.] गौतम ! उपपात (जन्म) की अपेक्षा ऐसा कहा है कि वनस्पतिकायिक कदाचित् कृतयुग्म यावत् कदाचित् कल्योज होते हैं ।

५. बेंदियाणं जहा नेरतियाणं ।

[५] द्वीन्द्रिय जीवों की वक्तव्यता नैरयिकों के समान है ।

६. एवं जाव वेमाणियाणं ।

[६] इसी प्रकार (त्रीन्द्रिय से लेकर) यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए ।

७. सिद्धाणं जहा वणस्सतिकाइयाणं ।

[७] सिद्धों का कथन वनस्पतिकायिकों के समान है ।

विवेचन—निष्कर्ष और कारण—वनस्पतिकायिकों और सिद्धों को छोड़कर शेष सर्व जीवों में कृतयुग्म आदि चारों युग्म पाये जाते हैं । वनस्पतिकायिक जीव अनन्त हैं, इसलिए वे स्वाभाविक रूप से कृतयुग्म ही होते हैं । तथापि दूसरी गति से आकर उनमें एक-दो इत्यादि जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे जीव कृतयुग्म आदि चारों राशि रूप कहे गए हैं । इसी कारण से यहाँ कहा गया है कि "वणस्सइकाइया सियकडजुम्मा····उववायं पडुच्च"। यद्यपि वनस्पतिकायिक जीव मरण की अपेक्षा भी कृतयुग्मादि चारों राशि रूप होते हैं, किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की है ।[1]

---

१. (क) वियाहपण्णत्ति सुत्तं भा. २ (मू. पा. टि.), पृ. ९८८

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७३

षट् द्रव्य और उनमें द्रव्यार्थ तथा प्रदेशार्थ रूप से युग्मभेद निरूपण

८. कतिविधा णं भंते ! सव्वदव्वा पन्नत्ता ?

गोयमा ! छव्विहा सव्वदव्वा पन्नत्ता, तं जहा—धम्मत्थिकाये अधम्मत्थिकाये जाव अद्धासमये।

[८ प्र.] भगवन् ! सर्व द्रव्य कितने प्रकार के कहे हैं ?

[८ उ.] गौतम ! सर्व द्रव्य छह प्रकार के कहे हैं। यथा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय यावत् अद्धासमय (काल)।

९. धम्मत्थिकाये णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे जाव कलियोगे ?

गोयमा ! नो कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावरजुम्मे, कलियोए।

[९ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय क्या द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म यावत् कल्योज रूप है ?

[९ उ.] गौतम ! धर्मास्तिकाय द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म नहीं, त्र्योज भी नहीं है और द्वापर-युग्म भी नहीं है, किन्तु कल्योज रूप है।

१०. एवं अधम्मत्थिकाये वि।

[१०] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में समझना चाहिए।

११. एवं आगासत्थिकाये वि।

[११] आकाशास्तिकाय विषयक कथन भी इसी प्रकार है।

१२. जीवत्थिकाए णं० पुच्छा।

गोयमा ! कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावरजुम्मे, नो कलियोए।

[१२ प्र.] भगवन् ! जीवास्तिकाय द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न।

[१२ उ.] गौतम ! वह द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म है, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं है।

१३. पोग्गलत्थिकाये णं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मे, जाव सिय कलियोए।

[१३ प्र.] भगवन् ! पुद्गलास्तिकाय द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम ! वह द्रव्यार्थ रूप से कदाचित् कृतयुग्म है, यावत् कदाचित् कल्योज रूप है।

१४. अद्धासमये जहा जीवत्थिकाये।

[१४] अद्धा-समय (काल) का कथन जीवास्तिकाय के समान है।

१५. धम्मत्थिकाये णं भंते ! पएसट्ठताए किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावरजुम्मे, नो कलियोगे।

[१५ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] गौतम ! (वह प्रदेशार्थरूप से) कृतयुग्म है, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज नहीं है।

१६. एवं जाव अद्धासमये।

[१६] इसी प्रकार यावत् अद्धा-समय तक जानना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष और विश्लेषण—धर्मास्तिकायादि तीन द्रव्यरूप से एक-एक हैं। इसलिए उनमें चार-चार का अपहार नहीं होता, केवल एक ही अवस्थित रहता है। इसलिये ये तीनों कल्योजरूप हैं। जीवास्तिकाय अनन्त होने से कृतयुग्म है। पुद्गलास्तिकाय यद्यपि अनन्त है, तथापि उसके संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) के कारण उसकी अनन्तता अनवस्थित है, इसलिए वह कृतयुग्मादि चारों राशिरूप होता है। अद्धासमय (काल) में अतीत-अनागतकाल में अवस्थित अनन्तता होने से कृतयुग्मता है।

प्रदेशार्थरूप से सभी द्रव्य कृतयुग्म हैं, क्योंकि इनमें यथायोग्य असंख्यातता और अनन्तता अवस्थित है।[1]

धर्मास्तिकायादि षट्द्रव्यों में अल्पबहुत्व का प्रज्ञापनासूत्रातिदेशपूर्वक निरूपण

१७. एएसि णं भंते ! धम्मत्थिकाय-अधम्मत्थिकाय जाव अद्धासमयाणं दव्वट्ठयाए० ?

एएसि अप्पाबहुगं जहा बहुवत्तव्वयाए तहेव निरवसेसं।

[१७ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय यावत् अद्धासमय, इन षट् द्रव्यों में द्रव्यार्थरूप से कौन किससे अल्प, वहुत, तुल्य तथा विशेषाधिक है ?

[१७ उ.] गौतम ! इन सवका अल्पवहुत्व प्रज्ञापनासूत्र के तृतीय बहुवक्तव्यतापद के अनुसार समझना चाहिए।

विवेचन—बहुवक्तव्यतापद का अतिदेश—प्रज्ञापनासूत्र के बहुवक्तव्यतापद के अनुसार द्रव्यों का अल्पवहुत्व इस प्रकार समझना—धर्मास्तिकायादि तीन एक-एक द्रव्य होने से द्रव्यार्थरूप से तुल्य हैं और दूसरे द्रव्यों की अपेक्षा अल्प हैं। उनसे जीवास्तिकाय अनन्तगुण है। उनसे पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं। प्रदेशार्थरूप से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय के प्रदेश असंख्यात हैं, वे परस्पर तुल्य हैं और दूसरे प्रदेशों की अपेक्षा अल्प हैं। उनसे जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, अद्धासमय और आकाशास्तिकाय के उत्तरोत्तर अनन्तगुणे हैं।[2]

धर्मास्तिकायादि में यथायोग्य अवगाढ-अनवगाढ प्ररूपणा

१८. धम्मत्थिकाये णं भंते ! किं ओगाढे, अणोगाढे ?

गोयमा ! ओगाढे, नो अणोगाढे।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७३, ८७४

२. प्रज्ञापना, तृतीय पद, सू. २७०-७३ [पण्णवणासुत्तं भा. १, पृ. १०० (मूलपाठ-टिप्पण)]

[१८ प्र.] भगवन् ! धर्मास्तिकाय अवगाढ है या अनवगाढ है ?

[१८ उ.] गौतम ! वह अवगाढ है, अनवगाढ नहीं ।

१९. जदि ओगाढे किं संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, अणंतपएसोगाढे ?

गोयमा ! नो संखेज्जपएसोगाढे, असंखेज्जपएसोगाढे, नो अणंतपएसोगाढे ।

[१९ प्र.] भगवन् ! यदि वह (धर्मास्तिकाय) अवगाढ है, तो संख्यात-प्रदेशावगाढ है, असंख्यात-प्रदेशावगाढ है अथवा अनन्त-प्रदेशावगाढ है ?

[१९ उ.] गौतम ! वह संख्यात-प्रदेशावगाढ नहीं और अनन्त-प्रदेशावगाढ भी नहीं, किन्तु असंख्यातप्र-देशावगाढ है ।

२०. जदि असंखेज्जपएसोगाढे किं कडजुम्मपदेसोगाढे० पुच्छा ।

गोयमा ! कडजुम्मपएसोगाढे, नो तेयोग०, नो दावरजुम्म०, नो कलियोगपएसोगाढे ।

[२० प्र.] भगवन् ! यदि वह असंख्यात-प्रदेशावगाढ है, तो क्या कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[२० उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है, किन्तु न तो त्र्योज-प्रदेशावगाढ है, न द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ है और न कल्योज-प्रदेशावगाढ है ।

२१. एवं अधम्मत्थिकाये वि ।

[२१] इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय के विषय में समझना चाहिए ।

२२. एवं आगासत्थिकाये वि ।

[२२] आकाशास्तिकाय के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए ।

२३. जीवत्थिकाये पोग्गलत्थिकाये अद्धासमये एवं चेव ।

[२३] जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और अद्धासमय (काल) के विषय में भी यही वक्तव्यता है ।

२४. इमा णं भंते ! रयणप्पभापुढवी किं ओगाढा, अणोगाढा ?

जहेव धम्मत्थिकाये ।

[२४ प्र.] भगवन् ! यह रत्नप्रभापृथ्वी अवगाढ है या अनवगाढ ?

[२४ उ.] गौतम ! धर्मास्तिकाय के समान इसकी वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

२५. एवं जाव अहेसत्तमा ।

[२५] इसी प्रकार (शर्कराप्रभा से ले कर) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए ।

२६. सोहम्मे एवं चेव ।

[२६] सौधर्म देवलोक के विषय में भी यही कथन करना चाहिए ।

२७. एवं जाव ईसिपब्भारा पुढवी।

[२७] इसी प्रकार [ईशान देवलोक से लेकर] यावत् ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी तक के विषय में समझना चाहिए।

विवेचन—धर्मास्तिकाय आदि की कृतयुग्मता—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि सभी आस्तिकाय लोकप्रमाण होने से वे लोकाकाश के असख्यात-प्रदेशों में अवगाढ हैं। लोक असंख्यात-प्रदेशों में अवस्थित हैं, इसलिए इन सबमें कृतयुग्मता ही घटित होती है। इसी प्रकार दूसरे सभी अस्तिकाय भी लोकप्रमाण होने से उनमें भी कृतयुग्मता है, किन्तु आकाशास्तिकाय के अवस्थित अनन्तप्रदेश होने से तथा आत्मावगाही होने से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढता है तथा अद्धासमय अवस्थित असंख्येय-प्रदेशात्मक मनुष्यक्षेत्रावगाही होने से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है।[1]

जीव एवं चौवीस दण्डकों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप युग्मभेदनिरूपण

२८. जीवे णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! नो कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावरजुम्मे, कलियोए।

[२८ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न।

[२८ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म, त्र्योज या द्वापरयुग्म नहीं, किन्तु कल्योजरूप है।

२९. एवं नेरइए वि।

[२९] इसी प्रकार (एक) नैरयिक के विषय में जानना चाहिए।

३०. एवं जाव सिद्धे।

[३०] इसी प्रकार यावत् सिद्ध-पर्यन्त जानना।

३१. जीवा णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावर०, नो कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, कलियोगा।

[३१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३१ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से (सामान्यत:) कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योजरूप नहीं हैं। विधानादेश (प्रत्येक की अपेक्षा) से वे कृतयुग्म, त्र्योज तथा द्वापरयुग्म नहीं हैं, किन्तु कल्योजरूप हैं।

३२. नेरइया णं भंते ! दव्वट्ठताए० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा, जाव सिय कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, कलियोगा।

[३२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक द्रव्यार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८७४

[३२ उ.] गौतम ! वे ओघादेश (सामान्य की अपेक्षा) से कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं, विधानादेश (प्रत्येक की अपेक्षा) से वे न तो कृतयुग्म हैं, न त्र्योज हैं और न द्वापरयुग्म हैं, किन्तु कल्योज हैं।

३३. एवं जाव सिद्धा।

[३३] इसी प्रकार यावत् सिद्धपर्यन्त जानना चाहिए।

३४. जीवे णं भंते ! पएसट्ठताए किं कड० पुच्छा।

गोयमा ! जीवपएसे पडुच्च कडजुम्मे, नो तेयोगे, नो दावर०, नो कलियोगे; सरीरपएसे पडुच्च सिय कडजुम्मे जाव सिय कलियोगे।

[३४ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म है ? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न।

[३४ उ.] गौतम ! जीव प्रदेशार्थ से कृतयुग्म है, त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं है। शरीरप्रदेशों की अपेक्षा जीव कदाचित् कृतयुग्म यावत् कदाचित् कल्योज भी होता है।

३५. एवं जाव वेमाणिए।

[३५] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक जानना।

३६. सिद्धे णं भंते ! पएसट्ठताए किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! कडजुम्मे, नो तेयोगे, नो दावरजुम्मे, नो कलियोगे।

[३६ प्र.] भगवन् ! सिद्ध भगवान् प्रदेशार्थरूप (आत्मप्रदेशों की अपेक्षा) से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि पृच्छा।

[३६ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं।

३७. जीवा णं भंते ! पदेसट्ठताए किं कडजुम्मा० पुच्छा।

गोयमा ! जीवपएसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, नो कलियोगा; सरीरपएसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा, विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलियोगा वि।

[३७ प्र.] भगवन् जीवप्रदेशों की अपेक्षा क्या कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३७ उ.] गौतम ! (अनेक) जीव आत्मप्रदेशों की अपेक्षा ओघादेश और विधानादेश से भी कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं हैं। शरीरप्रदेशों की अपेक्षा जीव ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म यावत् कदाचित् कल्योज हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म भी हैं यावत् कल्योज भी हैं।

३८. एवं नेरइया वि।

[३८] इसी प्रकार नैरयिक भी जानना चाहिए।

३९. एवं जाव वेमाणिया।

[३९] यावत् वैमानिक तक इसी प्रकार जानना।

४०. सिद्धा णं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावरजुम्मा, नो कलियोगा।

[४० प्र.] भगवन् ! (अनेक) सिद्ध आत्मप्रदेशों की अपेक्षा से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[४० उ.] गौतम ! वे ओघादेश से और विधानादेश से भी कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापर-युग्म या कल्योज नहीं हैं।

विवेचन—जीव का कृतयुग्मादि निरूपण—जीव द्रव्यरूप से एक द्रव्य है, इसलिए वह कल्योज है, किन्तु समस्त जीव द्रव्यरूप से अनन्त अवस्थित होने से कृतयुग्म हैं और विधानादेश से, अर्थात् प्रत्येक की अपेक्षा वे कल्योज हैं। आत्मप्रदेशों की अपेक्षा समस्त जीवों के प्रदेश असंख्यात होने से चार-चार का अपहार करने पर अन्त में चार ही शेष रहते हैं, अतः कृतयुग्म होते हैं। शरीर-प्रदेशों की अपेक्षा—सामान्यतः सभी जीवों के शरीरप्रदेश संघात और भेद से अनवस्थित अनन्त होने से भिन्न-भिन्न समय में उनमें कृतयुग्मादि चारों राशियाँ बन सकती हैं। विशेष में प्रत्येक जीव शरीर के प्रदेशों में एक समय में भी चारों राशि पाई जा सकती हैं, क्योंकि किसी जीवशरीर के प्रदेश कृतयुग्म होते हैं तो किसी अन्य जीवशरीर के प्रदेश त्र्योजादि राशि होते हैं। इस प्रकार चारों राशियाँ पाई जाती हैं।[1]

सामान्य जीव एवं चौवीस दण्डकों में अवगाहनापेक्षया कृतयुग्मादि-प्ररूपणा

४१. जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे जाव सिय कलियोगपएसोगाढे।

[४१ प्र.] भगवन् ! जीव कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न।

[४१ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होता है, यावत् कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ होता है।

४२. एवं जाव सिद्धे।

[४२] इसी प्रकार यावत् (एक) सिद्धपर्यन्त जानना चाहिए।

४३. जीवा णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढा० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोग०, नो दावर०, नो कलियोग०; विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि जाव कलियोगपएसोगाढा वि।

[४३ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[४३ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज प्रदेशावगाढ नहीं हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ यावत् कल्योज-प्रवेशावगाढ हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७५

४४. नेरतिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मपएसोगाढा जाव सिय कलियोगपएसोगाढा; विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि जाव कलियोगपएसोगाढा वि।

[४४ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[४४ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ यावत् कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ हैं। विधानादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, यावत् कल्योज-प्रदेशावगाढ भी हैं।

४५. एवं एगिंदिय-सिद्धवज्जा सव्वे वि।

[४५] एकेन्द्रिय जीवों और सिद्धों को छोड़ कर शेष सभी (असुरकुमार से लेकर वैमानिकों तक के) जीव इसी प्रकार नैरयिक के समान कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ आदि होते हैं।

४६. सिद्धा एगिंदिया य जहा जीवा।

[४६] सिद्धों और एकेन्द्रिय जीवों का कथन सामान्य जीवों के समान है।

विवेचन—कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ आदि की प्ररूपणा—सामान्यतया एक जीव की अपेक्षा तथा नैरयिक से लेकर सिद्ध जीव तक कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ कदाचित् त्र्योज-प्रदेशावगाढ भी होता है, कदाचित् द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ भी होता है, कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ होता है, इस प्रकार के कथन का कारण औदारिक आदि शरीरों की विचित्र अवगाहना है। सामान्य जीव के कथन के समान ही नैरयिक से लेकर सिद्ध पर्यन्त जानना चाहिए।

अनेक जीव सामान्यतः कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, क्योंकि समस्त जीवों द्वारा अवगाढ प्रदेशों के लोक-प्रमाण अवस्थित असंख्यात होने से उनमें कृतयुग्मता होती है, त्र्योजादि नहीं। विधान (एक-एक) की अपेक्षा से जो एक काल में चारों प्रकार के होने का कथन किया गया है, उसका कारण अवगाहना की विचित्रता है।[1]

जीव एवं चौवीस दण्डकों में कृतयुग्मादि समय-स्थिति की प्ररूपणा

४७. जीवे णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीए० पुच्छा।

गोयमा ! कडजुम्मसमयट्ठितीए, नो तेयोग०, नो दावर०, नो कलियोगसमयट्ठितीये।

[४७ प्र.[भगवन् ! (एक) जीव कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है ? इत्यादि प्रश्न।

[४७ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है, किन्तु त्र्योज-समय, द्वापरयुग्म-समय अथवा कल्योज-समय की स्थिति वाला नहीं है।

४८. नेरइए णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीये जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीए।

[४८ प्र.] भगवन् ! (एक) नैरयिक कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है ? इत्यादि प्रश्न।

---

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. १५, पृ. ७७०

[४८ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है, यावत् कदाचित् कल्योज-समय की स्थिति वाला है ।

४९. एवं जाव वेमाणिए ।

[४९] इसी प्रकार (असुरकुमार से लेकर) यावत् वैमानिक तक जानना चाहिए ।

५०. सिद्धे जहा जीवे ।

[५०] सिद्ध का कथन (औधिक) जीव के समान है ।

५१. जीवा णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मसमयट्ठितीया, नो तेयोग०, नो दावर०, नो कलिओग० ।

[५१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) जीव कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[५१ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से तथा विधानादेश से भी कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं, किन्तु त्र्योज-समय, द्वापरयुग्म-समय अथवा कल्योज-समय की स्थिति वाले नहीं हैं ।

५२. नेरइया णं० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीया; विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव कलियोगसमयट्ठितीया वि ।

[५२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) नैरयिक कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[५२ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं, यावत् कदाचित् कल्योज-समय की स्थिति वाले हैं । विधानादेश से कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं, यावत् कल्योज-समय की स्थिति वाले हैं ।

५३. एवं जाव वेमाणिया ।

[५३] (असुरकुमारों से लेकर) यावत् वैमानिकों तक इसी प्रकार जानना चाहिए ।

५४. सिद्धा जहा जीवा ।

[५४] सिद्धों का कथन सामान्य जीवों के समान है ।

विवेचन—जीव-स्थिति : कृतयुग्मादि समय रूपों में—सामान्य जीव की स्थिति सर्व-काल में शाश्वत और सर्व-काल-नियत, अनन्त समयात्मक होने से 'जीव' (सामान्य) कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है । नैरयिक से लेकर वैमानिक तक की स्थिति भिन्न-भिन्न होने से किसी समय कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला होता है तो किसी समय यावत् कल्योज-समय की स्थिति वाला होता है ।

सामान्यादेश और विधानादेश से जीवों की स्थिति अनादि-अनन्त काल की होने से वे कृत-युग्म-समय की स्थिति वाले हैं ।

सभी नैरयिकादि जीवों की स्थिति के समयों को एकत्रित किया जाय और उनमें से चार-चार का अपहार किया जाए तो सभी नैरयिक सामान्यादेश से कृतयुग्म-समय यावत् कल्योज-समय की स्थिति वाले होते हैं और विशेषादेश से एक समय में कृतयुग्मादि चारों प्रकार के हैं।[1]

सामान्य जीव एवं चौवीस दण्डकों में वर्णादि पर्यायापेक्षया कृतयुग्मादि प्ररूपणा

५५. जीवे णं भंते! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा! जीवपएसे पडुच्च नो कडजुम्मे जाव नो कलियोगे; सरीरपएसे पडुच्च सिय कडजुम्मे जाव सिय कलियोगे।

[५५ प्र.] भगवन्! जीव काले वर्ण के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है? इत्यादि पृच्छा।

[५५ उ.] गौतम! जीव (आत्म-) प्रदेशों की अपेक्षा न तो कृतयुग्म है और यावत् न कल्योज है, किन्तु शरीरप्रदेशों की अपेक्षा कदाचित् कृतयुग्म है, यावत् कदाचित् कल्योज है।

५६. एवं जाव वेमाणिए।

[५६] (यहाँ से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त इसी प्रकार कहना चाहिए।

५७. सिद्धो ण चेव पुच्छिज्जति।

[५७] यहाँ सिद्ध के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए, (क्योंकि वे अरूपी हैं)।

५८. जीवा णं भंते! कालवण्णपज्जवेहिं० पुच्छा।

गोयमा! जीवपएसे पडुच्च ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि नो कडजुम्मा जाव नो कलियोगा; सरीरपएसे पडुच्च ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा, विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलियोगा वि।

[५८ प्र.] भगवन्! (अनेक) जीव काले वर्ण के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म हैं? इत्यादि प्रश्न।

[५८ उ.] गौतम! जीव-(आत्म-) प्रदेशों की अपेक्षा ओघादेश से भी और विधानादेश से भी न तो कृतयुग्म हैं यावत् न कल्योज हैं। शरीरप्रदेशों की अपेक्षा ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं, विधानादेश से वे कृतयुग्म भी हैं, यावत् कल्योज भी हैं।

५९. एवं जाव वेमाणिया।

[५९] (यहाँ से लेकर) यावत् वैमानिकों तक इसी प्रकार का कथन समझना चाहिए।

६०. एवं नीलवण्णपज्जवेहि वि दंडओ भाणियव्वो एगत्त-पुहत्तेणं।

[६०] इसी प्रकार एकवचन और बहुवचन से नीले वर्ण के पर्यायों की अपेक्षा भी वक्तव्यता कहनी चाहिए।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८७५-८७६

६१. एवं जाव लुक्खफासपज्जवेहिं।

[६१] इसी प्रकार (शेष वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के) यावत् रूक्ष स्पर्श के पर्यायों की अपेक्षा भी पूर्ववत् कथन करना चाहिए।

विवेचन—वर्णादि पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्मादि निरूपण—जीव-प्रदेश अमूर्त-अरूपी होते हैं, इसलिए उनमें कालादि वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय नहीं होते, परन्तु शरीर-विशिष्ट जीव का ग्रहण होने से शरीर के वर्णादि की अपेक्षा सामान्य एवं विशिष्ट जीव में कृत-युग्मादि चारों प्रकार की राशियों का व्यवहार हो सकता है। यहाँ सिद्ध-जीव के विषय में कृतयुग्मादि प्रश्न का निषेध किया गया है, उसका कारण यह है कि सिद्ध अमूर्त-अरूपी हैं। अतएव उनमें वर्णादि चारों होते ही नहीं हैं।[1]

जीव, चौवीस दण्डकों और सिद्धों में ज्ञान-अज्ञान-दर्शनपर्यायों की अपेक्षा एकत्व-बहुत्वदृष्टि से कृतयुग्मादि प्ररूपणा

६२. जीवे णं भंते ! आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मे जाव सिय कलियोगे।

[६२ प्र.] भगवन् ! (एक) जीव आभिनिबोधिकज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न।

[६२ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म है, यावत् कदाचित् कल्योज है।

६३. एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिए।

[६३] इसी प्रकार एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए।

६४. जीवा णं भंते ! आभिणिबोहियणाणपज्जवेहिं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा, विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलियोगा वि।

[६४ प्र.] भगवन् ! (बहुत) जीव आभिनिबोधिकज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[६४ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं। विधानादेश से कृतयुग्म भी हैं, यावत् कल्योज भी हैं।

६५. एवं एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिया।

[६५] इसी प्रकार एकेन्द्रिय को छोड़ कर यावत् वैमानिकों तक कहना चाहिए।

६६. एवं सुयनाणपज्जवेहि वि।

[६६] इसी प्रकार श्रुतज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा भी कथन करना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७६

६७. ओहिनाणपज्जवेहि वि एवं चेव, नवरं विगलिंदियाणं नत्थि ओहिनाणं।

[६७] अवधिज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा भी यही वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि विकलेन्द्रियों में अवधिज्ञान नहीं होता।

६८. मणपज्जवनाणं पि एवं चेव, नवरं जीवाणं मणुस्साण य, सेसाणं नत्थि।

[६८] मनःपर्यवज्ञान के पर्यायों के विषय में भी यही कथन करना चाहिए, किन्तु वह औधिक जीवों और मनुष्यों को ही होता है, शेष दण्डकों में नहीं पाया जाता।

६९. जीवे णं भंते! केवलनाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा! कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावरजुम्मे, णो कलियोए।

[६९ प्र.] भगवन्! (एक) जीव केवलज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है? इत्यादि प्रश्न।

[६९ उ.] गौतम! वह कृतयुग्म है, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं है।

७०. एवं मणुस्से वि।

[७०] इसी प्रकार मनुष्य के विषय में भी जानना।

७१. एवं सिद्धे वि।

[७१] सिद्ध के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

७२. जीवा णं भंते! केवलनाण० पुच्छा।

गोयमा! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावर०, नो कलियोगा।

[७२ प्र.] भगवन्! (अनेक) जीव केवलज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म हैं? इत्यादि प्रश्न।

[७२ उ.] गौतम! ओघादेश से और विधानादेश से भी वे कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापर-युग्म और कल्योज नहीं हैं।

७३. एवं मणुस्सा वि।

[७३] इसी प्रकार (अनेक) मनुष्यों के विषय में भी समझना चाहिए।

७४. एवं सिद्धा वि।

[७४] इसी प्रकार सिद्धों के विषय में कहना चाहिए।

७५. जीवे णं भंते! मतिअन्नाणपज्जवेहिं किं कडजुम्मे०?

जहा आभिणिबोहियनाणपज्जवेहिं तहेव दो दंडगा।

[७५ प्र.] भगवन्! (एक) जीव मतिअज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है? इत्यादि प्रश्न।

[७५ उ.] आभिनिबोधिकज्ञान के पर्यायों के समान यहाँ भी दो दण्डक कहने चाहिए।

७६. एवं सुयअन्नाणपज्जवेहि वि।

[७६] इसी प्रकार श्रुतअज्ञान के पर्यायों की अपेक्षा भी कथन करना चाहिए।

७७. एवं विभंगनाणपज्जवेहि वि।

[७७] विभंगज्ञान के पर्यायों का कथन भी इसी प्रकार है।

७८. चक्खुदंसण-अचक्खुदंसण-ओहिदंसणपज्जवेहि वि एवं चेव, नवरं जस्स जे अत्थि तं भाणियव्वं।

[७८] चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन के पर्यायों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए, किन्तु श्रुतअज्ञानादि में से जिसमें जो पाया जाता है, वह कहना चाहिए।

७९. केवलदंसणपज्जवेहिं जहा केवलनाणपज्जवेहिं।

[७९] केवलदर्शन के पर्यायों का कथन केवलज्ञान के पर्यायों के समान जानना चाहिए।

विवेचन—ज्ञान, अज्ञान और दर्शन के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्मादि निरूपण—आवरण के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण आभिनिबोधिकज्ञान की विशेषताओं को तथा उसके सूक्ष्म अविभाज्य अंशों को 'आभिनिबोधिकज्ञान के पर्याय' कहते हैं। वे अनन्त हैं, किन्तु क्षयोपशम की विचित्रता के कारण उनका अनन्तत्व अवस्थित नहीं है। अतएव भिन्न-भिन्न समय की अपेक्षा वे चारों राशि रूप होते हैं। यही बात अन्य ज्ञान, अज्ञान और दर्शन के विषय में जाननी चाहिए। एकेन्द्रिय जीव में सम्यक्त्व न होने से उनमें आभिनिबोधिक, श्रुत एवं अवधिज्ञान नहीं होता, न विकलेन्द्रियों में अवधिज्ञान होता है। इसलिए आभिनिबोधिक एवं श्रुतज्ञान के विषय में एकेन्द्रिय का और अवधिज्ञान के विषय में विकलेन्द्रिय का निषेध किया गया है।

सभी जीवों की अपेक्षा आभिनिबोधिकज्ञान के सभी पर्यायों को एकत्रित किया जाए तो सामान्यादेश से भिन्न-भिन्न काल की अपेक्षा वे चारों राशिरूप होते हैं, क्योंकि क्षयोपशम की विचित्रता के कारण उसके पर्याय अनन्त होने पर भी अवस्थित होते हैं। विशेषादेश से एक काल में भी चारों राशिरूप होते हैं। केवलज्ञान के पर्यायों का अनन्तत्व अवस्थित होने से वे कृतयुग्म-राशिरूप ही होते हैं। केवलज्ञान के पर्याय अविभाग-परिच्छेद (अविभाज्य-अंश) रूप होते हैं। इसलिए वे एक ही प्रकार के हैं। उनमें विशेषता नहीं होती।[1]

प्रज्ञापनासूत्र के अतिदेशपूर्वक शरीर सम्बन्धी विवरण

८०. कति णं भंते ! सरीरगा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच सरीरगा पन्नत्ता, तं जहा—ओरालिय जाव कम्मए। एत्थ सरीरगपदं निरवसेसं भाणियव्वं जहा पण्णवणाए।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७६, ८७७

२. पण्णवणासुत्तं भाग १, सू. ९०१-२४, पृ. २२३-२८ (श्री महावीर जैन विद्यालय से प्रकाशित)

[८० प्र.] भगवन् ! शरीर कितने प्रकार के कहे हैं ?

[८० उ.] गौतम ! शरीर पांच प्रकार के कहे हैं, यथा—औदारिक, वैक्रिय, यावत् कार्मण-शरीर । यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का बारहवां शरीरपद समग्र कहना चाहिए ।

जीव तथा चौवीस दण्डकों में सकम्प-निष्कम्प तथा देशकम्प-सर्वकम्प प्ररूपणा

८१. [१] जीवा णं भंते ! किं सेया, निरेया ?

गोयमा ! जीवा सेया वि, निरेया वि ।

[८१-१ प्र.] भगवन् ! जीव सैज (सकम्प) हैं अथवा निरेज (निष्कम्प) हैं ?

[८१-१ उ.] गौतम ! जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी हैं ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—जीवा सेया वि, निरेया वि ?

गोयमा ! जीवा दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—संसारसमावन्नगा य, असंसारसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते असंसारसमावन्नगा ते णं सिद्धा, सिद्धा णं दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अणंतरसिद्धा य, परंपरसिद्धा य, तत्थ णं जे ते परंपरसिद्धा ते णं निरेया । तत्थ णं जे ते अणंतरसिद्धा ते णं सेया ।

[८१-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से कहते हैं कि जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी हैं ?

[८१-२ उ.] गौतम ! जीव दो प्रकार के कहे हैं यथा—संसार-समापन्नक और असंसार-समापन्नक । उनमें से जो असंसार-समापन्नक हैं, वे सिद्ध जीव हैं । सिद्ध जीव दो प्रकार के कहे हैं । यथा—अनन्तर-सिद्ध और परम्पर-सिद्ध । जो परम्पर-सिद्ध हैं, वे निष्कम्प हैं और जो अनन्तर-सिद्ध है, वे सकम्प हैं ।

८२. ते णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ?

गोयमा ! नो देसेया, सव्वेया ।

[८२ प्र.] भगवन् ! (अनन्तरसिद्ध, जो सकम्प हैं) वे देशकम्पक हैं या सर्व-कम्पक हैं ?

[८२ उ.] गौतम ! वे देशकम्पक नहीं, सर्व-कम्पक हैं ।

८३. तत्थ णं जे ते संसारसमावन्नगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सेलेसिपडिवन्नगा य, असेलेसिपडिवन्नगा य । तत्थ णं जे ते सेलेसिपडिवन्नगा ते णं निरेया। तत्थ णं जे ते असेलेसिपडिवन्नगा ते णं सेया ।

[८३] जो संसार-समापन्नक जीव हैं, वे दो प्रकार के कहे हैं । यथा—शैलेशी-प्रतिपन्नक और अशैलेशी-प्रतिपन्नक । जो शैलेशी-प्रतिपन्नक हैं, वे निष्कम्प हैं, किन्तु जो अशैलेशी-प्रतिपन्नक हैं, वे सकम्प हैं ।

८४. ते णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ?

गोयमा ! देसेया वि, सव्वेया वि । से तेणट्ठेणं जाव निरेया वि ।

[८४ प्र.] भगवन् ! वे (अशैलेशी-प्रतिपन्नक) देशकम्पक हैं या सर्वकम्पक ?
[८४ उ.] गौतम ! वे देशकम्पक भी हैं और सर्वकम्पक भी हैं।

इस कारण से हे गौतम ! यावत् वे निष्कम्प भी हैं, यह कहा गया है।

८५. [१] नेरइया णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया ?

गोयमा ! देसेया वि, सव्वेया वि।

[८५-१ प्र.] भगवन् ! नैरयिक देशकम्पक हैं या सर्वकम्पक ?
[८५-१ उ.] गौतम ! वे देशकम्पक भी हैं और सर्वकम्पक भी हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव सव्वेया वि ?

गोयमा ! नेरइया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—विग्गहगतिसमावन्नगा य, अविग्गहगतिसमावन्नगा य। तत्थ णं जे ते विग्गहगतिसमावन्नगा ते णं सव्वेया, तत्थ णं जे ते अविग्गहगतिसमावन्नगा ते णं देसेया, से तेणट्ठेणं जाव सव्वेया वि।

[८५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से कहा जाता है कि नैरयिक देशकम्पक भी हैं और सर्वकम्पक भी हैं ?

[८५-२ उ.] गौतम ! नैरयिक दो प्रकार के कहे हैं। यथा—विग्रहगति-समापन्नक और अविग्रहगति-समापन्नक। उनमें से जो विग्रहगति-समापन्नक हैं, वे सर्वकम्पक हैं और जो अविग्रहगति-समापन्नक हैं, वे देशकम्पक हैं।

इस कारण से यह कहा जाता है कि नैरयिक देशकम्पक भी हैं और सर्वकम्पक भी हैं।

८६. एवं जाव वेमाणिया।

[८६] इसी प्रकार (असुरकुमार से लेकर) यावत् वैमानिकों तक जानना चाहिए।

विवेचन—जीवों और चौवीस दण्डकों में सकम्पता-निष्कम्पता—सिद्धत्व-प्राप्ति के प्रथम समयवर्ती जीव 'अनन्तर-सिद्ध' कहलाते हैं, क्योंकि उस समय एक समय का भी अन्तर नहीं होता, अतएव सिद्धत्व के प्रथम समय में वर्तमान सिद्धजीवों में कम्पन होता है। उसका कारण यह है कि सिद्धिगमन का और सिद्धत्व-प्राप्ति का समय एक ही होने से और सिद्धिगमन के समय गमनक्रिया होने से वे सकम्प होते हैं। जिन्हें सिद्धत्व प्राप्ति के पश्चात् दो-तीन आदि समय का अन्तर पड़ जाता है, वे 'परम्पर-सिद्ध' कहलाते हैं। वे सर्वथा निष्कम्प होते हैं।

मोक्षगमन के पूर्व जो जीव शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं, वे योगों का सर्वथा निरोध कर देते हैं, अतः उस समय वे निष्कम्प होते हैं। जो जीव मर कर ईलिका-गति से उत्पत्तिस्थान में जाते हैं, वे देशतः सकम्प होते हैं, क्योंकि उनका पूर्वशरीर में रहा हुआ अंश गतिक्रिया-रहित होने से निष्कम्प (निश्चल) होता है और जो अंश गतिक्रिया-सहित है, वह सकम्प है। इस कारण वह देशतः सकम्प कहा गया है।

विग्रहगति को प्राप्त जो जीवत अर्थात् मर कर अन्य गति में (उत्पत्तिस्थान को) जाता हुआ जीव गेंद की गति के समान सर्वप्रदेशों से उत्पन्न होता है, वह सर्वतः सकम्प होता है। जो

जीव विग्रहगति को प्राप्त नहीं हैं, वे दो प्रकार के हैं, यथा—ऋजुगति वाले और अवस्थित। यहाँ केवल अवस्थित ही ग्रहण किये हैं, ऐसा सम्भावित है। शरीर में रहते हुए मरणसमुद्घात करके ईलिकागति से उत्पत्ति-क्षेत्र को अंशतः स्पर्श करते हैं, इसलिए वे देशतः कम्पक होते हैं। अथवा स्वक्षेत्र में रहे हुए जीव अपने हाथ-पैर आदि अवयवों को इधर-उधर चलाते हैं, इस कारण वे देशतः सकम्पक हैं।[1]

कठिन शब्दार्थ—सेय—चलन-कम्पन के सहित—सैज। निरेय—निश्चल—निष्कम्प।

परमाणु-पुद्गलों से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक की अनन्तता

८७. परमाणुपोग्गला णं भंते! किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता?

गोयमा! नो संखेज्जा, नो असंखेज्जा, अणंता।

[८७ प्र.] भगवन्! परमाणु-पुद्गल संख्यात हैं, असंख्यात हैं अथवा अनन्त हैं?

[८७ उ.] गौतम! संख्यात नहीं, असंख्यात भी नहीं, किन्तु अनन्त हैं।

८८. एवं जाव अणंतपदेसिया खंधा।

[८८] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना।

एक प्रदेशावगाढ से असंख्येय प्रदेशावगाढ पुद्गलों की अनन्तता

८९. एगपएसोगाढा णं भंते! पोग्गला किं संखेज्जा, असंखेज्जा, अणंता?

एवं चेव।

[८९ प्र.] भगवन्! आकाश के एक प्रदेश में रहे हुए पुद्गल संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?

[८९ उ.] गौतम! पूर्ववत् (अनन्त) हैं।

९०. एवं जाव असंखेज्जपदेसोगाढा।

[९०] इसी प्रकार यावत् असंख्येय प्रदेशों में रहे हुए पुद्गलों तक जानना चाहिए।

एक समय से लेकर असंख्यात समय की स्थिति वाले पुद्गलों की अनन्तता

९१. एगसमयट्ठितीया णं भंते! पोग्गला किं संखेज्जा, असंखेज्जा०?

एवं चेव।

[९१ प्र.] भगवन्! एक समय की स्थिति वाले पुद्गल संख्यात हैं, असंख्यात हैं या अनन्त हैं?

[९१ उ.] गौतम! पूर्ववत् जानना।

९२. एवं जाव असंखेज्जसमयट्ठितीया।

[९२] इसी प्रकार यावत् असंख्यात-समय की स्थिति वाले पुद्गलों के विषय में भी कहना चाहिए।

---

1. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७७

वर्णगन्धादि वाले पुद्गलों की अनन्तता

९३. एगगुणकालगा णं भंते ! पोग्गला किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[९३ प्र.] भगवन् ! एकगुण काले पुद्गल संख्यात हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[९३ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना।

९४. एवं जाव अणंतगुणकालगा।

[९४] इसी प्रकार यावत् अनन्तगुण काले पुद्गलों के विषय में जानना।

९५. एवं अवसेसा वि वण्ण-गंध-रस-फासा नेयव्वा जाव अणंतगुणलुक्ख त्ति।

[९५] इसी प्रकार शेष वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श वाले पुद्गलों के विषय में भी यावत् अनन्तगुण रूक्ष पर्यन्त जानना।

परमाणु-पुद्गल से अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक की द्रव्य-प्रदेशार्थ से यथायोग्य बहुत्व प्ररूपणा

९६. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपएसियाण य खंधाणं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया ?

गोयमा ! दुपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए बहुगा।

[९६ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल और द्विप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[९६ उ.] गौतम ! द्विप्रदेशी स्कन्धों से परमाणु पुद्गल द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

९७. एएसि णं भंते ! दुपएसियाणं तिपएसियाण य खंधाणं दव्वट्ठताए कयरे कयरेहिंतो बहुगा ?

गोयमा ! तिपएसिएहिंतो खंधेहिंतो दुपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुगा।

[९७ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी और त्रिप्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थ से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[९७ उ.] गौतम ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध से द्विप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

९८. एवं एएणं गमएणं जाव दसपएसिएहिंतो खंधेहिंतो नवपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया।

[९८] इस गमक (पाठ) के अनुसार यावत् दशप्रदेशी स्कन्धों से नवप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

९९. एएसि णं भंते ! दसपदे० पुच्छा।

गोयमा ! दसपदेसिएहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया।

[९९ प्र.] भगवन् ! दशप्रदेशी स्कन्धों और संख्यातप्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थ से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[९९ उ.] गौतम ! दशप्रदेशिक स्कन्धों से संख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

१००. एएसि णं संखेज्ज० पुच्छा।

गोयमा ! संखेज्जपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया।

[१०० प्र.] भगवन् ! इन संख्यातप्रदेशी स्कन्धों और असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थ से कौन किससे० ? इत्यादि प्रश्न।

[१०० उ.] गौतम ! संख्यातप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

१०१. एएसि णं भंते ! असंखेज्ज० पुच्छा।

गोयमा ! अणंतपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए बहुया।

[१०१ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थ से कौन किससे ? इत्यादि प्रश्न।

[१०१ उ.] गौतम ! अनन्तप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से बहुत हैं।

१०२. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं दुपएसियाण य खंधाणं पएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो बहुया ?

गोयमा ! परमाणुपोग्गलेहिंतो दुपएसिया खंधा पएसट्ठयाए बहुया।

[१०२ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल और द्विप्रदेशी स्कन्धों में प्रदेशार्थरूप से कौन किससे बहुत हैं ?

[१०२ उ.] गौतम ! परमाणु-पुद्गलों से द्विप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से बहुत हैं।

१०३. एवं एएणं गमएणं जाव नवपएसिएहिंतो खंधेहिंतो दसपएसिया खंधा पएसट्ठयाए बहुया।

[१०३] इस प्रकार इस गमक (पाठ) के अनुसार यावत् नवप्रदेशी स्कन्धों से दशप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से बहुत हैं।

१०४. एवं सव्वत्थ पुच्छियव्वं। दसपएसिहिंतो खंधेहिंतो संखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया। संखेज्जपएसिएहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया।

[१०४] इस प्रकार सर्वत्र प्रश्न करना चाहिए। दशप्रदेशी स्कन्धों से संख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से बहुत हैं। संख्यातप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से बहुत हैं।

१०५. एएसि णं भंते ! असंखेज्जपएसियाणं० पुच्छा।

गोयमा ! अणंतपएसिएहिंतो खंधेहिंतो असंखेज्जपएसिया खंधा पदेसट्ठयाए बहुया।

[१०५ प्र.] भगवन् ! असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में कौन किससे बहुत हैं ?

[१०५ उ.] गौतम ! अनन्तप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ रूप से बहुत हैं।

विवेचन—परमाणु-पुद्गलों से अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक का अल्पबहुत्व—द्वयणुकों से परमाणु सूक्ष्म तथा एक होने के कारण बहुत हैं और द्विप्रदेशी स्कन्ध परमाणुओं से स्थूल होने से थोड़े हैं, इसी प्रकार आगे-आगे के सूत्रों के विषय में जानना चाहिए। पूर्व-पूर्व की संख्या बहुत है और पीछे-पीछे की संख्या थोड़ी है। दशप्रदेशी स्कन्धों से संख्यातप्रदेशी स्कन्ध बहुत हैं, क्योंकि संख्यात के स्थान बहुत हैं। संख्यातप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध बहुत हैं, क्योंकि संख्यातप्रदेशी स्कन्धों की अपेक्षा असंख्यात के स्थान बहुत हैं, परन्तु असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अल्प हैं, क्योंकि उनका तथाविध सूक्ष्म-परिणाम होता है।

प्रदेशार्थ से विचार करते हुए बताया गया है कि परमाणुओं से द्विप्रदेशी स्कन्ध बहुत हैं। कल्पना करो कि द्रव्यरूप से परमाणु सौ और द्विप्रदेशी स्कन्ध साठ हैं; तो प्रदेशार्थरूप से परमाणु तो सौ ही हैं, परन्तु द्वयणुक १२० हैं। इस प्रकार द्वयणुक बहुत हैं। यही विचारणा आगे भी समझनी चाहिए।[1]

१०६. एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं दुपएसोगाढाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया ?

गोयमा ! दुपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो एगपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया।

[१०६ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ और द्विप्रदेशावगाढ पुद्गलों में, द्रव्यार्थ से कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१०६ उ.] गौतम ! द्विप्रदेशावगाढ पुद्गलों से एक प्रवेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से विशेषाधिक हैं।

१०७. एवं एएणं गमएणं तिपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया जाव दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो नवपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया। दसपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। संखेज्जपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। पुच्छा सव्वत्थ भाणियव्वा।

[१०७] इसी गमक (पाठ) के अनुसार त्रिप्रदेशावगाढ पुद्गलों से द्विप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से विशेषाधिक हैं, यावत् दशप्रदेशावगाढ पुद्गलों से नवप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से विशेषाधिक हैं। दशप्रदेशावगाढ पुद्गलों से संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से बहुत हैं। संख्यात-प्रदेशावगाढ पुद्गलों से असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से बहुत हैं। पृच्छा सर्वत्र समझ लेनी चाहिए।

१०८. एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं दुपएसोगाढाण य पोग्गलाणं पएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो विसेसाहिया ?

गोयमा ! एगपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए विसेसाहिया।

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७९
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३२८५

[१०८ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ और द्विप्रदेशावगाढ पुद्गलों में प्रदेशार्थ-रूप से कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१०८ उ.] गौतम ! एकप्रदेशावगाढ पुद्गलों से द्विप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थरूप से विशेषाधिक हैं।

१०९. एवं जाव नवपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो दसपएसोगाढा पोग्गला पएसट्ठताए विसेसाहिया। दसपदेसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पएसट्ठयाए बहुया। संखेज्जपएसोगाढेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पएसट्ठयाए बहुया।

[१०९] इसी प्रकार यावत् नवप्रदेशावगाढ पुद्गलों से दशप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से विशेषाधिक हैं। दशप्रदेशावगाढ पुद्गलों से संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से बहुत हैं। संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गलों से असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से बहुत हैं।

११०. एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठितीयाणं दुसमयट्ठितीयाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठताए० ?

जहा ओगाहणाए वत्तव्वया एवं ठितीए वि।

[११० प्र.] भगवन् ! एक समय की स्थिति वाले और दो समय की स्थिति वाले पुद्गलों में द्रव्यार्थरूप से कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[११० उ.] गौतम ! अवगाहना की वक्तव्यता के अनुसार स्थिति की वक्तव्यता जाननी चाहिए।

विवेचन—एकप्रदेशावगाढ—परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक एकप्रदेशावगाढ होते हैं। **द्विप्रदेशावगाढ**—द्व्यणुक से लेकर अनन्त-अणुकस्कन्ध तक द्विप्रदेशावगाढ होते हैं। **त्रिप्रदेशावगाढ**—त्रिप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक **त्रिप्रदेशावगाढ** होते हैं। इस प्रकार चतुष्प्रदेशावगाढ से लेकर असंख्यातप्रदेशावगाढ स्कन्ध तक जान लेना चाहिए।[1]

एक गुण काले आदि वर्ण तथा गन्ध-रस-स्पर्श वाले पुद्गलों की वक्तव्यता

१११. एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं दुगुणकालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठताए० ?

एएसिं जहा परमाणुपोग्गलादीणं तहेव वत्तव्वया निरवसेसा।

[१११ प्र.] भगवन् ! एकगुण काले और द्विगुण काले पुद्गलों में द्रव्यार्थरूप से कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१११ उ.] गौतम ! परमाणुपुद्गल आदि की वक्तव्यता के अनुसार इनकी सम्पूर्ण वक्तव्यता जाननी चाहिए।

११२. एवं सव्वेसिं वण्ण-गंध-रसाणं।

[११२] इसी प्रकार सभी वर्णों, गन्धों और रसों के विषय में वक्तव्यता जाननी चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७९

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३२८५

एकादिगुण कर्कश स्पर्श वाले पुद्गलों की द्रव्यार्थ प्रदेशार्थ से विशेषाधिकतादि प्ररूपणा

११३. एएसि णं भंते ! एगगुणकक्खडाणं दुगुणकक्खडाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया ?

गोयमा ! एगगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो दुगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया।

[११३ प्र.] भगवन् ! एकगुण कर्कश और द्विगुण कर्कश पुद्गलों में द्रव्यार्थरूप से कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[११३ उ.] गौतम ! एकगुण कर्कश पुद्गलों से द्विगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थरूप से विशेषाधिक हैं।

११४. एवं जाव नवगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो दसगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए विसेसाहिया। दसगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। संखेज्जगुणकक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो असंखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया। असंखेज्जगुण-कक्खडेहिंतो पोग्गलेहिंतो अणंतगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए बहुया।

[११४] इसी प्रकार यावत् नवगुण-कर्कश पुद्गलों से दशगुण-कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थरूप से विशेषाधिक हैं। दशगुण-कर्कश पुद्गलों से संख्यातगुण-कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थरूप से बहुत हैं। संख्यात-गुण-कर्कश पुद्गलों से असंख्यातगुण-कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थरूप से बहुत हैं। असंख्यातगुण-कर्कश पुद्गलों से अनन्तगुण-कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थरूप से बहुत हैं।

११५. एवं पएसट्ठताए वि। सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा।

[११५] प्रदेशार्थरूप से समग्र वक्तव्यता भी इसी प्रकार जाननी चाहिए। सर्वत्र प्रश्न करना चाहिए।

११६. जहा कक्खडा एवं मउय-गरुय-लहुया वि।

[११६] कर्कश स्पर्श सम्बन्धी वक्तव्यता के अनुसार मृदु (कोमल), गुरु (भारी) और लघु (हलके) स्पर्श के विषय में समझना चाहिए।

११७. सीय-उसिण-निद्ध-लुक्खा जहा वण्णा।

[११७] शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रूक्ष स्पर्श के विषय में वर्णों की वक्तव्यता के अनुसार जानना चाहिए।

विवेचन—स्पर्श-विशिष्ट पुद्गलों में अल्पबहुत्व—वर्णादिभावविशिष्ट पुद्गलों के अल्पबहुत्व की विचारणा के सन्दर्भ में कर्कशादि चार स्पर्शों से युक्त पुद्गलों में पूर्व-पूर्व से उत्तर-उत्तर वाले पुद्गल द्रव्यार्थरूप से तथाविध स्वभाव के कारण बहुत कहने चाहिए। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्शों से युक्त पुद्गलों में काले आदि वर्णविशेषों के समान दश गुणों तक उत्तर-उत्तर वालों से पूर्व-पूर्व वाले बहुत कहने चाहिए।[1] शेष मूल पाठ से स्पष्ट है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८७९

११८. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं, संखेज्जपदेसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। पएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा पएसट्ठताए, परमाणुपोग्गला अपदेसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा, परमाणुपोग्गला दव्वट्ठअपएसट्ठयाए अणंतगुणा, संखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसिया खंधा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा।

[११८ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल, संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थरूप से, प्रदेशार्थरूप से तथा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ-रूप से कौन-से पुद्गल-स्कन्ध किन पुद्गल-स्कन्धों से यावत् विशेषाधिक हैं ?

[११८ उ.] गौतम ! द्रव्यार्थरूप से—सबसे अल्प अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हैं, उनसे द्रव्यार्थ से परमाणु-पुद्गल अनन्तगुणे हैं। उनसे संख्यातप्रदेशी स्कन्ध संख्यातगुणे हैं, उनसे द्रव्यार्थरूप से असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध असंख्यातगुणे हैं। प्रदेशार्थरूप से—सबसे थोड़े अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हैं। उनसे अप्रदेशार्थरूप से परमाणु-पुद्गल अनन्तगुणे हैं। उनसे संख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से संख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशी-स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से असंख्यात-गुणे हैं। द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से—सबसे अल्प अनन्तप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से हैं। इनसे अनन्तप्रदेशी स्कंध प्रदेशार्थ से अनन्तगुण हैं। उनसे परमाणुपुद्गल द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थ से अनन्तगुण हैं। उनसे संख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे संख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से संख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे हैं।

विवेचन—परमाणु की अप्रदेशार्थता का आशय—प्रदेशार्थता के प्रकरण में परमाणु के लिए जो 'अप्रदेशार्थता' कही है, उसका आशय यह है कि परमाणु के प्रदेश नहीं होते। इसलिए अप्रदेशार्थरूप से परमाणु को अनन्तगुण कहा है। द्रव्य की विवक्षा में परमाणु द्रव्य है और प्रदेश की विवक्षा में उसके प्रदेश नहीं होने से अप्रदेश है। इस प्रकार परमाणु की द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थता कही है।[1]

एक-संख्येय-असंख्येय-प्रदेशी पुद्गलों की अवगाहना एवं स्थिति को लेकर अल्पबहुत्वचर्चा

११९. एएसि णं भंते ! एगपएसोगाढाणं संखेज्जपएसोगाढाणं असंखेज्जपएसोगाढाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पदेसट्ठयाए दव्वट्ठपदेसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा। पएसट्ठयाए—

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८०

सव्वत्थोवा एगपदेसोगाढा पोग्गला अपएसट्ठयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा। दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा एगपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठअपदेसट्ठयाए, संखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जपएसोगाढा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा।

[११९ प्र.] भगवन् ! एकप्रदेशावगाढ, संख्यातप्रदेशावगाढ, और असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गलों में, द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से कौन-से पुद्गल किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[११९ उ.] गौतम ! द्रव्यार्थ से—एकप्रदेशावगाढ पुद्गल सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यातगुण हैं। प्रदेशार्थ से—एक-प्रदेशावगाढ पुद्गल अप्रदेशार्थ से सबसे थोड़े हैं। उनसे संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से असंख्यातगुण हैं। द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से—एकप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थ से सबसे अल्प हैं। उनसे संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे संख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातप्रदेशावगाढ पुद्गल प्रदेशार्थ से असंख्यातगुण हैं।

१२०. एएसि णं भंते ! एगसमयट्ठितीयाणं संखेज्जसमयट्ठितीयाणं असंखेज्जसमयट्ठितीयाण य पोग्गलाणं० ?

जहा ओगाहणाए तहा ठितीए वि भाणियव्वं अप्पाबहुगं।

[१२० प्र.] भगवन् ! एकसमय की स्थिति वाले, संख्यातसमय की स्थिति वाले और असंख्यातसमय की स्थिति वाले पुद्गलों में कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१२० उ.] गौतम ! अवगाहना के अल्पबहुत्व के समान स्थिति का अल्पबहुत्व कहना चाहिए।

विवेचन—क्षेत्रावगाढ पुद्गलों का अल्पबहुत्व—क्षेत्राधिकार में क्षेत्र की प्रधानता है। अतएव परमाणु पुद्गल तथा द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध भी किसी विवक्षित एक क्षेत्र में अवगाढ कहे जाते हैं। यहाँ आधार और आधेय में अभेद की विवक्षा करने से वे एकप्रदेशावगाढ कहे जाते हैं। इसलिए एकप्रदेशावगाढ पुद्गल द्रव्यार्थ से सबसे थोड़े हैं, क्योंकि वे लोकाकाश के प्रदेशप्रमाण ही हैं। कोई भी ऐसा आकाशप्रदेश नहीं है, जो एक प्रदेशावगाही परमाणु आदि को अवकाश-प्रदानरूप परिणाम से परिणत न हो। इसी प्रकार आगे संख्यात-प्रदेशावगाढ आदि पुद्गलों के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८०

एक-संख्येय-असंख्येय-अनन्तगुण वर्ण-गन्धादि वाले पुद्गलों की द्रव्यार्थ प्रदेशार्थरूप से अल्प-बहुत्वचर्चा

१२१. एएसि णं भंते ! एगगुणकालगाणं संखेज्जगुणकालगाणं असंखेज्जगुणकालगाणं अणंतगुणकालगाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए० ?

एएसिं जहा परमाणुपोग्गलाणं अप्पाबहुगं तहा एतेसिं पि अप्पाबहुगं ।

[१२१ प्र.] भगवन् ! एकगुण काला, संख्यातगुण काला, असंख्यातगुण काला और अनन्त-गुण काला, इन पुद्गलों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कौन पुद्गल किन पुद्गलों से यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१२१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार परमाणु-पुद्गलों का अल्पवहुत्व वताया गया है, उसी प्रकार इनका भी अल्पवहुत्व जानना चाहिए ।

१२२. एवं सेसाण वि वण्ण-गंध-रसाणं ।

[१२२] इसी प्रकार शेष वर्ण, गन्ध और रस सम्बन्धी अल्पबहुत्व के विपय में कहना चाहिए ।

१२३. एएसि णं भंते ! एगगुणकक्खडाणं संखेज्जगुणकक्खडाणं असंखेज्जगुणकक्खडाणं अणंतगुणकक्खडाण य पोग्गलाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा एगगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए, संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, अणंतगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए अणंतगुणा । पएसट्ठयाए एवं चेव, नवरं संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तं चेव । दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा एगगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठपएसट्ठयाए, संखेज्जगुणकक्खडा पोग्गला दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा, असंखेज्जगुण-कक्खडा दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा । अणंतगुणकक्खडा दव्वट्ठयाए अणंतगुणा, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा ।

[१२३ प्र.] भगवन् ! एकगुण कर्कश, संख्यातगुण कर्कश, असंख्यातगुण कर्कश और अनन्तगुण कर्कश पुद्गलों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कौन पुद्गल किन पुद्गलों से यावत् विशेषाधिक हैं ?

[१२३ उ.] गौतम ! एकगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से सबसे थोड़े हैं । उनसे संख्यातगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से संख्यातगुण हैं । उनसे असंख्यातगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यात गुण हैं । उनसे अनन्तगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से अनन्तगुण हैं । प्रदेशार्थ से भी इसी प्रकार समझना चाहिए । विशेष यह है कि संख्यातगुण कर्कष-पुद्गल प्रदेशार्थ से असंख्यातगुण है । शेष कथन पूर्ववत् । द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से—एक गुणकर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से सबसे थोड़े हैं । उनसे संख्यातगुण कर्कश

पुद्गल द्रव्यार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे संख्यातगुण कर्कश पुद्गल प्रदेशार्थ से संख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यातगुण हैं। उनसे असंख्यातगुण कर्कश पुद्गल प्रदेशार्थ से असंख्यातगुण हैं। उनसे अनन्तगुण कर्कश पुद्गल द्रव्यार्थ से अनन्तगुण हैं। इसी प्रकार उनसे अनन्तगुण कर्कश पुद्गल प्रदेशार्थ से अनन्तगुण हैं।

१२४. एवं मउय-गरुय-लहुयाण वि अप्पाबहुयं।

[१२४] इसी प्रकार मृदु, गुरु और लघु स्पर्श के अल्पबहुत्व के विषय में कहना चाहिए।

१२५. सीय-उसिण-निद्ध-लुक्खाणं जहा वण्णाणं तहेव।

[१२५] शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्शों-सम्बन्धी अल्पबहुत्व वर्णों के अल्पबहुत्व के समान है।

विवेचन—वर्णादि चारों का द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से अल्पबहुत्व—एक-गुण काले आदि वर्णों से लेकर रूक्षस्पर्श वाले पुद्गलों तक का द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ एवं द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ रूप से अल्पबहुत्व का यथोचित तथा क्रमशः कथन किया गया है।[1]

१२६. परमाणुपोग्गले णं भंते ! दव्वट्ठताए किं कडजुम्मे, तेयोए, दावर०, कलियोगे ?

गोयमा ! नो कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावर०, कलियोए।

[१२६ प्र.] भगवन् ! एक परमाणु पुद्गल द्रव्यार्थ रूप से कृतयुग्म है, त्र्योज द्वापरयुग्म है या कल्योज है ?

[१२६ उ.] गौतम ! वह न तो कृतयुग्म है, न त्र्योज है और न द्वापरयुग्म है, किन्तु कल्योज है।

१२७. एवं जाव अणंतपएसिए खंधे।

[१२७] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

१२८. परमाणुपोग्गला णं भंते ! दव्वट्ठयाए किं कडजुम्मा० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा। विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोगा, नो दावर०, कलियोगा।

[१२८ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणुपुद्गल द्रव्यार्थ से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१२८ उ.] गौतम ! ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म, यावत् कल्योज हैं; किन्तु विधानादेश से कृतयुग्म, त्र्योज या द्वापरयुग्म नहीं हैं, कल्योज हैं।

१२९. एवं जाव अणंतपएसिया खंधा।

[१२९] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्धों पर्यन्त जानना चाहिये।

१३०. परमाणुपोग्गले णं भंते ! पदेसट्ठयाए किं कडजुम्मे० पुच्छा।

गोयमा ! नो कडजुम्मे, नो तेयोगे, नो दावर०, कलियोए।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. १०००

[१३० प्र.] भगवन् ! परमाणुपुद्गल प्रदेशार्थ से कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१३० उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म नहीं, त्र्योज नहीं तथा द्वापरयुग्म भी नहीं है, किन्तु कल्योज है ।

१३१. दुपएसिए पुच्छा ।

गोयमा ! नो कड०, नो तेयोए, दावर०, नो कलियोगे ।

[१३१ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी स्कन्ध ?

[१३१ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म, त्र्योज या कल्योज नहीं है, किन्तु द्वापरयुग्म है ।

१३२. तिपएसिए पुच्छा ।

गोयमा ! नो कडजुम्मे, तेयोए, नो दावर०, नो कलियोए ।

[१३२ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध ?

[१३२ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म, द्वापरयुग्म और कल्योज नहीं है, किन्तु त्र्योज है ।

१३३. चउप्पएसिए पुच्छा ।

गोयमा ! कडजुम्मे, नो तेयोए, नो दावर०, नो कलियोए ।

[१३३ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध ?

[१३३ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म है, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज नहीं है ।

१३४. पंचपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले ।

[१३४] पंचप्रदेशी स्कन्ध की वक्तव्यता परमाणुपुद्गल के कथन के समान जानना ।

१३५. छप्पदेसिए जहा दुपदेसिए ।

[१३५] षट्प्रदेशी की वक्तव्यता द्विप्रदेशीस्कन्ध के समान जानना ।

१३६. सत्तपदेसिए जहा तिपदेसिए ।

[१३६] सप्तप्रदेशी स्कन्ध का कथन त्रिप्रदेशी स्कन्ध के समान है ।

१३७. अट्ठपएसिए जहा चउपदेसिए ।

[१३७] अष्टप्रदेशी स्कन्ध का कथन परमाणुपुद्गल के समान जानना चाहिए ।

१३८. नवपदेसिए जहा परमाणुपोग्गले ।

[१३८] नवप्रदेशी स्कन्ध का कथन परमाणुपुद्गल के समान जानना चाहिए ।

१३९. दसपदेसिए जहा दुपदेसिए ।

[१३९] दशप्रदेशी स्कन्ध का कथन द्विप्रदेशिक के समान है ।

१४०. संखेज्जपएसिए णं भंते ! पोग्गले० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्मे, जाव सिय कलियोगे ।

[१४० प्र.] भगवन् ! संख्यातप्रदेशी पुद्गल ?
[१४० उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म है, यावत् कदाचित् कल्योज है।

१४१. एवं असंखेज्जपदेसिए वि, अणंतपदेसिए वि।

[१४१] इसी प्रकार असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्ध भी जानना चाहिए।

१४२. परमाणुपोग्गला णं भंते ! पएसट्ठताए किं कड० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोया, नो दावर०, कलियोगा।

[१४२ प्र.] ! भगवन् (बहुत) परमाणुपुद्गल प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१४२ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं। विधानादेश से कृतयुग्म, त्र्योज और द्वापरयुग्म नहीं हैं, किन्तु कल्योज हैं।

१४३. दुप्पएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा, नो तेयोया, सिय दावरजुम्मा, नो कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, नो तेयोया, दावरजुम्मा, नो कलियोगा।

[१४३ प्र.] भगवन् ! (अनेक) द्विप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१४३ उ.] गौतम ! ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म हैं, कदाचित् द्वापरयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज और कल्योज नहीं हैं।

१४४. तिपएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मा, तेयोगा, नो दावरजुम्मा, नो कलियोगा।

[१४४ प्र.] भगवन् ! (अनेक) त्रिप्रदेशी स्कन्ध, प्रदेशार्थ रूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।
[१४४ उ.] गौतम ! ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म, द्वापरयुग्म या कल्योज नहीं हैं, किन्तु त्र्योज हैं।

१४५. चउप्पएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेण वि विहाणादेसेण वि कडजुम्मा, नो तेयोगा नो दावर०, नो कलियोगा।

[१४५ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशिक स्कन्ध, प्रदेशार्थ रूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।
[१४५ उ.] गौतम ! ओघादेश से और विधानादेश से भी वे कृतयुग्म हैं, किन्तु त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज नहीं हैं।

१४६. पंचपएसिया जहा परमाणुपोग्गला।

[१४६] पंचप्रदेशी स्कन्धों की वक्तव्यता परमाणुपुद्गल के समान हैं।

१४७. छप्पएसिया जहा दुपएसिया।

[१४७] षट्प्रदेशी स्कन्धों का कथन द्विप्रदेशी स्कन्धों के समान है।

१४८. सत्तपएसिया जहा तिपएसिया।

[१४८] सप्तप्रदेशी स्कन्ध त्रिप्रदेशी स्कन्धवत् जानना चाहिए।

१४९. अट्ठपएसिया जहा चउपएसिया।

[१४९] अष्टप्रदेशी स्कन्ध की वक्तव्यता चतुष्प्रदेशी स्कन्ध के समान है।

१५०. नवपएसिया जहा परमाणुपोग्गला।

[१५०] नवप्रदेशी स्कन्ध का कथन परमाणु-पुद्गलों के समान है।

१५१. दसपएसिया जहा दुपएसिया।

[१५१] दशप्रदेशी स्कन्ध की वक्तव्यता द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान जानना।

१५२. संखेज्जपएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा; विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलियोगा वि।

[१५२ प्र.] भगवन् (अनेक) संख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थरूप से कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१५२ उ.] गौतम ! ओघादेश से कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं। विधानादेश से कृतयुग्म भी हैं यावत् कल्योज भी हैं।

१५३. एवं असंखेज्जपएसिया वि, अणंतपएसिया वि।

[१५३] इसी प्रकार (अनेक) असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी स्कन्धों की वक्तव्यता जानना।

विवेचन—परमाणु-पुद्गलों में कृतयुग्मादि—परमाणु-पुद्गल अनन्त होने पर भी उनमें संघात और भेद के कारण अनवस्थित-स्वरूप होने से वे ओघादेश से कृतयुग्मादि होते हैं। विधानादेश से अर्थात् प्रत्येक की अपेक्षा तो वे कल्योज ही होते हैं। इसी प्रकार आगे के सूत्रों में कृतयुग्मादि संख्या को स्वयमेव घटित कर लेना चाहिए।[1]

अवगाहना, स्थिति, वर्णगन्धादि पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्मादि प्ररूपणा

१५४. परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मपएसोगाढे० पुच्छा।

गोयमा ! नो कडजुम्मपएसोगाढे, नो तेयोय०, नो दावरजुम्म०, कलियोगपएसोगाढे।

[१५४ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु-पुद्गल कृतयुग्मप्रदेशावगाढ है ? इत्यादि पृच्छा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८२

[१५४ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ, त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं है, किन्तु कल्योज-प्रदेशावगाढ है ।

१५५. दुपएसिए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो कडजुम्मपएसोगाढे, णो तेयोग०, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलियोग-पएसोगाढे ।

[१५५ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशीस्कन्ध कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१५५ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं है, त्र्योज-प्रदेशावगाढ भी नहीं है, कदाचित् द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ है ।

१५६. तिपएसिए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो कडजुम्मपएसोगाढे, सिय तेयोगपएसोगाढे, सिय दावरजुम्मपएसोगाढे, सिय कलियोगपएसोगाढे ।

[१५६ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशी स्कन्ध ?

[१५६ उ.] गौतम ! वह कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं है, किन्तु कदाचित् त्र्योज-प्रदेशावगाढ, कदाचित् द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ है ।

१५७. चउपएसिए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्मपएसोगाढे जाव सिय कलियोगपएसोगाढे ।

[१५७ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशी स्कन्ध ?

[१५७ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ है, यावत् कदाचित् कल्योज-प्रदेशावगाढ है ।

१५८. एवं जाव अणंतपएसिए ।

[१५८] इसी प्रकार (यहाँ से लेकर) अनन्तप्रदेशी स्कन्धावगाढ तक जानना चाहिए ।

१५९. परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं कड० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोय०, नो दावर०, नो कलियोग०; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मपएसोगाढा, णो तेयोग०, नो दावर०, कलियोगपएसोगाढा ।

[१५९ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१५९ उ.] गौतम ! ओघादेश से (वे) कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और कल्योज-प्रदेशावगाढ नहीं हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ, त्र्योज-प्रदेशावगाढ तथा द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं हैं, किन्तु कल्योज-प्रदेशावगाढ हैं ।

१६०. दुपएसिया णं० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोग०, नो दावर०, नो कलिओग०;

विहाणादेसेणं नो कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोगपएसोगाढा, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलियोगपए-सोगाढा वि।

[१६० प्र.] भगवन् ! (बहुत) द्विप्रदेशीस्कन्ध कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१६० उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ अथवा कल्योज-प्रदेशावगाढ नहीं हैं। विधानादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ तथा त्र्योज-प्रदेशावगाढ नहीं हैं, किन्तु द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ एवं कल्योज-प्रदेशावगाढ हैं।

१६१. तिपएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोय० नो दावर०, नो कलि०; विहाणादेसेणं नो कडजुम्मपएसोगाढा, तेयोगपएसोगाढा वि, दावरजुम्मपएसोगाढा वि, कलियोगपएसोगाढा वि।

[१६१ प्र.] भगवन् ! त्रिप्रदेशीस्कन्ध कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१६१ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ और कल्योज-प्रदेशावगाढ नहीं हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ नहीं हैं किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ भी हैं, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ भी हैं और कल्योज-प्रदेशावगाढ भी हैं।

१६२. चउपएसिया णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओघादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा, नो तेयोय० नो दावर, नो कलिओग०; विहाणादेसेणं कडजुम्मपएसोगाढा वि जाव कलियोगपएसोगाढा वि।

[१६२ प्र.] भगवन् ! चतुष्प्रदेशीस्कन्ध कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१६२ उ.] गौतम ! वे ओघादेश से कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ हैं, किन्तु त्र्योज-प्रदेशावगाढ, द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ तथा कल्योज-प्रदेशावगाढ नहीं हैं। विधानादेश से वे कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ भी हैं, यावत् कल्योज-प्रदेशावगाढ भी हैं।

१६३. एवं जाव अणंतपएसिया।

[१६३] इसी प्रकार (पंचप्रदेशीस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक जानना चाहिए।

१६४. परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीए० पुच्छा।

गोयमा ! सिय कडजुम्मसमयट्ठितीए जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीए।

[१६४ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु-पुद्गल कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है ? इत्यादि प्रश्न।

[१६४ उ.] गौतम ! वह कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाला है, यावत् कदाचित् कल्योज-समय की स्थिति वाला है।

१६५. एवं जाव अणंतपएसिए।

[१६५] (द्विप्रदेशीस्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक इसी प्रकार जानना।

१६६. परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं कडजुम्मसमयट्ठितीया० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिय कडजुम्मसमयट्ठितीया जाव सिय कलियोगसमयट्ठितीया; विहाणादेसेणं कडजुम्मसमयट्ठितीया वि जाव कलियोगसमयट्ठितीया वि ।

[१६६ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१६६ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कदाचित् कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले हैं, यावत् कदाचित् कल्योज-समय की स्थिति वाले हैं, विधानादेश से भी वे कृतयुग्म-समय की स्थिति वाले भी हैं, यावत् कल्योज-समय की स्थिति वाले भी हैं ।

१६७. एवं जाव अणंतपएसिया ।

[१६७] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक जानना चाहिए ।

१६८. परमाणुपोग्गले णं भंते ! कालवण्णपज्जवेहिं किं कडजुम्मे, तेयोगे० ?

जहा ठितीए वत्तव्वया एवं वण्णेसु वि सव्वेसु, गंधेसु वि ।

[१६८ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु-पुद्गल काले वर्ण के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है अथवा त्र्योज है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१६८ उ.] गौतम ! जिस प्रकार स्थिति-सम्बन्धी वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार वर्णों एवं सभी गन्धों की वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

१६९. एवं चेव रसेसु वि जाव महुरो रसो त्ति ।

[१६९] इसी प्रकार सभी रसों की यावत् मधुररस तक की वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

१७०. अणंतपएसिए० णं भंते ! खंधे कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मे पुच्छा ।

गोयमा ! सिय कडजुम्मे जाव सिय कलियोगे ।

[१७० प्र.] भगवन् ! (एक) अनन्तप्रदेशीस्कन्ध कर्कशस्पर्श के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१७० उ.] वह कदाचित् कृतयुग्म है, यावत् कदाचित् कल्योज है ।

१७१. अणंतपएसिया णं भंते ! खंधा कक्खडफासपज्जवेहिं किं कडजुम्मा० पुच्छा ।

गोयमा ! ओघादेसेणं सिया कडजुम्मा जाव सिय कलियोगा; विहाणादेसेणं कडजुम्मा वि जाव कलियोगा वि ।

[१७१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) अनन्तप्रदेशीस्कन्ध कर्कशस्पर्श के पर्यायों की अपेक्षा कृतयुग्म हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१७१ उ.] गौतम ! ओघादेश से वे कदाचित् कृतयुग्म हैं, यावत् कदाचित् कल्योज हैं तथा विधानादेश से कृतयुग्म भी हैं, यावत् कल्योज भी हैं ।

१७२. एवं मउय-गरुय-लहुया वि भाणियव्वा।

[१७२] इसी प्रकार मृदु (कोमल), गुरु (भारी) एवं लघु (हलके) स्पर्श के सम्बन्ध में भी कहना चाहिए।

१७३. सीय-उसिण-निद्ध-लुक्खा जहा वण्णा।

[१७३] शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्शों की वक्तव्यता वर्णों के समान है।

विवेचन—क्षेत्रापेक्षया पुद्गलचिन्तन—परमाणु कल्योजप्रदेशावगाढ ही होता है, क्योंकि वह एक होता है। द्विप्रदेशीस्कन्ध परिणाम विशेष के कारण कभी द्वापरयुग्म-प्रदेशावगाढ होता है, कभी कल्योज-प्रदेशावगाढ होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी स्वयं चिन्तन कर लेना चाहिए। बहुत से परमाणु ओघतः (सामान्यापेक्षा) सकल लोकव्यापी होने के कारण कृतयुग्म-प्रदेशावगाढ होते हैं। सकल लोक के प्रदेश असंख्यात हैं और वे अवस्थित हैं, इसलिए उनमें चतुरग्रता घटित होती हैं। विधानतः (एक-एक परमाणु की अपेक्षा) सभी परमाणु एक-एक आकाशप्रदेश में अवगाढ होने से कल्योज-प्रदेशावगाढ हैं। द्विप्रदेशावगाढ स्कन्ध सामान्यतः पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार चतुरग्र (कृतयुग्म) हैं। विधान (प्रत्येक) की अपेक्षा जो द्विप्रदेशावगाढ हैं, वे द्वापरयुग्म हैं और जो एक प्रदेशावगाढ हैं, वे कल्योज हैं। इस प्रकार अन्यत्र भी विचार कर लेना चाहिए।[1]

स्पर्शविषयक अतिदेश का आशय—यहाँ कर्कशस्पर्श के अधिकार में अनन्तप्रदेशीस्कन्ध के विषय में ही कृतयुग्मादि-सम्बन्धी प्रश्न किया गया है, इसका कारण यह है कि बादर-अनन्तप्रदेशी स्कन्ध ही कर्कश आदि चार स्पर्शों वाला होता है, परमाणु पुद्गल आदि नहीं। शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष स्पर्श के विषय में जो वर्णों का अतिदेश किया गया है, उसका कारण यह है कि परमाणु आदि भी शीत-स्पर्शादि वाले होते हैं। इसीलिए मूलपाठ में कहा गया है—**'सीय-उसिण-निद्ध-लुक्खा जहा वण्णा।'**[2]

परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशीस्कन्ध तक यथायोग्य सार्द्ध-अनर्द्ध प्ररूपणा

१७४. परमाणुपोग्गले णं भंते! किं सड्ढे अणड्ढे?

गोयमा! नो, सड्ढे अणड्ढे।

[१७४ प्र.] भगवन्! परमाणु-पुद्गल सार्द्ध (आधे भाग-सहित) है या अनर्द्ध (आधे भाग से रहित)?

[१७४ उ.] गौतम! वह सार्द्ध नहीं है, अनर्द्ध है।

१७५. दुपएसिए० पुच्छा०।

गोयमा! सड्ढे, नो अणड्ढे।

[१७५ प्र.] भगवन्! द्विप्रदेशिक स्कन्ध सार्द्ध है या अनर्द्ध?

[१७५ उ.] गौतम! वह सार्द्ध है, अनर्द्ध नहीं।

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८८३

२. वही, अ. वृत्ति, पत्र ८८३

१७६. तिपएसिए जहा परमाणुपोग्गले।

[१७६] त्रिप्रदेशीस्कन्ध का कथन परमाणु-पुद्गल के समान है।

१७७. चउपएसिए जहा दुपएसिए।

[१७७] चतुष्प्रदेशीस्कन्ध-सम्बन्धी कथन द्विप्रदेशीस्कन्ध के समान है।

१७८. पंचपएसिए जहा तिपएसिए।

[१७८] पंचप्रदेशी स्कन्ध की वक्तव्यता त्रिप्रदेशी स्कन्धवत् है।

१७९. छप्पएसिए जहा दुपएसिए।

[१७९] षट्प्रदेशी स्कन्ध-विषयक कथन द्विप्रदेशी स्कन्ध के समान जानना।

१८०. सत्तपएसिए जहा तिपएसिए।

[१८०] सप्तप्रदेशी स्कन्ध सम्बन्धी कथन त्रिप्रदेशी स्कन्ध के समान है।

१८१. अट्ठपएसिए जहा दुपएसिए।

[१८१] अष्टप्रदेशी स्कन्ध-विषयक वक्तव्यता द्विप्रदेशी स्कन्ध जैसी है।

१८२. नवपएसिए जहा तिपएसिए।

[१८२] नवप्रदेशी स्कन्ध का कथन त्रिप्रदेशी स्कन्ध जैसा है।

१८३. दसपएसिए जहा दुपएसिए।

[१८३] दशप्रदेशी स्कन्ध-सम्बन्धी कथन द्विप्रदेशी के समान जानना चाहिए।

१८४. संखेज्जपएसिए णं भंते ! खंधे पुच्छा।

गोयमा ! सिय सड्ढे, सिय अणड्ढे।

[१८४ प्र.] भगवन् ! संख्यातप्रदेशी स्कन्ध सार्द्ध है या अनर्द्ध ?
[१८४ उ.] गौतम ! कदाचित् सार्द्ध है और कदाचित् अनर्द्ध है।

१८५. एवं असंखेज्जपएसिए वि।

[१८५] इसी प्रकार असंख्यातप्रदेशी स्कन्ध के विषय में कहना चाहिए।

१८६. एवं अणंतपएसिए वि।

[१८६] अनन्तप्रदेशी स्कन्ध का कथन भी इसी प्रकार है।

१८७. परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं सड्ढा, अणड्ढा ?

गोयमा ! सड्ढा वा अणड्ढा वा।

[१८७ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परमाणु-पुद्गल सार्द्ध हैं या अनर्द्ध ?
[१८७ उ.] गौतम ! वे सार्द्ध भी हैं और अनर्द्ध भी हैं।

१८८. एवं जाव अणंतपएसिया।

[१८८] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

विवेचन—पुद्गलों की सार्द्धता-अनर्द्धता का रहस्य—समसंख्या वाले (परमाणुओं) प्रदेशों के जो स्कन्ध होते हैं, वे सार्द्ध होते हैं, उनके बराबर दो भाग हो सकते हैं और विषमसंख्या वाले प्रदेशों के जो स्कन्ध होते हैं, वे अनर्द्ध होते हैं, क्योंकि उनके दो बराबर भाग नहीं हो सकते। जब बहुत-से परमाणु समसंख्या वाले होते हैं, तब सार्द्ध होते हैं और जब वे विषमसंख्या वाले होते हैं, तब अनर्द्ध होते हैं, क्योंकि संघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से उनकी संख्या अवस्थित नहीं होती। इसलिए वे सार्द्ध और अनर्द्ध दोनों प्रकार के होते हैं।[1]

परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक सकम्पता-निष्कम्पता प्ररूपणा

१८९. परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं सेए, निरेए ?

गोयमा ! सिय सेए, सिय निरेए।

[१८९ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु-पुद्गल सैज (सकम्प) होता है या निरेज (निष्कम्प) ?
[१८९ उ.] गौतम ! वह कदाचित् सकम्प होता है और कदाचित् निष्कम्प होता है।

१९०. एवं जाव अणंतपएसिए।

[१९०] इसी प्रकार (द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर) यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्धपर्यन्त जानना चाहिए।

१९१. परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं सेया, निरेया ?

गोयमा ! सेया वि, निरेया वि।

[१९१ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल सकम्प होते हैं या निष्कम्प ?
[१९१ उ.] गौतम ! वे सकम्प होते हैं और निष्कम्प भी।

१९२. एवं जाव अणंतपएसिया।

[१९२] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

विवेचन—सैज और निरेज का आशय—सैज का अर्थ है—कम्पन, स्पन्दन या चलनादि धर्म युक्त तथा निरेज का अर्थ है—कम्पन, स्पन्दन या चलनादि धर्म से रहित। परमाणु की प्रायः निष्कम्पदशा होती है, उसकी सकम्पदशा कादाचित्क होती है, सदा नहीं। इसी आशय से परमाणु से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध को सकम्प और निष्कम्प दोनों बताया है।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८३

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८६
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३२५
(ग) भगवती. प्रमेयचन्द्रिकाटीका, भाग १५, पृ. ८९५

सकम्प निष्कम्प परमाणु-पुद्गल से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक की स्थिति तथा कालान्तर प्ररूपणा

१९३. परमाणुपुग्गले णं भंते ! सेए कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[१९३ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल सकम्प कितने काल तक रहता है ?

[१९३ उ.] गौतम ? वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक सकम्प रहता है।

१९४. परमाणुपोग्गले णं भंते ! निरेए कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[१९४ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल निष्कम्प कितने काल तक रहता है ?

[१९४ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक निष्कम्प रहता है।

१९५. एवं जाव अणंतपएसिए।

[१९५] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

१९६. परमाणुपोग्गला णं भंते ! सेया कालओ केवचिरं होंति ?

गोयमा ! सव्वद्धं।

[१९६ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल कितने काल तक सकम्प रहते हैं ?

[१९६ उ.] गौतम ! वे सर्वाद्धा (सदा काल) सकम्प रहते हैं।

१९७. परमाणुपोग्गला णं भंते ! निरेया कालओ केवचिरं होंति ?

गोयमा ! सव्वद्धं।

[१९७ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल कितने काल तक निष्कम्प रहते हैं ?

[१९७ उ.] गौतम ! वे सदा काल निष्कम्प रहते हैं।

१९८. एवं जाव अणंतपएसिया।

[१९८] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक (सकम्प-निष्कम्प-विषयक काल) जानना चाहिए।

१९९. परमाणुपोग्गलस्स णं भंते ! सेयस्स केवतियं कालं अंतरं होति ?

गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[१९९ प्र.] भगवन् ! (एक) सकम्प परमाणु-पुद्गल का कितने काल का अन्तर होता है ?

[१९९ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्येय काल का तथा परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर होता है।

२००. निरेयस्स केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[२०० प्र.] भगवन् ! निष्कम्प परमाणु-पुद्गल का कितने काल तक का अन्तर होता है ?

[२०० उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग का अन्तर होता है तथा परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर होता है ।

२०१. दुपएसियस्स णं भंते ! खंधस्स सेयस्स० पुच्छा ।

गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं ।

[२०१ प्र.] भगवन् ! सकम्प द्विप्रदेशी स्कन्ध का कितने काल का अन्तर होता है ।

[२०१ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर होता है तथा परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त काल का अन्तर होता है ।

२०२. निरेयस्स केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं ।

[२०२ प्र.] भगवन् ! निष्कम्प द्विप्रदेशी स्कन्ध का कितने काल का अन्तर होता है ?

[२०२ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग का अन्तर होता है तथा परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्त काल का अन्तर होता है ।

२०३. एवं जाव अणंतपएसियस्स ।

[२०३] इसी प्रकार यावत् (सकम्प और निष्कम्प) अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के (काल का) अन्तर समझना चाहिए ।

२०४. परमाणुपोग्गलाणं भंते ! सेयाणं केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! नत्थंतरं ।

[२०४ प्र.] भगवन् ! सकम्प (बहुत) परमाणु-पुद्गलों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२०४ उ.] गौतम ! उनमें अन्तर नहीं होता ।

२०५. निरेयाणं केवतियं कालं अंतरं होइ ?

नत्थंतरं ।

[२०५ प्र.] भगवन् ! निष्कम्प परमाणु-पुद्गलों का अन्तर कितने काल का होता है ?
[२०५ उ.] गौतम ! उनका भी अन्तर नहीं होता।

२०६. एवं जाव अणंतपएसियाणं खंधाणं।

[२०६] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का अन्तर समझ लेना चाहिए।

विवेचन—परमाणु की सकम्प निष्कम्प दशा—परमाणु की निष्कम्पदशा औत्सर्गिक (स्वाभाविक) है। इसलिए उसका उत्कृष्ट (स्थायित्व) काल असंख्यात है। उसकी सकम्पदशा आपवादिक (अस्वाभाविक) है, कभी-कभी होने वाली है। इसलिए वह उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्यातवें भाग मात्र काल-पर्यन्त ही रहती है। बहुत से परमाणुओं की अपेक्षा सकम्पदशा सर्वकाल रहती है, क्योंकि भूत, भविष्यत् और वर्तमान इन तीनों कालों में कोई भी ऐसा समय न था, न है और न होगा, जिसमें सभी परमाणु निष्कम्प रहते हों। यही बात (अनेक परमाणुओं की) निष्कम्प दशा के लिए जाननी चाहिए। सभी परमाणु सदा काल के लिए निष्कम्प रहते हों, ऐसी बात भी नहीं है। कोई न कोई परमाणु उस समय सकम्प रहता ही है।[1]

स्वस्थान और परस्थान की अपेक्षा अन्तर का आशय—अन्तर के विषय में जो स्वस्थान और परस्थान का कथन किया है, उसका अभिप्राय यह है कि जब परमाणु, परमाणु-अवस्था में स्कन्ध से पृथक् रहता है, तब वह 'स्वस्थान' में कहलाता है और स्कन्ध-अवस्था में होता है तब 'परस्थान में' कहलाता है। एक परमाणु एक समय तक चलन-क्रिया से रुक कर फिर चलता है, तब स्वस्थान की अपेक्षा अन्तर जघन्य एक समय का होता है और उत्कृष्टतः वही परमाणु असंख्यातकाल तक किसी स्थान में स्थित रह कर फिर चलता है, तब अन्तर असंख्यात काल का होता है। जब परमाणु द्वि-प्रदेशादि स्कन्ध के अन्तर्गत होता है और जघन्यतः एक समय चलन-क्रिया से निवृत्त रह कर फिर चलित होता है, तब परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का अन्तर होता है। परन्तु जब वह परमाणु असंख्यातकाल तक द्वि-प्रदेशादि स्कन्धरूप में रह कर पुनः उस स्कन्ध से पृथक् होकर चलित होता है, तब परस्थान की अपेक्षा उत्कृष्टतः अन्तर असंख्यातकाल का होता है।

जब परमाणु निश्चल (स्थिर) होकर एक समय तक परिस्पन्दन करके पुनः स्थिर होता है और उत्कृष्टतः आवलिका के असंख्यातवें भागरूप काल (असंख्य समय) तक परिस्पन्दन करके पुनः स्थिर होता है, तब स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग का अन्तर होता है। परमाणु निश्चल होकर स्वस्थान से चलित होता है और जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक द्वि-प्रदेश आदि स्कन्ध के रूप में रह कर पुनः निश्चल हो जाता है या उससे पृथक् होकर स्थिर हो जाता है, तब वह अन्तर जघन्य और उत्कृष्ट होता है।

द्वि-प्रदेशी स्कन्ध चलित होकर अनन्तकाल तक उत्तरोत्तर अन्य अनन्त-पुद्गलों के साथ सम्बद्ध होता हुआ और पुनः उसी परमाणु के साथ सम्बद्ध होकर पुनः चलित हो, तब परस्थान की अपेक्षा उत्कृष्ट अन्तर अनन्तकाल का होता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८६-८८७
(ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ७, पृ. ३३२५

सकम्प परमाणु-पुद्गल लोक में सदैव पाये जाते हैं। इसलिए उनका अन्तर नहीं होता।[1]

परमाणु से अनन्तप्रदेशी सकम्प-निष्कम्प स्कन्ध तक के अल्पबहुत्व की चर्चा

२०७. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं सेयाणं निरेयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा परमाणुपोग्गला सेया, निरेया असंखेज्जगुणा।

[२०७ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) सकम्प और निष्कम्प परमाणु पुद्गलों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक होते हैं ?

[२०७ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े सकम्प परमाणु पुद्गल होते हैं। उनसे निष्कम्प परमाणु-पुद्गल असंख्यातगुण हैं।

२०८. एवं जाव असंखिज्जपएसियाणं खंधाणं।

[२०८] इसी प्रकार यावत् असंख्यात-प्रदेशी स्कन्धों के अल्पबहुत्व के विषय में जानना चाहिए।

२०९. एएसि णं भंते ! अणंतपएसियाणं खंधाणं सेयाणं निरेयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा निरेया, सेया अणंतगुणा।

[२०९ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) अनन्त-प्रदेशी सकम्प और निष्कम्प स्कन्धों में कौन किन से यावत् विशेषाधिक होते हैं ?

[२०९ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े अनन्त-प्रदेशी निष्कम्प स्कन्ध हैं। उनसे सकम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध अनन्तगुण हैं।

विवेचन—सकम्प परमाणु-पुद्गल सबसे कम हैं, उनसे असंख्यातगुणे निष्कम्प परमाणु-पुद्गल हैं तथा सबसे अल्प अनन्तप्रदेशी निष्कम्प स्कन्ध हैं, उनसे अनन्तगुणे सकम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं।

परमाणु से अनन्तप्रदेशी सकम्प-निष्कम्प स्कन्धों की द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ, द्रव्यप्रदेशार्थ से अल्पबहुत्व की चर्चा

२१०. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं, संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंतपएसियाण य खंधाणं सेयाणं निरेयाण य दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए १, अणंतपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा २, परमाणुपोग्गला सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ३, संखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ४, असंखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ५, परमाणु-

1. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३२६
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८६-८८७

पोग्गला निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ६, संखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा ७, असंखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ८।

पएसट्ठयाए एवं चेव, नवरं परमाणुपोग्गला अपएसट्ठयाए भाणियव्वा। संखेज्जपएसिया खंधा निरेया पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा, सेसं तं चेव। दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा अणंतपए-सिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए १, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा २, अणंतपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ३, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा ४, परमाणुपोग्गला सेया दव्वट्ठअपए-सट्ठयाए अणंतगुणा ५, संखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ६, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ७, असंखेज्जपएसिया खंधा सेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ८, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ९, परमाणुपोग्गला निरेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १०, संखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ११, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १२, असंखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा १३, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १४।

[२१० प्र.] भगवन् ! सकम्प और निष्कम्प परमाणु-पुद्गल, संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों में द्रव्यार्थ, प्रदेशार्थ और द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कौन पुद्गल, किन पुद्गलों से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[२१० उ.] गौतम ! (१) निष्कम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से सबसे अल्प हैं। (२) उनसे सकम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं। (३) उनसे सकम्प परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं। (४) उनसे सकम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (५) उनसे सकम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (६) उनसे निष्कम्प परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (७) उनसे निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से संख्यात-गुणे हैं (८) और उनसे निष्कम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं।

जिस प्रकार द्रव्यार्थ से उपर्युक्त आठ बोल कहे हैं, उसी प्रकार प्रदेशार्थ से भी आठ बोल जानने चाहिए, किन्तु परमाणु-पुद्गल में प्रदेशार्थ के बदले 'अप्रदेशार्थ' कहना चाहिए तथा निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे जानने चाहिए। शेष सब पूर्ववत्।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से—(१) निष्कम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से सबसे अल्प हैं। (२) उनसे निष्कम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से अनन्तगुणे हैं। (३) सकम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं। (४) उनसे सकम्प अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से अनन्तगुणे हैं। (५) उनसे सकम्प परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ से अप्रदेशार्थरूप से अनन्तगुणे हैं। (६) उनसे सकम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (७) उनसे सकम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदे-शार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (८) उनसे सकम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (९) उनसे सकम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यात-गुणे हैं। (१०) उनसे निष्कम्प परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थ रूप से असंख्यात-गुणे हैं। (११) उनसे निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्या-गुणे हैं। (१२) उनसे निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असं-

ख्यात-गुणे हैं। (१३) उनसे निष्कम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यात-गुणे हैं और (१४) उनसे निष्कम्प असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यात-गुणे हैं।

विवेचन—पुद्गलों के अल्पबहुत्व की मीमांसा—परमाणु-पुद्गल तथा संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों की सकम्पता और अकम्पता को लेकर द्रव्यार्थ से अल्पबहुत्व के आठ पद होते हैं। इसी प्रकार प्रदेशार्थ से भी आठ पद होते हैं, किन्तु द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से उभयपक्ष में चौदह पद होते हैं, क्योंकि सकम्प और निष्कम्प परमाणु-पुद्गलों के द्रव्यार्थता और प्रदेशार्थता इन दो पदों के स्थान में 'द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थता' यह एक ही पद कहना चाहिए। इसलिए यहाँ १६ बोलों के बदले १४ बोल ही होते हैं।[1]

द्रव्यार्थता सूत्र में निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, निष्कम्प परमाणुओं से संख्यात-गुण कहे गए हैं और प्रदेशार्थ सूत्र में वे परमाणुओं से असंख्यात-गुणे कहे गए हैं, क्योंकि निष्कम्प परमाणुओं से निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से संख्यात-गुण होते हैं। उनमें से बहुत से स्कन्धों में उत्कृष्ट संख्या वाले प्रदेश होने से वे निष्कम्प परमाणुओं से प्रदेशार्थ से असंख्यात-गुण होते हैं, क्योंकि उत्कृष्ट संख्या में एक संख्या की वृद्धि होने पर वे असंख्यात हो जाते हैं।[2]

परमाणु से अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक देशकम्प-सर्वकम्प-निष्कम्पता की प्ररूपणा

२११. परमाणुपोग्गले णं भंते ! किं देसेए, सव्वेए, निरेए ?

गोयमा ! नो देसेए, सिय सव्वेए, सिय निरेये।

[२११ प्र.] भगवन् ! परमाणु-पुद्गल देशकम्पक (कुछ अंश में कम्पित होने वाला) है, सर्वकम्पक (पूर्णतया कम्पित होने वाला) है या निष्कम्पक है ?

[२११ उ.] गौतम ! परमाणु-पुद्गल देशकम्पक नहीं है, वह कदाचित् सर्वकम्पक है, कदाचित् निष्कम्पक है।

२१२. दुपदेसिए णं भंते ! खंधे० पुच्छा।

गोयमा ! सिय देसेए, सिय सव्वेए, सिय निरेये।

[२१२ प्र.] भगवन् ! (द्विप्रदेशी स्कन्ध देशकम्पक है, सर्वकम्पक है या निष्कम्पक है ?

[२१२ उ.] गौतम ! वह कदाचित् देशकम्पक, कदाचित् सर्वकम्पक और कदाचित् निष्कम्पक होता है।

२१३. एवं जाव अणंतपदेसिए।

[२१३] इसी प्रकार यावत् अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक जानना चाहिए।

२१४. परमाणुपोग्गला णं भंते ! किं देसेया, सव्वेया, निरेया ?

गोयमा ! नो देसेया, सव्वेया वि, निरेया वि।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८७

२. वही, पत्र ८८७

[२१४ प्र.] भगवन् ! (बहुत) परमाणु-पुद्गल देशकम्पक हैं, सर्वकम्पक हैं या निष्कम्पक हैं ?

[२१४ उ.] गौतम ! वे देशकम्पक नहीं हैं, किन्तु सर्वकम्पक हैं और निष्कम्पक भी हैं।

२१५. दुपदेसिया णं भंते ! खंधा० पुच्छा।

गोयमा ! देसेया वि, सव्वेया वि, निरेया वि।

[२१५ प्र.] भगवन् ! (बहुत) द्विप्रदेशी-स्कन्ध देशकम्पक हैं, सर्वकम्पक हैं या निष्कम्पक हैं ?

[२१५ उ.] गौतम ! वे देशकम्पक भी हैं, सर्वकम्पक भी हैं और निष्कम्पक भी हैं।

२१६. एवं जाव अणंतपएसिया।

[२१६] इसी प्रकार यावत् (बहुत) अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों (की देशकम्पकता आदि) के विषय में जानना चाहिए।

विवेचन—परमाणु-पुद्गल (एक हो या बहुत) देशकम्पक नहीं होते, परन्तु द्विप्रदेशी स्कन्ध से लेकर अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध कदाचित् देशकम्पक, कदाचित् सर्वकम्पक और कदाचित् निष्कम्पक भी होते हैं।

परमाणु से अनन्त-प्रदेशी देशकम्प-सर्वकम्प-निष्कम्प स्कन्धों की स्थिति एवं कालान्तर की प्ररूपणा

२१७. परमाणुपोग्गले णं भंते ! सव्वेए कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं।

[२१७ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु पुद्गल सर्वकम्पक कितने काल तक रहता है ?

[२१७ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक (सर्वकम्पक रहता है।)

२१८. निरेये कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२१८ प्र.] भगवन् ! (एक) परमाणु-पुद्गल निष्कम्पक कितने काल तक रहता है।

[२१८ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यात काल निष्कम्प तक रहता है।

२१९. दुपएसिए णं भंते ! खंधे देसेए कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं।

[२१९ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी-स्कन्ध देशकम्पक कितने काल तक रहता है ?

[२१९ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक देशकम्पक रहता है।

२२०. सव्वेए कालतो केवचिरं होति ?

जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जइभागं।

[२२० प्र.] भगवन् ! (द्वि-प्रदेशी स्कन्ध) सर्वकम्पक कितने काल तक रहता है ?

[२२० उ.] वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग तक सर्वकम्पक रहता है।

२२१. निरेए कालतो केवचिरं होति ?

जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं।

[२२१ प्र.] भगवन् ! (द्वि-प्रदेशी स्कन्ध) निष्कम्पक कितने काल तक रहता है ?

[२२१ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट असंख्यात काल तक निष्कम्पक रहता है।

२२२. एवं जाव अणंतपदेसिए।

[२२२] इसी प्रकार यावत् अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक (के कम्पनादि-काल के विषय में जानना।)

२२३. परमाणुपोग्गला णं भंते ! सव्वेया कालतो केवचिरं होंति ?

गोयमा ! सव्वद्धं।

[२२३ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परमाणु-पुद्गल सर्वकम्पक कितने काल तक रहते हैं ?

[२२३ उ.] गौतम ! (वे) सदा काल (सर्वकम्पक रहते हैं।)

२२४. निरेया कालतो केवचिरं ?

सव्वद्धं।

[२२४ प्र.] भगवन् ! (अनेक परमाणु-पुद्गल) निष्कम्पक कितने काल तक रहते हैं ?

[२२४ उ.] गौतम ! (वे) सदा काल (निष्कम्पक रहते हैं।)

२२५. दुप्पदेसिया णं भंते ! खंधा देसेया कालतो केवचिरं होंति ?

सव्वद्धं।

[२२५ प्र.] भगवन् ! द्विप्रदेशी स्कन्ध देशकम्पक कितने काल तक रहते हैं ?

[२२५ उ.] गौतम ! (वे) सर्वकाल (देशकम्पक रहते हैं।)

२२६. सव्वेया कालतो केवचिरं ?

सव्वद्धं।

[२२६ प्र.] भगवन् ! वे कितने काल तक सर्वकम्पक रहते हैं ?

[२२६ उ.] गौतम ! (वे) सदा काल (सर्वकम्पक रहते हैं।)

२२७. निरेया कालतो केवचिरं ?

सव्वद्धं ।

[२२७ प्र.] भगवन् ! (द्विप्रदेशी स्कन्ध) निष्कम्पक कितने काल तक रहते हैं ?

[२२७ उ.] सदा काल ।

२२८. एवं जाव अणंतपदेसिया ।

[२२८] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्ध तक का कालमान जानना चाहिए ।

२२९. परमाणुपोग्गलस्स णं भंते सव्वेयस्स केवतियं० कालं अंतरं होति ?

सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं एवं चेव ।

[२२९ प्र.] भगवन् ! सर्वकम्पक परमाणु-पुद्गल का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२२९ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्टतः असंख्यात काल का अन्तर होता है । परस्थान की अपेक्षा भी जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यातकाल का अन्तर होता है ।

२३०. निरेयस्स केवतियं अंतरं होइ ? सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं ।

[२३० प्र.] भगवन् ! निष्कम्पक (परमाणु-पुद्गल) का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३० उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग का अन्तर होता है । परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यात काल का अन्तर होता है ।

२३१. दुपएसियस्स णं भंते ! खंधस्स देसेयस्स केवतियं कालं अंतरं होइ ?

सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जं कालं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं ।

[२३१ प्र.] भगवन् ! देशकम्पक द्विप्रदेशी स्कन्ध का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३१ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट असंख्यातकाल का होता है ।

२३२. सव्वेयस्स केवतियं कालं० ?

एवं चेव जहा देसेयस्स ।

[२३२ प्र.] भगवन् ! सर्वकम्पक (द्विप्रदेशी स्कन्ध) का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार देशकम्पक द्विप्रदेशी स्कन्ध का अन्तर कहा है, उसी प्रकार सर्वकम्पक का भी जानना चाहिए ।

२३३. निरेयस्स केवतियं० ?

सट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं आवलियाए असंखेज्जतिभागं; परट्ठाणंतरं पडुच्च जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं।

[२३३ प्र.] भगवन् ! निष्कम्पक (द्विप्रदेशी स्कन्ध) का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३३ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग का अन्तर होता है। परस्थान की अपेक्षा जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट अनन्तकाल का अन्तर होता है।

२३४. एवं जाव अणंतपएसियस्स।

[२३४] इसी प्रकार यावत् अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध तक के अन्तर के विषय में जानना चाहिए।

२३५. परमाणुपोग्गलाणं भंते ! सव्वेयाणं केवतियं कालं अंतरं होइ ?

नत्थंतरं।

[२३५ प्र.] भगवन् ! (अनेक) सर्वकम्पक परमाणु-पुद्गलों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३५ उ.] गौतम ! (उनका) अन्तर नहीं होता।

२३६. निरेयाणं केवतियं० ?

नत्थंतरं।

[२३६ प्र.] भगवन् ! निष्कम्प (परमाण-पुद्गलों) का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३६ उ.] गौतम ! (उनका भी) अन्तर नहीं होता।

२३७. दुपएसियाणं भंते ! खंधाणं देसेयाणं केवतियं कालं० ?

नत्थंतरं।

[२३७ प्र.] भगवन् ! (बहुत-से) देशकम्पक द्विप्रदेशी स्कन्धों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३७ उ.] गौतम ! (उनका) अन्तर नहीं होता।

२३८. सव्वेयाणं केवतियं कालं० ?

नत्थंतरं।

[२३८ प्र.] भगवन् ! सर्वकम्पक (द्विप्रदेशी स्कन्धों) का अन्तर कितने काल का (होता है ?)

[२३८ उ.] गौतम ! (उनका) अन्तर नहीं होता।

२३९. निरेयाणं केवतियं कालं० ?

नत्थंतरं।

[२३९ प्र.] भगवन् ! निष्कम्प (द्विप्रदेशी स्कन्धों) का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२३९ उ.] गौतम ! (उनका) अन्तर नहीं होता।

२४०. एवं जाव अणंतपएसियाणं।

[२४०] इसी प्रकार यावत् अनन्तप्रदेशी स्कन्धों तक के अन्तर का कथन जानना चाहिए।

विवेचन—प्रस्तुत २४ सूत्रों (२१७ से २४० तक) में परमाणु-पुद्गल से लेकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध के एकत्व और बहुत्व की अपेक्षा देशकम्प, सर्वकम्प और निष्कम्प की दृष्टि से जघन्य-उत्कृष्ट स्थिति तथा अन्तर दोनों की प्ररूपणा की गई है।[1]

सर्व-देशकम्पक-निष्कम्पक परमाणु से अनन्तप्रदेशी स्कन्धों का अल्पबहुत्व

२४१. एएसि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं सव्वेयाणं निरेयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा परमाणुपोग्गला सव्वेया, निरेया असंखेज्जगुणा।

[२४१ प्र.] भगवन् ! इन (पूर्वोक्त) सर्वकम्पक और निष्कम्पक परमाणु-पुद्गलों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[२४१ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े सर्वकम्पक परमाणु-पुद्गल होते हैं। उनसे निष्कम्पक परमाणु-पुद्गल असंख्यातगुणे हैं।

२४२. एएसि णं भंते ! दुपएसियाणं खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाणं निरेयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा दुपएसिया खंधा सव्वेया, देसेया असंखेज्जगुणा, निरेया असंखेज्जगुणा।

[२४२ प्र.] भगवन् ! देशकम्पक, सर्वकम्पक और निष्कम्पक द्विप्रदेशी स्कन्धों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[२४२ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े सर्वकम्पक द्विप्रदेशी स्कन्ध हैं, उनसे देशकम्पक और और उनसे निष्कम्पक द्विप्रदेशी स्कन्ध उत्तरोत्तर क्रमशः असंख्यात-असंख्यातगुण हैं।

२४३. एवं जाव असंखेज्जपएसियाणं खंधाणं।

[२४३] इसी प्रकार यावत् असंख्यात-प्रदेशी स्कन्धों तक अल्पबहुत्व के विषय में जानना चाहिए।

२४४. एएसि णं भंते ! अणंतपएसियाणं खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाणं निरेयाण य कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा सव्वेया निरेया अणंतगुणा, देसेया अणंतगुणा।

[२४४ प्र.] भगवन् ! देशकम्पक, सर्वकम्पक और निष्कम्पक अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में कौन किनसे यावत् विशेषाधिक हैं ?

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भाग २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. १००८-९

[२४४ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े सर्वकम्पक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध हैं। उनसे निष्कम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध अनन्तगुण हैं और देशकम्पक अनन्तप्रदेशी स्कन्ध अनन्तगुण हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—सर्वकम्पक परमाणु-पुद्गल सबसे अल्प हैं, उनसे निष्कम्पक परमाणु-पुद्गल असंख्यातगुण हैं। द्विप्रदेशी स्कन्धों से असंख्यातप्रदेशी स्कन्धों तक में सर्वकम्पक सबसे अल्प हैं, उनसे देशकम्पक असंख्यातगुण हैं, उनसे निष्कम्पक असंख्यातगुण हैं। अनन्तप्रदेशी स्कन्धों में सर्वकम्पक सबसे अल्प हैं, निष्कम्प अनन्तगुण हैं और उनसे देशकम्पक अनन्तगुण हैं।

सर्व-देश-निष्कम्प परमाणुओं से अनन्त प्रदेशीस्कन्ध तक के अल्पबहुत्व की चर्चा

२४५. एएणि णं भंते ! परमाणुपोग्गलाणं, संखेज्जपएसियाणं असंखेज्जपएसियाणं अणंत-पएसियाण य खंधाणं देसेयाणं सव्वेयाणं निरेयाणं दव्वट्ठयाए पएसट्ठयाए दव्वट्ठपएसट्ठयाए कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए १, अणंतपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा २, अणंतपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ३, असंखेज्ज-पएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ४, संखेज्जपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा, ५, परमाणुपोग्गला सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ६, संखेज्जपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ७, असंखेज्जपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ८, परमाणुपोग्गला निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ९, संखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा १०, असंखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ११।

पदेसट्ठयाए—सव्वत्थोवा अणंतपदेसिया। एवं पएसट्ठयाए वि, नवरं परमाणुपोग्गला अपएसट्ठयाए भाणियव्वा। संखिज्जपएसिया खंधा निरेया पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा सेसं तं चेव।

दव्वट्ठपएसट्ठयाए—सव्वत्थोवा अणंतपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए १, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा २, अणंतपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ३, ते चेव पएसट्ठयाए अणंतगुणा ४, अणंतपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ५, ते चेव पदेसट्ठयाए अणंतगुणा ६, असंखेज्ज-पएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए अणंतगुणा ७, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ८, संखेज्जपएसिया खंधा सव्वेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा ९, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १०, परमाणुपोग्गला सव्वेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा ११, संखेज्जपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा १२, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १३, असंखेज्जपएसिया खंधा देसेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा १४, ते चेव पदेसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १५, परमाणुपोग्गला निरेया दव्वट्ठअपएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा १६, संखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए संखेज्जगुणा १७, ते चेव पएसट्ठयाए संखेज्जगुणा १८, असंखेज्जपएसिया खंधा निरेया दव्वट्ठयाए असंखेज्जगुणा १९, ते चेव पएसट्ठयाए असंखेज्जगुणा २०।

[२४५ प्र.] भगवन् ! इन देशकम्पक, सर्वकम्पक और निष्कम्पक परमाणु-पुद्गलों, संख्यात-प्रदेशी, असंख्यात-प्रदेशी और अनन्त-प्रदेशी स्कन्धों में, द्रव्यार्थ से, प्रदेशार्थ तथा द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ से कौन किससे यावत् विशेषाधिक हैं ?

[२४५ उ.] गौतम ! (१) सर्वकम्पक अनन्त-पदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से सबसे थोड़े हैं, (२) उनसे निष्कम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं, (३) उनसे देशकम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं, (४) उनसे सर्वकम्पक असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं । (५) उनसे सर्वकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं, (६) उनसे सर्वकम्पक परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं, (७) देशकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (८) उनसे देशकम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (९) उनसे निष्कम्पक परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१०) उनसे निष्कम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से संख्यातगुणे हैं और (११) उनसे निष्कम्पक असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं ।

प्रदेशार्थरूप से—सबसे थोड़े (सर्वकम्पक) अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध हैं । इस प्रकार प्रदेशार्थ से भी (पूर्ववत्) अल्पबहुत्व जानना चाहिए । विशेष यह है कि परमाणु-पुद्गल के लिए 'अप्रदेशार्थ' कहना चाहिये तथा निष्कम्प संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध, प्रदेशार्थ से असंख्यातगुण है, यह कहना चाहिए । शेष सब पूर्ववत् ।

द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थरूप से—(१) सर्वकम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से सबसे थोड़े हैं । (२) उनसे सर्वकम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से अनन्तगुणे हैं । (३) उनसे निष्कम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं । (४) उनसे निष्कम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से अनन्तगुणे हैं । (५) उनसे देशकम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से अनन्तगुणे हैं । (६) उनसे देशकम्पक अनन्त-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से अनन्तगुणे हैं, (७) उनसे सर्वकम्पक असंख्यात प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (८) उनसे सर्वकम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (९) उनसे सर्वकम्पक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१०) उनसे सर्वकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (११) उनसे देशकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१२) उनसे देशकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१३) उनसे देशकम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१४) उनसे देशकम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१५) उनसे देशकम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यातगुणे हैं । (१६) उनसे निष्कम्पक परमाणु-पुद्गल द्रव्यार्थ—अप्रदेशार्थ रूप से असंख्यातगुणे हैं । (१७) उनसे निष्कम्पक संख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से संख्यातगुणे हैं । (१८) उनसे निष्कम्पक संख्यातप्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से संख्यातगुणे हैं । (१९) उनसे निष्कम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध द्रव्यार्थ से असंख्यातगुणे हैं और (२०) उनसे निष्कम्पक असंख्यात-प्रदेशी स्कन्ध प्रदेशार्थ से असंख्यात-गुणे हैं ।

विवेचन—परमाणु-पुद्गल आदि सभी के अल्पबहुत्व अधिकार में द्रव्यार्थ की विचारणा में परमाणु-पुद्गल के साथ सर्वकम्पक और निष्कम्पक ये दो विशेषण लगाए गए हैं, जबकि संख्यात-प्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी और अनन्तप्रदेशी इन तीन स्कन्धों के साथ देशकम्पक, सर्वकम्पक और

निष्कम्पक, ये तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए हैं। इस प्रकार ये ११ पद होते हैं। प्रदेशार्थविषयक विचारणा में भी ये ही ११ पद होते हैं। किन्तु द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ उभय की विचारणा में बाईस पद न बताकर बीस ही पद बताए गए हैं। इसका कारण यह है कि सकम्प और निष्कम्प परमाणुओं के द्रव्यार्थ और प्रदेशार्थ, इन दो पक्षों के बदले द्रव्यार्थ-अप्रदेशार्थ, यह एक ही पद बनता है। इस प्रकार द्रव्यार्थ-प्रदेशार्थ इस उभयपक्ष के बीस ही पद घटित होते हैं।[1]

धर्मास्तिकायादि के मध्यप्रदेशों की संख्या का निरूपण

२४६. कति णं भंते! धम्मत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता?

गोयमा! अट्ठ धम्मत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता।

[२४६ प्र.] भगवन्! धर्मास्तिकाय के मध्य-प्रदेश कितने कहे हैं?

[२४६ उ.] गौतम! धर्मास्तिकाय के मध्य-प्रदेश आठ कहे हैं।

२४७. कति णं भंते! अधम्मत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता?

एवं चेव।

[२४७ प्र.] भगवन्! अधर्मास्तिकाय के मध्य-प्रदेश कितने कहे हैं?

[२४७ उ.] गौतम! इसी प्रकार (पूर्ववत्) आठ कहे हैं।

२४८. कति णं भंते! आगासत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता?

एवं चेव।

[२४८ प्र.] भगवन्! आकाशास्तिकाय के मध्य-प्रदेश कितने कहे हैं?

[२४८ उ.] गौतम! पूर्ववत् आठ कहे हैं।

२४९. कति णं भंते! जीवत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता?

गोयमा! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झपएसा पन्नत्ता।

[२४९ प्र.] भगवन्! जीवास्तिकाय के मध्य-प्रदेश कितने कहे हैं?

[२४९ उ.] गौतम! जीवास्तिकाय के मध्य-प्रदेश आठ कहे हैं।

विवेचन—मध्य-प्रदेश आठ ही क्यों और कहाँ-कहाँ—चूर्णिकार के मतानुसार धर्मास्तिकाय के आठ मध्य (बीच के) प्रदेश आठ रुचक-प्रदेशवर्ती होते हैं। यद्यपि धर्मातिकाय आदि तीनों लोक-प्रमाण होने से उनका मध्य-भाग रुचक-प्रदेशों से असंख्यात-योजन दूर रत्नप्रभा-पृथ्वी के अवकाशान्तर में अवस्थित है, ठीक रुचकवर्ती नहीं है, तथापि रुचकप्रदेश दिशाओं और विदिशाओं के उत्पत्ति स्थान होने से उनकी धर्मास्तिकाय आदि के मध्यरूप से विवक्षा हो, ऐसा सम्भव है।

प्रत्येक जीव के आठ रुचक-प्रदेश होते हैं। वे उस जीव के शरीर की सर्व-अवगाहना के ठीक मध्यवर्ती भाग में होते हैं। इसलिए उन्हें मध्यप्रदेश कहते हैं।[2]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८७

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८७

जीवास्तिकाय-मध्यप्रदेश तथा आकाशास्तिकायप्रदेशों की अवगाहना की प्ररूपणा

२५०. एए णं भंते ! अट्ठ जीवत्थिकायस्स मज्झपएसा कतिसु आगासपएसेसु ओगाहंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कंसि वा दोहि वा तीहि वा चउहि वा पंचहिं वा छहिं वा, उक्कोसेणं अट्ठसु, नो चेव णं सत्तसु ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। पंचवीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।। २५-४ ।।

[२५० प्र.] भगवन् ! जीवास्तिकाय के ये आठ मध्य-प्रदेश कितने आकाशप्रदेशों को अवगाहित कर (""में समा) सकते हैं ?

[२५० उ.] गौतम ! वे जघन्य एक, दो, तीन, चार, पांच या छह तथा उत्कृष्ट आठ आकाशप्रदेशों में अवगाहित हो (समा) सकते हैं, किन्तु सात प्रदेशों में नहीं समाते ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरण करते हैं ।

विवेचन—मध्यप्रदेशों का अवगाहन—जीव (आत्म-) प्रदेशों का धर्म संकोच और विकास (विस्तार) होने से उनके आठ मध्य-प्रदेश एक आकाशप्रदेश से लेकर आठ आकाशप्रदेशों में रह (समा) सकते हैं, किन्तु सात आकाशप्रदेशों में नहीं रहते (समाते); क्योंकि वस्तुस्वभाव ही कुछ ऐसा है ।[1]

।। पच्चीसवां शतक : चतुर्थ उद्देशक सम्पूर्ण ।।

□□

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८७

पंचमो उद्देसओ : 'पज्जव'

पंचम उद्देशक : 'पर्यव' (आदि)

पर्यव-भेद एवं उसके विशिष्ट पहलुओं के विषय में पर्यवपद : अतिदेश

१. कतिविहा णं भंते ! पज्जवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पज्जवा पन्नत्ता, तं जहा—जीवपज्जवा य अजीवपज्जवा य। पज्जवपयं निरवसेसं भाणितव्वं जहा पण्णवणाए।

[१ प्र.] भगवन् ! पर्यव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पर्यव दो प्रकार के कहे हैं। यथा—जीवपर्यव और अजीवपर्यव । यहाँ प्रज्ञापनासूत्र का पांचवाँ पर्यव पद कहना चाहिए।

विवेचन—पर्यव के एकार्थक शब्द—पर्यव, गुण, धर्म, विशेष, पर्यय और पर्याय, ये सब पर्यव शब्द के पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द हैं। जीवपर्यव और अजीवपर्यव के लिये प्रज्ञापनासूत्र के पांचवें पद का यहाँ अतिदेश किया गया है। जीव के अनन्त पर्यव होते हैं और अजीव के भी सब मिलाकर अनन्त पर्यव होते हैं।[1]

आवलिका से लेकर सर्वकालपर्यन्त कालभेदों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा समयसंख्या प्ररूपणा

२. आवलिया णं भंते ! किं संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, अणंता समया ?

गोयमा ! नो संखेज्जा समया, असंखेज्जा समया, नो अणंता समया।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या आवलिका संख्यात समय की, असंख्यात समय की या अनन्त समय की होती है ?

[२ उ.] गौतम ! वह न तो संख्यात समय की होती है और न अनन्त समय की होती है, किन्तु असंख्यात समय की होती है।

३. आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[३ प्र.] भगवन् ! आनप्राण (श्वासोच्छ्वास) संख्यात समय का होता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (असंख्यात समय का) होता है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८९

४. थोवे णं भंते ! किं संखेज्जा० ?

एवं चेव।

[४ प्र.] भगवन् ! स्तोक संख्यात समय का होता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[४ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (असंख्यात समय का) जानना चाहिए ।

५. एवं लवे वि, मुहुत्ते वि। एवं अहोरत्ते। एवं पक्खे मासे उडू अयणे संवच्छरे जुगे वाससते वाससहस्से वाससयसहस्से पुव्वंगे पुव्वे, तुडियंगे तुडिए, अडडंगे अडडे, अववंगे अववे, हूहुयंगे हूहुए, उप्पलंगे उप्पले, पउमंगे पउमे, नलिणंगे नलिणे, अत्थनिऊरंगे अत्थनिऊरे, अउयंगे अउये, नउयंगे नउए, पउयंगे पउए, चूलियंगे, चूलिए, सीसपहेलियंगे, सीसपहेलिया, पलिओवमे, सागरोवमे, ओसप्पिणी एवं उस्सप्पिणी वि।

[५] इसी प्रकार लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत (सौ वर्ष), वर्षसहस्र (हजार वर्ष), वर्षशत-सहस्र (लाख वर्ष), पूर्वांग, पूर्व, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अववांग, अवव, हूहूकांग, हूहूक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग पद्म, नलिनांग, नलिन, अक्ष-निपूरांग, अक्षनिपूर, अयुतांग, अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्ष-प्रहेलिकांग, शीर्षप्रहेलिका, पल्योपम, सागरोपम, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, इन सबके भी समय (पूर्वोक्त कथनानुसार) जानने चाहिए। अर्थात् इनमें से प्रत्येक के असंख्यात समय होते हैं।

६. पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जा समया असंखेज्जा समया० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा समया, नो असंखेज्जा समया, अणंता समया।

[६ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्तन संख्यात समय का होता है, असंख्यात समय का या अनन्त समय का होता है ?

[६ उ.] गौतम ! वह संख्यात समय का या असंख्यात समय का नहीं होता, किन्तु अनन्त समय का होता है।

७. एवं तीतद्ध-अणागयद्ध-सव्वद्धा।

[७] इसी प्रकार भूतकाल, भविष्यत्काल तथा सर्वकाल भी समझना चाहिए।

८. आवलियाओ णं भंते ! किं संखेज्जा समया० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा समया, सिय असंखेज्जा समया, सिय अणंता समया।

[८ प्र.] भगवन् ! क्या (बहुत) आवलिकाएँ संख्यात समय की होती हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[८ उ.] गौतम ! वह संख्यात समय की नहीं होतीं, किन्तु कदाचित् असंख्यात समय की और कदाचित् अनन्त समय की होती हैं।

९. आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जा समया० ?

एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन् ! क्या (अनेक) आनप्राण (श्वासोच्छ्वास) संख्यात समय के होते हैं ?
[९ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए ।

१०. थोवा णं भंते ! किं संखेज्जा समया० ?

एवं चेव ।

[१० प्र.] भगवन् ! (अनेक) स्तोक संख्यात समयरूप हैं ? इत्यादि प्रश्न ।
[१० उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना ।

११. एवं जाव उस्सप्पिणीओ त्ति ।

[११] इसी प्रकार (लव से लेकर) यावत् अवसर्पिणीकाल तक समझना चाहिए ।

१२. पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जा समया० पुच्छा ।

गोयमा ! नो खंखेज्जा समया, नो असंखेज्जा समया, अणंता समया ।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या पुद्गल-परिवर्त्तन संख्यातसमय के होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१२ उ.] गौतम ! वह संख्यात समय के या असंख्यात समय के नहीं होते, किन्तु अनन्त समय के होते हैं ।

विवेचन—कालमान-प्ररूपणा—समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक ४६ भेद हैं । यहाँ तक का काल-परिमाण गणना के योग्य है । शीर्षप्रहेलिका में १९४ अंकों की संख्या आती है । काल-परिमाण तो इसके आगे भी बताया गया है, परन्तु वह उपमेयकाल है, गणनीय काल नहीं । समय से लेकर शीर्षप्रहेलिका तक की संख्या का अर्थ पहले लिखा जा चुका है । इसी प्रकार पल्योपम, सागरोपम आदि उपमाकाल का अर्थ भी पहले अंकित किया जा चुका है ।

आवलिका से पुद्गलपरिवर्तन तक का समयगत कालमान—आवलिका से उत्सर्पिणी तक का कालमान संख्यात और अनन्त समय का नहीं अपितु असंख्यात समय का है । किन्तु पुद्गल-परिवर्तन या भूत, भविष्य या सर्वकाल का मान अनन्त समय का बताया गया है । आवलिकाएँ, आन-प्राण, स्तोक से लेकर अवसर्पिणियों (बहुवचन) तक कदाचित् असंख्यात समय की और कदाचित् अनन्त समय की हैं । परन्तु पुद्गलपरिवर्तन (बहुवचन) अनन्त समय के हैं ।

इसमें दूसरे से लेकर सातवें सूत्र तक एकवचनपरक सूत्र हैं और आठवें से बारहवें सूत्र तक बहुवचनपरक सूत्र हैं ।[२]

आनप्राणादि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से आवलिका : संख्या-प्ररूपणा

१३. आणापाणू णं भंते ! किं संखेज्जाओ आवलियाओ० पुच्छा ।

गोयमा ! संखेज्जाओ आवलियाओ, नो असंखेज्जाओ आवलियाओ, नो अणंताओ आवलियाओ ।

---

१. भगवती (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३३४१

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा २. पृ. १०१२-१३

[१३ प्र.] भगवन् ! आनप्राण क्या संख्यात आवलिकारूप हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम ! (आनप्राण) संख्यात आवलिकारूप हैं, किन्तु असंख्यात आवलिकारूप या अनन्त आवलिकारूप नहीं हैं।

१४. एवं थोवे वि।

[१४] इसी प्रकार स्तोक के सम्बन्ध में जानना।

१५. एवं जाव सीसपहेलिय त्ति।

[१५] यावत्—शीर्षप्रहेलिका तक भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

१६. पलिओवमे णं भंते ! किं संखेज्जाओ० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ आवलियाओ, असंखेज्जाओ आवलियाओ, नो अणंताओ आवलियाओ।

[१६ प्र.] भगवन् ! पल्योपम संख्यात आवलिकारूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[१६ उ.] गौतम ! वह संख्यात आवलिकारूप अथवा अनन्त आवलिकारूप नहीं है, किन्तु असंख्यात आवलिकारूप है।

१७. एवं सागरोवमे वि।

[१७] इसी प्रकार सागरोपम के सम्बन्ध में जानना।

१८. एवं ओसप्पिणीए वि, उस्सप्पिणीए वि।

[१८] इसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

१९. पोग्गलपरियट्टे पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ आवलियाओ, नो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ।

[१९ प्र.] (भगवन् !) पुद्गलपरिवर्तन संख्यात आवलिकारूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[१९ उ.] गौतम ! वह न तो संख्यात आवलिकारूप है और न असंख्यात आवलिकारूप है, किन्तु अनन्त आवलिकारूप है।

२०. एवं जाव सव्वद्धा।

[२०] इसी प्रकार यावत् सर्वकाल (सर्वाद्धा) तक जानना चाहिए।

२१. आणापाणू [? ओ] णं भंते ! किं संखेज्जाओ आवलियाओ० पुच्छा।

गोयमा ! सिय संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ, सिय अणंताओ।

[२१ प्र.] भगवन् ! क्या (बहुत) आनप्राण संख्यात आवलिकारूप हैं ? इत्यादि प्रश्न !

[२१ उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात आवलिकारूप हैं, कदाचित् असंख्यात आवलिकारूप हैं और कदाचित् अनन्त आवलिकारूप हैं।

२२. एवं जाव सीसपहेलियाओ ।

[२२] इस प्रकार यावत् शीर्षप्रहेलिका तक जानना ।

२३. पलिओवमा णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ आवलियाओ, सिय असंखेज्जाओ आवलियाओ, सिय अणंताओ आवलियाओ ।

[२३ प्र.] भगवन् ! क्या पल्योपम संख्यात आवलिकारूप हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२३ उ.] गौतम ! वे संख्यात आवलिकारूप नहीं हैं, किन्तु कदाचित् असंख्यात आवलिकारूप हैं और कदाचित् अनन्त आवलिकारूप हैं ।

२४. एवं जाव उस्सप्पिणीओ ।

[२४] इस प्रकार यावत् उत्सर्पिणी पर्यन्त समझना चाहिए ।

२५. पोग्गलपरियट्टा णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ आवलियाओ, नो असंखेज्जाओ आवलियाओ, अणंताओ आवलियाओ ।

[२५ प्र.] भगवन् ! क्या पुद्‌गलपरिवर्त्तन संख्यात आवलिकारूप हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२५ उ.] गौतम ! वे न तो संख्यात आवलिकारूप हैं और न ही असंख्यात आवलिकारूप हैं, किन्तु अनन्त आवलिकारूप हैं ।

विवेचन—आनप्राण से लेकर पुद्‌गलपरिवर्त्तन तक आवलिकागत कालमान—आनप्राण से शीर्षप्रहेलिका तक कदाचित् संख्यात, कदाचित् असंख्यात और कदाचित् अनन्त आवलिकरूप हैं । पल्योपम से लेकर उत्सर्पिणी तक संख्यात आवलिकरूप नहीं, किन्तु कदाचित् असंख्यात आवलिकारूप और कदाचित् अनन्त आवलिकारूप हैं तथा पुद्‌गलपरिवर्तन संख्यात-असंख्यात आवलिकारूप नहीं, किन्तु अनन्त आवलिकारूप हैं । यह काल संख्या बहुत्व की अपेक्षा से है ।[1]

स्तोकादि कालों में एकत्व-बहुत्वदृष्टि से आनप्राणादि से शीर्षप्रहेलिका पर्यन्त संख्या-निरूपण

२६. थोवे णं भंते ! किं संखेज्जाओ० आणापाणूओ, असंखेज्जाओ ?

जहा आवलियाए वत्तव्वया एवं आणापाणूओ वि निरवसेसा ।

[२६ प्र.] भगवन् ! स्तोक क्या संख्यात आनप्राणरूप हैं या असंख्यात आनप्राणरूप हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२६ उ.] जिस प्रकार आवलिका के सम्बन्ध में वक्तव्यता है, उसी प्रकार आनप्राण से सम्बन्धित समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

२७. एवं एएणं गमएणं जाव सीसपहेलिया भाणियव्वा ।

[२७] इस प्रकार पूर्वोक्त (इस) गम (पाठ) के अनुसार यावत् शीर्षप्रहेलिका तक कहना चाहिए ।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं [मूलपाठ-टिप्पणयुक्त] पृ. १०१३-१०१४

विवेचन—आनप्राणरूप कालमान से लेकर शीर्षप्रहेलिकारूप कालमान तक—प्रस्तुत दो सूत्रों में आवलिकारूप कालमान के अतिदेशपूर्वक स्तोक आदि का आनप्राण से शीर्षप्रहेलिका तक के कालमान की प्ररूपणा की गई है।

सागरोपमादि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से पल्योपम-संख्या निरूपण

२८. सागरोवमे णं भंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा० पुच्छा।

गोयमा ! संखेज्जा पलिओवमा, नो असंखेज्जा पलिओवमा, नो अणंता पलिओवमा।

[२८ प्र.] भगवन् ! सागरोपम क्या संख्यात पल्योपमरूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[२८ उ.] गौतम ! वह संख्यात पल्योपमरूप है, किन्तु असंख्यात पल्योपमरूप या अनन्त पल्योपमरूप नहीं है।

२९. एवं ओसप्पिणी वि, उस्सप्पिणी वि।

[२९] इसी प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

३०. पोग्गलपरियट्टे णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा पलिओवमा, नो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा।

[३० प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्तन क्या संख्यात पल्योपमरूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[३० उ.] गौतम ! वह संख्यात पल्योपमरूप नहीं है और न असंख्यात पल्योपमरूप है, किन्तु अनन्त पल्योपमरूप है।

३१. एवं जाव सव्वद्धा।

[३१] इसी प्रकार यावत् सर्वकाल (सर्वाद्धा) तक जानना।

३२. सागरोवमा णं भंते ! किं संखेज्जा पलिओवमा० पुच्छा।

गोयमा ! सिय संखेज्जा पलिओवमा, सिय असंखेज्जा पलिओवमा, सिय अणंता पलिओवमा।

[३२ प्र.] भगवन् ! सागरोपम क्या संख्यात पल्योपमरूप हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३२ उ.] गौतम ! वे कदाचित् संख्यात पल्योपमरूप हैं, कदाचित् असंख्यात पल्योपमरूप हैं और कदाचित् अनन्त पल्योपमरूप हैं।

३३. एवं जाव ओसप्पिणी वि, उस्सप्पिणी वि।

[३३] इसी प्रकार यावत् अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल (तक) के सम्बन्ध में भी जानना चाहिए।

३४. पोग्गलपरियट्टा णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा पलिओवमा, नो असंखेज्जा पलिओवमा, अणंता पलिओवमा।

[३४ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्तन क्या संख्यात पल्योपमरूप होते है ? इत्यादि प्रश्न।

[३४ उ.] गौतम ! वे संख्यात पल्योपमरूप अथवा असंख्यात पल्योपमरूप नहीं हैं किन्तु अनन्त पल्योपमरूप हैं।

विवेचन—सागरोपम से सर्वकाल तक एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से पल्योपमरूप कालमान— एकवचन की दृष्टि से सागरोपम से उत्सर्पिणीकाल तक संख्यात पल्योपमरूप है। पुद्गलपरिवर्तन से सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक अनन्त पल्योपमरूप है। बहुवचन की दृष्टि से सागरोपम से लेकर उत्सर्पिणी तक कदाचित् संख्यात, असंख्यात या अनन्त पल्योपम रूप हैं, किन्तु पुद्गलपरिवर्तन अनन्त-पल्योपम रूप हैं।

उत्सर्पिणी आदि कालों में एकत्व-बहुत्व की अपेक्षा से सागरोपम-संख्या-प्ररूपणा

३५. ओसप्पिणी णं भंते ! किं संखेज्जा सागरोवमा० ?

जहा पलिओवमस्स वत्तव्वया तहा सागरोवमस्स वि।

[३५ प्र.] भगवन् ! अवसर्पिणी क्या संख्यात सागरोपम रूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[३५ उ.] गौतम ! जैसे पल्योपम की वक्तव्यता कही थी, वैसे सागरोपम की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

पुद्गलपरिवर्तनादि कालों में एकत्व-बहुत्व दृष्टि से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी काल की संख्या की प्ररूपणा

३६. पोग्गलपरियट्टे णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ, नो असंखिज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ।

[३६ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्तन क्या संख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[३६ उ.] गौतम ! वह न तो संख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप है और न ही असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप है, किन्तु अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप है।

३७. एवं जाव सव्वद्धा।

[३७] इसी प्रकार यावत् सर्वाद्धा (सर्वकाल) तक जानना चाहिए।

३८. पोग्गलपरियट्टा णं भंते ! किं संखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सपिणीओ० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जाओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ, नो असंखेज्जाओ, अणंताओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ।

[३८ प्र.] भगवन् ! पुद्गलपरिवर्तन क्या संख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३८ उ.] गौतम ! वे संख्यात या असंख्यात अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप नहीं हैं किन्तु अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप हैं।

विवेचन—**पुद्गलपरिवर्तन से सर्वाद्धा तक एकत्व-बहुत्वदृष्टि से अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप कालमान**—पुद्गलपरिवर्तन आदि एक हों या अनेक, वे अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप हैं।

भूत-भविष्यत् तथा सर्वकाल में पुद्गलपरिवर्तन की अनन्तता

३९. तीतद्धा णं भंते ! किं संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा० पुच्छा।

गोयमा ! नो संखेज्जा पोग्गलपरियट्टा, नो असंखेज्जा, अणंता पोग्गलपरियट्टा।

[३९ प्र.] भगवन् ! अतीताद्धा (भूतकाल) क्या संख्यात पुद्गलपरिवर्तनरूप है ? इत्यादि प्रश्न।

[३९ उ.] गौतम ! न तो वह संख्यात पुद्गलपरिवर्तनरूप है और न असंख्यात पुद्गल-परिवर्तनरूप है, किन्तु अनन्त पुद्गलपरिवर्तनरूप है।

४०. एवं अणागतद्धा वि।

[४०] इसी प्रकार अनागताद्धा (भविष्यत्काल) के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

४१. एवं सव्वद्धा वि।

[४१] इसी प्रकार सर्वाद्धा (सर्वकाल) के विषय में जानना।

विवेचन—**निष्कर्ष**—भूतकाल, भविष्यत्काल और सर्वकाल तीनों अनन्त पुद्गलपरिवर्तन-रूप हैं।

अनागतकाल की अतीतकाल से समयाधिकता

४२. अणागतद्धा णं भंते ! किं संखेज्जाओ तीतद्धाओ, असंखेज्जाओ, अणंताओ ?

गोयमा ! नो संखेज्जाओ तीतद्धाओ, नो असंखेज्जाओ तीतद्धाओ, नो अणंताओ तीतद्धाओ, अणागयद्धा णं तीतद्धाओ समयाहिया; तीतद्धा णं अणागयद्धाओ समयूणा।

[४२ प्र.] भगवन् ! अनागतकाल क्या संख्यात अतीतकालरूप है अथवा असंख्यात या अनन्त अतीतकालरूप है ?

[४२ उ.] गौतम ! वह न तो संख्यात अतीतकालरूप है, न असंख्यात और अनन्त अतीत-कालरूप है, किन्तु अतीताद्धाकाल से अनागताद्धाकाल एक समय अधिक है और अनागताद्धाकाल से अतीताद्धाकाल एक समय न्यून है।

विवेचन—**अनागतकाल का भूतकालरूप कालमान**—प्रस्तुत सूत्र (४२) में बताया गया है कि अनागतकाल संख्यात-असंख्यात-अनन्त अतीतकालरूप नहीं है, किन्तु वह अतीतकाल से एक समय अधिक है। अर्थात् भूतकाल से भविष्यत्काल एक समय अधिक है, क्योंकि भूतकाल और भविष्यकाल दोनों अनादित्व और अनन्तत्व की दृष्टि से समान हैं। इसके बीच में श्री गौतमस्वामी के प्रश्न का समय है। वह अविनष्ट होने से भूतकाल में समाविष्ट नहीं किया जा सकता; किन्तु अविनष्ट धर्म की

साधर्म्यता से उसका समावेश भविष्यत्काल में होता है। इसलिए भविष्यत्काल, भूतकाल से एक समय अधिक है और भूतकाल, भविष्यकाल से एक समय न्यून है।[1]

सर्वाद्धा का अतीत तथा अनागतकाल के समय से न्यूनाधिकता

४३. सव्वद्धा णं भंते! किं संखेज्जाओ तीतद्धाओ० पुच्छा।

गोयमा! नो संखेज्जाओ तीतद्धाओ, नो असंखेज्जाओ, णो अणंताओ तीतद्धाओ, सव्वद्धा णं तीयद्धाओ सातिरेगदुगुणा, तीतद्धा णं सव्वद्धाओ थोवूणए अद्धे।

[४३ प्र.] भगवन्! सर्वाद्धा (सर्वकाल) क्या संख्यात अतीताद्धाकालरूप है? इत्यादि प्रश्न।

[४३ उ.] गौतम! वह संख्यात-असंख्यात-अनन्त अतीताद्धाकालरूप नहीं है, किन्तु अतीताद्धाकाल से सर्वाद्धा (सर्वकाल) कुछ अधिक द्विगुण है और अतीताद्धाकाल, सर्वाद्धा से कुछ कम अर्द्ध-भाग है।

४४. सव्वद्धा णं भंते! किं संखेज्जाओ अणागयद्धाओ० पुच्छा।

गोयमा! नो संखेज्जाओ अणागयद्धाओ, नो असंखेज्जाओ अणागयद्धाओ, नो अणंताओ अणागयद्धाओ, सव्वद्धा णं अणागयद्धाओ थोवूणगदुगुणा, अणागयद्धा णं सव्वद्धातो सातिरेगे अद्धे।

[४४ प्र.] भगवन्! सर्वाद्धा (सर्वकाल) क्या संख्यात अनागताद्धाकालरूप है? इत्यादि प्रश्न।

[४४ उ.] गौतम! वह संख्यात-असंख्यात-अनन्त अनागताद्धाकालरूप नहीं, किन्तु सर्वाद्धा, अनागत-अद्धाकाल से कुछ कम दुगुना है और अनागताद्धाकाल सर्वाद्धा से सातिरेक (कुछ अधिक) अर्द्धभाग है।

विवेचन—सर्वकाल से अतीत और अनागतकाल की न्यूनाधिकता का परिमाण—सर्वाद्धा अर्थात्—सर्वकाल, भूतकाल से वर्तमान (एक) समय अधिक दुगुना है और भूतकाल, सर्वाद्धाकाल से एक समय कम अर्धभागरूप है। इसी प्रकार सर्वाद्धाकाल अनागतकाल से कुछ कम दुगुना है और अनागतकाल सर्वाद्धाकाल से सातिरेक अर्द्धभागरूप है।[2]

शंका-समाधान—इस सम्बन्ध में कोई आचार्य कहते हैं—भूतकाल से भविष्यत्काल अनन्तगुणा है। जैसा कि कहा है—

तेऽणंता तीअद्धा, अणागयद्धा अणंतगुणा।"

अर्थात्—अतीताद्धा (भूतकाल) अनन्त पुद्गलपरावर्तनरूप है। उससे अनन्तगुणा अनागताद्धा (भविष्यत्काल) है।

शंका—यदि वर्तमान समय में भूतकाल और भविष्यत्काल दोनों समान हों तो वर्तमान समय व्यतीत हो जाने पर भविष्यत्काल एक समय कम हो जाएगा तथा इसके बाद दो, तीन, चार इत्यादि

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. २, पृ. १०१५
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८९

२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भाग २, पृ. १०१६

समय कम हो जाने पर भूतकाल और भविष्यत्काल की समानता नहीं रहेगी। इसलिए ये दोनों काल समान नहीं हैं, परन्तु भूतकाल से भविष्यत्काल अनन्तगुणा है, क्योंकि अनन्तकाल व्यतीत हो जाने पर भी उसका क्षय नहीं होता। ऐसी स्थिति में शंका होती है कि अतीत और अनागत, दोनों की समानता पूर्वोक्त कथनानुसार कहाँ रही ?

समाधान—इसका समाधान यह है कि अतीत और अनागतकाल की जो समानता बताई जाती है, वह अनादित्व और अनन्तत्व की अपेक्षा से है। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस प्रकार अतीतकाल की आदि नहीं है, वह अनादि है, इसी प्रकार भविष्यत्काल का भी अन्त नहीं है, वह भी अनन्त है। अतः अनादित्व और अनन्तत्व की अपेक्षा अतीतकाल और अनागतकाल की समानता विवक्षित है।[1]

निगोद के भेद-प्रभेदों का निरूपण

४५. कतिविधा णं भंते ! णिओदा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा णिओदा पन्नत्ता, तं जहा—णिओया य णिओयजीवा य।

[४५ प्र.] भगवन् ! निगोद कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४५ उ.] गौतम ! निगोद दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—निगोद और निगोदजीव।

४६. णिओदा णं भंते ! कतिविधा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमनिगोदा य, बायरनियोया य। एवं नियोया भाणियव्वा जहा जीवाभिगमे तहेव निरवसेसं।

[४६ प्र.] भगवन् ! ये निगोद कितने प्रकार के कहे हैं ?

[४६ उ.] गौतम ! ये दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सूक्ष्मनिगोद और बादरनिगोद। इस प्रकार निगोद के विषय में समग्र वक्तव्यता जीवाभिगमसूत्र के अनुसार कहनी चाहिए।

विवेचन—निगोद : स्वरूप और प्रकार—अनन्तकायिक जीवों के शरीर को **'निगोद'** और अनन्तकायिक जीवों को **'निगोद के जीव'** कहते हैं।

निगोद दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्मनिगोद और बादरनिगोद। जिनके असंख्य शरीर एकत्रित होने पर चर्मचक्षुओं से दिखाई दे सकें, वे **बादरनिगोद** कहलाते हैं और कितने ही शरीर इकट्ठे होने पर भी जो चर्मचक्षुओं से दिखाई न दें, उन्हें **सूक्ष्मनिगोद** कहते हैं।

निगोदजीव साधारणनामकर्म-उदयवर्ती कहलाते हैं। जीवाभिगम के अतिदेश से सूचित किया गया है कि सूक्ष्मनिगोद दो प्रकार के कहे हैं। यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक इत्यादि।[2]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८८९ (ख) भगवती. (हिन्दीविवेचन) भा. ७, पृ. ३३४१
(ग) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् खण्ड ४ (पं. भगवानदासजी कृत गुजराती अनुवाद), पृ. २३८

२. (क) भगवती (हिन्दीविवेचन) भाग ७, पृ. ३३४२ (ग) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ८९०
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (चतुर्थ खण्ड) गुजराती अनुवाद, पृ. २३९
(प्र.) सुहुमनिगोदा णं भंते ! कतिविहा पण्णत्ता ?
(उ.) गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं०—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य इत्यादि।
(घ) जीवाभिगमसूत्र, प्रतिपत्ति ५, उ. २, सू. २३८-३९, पत्र ४२३/२

औदयिकादि छह भावों का अतिदेशपूर्वक प्ररूपरण

४७. कतिविधे णं भंते ! णामे पन्नत्ते ?

गोयमा ! छव्विहे नामे पन्नत्ते, तं जहा—उदइए जाव सन्निवातिए।

[४७ प्र.] भगवन् ! नाम (भाव) कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[४७ उ.] गौतम ! नाम छह प्रकार के कहे गए हैं। यथा—औदयिक (से लेकर) यावत् सान्निपातिक।

४८. से किं तं उदइए नामे ?

उदइए णामे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—उदए य, उदयनिप्फन्ने य। एवं जहा सत्तरसमसते पढमे उद्देसए (स० १७ उ० १ सु० २९) भावो तहेव इह वि, नवरं इमं नामनाणत्तं। सेसं तहेव जाव सन्निवातिए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचवीसइमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-५ ॥

[४८ प्र.] भगवन् ! वह औदयिक नाम (भाव) किस (कितने) प्रकार का है ?

[४८ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा है। यथा—उदय और उदयनिष्पन्न। सत्रहवें शतक के प्रथम उद्देशक (सू. २९) में जैसे भाव के सम्बन्ध में कहा है, वैसे ही यहाँ कहना। विशेष यही है कि वहाँ 'भाव' के सम्बन्ध में कहा है, जबकि यहाँ 'नाम' के विषय में है। शेष सब यावत् सान्निपातिक-पर्यन्त उसी प्रकार कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर यावत् गौतमस्वामी विचरते हैं।

विवेचन—औदयिकादि छह भावों की अतिदेशपूर्वक प्ररूपणा—नमन, नाम, परिणाम, भाव आदि शब्द एकार्थक (पर्यायवाची) हैं। भाव ६ हैं—(१) औदयिक, (२) औपशमिक, (३) क्षायोपशमिक, (५) पारिणामिक और (६) सान्निपातिक।

वहाँ भाव, यहाँ नाम—भगवतीसूत्र के ही १७वें शतक, प्रथम उद्देशक के २९वें सूत्र में औदयिक आदि का 'भाव' शब्द से वर्णन है, जबकि यहाँ 'नाम' शब्द के रूप में। वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है।[1]

॥ पच्चीसवाँ शतक : पंचम उद्देशक ॥

---

१. (क) भगवती. शतक १७, उ. १, सू. २९, पृ. ३२ (गुजराती अनुवाद)
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९०

छट्ठो उद्देसओ : नियंठ

छठा उद्देशक : निर्ग्रन्थों के छत्तीस द्वार

छठे उद्देशक की छत्तीस द्वार-निरूपक गाथाएँ

१. पण्णवण १ वेद २ रागे ३ कप्प ४ चरित्त ५ पडिसेवणा ६ णाणे ७।
तित्थे ८ लिंग ९ सरीरे १० खत्ते ११ काल १२ गति १३ संजम १४ निकासे १५ ॥१॥
जोगुवओग १६-१७ कसाए १८ लेस्सा १९ परिणाम २० बंध २१ वेए य २२।
कम्मोदीरण २३ उवसंपजहण २४ सन्ना य २५ आहारे २६ ॥२॥
भव २७ आगरिसे २८ कालंतरे य २९-३० समुघाय ३१ खत्त ३२ फुसणा य ३३।
भावे ३४ परिमाणे ३५ खलु अप्पाबहुयं ३६ नियंठाणं ॥३॥

[१ गाथार्थ-] (छठे उद्देशक में) निर्ग्रन्थों के विषय में ३६ द्वार हैं। यथा—(१) प्रज्ञापन, (२) वेद, (३) राग, (४) कल्प, (५) चारित्र, (६) प्रतिसेवना, (७) ज्ञान, (८) तीर्थ, (९) लिंग, (१०) शरीर, (११) क्षेत्र, (१२) काल, (१३) गति, (१४) संयम, (१५) निकाशर्ष (सन्निकर्ष-पुलाकादि का परस्पर संयोजन), (१६) योग, (१७) उपयोग, (१८) कषाय, (१९) लेश्या, (२०) परिणाम, (२१) बन्ध, (२२) वेद, (वेदन), (२३) कर्मों की उदीरणा, (२४) उपसंपत्-हान, (२५) संज्ञा, (२६) आहार, (२७) भव, (२८) आकर्ष, (२९) काल, (३०) अन्तर, (३१) समुद्घात, (३२) क्षेत्र, (३३) स्पर्शना, (३४) भाव, (३५) परिमाण और (३६) अल्पबहुत्व।

विवेचना—बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ—परिग्रह से रहित को निर्ग्रन्थ, श्रमण या साधु कहते हैं। निर्ग्रन्थों के प्रकार, उनमें वेद, राग, कल्प, चारित्र आदि कितने और किस प्रकार के पाए जाते हैं? इत्यादि ३६ पहलुओं से निर्ग्रन्थों के जीवन का वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया गया है।[1]

प्रथम प्रज्ञापनाद्वार : निर्ग्रन्थों के भेद-प्रभेद

२. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[२] राजगृह नगर में गौतमस्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

३. कति णं भंते ! नियंठा पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच नियंठा पन्नत्ता, तं जहा—पुलाए बउसे कुसीले नियंठे सिणाए।

[३ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितने प्रकार के कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! निर्ग्रन्थ पांच प्रकार के बताए हैं। यथा—(१) पुलाक, (२) बकुश, (३) कुशील, (४) निर्ग्रन्थ और (५) स्नातक।

---

१. भगवती-उपक्रम (संयोजक—पं. मुनि श्री जनकरायजी म.) पृ. ६०१

४. पुलाए णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—नाणपुलाए दंसणपुलाए चरित्तपुलाए लिंगपुलाए अहासुहुमपुलाए नामं पंचमे ।

[४ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[४ उ.] गौतम ! पुलाक पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—(१) ज्ञानपुलाक, (२) दर्शनपुलाक, (३) चारित्रपुलाक, (४) लिंगपुलाक (५) यथासूक्ष्मपुलाक ।

बउसे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—आभोगबउसे, अणाभोगबउसे संवुडबउसे असंवुडबउसे अहासुहुमबउसे नामं पंचमे ।

[५ प्र.] भगवन् ! बकुश कितने प्रकार के कहे हैं ?

[५ उ.] गौतम ! वे पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—(१) आभोगबकुश, (२) अनाभोग-बकुश, (३) संवृतबकुश, (४) असंवृतबकुश और (५) यथासूक्ष्मबकुश ।

६. कुसीले णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—पडिसेवणाकुसीले य, कसायकुसीले य ।

[६ प्र.] भगवन् ! कुशील कितने प्रकार के कहे हैं ?

[६ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के होते हैं । यथा—प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशीला ।

७. पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—नाणपडिसेवणाकुसीले दंसणपडिसेवणाकुसीले चरित्त-पडिसेवणाकुसीले लिंगपडिसेवणाकुसीले अहासुहुमपडिसेवणाकुसीले णामं पंचमे ।

[७ प्र] भगवन् ! प्रतिसेवनाकुशील कितने प्रकार के कहे गये हैं ?

[७ उ.] गौतम ! प्रतिसेवनाकुशील पांच प्रकार के कहे गये हैं । यथा—(१) ज्ञानप्रति-सेवनाकुशील, (२) दर्शनप्रतिसेवनाकुशील, (३) चारित्रप्रतिसेवनाकुशील, (४) लिंगप्रतिसेवना-कुशील और पांचवें (५) यथासूक्ष्मप्रतिसेवनाकुशील ।

८. कसायकुसीले णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—नाणकसायकुसीले दंसणकसायकुसीले चरित्तकसायकुसीले लिंगकसायकुसीले, अहासुहुमकसायकुसीले णामं पंचमे ।

[८ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील कितने प्रकार के कहे हैं ?

[८ उ.] गौतम ! कषायकुशील भी पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—(१) ज्ञानकषायकुशील, (२) दर्शनकषायकुशील, (३) चारित्रकषायकुशील, (४) लिंगकषायकुशील और पांचवें (५) यथा-सूक्ष्मकषायकुशील ।

९. नियंठे णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—पढमसमयनियंठे अपढमसमयनियंठे चरिमसमयनियंठे अचरिमसमयनियंठे अहासुहुमनियंठे णामं पंचमे ।

[९ प्र.] भगवन् !- निर्ग्रन्थ कितने प्रकार के कहे है ?

[९ उ.] गौतम ! वे पाँच प्रकार के कहे हैं । यथा—(१) प्रथम-समय-निर्ग्रन्थ, (२) अप्रथम-समय-निर्ग्रन्थ, (३) चरम-समय-निर्ग्रन्थ (४) अचरम-समय-निर्ग्रन्थ और पांचवें (५) यथासूक्ष्म-निर्ग्रन्थ ।

१०. सिणाए णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—अच्छवी १ असबले २ अकम्मंसे ३ संसुद्धनाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली ४ अपरिस्सावी ५ । [दारं १] ।

[१० प्र.] भगवन् ! स्नातक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१० उ.] गौतम ! स्नातक पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—(१) अच्छवि, (२) असबल, (३) अकर्मांश, (४) संशुद्ध-ज्ञान-दर्शनधर अर्हन्त जिन केवली एवं (५) अपरिस्रावी ।। [द्वार-१]

विवेचन—निर्ग्रन्थ : प्रकार स्वरूप और भेद—सभी निर्ग्रन्थ यद्यपि सर्वविरति चारित्र अंगीकार किये हुए होते हैं, तथापि चारित्र-मोहनीय कर्म के क्षयोपशम की विभिन्नता-विचित्रता के कारण निर्ग्रन्थ के मूलतः ५ प्रकार होते हैं । यथा—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक ।

पुलाक का लक्षण—पुलाक का अर्थ है निःसार धान्यकण । पुलाक की तरह संयम-साररहित को यहाँ पुलाकश्रमण कहा जाता है । संयमवान् होते हुए भी वह किसी छोटे-से दोष के कारण संयम को किंचित् असार कर देता है, इस कारण वह पुलाक कहलाता है । पुलाक के मुख्यतया दो भेद हैं—लब्धिपुलाक और आसेवनापुलाक । लब्धिपुलाक लब्धिविशेष का धनी होता है । संघ आदि के विशेष कार्य के निमित्त से अथवा कोई चक्रवर्ती आदि जिनशासन तथा साधु-साध्वियों की आशातना करे, ऐसी स्थिति में उसकी सेना आदि को दण्ड देने हेतु लब्धिप्रयोग करे, वह **लब्धिपुलाक** कहलाता है । कुछ आचार्यों का मत है कि जो ज्ञानपुलाक होता है, उसी को ऐसी लब्धि होती है, अतः वही लब्धिपुलाक होता है । उसके सिवाय अन्य कोई लब्धिपुलाक नहीं होता । परन्तु यहाँ मूल में **आसेवनापुलाक** के ही भेदों का प्रतिपादन किया गया है । **ज्ञानपुलाक** वह है, जो स्खलना, विस्मरण, विराधना, आशातना आदि दूषणों से ज्ञान की किंचित् विराधना करता है । **दर्शनपुलाक** वह है, जो शंकादि दूषणों से सम्यक्त्व की विराधना करता है । मूल-उत्तर-गुण की विराधना से जो चारित्र को दूषित करता है, वह **चारित्रपुलाक** कहलाता है । जो साधक अकारण ही अन्य लिंग धारण कर लेता है, वह **लिंगपुलाक** है । जो साधक आकल्पित—सेवन करने के अयोग्य दोषों का मन से सेवन करता है, वह यथासूक्ष्मपुलाक कहलाता है । यहाँ पुलाक साधक संयम को निस्सार कर देता है, वह समय की अपेक्षा से थोड़े समय के लिए करता है ।

बकुश का लक्षण—बकुश कहते हैं शबल या कर्बुर, अर्थात् चितकबरे को । बकुश की तरह संयम भी जिसका चितकबरा हो गया हो । इसके मुख्यतया दो भेद हैं—उपकरणबकुश और शरीर-

बकुश। जो वस्त्र-पात्रादि उपकरणों को विभूपित-शृंगारित करने के स्वभाववाला हो, वह उपकरण-वकुश होता है तथा जो हाथ-पैर, मुंह, नख आदि शरीर के अंगोपांगों को सुशोभित किया करता है, वह शरीरवकुश होता है। दोनों प्रकार के वकुशों के पांच भेद हैं—(१) **आभोगबकुश**—साधुओं के लिए शरीर, उपकरण आदि को सुशोभित करना अयोग्य है, यों जानते हुए भी जो दोष लगाता है। (२) **अनाभोगबकुश**—जो न जानते हुए दोष लगाता हो, वह **अनाभोगवकुश** है। (३) मूल और उत्तर गुणों में प्रकट रूप से दोष लगाए, वह **असंवृतवकुश** है। (४) जो छिपकर या गुप्त रूप से दोष लगाता है, वह **संवृतवकुश** है। (५) जो हाथ मुंह धोता है, आँखों में अंजन लगाता है, वह **यथासूक्ष्मवकुश** है।

कुशील : लक्षण और प्रकार—जिसका शील अर्थात् चारित्र कुत्सित हो, वह कुशील कहलाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं—प्रतिसेवना-कुशील और कपाय-कुशील। सेवना का अर्थ है—सम्यक् आराधना, उसका प्रतिपक्ष है—प्रतिसेवना। उसके कारण जो साधक कुशील हो, वह प्रतिसेवना-कुशील है। कपायों के कारण जिसका शील (चारित्र) कुत्सित हो गया हो, वह कपायकुशील श्रमण है। जो साधक ज्ञान, दर्शन, चारित्र और लिंग को लेकर आजीविका करता हो, वह क्रमशः **ज्ञानप्रति-सेवना-कुशोल, दर्शनप्रतिसेवना-कुशील, चारित्रप्रतिसेवना--कुशील** एवं **लिंगप्रतिसेवना-कुशील** कहलाता है। 'यह तपस्वी है, क्रियापात्र है' इत्यादि प्रकार की प्रशंसा से प्रसन्न होता है तथा तपस्या आदि के फल की इच्छा करता है और देवादि-पद की वांछा करता है वह **यथासूक्ष्मप्रतिसेवना-कुशील** निर्ग्रन्थ है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र को लेकर जो क्रोध, मान आदि कपायों के उदय से ऊँच-नीच परिणाम लाए और ज्ञानादि में दोष लगाए अथवा ज्ञानादि का क्रोधादि कषायों में उपयोग करे वह क्रमशः **ज्ञानकषायकुशील, दर्शनकषायकुशील एवं चारित्रकषायकुशील** हैं। जो कषायपूर्वक वेप-परिवर्तन करता है, वह **लिंगकषायकुशील** है। जो कषायवश किसी को शाप देता है, वह भी चारित्रकपायकुशील है तथा जो मन से क्रोधादि कपाय का सेवन करता है, वह **यथासूक्ष्मकषाय-कुशील** है।

निर्ग्रन्थ : प्रकार और स्वरूप—निर्ग्रन्थ के पांच प्रकार हैं—(१) **प्रथम-समय-निर्ग्रन्थ**—दसवें गुणस्थान से आगे ११ वें उपशान्तमोह अथवा १२ वें क्षीणमोहगुणस्थान के काल (जो कि अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण है) के प्रथम समय में वर्तमान हो। (२) **अप्रथम-समय-निर्ग्रन्थ**—११ वें या १२ वें गुणस्थान में जिसे दो समय से अधिक हो गया हो, वह। (३) **चरम-समय-निर्ग्रन्थ**—जिसकी छद्मस्थता केवल एक समय की वाकी रही हो। (४) **अचरम-समय-निर्ग्रन्थ**—जिसकी छद्मस्थता दो समय से अधिक वाकी रही हो। (५) **यथासूक्ष्मनिर्ग्रन्थ**—जो सामान्य निर्ग्रन्थ, प्रथम आदि समय की विवक्षा से भिन्न हो।

स्नातक : पांच प्रकार और स्वरूप—पूर्णतया शुद्ध, अखण्ड एवं सुगन्धित चावल के समान शुद्ध अखण्ड चारित्रवाले निर्ग्रन्थ स्नातक कहलाते हैं। स्नातक के पांच प्रकार हैं—(१) **अच्छवि**—छवि अर्थात् शरीर, इस दृष्टि से अच्छवि का अर्थ होता है—योग के निरोध के कारण जिसमें छवि (शरीर) भाव विलकुल न हो वह। अथवा घातिकर्मचतुष्टयक्षपण के बाद कोई क्षपण शेष न रहा हो, वह अक्षपी होता है। (२) **अशबल**—एकान्तविशुद्धचारित्र वाला, अर्थात्—जिसमें अतिचाररूपी पंक विलकुल न हो। (३) **अकर्म्मांश**—घातिकर्मों से रहित। (४) **संशुद्ध**—विशुद्ध ज्ञान-दर्शनधारक, केवलज्ञान-दर्शनधारक अर्हन्, जिन, केवली आदि और (५) **अपरिस्रावी**—कर्मवन्ध के प्रवाह से

रहित। सम्पूर्ण काययोग का सर्वथा निरोध कर लेने पर स्नातक सर्वथा निष्कम्प एवं क्रियारहित हो जाता है, अतः उसके कर्मबन्ध का प्रवाह सर्वथा रुक जाता है। इस कारण वह अपरिस्रावी होता है। किसी भी वृत्तिकार ने स्नातक के इन अवस्थाकृत भेदों की व्याख्या नहीं की है, इसलिए सम्भव है कि इन्द्र, शक्र, पुरन्दर आदि के समान इन के ये भेद केवल शब्दकृत हैं।[1]

द्वितीय वेदद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्त्रीवेदादि प्ररूपणा

११. [१] पुलाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा ?

गोयमा ! सवेयए होज्जा, नो अवेयए होज्जा।

[११-१ प्र.] भगवन् ! पुलाक सवेदी होता है, अथवा अवेदी ?

[११-१ उ.] गौतम ! वह सवेदी होता है, अवेदी नहीं।

[२] जइ सवेयए होज्जा किं इत्थिवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसनपुंगवेयए होज्जा ?।

गोयमा ! नो इत्थिवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसनपुंससगवेयए वा होज्जा।

[११-२ प्र.] भगवन् ! यदि पुलाक सवेदी होता है, तो क्या वह स्त्रीवेदी होता है, पुरुषवेदी होता है या पुरुष-नपुंसकवेदी होता है ?

[११-२ उ.] गौतम ! वह स्त्रीवेदी नहीं होता, या तो वह पुरुषवेदी होता है, या पुरुष-नपुंसकवेदी होता है।

१२. [१] बउसे णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अवेयए होज्जा ?

गोयमा ! सवेदए होज्जा, नो अवेदए होज्जा।

[१२-१ प्र.] भगवन् ! बकुश सवेदी होता है, या अवेदी ?

[१२-१ उ.] गौतम ! बकुश सवेदी होता है, अवेदी नहीं।

[२] जइ सवेयए होज्जा किं इत्थिवेयए होज्जा, पुरिसवेयए होज्जा, पुरिसनपुंसगवेयए होज्जा ? गोयमा ! इत्थिवेदए वा होज्जा, पुरिसवेयए वा होज्जा, पुरिसनपुंसगवेयए वा होज्जा।

[१२-२ प्र.] भगवन् ! यदि बकुश सवेदी होता है तो क्या वह स्त्रीवेदी होता है, पुरुषवेदी होता है, अथवा पुरुष-नपुंसकवेदी होता है ?

[१२-२ उ.] गौतम ! वह स्त्रीवेदी भी होता है, पुरुषवेदी भी अथवा पुरुष-नपुंसकवेदी भी होता है।

१३. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[१३] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में जानना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९१-८९२
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवाद), पृ. २४०-२४१
(ग) भगवती-उपक्रम, पृ. ६०१, ६०२, ६०३

१४. [१] कसायकुसीले णं भंते ! किं सवेयए० पुच्छा ।

गोयमा ! सवेयए वा होज्जा, अवेयए वा होज्जा ।

[१४-१ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील सवेदी होता है, या अवेदी ?

[१४-१ उ.] गौतम ! वह सवेदी भी होता है और अवेदी भी ।

[२] जइ अवेयए किं उवसंतवेयए, खीणवेयए होज्जा ?

गोयमा ! उवसंतवेयए वा, खीणवेयए वा होज्जा ।

[१४-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह अवेदी होता है तो क्या वह उपशान्तवेदी होता है, अथवा क्षीणवेदी ।

[१४-२ उ.] गौतम ! वह उपशान्तवेदी भी होता है और क्षीणवेदी भी ।

[३] जति सवेयए होज्जा किं इत्थिवेदए होज्जा० पुच्छा ।

गोयमा ! तिसु वि जहा बउसो ।

[१४-३ प्र.] भगवन् ! यदि वह सवेदी होता है तो क्या स्त्रीवेदी होता है ? इत्यादि (पूर्ववत्) प्रश्न ।

[१४-३ उ.] गौतम ! बकुश के समान तीनों ही वेदों में होते हैं ।

१५. [१] णियंठे णं भंते ! किं सवेयए० पुच्छा ।

गोयमा ! नो सवेयए होज्जा, अवेदए होज्जा ।

[१५-१ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ सवेदी होता है, या अवेदी ?

[१५-१ उ.] गौतम ! वह सवेदी नहीं होता, किन्तु अवेदी होता है ।

[२] जइ अवेयए होज्जा किं उवसंत० पुच्छा ।

गोयमा ! उवसंतवेयए वा होज्जा, खीणवेयए वा होज्जा ।

[१५-२ प्र.] भगवन् ! यदि निर्ग्रन्थ अवेदी होता है, तो क्या वह उपशान्तवेदी होता है, या क्षीणवेदी ?

[१५-२ उ.] गौतम ! वह उपशान्तवेदी भी होता है और क्षीणवेदी भी ।

१६. सिणाए णं भंते ! किं सवेयए होज्जा० ?

जहा नियंठे तहा सिणाए वि, नवरं नो उवसंतवेयए होज्जा, खीणवेयए होज्जा । [दारं २] ।

[१६ प्र.] भगवन् ! स्नातक सवेदी होता है, या अवेदी ? इत्यादि (पूर्ववत् दोनों) प्रश्न ।

[१६ उ.] गौतम ! निर्ग्रन्थ के समान स्नातक भी अवेदी होता है; किन्तु वह उपशान्तवेदी नहीं होता, क्षीणवेदी होता है । [द्वितीय द्वार]

विवेचन—पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में वेद का विचार—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील में उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी नहीं होती इसलिए वे अवेदी नहीं होते । पुलाकलब्धि स्त्री को नहीं होती,

पुरुष को या पुरुष-नपुंसक साधक को होती है। कषायकुशील सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान तक होते हैं। अतः वे प्रमत्त, अप्रमत्त और अपूर्वकरण गुणस्थान में सवेदी होते हैं तथा अनिवृत्तिबादर एवं सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में वेद का उपशम या क्षय होने से अवेदी होते हैं।

निर्ग्रन्थ उपशमश्रेणी और क्षपकश्रेणी दोनों में होते हैं। अतः वे उपशान्तवेदी या क्षीणवेदी होते हैं, किन्तु स्नातक क्षपकश्रेणी में ही होते हैं, इसलिए वे क्षीणवेदी ही होते हैं, उपशान्तवेदी नहीं।

पुरुष-नपुंसकवेदक—पुरुष होते हुए भी जो लिंग-छेद आदि के कारण नपुंसकवेदक हो जाता है, ऐसे कृत्रिमनपुंसक को यहाँ पुरुष-नपुंसक कहा है, स्वरूपतः अर्थात् जो जन्म से नपुंसकवेदी है, उसे यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है।[1]

तृतीय रागद्वार : पंचविधनिर्ग्रन्थों में सरागत्व-वीतरागत्व-प्ररूपणा

१७. पुलाए णं भंते ! किं सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा ?

गोयमा ! सरागे होज्जा, नो वीयरागे होज्जा।

[१७ प्र.] भगवन् ! पुलाक सराग होता है या वीतराग ?

[१७ उ.] गौतम ! वह सराग होता है, वीतराग नहीं।

१८. एवं जाव कसायकुसीले।

[१८] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक जानना।

१९. [१] णियंठे णं भंते ! किं सरागे होज्जा० पुच्छा।

गोयमा ! नो सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा।

[१९-१ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ सराग होता है या वीतराग ?

[१९-१ उ.] गौतम ! वह सराग नहीं होता, अपितु वीतराग होता है।

[२] जइ वीयरागे होज्जा किं उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे० ?

गोयमा ! उवसंतकसायवीतरागे वा होज्जा, खीणकसायवीतरागे वा होज्जा।

[१९-२ प्र.] (भगवन् !) यदि वह वीतराग होता है तो क्या उपशान्तकषायवीतराग होता है या क्षीणकषायवीतराग ?

[१९-२ उ.] गौतम ! वह उपशान्तकषायवीतराग भी होता है और क्षीणकषाय-वीतराग भी।

२०. सिणाए एवं चेव, नवरं नो उवसंतकसायवीयरागे होज्जा, खीणकसायवीयरागे होज्जा। [दारं ३]।

[२०] स्नातक के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। किन्तु वह उपशान्तकषाय-वीतराग नहीं होता किन्तु क्षीणकषायवीतराग होता है। [तृतीय द्वार]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९३

विवेचन—पंचविध निर्ग्रन्थों में तीन सराग, दो वीतराग—सराग का अर्थ है—सकषाय। कषाय दसवें गुणस्थान तक रहता है। इसलिए आदि के पुलाक, बकुश और कुशील (प्रतिसेवनाकुशील तथा कषायकुशील), ये तीन प्रकार के निर्ग्रन्थ सराग होते हैं, वीतराग नहीं। शेष निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये दोनों प्रकार के निर्ग्रन्थ वीतराग होते हैं। निर्ग्रन्थ में उपशान्तकषायवीतरागता एवं क्षीणकषायवीतरागता दोनों होती हैं, जबकि स्नातक में एकमात्र क्षीणकषायवीतरागता होती है।[1]

पंचविध निर्ग्रन्थों में स्थितकल्पादि-जिनकल्पादि-प्ररूपणा : चतुर्थ कल्पद्वार

२१. पुलाए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा, अठियकप्पे होज्जा ?

गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा, अठियकप्पे वा होज्जा।

[२१ प्र.] भगवन् ! पुलाक स्थितकल्प में होता है, अथवा अस्थितकल्प में ?

[२१ उ.] गौतम ! वह स्थितकल्प में भी होता है और अस्थितकल्प में भी।

२२. एवं जाव सिणाए।

[२२] इसी प्रकार (बकुश से लेकर) यावत् स्नातक तक जानना।

२३. पुलाए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा ?

गोयमा ! नो जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, नो कप्पातीते होज्जा।

[२३ प्र.] भगवन् ! पुलाक जिनकल्प में होता है, स्थविरकल्प में होता है अथवा कल्पातीत में होता है ?

[२३ उ.] गौतम ! वह न तो जिनकल्प में होता है और न कल्पातीत होता है, किन्तु स्थविरकल्प में होता है।

२४. बउसे णं० पुच्छा।

गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, नो कप्पातीते होज्जा।

[२४ प्र.] भगवन् ! बकुश जिनकल्प में होता है ? इत्यादि पृच्छा।

[२४ उ.] गौतम ! वह जिनकल्प में भी होता है, स्थविरकल्प में भी होता है, किन्तु कल्पातीत में नहीं होता।

२५. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[२५] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

२६. कसायकुसीले णं० पुच्छा।

गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा, थेरकप्पे वा होज्जा, कप्पातीते वा होज्जा।

[२६ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील जिनकल्प में होता है ? इत्यादि प्रश्न।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९४

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भाग २ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. १०२०

[२६ उ.] गौतम ! वह जिनकल्प में भी होता है, स्थविरकल्प में भी और कल्पातीत में भी होता है।

२७. नियंठे णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो जिणकप्पे होज्जा, नो थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा।

[२७ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ जिनकल्प में होता है, स्थविरकल्प में या कल्पातीत होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! वह न तो जिनकल्प में होता है और न ही स्थविरकल्प में; किन्तु वह कल्पातीत होता है।

२८. एवं सिणाए वि। [दारं ४]।

[२८] इसी प्रकार स्नातक के विषय में भी जानना चाहिए। [चतुर्थ द्वार]

विवेचन—स्थितकल्प और अस्थितकल्प ? क्या और किनमें—कल्प कहते हैं—मर्यादा, अथवा साधना की मौलिक आचारसीमा को। ये कल्प शास्त्र में दस प्रकार के बताए हैं—(१) आचेलक, (२) औद्देशिक, (३) राजपिण्ड, (४) शय्यातर, (५) मासकल्प, (६) चातुर्मासिक, (७) व्रत, (८) प्रतिक्रमण, (९) कृतिकर्म और (१०) पुरुष-ज्येष्ठ।

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधु-साध्वी दस कल्प में स्थित होते हैं, क्योंकि इन दस कल्पों का पालन उनके लिए अनिवार्य होता है। इस कारण उनका कल्प स्थितकल्प कहलाता है। शेष २२ तीर्थंकरों के शासन में अस्थितकल्प होता है। क्योंकि मध्यगत तीर्थंकरों के साधुवर्ग में अस्थित-कल्प होता है, क्योंकि वे कभी कल्प में स्थित होते हैं, कभी नहीं होते, क्योंकि उपर्युक्त सभी कल्पों का पालन उनके लिए आवश्यक नहीं होता। उपर्युक्त दस कल्पों में से ४, ७, ९, १० ये चार स्थितकल्प हैं और १, २, ३, ५, ६, ८ ये ६ कल्प अस्थिककल्प हैं। मध्यम के २२ तीर्थंकरों के साधुओं में अस्थितकल्य होता है। पुलाक आदि में दोनों प्रकार के कल्प होते हैं।[1]

जिनकल्प, स्थविरकल्प और कल्पातीत क्या और किनमें ?—दूसरी अपेक्षा से कल्प के दो भेद किये गए हैं—जिनकल्प और स्थविरकल्प। जिनकल्प का पालन करने वाले संघ में नहीं रहते, न ही किसी को दीक्षा देते या शिष्य बनाते हैं। वे एकाकी वन में या पर्वतीय गुफा आदि में रहते हैं, निर्भय, निर्द्वन्द्व और निश्चिन्त होते हैं। वे जघन्य दो और उत्कृष्ट १२ उपकरण रखते हैं। स्थविर-कल्पी संघ में, उपाश्रयादि में रहते हैं, शिष्य बनाते हैं, दीक्षा देते हैं, साधु प्रायः कम से कम दो और साध्वी कम से कम तीन साथ-साथ विचरण करते हैं। वे शास्त्रोक्त मर्यादानुसार प्रमाणोपेत वस्त्र-पात्रादि रखते हैं। कल्पातीत वे होते हैं, जो इन दोनों से परे होते हैं। ऐसे कल्पातीत केवलज्ञानी, तीर्थंकर, मनःपर्यवज्ञानी, अवधिज्ञानी, चतुर्दशपूर्वधर, श्रुतकेवली एवं जातिस्मरणज्ञानी होते हैं।

पुलाक तो केवल स्थविरकल्पी होते हैं, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील जिनकल्पी और स्थविरकल्पी दोनों होते हैं। कषायकुशील जिनकल्पी, स्थविरकल्पी और कल्पातीत भी होते हैं।

---

१. (क) भगवती-उपक्रम, पृ. ६०४
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९४

क्योंकि छद्मस्थ तीर्थंकर सकषायी होने से कल्पातीत होने से हुए भी कषायकुशील होते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक ये दोनों कल्पातीत ही होते हैं, उनमें जिनकल्प या स्थविरकल्पधर्म नहीं होते।[1]

पंचम चारित्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में चारित्र-प्ररूपणा

२९. पुलाए णं भंते ! किं सामाइयसंजमे होज्जा, छेदोवट्ठावणियसंजमे होज्जा, परिहारविसुद्धियसंजमे होज्जा, सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, अहक्खायसंजमे होज्जा ?

गोयमा ! सामाइयसंजमे वा होज्जा, छेदोवट्ठावणियसंजमे वा होज्जा, नो परिहारविसुद्धिसंजमे होज्जा, नो सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, नो अहक्खायसंजमे होज्जा।

[२९ प्र.] भगवन् ! पुलाक सामायिकसंयम में, छेदोपस्थापनिकसंयम, परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम में अथवा यथाख्यातसंयम में होता है ?

[२९ उ.] गौतम ! वह सामायिकसंयम में या छेदोपस्थापनिकसंयम में होता है, किन्तु परिहारविशुद्धिसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम या यथाख्यातसंयम में नहीं होता।

३०. एवं बउसे वि।

[३०] बकुश के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

३१. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[३१] और इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

३२. कसायकुसीले णं० पुच्छा।

गोयमा ! सामाइयसंजमे वा होज्जा जाव सुहुमसंपरायसंजमे वा होज्जा, नो अहक्खायसंजमे होज्जा।

[३२ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील पांच संयमों में से किन-किन संयमों में होता है ?

[३२ उ.] गौतम ! वह सामायिक से लेकर यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयम तक में होता है; किन्तु यथाख्यातसंयम में नहीं होता।

३३. नियंठे णं० पुच्छा।

गोयमा ! णो सामाइयसंजमे होज्जा जाव णो सुहुमसंपरायसंजमे होज्जा, अहक्खायसंजमे होज्जा।

[३३ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ किस संयम में होता है ?

[३३ उ.] गौतम ! वह सामायिकसंयम (से लेकर) यावत् सूक्ष्मसम्पराय तक में नहीं होता, एकमात्र यथाख्यातसंयम में होता है।

३४. एवं सिणाए वि। [दारं ५]।

[३४] इसी प्रकार स्नातक के विषय में समझना चाहिए। [पंचम द्वार]

---

१. (क) भगवती-उपक्रम, पृ. ६०४
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३५७-३३५८

विवेचन—किसमें कौन-सा संयम ?—पांच प्रकार के निर्ग्रन्थों में से पुलाक, बकुश एवं कषाय-कुशील सामायिक और छेदोपस्थापनिक इन दो प्रकार के संयम (चारित्र) में, कषायकुशील सामायिक से लेकर सूक्ष्मसम्पराय तक में, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक दोनों एकमात्र यथाख्यातसंयम (चारित्र) में होते हैं।[1]

छठा प्रतिसेवनाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में मूल-उत्तरगुणप्रतिसेवन-अप्रतिसेवन-प्ररूपणा

३५. [१] पुलाए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा ?

गोयमा ! पडिसेवए होज्जा, नो अपडिसेवए होज्जा।

[३५-१ प्र.] भगवन् ! पुलाक प्रतिसेवी (दोषों का सेवन करने वाला) होता है या अप्रतिसेवी ?

[३५-१ उ.] गौतम ! पुलाक प्रतिसेवी होता है, अप्रतिसेवी नहीं।

[२] जदि पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?

गोयमा ! मूलगुणपडिसेवए वा होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए वा होज्जा। मूलगुणपडिसेवमाणे पंचण्हं आसवाणं अन्नयरं पडिसेवेज्जा, उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अन्नयरं पडिसेवेज्जा।

[३५-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह प्रतिसेवी होता है, तो क्या वह मूलगुण-प्रतिसेवी होता है, या उत्तरगुण-प्रतिसेवी ?

[३५-२ उ.] गौतम ! वह मूलगुण-प्रतिसेवी भी होता है, उत्तरगुण-प्रतिसेवी भी। यदि वह मूलगुणों का प्रतिसेवी होता है तो पांच प्रकार के आश्रवों में से किसी एक आश्रव का प्रतिसेवन करता है और उत्तरगुणों का प्रतिसेवी होता है तो दस प्रकार के प्रत्याख्यानों में से किसी एक प्रत्याख्यान का प्रतिसेवन करता है।

३६. [१] बउसे णं० पुच्छा।

गोयमा ! परिसेवए होज्जा, नो अपडिसेवए होज्जा।

[३६-१ प्र.] भगवन् ! बकुश प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?

[३६-१ उ.] गौतम ! वह प्रतिसेवी होता है, अप्रतिसेवी नहीं।

[२] जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा ?

गोयमा ! नो मूलगुणपडिसेवए होज्जा, उत्तरगुणपडिसेवए होज्जा। उत्तरगुणपडिसेवमाणे दसविहस्स पच्चक्खाणस्स अन्नयरं पडिसेवेज्जा।

[३६-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह प्रतिसेवी होता है, तो क्या मूलगुण-प्रतिसेवी होता है या उत्तरगुण-प्रतिसेवी ?

[३६-२ उ.] गौतम ! वह मूलगुणों का प्रतिसेवी नहीं होता, किन्तु उत्तरगुण-प्रतिसेवी होता

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भा. २, पृ. १०२१

है। जब वह उत्तरगुणों का प्रतिसेवी होता है तो दस प्रकार के प्रत्याख्यानों में से किसी एक प्रत्याख्यान का प्रतिसेवी होता है।

३७. पडिसेवणाकुसीले जहा पुलाए।

[३७] प्रतिसेवनाकुशील का कथन पुलाक के समान जानना चाहिए।

३८. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा ! नो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा।

[३८ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?
[३८ उ.] गौतम ! वह प्रतिसेवी नहीं होता, अप्रतिसेवी होता है।

३९. एवं नियंठे वि।

[३९] इसी प्रकार निर्ग्रन्थ के विषय में जानना चाहिए।

४०. एवं सिणाए वि। [दारं ६]।

[४०] इसी प्रकार स्नातक-सम्बन्धी वक्तव्यता समझना चाहिए। [छठा द्वार]

विवेचन—प्रतिसेवी-अप्रतिसेवी : लक्षण—संज्वलनकषाय के उदय से जो संयम-विरुद्ध आचरण करता है, वह प्रतिसेवी (प्रतिसेवक) है और जो किसी भी दोष का सेवन नहीं करता, वह अप्रतिसेवी है।

मूलगुण-उत्तरगुण—प्राणातिपातविरमणादिरूप पांच महाव्रत साधुवर्ग के लिए मूलगुण कहलाते हैं और अनागत, अतिक्रान्त, कोटि सहित, इत्यादि इस प्रकार के प्रत्याख्यान एवं उपलक्षण से पिण्डविशुद्धि, नौकारसी, पौरसी आदि उत्तरगुण कहलाते हैं। इनमें दोष लगाने वाला साधुवर्ग क्रमशः मूलगुणप्रतिसेवी और उत्तरगुणप्रतिसेवी कहलाता है।[1]

निष्कर्ष—पुलाक और प्रतिसेवनाकुशील मूल-उत्तरगुणप्रतिसेवी, बकुश उत्तरगुणप्रतिसेवी तथा कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक अप्रतिसेवी होते हैं।[2]

सप्तम ज्ञानद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में ज्ञान और श्रुताध्ययन की प्ररूपणा

४१. पुलाए णं भंते ! कतिसु नाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! दोसु वा तिसु वा होज्जा। दोसु होमाणे दोसु आभिणिबोहियनाण-सुयनाणेसु होज्जा, तिसु होमाणे तिसु आभिनिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाणेसु होज्जा।

[४१ प्र.] भगवन् ! पुलाक में कितने ज्ञान होते हैं ?

[४१ उ.] गौतम ! पुलाक में दो या तीन ज्ञान होते हैं। यदि दो ज्ञान हों तो आभिनिबोधिक-

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९४
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३६१
२. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मू. पा. टि.) पृ. १०२२

ज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं। यदि तीन ज्ञान हों तो आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होते हैं।

४२. एवं बउसे वि।

[४२] इसी प्रकार वकुश के विषय में जानना चाहिए।

४३. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[४३] प्रतिसेवनाकुशील के विषय में भी यही वक्तव्यता जाननी चाहिए।

४४. कसायकुसीले णं० पुच्छा।

गोयमा ! दोसु वा तिसु वा चउसु वा होज्जा। दोसु होमाणे दोसु आभिनिबोहियनाण-सुयनाणेसु होज्जा। तिसु होमाणे तिसु आभिनिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाणेसु अहवा तिसु आभिनिबोहियनाण-सुयनाण-मणपज्जवनाणेसु होज्जा। चउसु होमाणे चउसु आभिनिबोहियनाण-सुयनाण-ओहिनाण-मणपज्जवनाणेसु होज्जा।

[४४ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील में कितने ज्ञान होते हैं ?

[४४ उ.] गौतम ! कषायकुशील में दो, तीन या चार ज्ञान होते हैं। यदि दो ज्ञान हों तो आभिनिवोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान होते हैं, तीन ज्ञान हों तो आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान होते हैं। अथवा आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्यवज्ञान होते हैं। यदि चार ज्ञान हों तो आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान होते हैं।

४५. एवं नियंठे वि।

[४५] इसी प्रकार निर्ग्रन्थ के विषय में जानना चाहिए।

४६. सिणाए णं० पुच्छा।

गोयमा ! एगम्मि केवलनाणे होज्जा।

[४६ प्र.] भगवन् ! स्नातक में कितने ज्ञान होते हैं ?

[४६ उ.] गौतम ! स्नातक में एकमात्र केवलज्ञान ही होता है।

४७. पुलाए णं भंते ! केवतियं सुयं अहिज्जेज्जा ? गोयमा ! जहन्नेणं नवमस्स पुव्वस्स ततियं आयारवत्थुं, उक्कोसेणं नव पुव्वाइं अहिज्जेज्जा।

[४७ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?

[४७ उ.] गौतम ! वह जघन्यतः नौवें पूर्व की तृतीय आचारवस्तु तक का और उत्कृष्टतः पूर्ण नौ पूर्वों का अध्ययन करता है।

४८. बउसे० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा।

[४८ प्र.] भगवन् ! बकुश कितने श्रुत पढ़ता है ?

[४८ उ.] गौतम ! वह जघन्यतः अष्ट प्रवचनमाता का और उत्कृष्ट दस पूर्व तक का अध्ययन करता है।

४९. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[४९] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

५०. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा।

[५० प्र.] भगवन् ! कषायकुशील कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?

[५० उ.] गौतम ! वह जघन्य अष्ट प्रवचनमाता का और उत्कृष्ट चौदह पूर्वो का अध्ययन करता है।

५१. एवं नियंठे वि।

[५१] इसी प्रकार निर्ग्रन्थ के विषय में भी जानना चाहिए।

५२. सिणाये० पुच्छा।

गोयमा ! सुयवतिरित्ते होज्जा। [दारं ७]।

[५२ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?
[५२ उ.] गौतम ! स्नातक श्रुतव्यतिरिक्त होते हैं। [सप्तम द्वार]

विवेचन—किसमें कितने ज्ञान, कितना श्रुताध्ययन ? पुलाक, वकुश और प्रतिसेवनाकुशील में दो या तीन ज्ञान तथा कषायकुशील और निर्ग्रन्थ में उत्कृष्ट चार ज्ञान तक पाए जाते हैं। स्नातक में एक केवलज्ञान ही होता है। श्रुत भी ज्ञान विशेषतः श्रुतज्ञान के अन्तर्गत होने से इसी (सप्तम) द्वार के अन्तर्गत उसकी चर्चा की गई है। स्नातक में परिपूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान होने से वे श्रुतव्यतिरिक्त कहलाते हैं। वे श्रुतज्ञानी नहीं होते।[१]

प्रवचनमाता का अध्ययन : क्या और क्यों ? पांच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचनमाताएँ कहलाती हैं। इनके पालन के रूप में चारित्र होता है। इसलिए चारित्र का पालन करने वाले को कम से कम अष्ट प्रवचनमाता का अध्ययन करना तथा ज्ञान प्राप्त करना अत्यावश्यक है। क्योंकि चारित्र ज्ञानपूर्वक होता है, इसलिए वकुश को कम से कम (जघन्यतः) इतना श्रुतज्ञान तो अवश्य होना चाहिए, शेष स्पष्ट है।[२]

आठवाँ तीर्थद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में तीर्थ-अतीर्थ-प्ररूपणा

५३. पुलाए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा, अतित्थे होज्जा ?

गोयमा ! तित्थे होज्जा, नो अतित्थे होज्जा।

---

१. भगवती (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३३६२

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९४

[५३ प्र.] भगवन् ! पुलाक तीर्थ में होता है या अतीर्थ में ?
[५३ उ.] गौतम ! वह तीर्थ में होता है, अतीर्थ में नहीं ।

५४. एवं बउसे वि, पडिसेवणाकुसीले वि ।

[५४] इसी प्रकार वकुश एवं प्रतिसेवनाकुशील का कथन भी समझ लेना चाहिए ।

५५. [१] कसायकुसीले० पुच्छा ।

गोयमा ! तित्थे वा होज्जा, अतित्थे वा होज्जा ।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील तीर्थ में होता है या अतीर्थ में ?
[५५-१ उ.] गौतम ! वह तीर्थ में भी होता है और अतीर्थ में भी होता है ।

[२] जति अतित्थे होज्जा किं तित्थयरे होज्जा, पत्तेयबुद्धे होज्जा ?

गोयमा ! तित्थगरे वा होज्जा पत्तेयबुद्धे वा होज्जा ।

[५५-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह अतीर्थ में होता है तो क्या तीर्थंकर होता है या प्रत्येकबुद्ध होता है ?

[५५-२ उ.] गौतम ! वह तीर्थंकर होता है या प्रत्येकबुद्ध होता है ।

५६. एवं नियंठे वि ।

[५६] इसी प्रकार निर्ग्रन्थ के विषय में भी जानना चाहिए ।

५७. एवं सिणाए वि । [दारं ८] ।

[५७] स्नातक के विषय में भी इसी प्रकार समझना । [अष्टम द्वार]

विवेचन—कषायकुशील अतीर्थ में क्यों और कैसे ? तीर्थंकर जब छद्मस्थ अवस्था में होते हैं, तब कषायकुशील होते हैं; इस अपेक्षा से यहाँ कहा गया है कि कषायकुशील अतीर्थ में भी होते हैं, अथवा जब तीर्थ का विच्छेद हो जाता है, तब दूसरे तीर्थ (अतीर्थ—स्वतीर्थ के अतिरिक्त तीर्थ) में भी अन्यतीर्थीय साधु भी कषायकुशील होता है । इस अपेक्षा से कषायकुशील का अतीर्थ में होना बतलाया गया है ।[1]

नौवाँ लिंगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्वलिंग-अन्यलिंग-गृहीलिंग-प्ररूपणा

५८. पुलाए णं भंते ! किं सलिंगे होज्जा, अन्नलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ?

गोयमा ! दव्वलिंगं पडुच्च सलिंगे वा होज्जा, अन्नलिंगे वा होज्जा, गिहिलिंगे वा होज्जा । भावलिंगं पडुच्च नियमं सलिंगे होज्जा ।

[५८ प्र.] भगवन् ! पुलाक स्वलिंग में होता है, अन्यलिंग में या गृहीलिंग में होता है ?

[५८ उ.] गौतम ! द्रव्यलिंग की अपेक्षा वह स्वलिंग में, अन्यलिंग में या गृहीलिंग में होता है, किन्तु भावलिंग की अपेक्षा नियम से स्वलिंग में होता है ।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९४

५९. एवं जाव सिणाए। [दारं ९]।

[५९] इसी प्रकार (बकुश से लेकर) यावत् स्नातक तक कहना चाहिए। [नौवां द्वार]

विवेचन—लिंग : प्रकार और लक्षण—लिंग दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भावलिंग है। यह भावलिंग आर्हत्धर्म (केवलिप्ररूपित धर्म) का पालन करने वालों में ही होता है। इस कारण वह (इस अपेक्षा से) स्वलिंग कहलाता है। द्रव्यलिंग के दो भेद हैं—स्वलिंग और अन्य (पर) लिंग। रजोहरणादि रखना इत्यादि द्रव्य से स्वलिंग है। परलिंग के दो भेद हैं—कुतीर्थिकलिंग और गृहस्थलिंग। पुलाक में तीनों प्रकार के लिंग पाए जा सकते हैं, क्योंकि चारित्र का परिणाम किसी एक ही द्रव्यलिंग की अपेक्षा नहीं रखता।[1]

दसवाँ शरीरद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में शरीर-भेद-प्ररूपणा

६०. पुलाए णं भंते! कतिसु सरीरेसु होज्जा?

गोयमा! तिसु ओरालिय-तेया-कम्मएसु होज्जा।

[६० प्र.] भगवन्! पुलाक कितने शरीरों में होता है?

[६० उ.] गौतम! वह औदारिक, तैजस और कार्मण, इन तीन शरीरों में होता है।

६१. बउसे णं भंते!० पुच्छा।

गोयमा! तिसु वा चतुसु वा होज्जा। तिसु होमाणे तिसु ओरालिय-तेया-कम्मएसु होज्जा, चउसु होमाणे चउसु ओरालिय-वेउव्विय-तेया-कम्मएसु होज्जा।

[६१ प्र.] भगवन्! बकुश कितने शरीरों में होता है?

[६१ उ.] गौतम! वह तीन या चार शरीरों में होता है। यदि तीन शरीरों में हो तो औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर में होता है, और चार शरीरों में हो तो औदारिक, वैक्रिय, तैजस और कार्मण शरीरों में होता है।

६२. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[६२] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

६३. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा! तिसु वा चतुसु वा पंचसु वा होज्जा। तिसु होमाणे तिसु ओरालिय-तेया-कम्मएसु होज्जा, चउसु होमाणे चउसु ओरालिय-वेउव्विय-तेया-कम्मएसु होज्जा, पंचसु होमाणे पंचसु ओरालिय-वेउव्विय-आहारग-तेयग-कम्मएसु होज्जा।

[६३ प्र.] भगवन्! कषायकुशील कितने शरीरों में होता है?

[६३ उ.] गौतम! वह तीन, चार या पांच शरीरों में होता है। यदि तीन शरीरों में हो तो औदारिक, तैजस और कार्मण शरीर में होता है, चार शरीरों में हो तो औदारिक, वैक्रिय, तैजस

---

१. श्रीमद्भगवतीसूत्रम् खण्ड ४, पृ. २४५ (गुजराती अनुवाद सहित)

और कार्मण शरीर में होता है और पांच शरीरों में हो तो औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर में होता है।

६४. णियंठे सिणाते य जहा पुलाओ। [दारं १०]।

[६४] निर्ग्रन्थ और स्नातक का शरीरविषयक कथन पुलाक के समान जानना चाहिए। [दसवाँ द्वार]

विवेचन—शरीर : किसमें कितने ? प्रस्तुत शरीरद्वार में, पुलाक में तथा निर्ग्रन्थ और स्नातक में औदारिकादि तीन शरीर, बकुश तथा प्रतिसेवनाकुशील में तीन या चार शरीर (वैक्रिय अधिक) तथा कषायकुशील में तीन, चार या पांच (आहारकशरीर अधिक) शरीर होते हैं।[1]

ग्यारहवाँ क्षेत्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कर्मभूमि-अकर्मभूमि-प्ररूपणा

६५. पुलाए णं भंते ! किं कम्मभूमीए होज्जा, अकम्मभूमीए होज्जा ?

गोयमा ! जम्मण-संतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, नो अकम्मभूमीए होज्जा।

[६५ प्र.] भगवन् ! पुलाक कर्मभूमि में होता है या अकर्मभूमि में ?

[६५ उ.] गौतम ! जन्म और सद्भाव (अस्तित्व) की अपेक्षा कर्मभूमि में होता है, अकर्मभूमि में नहीं।

६६. बउसे णं० पुच्छा।

गोयमा ! जम्मण-संतिभावं पडुच्च कम्मभूमीए होज्जा, नो अकम्मभूमीए होज्जा। साहरणं पडुच्च कम्मभूमीए वा होज्जा, अकम्मभूमीए वा होज्जा।

[६६ प्र.] बकुश के विषय में पृच्छा ?

[६६ उ.] गौतम ! जन्म और सद्भाव से कर्मभूमि में होता है, अकर्मभूमि में नहीं। संहरण की अपेक्षा कर्मभूमि में भी और अकर्मभूमि में भी होता है।

६७. एवं जाव सिणाए। [दारं ११]।

[६७] इसी प्रकार (बकुश से लेकर) यावत् स्नातक तक कहना चाहिए। [ग्यारहवाँ द्वार]

विवेचन—जहाँ असि, मसि और कृषि द्वारा आजीविका की जाती हो तथा जहाँ तप, संयम आदि आध्यात्मिक अनुष्ठान होते हैं, उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं, तथा जहाँ असि, मसि, कृषि आदि द्वारा जीविकोपार्जन न किया जाता हो और जहाँ तप, संयमादि आध्यात्मिक साधना न की जाती हो, उसे अकर्मभूमि कहते हैं। पांच भरत, पांच ऐरवत और पांच महाविदेह, ये १५ क्षेत्र कर्मभूमिक हैं और ५ हैमवत, ५ हिरण्यवत, ५ हरिवर्ष, ५ रम्यक्वर्ष, ५ देवकुरु और ५ उत्तरकुरु ये कुल तीस क्षेत्र अकर्मभूमिक हैं। इनमें असि, मसि आदि व्यापार नहीं होता। इन क्षेत्रों में १० प्रकार के कल्पवृक्षों से जीवननिर्वाह होता है। आजीविका के लिए कृषि आदि कर्म न करने से और कल्पवृक्षों द्वारा भोग प्राप्त होने से इन क्षेत्रों को भोगभूमि भी कहते हैं। यहाँ के मनुष्यों को 'भोगभूमिज' तथा जोड़े से जन्म लेने के कारण यौगलिक (जुगलिया) कहते हैं।[2]

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. १०२४
२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३६९

जन्म, सद्भाव और संहरण—जन्म और सद्भाव (चारित्रभाव के अस्तित्व) की अपेक्षा पुलाक कर्मभूमि में होते हैं, अर्थात् पुलाक की उत्पत्ति कर्मभूमि में ही होती है और चारित्र अंगीकार करके वह यहीं विचरता है। वह अकर्मभूमि में उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि वहाँ पैदा हुए मनुष्य को चारित्र (संयम) की प्राप्ति नहीं होती। अतएव वहाँ उसका सद्भाव (चारित्र का अस्तित्व) भी नहीं होता। संहरण (देवादि द्वारा एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान पर ले जाने) की अपेक्षा भी वह अकर्मभूमि में नहीं होता, क्योकि पुलाकलब्धि वाले का देवादि कोई भी संहरण नहीं कर सकते। बकुश अकर्मभूमि में जन्म से नहीं होता, न ही स्वकृतविहार से होता है, परकृत विहार (संहरण) की अपेक्षा वह कर्मभूमि में भी होता है, अकर्मभूमि में भी।[1]

बारहवाँ कालद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीकालादि-प्ररूपणा

६८. [१] पुलाए णं भंते ! किं ओसप्पिणिकाले होज्जा, उस्सप्पिणिकाले होज्जा, नोओसप्पिणिनोउस्सप्पिणिकाले होज्जा ?

गोयमा ! ओसप्पिणिकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणिकाले वा होज्जा, नोओसप्पिणिनोउस्सप्पिणिकाले वा होज्जा।

[६८-१ प्र.] भगवन् ! पुलाक अवसर्पिणीकाल में होता है, उत्सर्पिणीकाल में होता है, अथवा नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में होता है ?

[६८-१ उ.] गौतम ! पुलाक अवसर्पिणीकाल में होता है, उत्सर्पिणीकाल में भी होता है तथा नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में भी होता है।

[२] जदि ओसप्पिणिकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा, सुसमाकाले होज्जा, सुसमदुस्समाकाले होज्जा, दुस्समसुसमाकाले होज्जा, दुस्समाकाले होज्जा, दुस्समदुस्समाकाले होज्जा ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च नो सुसमसुसमाकाले होज्जा, नो सुसमाकाले होज्जा, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा, नो दुस्समाकाले होज्जा, नो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा। संतिभावं पडुच्च नो सुसमसुसमाकाले होज्जा, नो सुसमाकाले होज्जा, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा, दुस्समाकाले वा होज्जा, नो दूसमदूसमाकाले होज्जा।

[६८-२ प्र.] यदि पुलाक अवसर्पिणीकाल में होता है, तो क्या वह सुषम-सुषमाकाल में होता है अथवा सुषमाकाल में, सुषम-दुःषमाकाल में, दुःषम-सुषमाकाल में, दुःषमकाल में होता है अथवा दुःषम-दुःषमाकाल में होता है ?

[६८-२ उ.] गौतम ! (पुलाक) जन्म की अपेक्षा सुषम-सुषमा और सुषमाकाल में नहीं होता, किन्तु सुषम-दुःषमा और दुःषम-सुषमाकाल में होता है तथा दुःषमाकाल एवं दुःषम-दुःषमाकाल में वह नहीं होता। सद्भाव की अपेक्षा वह सुषम-सुषमा, सुषमा तथा दुःषम-दुःषमाकाल में नहीं होता, किन्तु सुषम-दुःपमा, दुःषम-सुषमा एवं दुःषमाकाल में होता है।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९६

[३] जदि उस्सप्पिणिकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, दुस्समाकाले होज्जा, दुस्समसुसमाकाले होज्जा, सुसमादुस्समाकाले होज्जा, सुसमाकाले होज्जा, सुसमसुसमाकाले होज्जा ?

गोयमा ! जम्मणं पडुच्च णो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, दुस्समाकाले वा होज्जा, दुस्सम-सुसमाकाले वा होज्जा, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा, नो सुसमाकाले होज्जा, नो सुसमसुसमाकाले होज्जा। संतिभावं पडुच्च नो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा, नो दुस्समाकाले होज्जा, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा, सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा, नो सुसमाकाले होज्जा, नो सुसमसुसमाकाले होज्जा।

[६८-३ प्र.] भगवन् ! यदि पुलाक उत्सर्पिणीकाल में होता है, तो क्या दुःषम-दुःषमाकाल में होता है अथवा दुःषमाकाल में, दुःषम-सुषमाकाल में, सुषम-दुःषमाकाल में, सुषमाकाल में या सुषम-सुषमाकाल में होता है ?

[६८-३ उ.] गौतम ! जन्म की अपेक्षा (पुलाक) दुःषम-दुषमाकाल में नहीं होता, वह दुःषमाकाल में, दुःषम-सुषमाकाल में या सुषम-दुःषमाकाल में होता है, किन्तु सुषमाकाल में तथा सुषम-सुषमाकाल में नहीं होता। सद्भाव की अपेक्षा वह दुःषम-दुःषमाकाल में, दुःषमाकाल में, सुषमाकाल में तथा सुषम-सुषमाकाल में नहीं होता, किन्तु दुःषम-सुषमाकाल में या सुषम-दुःषमाकाल में होता है।

[४] जति नोओसप्पिणिनोउस्सप्पिणिकाले होज्जा किं सुसमसुसमापलिभागे होज्जा, सुसमापलिभागे होज्जा, सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा ?

गोयमा ! जम्मण-संतिभावं पडुच्च नो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा, नो सुसमापलिभागे होज्जा, नो सुसमदुस्समापलिभागे होज्जा, दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा।

[६८-४ प्र.] भगवन् ! यदि (पुलाक) नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में होता है तो क्या वह सुषम-सुषमा-समानकाल में, सुषमा-समानकाल में, सुषम-दुःषमा-समानकाल में या दुःषम-सुषमा-समान काल में होता है ?

[६८-४ उ.] गौतम ! जन्म और सद्भाव की अपेक्षा वह सुषम-सुषमा-समानकाल में, सुषमा-समानकाल में तथा सुषम-दुःषमा-समानकाल में नहीं होता, किन्तु दुःषम-सुषमा-समानकाल में होता है।

६९. [१] बउसे णं० पुच्छा।

गोयमा ! ओसप्पिणिकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणिकाले वा होज्जा, नोओसप्पिणिनोउस्स-प्पिणिकाले वा होज्जा।

[६९-१ प्र.] भगवन् ! बकुश (अवसर्पिणी आदि में से) किस काल में होता है ?

[६९-१ उ.] गौतम ! वह अवसर्पिणीकाल में, उत्सर्पिणीकाल में अथवा नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में होता है।

[२] जति ओसप्पिणिकाले होज्जा किं सुसमसुसमाकाले होज्जा० पुच्छा।

गोयमा ! जम्मण-संतिभावं पडुच्च नो सुसमसुसमाकाले होज्जा, नो सुसमाकाले होज्जा,

सुसमदुस्समाकाले वा होज्जा, दुस्समसुसमाकाले वा होज्जा, दुस्समाकाले वा होज्जा, नो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा। साहरणं पडुच्च अन्नयरे समाकाले होज्जा।

[६९-२ प्र.] भगवन्! यदि बकुश अवसर्पिणीकाल में होता है तो क्या सुषम-सुषमाकाल में होता है? इत्यादि प्रश्न।

[६९-२ उ.] गौतम! जन्म और सद्भाव की अपेक्षा (वह) सुषम-सुषमाकाल में, सुषमाकाल में तथा दुःषम-दुःषमाकाल में नहीं होता, किन्तु सुषम-दुःषमाकाल में, दुःषम-सुषमाकाल में या दुःषमाकाल में होता है। संहरण की अपेक्षा (वह इनमें से) किसी भी (आरे के) काल में होता है।

[३] जति उस्सप्पिणिकाले होज्जा किं दुस्समदुस्समाकाले होज्जा० पुच्छा।

गोयमा! जम्मणं पडुच्च नो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा जहेव पुलाए। संतिभावं पडुच्च नो दुस्समदुस्समाकाले होज्जा०; एवं संतिभावेण वि जहा पुलाए जाव नो सुसमसुसमाकाले होज्जा। साहरणं पडुच्च अन्नयरे समाकाले होज्जा।

[६९-३ प्र.] भगवन्! यदि (बकुश) उत्सर्पिणीकाल में होता है तो क्या दुःषम-दुःषमाकाल में होता है? इत्यादि प्रश्न।

[६९-३ उ.] गौतम! जन्म की अपेक्षा वह दुःषम-दुःषमाकाल में नहीं होता (इत्यादि सब कथन) पुलाक के समान जानना। सद्भाव की अपेक्षा वह दुःषम-दुःषमाकाल में नहीं होता, इत्यादि समग्र वक्तव्यता पुलाक के समान यावत् सुषम-सुषमाकाल में नहीं होता, यहाँ तक कहनी चाहिए। संहरण की अपेक्षा (वह इन आरों में से) किसी भी काल में होता है।

[४] जदि नोओसप्पिणिनोउस्सप्पिणिकाले होज्जा० पुच्छा।

गोयमा! जम्मण-संतिभावं पडुच्च नो सुसमसुसमापलिभागे होज्जा, जहेव पुलाए जाव दुस्समसुसमापलिभागे होज्जा। साहरणं पडुच्च अन्नयरे पलिभागे होज्जा जहा बउसे।

[६९-४ प्र.] भगवन्! यदि बकुश नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में होता है तो (छह आरों में से) किस आरे में होता है?

[६९-४.] गौतम! जन्म और सद्भाव की अपेक्षा (वह) सुषम-सुषमा-समानकाल में नहीं होता, इत्यादि सब पुलाक के समान यावत् दुःषम-सुषमा-समानकाल में होता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

७०. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[७०] इसी प्रकार (बकुश के समान) प्रतिसेवनाकुशील के विषय में कहना चाहिए।

७१. एवं कसायकुसीले वि।

[७१] कषायकुशील के विषय में भी (यही वक्तव्यता है।)

७२. नियंठो सिणातो य जहा पुलाए, नवरं एएसिं अब्भहियं साहरणं भाणियव्वं। सेसं तं चेव। [दारं १२]।

[७२] निर्ग्रन्थ और स्नातक का कथन भी पुलाक के समान है। विशेष यह है कि इनका संहरण अधिक कहना चाहिए, अर्थात् संहरण की अपेक्षा ये सर्वकाल में होते हैं। शेष पूर्ववत्।

[बारहवाँ द्वार]

विवेचन—तीन काल : स्वरूप, प्रकार और अवस्थिति—जैनदृष्टि से काल के तीन पारिभाषिक विभाग हैं—(१) अवसर्पिणीकाल, (२) उत्सर्पिणीकाल और (३) नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल। जिस काल में जीवों के आयुष्य, बल, शरीर आदि का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाए, उसे अवसर्पिणीकाल कहते हैं। जिस काल में जीवों के आयुष्य, बल, शरीर आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाए, उसे उत्सर्पिणीकाल कहते हैं। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी इन दोनों में से प्रत्येक काल दस कोटाकोटि सागरोपम का होता है। यह दोनों प्रकार का काल पांच भरत और पांच ऐरवत क्षेत्र में होता है। जिस काल में भावों की हानि-वृद्धि न होती हो, सदा एक-से परिणाम रहते हों, उस काल को नो-अवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल कहते हैं। यह काल पांच महाविदेह तथा पांच हैमवत आदि यौगलिक क्षेत्रों में होता है।

अवसर्पिणीकाल के ६ आरे होते हैं। यथा—(१) सुषम-सुषमा, (२) सुषमा, (३) सुषम-दुःषमा, (४) दुःषम-सुषमा, (५) दुःषमा और (६) दुःषम-दुःषमा।

उत्सर्पिणीकाल के भी विपरीत क्रम से ये ही ६ आरे होते हैं—(१) दुःषम-दुःषमा, (२) दुःषमा, (३) दुःषम-सुषमा, (४) सुषम-दुःषमा, (५) सुषमा और (६) सुषम-सुषमा।[1]

पुलाक—जन्म की अपेक्षा अवसर्पिणीकाल के तीसरे और चौथे आरे में तथा सद्भाव की अपेक्षा तीसरे, चौथे और पाँचवें आरे में होता है। तीसरे और चौथे आरे में जन्म और सद्भाव दोनों होते हैं तथा इनमें से जो चौथे आरे में जन्मा हुआ है, उसका सद्भाव (चारित्र-परिणाम) पांचवें आरे में भी होता है। उत्सर्पिणीकाल में जन्म की अपेक्षा पुलाक दूसरे, तीसरे और चौथे आरे में होता है। अर्थात् दूसरे आरे के अन्त में जन्म होता है और तीसरे आरे में वह चारित्र अंगीकार करता है। अतः तीसरे और चौथे आरे में जन्म और सद्भाव दोनों होते हैं। अर्थात् सद्भाव की अपेक्षा पुलाक तीसरे और चौथे आरे में ही होता है, क्योंकि इन्हीं आरों में चारित्र की प्रतिपत्ति (अंगीकार) होती है। देवकुरु और उत्तरकुरु में सुषम-सुषमा के समान काल होता है। हरिवर्ष और रम्यक्वर्ष क्षेत्रों में सुषमा के समान काल होता है। हैमवत और हैरण्यवत क्षेत्रों में सुषम-दुःषमा के समान काल होता है और महाविदेहक्षेत्र में दुःषम-सुषमा के समान काल होता है। पुलाक का संहरण नहीं होता, जबकि निर्ग्रन्थ और स्नातक का संहरण हो सकता है। इसलिए संहरण की अपेक्षा निर्ग्रन्थ और स्नातक का सद्भाव सर्वकाल में होता है। तात्पर्य यह है कि पहले संहरण किये हुए मनुष्य को निर्ग्रन्थ और स्नातकत्व की प्राप्ति होती है, क्योंकि निर्ग्रन्थ और स्नातक वेदरहित होते हैं और वेदरहित होते मुनियों का संहरण नहीं होता है। जैसा एक प्राचीन गाथा में कहा गया है—

समणीमवगयवेयं परिहार-पुलायमप्पमत्तं च।
चोद्दसपुव्वि आहारयं च, ण य कोइ संहरइ॥

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३७४
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९७

अर्थात्—श्रमणी (साध्वी), वेदरहित, परिहार-विशुद्धि-चारित्री, पुलाक, अप्रमत्त-संयत (सप्तम-गुणस्थानवर्ती), चौदह पूर्वधारी और आहारक-लब्धिमान्, इनका कोई संहरण नहीं करता।

कठिन-शब्दार्थ—पलिभागे—समानकाल में। अब्भहियं—अधिक अत्यधिक।[1]

तेरहवाँ गतिद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों की गति, पदवी तथा स्थिति की प्ररूपणा

७३. [१] पुलाए णं भंते ! कालगए समाणे कं गतिं गच्छति ?

गोयमा ! देवगतिं गच्छति।

[७३-१ प्र.] भगवन् ! पुलाक मरण पाकर किस गति में जाता है ?

[७३-१ उ.] गौतम ! वह देवगति में जाता है।

[२] देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा, वाणमंतरेसु उववज्जेज्जा, जोतिस-वेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! नो भवणवासीसु, नो वाणमंतरेसु, नो जोतिसेसु वेमाणिएसु, उववज्जेज्जा। वेमाणिएसु उववज्जमाणे जहन्नेणं सोहम्मे कप्पे, उक्कोसेणं सहस्सारे कप्पे उववज्जेज्जा।

[७३-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह देवगति में जाता है तो क्या भवनपतियों में उत्पन्न होता है या वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क या वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है ?

[७३-२ उ.] गौतम ! वह भवनपतियों, वाणव्यन्तरों तथा ज्योतिष्क देवों में उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वैमानिक देवों में उत्पन्न होता है। वैमानिक देवों में उत्पन्न होता हुआ पुलाक जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट सहस्रारकल्प में उत्पन्न होता है।

७४. बउसे णं० ?

एवं चेव, नवरं उक्कोसेणं अच्चुए कप्पे।

[७४] बकुश के विषय में भी इसी प्रकार जानना; किन्तु वह उत्कृष्टतः अच्युत देवलोक में उत्पन्न होता है।

७५. पडिसेवणाकुसीले जहा बउसे।

[७५] प्रतिसेवना-कुशील की वक्तव्यता भी बकुश के समान जाननी चाहिए।

७६. कसायकुसीले जहा पुलाए, नवरं उक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु।

[७६] कषायकुशील की वक्तव्यता पुलाक के समान है, विशेष यह है कि वह उत्कृष्टतः अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होता है।

७७. णियंठे णं भंते !० ?

एवं चेव जाव वेमाणिएसु उववज्जमाणे अजहन्नमणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा।

[७७ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ मर कर किस गति में जाता है ?

---

१. (क) वही, पत्र ८९७
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३७५

[७७ उ.] गौतम ! इसका कथन भी पूर्ववत् यावत् वैमानिकों में उत्पन्न होता हुआ अजघन्य-अनुत्कृष्ट अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होता है, यहाँ तक कहना चाहिए।

७८. सिणाए णं भंते ! कालगते समाणे कं गतिं गच्छति ?

गोयमा ! सिद्धिगतिं गच्छइ।

[७८ प्र.] भगवन् ! स्नातक मृत्यु प्राप्त कर किस गति में जाता है ?

[७८ उ.] गौतम ! वह सिद्धिगति में जाता है।

७९. पुलाए णं भंते ! देवेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जेज्जा, सामाणियत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए उववज्जेज्जा, सामाणियत्ताए उववज्जेज्जा, तायत्तीसगत्ताए उववज्जेज्जा, लोगपालगत्ताए उववज्जेज्जा, नो अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उववज्जेज्जा।

[७९ प्र.] भगवन् ! देवों में उत्पन्न होता हुआ पुलाक क्या इन्द्ररूप में उत्पन्न होता है या सामानिकदेवरूप में, त्रायस्त्रिंशरूप में लोकपालरूप में, अथवा अहमिन्द्ररूप में उत्पन्न होता है ?

[७९ उ.] गौतम ! अविराधना की अपेक्षा वह इन्द्ररूप में, सामानिकरूप में, त्रायस्त्रिंशरूप में अथवा लोकपाल के रूप में उत्पन्न होता है, किन्तु अहमिन्द्ररूप में उत्पन्न नहीं होता। विराधना की अपेक्षा अन्यतर देव में (अर्थात् भवनपति आदि किसी भी देव में) उत्पन्न होता है।

८०. एवं बउसे वि।

[८०] इसी प्रकार बकुश के विषय में समझना चाहिए।

८१. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[८१] प्रतिसेवनाकुशील के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना।

८२. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च इंदत्ताए वा उववज्जेज्जा जाव अहमिंदत्ताए वा उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उववज्जेज्जा।

[८२ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील क्या इन्द्ररूप में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[८२ उ.] गौतम ! अविराधना की अपेक्षा वह इन्द्ररूप में उत्पन्न होता है यावत् अहमिन्द्ररूप में उत्पन्न होता है। विराधना की अपेक्षा अन्यतरदेव (किसी भी देव) में उत्पन्न होता है।

८३. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च नो इंदत्ताए उववज्जेज्जा जाव नो लोगपालत्ताए उववज्जेज्जा, अहमिंदत्ताए उववज्जेज्जा। विराहणं पडुच्च अन्नयरेसु उववज्जेज्जा।

[८३ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ क्या इन्द्ररूप में उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[८३ उ.] गौतम ! अविराधना की अपेक्षा वह इन्द्ररूप में यावत् लोकपालरूप में उत्पन्न नहीं होता, किन्तु (एकमात्र) अहमिन्द्ररूप में उत्पन्न होता है। विराधना की अपेक्षा वह किसी भी देवरूप में उत्पन्न होता है।

८४. पुलायस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं पलियोवमपुहत्तं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं।

[८४ प्र.] भगवन् ! देवलोकों में उत्पन्न होते हुए पुलाक की स्थिति कितने काल की कही है ?

[८४ उ.] गौतम ! पुलाक की स्थिति जघन्य पल्योपमपृथक्त्व की और उत्कृष्ट अठारह सागरोपम की है।

८५. बउसस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं पलियोवमपुहत्तं, उक्कोसेणं बावीसं सागरोवमाइं।

[८५ प्र.] भगवन् ! (देवलोक में उत्पन्न होते हुए) बकुश की स्थिति कितने काल की कही है ?

[८५ उ.] गौतम ! बकुश की स्थिति जघन्य पल्योपमपृथक्त्व की और उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम की है।

८६. एवं पडिसेवणाकुसीलस्स वि।

[८६] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में जानना।

८७. कसायकुसीलस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं पलियोवमपुहत्तं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

[८७ प्र.] भगवन् ! देवलोक में उत्पन्न होते हुए कषायकुशील की स्थिति कितने काल की है ?

[८७ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य पल्योपमपृथक्त्व की और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है।

८८. णियंठस्स० पुच्छा।

गोयमा ! अजहन्नमणुक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। [दारं १३]।

[८८ प्र.] भगवन् ! देवलोक में उत्पन्न होते हुए निर्ग्रन्थ की स्थिति कितने काल की होती है ?

[८८ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति अजघन्य-अनुत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है। [तेरहवाँ द्वार]

विवेचन—पंचविध निर्ग्रन्थों में पुलाकादि चार प्रकार के निर्ग्रन्थ वैमानिक देवों में उत्पन्न होते हैं। उक्त चारों जघन्यतः सौधर्मदेवलोक में, उत्कृष्टतः क्रमशः सहस्रार, अच्युत, अच्युत, अनुत्तरविमान एवं अजघन्यानुत्कृष्ट अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं। स्नातक सीधे सिद्धगति में जाते हैं।[1]

पदों का प्रश्न—इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, लोकपाल और अहमिन्द्र, इन पांच पदों में से पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील अविराधना की अपेक्षा अहमिन्द्र को छोड़कर इन्द्रादि शेष चार पदों में उत्पन्न होता है। कषायकुशील एकमात्र अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न होता है। स्नातक की तो केवल सिद्धगति है, अतः वहाँ इन्द्रादि पदों का प्रश्न ही नहीं है। पुलाक आदि के विषयों में इन्द्रादि देवपदवी का जो प्रतिपादन किया है वह ज्ञानादि की विराधना और लब्धि का प्रयोग न करने वाले पुलाकादि की अपेक्षा समझना चाहिये। अविराधक ही इन्द्रादि के रूप में उत्पन्न होता है। विराधना करके तो पुलाक आदि भवनपति आदि देवों में भी उत्पन्न होते हैं। पहले पुलाकादि की देवोत्पत्ति के विषय में किये गए प्रश्न के उत्तर में जो एकमात्र वैमानिकों में उत्पाद कहा है, वह संयम की अविराधना की अपेक्षा से जानना चाहिए, क्योंकि संयमादि की विराधना करने वालों का उत्पाद तो भवनपति आदि में ही होता है, वैमानिकों में नहीं। यह भी ध्यान रहे कि यहाँ पुलाकादि पांच का जो देवों में उत्पाद बताया है, वह देवलोक-विषयक प्रश्न होने से देवों में उत्पन्न होने का बताया है, अन्यथा विराधक पुलाक आदि तो चारों ही गतियों में उत्पन्न हो सकते हैं।

स्नातक के विषय में गति, पदवी एवं स्थिति का प्रश्न नहीं किया गया है, क्योंकि उसकी एकमात्र मोक्षगति है। जहाँ प्रत्येक मुक्तजीव की स्थिति 'सादि-अनन्त' होती है।[2]

चौदहवाँ संयमद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों के संयमस्थान और उनका अल्पबहुत्व

८९. पुलागस्स णं भंते ! केवतिया संजमठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा संजमठाणा पन्नत्ता।

[८९ प्र.] भगवन् ! पुलाक के संयमस्थान कितने कहे हैं ?

[८९ उ.] गौतम ! उसके संयमस्थान असंख्यात कहे हैं।

९०. एवं जाव कसायकुसीलस्स।

[९०] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक कहना चाहिए।

९१. नियंठस्स णं भंते ! केवतिया संजमठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमठाणे पन्नत्ते।

[९१ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ के संयमस्थान कितने कहे हैं ?

[९१ उ.] गौतम ! उसके एक ही अजघन्य-अनुत्कृष्ट संयमस्थान कहा है।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मू. पा. टि.), पृ. १०२६-२७

२. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३८०

(ख) विशेष स्पष्टीकरण के लिए देखिये—भगवती उपक्रम, परिशिष्ट नं. ३, पृ. ६२२

९२. एवं सिणायस्स वि।

[९२] इसी प्रकार स्नातक के विषय में समझना चाहिए।

९३. एएसि णं भंते ! पुलाग-बउस-पडिसेवणा-कसायकुसील-नियंठ-सिणायाणं संजमठाणाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे नियंठस्स सिणायस्स य एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमठाणे। पुलागस्स संजमठाणा असंखेज्जगुणा। बउसस्स संजमठाणा असंखेज्जगुणा। पडिसेवणाकुसीलस्स संजमठाणा असंखेज्जगुणा। कसायकुसीलस्स संजमठाणा असंखेज्जगुणा। [दारं १४]।

[९३ प्र.] भगवन् ! पुलाक, वकुश, प्रतिसेवनाकुशील कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, इनके संयमस्थानों में, किसके संयमस्थान किसके संयमस्थानों से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[९३ उ.] गौतम ! निर्ग्रन्थ और स्नातक का संयमस्थान अजघन्य-अनुत्कृष्ट एक ही है और सबसे अल्प है। उनसे पुलाक के संयमस्थान असंख्यातगुणा हैं, उनसे वकुश के संयमस्थान असंख्यातगुणा हैं, उनसे प्रतिसेवनाकुशील के संयमस्थान असंख्येयगुणा हैं और उनसे कषायकुशील के संयमस्थान असंख्येयगुणा हैं। [चौदहवाँ द्वार]

विवेचन—संयमस्थानों की गणना और अल्पबहुत्व—पुलाक, वकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील के संयमस्थान असंख्यात हैं। संयमस्थान कहते हैं—चारित्र के स्थान अर्थात् शुद्धि की प्रकर्षता-अप्रकर्षता-कृत भेद को। वे असंख्य होते हैं। उनमें प्रत्येक संयमस्थान के समस्त आकाशप्रदेशों को सर्व आकाशप्रदेशों से गुणा करने पर जितने अनन्तानन्त पर्याय (अंश) होते हैं, उतने एक संयमस्थान के पर्याय होते हैं। पुलाक के ऐसे संयमस्थान असंख्य होते हैं, क्योंकि चारित्र-मोहनीय का क्षयोपशम विचित्र होता है। इसी प्रकार बकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील के संयमस्थानों के विषय में भी जानना चाहिए। निर्ग्रन्थ और स्नातक का संयमस्थान तो एक ही होता है, क्योंकि कषाय का परिपूर्ण क्षय या उपशम एक ही प्रकार का होता है। अतः उसकी शुद्धि भी एक ही प्रकार की होती है। एक होने के कारण ही उसका संयमस्थान भी एक ही होता है। अतः संयमस्थानों के अल्पवहुत्व-सूत्र में कहा गया है कि निर्ग्रन्थ और स्नातक का संयमस्थान एक ही होने से सबसे अल्प है। पुलाक आदि के संयमस्थान क्रमशः क्षयोपशम की विचित्रता के कारण उत्तरोत्तर असंख्य-असंख्यगुणे होते है।[1]

पन्द्रहवाँ निकर्ष (सन्निकर्ष) द्वार : पांचों प्रकार के निर्ग्रन्थों में अनन्तचारित्रपर्याय

९४. पुलागस्स णं भंते ! केवतिया चरित्तपज्जवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पन्नत्ता।

[९४ प्र.] भगवन् ! पुलाक के चारित्र-पर्यव कितने होते हैं ?

[९४ उ.] गौतम ! पुलाक के चारित्र-पर्यव अनन्त होते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ८९८

९५. एवं जाव सिणायस्स।

[९५] इसी प्रकार (बकुश से लेकर) यावत् स्नातक तक कहना चाहिए।

विवेचन—चारित्र-पर्याय : क्या और कितने? चारित्र अर्थात् सर्वविरतिरूप परिणाम, उसके पर्यव या पर्याय अर्थात् तरतमताजनित भेद या अंश को चारित्र-पर्याय कहते हैं। वे बुद्धिकृत या विषयकृत अविभागपरिच्छेद रूप (जिसके फिर विभाग न हो सकें) होते हैं। ऐसे चारित्र-पर्याय अनन्त होते हैं। पुलाक से स्नातक तक के चारित्र-पर्याय अनन्त होते हैं।[1]

पंचविध निर्ग्रन्थों के स्व-पर-स्थान-सन्निकर्ष चारित्रपर्यायों से हीनत्वादि प्ररूपणा

९६. पुलाए णं भंते! पुलागस्स सट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए?

गोयमा! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए। जदि हीणे अणंतभागहीणे वा असंखेज्जतिभागहीणे वा, संखेज्जइभागहीणे वा, संखेज्जगुणहीणे वा असंखेज्जगुणहीणे वा, अणंतगुणहीणे वा। अह अब्भहिए अणंतभागमब्भहिए वा, असंखेज्जतिभागमब्भहिए वा, संखेज्जतिभागमब्भहिए वा, संखेज्जगुणमब्भहिए वा, असंखेज्जगुणमब्भहिए वा, अणंतगुणमब्भहिए वा।

[९६ प्र.] भगवन्! एक पुलाक, दूसरे पुलाक के स्वस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों से हीन है, तुल्य है या अधिक है?

[९६ उ.] गौतम! वह कदाचित् हीन होता है, कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक होता है। यदि हीन हो तो अनन्तभागहीन, असंख्यातभागहीन तथा संख्यातभागहीन होता है एवं संख्यातगुणहीन, असंख्यातगुणहीन और अनन्तगुणहीन होता है। यदि अधिक हो तो अनन्त-भाग-अधिक असंख्यातभाग अधिक और संख्यातभाग-अधिक होता है; तथैव संख्यातगुण-अधिक, असंखयातगुण-अधिक और अनन्तगुण-अधिक होता है।

९७. पुलाए णं भंते! बउसस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए?

गोयमा! हीणे, नो तुल्ले, नो अब्भहिए; अणंतगुणहीणे।

[९७ प्र.] भगवन्! पुलाक अपने चारित्र-पर्यायों से, बकुश के परस्थान-सन्निकर्ष (विजातीय चारित्र-पर्यायों के परस्पर संयोजन) की अपेक्षा हीन हैं, तुल्य हैं या अधिक हैं?

[९७ उ.] गौतम! वे हीन होते हैं, तुल्य या अधिक नहीं होते। अनन्तगुणहीन होते हैं।

९८. एवं पडिसेवणाकुसीलस्स वि।

[९८] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में कहना चाहिए।

९९. कसायकुसीलेण समं छट्ठाणपडिए जहेव सट्ठाणे।

[९९] कषायकुशील से पुलाक के स्वस्थान के समान षट्स्थानपतित कहना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९००

१००. नियंठस्स जहा बउसस्स।

[१००] वकुश के समान निर्ग्रन्थ के विषय में भी कहना चाहिए।

१०१. एवं सिणायस्स वि।

[१०१] स्नातक का कथन भी वकुश के समान है।

१०२. बउसे णं भंते! पुलागस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए?

गोयमा! नो हीणे, नो तुल्ले, अब्भहिए; अणंतगुणमब्भहिए।

[१०२ प्र.] भगवन्! वकुश, पुलाक के परस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों की अपेक्षा हीन है, तुल्य है या अधिक है?

[१०२ उ.] गौतम? वह हीन भी नहीं और तुल्य भी नहीं; किन्तु अधिक है; अनन्तगुण-अधिक है।

१०३. बउसे णं भंते! बउसस्स सट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं० पुच्छा।

गोयमा! सिय हीणे, सिय तुल्ले, सिय अब्भहिए। जदि हीणे छट्ठाणवडिए।

[१०३ प्र.] भगवन्! बकुश, दूसरे बकुश के स्वस्थान-सन्निकर्ष से (सजातीय-पर्यायों से) चारित्रपर्यायों (की अपेक्षा) से हीन है, तुल्य है या अधिक है?

[१०३ उ.] गौतम वह कदाचित् हीन, कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक होता है। यदि हीन हो तो (यावत्) षट्स्थान-पतित होता है।

१०४. बउसे णं भंते! पडिसेवणाकुसीलस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे०?

छट्ठाणवडिए।

[१०४ प्र.] भगवन्! बकुश, प्रतिसेवनाकुशील के परस्थान-सन्निकर्ष से, चारित्र-पर्यायों से हीन है, तुल्य है या अधिक है?

[१०४ उ.] गौतम! वह षट्स्थानपतित होता है।

१०५. एवं कसायकुसीलस्स वि।

[१०५] इसी प्रकार कषायकुशील की अपेक्षा से भी जान लेना चाहिए।

१०६. बउसे णं भंते! नियंठस्स परट्ठाणसन्निकासेणं चरित्तपज्जवेहिं० पुच्छा।

गोयमा! हीणे, नो तुल्ले, नो अब्भहिए; अणंतगुणहीणे।

[१०६ प्र.] भगवन्! बकुश निर्ग्रन्थ के परस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों से हीन, तुल्य या अधिक होते हैं?

[१०६ उ.] गौतम! वे हीन होते हैं, न तो तुल्य होते हैं और न अधिक होते हैं। अनन्त-गुण-हीन होते हैं।

१०७. एवं सिणायस्स वि ।

[१०७] इसी प्रकार स्नातक की अपेक्षा भी जानना चाहिए ।

१०८. पडिसेवणाकुसीलस्स एवं चेव बउसवत्तव्वया भाणियव्वा ।

[१०८] प्रतिसेवनाकुशील के लिये भी इसी प्रकार बकुश की वक्तव्यता कहनी चाहिए ।

१०९. कसायकुसीलस्स एस चेव बउसवत्तव्वया, नवरं पुलाएण वि समं छट्ठाणपडिते ।

[१०९] कषायकुशील के लिए भी यही बकुश की वक्तव्यता जाननी चाहिए । विशेष यह है कि पुलाक के साथ (तदपेक्षया) षट्स्थानपतित कहना चाहिए ।

११०. णियंठे णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो हीणे, नो तुल्ले, अब्भहिए; अणंतगुणमब्भहिए ।

[११० प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ, पुलाक के परस्थान-सन्निकर्ष से, चारित्रपर्यायों से हीन है, तुल्य है या अधिक है ?

[११० उ.] गौतम ! वह हीन नहीं, तुल्य भी नहीं, किन्तु अधिक है, अनन्तगुण-अधिक है ।

१११. एवं जाव कसायकुसीलस्स ।

[१११] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील की अपेक्षा से भी जान लेना चाहिए ।

११२. नियंठे णं भंते ! नियंठस्स सट्ठाणसन्निगासेणं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो हीणे, तुल्ले, नो अब्भहिए ।

[११२ प्र.] भगवन् ! एक निर्ग्रन्थ, दूसरे निर्ग्रन्थ के स्वस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों से हीन है या अधिक है ?

[११२ उ.] गौतम ! वह हीन नहीं और अधिक भी नहीं, किन्तु तुल्य होता है ।

११३. एवं सिणायस्स वि ।

[११३] इसी प्रकार स्नातक के साथ भी जानना चाहिए ।

११४. सिणाए णं भंते ! पुलागस्स परट्ठाणसन्नि० ?

एवं जहा नियंठस्स वत्तव्वया तहा सिणायस्स वि भाणियव्वा जाव—

[११४ प्र.] भगवन् ! स्नातक पुलाक के परस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों से हीन, तुल्य अथवा अधिक है ?

[११४ उ.] गौतम ! जिस प्रकार निर्ग्रन्थ की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार स्नातक की वक्तव्यता भी जाननी चाहिए ।

११५. सिणाए णं भंते ! सिणायस्स सट्ठाणसन्निगासेणं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो हीणे, तुल्ले, नो अब्भहिए ।

[११५ प्र.] भगवन् ! एक स्नातक दूसरे स्नातक के स्वस्थान-सन्निकर्ष से चारित्र-पर्यायों से हीन, तुल्य या अधिक है ?

[११५ उ.] गौतम ! वह न तो हीन है और न अधिक है, किन्तु तुल्य है ।

पंचविध निर्ग्रन्थों के जघन्य-उत्कृष्ट चारित्रपर्यायों का अल्पबहुत्व

११६. एएसि णं भंते ! पुलाग-बकुस-पडिसेवणाकुसील-कसायकुसील-नियंठ-सिणायाणं जहन्नुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! पुलागस्स कसायकुसीलस्स य एएसि णं जहन्नगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा। पुलागस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। बउसस्स पडिसेवणाकुसीलस्स य एएसिं णं जहन्नगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा। बउसस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। पडिसेवणाकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। कसायकुसीलस्स उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। नियंठस्स सिणायस्स य एएसि णं अजहन्नमणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा। [दारं १५]।

[११६ प्र.] भगवन् ! पुलाक, बकुश, प्रतिसेवनाकुशील, कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, इनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्र-पर्यायों में किसके चारित्र-पर्याय किनके चारित्र-पर्यायों से अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[११६ उ.] गौतम ! (१) पुलाक और कषायकुशील इन दोनों के जघन्य चारित्र-पर्याय परस्पर तुल्य हैं और सबसे अल्प हैं। (२) उनसे पुलाक के उत्कृष्ट चारित्र-पर्याय अनन्तगुण हैं। (३) उनसे बकुश और प्रतिसेवनाकुशील इन दोनों के जघन्य चारित्र-पर्याय परस्पर तुल्य हैं और अनन्तगुणे हैं। (४) उनसे बकुश के उत्कृष्ट चारित्र-पर्याय अनन्तगुणे हैं। (५) उनसे प्रतिसेवना-कुशील के उत्कृष्ट चारित्र-पर्याय अनन्तगुण हैं। (६) उनसे कषायकुशील के उत्कृष्ट चारित्र-पर्याय अनन्तगुण हैं और (७) उनसे निर्ग्रन्थ और स्नातक, इन दोनों के अजघन्य-अनुत्कृष्ट चारित्र-पर्याय अनन्तगुण हैं और परस्पर तुल्य हैं। [पन्द्रहवाँ द्वार]

विवेचन—स्वस्थान-सन्निकर्ष और परस्थान-सन्निकर्ष—पुलाक आदि का पुलाक आदि स्व-स्व के साथ सन्निकर्ष—संयोजन को 'स्वस्थान-सन्निकर्ष' कहते हैं। पुलाक का बकुश आदि पर के साथ सन्निकर्ष को परस्थान-सन्निकर्ष कहते हैं।[1]

चारित्र-पर्याय : हीन, तुल्य और अधिक—विशुद्ध संयम सम्बन्धी विशुद्धतर (चारित्र) पर्यायों की अपेक्षा अविशुद्ध संयम सम्बन्धी अविशुद्धतर (चारित्र) पर्याय 'हीन' कहलाते हैं। गुण और गुणी के अभेद सम्बन्ध से उन न्यून पर्यायों वाला साधु भी 'हीन' कहलाता है। शुद्ध पर्यायों की

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९००

समानता के कारण चारित्रपर्याय परस्पर 'तुल्य' कहलाते हैं। और विशुद्धतर पर्यायों के सम्बन्ध से 'अधिक' (चारित्रपर्याय) कहलाते हैं।[1]

सजातीय चारित्रपर्यायों से षट्स्थानपतित : कैसे और क्यों ?—एक पुलाक, दूसरे पुलाक के साथ सजातीय चारित्र-पर्यायों से षट्स्थानपतित होता है। षट्स्थानहीन यथा—(१) अनन्तभाग-हीन (२) असंख्यातभागहीन, (३) संख्यातभागहीन, (४) संख्येयगुणहीन, (५) असंख्येयगुण-हीन और (६) अनन्तगुणहीन।

इसी प्रकार अधिक के भी षट्स्थानपतित होते हैं। यथा (१) अनन्तभाग-अधिक (२) असंख्यातभाग-अधिक, (३) संख्यातभाग-अधिक, (४) संख्येयगुण-अधिक, (५) असंख्येयगुण-अधिक और (६) अनन्तगुण-अधिक।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—प्रत्येक चारित्र के अनन्त पर्याय होते हैं। एक ही चारित्र का पालन करने वाले अनेक व्यक्ति होते हैं। यथाख्यातचारित्र के सिवाय दूसरे चारित्र के पालन करने वाले साधुओं के परिणामों में समानता और असमानता—दोनों ही हो सकती है। असमानता के स्वरूप को समझाने के लिए षड्गुणहानि-वृद्धि की प्ररूपणा की गई है। यथा—

(१) **अनन्तवाँ भाग-हीन**—चारित्र पालने वाले दो साधुओं में एक के जो चारित्र-पर्याय हैं, उनके अनन्त विभाग किये जाएँ, उनसे दूसरे साधु के चारित्रपर्याय एक विभाग कम हैं तो वह कमी (न्यूनता) अनन्तवें भाग-हीन कहलाती है।

(२) **असंख्यातवाँ भाग-हीन**—इसी प्रकार चारित्रपालक दो साधुओं में से एक साधु के चारित्र के असंख्येय विभाग किए जाएँ, उससे यदि दूसरे साधुओं का चारित्र-पर्याय एक भाग कम हो तो वह कमी असंख्येयभाग-हीन मानी जाती है।

(३) **संख्यातवें भाग-हीन**—उपर्युक्त रीति से एक मुनि के चारित्र के संख्यात भाग किये जाएँ, उससे दूसरे साधु का चारित्र एक भाग कम हो तो वह 'संख्यातवाँ भाग-हीन' कहलाता है।

(४) **संख्यातगुण-हीन**—उपर्युक्त रीति से एक साधु के जितने चारित्र-पर्याय हैं, उनको संख्यातगुणा किया जाए, तब वह पहले साधु के बराबर हो सके तो उस दूसरे साधु का चारित्र संख्यात-गुण-हीन होता है।

(५) **असंख्यातगुण-हीन**—दो साधुओं में से दूसरे साधु के जितने चारित्र-पर्याय हैं, उन्हें असंख्यातगुणा किया जाए, तब वह पहले साधु के बराबर हो तो उसका चारित्र असंख्यातगुण-हीन कहा जाता है।

(६) **अनन्तगुण-हीन**—दो साधुओं में से दूसरे साधु के जितने चारित्र-पर्याय हैं, उनको अनन्तगुणा किया जाए, तब वह पहले साधु के बराबर हो, तो वह अनन्तगुण-हीन कहलाता है।

इसी प्रकार वृद्धि (अधिक) के भी षट्स्थानपतित का क्रम समझना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९००

चारित्र-पर्याय की न्यूनाधिकता का मापदण्ड—सामायिक चारित्र के अनन्त पर्याय हैं। किसी के सामायिक चारित्र के अनन्त पर्याय अधिक हैं और किसी के कम हैं, परन्तु सभी सामायिक चारित्र के पालने वालों के अनन्त पर्याय हैं ही। इनको समझाने के लिए जिसके सामायिक चारित्र के सबसे अधिक पर्याय हैं, वे भी हैं तो अनन्त ही और सभी आकाश-प्रदेशों से अनन्तगुण अधिक हैं। असत्कल्पना से उदाहरण द्वारा समझाने के लिए सर्वाधिक संयम-पर्याय वाले संयमी के अनन्त पर्यायों को दस हजार के रूप में मान लिया जाय। लोक में जीव भी अनन्त हैं, किन्तु असत्कल्पना से सभी जीवों को एक सौ मान लिया जाए, लोकाकाश के प्रदेश असंख्य हैं, उन्हें असत्कल्पना से पचास मान लिया जाए और उत्कृष्ट संख्यात-राशि को असत्कल्पना से दस मान लिया जाए। जैसे कि सामायिक चारित्र के सबसे अधिक पर्याय अनन्त हैं। असत्कल्पना से उन्हें १००० मान लिया जाए। जीव अनन्त हैं। उन्हें असत्कल्पना से १०० मान लिया जाए।

१—**अनन्तभाग-हीन**—अब १०००० में १०० का भाग दिया जाए, क्योंकि एक तो पूर्ण पर्याय वाला है और दूसरा अनन्तवाँ भाग हीन है। अतः १०००० में १०० का भाग देने पर लब्धांक १०० आते हैं। अर्थात्—१००००—१००=९९०० उसके चारित्र-पर्याय हैं। यह १०० पर्याय (अनन्तवाँ भाग-हीन) ही अनन्तवाँ भाग होता हैं।

२—**असंख्यातभाग-हीन**—एक के तो पूर्ण अनन्तपर्याय हैं, जिन्हें असत्कल्पना से १०००० माना है। दूसरे साधु के चारित्र-पर्याय उससे असंख्यातवाँ भाग-हीन हैं। असंख्यात को असत्कल्पना से ५० माना है। १०००० में ५० का भाग देने पर लब्धांक २०० आते हैं। इस प्रकार १००००—२००=९८०० पर्याय हैं। यह २०० पर्याय असंख्यातवाँ भाग-हीन हैं।

३—**संख्यातभाग-हीन**—एक साधु के तो पूर्ण चारित्रपर्याय अनन्त हैं, जिन्हें असत्कल्पना से १०००० मान लीजिए। दूसरे साधक के चारित्र-पर्याय उससे संख्यातवाँ भाग हीन हैं। असत्कल्पना से संख्यात को १० माना है। १०००० में १० का भाग देने पर लब्धांक १००० आते हैं। अतः उसके १०००० में से १००० शेष निकालने पर ९००० पर्याय शेष रहते हैं। पहले से इसके १००० पर्याय (संख्यातभाग) हीन हैं।

४—**संख्यातगुण-हीन**—जो संख्यातगुण-हीन है, उसके १००० पर्याय हैं। संख्यात को असत्कल्पना से १० माना है। पहले के चारित्र-पर्याय अनन्त हैं, दूसरे के १००० पर्याय को संख्यात-गुण—यानी १० से गुणा करने पर वह पहले वाले (अर्थात् जिसके अनन्त पर्याय हैं और जिन्हें असत्कल्पना से १०००० माना है) के बराबर होता है।

५—**असंख्यातगुण-हीन**—जो असंख्यातगुण-हीन है; जिसके २०० पर्याय हैं। पहले के तो अनन्तपर्याय हैं (जिन्हें असत्कल्पना से १०००० माना है)। अतः २०० पर्याय को असत्कल्पना से ५०वाँ भाग माना है। अतः २०० को ५० से गुणा करें तब वह पहले के बराबर होता है।

६—**अनन्तगुण-हीन**—जिसके अनन्तगुण-हीन पर्याय हैं, उसके १०० पर्याय माने हैं। पहले के तो अनन्त पर्याय अर्थात् असत्कल्पित १०००० पर्याय हैं। अतः इसके १०० पर्यायों को १०० से गुणा किया जाए तव वह पहले वाले के बरावर होता है। अतः इसके पर्याय अनन्तगुण-हीन हैं।

इसका रेखाचित्र इस प्रकार है—

पूर्ण पर्याय पालने वाले	अपूर्ण पर्याय पालने वाले
१०००० प्रतियोगी	९९०० अनन्तवाँ भाग हीन
१०००० प्रतियोगी	९८०० असंख्यातवाँ भाग हीन
१०००० प्रतियोगी	९००० संख्यातवाँ भाग हीन
१०००० प्रतियोगी	१००० संख्यातगुण-हीन
१०००० प्रतियोगी	२०० असंख्यातगुण-हीन
१०००० प्रतियोगी	१०० अनन्तगुण-हीन

जिस प्रकार षट्स्थानपतित हीन का निरूपण किया गया है, उसी प्रकार षट्स्थानपतित अधिक (वृद्धि) का भी समझना चाहिए।

यह सामायिकचारित्र-पर्याय के षट्स्थानपतित का उदाहरण है। इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय आदि चारित्रों पर तथा पुलाक आदि निर्ग्रन्थों पर घटित कर लेना चाहिए।[1]

परस्थान के साथ षट्स्थानपतित—परस्थान का अर्थ है—विजातीय। जैसे कि पुलाक, पुलाक के साथ तो सजातीय है, किन्तु बकुश आदि के साथ विजातीय है। पुलाक तथाविध विशुद्धि के अभाव से बकुश से हीन है। जिस प्रकार पुलाक को पुलाक के साथ षट्स्थानपतित कहा है, उसी प्रकार कषायकुशील की अपेक्षा भी षट्स्थानपतित समझना चाहिए। पुलाक, कषायकुशील से अविशुद्ध संयमस्थान में रहने के कारण कदाचित् हीन भी होता है। समान-संयमस्थान में रहने पर कदाचित् समान भी होता है। अथवा शुद्धतर संयमस्थान में रहने पर कदाचित् अधिक भी होता है।

पुलाक और कषायकुशील के सर्वजघन्य संयमस्थान सबसे नीचे हैं। वहाँ से वे दोनों असंख्य संयमस्थानों तक साथ-साथ जाते हैं, क्योंकि वहाँ तक उन दोनों के समान अध्यवसाय होते हैं। तत्पश्चात् पुलाक हीनपरिणाम वाला होने से आगे के संयमस्थानों में नहीं जाता, किन्तु वहाँ रुक जाता है। तत्पश्चात् कषायकुशील असंख्य संयमस्थानों तक ऊपर जाता है। वहाँ से कषाय-कुशील, प्रतिसेवनाकुशील और बकुश, ये तीनों साथ-साथ असंख्यसंयमस्थानों तक जाते हैं। फिर वहाँ बकुश रुक जाता है। इसके बाद प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील, ये दोनों असंख्य संयमस्थानों तक जाते हैं। वहाँ जाकर प्रतिसेवनाकुशील रुक जाता है। फिर कषायकुशील उससे आगे असंख्य संयमस्थानों तक जाता है। फिर वहाँ जाकर वह भी रुक जाता है। तदनन्तर निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये दोनों उससे आगे एक संयमस्थान तक जाते हैं। इस प्रकार पुलाक एवं कषायकुशील के अतिरिक्त शेष सभी निर्ग्रन्थों के चारित्र-पर्यायों से अनन्तगुणहीन होता है।

बकुश, पुलाक से विशुद्धतर परिणाम वाला होने से अनन्तगुण अधिक होता है। बकुश, बकुश के साथ विचित्र परिणामवाला होने से कदाचित् हीन, कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक होता है। प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील से भी इसी प्रकार हीनादि होता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक से तो वह हीन ही होता है। प्रतिसेवनाकुशील की वक्तव्यता बकुश के समान है। कषायकुशील

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९००-९०१

भी बकुश के समान है। पुलाक से बकुश अधिक कहा है, किन्तु यहाँ पर कषायकुशील, पुलाक के साथ हीनादि षट्स्थानपतित कहना चाहिए। क्योंकि उसके परिणाम पुलाक की अपेक्षा हीन, तुल्य और अधिक होते हैं।[1]

सोलहवाँ योगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में योगों की प्ररूपणा

११७. पुलाए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?

गोयमा ! सजोगी होज्जा, नो अजोगी होज्जा।

[११७ प्र.] भगवन् ! पुलाक सयोगी होता है या अयोगी ?

[११७ उ.] गौतम ! वह सयोगी होता है, अयोगी नहीं।

११८. जति सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा, वइजोगी होज्जा, कायजोगी होज्जा ?

गोयमा ! मणजोगी वा होज्जा, वइजोगी वा होज्जा, कायजोगी वा होज्जा।

[११८ प्र.] भगवन् ! यदि वह सयोगी होता है तो क्या वह मनोयोगी होता है, वचनयोगी होता है या काययोगी होता है ?

[११८ उ.] गौतम ! वह मनोयोगी होता है, वचनयोगी होता है, काययोगी भी होता है।

११९. एवं जाव नियंठे।

[११९] इसी प्रकार यावत् निर्ग्रन्थ तक जानना चाहिए।

१२०. सिणाए णं० पुच्छा।

गोयमा ! सजोगी वा होज्जा, अजोगी वा होज्जा।

[१२० प्र.] भगवन् ! स्नातक सयोगी होता है या अयोगी ?

[१२० उ.] गौतम ! वह सयोगी भी होता है और अयोगी भी होता है।

१२१. जदि सजोगी होज्जा किं मणजोगी होज्जा० ?

सेसं जहा पुलागस्स। [दारं १६]।

[१२१ प्र.] भगवन् ! यदि वह सयोगी होता है तो क्या मनोयोगी होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[१२१ उ.] इसका समाधान पुलाक के समान है। [सोलहवाँ द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ तक सयोगी—विशेषतः तीनों योग वाले होते हैं, जबकि स्नातक सयोगी और अयोगी दोनों प्रकार के होते हैं। शैलेशी अवस्था के पहले तक वे सयोगी होते हैं तथा शैलेशी अवस्था में अयोगी बन जाते हैं।[2]

सत्तरहवाँ उपयोगद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में उपयोग-प्ररूपणा

१२२. पुलाए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा ?

गोयमा ! सागारोवउत्ते वा होज्जा, अणागारोवउत्ते वा होज्जा।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०१

२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) वही, भा. ७, पृ. ३३९३

[१२२ प्र.] भगवन् ! पुलाक साकारोपयोगयुक्त होता है या अनाकारोपयोगयुक्त ?

[१२२ उ.] गौतम ! वह साकारोपयोगयुक्त भी होता है और अनाकारोपयोगयुक्त भी होता है।

१२३. एवं जाव सिणाए। [दारं १७]।

[१२३] इसी प्रकार यावत् स्नातक तक कहना चाहिए। [सत्तरहवां द्वार]

अठारहवाँ कषायद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कषाय-प्ररूपणा

१२४. पुलाए णं भंते किं सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा ?

गोयमा ! सकसायी होज्जा, नो अकसायी होज्जा।

[१२४ प्र.] भगवन् ! पुलाक सकषाय होता है या अकषाय ?

[१२४ उ.] गौतम ! वह सकषाय होता है, अकषाय नही।

१२५. जइ सकसायी से णं भंते ! कतिसु कसाएसु होज्जा ?

गोयमा ! चउसु, कोह-माण-माया-लोभेसु होज्जा।

[१२५ प्र.] भगवन् ! यदि वह सकषाय होता है, तो कितने कषायों में होता है ?

[१२५ उ.] गौतम ! वह क्रोध, मान, माया और लोभ, इन चारों कषायों में होता है।

१२६. एवं बउसे वि।

[१२६] इसी प्रकार वकुश के विषय में भी जानना चाहिए।

१२७. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[१२७] यही कथन प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

१२८. कसायकुसीले णं० पुच्छा।

गोयमा ! सकसायी होज्जा, नो अकसायी होज्जा।

[१२८ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील सकषाय होता है या अकषाय ?

[१२८ उ.] गौतम ! वह सकषाय होता है, अकषाय नहीं।

१२९. जति सकसायी होज्जा से णं भंते ! कतिसु कसाएसु होज्जा ?

गोयमा ! चउसु वा, तिसु वा, दोसु वा, एगम्मि वा होज्जा। चउसु होमाणे चउसु संजलणकोह-माण-माया-लोभेसु होज्जा, तिसु होमाणे तिसु संजलणमाण-माया-लोभेसु होज्जा, दोसु होमाणे संजलणमाया-लोभेसु होज्जा, एगम्मि होमाणे एगम्मि संजलणे लोभे होज्जा।

[१२९ प्र.] भगवन् ! यदि वह सकषाय होता है, तो कितने कषायों में होता है ?

[१२९ उ.] गौतम ! वह चार, तीन, दो या एक कषाय में होता है। चार कषायों में होने पर संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ में होता है। तीन कषाय में होने पर संज्वलन के मान, माया और लोभ में होता है। दो कषायों में होने पर संज्वलन के माया और लोभ में होता है और एक कषाय में होने पर संज्वलन लोभ में होता है।

१३०. नियंठे णं० पुच्छा।

गोयमा ! नो सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा।

[१३० प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ सकषाय होता है या अकषाय ?

[१३० उ.] गौतम ! वह सकषाय नहीं होता, किन्तु अकषाय होता है।

१३१. जदि अकसायी होज्जा किं उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा ?

गोयमा ! उवसंतकसायी वा होज्जा, खीणकसायी वा होज्जा।

[१३१ प्र.] भगवन् ! यदि निर्ग्रन्थ अकषाय होता है तो क्या उपशान्तकषाय होता है, अथवा क्षीणकषाय ?

[१३१ उ.] गौतम ! वह उपशान्तकषाय भी होता है और क्षीणकषाय भी।

१३२. सिणाए एवं चेव, नवरं नो उवसंतकसायी होज्जा, खीणकसायी होज्जा। [दारं १८]।

[१३२] स्नातक के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष यह है कि वह उपशान्तकषाय नहीं होता, किन्तु क्षीणकषाय होता है। [अठारहवाँ द्वार]

विवेचन—सकषाय या अकषाय ?—पुलाक से लेकर प्रतिसेवनाकुशील तक क्रोधादि चारों कषायों से युक्त होते हैं, क्योंकि उनके कषायों का उपशम या क्षय नहीं होता। कषायकुशील में जो चार, तीन, दो और एक कषाय का कथन किया है, उसका तात्पर्य यह है कि जब वह चार कषाय में होता है, तब उसके संज्वलन क्रोध, मान, माया और लोभ, ये चारों कषाय होते हैं। उपशम-श्रेणी या क्षपकश्रेणी में जब संज्वलनक्रोध का उपशम या क्षय हो जाता है, तब उसके तीन कषाय होते हैं। जब संज्वलन मान का उपशम या क्षय हो जाता है तब दो कषाय होते हैं और जब संज्वलन माया का उपशम या क्षय हो जाता है, तब सूक्ष्मसम्पराय नामक दसवें गुणस्थान में एक मात्र संज्वलन लोभ ही शेष रह जाता है। निर्ग्रन्थ और स्नातक दोनों अकषाय होते हैं।[1]

उन्नीसवाँ लेश्याद्वार : लेश्याओं की प्ररूपणा

१३३. पुलाए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ?

गोयमा ! सलेस्से होज्जा, नो अलेस्से होज्जा।

[१३३ प्र.] भगवन् ! पुलाक सलेश्य होता है या अलेश्य ?

[१३३ उ.] गौतम ! वह सलेश्य होता है अलेश्य नहीं।

१३४. जदि सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कतिसु लेसासु होज्जा ?

गोयमा ! तिसु विसुद्धलेसासु होज्जा, तं जहा—तेउलेसाए, पम्हलेसाए, सुक्कलेसाए।

[१३४ प्र.] भगवन् ! यदि वह सलेश्य होता है तो कितनी लेश्याओं में होता है ?

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०१

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३३८६

[१३४ उ.] गौतम ! वह तीन विशुद्ध लेश्याओं में होता है, *यथा*—तेजोलेश्या, पद्मलेश्या और शुक्ललेश्या में ।

१३५. एवं बउसस्स वि ।

[१३५] इसी प्रकार बकुश के विषय में भी कहना चाहिए ।

१३६. एवं पडिसेवणाकुसीले वि ।

[१३६] प्रतिसेवनाकुशील के विषय में भी यही वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

१३७. कसायकुसीले० पुच्छा ।

गोयमा ! सलेस्से होज्जा, नो अलेस्से होज्जा ।

[१३७ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील सलेश्य होता है, अथवा अलेश्य ?

[१३७ उ.] गौतम ! वह सलेश्य होता है, अलेश्य नहीं ।

१३८. जति सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कतिसु लेसासु होज्जा ?

गोयमा ! छसु लेसासु होज्जा, तं जहा—कण्हलेसाए जाव सुक्कलेसाए ।

[१३८ प्र.] भगवन् ! यदि वह सलेश्य होता है तो कितनी लेश्याओं में होता है ?

[१३८ उ.] गौतम ! वह छहों लेश्याओं में होता है । *यथा*—कृष्णलेश्या यावत् शुक्ललेश्या में ।

१३९. नियंठे णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! सलेस्से होज्जा, नो अलेस्से होज्जा ।

[१३९ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ सलेश्य होता है या अलेश्य ?

[१३९ उ.] गौतम ! वह सलेश्य होता है, अलेश्य नहीं ।

१४०. जदि सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कतिसु लेसासु होज्जा ?

गोयमा ! एक्काए सुक्कलेसाए होज्जा ।

[१४० प्र.] भगवन् ! यदि निर्ग्रन्थ सलेश्य होता है, तो कितनी लेश्याएँ पाई जाती हैं ?

[१४० उ.] गौतम ! निर्ग्रन्थ एकमात्र शुक्ललेश्या में होता है ?

१४१. सिणाए० पुच्छा ।

गोयमा ! सलेस्से वा होज्जा, अलेस्से वा होज्जा ।

[१४१ प्र.] भगवन् ! स्नातक सलेश्य होता है अथवा अलेश्य होता है ?

[१४१ उ.] गौतम ! वह सलेश्य होता है, अलेश्य नहीं ।

१४२. जति सलेस्से होज्जा से णं भंते ! कतिसु लेसासु होज्जा ?

गोयमा ! एगाए परमसुक्काए लेसाए होज्जा । [दारं १९] ।

[१४२ प्र.] भगवन् ! यदि स्नातक सलेश्य होता है, तो वह कितनी लेश्याओं में होता है ?

[१४२ उ.] गौतम ! वह एक परम शुक्ललेश्या में होता है । [उन्नीसवाँ द्वार]

विवेचन—पंचविध निर्ग्रन्थों में लेश्या का रहस्य—पुलाक, बकुश और प्रतिसेवनाकुशील, ये तीनों तीन विशुद्ध लेश्याओं में होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भावलेश्या की अपेक्षा ये तीनों तीन प्रशस्त लेश्याओं (तेजो, पद्म और शुक्ल) में होते हैं।

कषायकुशील के विषय में मूलपाठ में छह लेश्याएँ बताई हैं। वृत्तिकार का मन्तव्य इस सम्बन्ध में यह है कि इनमें कृष्णादि तीन लेश्याएँ तो मात्र द्रव्यलेश्याएँ हैं, किन्तु इनमें द्रव्यलेश्या भी छह और भावलेश्या भी छह समझनी चाहिए। इनमें द्रव्य और भावरूप छहों लेश्याएँ किस प्रकार घटित होती हैं, इसका स्पष्टीकरण भगवती. प्रथम शतक के प्रथम और द्वितीय उद्देशक के विवेचन में किया गया है।

स्नातक में एकमात्र परम शुक्लध्यान बताया गया है, उसका आशय यह है कि शुक्लध्यान के तीसरे भेद के समय ही एक परम शुक्ललेश्या होती है. दूसरे समय में तो उसमें शुक्ललेश्या ही होती है, किन्तु वह शुक्ललेश्वा दूसरे जीवों की शुक्ललेश्या की अपेक्षा परम शुक्ललेश्या होती है।[१]

बीसवाँ परिणामद्वार : वर्धमानादि परिणामों की प्ररूपणा

१४३. पुलाए णं भंते ! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, हायमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा, हायमाणपारिणामे वा होज्जा, अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा।

[१४३ प्र.] भगवन् ! पुलाक, वर्द्धमान-परिणामी होता है, हीयमान-परिणामी होता है अथवा अवस्थित-परिणामी होता है ?

[१४३ उ.] वह वर्द्धमानपरिणामी भी होता है. हीयमाणपरिणामी भी अवस्थितपरिणामी भी होता है ?

१४४. एवं जाव कसायकुसीले।

[१४४] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक जानना चाहिए।

१४५. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, नो हायमाणपरिणामे होज्जा, अवट्ठियपरिणामे वा होज्जा।

[१४५ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ किस परिणाम वाला होता है ? इत्यादि पृच्छा।

[१४५ उ.] गौतम ! वह वर्द्धमान और अवस्थित परिणाम वाला होता है, किन्तु हीयमान-परिणामी नहीं होता।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०२

१४६. एवं सिणाए वि।

[१४६] इसी प्रकार स्नातक के विषय में भी जानना चाहिए।

१४७. [१] पुलाए णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[१४७-१ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितने काल तक वर्द्धमानपरिणाम में होता है ?

[१४७-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक वर्द्धमानपरिणामी होता है।

[२] केवतियं कालं हायमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[१४७-२ प्र.] भगवन् ! वह कितने काल तक हीयमानपरिणामी होता है ?

[१४७-२ उ.] गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक।

[३] केवइयं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं सत्त समया।

[१४७-३ प्र.] भगवन् ! वह कितने काल तक अवस्थितपरिणामी होता है ?

[१४७-३ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट सात समय तक होता है।

१४८. एवं जाव कसायकुसीले।

[१४८] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक पूर्ववत् जानना चाहिए।

१४९. [१] नियंठे णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१४९-१ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितने काल तक वर्द्धमानपरिणामी होता है ?

[१४९-१ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त्त तक (वर्द्धमान-परिणामी होता है।)

[२] केवतियं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[१४९-२ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितने काल तक अवस्थित-परिणामी होता है ?

[१४९-२ उ.[गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक (अवस्थित-परिणामी रहता है।)

१५०. [१] सिणाए णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[१५०-१ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितने काल तक वर्द्धमानपरिणामी होता है ?

[१५०-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक (वर्द्धमानपरिणामी रहता है।)

[२] केवतियं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। [दारं २०]।

[१५०-२ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितने काल तक अवस्थित-परिणामी रहता है ?

[१५०-२ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटिवर्ष तक अवस्थित-परिणामी रहता है। [बीसवाँ द्वार]

विवेचन—परिणाम : प्रकार, स्वरूप और कालावधि—चारित्रसम्बन्धी भावों को यहाँ 'परिणाम' कहा गया है। वे तीन प्रकार के माने जाते हैं—(१) वर्द्धमानपरिणाम, (२) हीयमान-परिणाम और (३) अवस्थितपरिणाम। वर्द्धमानपरिणाम का अर्थ है संयमशुद्धि की उत्कर्षता (वृद्धि) होना। हीयमानपरिणाम का आशय है—संयमशुद्धि की अपकर्षता (हीनता) होना और अवस्थितपरिणाम उसे कहते हैं, जिसमें संयमशुद्धि स्थिर रहे, उसमें न्यूनाधिकता (घट-वढ़) न हो।

पुलाक से लेकर कषायकुशील तक तीनों ही प्रकार के परिणाम पाए जाते हैं। निर्ग्रन्थ और स्नातक, ये दोनों हीयमानपरिणाम वाले नहीं होते। निर्ग्रन्थ के परिणामों में हीनता आती है तो वह 'कषायकुशील' कहलाता है। स्नातक के परिणामों में हीनता होने का कारण ही नहीं है, क्योंकि वहाँ राग, द्वेष, मोह और घातिकर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है।

पुलाक के परिणाम वृद्धिगत हो रहे हों, तब यदि वे कषाय से बाधित हो जाएँ तो वह एकादि समय तक वर्द्धमानपरिणाम का अनुभव करता है, इसलिए उसका काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होता है। इसी प्रकार बकुश, प्रतिसेवनाकुशील एवं कषायकुशील के विषय में समझना चाहिए। वकुशादि के जघन्य एक समय वर्द्धमानपरिणाम मरण की अपेक्षा भी घटित हो सकते हैं, लेकिन पुलाकपने में मरण नहीं होता। मरण के समय पुलाक, कषायकुशीलादि रूप में परिणत हो जाता है। पूर्वसूत्र में पुलाक के मरण का कथन किया, वह भूतभाव की अपेक्षा से समझना चाहिए।

निर्ग्रन्थ जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक वर्द्धमानपरिणाम वाला होता है, जब केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब उसके परिणामान्तर हो जाते हैं। निर्ग्रन्थ के अवस्थितपरिणाम जघन्य एक समय, मरण की अपेक्षा घटित हो सकते हैं।

स्नातक जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक वर्द्धमानपरिणाम वाला होता है, क्योंकि शैलेशी अवस्था में वर्द्धमानपरिणाम अन्तर्मुहूर्त्त तक होते हैं। स्नातक के अवस्थितपरिणाम का काल भी जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त होता है, क्योंकि केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद वह अन्तर्मुहूर्त्त तक अवस्थित परिणाम वाला होकर फिर शैलेशी अवस्था को स्वीकार करता है, इस अपेक्षा से यह काल घटित हो सकता है। अवस्थितपरिणाम का उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटिवर्ष इसलिए होता है कि पूर्वकोटिवर्ष की आयुवाले पुरुष को जन्म से जघन्य नौ वर्ष बीत जाने पर केवलज्ञान उत्पन्न हो तो नौ वर्ष न्यून

पूर्वकोटिवर्ष-पर्यन्त अवस्थितपरिणाम वाला होकर शैलेशी-अवस्था की प्राप्ति-पर्यन्त विचरण करता है और शैलेशी अवस्था में वह वर्द्धमानपरिणामी हो जाता है।[1]

इक्कीसवाँ द्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में कर्मप्रकृति-बंध-प्ररूपणा

१५१. पुलाए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ बंधति ?

गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ बंधति।

[१५१ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है

[१५१ उ.] गौतम ! वह आयुष्यकर्म को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियाँ बांधता है।

१५२. बउसे० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा। सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ बंधति, अट्ठ बंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मप्पगडीओ बंधति।

[१५२ प्र.] भगवन् ! बकुश कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[१५२ उ.] गौतम ! वह सात अथवा आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधता है। यदि सात कर्मप्रकृतियाँ बांधता है, तो आयुष्य को छोड़कर शेष सात कर्मप्रकृतियाँ बांधता है और यदि आयुष्यकर्म बांधता है तो सम्पूर्ण आठ कर्मप्रकृतियों को बांधता है।

१५३. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[१५३] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में भी समझना चाहिए।

१५४. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, छव्विहबंधए वा। सत्त बंधमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ बंधति, अट्ठ बंधमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मप्पगडीओ बंधति, छ बंधमाणे आउय-मोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधति।

[१५४ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[१५४ उ.] गौतम ! वह सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियाँ बांधता है। सात बांधता हुआ आयुष्य के अतिरिक्त शेष सात कर्मप्रकृतियाँ बांधता है। आठ बांधता हुआ (आयुष्यकर्मसहित) परिपूर्ण आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधता है और छह बांधता हुआ आयुष्य और मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष छह कर्मप्रकृतियाँ बांधता है।

१५५. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! एगं वेदणिज्जं कम्मं बंधति।

[१५५ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है।

[१५५ उ.] गौतम ! वह एकमात्र वेदनीयकर्म बांधता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०२-९०३
(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवाद), पृ. २५३-५४

१५६. सिणाए० पुच्छा।

गोयमा ! एगविहबंधए वा, अबंधए वा। एगं बंधमाणे एगं वेदणिज्जं कम्मं बंधति। [दारं २१]।

[१५६ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है।

[१५६ उ.] गौतम ! वह एक कर्मप्रकृति बांधता है अथवा अबन्धक होता है। एक कर्मप्रकृति बांधता है तो वेदनीयकर्म बांधता है। [इक्कीसवाँ द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—कर्मप्रकृतियाँ आठ हैं—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय।

पुलाक अवस्था में आयुष्य कर्म का बन्ध नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में उसके आयुष्य-कर्म बन्ध के योग्य अध्यवसाय नहीं होते।

आयुष्य के दो भाग बीत जाने पर तीसरे भाग में आयुष्य का बन्ध होता है, इसलिए आयुष्य के पहले के दो भागों में आयुष्य का बन्ध नहीं होता। अतएव बकुश आदि सात या आठ कर्मप्रकृतियों को बांधते हैं। कषायकुशील सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान में आयुष्य नहीं बाँधता है, क्योंकि आयुष्य का बंध सातवें अप्रमत्त गुणस्थान तक ही होता है। कषायकुशील में बादरकषायों के उदय का अभाव होने से वह मोहनीयकर्म नहीं बांधता। इस दृष्टि से कहा गया है कि कषायकुशील आयु और मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष छह कर्मप्रकृतियाँ बांधता है। निर्ग्रन्थ योगनिमित्तक एकमात्र वेदनीयकर्म को ही बांधता है, क्योंकि कर्मबन्ध के हेतुओं में उसके केवल योग का ही सद्भाव होता है। स्नातक के अयोगी गुणस्थान में कर्मबन्ध के हेतु का अभाव होने से वह अबन्धक होता है।[1]

बाईसवाँ द्वार : निर्ग्रन्थों में कर्मप्रकृति-वेदन-निरूपण

१५७. पुलाए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! नियमं अट्ठ कम्मप्पगडीओ वेदेति।

[१५७ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१५७ उ.] गौतम ! वह नियम से आठों कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

१५८. एवं जाव कसायकुसीले।

[१५८] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक कहना चाहिए।

१५९. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ वेदेति।

[१५९ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१५९ उ.] गौतम ! वह मोहनीयकर्म को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

---

१ (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०३-९०४

(ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् (गुजराती अनुवाद) चतुर्थखण्ड, पृ. २५४

१६०. सिणाए णं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! वेदणिज्जाऽऽउय-नाम-गोयाओ चत्तारि कम्मप्पगडीओ वेदेति। [दारं २२]।

[१६० प्र.] भगवन् ! स्नातक कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१६० उ.] गौतम ! वह वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है। [बाईसवाँ द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—पुलाक से लेकर कषायकुशील तक आठों कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं। निर्ग्रन्थ मोहनीय को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं, क्योंकि उनका मोहनीय या तो उपशान्त हो जाता है या क्षीण हो जाता है। चार घातिकर्मों का क्षय हो जाने से स्नातक वेदनीयादि चार अघातिकर्मों का ही वेदन करते हैं।[1]

तेईसवाँ कर्मोदीरणाद्वार : कर्मप्रकृति-उदीरणा-प्ररूपणा

१६१. पुलाए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ उदीरेइ ?

गोयमा ! आउय-वेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ।

[१६१ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है ?

[१६१ उ.] गौतम ! वह आयुष्य और वेदनीय के सिवाय शेष छह कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है।

१६२. बउसे० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तविधउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा, छव्विहउदीरए वा। सत्त उदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, अट्ठ उदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, छ उदीरेमाणे आउय-वेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेति।

[१६२ प्र.] भगवन् ! बकुश कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है ?

[१६२ उ.] गौतम ! वह सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है। सात की उदीरणा करता हुआ आयुष्य को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों को उदीरता है, आठ की उदीरणा करता है तो परिपूर्ण आठ कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है तथा छह की उदीरणा करता है तो आयुष्य और वेदनीय को छोड़कर छह कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है।

१६३. पडिसेवणाकुसीले एवं चेव।

[१६३] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में जानना चाहिए।

१६४. कसायकुसीले० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तविहउदीरए वा, अट्ठविहउदीरए वा छव्विहउदीरए वा, पंचविहउदीरए वा। सत्त उदीरेमाणे आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, अट्ठ उदीरेमाणे पडिपुण्णाओ अट्ठ

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४०६

कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, छ उदीरेमाणे आउय-वेयणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, पंच उदीरेमाणे आउय-वेयणिज्ज-मोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मप्पगडीओ उदीरेइ।

[१६४ प्र.] कषायकुशील की उदीरणा के विषय में प्रश्न।

[१६४ उ.] गौतम ! वह सात, आठ, छह या पांच कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है। सात की उदीरणा करता है तो आयुष्य को छोड़कर सात कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है, आठ की उदीरणा करता है तो परिपूर्ण आठ कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है और छह की उदीरणा करता है तो आयुष्य और वेदनीय को छोड़कर शेष छह कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है तथा पांच की उदीरणा करता है तो आयुष्य, वेदनीय और मोहनीय को छोड़कर, शेष पांच कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है।

१६५. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! पंचविहउदीरए वा, दुविहउदीरए वा। पंच उदीरेमाणे आउय-वेयणिज्ज-मोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मप्पगडीओ उदीरेइ, दो उदीरेमाणे नामं च गोयं च उदीरेइ।

[१६५ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है ?

[१६५ उ.] गौतम ! वह या तो पांच कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है, अथवा दो कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है। जब वह पांच की उदीरणा करता है तब आयुष्य, वेदनीय और मोहनीय को छोड़कर शेष पांच कर्मप्रकृतियों की उदीरण करता है। दो की उदीरणा करता है तो नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा करता है।

१६६. सिणाए० पुच्छा।

गोयमा ! दुविहउदीरए वा, अणुदीरए वा। दो उदीरेमाणे नामं च गोयं च उदीरेइ। [दारं २३]।

[१६६ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है ?

[१६६ उ.] गौतम ! या तो वह दो की उदीरणा करता है अथवा बिलकुल उदीरणा नहीं करता। जब दो की उदीरणा करता है तो नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा करता है। [तेईसवाँ द्वार]

विवेचन--कौन कितने कर्मों की उदीरणा करता है ? पुलाक आयुष्य और वेदनीय कर्म की उदीरणा नहीं करता, क्योंकि उसके उदीरणा करने योग्य तथाविध अध्यवसाय नहीं होते, किन्तु पहले वह इन दोनों कर्मों की उदीरणा करके बाद में पुलाकत्व को प्राप्त होता है। इसी प्रकार आगे जिन-जिन कर्मप्रकृतियों की उदीरणा का निषेध किया गया है, उन-उन कर्मप्रकृतियों की पहले उदीरणा करके पीछे बकुशादित्व को प्राप्त करता है। स्नातक सयोगी अवस्था में नाम और गोत्र कर्म की उदीरणा करता है तथा आयुष्य और वेदनीय कर्म की उदीरणा तो सातवें गुणस्थान में ही बन्द हो जाती है। अयोगी अवस्था में तो वह अनुदीरक ही होता है।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४०९

चौवीसवाँ उपसम्पद्-जहद् द्वार : स्वस्थानत्याग-परस्थानसम्प्राप्ति-निरूपण

१६७. पुलाए णं भंते ! पुलायत्तं जहमाणे किं जहति ? किं उवसंपज्जइ ?

गोयमा ! पुलायत्तं जहति; कसायकुसीलं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ ।

[१६७ प्र.] भगवन् ! पुलाक, पुलाकपन को छोड़ता हुआ क्या छोड़ता है और क्या प्राप्त करता है ?

[१६७ उ.] गौतम ! वह पुलाकपन का त्याग करता है और कषायकुशीलपन या असंयम को प्राप्त करता है ।

१६८. बउसे णं भंते ! बउसत्तं जहमाणे किं जहति ? किं उवसंपज्जइ ?

गोयमा ! बउसत्तं जहति; पडिसेवणाकुसीलं वा, कसायकुसीलं वा, असंजमं वा, संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ ।

[१६८ प्र.] भगवन् ! बकुश बकुशत्व का त्याग करता हुआ क्या छोड़ता है और क्या प्राप्त करता है ?

[१६८ उ.] गौतम ! वह बकुशत्व का त्याग करता है और प्रतिसेवनाकुशीलत्व, कषाय-कुशीलत्व, असंयम या संयमासंयम को प्राप्त करता है ।

१६९. पडिसेवणाकुसीले णं भंते ! पडिसेवणाकुसीलत्तं जहमाणे० पुच्छा ।

गोयमा ! पडिसेवणाकुसीलत्तं जहति; बउसं वा, कसायकुसीलं वा, असंजमं वा, संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ ।

[१६९ प्र.] भगवन् ! प्रतिसेवनाकुशील प्रतिसेवनाकुशीलत्व को छोड़ता हुआ क्या छोड़ता है और क्या पाता है ?

[१६९ उ.] गौतम ! वह प्रतिसेवनाकुशीलत्व को छोड़ता है, और बकुशत्व, कषायकुशीलत्व, असंयम या संयमासंयम को पाता है ।

१७०. कसायकुसीले० पुच्छा ।

गोयमा ! कसायकुसीलत्तं जहइ; पुलायं वा, बउसं वा, पडिसेवणाकुसीलं वा, नियंठं वा, अस्संजमं वा, संजमासंजमं वा उवसंपज्जइ ।

[१७० प्र.] भगवन् ! कषायकुशील, कषायकुशीलत्व को छोड़ता हुआ क्या त्यागता है और क्या पाता है ?

[१७० उ.] गौतम ! वह कषायकुशीलत्व को छोड़ता है और पुलाकत्व, बकुशत्व, प्रतिसेवना-कुशीलत्व, निर्ग्रन्थत्व, असंयम अथवा संयमासंयम को प्राप्त करता है ।

१७१. णियंठे० पुच्छा ।

गोयमा ! नियंठत्तं जहति; कसायकुसीलं वा, सिणायं वा, अस्संजमं वा, उवसंपज्जइ ।

[१७१ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ, निर्ग्रन्थता का त्याग करता हुआ क्या छोड़ता है और क्या प्राप्त करता है ?

[१७१ उ.] गौतम ! वह निर्ग्रन्थता को छोड़ता है और कषायकुशीलत्व, स्नातकत्व या असंयम को प्राप्त करता है।

१७२. सिणाए० पुच्छा।

गोयमा ! सिणायत्तं जहति; सिद्धिगतिं उवसंपज्जइ। [दारं २४]।

[१७२ प्र.] भगवन् ! स्नातक स्नातकत्व का त्याग करता हुआ क्या छोड़ता है और क्या प्राप्त करता है ?

[१७२ उ.] गौतम ! स्नातक, स्नातकत्व को छोड़ता है और सिद्धिगति को प्राप्त करता है। [चौबीसवाँ द्वार]

विवेचन—कौन क्या त्यागता है, क्या प्राप्त करता है ? पुलाक पुलाकत्व को छोड़कर उसके तुल्य संयमस्थानों के सद्भाव से कषायकुशीलत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार जिस संयत के जैसे संयमस्थान होते हैं, वह उसी भाव को प्राप्त होता है, किन्तु कषायकुशील अपने समान संयमस्थानभूत पुलाकादि भावों को प्राप्त करते हैं और अविद्यमान समान संयमस्थान रूप निर्ग्रन्थभाव को प्राप्त करते हैं। निर्ग्रन्थ कषायकुशीलभाव या स्नातकभाव को प्राप्त करते हैं और स्नातक तो सिद्धगति को ही प्राप्त करते हैं।

निर्ग्रन्थ उपशमश्रेणी या क्षपकश्रेणी करते हैं। उपशमश्रेणी करने वाले निर्ग्रन्थ श्रेणी से गिरते हुए कषायकुशीलता प्राप्त करते हैं और श्रेणी के शिखर पर मरण कर देवरूप से उत्पन्न होते हुए असंयत होते हैं, किन्तु संयतासंयत (देशविरत) नहीं होते। क्योंकि देवों में संयतासंयतत्व नहीं होता। यद्यपि निर्ग्रन्थ श्रेणी से गिरकर संयतासंयत भी होते हैं, परन्तु यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है, क्योंकि श्रेणी से गिर कर वह सीधा संयतासंयत नहीं होता। किन्तु कषायकुशील होकर संयतासंयत होता है। स्नातक स्नातकत्व को छोड़कर सीधे मोक्ष में ही जाते हैं।[1]

पच्चीसवाँ संज्ञाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में संज्ञाओं की प्ररूपणा

१७३. पुलाए णं भंते ! किं सण्णोवउत्ते होज्जा, नोसण्णोवउत्ते होज्जा।

गोयमा ! णोसण्णोवउत्ते होज्जा।

[१७३ प्र.] भगवन् ! पुलाक संज्ञोपयुक्त (आहारादि संज्ञायुक्त) होता है अथवा नो-संज्ञोपयुक्त (आहारादि-संज्ञा से रहित) होता है ?

[१७३ उ.] गौतम ! वह संज्ञोपयुक्त नहीं होता, नोसंज्ञोपयुक्त होता है।

१७४. बउसे णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! सन्नोवउत्ते वा होज्जा, नोसण्णोवउत्ते वा होज्जा।

[१७४ प्र.] भगवन् ! बकुश संज्ञोपयुक्त होता है अथवा नो-संज्ञोपयुक्त होता है ?

[१७४ उ.] गौतम ! वह संज्ञोपयुक्त भी होता है और नो-संज्ञोपयुक्त भी होता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४११-१२

१७५. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[१७५] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में भी समझना चाहिए।

१७६. एवं कसायकुसीले वि।

[१७६] कषायकुशील के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

१७७. नियंठे सिणाए य जहा पुलाए। [दारं २५]।

[१७७] निर्ग्रन्थ और स्नातक को पुलाक के समान नो-संज्ञोपयुक्त कहना चाहिए। [पच्चीसवाँ द्वार]

विवेचन—संज्ञोपयुक्त-नो-संज्ञोपयुक्त : स्वरूप और विश्लेषण—संज्ञा का अर्थ यहाँ आहार-भय-मैथुन-परिग्रह संज्ञा है, उसमें उपयुक्त अर्थात् आहारादि में आसक्ति वाला संज्ञोपयुक्त होता है, जबकि आहारादि का उपभोग करने पर भी उनमें आसक्ति-रहित जीव नो-संज्ञोपयुक्त कहलाता है। पुलाक, निर्ग्रन्थ और स्नातक नो-संज्ञोपयुक्त होते हैं, क्योंकि उनकी आहारादि में आसक्ति नहीं होती। बकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील दोनों ही प्रकार के होते हैं। यहाँ शंका होती है कि निर्ग्रन्थ और स्नातक तो वीतराग होने से नो-संज्ञोपयुक्त ही होते हैं, किन्तु पुलाक सराग होने से नो-संज्ञोपयुक्त कैसे हो सकता है ? इसका समाधान यह है कि सराग होने पर भी आसक्तिरहितता सर्वथा नहीं होती, ऐसी बात नहीं है। बकुशादि सराग होने पर भी संज्ञा (आसक्ति)-रहित बताये गए हैं। चूर्णिकार के मतानुसार नो-संज्ञा का अर्थ है—ज्ञानसंज्ञा। इस दृष्टि से पुलाक, निर्ग्रन्थ और स्नातक नो-संज्ञोपयुक्त हैं, अर्थात् ज्ञानप्रधान उपयोग वाले हैं, किन्तु आहारादि संज्ञोपयुक्त नहीं होते। बकुशादि तो नो-संज्ञोपयुक्त और संज्ञोपयुक्त, दोनों प्रकार के होते हैं, क्योंकि उनके इसी प्रकार के संयमस्थानों का सद्भाव होता है।[1]

छब्बीसवाँ आहारद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में आहारक-अनाहारक-निरूपण

१७८. पुलाए णं भंते ! किं आहारए होज्जा, अणाहारए होज्जा।

गोयमा ! आहारए होज्जा, नो अणाहारए होज्जा।

[१७८ प्र.] भगवन् ! पुलाक आहारक होता है, अथवा अनाहारक होता है ?

[१७८ उ.] गौतम ! वह आहारक होता है, अनाहारक नहीं।

१७९. एवं जाव नियंठे।

[१७९] इसी प्रकार यावत् निर्ग्रन्थ तक कहना चाहिए।

१८०. सिणाए० पुच्छा।

गोयमा ! आहारए वा होज्जा, अणाहारए वा होज्जा। [दारं २६]।

[१८० प्र.] भगवन् ! स्नातक आहारक होता है, अथवा अनाहारक ?

[१८० उ.] गौतम ! वह आहारक भी होता है और अनाहारक भी। [छब्बीसवाँ द्वार]

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९०५

विवेचन—आहारक कौन, अनाहारक कौन ? पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ तक मुनियों के विग्रह-गति आदि अनाहारकपन के कारण का अभाव होने से वे आहारक ही होते हैं। स्नातक केवलिसमुद्घात के तृतीय, चतुर्थ और पंचम समय में तथा अयोगी-अवस्था में अनाहारक होते हैं, शेष समय में आहारक होते हैं।[1]

सत्ताईसवाँ भवद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में भवग्रहण-प्ररूपणा

१८१. पुलाए णं भंते ! कति भवग्गहणाइं होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं उक्कोसेणं तिन्नि।

[१८१ प्र.] भगवन् ! पुलाक कितने भव ग्रहण करता है ?

[१८१ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन भव ग्रहण करता है।

१८२. बउसे० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं अट्ठ।

[१८२ प्र.] भगवन् ! बकुश कितने भव ग्रहण करता है ?

[१८२ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है।

१८३. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[१८३] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील का कथन है।

१८४. एवं कसायकुसीले वि।

[१८४] कषायकुशील की वक्तव्यता भी इसी प्रकार है।

१८५. नियंठे जहा पुलाए।

[१८५] निर्ग्रन्थ का कथन पुलाक के समान है।

१८६. सिणाए० पुच्छा।

गोयमा ! एक्कं। [दारं २७]।

[१८६ प्र.] भगवन् ! स्नातक कितने भव ग्रहण करता है।

[१८६ उ.] गौतम ! वह एक भव ग्रहण करता है। [सत्ताईसवाँ द्वार]

विवेचन—कौन कितने भव ग्रहण करता है ?—पुलाक जघन्यतः एक भव में पुलाक हो कर कषायकुशील आदि किसी भी संयतत्व को एक बार या अनेक बार उसी भव में या अन्य भव में करके सिद्ध होता है और उत्कृष्ट देवादिभव से अन्तरित (बीच में देवादि भव) करते हुए तीसरे भव में पुलाकत्व को प्राप्त कर सकता है। बकुश, प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील के लिये जघन्य एक भव और उत्कृष्ट आठ भव कहे हैं, इसका आशय यह है कि कोई साधक एक भव में वकुशत्व, प्रतिसेवनाकुशीलत्व या कषायकुशीलत्व को प्राप्त करके सिद्ध होता है और कोई साधक एक भव में वकुशादित्व प्राप्त करके भवान्तर में बकुशादित्व को प्राप्त किये बिना ही सिद्ध होता

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०५

है। अतः बकुश आदि के लिए जघन्य एक भव और उत्कृष्ट आठ भव कहे हैं, क्योंकि उत्कृष्टतः आठ भवों तक चारित्र की प्राप्ति होती है। इनमें से कोई साधक तो आठ भव बकुशपन और उनमें अन्तिम भव सकषायत्वादियुक्त बकुशपन से पूरा करता है और कोई प्रत्येक भव प्रतिसेवनाकुशील-त्वादियुक्त बकुशपन से पूरा करता है और फिर उसी भव में मोक्ष चला जाता है।[1]

अट्ठाईसवाँ आकर्षद्वार : एकभव-नानाभवग्रहणीय आकर्ष-प्ररूपणा

१८७. पुलागस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवतिया आगरिसा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं तिण्णि।

[१८७ प्र.] भगवन् ! पुलाक के एकभव-ग्रहण-सम्बन्धी आकर्ष (चारित्र-प्राप्ति) कितने कहे हैं ?

[१८७ उ.] गौतम ! उसके जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन आकर्ष होते हैं।

१८८. बउसस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं सयग्गसो।

[१८८ प्र.] भगवन् ! बकुश के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१८८ उ.] गौतम ! जघन्य एक और उत्कृष्ट सैकड़ों (शत-पृथक्त्व) आकर्ष होते हैं।

१८९. एवं पडिसेवणाकुसीले वि, कसायकुसीले वि।

[१८९] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील के विषय में भी जानना चाहिए।

१९०. णियंठस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं दोन्नि।

[१९० प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१९० उ.] गोतम ! जघन्य एक और उत्कृष्ट दो आकर्ष होते हैं।

१९१. सिणायस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! एक्को।

[१९१ प्र.] भगवन् ! स्नातक के एक भव में कितने आकर्ष होते है ?

[१९१ उ.] गौतम ! उसके एक ही आकर्ष होता है।

१९२. पुलागस्स णं भंते ! नाणाभवग्गहणिया केवतिया आगरिसा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दोण्णि, उक्कोसेणं सत्त।

[१९२ प्र.] भगवन् ! पुलाक के नाना-भव-ग्रहण-सम्बन्धी आकर्ष कितने होते हैं ?

[१९२ उ.] गौतम ! जघन्य दो और उत्कृष्ट सात आकर्ष होते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०५

१९३. बउसस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं सहस्ससो।

[१९३ प्र.] भगवन् ! वकुश के अनेक-भव-ग्रहण-सम्बन्धी आकर्ष कितने होते हैं ?

[१९३ उ.] गौतम ! जघन्य दो और उत्कृष्ट सहस्रो (सहस्र-पृथक्त्व) आकर्ष होते हैं।

१९४. एवं जाव कसायकुसीलस्स।

[१९४] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक कहना चाहिए।

१९५. नियंठस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं पंच।

[१९५ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ के नाना-भव-सम्बन्धी कितने आकर्ष होते हैं ?

[१९५ उ.] गौतम ! जघन्य दो और उत्कृष्ट पांच आकर्ष होते हैं।

१९६. सिणायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! नत्थि एक्को वि। [दारं २८]।

[१९६ प्र.] भगवन् ! स्नातक के अनेक-भव-सम्बन्धी आकर्ष कितने होते हैं ?

[१९६ उ.] गौतम ! एक भी आकर्ष नहीं होता। [अट्ठाईसवाँ द्वार]

विवेचन—एकभवीय और अनेकभवीय आकर्ष—आकर्ष यहाँ पारिभाषिक शब्द है। उसका अर्थ है—चारित्र की प्राप्ति। प्रश्नों का आशय यह है कि पुलाकादि के एक भव या अनेक भवों में कितने आकर्ष होते हैं, अर्थात्—एक भव या अनेक भवों में पुलाक आदि संयम (चारित्र) कितनी वार आ सकता है ?

पुलाक के जघन्य एक, उत्कृष्ट तीन आकर्ष कहे हैं, अर्थात् एक भव में पुलाकचारित्र तीन वार आ सकता है। वकुश के जघन्य एक और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व आकर्ष होते हैं। निर्ग्रन्थ के एक भव में जघन्य एक आकर्ष और दो वार उपशमश्रेणी करने से उत्कृष्ट दो आकर्ष होते हैं।

पुलाक के एक भव में एक और दूसरे भव में पुनः एक, इस प्रकार अनेक भवों में जघन्य दो आकर्ष होते हैं और उत्कृष्ट सात आकर्ष होते हैं। इनमें से एक भव में उत्कृष्ट तीन आकर्ष होते हैं। प्रथम भव में एक आकर्ष और दूसरे दो भवों में तीन-तीन आकर्ष होते हैं। इत्यादि विकल्प से सात आकर्ष होते हैं। वकुशपन के उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। इनमें से प्रत्येक भव में उत्कृष्ट शतपृथक्त्व आकर्ष हो सकते हैं। जबकि आठ भवों में से प्रत्येक भव में उत्कृष्ट नौ सौ-नौ सौ आकर्ष हों तो उनको आठगुणा करने पर ७२०० आकर्ष होते हैं। इस प्रकार वकुश के अनेकभव की अपेक्षा सहस्र-पृथक्त्व आकर्ष हो सकते हैं।

निर्ग्रन्थपन के उत्कृष्ट तीन भव होते हैं। उनमें से प्रथम भव में दो आकर्ष और दूसरे भव में दो और तीसरे भव में एक आकर्ष, यों पांच आकर्ष होते हैं। क्षपक निर्ग्रन्थपन का आकर्ष करके सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक भवों में निर्ग्रन्थपन के पांच आकर्ष होते हैं। स्नातक तो उसी भव में सिद्ध हो जाते हैं। इसलिए उनके अनेक भव और आकर्ष नहीं होते।[1]

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०५-९०६

कठिन शब्दार्थ—**आगरिसा**—आकर्ष—चारित्रप्राप्ति । **सयग्गसो**—सैकड़ों, शत-पृथक्त्व । **सहस्सग्गसो**—सहस्रों, सहस्रपृथक्त्व ।[1]

उनतीसवाँ कालद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में स्थितिकाल-निरूपण

१९७. पुलाए णं भंते ! कालतो केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं ।

[१९७ प्र.] भगवन् ! पुलाकत्व काल की अपेक्षा कितने काल तक रहता है ।
[१९७ उ.] गौतम ! वह जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है ।

१९८. बउसे० पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ।

[१९८ प्र.] भगवन् ! बकुशत्व कितने काल तक रहता है ?
[१९८ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटिवर्ष तक रहता है ।

१९९. एवं पडिसेवणाकुसीले वि, कसायकुसीले वि ।

[१९९] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील और कषायकुशील के विषय में भी समझना चाहिए ।

२००. नियंठे० पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

[२०० प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थत्व कितने काल तक रहता है ?
[२०० उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक रहता है ।

२०१. सिणाए० पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी ।

[२०१ प्र.] भगवन् ! स्नातकत्व कितने काल तक रहता है ?
[२०१ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटिवर्ष तक रहता है ।

२०२. पुलाया णं भंते ! कालओ केवचिरं होंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

[२०२ प्र.] भगवन् ! पुलाक (बहुत) कितने काल तक रहते हैं ?
[२०२ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक रहते हैं ।

२०३. बउसा णं भंते !० पुच्छा ।

गोयमा ! सव्वद्धं ।

[२०३ प्र.] भगवन् ! बकुश (बहुत) कितने काल तक रहते हैं ?
[२०३ उ.] गौतम ! वे सर्वाद्धा—सर्वकाल रहते हैं ।

---

१. भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४१५-१६

२०४. एवं जाव कसायकुसीला।

[२०४] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक जानना चाहिए।

२०५. नियंठा जहा पुलागा।

[२०५] निर्ग्रन्थों का कथन पुलाकों के समान जानना चाहिए।

२०६. सिणाया जहा बउसा। [दारं २९]।

[२०६] स्नातकों की वक्तव्यता वकुशों के समान है। [उनतीसवाँ द्वार]

विवेचन—पुलाकादि भाव कितने काल तक?—पुलाकत्व को प्राप्त मुनि एक अन्तर्मुहूर्त्त पूर्ण न हो, तब तक न तो पुलाकत्व से मरते हैं और न गिरते हैं। अर्थात्—कषायकुशीलपन में अन्तर्मुहूर्त्त से पहले जाते नहीं और पुलाकपन में मरते ही नहीं हैं। इसलिए उनका काल अन्तर्मुहूर्त्त का ही होता है।

वकुशपन की प्राप्ति होने के साथ ही तुरंत मरण सम्भव होने से जघन्य एक समय तक वकुशपन रहता है। यदि पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाला सातिरेक आठ वर्ष की वय में संयम स्वीकार करे तो उसकी अपेक्षा उत्कृष्टकाल देशोन पूर्वकोटि वर्ष होता है। निर्ग्रन्थ का जघन्यकाल एक समय है, क्योंकि उपशान्तमोहगुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ प्रथम समय में भी मरण को प्राप्त हो सकते हैं। निर्ग्रन्थ का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त का है, क्योंकि निर्ग्रन्थपन इतने काल तक ही रहता है। स्नातक का जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त्त इसलिए है कि आयु के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त में केवलज्ञान उत्पन्न होने में जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त के बाद वे मोक्ष में जा सकते हैं। उत्कृष्ट काल देशोन पूर्वकोटिवर्ष है।

काल-परिमाण : एकत्व-बहुत्व सम्बन्धी—पुलाक आदि का एकवचन और बहुवचन सम्बन्धी काल-परिमाण इन सूत्रों में बताया गया है। एक पुलाक अपने अन्तर्मुहूर्त्त के अन्तिम समय में वर्तमान है, उसी समय में दूसरा मुनि पुलाकपन को प्राप्त करे तब दोनों पुलाकों का एक समय में सद्भाव होता। इस प्रकार अनेक पुलाकों (दो पुलाक हों तो भी वे भी अनेक कहलाते हैं) में जघन्यकाल एक समय और उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त्त होता है, क्योंकि पुलाक एक समय में उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व (दो हजार से नौ हजार तक) हो सकते है। बहुत हों तो भी उनका काल अन्तर्मुहूर्त्त होता है। किन्तु एक पुलाक की स्थिति के अन्तर्मुहूर्त्त से अनेक पुलाकों की स्थिति का अन्तर्महूर्त्त बड़ा होता हैं। वकुशादि का स्थितिकाल तो सर्वकाल होता है, क्योंकि वे सदैव रहते हैं।[1]

तीसवाँ अन्तरद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में काल के अन्तर का निरूपण

२०७. पुलागस्स णं भंते! केवतियं कालं अंतरं होइ?

गोयमा! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेणं अणंतं कालं—अणंताओ ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीओ कालओ, खेत्तओ अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं देसूणं।

[२०७ प्र.] भगवन्! (एक) पुलाक का अन्तर कितने काल का होता है?

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९०६

[२०७ उ.] गौतम ! वह जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट अनन्तकाल का होता है। (अर्थात्) काल की अपेक्षा—अनन्त अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल का और क्षेत्र की अपेक्षा देशोन अपार्द्ध पुद्गल-परावर्तन का अन्तर होता है।

२०८. एवं जाव नियंठस्स।

[२०८] इसी प्रकार यावत् निर्ग्रन्थ तक जानना।

२०९. सिणायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! नत्थंतरं।

[२०९ प्र.] भगवन् ! स्नातक का अन्तर कितने काल का होता है ?
[२०९ उ.] गौतम ! उसका अन्तर नहीं होता।

२१०. पुलागाणं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जाइं वासाइं।

[२१० प्र.] भगवन् ! (अनेक) पुलाकों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[२१० उ.] गौतम ! उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट संख्यात वर्षों का होता है।

२११. बउसाणं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! नत्थंतरं।

[२११ प्र.] भगवन् ! बकुशों का अन्तर कितने काल का होता है ?
[२११ उ.] गौतम ! उनका अन्तर नहीं होता।

२१२. एवं जाव कसायकुसीलाणं।

[२१२] इसी प्रकार यावत् कषायकुशीलों तक का कथन जानना चाहिए।

२१३. नियंठाणं० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा।

[२१३ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थों का अन्तर कितने काल का होता है ?
[२१३ उ.] गौतम ! उनका अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छह मास का होता है।

२१४. सिणायाणं जहा बउसाणं। [दारं ३०]।

[२१४] स्नातकों के अन्तर का कथन बकुशों के कथन के समान जानना चाहिए।
[तीसवाँ द्वार]

विवेचन—अन्तर : काल और क्षेत्र की अपेक्षा से—अन्तर का स्वरूप यह है कि पुलाक आदि पुनः कितने काल पश्चात् पुनः पुलाकत्व को प्राप्त होता हैं/होते हैं ? पुलाक, पुलाकत्व को छोड़ कर जघन्यतः अन्तर्मुहूर्त्त में पुनः पुलाक हो सकता है और उत्कृष्टतः अनन्तकाल में पुलाकत्व

को प्राप्त होता है। वह कालतः अनन्तकाल अनन्त अवसर्पिणी-उत्सर्पिणीरूप अन्तर समझना चाहिए तथा क्षेत्रतः देशोन अपार्द्ध पुद्गलपरावर्तन का अन्तर जानना चाहिए।

क्षेत्रतः पुद्गलपरावर्त्तन का स्वरूप—कोई जीव आकाश के प्रत्येक प्रदेश पर मृत्यु को प्राप्त हो। इस प्रकार मरण से जितने काल में समस्त लोक को व्याप्त करे, उतना काल 'क्षेत्र-पुद्गल-परावर्तन कहलाता है। यहाँ पुलाक आदि का अन्तर देशोन अर्द्ध पुद्गलपरावर्तन काल बतलाया है।

बकुश से लेकर कषायकुशील तक एवं स्नातक का अन्तर नहीं होता, क्योंकि इनका पतन नहीं होता, इसलिए इनका अन्तर नहीं पड़ता।[1]

इकतीसवाँ समुद्घातद्वार : समुद्घातों की प्ररूपणा

२१५. पुलागस्स णं भंते ! कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! तिन्नि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए कसायसमुग्घाए मारणंतियसमुग्घाए।

[२१५ प्र.] भगवन् ! पुलाक के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२१५ उ.] गौतम ! उसके तीन समुद्घात कहे हैं। यथा—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात और मारणान्तिकसमुद्घात।

२१६. बउसस्स णं भंते ! ० पुच्छा।

गोयमा ! पंच समुग्घाता पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए जाव तेयासमुग्घाए।

[२१६ प्र.] भगवन् ! बकुश के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२१६ उ.] गौतम ! उसमें पांच समुद्घात कहे हैं। यथा—वेदनासमुद्घात से लेकर यावत् तैजससमुद्घात तक।

२१७. एवं पडिसेवणाकुसीले वि।

[२१७] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में समझना चाहिए।

२१८. कसायकुसीलस्स० पुच्छा।

गोयमा ! छ समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए जाव आहारगसमुग्घाए।

[२१८ प्र.] भगवन् ! कषायकुशील के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२१८ उ.] गौतम ! उसमें छह समुद्घात कहे हैं। यथा—वेदनासमुद्घात से लेकर यावत् आहारकसमुद्घात तक।

२१९. नियंठस्स णं० पुच्छा।

गोयमा ! नत्थि एक्को वि।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०६

[२१९ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२१९ उ.] गौतम ! उसमें एक भी समुद्घात नहीं होता।

२२०. सिणायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! एगे केवलिसमुग्घाते पन्नत्ते। [दारं ३१]।

[२२० प्र.] भगवन् ! स्नातक के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[२२० उ.] गौतम ! उसमें केवल एक केवलिसमुद्घात होता है। [इकतीसवाँ द्वार]।

विवेचन—किसमें कितने समुद्घात और क्यों ? सात समुद्घातों में से पुलाक में तीन समुद्घात होते हैं। मुनियों में संज्वलनकषाय के उदय से कषायसमुद्घात पाया जाता है। इस कारण पुलाक में वेदनासमुद्घात के बाद कषायसमुद्घात भी सम्भव है। यद्यपि पुलाक-अवस्था में मरण नहीं होता, तथापि पुलाक में मारणान्तिकसमुद्घात होता है; क्योंकि मारणान्तिकसमुद्घात से निवृत्त होने पर कषायकुशीलत्वादि परिणाम के सद्भाव में उसका मरण होता है। अतः पुलाक में मारणान्तिकसमुद्घात का सद्भाव कहा गया है। निर्ग्रन्थ में एक भी समुद्घात नहीं होता; क्योंकि उसका स्वभाव ही ऐसा है। पहले समुद्घात किया हुआ हो तो वह निर्ग्रन्थपने में आकर काल कर सकता है। स्नातक केवली होने से उनमें केवलिसमुद्घात ही पाया जाता है।[1]

बत्तीसवाँ क्षेत्रद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अवगाहनाक्षेत्र-प्ररूपण

२२१. पुलाए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जतिभागे होज्जा, असंखेज्जतिभागे होज्जा, संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए होज्जा ?

गोयमा ! नो संखेज्जतिभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, नो सव्वलोए होज्जा।

[२२१ प्र.] भगवन् ! पुलाक लोक के संख्यातवें भाग में होते हैं, असंख्यातवें भाग में होते हैं, संख्यातभागों में होते हैं, असंख्यातभागों में होते हैं या सम्पूर्ण लोक में होते हैं ?

[२२१ उ.] गौतम ! वह लोक के संख्यातवें भाग में नहीं होते, किन्तु असंख्यातवें भाग में होते हैं, संख्यातभागों में, असंख्यातभागों में या सम्पूर्ण लोक में नहीं होते हैं ?

२२२. एवं जाव नियंठे।

[२२२] इसी प्रकार यावत् निर्ग्रन्थ तक समझ लेना चाहिए।

२२३. सिणाए णं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! णो संखेज्जतिभागे होज्जा, असंखेज्जतिभागे होज्जा, नो संखेज्जेसु भागेसु होज्जा, असंखेज्जेसु भागेसु होज्जा, सव्वलोए वा होज्जा। [दारं ३२]।

[२२३ प्र.] भगवन् ! स्नातक लोक के संख्यातवें भाग में होता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४२५
   (ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०७

[२२३ उ.] गौतम ! वह लोक के संख्यातवें भाग में और संख्यातभागों में नहीं होता, किन्तु असंख्यातवें भाग में, असंख्यात भागों में या सर्वलोक में होता है। [बत्तीसवाँ द्वार]

विवेचन—क्षेत्रद्वार का अर्थ और क्षेत्रावगाहन कितना और क्यों ?—क्षेत्रद्वार में क्षेत्र का अर्थ यहाँ अवगाहना-क्षेत्र है। प्रश्न का आशय यह है कि पुलाक आदि का शरीर लोक के कितने भाग (प्रदेश) को अवगाहित करता है ? इसके उत्तर में कहा गया है कि पुलाक से लेकर निर्ग्रन्थ तक का शरीर लोक के असंख्यातवें भाग को अवगाहित करता है। स्नातक केवलिसमुद्घात-अवस्था में जब शरीरस्थ होता है या दण्ड-कपाटकरण-अवस्था में होता है, तब लोक के असंख्यातवें भाग में रहता है। क्योंकि केवली भगवान् का शरीर इतने क्षेत्र-परिमाण ही होता है। मन्थानक-काल में केवली भगवान् के प्रदेशों से लोक का अधिकाँश भाग व्याप्त हो जाता है और थोड़ा-सा भाग अव्याप्त रहता है। अत: वह उस समय लोक के असंख्यात-भागों में रहता है। जब वह समग्रलोक को व्याप्त कर लेता है, तब सम्पूर्ण लोक में होता है।[1]

तेतीसवाँ स्पर्शनाद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में क्षेत्रस्पर्शना-प्ररूपण

२२४. पुलाए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जतिभागं फुसति, असंखेज्जतिभागं फुसइ० ?

एवं जहा ओगाहणा भणिया तहा फुसणा वि भाणियव्वा जाव सिणाये। [दारं ३३]।

[२२४ प्र.] भगवन् ! पुलाक लोक के संख्यातवें भाग को स्पर्श करता है या असंख्यातवें भाग को ? इत्यादि (क्षेत्रावगाहनावत्) प्रश्न।

[२२४ उ.] (गौतम !) जिस प्रकार अवगाहना का कथन किया है, उसी प्रकार स्पर्शना के विषय में भी यावत् स्नातक तक जानना चाहिए। [तेतीसवाँ द्वार]

विवेचन—क्षेत्रावगाहनाद्वार और क्षेत्र-स्पर्शनाद्वार में अन्तर—(क्षेत्र) स्पर्शद्वार में कहा गया है कि यह द्वार क्षेत्रावगाहनाद्वार के समान है। प्रश्न होता है कि जब दोनों द्वार एक-सरीखे हैं, तब ये पृथक्-पृथक् क्यों कहे गए ? इसका समाधान यह है कि जितने प्रदेशों को शरीर अवगाहित करके रहता है, उतने क्षेत्र को क्षेत्रावगाहना कहते हैं तथा अवगाढ़ क्षेत्र (अर्थात् शरीर जितने क्षेत्र को अवगाहित करके रहा हुआ है, वह क्षेत्र) और उसका पार्श्ववर्ती क्षेत्र जिसके साथ शरीरप्रदेशों का स्पर्श हो रहा है, वह क्षेत्र भी स्पर्शनाक्षेत्र कहलाता है। यह क्षेत्रावगाहना और क्षेत्र-स्पर्शना में अन्तर है।[2]

चौतीसवाँ भावद्वार : औपशमिकादि भावों का निरूपण

२२५. पुलाए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ?

गोयमा ! खयोवसमिए भावे होज्जा।

[२२५ प्र.] भगवन् ! पुलाक किस भाव में होता है ?

[२२५ उ.] गौतम ! वह क्षायोपशमिक भाव में होता है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०७

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०८
 (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४२७

२२६. एवं जाव कसायकुसीले।

[२२६ प्र.] इसी प्रकार यावत् कषायकुशील तक जानना।

२२७. नियंठे० पुच्छा।

गोयमा ! ओवसमिए वा खइए वा भावे होज्जा।

[२२७ प्र.] भगवन् ! निर्ग्रन्थ किस भाव में होता है ?

[२२७ उ.] गौतम ! वह औपशमिक या क्षायिक भाव में होता है।

२२८. सिणाये० पुच्छा। गोयमा ! खइए भावे होज्जा। [दारं ३४]।

[२२८ प्र.] भगवन् ! स्नातक किस भाव में होता है ?

[२२८ उ.] गौतम ! वह क्षायिक भाव में होता है। [चौतीसवां द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—पुलाक से लेकर कषायकुशील तक क्षायोपशमिक भाव में होते हैं, निर्ग्रन्थ औपशमिक अथवा क्षायिक भाव में और स्नातक एकमात्र क्षायिक भाव में होते हैं।[1]

पैंतीसवाँ परिमाणद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों का एक समय का परिमाण

२२९. पुलाया णं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ?

गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जति अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च सिय अत्थि, सिय णत्थि। जति अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं।

[२२९ प्र.] भगवन् ! पुलाक एक समय में कितने होते हैं ?

[२२९ उ.] गौतम ! प्रतिपद्यमान (पुलाकत्व को प्राप्त होते हुए) की अपेक्षा पुलाक कदाचित् होते है और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न (पहले ही उस अवस्था को प्राप्त किये हुए) की अपेक्षा भी पुलाक कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथकत्व होते हैं।

२३०. बउसा णं भंते ! एगसमएणं० पुच्छा।

गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिसयपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसयपुहत्तं।

[२३० प्र.] भगवन् ! बकुश एक समय में कितने होते हैं ?

[२३० उ.] गौतम ! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा बकुश कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं भी होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा बकुश जघन्य और उत्कृष्ट कोटिशतपृथक्त्व होते हैं।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४२८

२३१. एवं पडिसेवणाकुसीला वि।

[२३१] इसी प्रकार प्रतिसेवनाकुशील के विषय में भी जानना चाहिए।

२३२. कसायकुसीला णं पुच्छा।

गोयमा! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सहस्सपुहत्तं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिसहस्सपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसहस्सपुहत्तं।

[२३२ प्र.] भगवन्! कषायकुशील एक समय में कितने होते हैं?

[२३२ उ.] गौतम! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा कषायकुशील कदाचित् होते हैं, कदाचित् नहीं भी होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट सहस्रपृथक्त्व होते हैं। पूर्व-प्रतिपन्न की अपेक्षा कषायकुशील जघन्य और उत्कृष्ट कोटिसहस्रपृथक्त्व (दो हजार करोड़ से नौ-हजार करोड़ तक) होते हैं।

२३३. नियंठा णं० पुच्छा।

गोयमा! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं बावट्ठं सयं—अट्ठसतं खवगाणं, चउप्पण्णं उवसामगाणं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जति अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं।

[२३३ प्र.] भगवन्! निर्ग्रन्थ एक समय में कितने होते हैं?

[२३३ उ.] गौतम प्रतिपद्यमान की अपेक्षा कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं भी होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट एक सौ बासठ होते हैं। उनमें से क्षपकश्रेणी वाले १०८ और उपशमश्रेणी वाले ५४, यों दोनों मिलाकर १६२ होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा निर्ग्रन्थ कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व होते हैं।

२३४. सिणाया णं० पुच्छा।

गोयमा! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं अट्ठसयं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहत्तं। [दारं ३५]।

[२३४ प्र.] भगवन्! स्नातक एक समय में कितने होते हैं?

[२३४ उ.] गौतम! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा वे कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट एक सौ आठ होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा स्नातक जघन्य और उत्कृष्ट कोटिपृथक्त्व होते हैं। [पैंतीसवां द्वार]

विवेचन—शंका-समाधान—सुनते हैं, सर्व संयतों (साधुओं) का परिमाण (संख्या) कोटि-सहस्र-पृथक्त्व है और यहाँ तो शास्त्रकार ने केवल कषायकुशील मुनियों का ही इतना (कोटि-सहस्र-पृथक्त्व) परिमाण बताया है, उनमें पुलाक आदि की संख्या को मिलाने से तो कोटि-सहस्र-पृथक्त्व से अधिक संख्या हो जाएगी तो क्या यह पूर्वोक्त परिमाण से विरोध नहीं ? इसका समाधान यह है कि कषायकुशील संयतों का जो कोटि-सहस्र-पृथक्त्व परिमाण बताया है, वह दो, तीन कोटि सहस्र-पृथक्त्वरूप जानना चाहिए। उसमें पुलाक, बकुशादि की संख्या को मिला देने पर भी समस्त संयतों की जो संख्या बतायी है, उससे अधिक नहीं होगी। अर्थात् सर्व संयतों का परिमाण भी कोटि-सहस्र-पृथक्त्व ही होगा।[1]

छत्तीसवाँ अल्पबहुत्वद्वार : पंचविध निर्ग्रन्थों में अल्पबहुत्व प्ररूपण

२३५. एएसि णं भंते ! पुलाग-बउस-पडिसेवणाकुसील-कसायकुसील-नियंठ-सिणायाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा नियंठा, पुलागा संखेज्जगुणा, सिणाया संखेज्जगुणा, बउसा संखेज्जगुणा, पडिसेवणाकुसीला संखेज्जगुणा, कसायकुसीला संखेज्जगुणा। [दारं ३६]।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ पंचवीसइमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥

[२३५ प्र.] भगवन् ! पुलाक, बकुश, प्रतिसेवनाकुशील, कषायकुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक, इनमें से कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[२३५ उ.] गौतम ! सबसे थोड़े निर्ग्रन्थ हैं, उनसे पुलाक संख्यात-गुणे हैं, उनसे स्नातक संख्यात-गुणे हैं, उनसे बकुश संख्यात-गुणे हैं, उनसे प्रतिसेवनाकुशील संख्यात-गुणे हैं और उनसे कषायकुशील संख्यात-गुणे हैं। [छत्तीसवाँ द्वार]

हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है; यों कहकर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अल्पबहुत्व की संगति—निर्ग्रन्थ सबसे अल्पसंख्यक हैं, क्योंकि उनकी उत्कृष्ट संख्या शत-पृथक्त्व है। उनसे पुलाक और स्नातक क्रमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुण हैं; क्योंकि इन दोनों की उत्कृष्ट संख्या क्रमशः सहस्रपृथक्त्व और कोटिपृथक्त्व है। उनसे बकुश और प्रतिसेवनाकुशील दोनों क्रमशः उत्तरोत्तर संख्यातगुण हैं, क्योंकि इन दोनों की उत्कृष्ट संख्या कोटिशतपृथक्त्व है और प्रतिसेवनाकुशील से कषायकुशील की संख्या संख्यातगुणी है, क्योंकि कषायकुशील की उत्कृष्ट संख्या कोटिसहस्रपृथक्त्व है।

शंका-समाधान—पूर्वसूत्रों में बकुश और प्रतिसेवनाकुशील, इन दोनों का परिमाण एक-सा कोटिशतपृथक्त्वरूप कहा है, जबकि यहाँ अल्पबहुत्व में बकुश से प्रतिसेवनाकुशील को संख्यातगुणा

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०७
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४३१

अधिक बताया है, ऐसी स्थिति में यहाँ मूलपाठ के साथ कैसे संगति होगी ? इस शंका का समाधान यह है कि बकुश का परिमाण जो कोटिशतपृथक्त्व कहा है, वह तीन कोटिशतरूप जानना चाहिए और प्रतिसेवनाकुशील का जो कोटिशतपृथक्त्व परिमाण बताया है, वह चार-छह कोटिरूप जानना चाहिए।

इस प्रकार पूर्वोक्त अल्पबहुत्व में किसी प्रकार का परस्पर विरोध नहीं आता ।[1]

॥ पच्चीसवां शतक : छठा उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

1. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०९

सत्तमो उद्देसओ : 'समणा'

सप्तम उद्देशक : 'श्रमण' (संयत सम्बन्धी)

प्रथम प्रज्ञापनाद्वार : संयतों के भेद-प्रभेद का निरूपण

१. कति णं भंते ! संजया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंच संजया पन्नत्ता तं जहा--सामाइयसंजए छेदोवट्ठावणियसंजए परिहारविसुद्धियसंजए सुहुमसंपरायसंजए अहक्खायसंजए ।

[१ प्र.] भगवन् ! संयत कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! संयत पांच प्रकार के कहे हैं । यथा-(१) सामायिक-संयत, (२) छेदोपस्थापनिक-संयत (३) परिहारविशुद्धि-संयत (४) सूक्ष्मसम्पराय-संयत और (५) यथाख्यात-संयत ।

२. सामाइयसंजए णं भंते ! कतिविधे पन्नत्ते ?

गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—इत्तिरिए य, आवकहिए य ।

[२ प्र.] भगवन् ! सामायिक-संयत कितने प्रकार का कहा है ?

[२ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—इत्वरिक और यावत्कथिक ।

३. छेदोवट्ठावणियसंजए णं० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—सातियारे य, निरतियारे य ।

[३ प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनिक-संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

[३ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—सातिचार और निरतिचार ।

४. परिहारविसुद्धियसंजए० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—णिव्विसमाणए य, निव्विट्ठकाइए य ।

[४ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिक-संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

[४ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—निर्विशमानक और निर्विष्टकायिक ।

५. सुहुमसंपराग० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—संकिलिस्समाणए य, विसुज्झमाणए य ।

[५ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्पराय-संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

[५ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा संक्लिश्यमानक और विशुद्धयमानक ।

६. अहक्खायसंजए० पुच्छा ।

गोयमा ! दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—छउमत्थे य, केवली य ।

[६ प्र.] भगवन् ! यथाख्यात-संयत कितने प्रकार का कहा गया है ?

[६ उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है । यथा—छद्मस्थ और केवली ।

संयत-स्वरूप

७. सामाइयम्मि उ कए चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं ।
तिविहेण फासयंतो सामाइयसंजयो स खलु ॥१॥

८. छेत्तूण य परियागं पोराणं जो ठवेइ अप्पाणं ।
धम्मम्मि पंचजामे छेदोवट्ठावणो स खलु ॥२॥

९. परिहरति जो विसुद्धं तु पंचजामं अणुत्तरं धम्मं ।
तिविहेण फासयंतो परिहारियसंजयो स खलु ॥३॥

१०. लोभाणु वेदेंतो जो खलु उवसामओ व खवओ वा ।
सो सुहुमसंपराओ अहखाया ऊणओ किंचि ॥४॥

११. उवसंते खीणम्मि व जो खलु कम्मम्मि मोहणिज्जम्मि ।
छउमत्थो व जिणो वा अहखाओ संजओ स खलु ॥५॥ [दारं १] ।

सामायिक-चारित्र को अंगीकार करने के पश्चात् चातुर्याम-(चार महाव्रत-) रूप अनुत्तर (प्रधान) धर्म का जो मन, वचन और काया से त्रिविध (तीन करण से) पालन करता है, वह 'सामायिक-संयत' कहलाता है ॥ १ ॥

प्राचीन (पूर्व) पर्याय को छेद करके जो अपनी आत्मा को पंचयाम-(पंचमहाव्रत-) रूप धर्म में स्थापित करता है, वह 'छेदोपस्थापनीय-संयत' कहलाता है ॥२॥

जो पंचमहाव्रतरूप अनुत्तर धर्म को मन, वचन और काया से त्रिविध पालन करता हुआ (अमुक) आत्म-विशुद्धि (कारक तपश्चर्या) धारण करता है, वह परिहारविशुद्धिक-संयत कहलाता है ॥३॥

जो सूक्ष्म लोभ का वेदन करता हुआ (चारित्रमोहनीय कर्म का) उपशमक (उपशमकर्त्ता) होता है, अथवा क्षपक (क्षयकर्ता) होता है, वह सूक्ष्मसम्पराय-संयत होता है । यह यथाख्यात-संयत से कुछ हीन होता है ॥ ४ ॥

मोहनीय कर्म के उपशान्त या क्षीण हो जाने पर जो छद्मस्थ या जिन होता है, वह यथाख्यात-संयत कहलाता है ॥ ५ ॥ [प्रथम द्वार]

विवेचन—पंचविध संयत : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण—शास्त्र में चारित्र के सामायिक आदि ५ भेद बताए हैं । अतः जो सामायिक आदि चारित्रों के पालक हैं, वे सामायिक आदि 'संयत' कहलाते हैं । सामायिक का प्रस्तुत में अर्थ है—सामायिक नामक चारित्र-विशेष, उससे युक्त अथवा वह जिसमें प्रधान रूप से है, वह संयमी पुरुष सामायिकसंयत कहलाता है । सामायिकचारित्री दो प्रकार के होते हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक । इत्वर का अर्थ है—अल्पकाल । चारित्र (दीक्षा) ग्रहण करने के बाद भविष्य में उक्त (नव) दीक्षित साधु में जब तक महाव्रतों का आरोपण नहीं होता तब तक तथा

छेदोपस्थापनीय संयतत्व का व्यवहार किया जाता है, अर्थात् उसे इत्वरिक सामायिक-संयत कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के शासन (तीर्थ) में उक्त नवदीक्षित साधु के इत्वरकालिक सामायिक समझनी चाहिए। परम्परा से यह जघन्य ७ दिन, मध्यम ४ मास और उत्कृष्ट ६ मास की (कच्ची दीक्षा) होती है। यावज्जीवन की सामायिक यावत्कथिक सामायिक कहलाती है। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् से अतिरिक्त मध्य के २२ तीर्थंकरों एवं महाविदेह क्षेत्र के २० विहरमान तीर्थंकरों के तीर्थ में सामायिक चारित्र लेने के पश्चात् पुनः दूसरा व्यपदेश नहीं होता। अतएव वे यावत्कथिक सामायिक-संयत ही कहलाते हैं।

जिस चारित्र में पूर्वपर्याय का छेद और महाव्रतों का उपस्थापन (आरोपण) होता है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। यह चारित्र भरतक्षेत्र और ऐरवतक्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है। मध्यवर्ती तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता। इसके दो भेद हैं— सातिचार और निरतिचार। इत्वर-सामायिक वाले साधु के तथा एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधु के जो महाव्रतों का आरोपण होता है, वह निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।

मूलगुणों का घात करने वाले साधु का पुनः महाव्रतों में आरोपण होता है, वह सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र है।[1]

जिस चारित्र में परिहार (तप-विशेष) से कर्मनिर्जरारूप शुद्धि होती है, उसे **'परिहारविशुद्धि चारित्र'** कहते हैं। इसे अंगीकार करने वाले साधुगण **'परिहारविशुद्धिक-संयत'** कहलाते हैं। नौ साधुओं का गण गुरु-आज्ञा से आत्मशुद्धि के हेतु परिहारविशुद्धि चारित्र अंगीकार करता है। उन नौ साधुओं में से चार साधु ६ मास तक तप करते हैं, चार साधु सबकी वैयावृत्य करते हैं और एक साधु व्याख्यान वांचता है। दूसरे छह मास में ४ वैयावच्ची मुनि तप करते हैं और तप करने वाले वैयावृत्य करते हैं तथा एक साधु व्याख्यान वांचता है। तीसरे छह मास में उक्त व्याख्यानी साधु तप करता है, एक व्याख्यान वांचता है और सात साधु सबकी वैयावृत्य करते हैं। तपश्चर्या में ग्रीष्मऋतु में एकान्तर उपवास, शीतऋतु में छट्ठ-छट्ठ (बेले-बेले) उपवास और चौमासे में अट्ठम-अट्ठम (तेले-तेले) उपवास करते हैं। इस प्रकार १८ मास तप करके जिनकल्पी बन जाते हैं अथवा पुनः गुरुकुलवास स्वीकार करते हैं।[2]

जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय (संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश) ही शेष रहता है, उसे सूक्ष्म-सम्परायचारित्र कहते हैं। इसके संक्लिश्यमानक और विशुद्धयमानक, ये दो भेद हैं। उपशमश्रेणी से गिरते हुए मुनि के परिणाम संक्लेशसहित होते हैं, इसलिए उसका चारित्र संक्लिश्यमान-सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहलाता है। क्षपकश्रेणी या उपशमश्रेणी पर आरूढ होने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर विशुद्ध रहने से उसका चारित्र विशुद्धयमान-सूक्ष्मसम्परायचारित्र कहलाता है। ऐसे चारित्र से युक्त मुनि को 'सूक्ष्मसम्परायसंयत' कहते हैं।

कषाय का सर्वथा उदय न होने से अतिचार-रहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र यथाख्यातचारित्र अथवा अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र यथाख्यातचारित्र कहलाता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९०९. (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४३६

२. (क) वही, भा. ३५३७

यथाख्यातचारित्र के छद्मस्थ और केवली ये दो भेद हैं। छद्मस्थ यथाख्यातचारित्र के उपशान्तमोह और क्षीणमोह अथवा प्रतिपाती और अप्रतिपाती, ये दो भेद होते हैं। केवली-यथाख्यातचारित्र के दो भेद हैं—सयोगीकेवली का और अयोगीकेवली का। यथाख्यातचारित्र से युक्त साधु यथाख्यातसंयत कहलाता है।[1]

द्वितीय वेदद्वार : पंचविध संयतों में सवेदी-अवेदी प्ररूपणा

१२. सामाइयसंजये णं भंते ! किं सवेयए होज्जा, अवेयए होज्जा ?

गोयमा [सवेयए वा होज्जा, अवेयए वा होज्जा। जति सवेयए एवं जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० २४) तहेव निरवसेसं।

[१२ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत सवेदी होता है या अवेदी ?

[१२ उ.] गौतम ! वह सवेदी भी होता है, अवेदी भी। यदि वह सवेदी होता है, आदि सभी कथन (उ. ६, सू. १४ में कथित) कषायकुशील की वक्तव्यता के अनुसार कहना चाहिए।

१३. एवं छेदोवट्ठावणियसंजए वि।

[१३] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी जानना चाहिए।

१४. परिहारविसुद्धियसंजओ जहा पुलाओ (उ० ६ सु० ११)।

[१४] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन (उ. ६ सू. ११ में उक्त) पुलाक के समान है।

१५. सुहुमसंपरायसंजओ अहक्खायसंजओ य जहा नियंठो (उ० ६ सु० १५)। [दारं २]।

[१५] सूक्ष्मसम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६ सू. १५ में उक्त) निर्ग्रन्थ के समान है। [द्वितीय द्वार]

विवेचन—पंचविध संयतों में सवेदी-अवेदी—सामायिकसंयत सवेदी भी होते हैं और अवेदी भी। सामायिक चारित्र नौवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। नौवें गुणस्थान में तो वेद का उपशम या क्षय हो जाता है, इसलिए वहाँ सामायिक-चारित्री अवेदी होता है। या तो वह उपशान्तवेदी होता है या फिर क्षीणवेदी। नौवें गुणस्थान से पूर्व वह सवेदी होता है। उसमें तीनों ही वेद पाये जाते हैं। छेदोपस्थापनीयसंयत में भी इसी प्रकार समझना चाहिए। परिहारविशुद्धिसंयत, पुलाक के समान पुरुषवेदी या पुरुष-नपुंसकवेदी होता है। किन्तु सूक्ष्मसम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत, दोनों ही क्रमशः उपशान्तवेदी एवं क्षीणवेदी होने से अवेदी होते हैं।[2]

तृतीय रागद्वार : पंचविध संयतों में सरागता-वीतरागता-निरूपण

१६. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सरागे होज्जा, वीयरागे होज्जा ?

गोयमा ! सरागे होज्जा, नो वीयरागे होज्जा।

[१६ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत सराग होता है या वीतराग ?

[१६ उ.] गौतम ! वह सराग होता है, वीतराग नहीं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१०   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४३६

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९११

१७. एवं सुहुमसंपरायसंजए।

[१७] इसी प्रकार यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत-पर्यन्त कहना चाहिए।

१८. अहक्खायसंजए जहा नियंठे (उ० ६ सु० १९)। [दारं ३]।

[१८] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६ सू. १९ में कथित) निर्ग्रन्थ के समान जानना चाहिए। [तृतीय द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—सामायिकसंयत आदि चार प्रकार के संयत सरागी होते हैं, अन्तिम यथाख्यातसंयत वीतरागी होता है।

चतुर्थ कल्पद्वार : पंचविध संयतों में स्थितकल्पादि प्ररूपणा

१९. सामाइयसंजए णं भंते ! किं ठियकप्पे होज्जा, अठियकप्पे होज्जा ?

गोयमा ! ठियकप्पे वा होज्जा, अठियकप्पे वा होज्जा।

[१९ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत स्थितकल्प में होता है या अस्थितकल्प में ?

[१९ उ.] गौतम ! वह स्थितकल्प में भी होता है और अस्थितकल्प में भी।

२०. छेदोवट्ठावणियसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! ठियकप्पे होज्जा, नो अठियकप्पे होज्जा।

[२० प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनिकसंयत स्थितकल्प में होता है या अस्थितकल्प में ?

[२० उ.] गौतम ! वह स्थितकल्प में होता है, अस्थितकल्प में नहीं।

२१. एवं परिहारविसुद्धियसंजए वि।

[२१] इसी प्रकार परिहारविशुद्धिकसंयत के विषय में भी समझना चाहिए।

२२. सेसा जहा सामाइयसंजए।

[२२] शेष दो—सूक्ष्मसम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत का कथन सामायिकसंयत के समान जानना चाहिए।

२३. सामाइयसंजए णं भंते ! किं जिणकप्पे होज्जा, थेरकप्पे होज्जा, कप्पातीते होज्जा ?

गोयमा ! जिणकप्पे वा होज्जा जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० २६) तहेव निरवसेसं।

[२३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत जिनकल्प में होता है, स्थविरकल्प में होता है या कल्पातीत में होता है ?

[२३ उ.] गौतम ! वह जिनकल्प में होता है, इत्यादि समग्र कथन (उ. ६ सू. २६ में उक्त) कषायकुशील के समान जानना चाहिए।

२४. छेदोवट्ठावणिओ परिहारविसुद्धिओ य जहा बउसो (उ० ६ सु० २४)।

[२४] छेदोपस्थापनिक और परिहार-विशुद्धिक-संयत में सम्बन्ध में (उ. ६, सू. २४ में उक्त) बकुश के समान वक्तव्यता जानना।

२५. सेसा जहा नियंठे (उ० ६ सु० २७) [दारं ४]।

[२५] शेष दो—सूक्ष्मसम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत का कथन (उ.६, सू. २७ में उक्त) 'निर्ग्रन्थ' के समान समझना चाहिए। [चतुर्थ द्वार]

विवेचन—अस्थितकल्प और स्थितकल्प—मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के तीर्थ में और महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के तीर्थ में अस्थितकल्प होता है। वहाँ छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिचारित्र नहीं होता, इसलिए छेदोपस्थापनीयसंयत और परिहारविशुद्धिकसंयत अस्थितकल्प में नहीं होते।[1]

पंचम चारित्रद्वार : पंचविध संयतों में पुलाकादि-प्ररूपणा

२६. सामाइयसंजए णं भंते ! किं पुलाए होज्जा, बउसे जाव सिणाए होज्जा ?

गोयमा ! पुलाए वा होज्जा, बउसे जाव कसायकुसीले वा होज्जा, नो नियंठे होज्जा, नो सिणाए होज्जा।

[२६ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत पलाक होता है, अथवा बकुश, यावत् स्नातक होता है ?

[२६ उ.] गौतम ! वह पुलाक, बकुश यावत् कषायकुशील होता है, किन्तु न तो 'निर्ग्रन्थ' होता है, और न स्नातक।

२७. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[२७] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय के विषय में जानना चाहिए।

२८. परिहारविसुद्धियसंजते णं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! नो पुलाए, नो बउसे, नो पडिसेवणाकुसीले होज्जा, कसायकुसीले होज्जा, नो नियंठे होज्जा, नो सिणाए होज्जा।

[२८ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत क्या पुलाक होता है, यावत् स्नातक होता है ?

[२८ उ.] गौतम ! वह पुलाक, बकुश प्रतिसेवनाकुशील, निर्ग्रन्थ या स्नातक नहीं होता, किन्तु कषायकुशील होता है।

२९. एवं सुहुमसंपराए वि।

[२९] इसी प्रकार सूक्ष्मसम्परायसंयत के विषय में भी समझना चाहिए।

३०. अहक्खायसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! नो पुलाए होज्जा, जाव नो कसायकुसीले होज्जा, नियंठे वा होज्जा, सिणाए वा होज्जा। [दारं ५]।

[३० प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत क्या पुलाक यावत् स्नातक होता है ?

[३० उ.] गौतम ! वह पुलाक यावत् कषायकुशील नहीं होता, किन्तु निर्ग्रन्थ या स्नातक होता है। [पंचमद्वार]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९११

विवेचन—चारित्रद्वार में पुलाकादि का कथन क्यों ?—सामायिक से लेकर यथाख्यात तक अपने आप में चारित्र ही है, किन्तु पुलाकादि का कथन चारित्रद्वार में करने का कारण यह है कि पुलाक आदि का परिणाम चारित्ररूप ही है।[1]

छठा प्रतिसेवनाद्वार : पंचविध संयतों में प्रतिसेवन-अप्रतिसेवनप्ररूपणा

३१. [१] सामाइयसंजए णं भंते ! किं पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा ?

गोयमा ! पडिसेवए वा होज्जा, अपडिसेवए वा होज्जा।

[३१-१ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?

[३१-१ उ.] गौतम ! वह प्रतिसेवी भी होता है और अप्रतिसेवी भी।

[२] जइ पडिसेवए होज्जा किं मूलगुणपडिसेवए होज्जा० ?

सेसं जहा पुलागस्स (उ० ६ सु० ३५ [२])।

[३१-२ प्र.] भगवन् ! यदि वह प्रतिसेवी होता है तो क्या मूलगुणप्रतिसेवी होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[३१-२ उ.] गौतम ! इस विषय में अवशिष्ट समग्र कथन (उ. ६, सू. ३५-२ में उक्त) पुलाक ने समान जानना चाहिए।

३२. जहा सामाइयसंजए एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[३२] सामायिकसंयत के समान छेदोपस्थापनिकसंयत का कथन जानना चाहिए।

३३. परिहारविसुद्धियसंजए० पुच्छा।

गोतमा ! नो पडिसेवए होज्जा, अपडिसेवए होज्जा।

[३३ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत प्रतिसेवी होता है या अप्रतिसेवी ?

[३३ उ.] गौतम ! वह प्रतिसेवी नहीं होता, अप्रतिसेवी होता है।

३४. एवं जाव अहक्खायसंजए। [दारं ६]।

[३४] इसी प्रकार यावत् यथाख्यातसंयत तक कहना चाहिए। [छठा द्वार]

विवेचन—सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयत प्रतिसेवी भी होते हैं और अप्रतिसेवी भी, किन्तु परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत अप्रतिसेवी ही होते हैं।

सप्तम ज्ञानद्वार : पंचविध संयतों में ज्ञान और श्रुताध्ययन की प्ररूपणा

३५. सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु नाणेसु होज्जा ?

गोयमा ! दोसु वा, तिसु वा, चतुसु वा नाणेसु होज्जा। एवं जहा कसायकुसीलस्स (उ० ६ सु० ४४) तहेव चत्तारि नाणाइं भयणाए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९११

[३५ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत में कितने ज्ञान होते हैं ?

[३५ उ.] गौतम ! उसमें दो, तीन या चार ज्ञान होते हैं। इस प्रकार जैसे (उ. ६, सू. ४४ में उक्त) कषायकुशील में कहा है, वैसे ही यहाँ चार ज्ञान भजना (विकल्प) से समझने चाहिए।

३६. एवं जाव सुहुमसंपराए।

[३६] इसी प्रकार यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत तक जानना चाहिए।

३७. अहक्खायसंजतस्स पंच नाणाइं भयणाए जहा नाणुद्देसए (स० ८ उ० २ सु० १०६)।

[३७] यथाख्यातसंयत में ज्ञानोद्देशक (शतक ८, उ. २) के अनुसार पांच ज्ञान विकल्प (भजना) से होते हैं।

३८. सामाइयसंजते णं भंते ! केवतियं सुयं अहिज्जेज्जा ?

गोयमा जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० ५०)।

[३८ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?

[३८ उ.] गौतम ! वह जघन्य आठ प्रवचनमाता का अध्ययन करता है, इत्यादि (उ. ६, सू. ५० में उक्त) कषायकुशील के वर्णन के समान जानना चाहिए।

३९. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[३९] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी कहना चाहिए।

४०. परिहारविसुद्धियसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं नवमस्स पुव्वस्स तइयं आयारवत्थु, उक्कोसेणं असंपुण्णाइं दस पुव्वाइं अहिज्जेज्जा।

[४० प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?

[४० उ.] गौतम ! वह जघन्य नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु तक तथा उत्कृष्ट दस पूर्व असम्पूर्ण तक अध्ययन करता है।

४१. सुहुमसंपरायसंजए जहा सामाइयसंजए।

[४१] सूक्ष्मसम्परायसंयत की वक्तव्यता सामायिकसंयत के समान जानना।

४२. अहक्खायसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अट्ठ पवयणमायाओ, उक्कोसेणं चोद्दसपुव्वाइं अहिज्जेज्जा, सुतवतिरित्ते वा होज्जा। [दारं ७]।

[४२ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत कितने श्रुत का अध्ययन करता है ?

[४२ उ.] गौतम ! वह जघन्य अष्ट प्रवचनमाता का और उत्कृष्ट चौदहपूर्व तक का अध्ययन करता है अथवा वह श्रुतव्यतिरिक्त (केवली) होता है। [सप्तम द्वार]

विवेचन—यथाख्यातसंयत में पांच ज्ञान विकल्प से : क्यों और कैसे ?—यथाख्यातसंयत में पांच ज्ञान भजना से इसलिए कहे गए हैं कि यथाख्यातसंयत दो प्रकार के होते हैं—केवली और छद्मस्थ। केवली यथाख्यातसंयत में एकमात्र केवलज्ञान ही होता है। किन्तु छद्मस्थ यथाख्यातसंयत में दो, तीन या चार ज्ञान होते हैं। इसके लिए आठवें शतक के द्वितीय उद्देशक (के सू. १०६) का अतिदेश किया गया है।[1]

यथाख्यातसंयत का श्रुताध्ययन—यथाख्यातसंयत यदि 'निर्ग्रन्थ' होते हैं तो उनके जघन्य अष्ट प्रवचनमाता का और उत्कृष्ट चौदह पूर्व का श्रुत पढ़ा हुआ होता है। यदि वे स्नातक होते हैं तो वे श्रुतातीत-केवली होते हैं।[2]

अष्टम तीर्थद्वार : पंचविध संयतों में तीर्थ-अतीर्थ-प्ररूपणा

४३. सामाइयसंजए णं भंते ! किं तित्थे होज्जा, अतित्थे होज्जा ?

गोयमा ! तित्थे वा होज्जा, अतित्थे वा होज्जा जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० ५५)।

[४३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत तीर्थ में होता है अथवा अतीर्थ में ?

[४३ उ.] गौतम ! वह तीर्थ में भी होता है और अतीर्थ में भी, इत्यादि सब वर्णन (उ. ६, सू. ५५ में कथित) कषायकुशील के समान कहना चाहिए।

४४. छेदोवट्ठावणिए परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए (उ० ६ सु० ५३)।

[४४] छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन (उ. ६, सू. ५३ में उक्त) पुलाक के समान जानना चाहिए।

४५. सेसा जहा सामाइयसंजए। [दारं ८]।

[४५] शेष सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत की वक्तव्यता सामायिकसंयत के समान जानना जाहिए। [आठवाँ द्वार]

विवेचन—सामायिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत तीर्थ और अतीर्थ दोनों में होते हैं। तीर्थंकर के तीर्थ का विच्छेद हो जाने पर दूसरे साधु अतीर्थ में होते हैं तथा कई तीर्थंकर या प्रत्येक बुद्ध तीर्थ के विना सामायिकचारित्र का पालन करते हैं। वे भी अतीर्थ में होते हैं। छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिक संयत तीर्थ में होते हैं।

नौवाँ लिंगद्वार : पंचविध संयतों में स्व-अन्य-गृहिलिंग-प्ररूपणा

४६. सामाइयसंजए णं भंते [किं सलिंगे होज्जा, अन्नलिंगे होज्जा, गिहिलिंगे होज्जा ?

जहा पुलाए (उ० ६ सु० ५८)।

[४६ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत स्वलिंग में होता है, अन्य लिंग में या गृहस्थलिंग में होता है ?

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९११

२. वही, पत्र ९११

[४६ उ.] गौतम ! इसका सभी कथन (उ. ६, सू. ४८ में उक्त) पुलाक के समान जानना।

४७. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[४७] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी जानना चाहिए।

४८. परिहारविसुद्धियसंजए णं भंते ! कि० पुच्छा।

गोयमा ! दव्वलिंगं पि भावलिंगं पि पडुच्च सलिंगे होज्जा, नो अन्नलिंगे होज्जा, नो गिहिलिंगे होज्जा।

[४८ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत स्वलिंग में होता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४८ उ.] गौतम ! वह द्रव्यलिंग और भावलिंग की अपेक्षा स्वलिंग में ही होता है, अन्यलिंग या गृहस्थलिंग में नहीं होता।

४९, सेसा जहा सामाइयसंजए। [दारं ९]।

[४९] शेष (सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत का) कथन सामायिकसंयत के समान जानना चाहिए। [नौवाँ द्वार]

विवेचन—सामायिकसंयत, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत सम्बन्धी लिंग-विषयक प्रश्न में पुलाक का अतिदेश किया गया है, परिहारविशुद्धिकसंयत द्रव्य-भावलिंग की अपेक्षा स्वलिंग में ही होता है।

दसवाँ शरीरद्वार : पंचविध संयतों में शरीरभेद-प्ररूपणा

५०. सामाइयसंजए णं भंते ! कतिसु सरीरेसु होज्जा ?

गोयमा ! तिसु वा चतुसु वा पंचसु वा जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० ६३)।

[५० प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितने शरीरों में होता है ?

[५० उ.] गौतम ! वह तीन, चार या पांच शरीरों में होता है, इत्यादि सब कथन (उ. ६, सू. ६३ में उक्त) कषायकुशील के समान जानना चाहिये।

५१. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[५१] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी जानना चाहिए।

५२. सेसा जहा पुलाए (उ० ६ सु० ६०)। [दारं १०]।

[५२] शेष परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत का शरीर-विषयक कथन (उ. ६ सू. ६० में कथित) पुलाक के समान जानना। [दसवाँ द्वार]

ग्यारहवाँ क्षेत्रद्वार : पंचविध संयतों में कर्म-अकर्मभूमि की प्ररूपणा

५३. सामाइयसंजए णं भंते ! किं कम्मभूमीए होज्जा, अकम्मभूमीए होज्जा ?

गोयमा ! जम्मणं संतिभावं च पडुच्च जहा बउसे (उ० ६ सु० ६६)।

[५३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कर्मभूमि में होता है या अकर्मभूमि में ?

[५३ उ.] गौतम ! जन्म और सद्भाव की अपेक्षा से (वह कर्मभूमि में होता है, अकर्मभूमि में नहीं, इत्यादि सब कथन उ. ६, सू. ६६ में कथित) बकुश के समान जानना चाहिए।

५४. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[५४] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय संयत का कथन है।

५५. परिहारविसुद्धिए य जहा पुलाए (उ० ६ सु० ६५)।

[५५] परिहारविशुद्धिक संयत के विषय में (उ. ६, सू. ६५ में उक्त) पुलाक के समान जानना।

५६. सेसा जहा सामाइयसंजए। [दारं ११]।

[५६] शेष (सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत) के विषय में सामायिकसंयत के समान जानना। [ग्यारहवाँ द्वार]

बारहवाँ कालद्वार : पंचविध संयतों में अवसर्पिणीकालादि की प्ररूपणा

५७. सामाइयसंजए णं भंते! किं ओसप्पिणिकाले होज्जा, उस्सप्पिणिकाले होज्जा, नोओसप्पिणि-नोउस्सप्पिणिकाले होज्जा?

गोयमा! ओसप्पिणिकाले जहा बउसे (उ० ६ सु० ६९)।

[५७ प्र.] भगवन्! सामायिकसंयत अवसर्पिणीकाल में होता है, उत्सर्पिणीकाल में होता है, या नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में होता है?

[५७ उ.] गौतम! वह अवसर्पिणीकाल में होता है, इत्यादि सब कथन (उ. ६ सू. ६९ में उक्त) बकुश के समान है।

५८. एवं छेदोवट्ठावणिए वि, नवरं जम्मण-संतिभावं पडुच्च चउसु वि पलिभागेसु नत्थि, साहरणं पडुच्च अन्नयरे पलिभागे होज्जा। सेसं तं चेव।

[५८] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी समझना चाहिए। विशेष यह है कि जन्म और सद्भाव की अपेक्षा चारों पलिभागों (सुषम-सुषमा, सुषमा, सुषम-दुःषमा और दुःषम-सुषमा) में नहीं होता, संहरण की अपेक्षा किसी भी पालिभाग में होता है। शेष पूर्ववत् है।

५९. [१] परिहारविसुद्धिए० पुच्छा।

गोयमा! ओसप्पिणिकाले वा होज्जा, उस्सप्पिणिकाले वा होज्जा, नोओसप्पिणि-नोउस्सप्पिणिकाले नो होज्जा।

[५९-१ प्र.] भगवन्! परिहारविशुद्धिकसंयत अवसर्पिणीकाल में होता है? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[५९-१ उ.] गौतम! वह अवसर्पिणीकाल में होता है, उत्सर्पिणीकाल में भी होता है, किन्तु नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणीकाल में नहीं होता।

[२] जदि ओसप्पिणिकाले होज्जा जहा पुलाओ (उ० ६ सु० ६८ [२])।

[५९-२] यदि अवसर्पिणीकाल में होता है, तो (उ. ६, सूत्र ६८-२ में कहे अनुसार) पुलाक के समान होता है।

[३] उस्सप्पिणिकाले वि जहा पुलाओ (उ० ६ सु० ६८ [३])।

[५९-३] उत्सर्पिणीकाल में होता है, तो (उ. ६, सू. ६८-३ में कहे अनुसार) पुलाक के समान होता है।

६०. सुहुमसंपराओ जहा नियंठो (उ० ६ सु० ७२)।

[६०] सूक्ष्मसम्परायसंयत का कथन (उ. ६, सू. ७२ के अनुसार) निर्ग्रन्थ के समान समझना चाहिए।

६१. एवं अहक्खाओ वि [दारं १२]।

[६१] इसी प्रकार यथाख्यातसंयत का (काल-विषयक कथन) निर्ग्रन्थ के समान जानना।

विवेचन—स्पष्टीकरण—सामायिकसंयत का काल बकुश के समान बताया गया है। अर्थात् अवसर्पिणीकाल के तीसरे, चौथे और पांचवें आरे में उसका जन्म और सद्भाव (संयम-विचरण) होता है तथा उत्सर्पिणीकाल के दूसरे, तीसरे और चौथे में उसका जन्म और तीसरे, चौथे आरे में उसका सद्भाव होता है। महाविदेहक्षेत्र में भी होता है। संहरण की अपेक्षा अन्य क्षेत्र (३० अकर्मभूमियों) में भी होता है। छेदोपस्थापनीयसंयत, सामायिकसंयतवत् जानना, किन्तु महाविदेहक्षेत्र में वह नहीं होता। परिहारविशुद्धिकसंयत का अवसर्पिणीकाल के तीसरे-चौथे आरे में एवं उत्सर्पिणीकाल के दूसरे-तीसरे आरे में जन्म और तीसरे-चौथे आरे में सद्भाव होता है। सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत का अवसर्पिणी के तीसरे-चौथे आरे में जन्म और सद्भाव तथा उत्सर्पिणीकाल के दूसरे-तीसरे-चौथे आरे में जन्म और तीसरे, चौथे आरे में सद्भाव होता है। यह महाविदेहक्षेत्र में भी होता है तथा इसका संहरण अन्यत्र भी होता है।[1]

सामायिकसंयत का नोअवसर्पिणी-नोउत्सर्पिणी के सुषमादि-समान तीन प्रकार के काल में (देवकुरु आदि में) बकुश के समान जन्म और सद्भाव का निषेध किया है तथा दुःषम-दुःषमा-समान काल में (महाविदेह क्षेत्र में) सद्भाव कहा है। छेदोपस्थापनीयसंयत का चारों पलिभाग में (अर्थात् देवकुरु आदि में) तथा महाविदेह क्षेत्र में निषेध किया है।[2]

तेरहवाँ गतिद्वार : पंचविध संयतों में गतिप्ररूपणादि

६२. [१] सामाइयसंजए णं भंते ! कालगते समाणे कं गतिं गच्छति ?

गोयमा ! देवगतिं गच्छति।

[६२-१ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कालधर्म (मृत्यु) प्राप्त कर किस गति में जाता है ?

[६२-१ उ.] गौतम ! वह देवगति में जाता है।

---

1. भगवती. उपक्रम, पृष्ठ ६३५
2. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१३

[२] देवगतिं गच्छमाणे किं भवणवासीसु उववज्जेज्जा जाव वेमाणिएसु उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! नो भवणवासीसु उववज्जेज्जा जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० ७६)

[६२-२ प्र.] भगवन् ! वह देवगति में जाता हुआ (सामायिकसंयत) भवनवासी, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों में से किन देवों में उत्पन्न होता है ?

[६२-२ उ.] गौतम ! वह (उ. ६, सू.७६ में कथित) कषायकुशील के समान भवनपति में उत्पन्न नहीं होता, इत्यादि सब कहना।

६३. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[६३] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी समझना चाहिए।

६४. परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए (उ० ६ सु० ७३)।

[६४] परिहारविशुद्धिकसंयत की गति (उ. ६, सू. ७३ में उल्लिखित) पुलाक के समान जानना चाहिए।

६५. सुहुमसंपराए जहा नियंठे (उ० ६ सु० ७६)।

[६५] सूक्ष्मसम्परायसंयत की गति (उ. ६, सू. ७७ में कथित) निर्ग्रन्थ के समान जानना चाहिए।

६६. अहक्खाते० पुच्छा।

गोयमा ! एवं अहक्खायसंजए वि जाव अजहन्नमणुक्कोसेणं अणुत्तरविमाणेसु उववज्जेज्जा, अत्थेगइए सिज्झति जाव अंतं करेति।

[६६ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत कालधर्म प्राप्त कर किस गति में जाता है ?

[६६ उ.] गौतम ! यथाख्यातसंयत भी पूर्वकथनानुसार अजघन्यानुत्कृष्ट अनुत्तरविमान में उत्पन्न होता है और कोई सिद्ध हो जाता है, यावत् सर्व दुःखों का अन्त करता है।

६७. सामाइयसंजए णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणे किं इंदत्ताए उववज्जति० पुच्छा।

गोयमा ! अविराहणं पडुच्च एवं जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० ८२)।

[६७ प्र.] भगवन् ! देवलोकों में उत्पन्न होता हुआ सामायिकसंयत क्या इन्द्ररूप से उत्पन्न होता है ? इत्यादि प्रश्न।

[६७ उ.] गौतम ! अविराधना की अपेक्षा (उ. ६, सू. ८२ में कथित) कषायकुशील के समान जानना।

६८. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[६८] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में जानना।

६९. परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए (उ० ६ सु० ७९)।

[६९] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन पुलाक के समान जानना चाहिए।

७०. सेसा जहा नियंठे (उ० ६ सु० ८३)।

[७०] शेष (सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत) के विषय में निर्ग्रन्थ के समान (उ. ६, सू. ८३ के अनुसार) जानना।

७१. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! देवलोगेसु उववज्जमाणस्स केवतियं कालं ठिती पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं दो पलियोवमाइं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।

[७१ प्र.] भगवन् ! देवलोक में उत्पन्न होते हुए सामायिकसंयत की कितने काल की स्थिति कही गई है ?

[७१ उ.] गौतम ! जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति कही है।

७२. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[७२] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत की स्थिति भी समझना चाहिए।

७३. परिहारविसुद्धियस्स पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं दो पलिओवमाइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमाइं।

[७३ प्र.] भगवन् ! देवलोक में उत्पन्न होते हुए परिहारविशुद्धिकसंयत की स्थिति कितने काल की होती है ?

[७३ उ.] गौतम ! उसकी स्थिति जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट अठारह सागरोपम की होती है।

७४. सेसाणं जहा नियंठस्स (उ० ६ सु० ८८)। [दारं १३]।

[७४] शेष दो संयतों (सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत) की स्थिति (उ.६, सू. ८८ में कथित) निर्ग्रन्थ के समान जानना चाहिए। [तेरहवाँ द्वार]

विवेचन—गति, उत्पत्ति और स्थिति—सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयत देवगति में वैमानिक देवों में जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट अनुत्तरविमान में उत्पन्न होते हैं तथा इन दोनों संयतों की स्थिति जघन्य दो पल्योपम और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है। परिहारविशुद्धि-संयत देवगति में, वैमानिक देवों में जघन्य सौधर्मकल्प में और उत्कृष्ट सहस्रार देवलोक में उत्पन्न होता है। सूक्ष्मसम्पराय देवगति में, वैमानिक देवों में अजघन्यानुत्कृष्ट अनुत्तरमविमान में उत्पन्न होते हैं, जिनकी स्थिति अजघन्यानुत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की होती है। यथाख्यातसंयत देवगति में वैमानिक देवों में अजघन्यानुष्कृष्ट अनुत्तरविमानों में उत्पन्न होते हैं, कोई-कोई सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होते हैं।[1]

चौदहवाँ संयमद्वार : पंचविध संयतों में अल्पबहुत्वसहित संयमस्थानप्ररूपण

७५. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवतिया संजमठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! असंखेज्जा संजमठाणा पन्नत्ता।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.) भा. २, पृ. १०४७-१०४८

[७५ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत के कितने संयमस्थान कहे हैं ?
[७५ उ.] गौतम ! उसके असंख्येय संयमस्थान कहे हैं।

७६. एवं जाव परिहारविसुद्धियस्स।

[७६] इसी प्रकार यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत तक के संयमस्थान होते हैं।

७७. सुहुमसंपरायसंजयस्स० पुच्छा।

गोयमा ! असंखेज्जा अंतोमुहुत्तिया संजमठाणा पन्नत्ता।

[७७ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत के कितने संयमस्थान कहे हैं ?
[७७ उ.] गौतम ! उनके असंख्येय अन्तर्मुहूर्त के समय बराबर संयमस्थान कहे हैं ?

७८. अहक्खायसंजयस्स० पुच्छा।

गोयमा ! एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमठाणे।

[७८ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत के संयमस्थान कितने कहे हैं ?
[७८ उ.] गौतम ! अजघन्य-अनुत्कृष्ट एक ही संयमस्थान कहा है।

७९. एएसि णं भंते ! सामाइय-छेदोवट्ठावणिय-परिहारविसुद्धिय-सुहुमसंपराय-अहक्खाय-संजयाणं संजमठाणाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवे अहक्खायसंजयस्स एगे अजहन्नमणुक्कोसए संजमट्ठाणे, सुहुमसंपराग-संजयस्स अंतोमुहुत्तिया संजमठाणा असंखेज्जगुणा, परिहारविसुद्धियसंजयस्स संजमठाणा असंखेज्जगुणा, सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं संजमठाणा दोण्ह वि तुल्ला असंखेज्जगुणा। [दारं १४]।

[७९ प्र.] भगवन् ! सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयत, इनके संयमस्थानों में किसके संयमस्थान किस-किससे अल्प, बहुत, तुल्य अथवा विशेषाधिक हैं ?

[७९ उ.] गौतम ! इनमें से यथाख्यातसंयत का एक अजघन्यानुत्कृष्ट संयमस्थान है और वही सबसे अल्प है, उससे सूक्ष्मसम्परायसंयत के अन्तर्मुहूर्त्त-सम्बन्धी संयमस्थान असंख्यातगुणे हैं। उनसे परिहारविशुद्धिसंयत के संयमस्थान असंख्येयगुणे हैं। उनसे सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनीय-संयत (इन दोनों के) संयमस्थान तुल्य हैं और असंख्येयगुणे हैं। [चौदहवाँ द्वार]

विवेचन—संयमस्थान के अल्पबहुत्व का स्पष्टीकरण—सूक्ष्मसम्परायसंयत की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्तप्रमाण है। उसके चारित्रविशुद्धि के परिणाम समय-समय में विशिष्ट-विशिष्ट होने से असंख्यात होते हैं, किन्तु यथाख्यातसंयत का संयमस्थान तो एक ही होता है। संयमस्थान के अल्प-बहुत्व का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

असद्भावस्थापन से सभी संयमस्थान यदि २१ मान लिये जाएँ तो उनमें से सर्वोपरि जो एक है, वह यथाख्यातसंयत का संयमस्थान है। उसके पश्चात् सूक्ष्मसम्परायसंयत के ४ संयमस्थान हैं। वे उस एक की अपेक्षा असंख्येयगुणे समझने चाहिए। तदनन्तर परिहारविशुद्धिकसंयत के संयमस्थान

८ हैं। वे पहले वाले से असंख्यातगुणे समझने चाहिए। उसके वाद आते हैं सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयत के संयमस्थान, वे चार-चार समझने चाहिए, जो परस्पर तुल्य हैं और पूर्व से असंख्येयगुणे हैं।[1]

पन्द्रहवाँ निकर्ष (चारित्रपर्यव) द्वार : चारित्रपर्यव-प्ररूपणा

८०. सामाइयसंजतस्स णं भंते ! केवतिया चरित्तपज्जवा पन्नत्ता ?

गोयमा ! अणंता चरित्तपज्जवा पन्नत्ता।

[८० प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत के चारित्रपर्यव कितने कहे हैं ?
[८० उ.] गौतम ! उसके अनन्त चारित्रपर्यव कहे हैं।

८१. एवं जाव अहक्खायसंजयस्स।

[८१] इसी प्रकार यावत् यथाख्यातसंयत तक के चारित्रपर्यव के विषय में जानना चाहिए।

पंचविध संयतों में स्वस्थान-परस्थान-चारित्रपर्यवों की अपेक्षा हीन-तुल्य-अधिक प्ररूपणा

८२. सामाइयसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स सट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं किं हीणे, तुल्ले, अब्भहिए ?

गोयमा ! सिय हीणे०, छट्ठाणवडिए।

[८२ प्र.] भगवन् ! एक सामायिकसंयत, दूसरे सामायिकसंयत के स्वस्थानसन्निकर्ष (सजातीय चारित्रपर्यवों) की अपेक्षा क्या हीन होता है, तुल्य होता है अथवा अधिक होता है ?

[८२ उ.] गौतम ! वह कदाचित् हीन, कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक होता है। वह हीनाधिकता में षट्स्थानपतित होता है।

८३. सामाइयसंजए णं भंते ! छेदोवट्ठावणियसंजयस्स पराट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवेहिं० पुच्छा।

गोयमा ! सिय हीणे०, छट्ठाणवडिए।

[८३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनीयसंयत के परस्थानसन्निकर्ष (विजातीय चारित्रपर्यवों) की अपेक्षा क्या हीन, तुल्य या अधिक होता है।

[८३ उ.] गौतम ! वह भी कदाचित् तुल्य और कदाचित् अधिक होता है। वह भी हीनाधिकता में षट्स्थानपतित होता है।

८४. एवं परिहारविसुद्धियस्स वि।

[८४] इसी प्रकार परिहारविशुद्धिकसंयत के विषय में जानना चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१३

८५. सामाइयसंजए णं भंते ! सुहुमसंपरायसंजयस्स परट्ठाणसन्निगासेणं चरित्तपज्जवे० पुच्छा ।

गोयमा ! हीणे, नो तुल्ले, नो अब्भहिए; अणंतगुणहीणे ।

[८५ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत, सूक्ष्मसम्परायसंयत के परस्थानसन्निकर्ष की अपेक्षा क्या हीन, तुल्य या अधिक होता है ?

[८५ उ.] गौतम ! वह हीन होता है, किन्तु तुल्य या अधिक नहीं होता । वह अनन्तगुण-हीन होता है ।

८६. एवं अहक्खायसंजयस्स वि ।

[८६] इसी प्रकार यथाख्यातसंयत के विषय में जानना ।

८७. एवं छेदोवट्ठावणिए वि । हेट्ठिल्लेसु तिसु वि समं छट्ठाणवडिए, उवरिल्लेसु दोसु तहेव हीणे ।

[८७] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत भी नीचे के तीनों संयतों (परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्म-सम्पराय और यथाख्यात) के साथ षट्स्थानपतित होता है और ऊपर के दो संयतों के साथ उसी प्रकार अनन्तगुणहीन होता है ।

८८. जहा छेदोवट्ठावणिए तहा परिहारविसुद्धिए वि ।

[८८] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन छेदोपस्थापनीयसंयत के समान जानना चाहिए ।

८९. सुहुमसंपरागसंजए णं भंते ! सामाइयसंजयस्स परट्ठाण० पुच्छा ।

गोयमा ! नो हीणे, नो तुल्ले, अब्भहिए—अणंतगुणमब्भहिए ।

[८९ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत, सामायिकसंयत के परस्थानसन्निकर्ष (विजातीय चारित्रपर्यवों) की अपेक्षा हीन, तुल्य या अधिक होता है ?

[८९ उ.] गौतम ! वह हीन और तुल्य नहीं, किन्तु अधिक होता है, अनन्तगुण अधिक होता है ।

९०. एवं छेदोवट्ठावणिय-परिहारविसुद्धिएसु वि समं । सट्ठाणे सिय हीणे, नो तुल्ले, सिय अब्भहिए । जदि हीणे अणंतगुणहीणे । अह अब्भहिए अणंतगुणमब्भहिए ।

[९०] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धिकसंयत के साथ भी जानना । स्वस्थानसन्निकर्ष (अपने सजातीय चारित्रपर्यायों) की अपेक्षा से कदाचित् हीन और कदाचित् अधिक होते हैं, किन्तु तुल्य नहीं होते । यदि हीन होते हैं तो अनन्तगुण हीन और अधिक होते हैं तो अनन्त-गुण अधिक होते ।

९१. सुहुमसंपरायसंजयस्स अहक्खायसंजयस्स य परट्ठाण० पुच्छा ।

गोयमा ! हीणे, नो तुल्ले, नो अब्भहिए; अणंतगुणहीणे ।

[९१ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत, सामायिकसंयत के परस्थानसन्निकर्ष (विजातीय चारित्रपर्यवों) की अपेक्षा क्या हीन, तुल्य अथवा अधिक होता है ?

[९१ उ.] गौतम ! वह हीन होता है, किन्तु तुल्य या अधिक नहीं होता। वह अनन्तगुण हीन होता है।

९२. अहक्खाते हेट्ठिल्लाणं चउण्ह वि नो हीणे, नो तुल्ले, अब्भहिए—अणंतगुणमब्भहिए। सट्ठाणे नो हीणे, तुल्ले, नो अब्भहिए।

[९२] यथाख्यातसंयत नीचे के चार संयतों की अपेक्षा हीन भी नहीं तथा तुल्य भी नहीं; किन्तु अधिक होता है। वह अनन्तगुण अधिक होता है। स्वस्थानसन्निकर्ष (सजातीय) चारित्रपर्यवों की अपेक्षा वह हीन भी नहीं और अधिक भी नहीं, किन्तु तुल्य होता है।

९३. एएसि णं भंते ! सामाइय-छेदोवट्ठावणिय-परिहारविसुद्धिय-सुहुमसंपराय-अहक्खाय-संजयाणं जहन्नुक्कोसगाणं चरित्तपज्जवाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सामाइयसंजयस्स छेदोवट्ठावणियसंजयस्स य एएसि णं जहन्नगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला सव्वत्थोवा, परिहारविसुद्धियसंजयस्य जहन्नगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा, तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। सामाइयसंजयस्स छेओवट्ठावणियसंजयस्स य, एएसि णं उक्कोसगा चरित्तपज्जवा दोण्ह वि तुल्ला अणंतगुणा। सुहुमसंपरायसंजयस्स जहन्नगा चरिपज्जवा अणंतगुणा, तस्स चेव उक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। अहक्खायसंजयस्स अजहन्न-मणुक्कोसगा चरित्तपज्जवा अणंतगुणा। [दारं १५]।

[९३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत, छेदोपस्थापनीयसंयत परिहारविशुद्धिकसंयत, सूक्ष्म-सम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत; उनके जघन्य और उत्कृष्ट चारित्रपर्यवों में से किसके चारित्र-पर्यव किनसे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक हैं ?

[९६ उ.] गौतम ! सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनीयसंयत, इन दोनों के जघन्य चारित्र-पर्यव परस्पर तुल्य और सबसे अल्प हैं। उनसे परिहारविशुद्धिकसंयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुणे हैं। उनसे परिहारविशुद्धिक संयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुणे हैं। उनसे सामायिकसंयत और छेदोपस्थापनीयसंयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुणे हैं और परस्पर तुल्य हैं। उनसे सूक्ष्मसम्परायसंयत के जघन्य चारित्रपर्यव अनन्तगुणे हैं; उनसे सूक्ष्मसम्परायसंयत के उत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्तगुणे हैं। उनसे यथाख्यातसंयत के अजघन्य-अनुत्कृष्ट चारित्रपर्यव अनन्त-गुणे हैं। [पन्द्रहवाँ द्वार]

विवेचन—चारित्रपर्यवों की हीनाधिक-तुल्यता का कारण—सामायिकसंयत के संयमस्थान असंख्यात होते हैं। उनमें से जब एक संयत हीन शुद्धि वाला होता है और दूसरा संयत कुछ अधिक शुद्धि वाला होता है, तब उन दोनों सामायिकसंयतों में से एक (चारित्रपर्यवों से) हीन और दूसरा (चारित्रपर्यवों से) अधिक कहलाता है। इस हीनाधिकता में षट्स्थान-पतितता होती है। जब दोनों के संयमस्थान समान होते हैं तब तुल्यता होती है।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१३

सोलहवाँ योगद्वार : पंचविध संयतों में योग-प्ररूपणा

९४. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सजोगी होज्जा, अजोगी होज्जा ?

गोयमा ! सजोगी जहा पुलाए (उ० ६ सु० ११७)।

[९४ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत सयोगी होता है अथवा अयोगी ?

[९४ उ.] गौतम ! वह सयोगी होता है; इत्यादि सब कथन (उ. ६, सू. ११७ में उक्त) पुलाक के समान जानना चाहिए।

९५. एवं जाव सुहुमसंपरायसंजए।

[९५] इसी प्रकार यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत तक समझना चाहिए।

९६. अहक्खाए जहा सिणाए। (उ० ६ सु० १२०) [दारं १६]।

[९६] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १२० में कथित) स्नातक के समान है। [सोलहवाँ द्वार]

सत्तरहवाँ उपयोगद्वार : पंचविध संयतों में उपयोग-निरूपण

९७. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सागारोवउत्ते होज्जा, अणागारोवउत्ते होज्जा ?

गोयमा ! सागारोवउत्ते जहा पुलाए (उ० ६ सु० १२२)।

[९७ प्र.] भगवन् ! समायिकसंयत, साकारोपयोगयुक्त होता है अथवा अनाकारोपयोगयुक्त ?

[९७ उ.] गौतम ! वह साकारोपयोगयुक्त होता है, इत्यादि कथन पुलाक के समान जानना।

९८. एवं जाव अहक्खाए, नवरं सुहुमसंपराए सागारोवउत्ते होज्जा, नो अणागारोवउत्ते होज्जा [दारं १७]।

[९८] इसी प्रकार यावत् यथाख्यातसंयत-पर्यन्त कहना चाहिए; किन्तु सूक्ष्मसम्पराय केवल साकारोपयोग-युक्त ही होता है, अनाकारोपयोग-युक्त नहीं। [सत्तरहवाँ द्वार]

विवेचन—उपयोग : किसमें कौन सा ?—सामायिक आदि चार संयतों में साकारोपयोग और अनाकारोपयोग दोनों ही उपयोग होते हैं, किन्तु सूक्ष्मसम्परायसंयत में एकमात्र साकारोपयोग ही होता है; क्योंकि सूक्ष्मसम्परायसंयत साकारोपयोग में ही दसवें गुणस्थान में प्रविष्ट होता है और साकारोपयोग का समय पूर्ण होने से पूर्व ही वह दसवें गुणस्थान को छोड़ देता है। इस गुणस्थान का स्वभाव ही ऐसा है।[१]

अठारहवाँ कषायद्वार : पंचविध संयतों में कषाय-प्ररूपणा

९९. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सकसायी होज्जा, अकसायी होज्जा ?

गोयमा ! सकसायी होज्जा, नो अकसायी होज्जा, जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० १२९)।

---

१४. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१४

[९९ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत सकषायी होता है अथवा अकषायी ?

[९९ उ.] गौतम ! वह सकषाय होता है, अकषाय नहीं; इत्यादि (उ. ६, सू. १२९ में कथित) कषायकुशील के समान जानना चाहिए।

१००. एवं छेदोवट्ठावणिये वि।

[१००] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीय भी समझना।

१०१. परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए (उ० ६ सु० १२४)।

[१०१] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन (उ. ६, सू. १२४ में उक्त) पुलाक के समान है।

१०२. सुहुमसंपरागसंजए० पुच्छा।
गोयमा ! सकसायी होज्जा, नो अकसायी होज्जा।

[१०२ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत सकषाय होता है अथवा अकषाय ?
[१०२ उ.] गौतम ! वह सकषाय होता है, किन्तु अकषाय नहीं होता।

१०३. जदि सकसायी होज्जा, से णं भंते ! कतिसु कसाएसु होज्जा ?
गोयमा ! एगंसि संजलणे लोभे होज्जा।

[१०३ प्र.] भगवन् ! यदि वह सकषाय होता है तो उसमें कितने कषाय होते हैं ?
[१०३ उ.] गौतम ! उसमें एकमात्र संज्वलनलोभ होता है।

१०४. अहक्खायसंजए जहा नियंठे (उ० ६ सु० १३०)। [दारं १८]।

[१०४] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १३० में उक्त) निर्ग्रन्थ के समान है। [अठारहवां द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—यथाख्यातसंयत के सिवाय सभी संयत सकषाय होते हैं। सूक्ष्मसम्परायसंयत सकषाय तो होता है किन्तु उसमें एकमात्र संज्वलन लोभ होता है। यथाख्यातसंयत अकषाय होता है। उनमें कई उपशान्तकषाय होते हैं; कई क्षीणकषाय होते हैं।[1]

उन्नीसवाँ लेश्याद्वार : पंचविध संयतों में लेश्याप्ररूपण

१०५. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सलेस्से होज्जा, अलेस्से होज्जा ?
गोयमा ! सलेस्से होज्जा, जहा कसायकुसीले (उ० ६ सु० १३७)।

[१०५ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत सलेश्य होता है अथवा अलेश्य ?

[१०५ उ.] गौतम ! वह सलेश्य होता है, इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. १३७ में कथित) कषायकुशील के समान जानना।

१०६. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[१०६] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीसंयत के विषय में कहना चाहिए।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मू. पा. टि.), पृ. १०५१

१०७. परिहारविसुद्धिए जहा पुलाए (उ० ६ सु० १३३)।

[१०७] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन (उ. ६, सू. १३३ में उल्लिखित) पुलाक के समान है।

१०८. सुहुमसंपराए जहा नियंठे (उ० ६ सु० १३९)।

[१०८] सूक्ष्मसम्परायसंयत की वक्तव्यता (उ. ६, सू. १३९ में कथित) निर्ग्रन्थ के समान है।

१०९. अहक्खाए जहा सिणाए (उ० ६ सु० १४१), नवरं जइ सलेस्से होज्जा एगाए सुक्कलेसाए होज्जा। [दारं १९]।

[१०९] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १४१ में कथित) स्नातक के समान है। किन्तु यदि वह सलेश्य होता है तो एकमात्र शुक्ललेश्यी होता है। [उन्नीसवाँ द्वार]

विवेचन—निष्कर्ष—सामायिक से लेकर छेदोपस्थापनीयसंयत तक सलेश्यी होते हैं। परिहारविशुद्धिक पुलाकवत् तथा सूक्ष्मसम्पराय निर्ग्रन्थ के समान होते हैं। यथाख्यातसंयत का कथन स्नातक के समान है। वह सलेश्य भी होता है, अलेश्य भी। यदि सलेश्य होता है तो स्नातक परमशुक्ललेश्यायुक्त होता है, किन्तु यथाख्यातसंयत शुक्ललेश्या वाला ही होता है।[1]

बीसवाँ परिणामद्वार : वर्द्धमानादि-परिणाम-प्ररूपणा

११०. सामाइयसंजए णं भंते! किं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा, हायमाणपरिणामे, अवट्ठियपरिणामे?

गोयमा! वड्ढमाणपरिणामे, जहा पुलाए (उ० ६ सु० १४३)।

[११० प्र.] भगवन्! सामायिकसंयत वर्द्धमान परिणाम वाला होता है, हीयमान परिणाम वाला होता है, अथवा अवस्थित परिणाम वाला होता है?

[११० उ.] गौतम! वह वर्द्धमान परिणाम वाला होता है; इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. १३४ में कथित) पुलाक के समान जानना।

१११. एवं जहा परिहारविसुद्धिए।

[१११] इसी प्रकार यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत पर्यन्त कहना।

११२. सुहुमसंपराय० पुच्छा।

गोयमा! वड्ढमाणपरिणामे वा होज्जा, हायमाणपरिणामे वा होज्जा, नो अवट्ठियपरिणामे होज्जा।

[११२ प्र.] भगवन्! सूक्ष्मसम्परायसंयत वर्द्धमान परिणाम वाला होता है? इत्यादि प्रश्न।

[११२ उ.] गौतम! वह वर्द्धमान परिणाम वाला होता है या हीयमान परिमाण वाला होता है, किन्तु अवस्थित परिणाम वाला नहीं होता।

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ (मू. पा. टिप्पण युक्त), पृ. १०५१

११३. अहक्खाते जहा नियंठे (उ० ६ सु० १४५)।

[११३] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १४५ में कथित) निर्ग्रन्थ के समान है।

११४. सामाइयसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, जहा पुलाए (उ० ६ सु० १४७)।

[११४ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितने काल तक वर्द्धमान परिणामयुक्त रहता है ?

[११४ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक (वर्द्धमान परिणामयुक्त) रहता है, इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. १४७ में कथित) पुलाक के समान है।

११५. एवं जाव परिहारविसुद्धिए।

[११५] इसी प्रकार यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत तक कहना चाहिए।

११६. [१] सुहुमसंपरागसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[११६-१ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत कितने काल तक वर्द्धमान परिणामयुक्त रहता है ?

[११६-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त तक वर्द्धमान परिणाम वाला रहता है।

[२] केवतियं कालं हायमाणपरिणामे ?

एवं चेव।

[११६-२ प्र.] भगवन् ! वह कितने काल तक हीयमान परिणाम वाला रहता है ?

[११६-२ उ.] गौतम ! वह पूर्ववत् (जघन्य एक समय और उत्कृष्ट एक अन्तर्मुहूर्त्त तक) जानना चाहिए।

११७. [१] अहक्खातसंजए णं भंते ! केवतियं कालं वड्ढमाणपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं अंतोमुहुत्तं, उक्कोसेण वि अंतोमुहुत्तं।

[११७-१ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत कितने काल वर्द्धमान परिणाम वाला रहता है ?

[११७-१ उ.] गौतम ! वह जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक (वर्द्धमान परिणामी रहता है।)

[२] केवतियं कालं अवट्ठियपरिणामे होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणा पुव्वकोडी। [दारं २०]।

[११७-२ प्र.] वह कितने काल तक अवस्थितपरिणाम वाला होता है ?

[११७-२ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय तक और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटिवर्ष तक (अवस्थितपरिणामी रहता है।) [बीसवाँ द्वार]

विवेचन—सूक्ष्मसम्परायसंयत के परिणाम—सूक्ष्मसम्परायसंयत जब श्रेणी चढ़ते हैं तब वर्द्धमान परिणाम वाले होते हैं और जब श्रेणी से गिरते हैं तब हीयमान परिणाम वाले होते हैं। इस गुणस्थान का स्वभाव ही ऐसा होता है कि उसमें अवस्थित परिणाम नहीं होते। सूक्ष्मसम्परायसंयत का वर्द्धमान परिणाम जघन्य एक समय मृत्यु की अपेक्षा से होता है। वर्द्धमान परिणाम को प्राप्त करने के एक समय बाद ही उसका मरण हो जाए तो उसका जघन्य परिणाम होता है तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त वर्द्धमान परिणाम तो उस गुणस्थान की स्थिति ही है। इसी प्रकार हीयमान परिणाम के विषय में समझना चाहिए।

यथाख्यातसंयत के परिणाम—जो यथाख्यातसंयत केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं और जो शैलेशी अवस्था को प्राप्त होते हैं उनका वर्द्धमान परिणाम जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त होता है। उसके बाद उसका व्यवच्छेद हो जाता है। अवस्थित परिणाम जघन्य एक समय का उस अपेक्षा से घटित होता है, जबकि उपशम अवस्था की प्राप्ति के प्रथम समय के बाद ही उसका मरण हो जाए। उत्कृष्ट अवस्थित परिणाम देशोन पूर्वकोटि उस अपेक्षा से घटित होता है, जबकि पूर्वकोटिवर्ष की आयु वाला सातिरेक आठ वर्ष की आयु में संयम अंगीकार करके शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त कर ले।[1]

इक्कीसवाँ बन्धद्वार : कर्म-प्रकृति-बन्ध-प्ररूपणा

११८. सामाइयसंजए णं भंते ! कति कम्मपगडीओ बंधइ ?

गोयमा ! सत्तविहबंधए वा, अट्ठविहबंधए वा, एवं जहा बउसे (उ० ६ सु० १५२)।

[११८ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[११८ उ.] गौतम ! वह सात या आठ कर्मप्रकृतियों को बांधता है; इत्यादि (उ. ६, सू. १५२ में उल्लिखित) बकुश के समान जानना।

११९. एवं जाव परिहारविसुद्धिए।

[११९] इसी प्रकार यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत पर्यन्त कहना चाहिए।

१२०. सुहुमसंपरागसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! आउय-मोहणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ बंधइ।

[१२० प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधता है ?

[१२० उ.] गौतम ! वह आयुष्य और मोहनीय कर्म को छोड़ कर शेष छह कर्मप्रकृतियाँ बांधता है।

१२१. अहक्खायसंजए जहा सिणाए (उ० ६ सु० १५६)। [दारं २१]।

[१२१] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १५६ में सूचित) स्नातक के समान है। [इक्कीसवाँ द्वार]

विवेचन—सूक्ष्मसम्परायसंयत के ६ कर्मों का ही बन्ध क्यों ?—आयुष्यकर्म का बन्ध सातवें अप्रमत्त-गुणस्थान तक होता है। सूक्ष्मसम्परायसंयत दसवें गुणस्थानवर्ती होते हैं; इसलिए वे आयुष्य-

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१४

कर्म का बन्ध नहीं करते तथा बादर कषायों का उदय न होने से मोहनीयकर्म का बन्ध भी नहीं करते। अतः इन दो के अतिरिक्त शेष छह कर्मप्रकृतियों का बन्ध होता है।[1]

१२२. सामाइयसंजए णं भंते [कति कम्मप्पगडीओ वेदेति ?

गोयमा ! नियमं अट्ठ कम्मप्पगडीओ वेदेति।

[१२२ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१२२ उ.] गौतम ! वह नियम से आठ कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है।

१२३. एवं जाव सुहुमसंपरागे।

[१२३] इसी प्रकार यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत के विषय में जानना।

बाईसवाँ वेदनद्वार : कर्मप्रकृतिवेदन की प्ररूपणा

१२४. अहक्खाए० पुच्छा।

गोयमा ! सत्तविहवेदए वा, चउव्विहवेदए वा। सत्त वेदेमाणे मोहणिज्जवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ वेदेति। चत्तारि वेदेमाणे वेदणिज्जाऽऽउय-नाम-गोयाओ चत्तारि कम्मप्पगडीओ वेदेति। [दारं २२]।

[१२४ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है ?

[१२४ उ.] गौतम ! वह या तो सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है या फिर चार का वेदन करता है। यदि सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है तो मोहनीयकर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है। यदि चार का वेदन करता है तो वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र, इन चार कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है। [बाईसवाँ द्वार]

विवेचन—यथाख्यातसंयत के कर्मप्रकृतियों का वेदन—यथाख्यातसंयत के निर्ग्रन्थदशा में मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम हो जाने से वह मोहनीय को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों का वेदन करता है और स्नातक-अवस्था में चार घाती कर्मों (ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) का क्षय हो जाने से वह शेष चार अघाती कर्मों का ही वेदन करता है।[2]

तेईसवाँ कर्मोदीरणद्वार : कर्मों की उदीरणा की प्ररूपणा

१२५. सामाइयसंजए णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ उदीरेति ?

गोयमा ! सत्तविह० जहा बउसो (उ० ६ सु० १६२)।

[१२५ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है ?

[१२५ उ.] गौतम ! वह सात कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है; इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. १६२ में कथित) बकुश के समान जानना।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१५

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१५

१२६. एवं जाव परिहारविसुद्धिए।

[१२६] इसी प्रकार यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत पर्यन्त कहना चाहिए।

१२७. सुहुमसंपराए० पुच्छा।

गोयमा! छव्विहउदीरए वा, पंचविहउदीरए वा। छ उदीरेमाणे आउय-वेदणिज्जवज्जाओ छ कम्मप्पगडीओ उदीरेइ। पंच उदीरेमाणे आउय-वेयणिज्ज-मोहणिज्जवज्जाओ पंच कम्मप्पगडीओ उदीरेति।

[१२७ प्र.] भगवन्! सूक्ष्मसम्परायसंयत कितनी कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है?

[१२७ उ.] गौतम! वह छह या पांच कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है। यदि छह की उदीरणा करता है तो आयुष्य और वेदनीय को छोड़ कर शेष छह कर्मप्रकृतियों को उदीरता है; यदि वह पांच की उदीरणा करता है तो आयुष्य, वेदनीय और मोहनीय को छोड़ कर शेष पांच कर्मप्रकृतियों को उदीरता है।

१२८. अहक्खातसंजए० पुच्छा।

गोयमा! पंचविहउदीरए वा, दुविहउदीरए वा, अणुदीरए वा। पंच उदीरेमाणे आउय-वेदणिज्ज-मोहणिज्जवज्जाओ पंच उदीरेति। सेसं जहा नियंठस्स (उ० ६ सु० १६५)। [दारं २३]।

[१२८ प्र.] भगवन्! यथाख्यातसंयत कितनी कर्म-प्रकृतियों की उदीरणा करता है?

[१२८ उ.] गौतम! वह पांच या दो कर्मप्रकृतियों की उदीरणा करता है या अनुदीरक होता है। यदि वह पांच की उदीरणा करता है तो आयुष्य, वेदनीय और मोहनीय को छोड़ कर शेष पांच कर्मप्रकृतियों को उदीरता है, इत्यादि शेष वर्णन (उ. ६ सू. १६५ के कथित) निर्ग्रन्थ के समान जानना चाहिए। [तेईसवाँ द्वार]

विवेचन—सामायिक से लेकर परिहारविशुद्धिकसंयत तक बकुश की तरह सात, आठ या छह कर्मप्रकृतियों का उदीरक होता है। सात में आयुष्यकर्म को छोड़ कर और छह में आयुष्य और वेदनीय को छोड़ कर शेष छह कर्मप्रकृतियों का उदीरक होता है। सूक्ष्मसम्परायसंयत छह या पांच का उदीरक होता है, यह मूल में स्पष्ट है। यथाख्यातसंयत आयु, वेदनीय और मोहनीय, इन तीन को छोड़ कर शेष पांच का उदीरक होता है अथवा नाम और गोत्र इन दो कर्मप्रकृतियों का उदीरक होता है अथवा किसी का भी उदीरक नहीं होता।[1]

चौवीसवाँ हान-उपसम्पद्-द्वार : पंचविध संयतों के स्वस्थान-त्याग परस्थान-प्राप्ति-प्ररूपणा

१२९. सामाइयसंजए णं भंते! सामाइयसंजयत्तं जहमाणे किं जहति? किं उवसंपज्जइ?

गोयमा! सामाइयसंजयत्तं जहति; छेदोवट्ठावणियसंजयं वा सुहुमसंपरायसंजयं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जति।

१. भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका, भा. १६, पृ. ३१६-३१७

[१२९ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत, सामायिकसंयतत्व त्यागते हुए किसको छोड़ता है और किसे ग्रहण करता है ?

[१२९ उ.] गौतम ! वह सामायिकसंयतत्व (संयम) को छोड़ता है और छेदोपस्थापनीयसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम, असंयम अथवा संयमासंयम को ग्रहण करता है ।

१३०. छेदोवट्ठावणिए० पुच्छा ।

गोयमा ! छेदोवट्ठावणियसंजयत्तं जहति; सामाइयसंजमं वा परिहारविसुद्धियसंजमं वा असंजमं वा संजमासंजमं वा उवसंपज्जति ।

[१३० प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनीयसंयत छेदोपस्थापनीय संयतत्व को छोड़ते हुए किसे छोड़ता है और किसे ग्रहण करता है ?

[१३० उ.] गौतम ! वह छेदोपस्थापनीयसंयतत्व का त्याग करता है और सामायिकसंयम, परिहारविशुद्धिकसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम, असंयम या संयमासंयम को प्राप्त करता है ।

१३१. परिहारविसुद्धिए० पुच्छा ।

गोयमा ! परिहारविसुद्धियसंजयत्तं जहति; छेदोवट्ठावणियसंजमं वा असंजमं वा उपसंपज्जइ ।

[१३१ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत परिहारविशुद्धिकसंयतत्व को छोड़ता हुआ किसका त्याग करता है और किसको ग्रहण करता है ?

[१३१ उ.] गौतम ! वह परिहारविशुद्धिकसंयतत्व का त्याग करता है और छेदोपस्थापनीय-संयम या असंयम को ग्रहण करता है ।

१३२. सुहुमसंपराए० पुच्छा ।

गोयमा ! सुहुमसंपरागसंजयत्तं जहति; सामाइयसंजमं वा छेदोवट्ठावणियसंजमं वा अहक्खाय-संजमं वा असंजमं वा उवसंपज्जइ ।

[१३२ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत सूक्ष्मसम्परायसंयतत्व को छोड़ता हुआ किसका त्याग करता है और किसको ग्रहण करता है ?

[१३२ उ.] गौतम ! वह सूक्ष्मसम्परायसंयतत्व को छोड़ता है और सामायिकसंयम, छेदोपस्थापनीयसंयम, सूक्ष्मसम्परायसंयम, असंयम अथवा संयमासंयम को ग्रहण करता है ।

१३३. अहक्खायसंजए० पुच्छा ।

गोयमा ! अहक्खायसंजयत्तं जहति; सुहुमसंपरागसंजमं वा अस्संजमं वा सिद्धिगंति वा उवसंपज्जति । [दारं २४] ।

[१३३ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत यथाख्यातसंयतत्व को त्याग कर किसे त्यागता यावत् किसे प्राप्त करता है ? इत्यादि प्रश्न ।

[१३३ उ.] गौतम ! वह यथाख्यातसंयतत्व का त्याग करता है और सूक्ष्मसम्परायसंयम, असंयम या सिद्धिगति को प्राप्त करता है । [चौवीसवाँ द्वार]

विवेचन—पांचों प्रकार के संयतों द्वारा त्याग और ग्रहण : एक विश्लेषण—(१) सामायिकसंयत सामायिकसंयम को छोड़ कर छेदोपस्थापनीयसंयम तब ग्रहण करता है जब या तो वह तेईसवें तीर्थंकर के तीर्थ से चौवीसवें तीर्थंकर के शासन (तीर्थ) में आता है, तब वह चातुर्याम धर्म से पंच-महाव्रतरूप धर्म का स्वीकार करता है अथवा जब प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का शासनवर्ती शिष्य शिष्य-अवस्था से महाव्रतारोपण-अवस्था में प्रवेश करता है तब भी वह सामायिकसंयम से छेदोपस्थापनीय संयम प्राप्त करता है और जब श्रेणी पर आरोहण करता है तब सामायिकसंयम से आगे बढ़कर सूक्ष्मसम्परायसंयम प्राप्त करता है अथवा जब संयम के परिणामों से गिर जाने से संयमासंयम अथवा असंयम-अवस्था को प्राप्त करता है।

(२) छेदोपस्थापनीयसंयत अपना संयम छोड़ते हुए सामायिकसंयम स्वीकार करता है, उदाहरणार्थ—प्रथम तीर्थंकर का शासनवर्ती साधु, दूसरे तीर्थंकर के शासन को स्वीकार करते समय छेदोपस्थापनीयसंयम को छोड़कर सामायिकसंयम स्वीकार करता है। अथवा छेदोपस्थापनीयसंयम को छोड़ते हुए साधु परिहारविशुद्धिकसंयम स्वीकार करते हैं, क्योंकि छेदोपस्थापनीयसंयत ही परिहारविशुद्धिकसंयम स्वीकार करने के योग्य होते हैं, इत्यादि।

(३) परिहारविशुद्धिकसंयत परिहारविशुद्धिकसंयम को छोड़ कर पुनः गच्छ (संघ) में आने के कारण छेदोपस्थापनीयसंयम स्वीकार करता है अथवा उस अवस्था में कालधर्म को प्राप्त हो जाए तो वह देवों में उत्पन्न होने के कारण असंयम को प्राप्त करता है।

(४) सूक्ष्मसम्परायसंयत श्रेणी से गिरते हुए सूक्ष्मसम्परायसंयम को छोड़ कर यदि वह पहले सामायिकसंयत हो तो सामायिकसंयम प्राप्त करता है और यदि वह पहले छेदोपस्थापनीयसंयत हो तो छेदोपस्थापनीयसंयम प्राप्त करता है। यदि श्रेणी ऊपर चढ़े तो यथाख्यातसंयम प्राप्त करता है और यदि वह काल करे तो देव होकर असंयम को प्राप्त होता है।

(५) उपशमश्रेणी पर आरूढ होने वाला यथाख्यातसंयत, श्रेणी से प्रतिपतित हो तो यथाख्यातसंयम को छोड़ता हुआ सूक्ष्मसम्परायसंयम को प्राप्त करता है और उस समय उसकी मृत्यु हो जाए तो देवों में उत्पन्न होने के कारण असंयम को प्राप्त करता है और यदि वह स्नातक हो तो सिद्धिगति को प्राप्त करता है।[1]

पच्चीसवाँ संज्ञाद्वार : पंचविध संयतों में संज्ञा की प्ररूपणा

१३४. सामाइयसंजए णं भंते ! किं सण्णोवउत्ते होज्जा, नोसण्णोवउत्ते होज्जा ?

गोयमा ! सण्णोवउत्ते जहा बउसो (उ० ६ सु० १७४)।

[१३४ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत संज्ञोपयुक्त (आहारादि संज्ञा में आसक्त) होता है या नो-संज्ञोपयुक्त होता है ?

[१३४ उ.] गौतम ! वह संज्ञोपयुक्त होता है, इत्यादि सब कथन (उ. ६, सू. १७४ में लिखित) बकुश के समान जानना।

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१५
(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन), भ. ७ पृ. ३४६९-७०

१३५. एवं जाव परिहारविसुद्धिए ।

[१३५] इसी प्रकार का कथन यावत् परिहारविशुद्धिकसंयत पर्यन्त जानना चाहिए ।

१३६. सुहुमसंपराए अहक्खाए य जहा पुलाए (उ० ६ सु० १७३) । [दारं २५] ।

[१३६] सूक्ष्मसम्परायसंयत और यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १७३ में उक्त) पुलाक के समान जानना चाहिए । [पच्चीसवाँ द्वार]

छव्वीसवाँ आहारद्वार : पंचविध संयतों में आहारक-अनाहारक-प्ररूपणा

१३७. सामाइयसंजए णं भंते ! किं आहारए होज्जा ?

जहा पुलाए (उ० ६ सु० १७८) ।

[१३७ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत आहारक होता है या अनाहारक ?

[१३७ उ.] गौतम ! इसके विषय में (उ. ६, सू. १७८ में उक्त) पुलाक के समान जानना ।

१३८. एवं जाव सुहुमसंपराए ।

[१३८] इसी प्रकार यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत तक जानना ।

१३९. अहक्खाए जहा सिणाए (उ० ६ सु० १८०) । [दारं २६] ।

[१३९] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. १८० में कथित) स्नातक के समान जानना । [छब्बीसवाँ द्वार]

१४०. सामाइयसंजए णं भंते ! कति भवग्गहणाइं होज्जा ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं अट्ठ ।

[१४० प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितने भव ग्रहण करता है ? (अर्थात् कितने भवों में सामायिकसंयम आता है ?)

[१४० उ.] गौतम ! वह जघन्य एक भव और उत्कृष्ट आठ भव ग्रहण करता है ।

१४१. एवं छेदोवट्ठावणिए वि ।

[१४१] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी जानना ।

१४२. परिहारविसुद्धिए० पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं, उक्कोसेणं तिन्नि ।

[१४२ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत कितने भव ग्रहण करता है ?

[१४२ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन भव ग्रहण करता है ।

१४३. एवं जाव अहक्खाते । [दारं २७] ।

[१४३] इसी प्रकार यावत् यथाख्यातसंयत तक कहना चाहिए । [सत्ताइसवाँ द्वार]

विवेचन—भवग्रहण—सामायिक और छेदोपस्थापनीयसंयत जघन्य एक और उत्कृष्ट आठ

भव तथा परिहारविशुद्धिकसंयत से यथाख्यातसंयत तक जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन भव ग्रहण करते हैं।

अट्ठाईसवाँ आकर्षद्वार : पंचविध संयतों के एक भव एवं नाना भवों की अपेक्षा आकर्ष की प्ररूपणा

१४४. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! एगभवग्गहणिया केवतिया आगरिसा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहन्नेणं० जहा बउसस्स (उ० ६ सु० १८८)।

[१४४ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत के एक भव में कितने आकर्ष (चारित्रग्रहण) होते हैं ?

[१४४ उ.] गौतम ! उसके जघन्य और उत्कृष्ट शतपृथक्त्व आकर्ष होते हैं; इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. १८८ में उक्त) बकुश के समान जानना।

१४५. छेदोवट्ठावणियस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं वीसपुहत्तं।

[१४५ प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनीयसंयत के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१४५ उ.] गौतम ! उसके जघन्य एक और उत्कृष्ट बीस-पृथक्त्व (दो बीसी से छह बीसी तक) आकर्ष होते हैं।

१४६. परिहारविसुद्धियस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं तिन्नि।

[१४६ प्र.] भगवन् ! परिहारविशुद्धिकसंयत के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१४६ उ.] गौतम ! जघन्य एक और उत्कृष्ट तीन आकर्ष होते हैं।

१४७. सुहुमसंपरायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं चत्तारि।

[१४७ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मसम्परायसंयत के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१४७ उ.] गौतम ! जघन्य एक और उत्कृष्ट चार आकर्ष होते हैं।

१४८. अहक्खायस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्को, उक्कोसेणं दोन्नि।

[१४८ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत के एक भव में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१४८ उ.] गौतम ! जघन्य एक और उत्कृष्ट दो आकर्ष होते हैं।

१४९. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! नाणाभवग्गहणिया केवतिया आगरिसा पन्नत्ता ?

गोयमा ! जहा बउसे (उ० ६ सु० १९३)।

[१४९ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत के अनेक भवों में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१४९ उ.] गौतम ! (उ. ६, सू. १९३ में उक्त) वकुश के समान उसके आकर्ष होते हैं।

१५०. छेदोवट्ठावणियस्स० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं उवरिं नवण्हं सयाणं अंतोसहस्सस्स।

[१५० प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनीयसंयत के अनेक भवों में कितने आकर्ष होते हैं ?

[१५० उ.] गौतम ! उसके जघन्य दो और उत्कृष्ट नौ सौ से ऊपर और एक हजार के अन्दर आकर्ष होते हैं।

१५१. परिहारविसुद्धियस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं सत्त।

[१५१] परिहारविशुद्धिकसंयत के जघन्य दो और उत्कृष्ट सात आकर्ष कहे हैं।

१५२. सुहुमसंपरागस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं नव।

[१५२] सूक्ष्मसम्परायसंयत के जघन्य दो और उत्कृष्ट नौ आकर्ष होते हैं।

१५३. अहक्खायस्स जहन्नेणं दोन्नि, उक्कोसेणं पंच। [दारं २८]।

[१५३] यथाख्यातसंयत के जघन्य दो और उत्कृष्ट पांच आकर्ष होते हैं। [अट्ठाईसवाँ द्वार]

विवेचन—पंचविध संयतों के आकर्ष—आकर्ष का यहाँ अर्थ है—चारित्र (संयम) की प्राप्ति। अर्थात् एक भव में या अनेक भवों में अमुक संयत कितनी बार उक्त संयम को प्राप्त कर सकता है ? यह प्रश्न का आशय है। कतिपय संयतों के विषय में कथन स्पष्ट है।

छेदोपस्थापनीयसंयत के उत्कृष्ट आकर्ष एक भव में बीस पृथक्त्व कहे हैं, उसका मतलब है—छह बीसी यानी १२० बार उक्त चारित्र प्राप्त होता है। परिहारविशुद्धिकसंयम एक भव में उत्कृष्ट तीन बार प्राप्त हो सकता है। सूक्ष्मसाम्परायसंयत के एक भव में दो बार उपशमश्रेणी की सम्भावना होने से तथा प्रत्येक श्रेणी में संक्लिश्यमान और विशुद्धचमान ये दो प्रकार होने से, एक भव में उत्कृष्ट चार बार सूक्ष्मसम्परायत्व की प्राप्ति घटित होती है। यथाख्यातसंयत के दो बार उपशमश्रेणी की सम्भावना होने से दो आकर्ष (दो बार चारित्र-प्राप्ति) हो सकते हैं।

छेदोपस्थापनीयसंयत के अनेक भवों में उत्कृष्ट नौ सौ से ऊपर और एक हजार से कम आकर्ष होते हैं। वे इस प्रकार घटित होते हैं—छेदोपस्थापनीयसंयत के उत्कृष्ट आठ भव होते हैं। उसके एक भव में छह बीसी (अर्थात् १२० बार) आकर्ष होते हैं। इस दृष्टि से आठ भवों में १२०×८=९६० आकर्ष हो जाते हैं। यह अपेक्षा सम्भावना-मात्र की अपेक्षा से बताई गई है। इसके अतिरिक्त अन्य रीति से ९०० से ऊपर संख्या घटित हो जाए, इस प्रकार घटित कर लेना चाहिए।

परिहारविशुद्धिकसंयत के एक भव में उत्कृष्ट तीन बार परिहारविशुद्धिकसंयम की प्राप्ति हो सकती है। यह संयम (चारित्र) तीन भव तक प्राप्त हो सकता है। इसलिए एक भव में तीन बार, दूसरे भव में दो बार और तीसरे भव में दो बार, इत्यादि विकल्प से उसके अनेक भव में सात आकर्ष घटित होते हैं।

सूक्ष्मसम्पराय के एक भव में चार आकर्ष होते है और उसकी प्राप्ति तीन भव तक हो सकती है। इस दृष्टि से उसके एक भव में चार बार, दूसरे भव में चार बार और तीसरे भव में एक बार, इस प्रकार अनेक भवों में नौ आकर्ष होते है। यथाख्यातसंयत के एक भव में दो, दूसरे भव में दो और तीसरे भव में एक आकर्ष होने से तीन भवों में पांच आकर्ष होते है।[1]

उनतीसवाँ काल-(स्थिति)-द्वार : एकवचन और बहुवचन से स्थिति-प्ररूपणा

१५४. सामाइयसंजए णं भंते ! कालतो केवचिरं होति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणएहिं नवहिं वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी।

[१५४ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत कितने काल तक रहता है ? (अर्थात् उसकी स्थिति कितनी है ?)

[१५४ उ.] गौतम ! वह जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन नौ वर्ष कम पूर्वकोटिवर्ष पर्यन्त रहता है।

१५५. एवं छेदोवट्ठावणिए वि।

[१५५] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी कहना चाहिए।

१५६. परिहारविसुद्धिए जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं देसूणएहिं एक्कूणतीसाए वासेहिं ऊणिया पुव्वकोडी।

[१५६] परिहारविशुद्धिकसंयत जघन्य एक समय और उत्कृष्ट देशोन २९ वर्ष कम पूर्वकोटिवर्ष पर्यन्त रहता है।

१५७. सुहुमसंपराए जहा नियंठे (उ० ६ सु० २००)।

[१५७] सूक्ष्मसम्परायसंयत के विषय में (उ. ६, सू. २०२ में उक्त) निर्ग्रन्थ के अनुसार कहना चाहिए।

१५८. अहक्खाए जहा सामाइयसंजए।

[१५८] यथाख्यातसंयत का कथन सामायिकसंयत के समान जानना।

१५९. सामाइयसंजया णं भंते ! कालतो केवचिरं होंति ?

गोयमा ! सव्वद्धं।

[१५९ प्र.] भगवन् ! (अनेक) सामायिकसंयत कितने काल तक रहते हैं ?

[१५९ उ.] गौतम ! वे सर्वाद्धा (सदाकाल) रहते हैं।

१६०. छेदोवट्ठावणिएसु पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं अड्ढाइज्जाइं वाससयाइं, उक्कोसेणं पन्नासं सागरोवमकोडिसयसहस्साइं।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१६

(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३४७४-३४७५

[१६० प्र.] भगवन् ! (अनेक) छेदोपस्थापनीयसंयत कितने काल तक रहते हैं ?

[१६० उ.] गौतम ! जघन्य अढाई सौ वर्ष और उत्कृष्ट पचास लाख करोड़ सागरोपम तक होते हैं।

१६१. परिहारविसुद्धिए पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं देसूणाइं दो वाससयाइं, उक्कोसेणं देसूणाओ दो पुव्वकोडीओ।

[१६१ प्र.] भगवन् ! (अनेक) परिहारविशुद्धिकसंयत कितने काल तक रहते हैं ?

[१६१ उ.] गौतम ! वह जघन्य देशोन दो सौ वर्ष और उत्कृष्ट देशोन दो पूर्वकोटिवर्ष तक होते हैं।

१६२. सुहुमसंपरागसंजया० पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं।

[१६२ प्र.] भगवन् ! (अनेक) सूक्ष्मसम्परायसंयत कितने काल तक रहते हैं ?

[१६२ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक रहते हैं।

१६३. अहक्खायसंजया जहा सामाइयसंजया। [दारं २९]।

[१६३] (बहुत) यथाख्यातसंयतों का कथन (सू. १५९ में उक्त) सामायिकसंयतों के समान जानना चाहिए।

विवेचन—सामायिक आदि संयतों की स्थिति : स्पष्टीकरण—सामायिकचारित्र (संयम) की प्राप्ति के बाद तुरन्त ही मृत्यु हो जाए तो उसकी अपेक्षा से सामायिकसंयत का काल जघन्य एक समय होता है और उत्कृष्ट देशोन नौ वर्ष कम पूर्वकोटिवर्ष होता है। यह काल गर्भ के समय से गिनना चाहिए।

परिहारविशुद्धिकसंयत का जघन्यकाल एक समय मरण की अपेक्षा से है और उत्कृष्ट देशोन उनतीस वर्ष कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण होता है। क्योंकि पूर्वकोटिवर्ष की आयु वाला कोई मनुष्य यदि देशोन नौ वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण करता है तो वह बीस वर्ष की दीक्षापर्याय होने पर दृष्टिवाद का ज्ञान प्राप्त करके पश्चात् परिहारविशुद्धिकसंयम (चारित्र) को अंगीकार कर सकता है। यद्यपि परिहारविशुद्धिचारित्र का कालपरिमाण अठारह मास का है तथापि उन्हीं अविच्छिन्न परिणामों से वह उसे जीवनपर्यन्त पाले तो उनतीस वर्ष कम पूर्वकोटिवर्षपर्यन्त रहता है।

यथाख्यातसंयत का कालपरिमाण उपशम अवस्था में मरण की अपेक्षा जघन्य एक समय तथा स्नातक अवस्था वाले संयत की अपेक्षा देशोन पूर्वकोटिवर्ष है।

उत्सर्पिणीकाल में प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ तक छेदोपस्थापनीयचारित्र होता है और उनका तीर्थ (शासन) अढाई सौ वर्ष चलता है। इसलिए छेदोपस्थापनीय संयतों का काल जघन्य अढाई सौ वर्ष होता है। अवसर्पिणीकाल में प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ तक छेदोपस्थापनीयचारित्र होता है और उनका तीर्थ पचास लाख करोड़ सागरोपम तक होता है। इसलिए उत्कृष्ट इतने काल तक छेदोपस्थापनीयसंयत होते हैं।

परिहारविशुद्धिकसंयतों का काल जघन्य अट्ठावन वर्ष कम, देशोन दो सौ वर्ष होता है। यथा—उत्सर्पिणीकाल में प्रथम तीर्थंकर के समीप सौ वर्ष की आयु वाले कोई मुनि परिहारविशुद्धिचारित्र अंगीकार करे और उसके जीवन के अन्त में उसके पास सौ वर्ष की आयु वाला दूसरा कोई मुनि परिहारविशुद्धिचारित्र अंगीकार करे, परन्तु उनके पास फिर कोई तीसरा मुनि परिहारविशुद्धिचारित्र अंगीकार नहीं करता। इस प्रकार दो सौ वर्ष होते हैं। परन्तु परिहारविशुद्धिसंयम अंगीकार करने वाला २९ वर्ष की आयु हो जाने पर ही यह चारित्र अंगीकार कर सकता है। इस प्रकार दो व्यक्तियों के ५८ वर्ष कम दो सौ वर्ष होते हैं, अर्थात् जघन्यकाल १४२ वर्ष होता है। वृत्तिकार की इस व्याख्या के अनुसार ही चूर्णिकार ने भी इस प्रकार की व्याख्या की है। किन्तु वह अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर की अपेक्षा से की है। दोनों व्याख्याओं की संगति एक ही प्रकार से है। उत्कृष्टकाल देशोन दो पूर्वकोटिवर्ष होता है। जैसे कि—अवसर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर के समीप पूर्वकोटिवर्ष आयु वाला मुनि परिहारविशुद्धिचारित्र अंगीकार करे और उसके जीवन के अन्त में उतनी ही आयु वाला दूसरा मुनि इसी चारित्र को अंगीकार करे। इस प्रकार दो पूर्वकोटिवर्ष होते हैं। उनमें से उक्त दोनों मुनियों की २९-२९ वर्ष की आयु कम करने पर ५८ वर्ष कम देशोन दो पूर्वकोटिवर्ष होते हैं।[1]

तीसवाँ अन्तरद्वार : पंचविध संयतों में काल का अन्तर

१६४. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! केवतियं कालं अंतरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेणं० जहा पुलागस्स (उ० ६ सु० २०७)।

[१६४ प्र.] भगवन् ! (एक) सामायिकसंयत का अन्तर कितने काल का होता है ?

[१६४ उ.] गौतम ! जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. २०७ में उक्त) पुलाक के समान जानना।

१६५. एवं जाव अहक्खायसंजयस्स।

[१६५] इसी प्रकार का कथन यावत् यथाख्यातसंयत तक समझना चाहिए।

१६६. सामाइयसंजयाणं भंते !० पुच्छा।

गोयमा ! नत्थंतरं।

[१६६ प्र.] भगवन् ! (अनेक) सामायिकसंयतों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[१६६ उ.] गौतम ! उनका अन्तर नहीं होता।

१६७. छेदोवट्ठावणियाणं पुच्छा।

गोयमा ! जहन्नेणं तेवट्ठिं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ।

[१६७ प्र.] भगवन् ! (अनेक) छेदोपस्थापनीय संयतों का अन्तर कितने काल का होता है ?

[१६७ उ.] गौतम ! उनका अन्तर जघन्य तिरेसठ हजार वर्ष और उत्कृष्ट (कुछ कम) अठारह कोडाकोडी सागरोपम काल का होता है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१६-९१८
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४७८

१६८. परिहारविसुद्धियाणं पुच्छा।

गोयमा! जहन्नेणं चउरासीतिं वाससहस्साइं, उक्कोसेणं अट्ठारस सागरोवमकोडाकोडीओ।

[१६८ प्र.] भगवन्! परिहारविशुद्धिकसंयतों का अन्तर कितने काल का होता है?

[१६८ उ.] गौतम! उनका अन्तर जघन्य चौरासी हजार वर्ष और उत्कृष्ट (देशोन) अठारह कोडाकोडी सागरोपम का है।

१६९. सुहुमसंपरागाणं जहा नियंठाणं (उ० ६ सु० २१३)।

[१६९] सूक्ष्मसम्परायसंयतों का अन्तर (उ. ६ सू. २१३ के उक्त) निर्ग्रन्थों के समान है।

१७०. अहक्खायाणं जहा सामाइयसंजयाणं। [दारं ३०]।

[१७०] यथाख्यातसंयतों का अन्तर सामायिकसंयतों के समान है। [तीसवाँ द्वार]

विवेचन—संयतों का अन्तरकाल : छेदोपस्थापनीयसंयत एवं संयतों का अन्तर—अन्तरद्वार में छेदोपस्थापनीयसंयत का जो अन्तरकाल बताया है, उसे यों समझना चाहिए कि अवसर्पिणीकाल के दुःषमा नामक पंचम आरे तक छेदोपस्थापनीयचारित्र रहता है। उसके बाद दुःषम-दुःषमा नामक इक्कीस हजार वर्ष के छठे आरे में तथा उत्सर्पिणीकाल के इक्कीस हजार वर्ष-परिमित प्रथम आरे में तथा इक्कीस हजार वर्ष-परिमित द्वितीय आरे में छेदोपस्थापनीयचारित्र का अभाव होता है। इस प्रकार २१+२१+२१=६३००० वर्ष का जघन्य अन्तरकाल छेदोपस्थापनीयसंयतों का होता है। और इसी का उत्कृष्ट अन्तरकाल अठारह कोटाकोटि सागरोपम का होता है। वह इस प्रकार है—उत्सर्पिणीकाल के चौवीसवें तीर्थंकर के तीर्थ तक छेदोपस्थापनीयचारित्र होता है। उसके बाद दो कोटाकोटि-प्रमाण चतुर्थ आरे में, तीन कोटाकोटि-प्रमाण पंचम आरे में और चार कोटाकोटि-प्रमाण छठे आरे में तथा इसी प्रकार अवसर्पिणीकाल के चार कोटाकोटि-सागरोपम-प्रमाण प्रथम आरे में, तीन कोटाकोटि सागरोपम-प्रमाण दूसरे आरे में और दो कोटाकोटि-सागरोपम-प्रमाण तीसरे आरे में छेदोपस्थापनीयचारित्र नहीं होता। परन्तु उसके पश्चात् अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे के पिछले भाग में प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ में छेदोपस्थापनीयचारित्र होता है। इस दृष्टि से छेदोपस्थापनीय संयतों का उत्कृष्ट अन्तरकाल १८ कोटाकोटि सागरोपम होता है। इसमें थोड़ा-सा काल कम रहता है और जघन्य अन्तर में थोड़ा काल बढ़ता है, परन्तु वह अत्यल्प होने से उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की है।

अवसर्पिणीकाल के पांचवें और छठे आरे तथा उत्सर्पिणीकाल का पहला और दूसरा आरा इक्कीस-इक्कीस हजार वर्ष का होता है। इन चारों में परिहारविशुद्धिचारित्र नहीं होता। इसलिए परिहारविशुद्धिकसंयतों का जघन्य अन्तरकाल चौरासी हजार वर्ष का है। यहाँ अन्तिम तीर्थंकर के पश्चात् पांचवें आरे में परिहारविशुद्धिकचारित्र का काल कुछ अधिक और अवसर्पिणीकाल के तीसरे आरे में परिहारविशुद्धिचारित्र अंगीकार करने से पूर्व का काल अल्प होने से उसकी यहाँ विवक्षा नहीं की गई है। परिहारविशुद्धिचारित्र का उत्कृष्ट अन्तर १८ कोटाकोटि सागरोपम का होता है। उसकी संगति छेदोपस्थापनीयचारित्र के समान जाननी चाहिए।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१८

इकतीसवाँ समुद्घातद्वार : पंचविध संयतों में समुद्घात की प्ररूपणा

१७१. सामाइयसंजयस्स णं भंते ! कति समुग्घाया पन्नत्ता ?
गोयमा ! छ समुग्घाया पन्नत्ता, जहा कसायकुसीलस्स (उ० ६ सु० २१८)।

[१७१ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[१७१ उ.] गौतम ! छह समुद्घात कहे हैं, इत्यादि वर्णन (उ. ६, सू. २१८ में उक्त) कषाय-कुशील के समान समझना।

१७२. एवं छेदोवट्ठावणियस्स वि।

[१७२] इसी प्रकार छेदोपस्थापनीयसंयत के विषय में भी जानना।

१७३. परिहारविसुद्धियस्स जहा पुलागस्स (उ० ६ सु० २१५)।

[१७३] परिहारविशुद्धिकसंयत का कथन (उ. ६, सू. २१५ में उक्त) पुलाक के समान जानना।

१७४. सुहुमसंपरायस्स जहा नियंठस्स (उ० ६ सु० २१९)।

[१७४] सूक्ष्मसम्परायसंयत का कथन (उ. ६, सू. २१९ में उक्त) निर्ग्रन्थ के समान जानना।

१७५. अहक्खातस्स जहा सिणायस्स (उ० ६ सु० २२०)। [दारं ३१]।

[१७५] यथाख्यातसंयत की वक्तव्यता (उ. ६, सू. २२० में उक्त) स्नातक के समान जानना।
[इकतीसवाँ द्वार]

बत्तीसवाँ क्षेत्रद्वार : पंच विध संयतों के अवगाहन क्षेत्र की प्ररूपणा

१७६. सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जतिभागे होज्जा, असंखेज्जइभागे० पुच्छा।
गोयमा ! नो संखेज्जति० जहा पुलाए (उ० ६ सु० २२१)।

[१७६ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत लोक के संख्यातवें भाग में होता है या असंख्यातवें भाग में होता है ?

[१७६ उ.] गौतम ! वह लोक के संख्यातवें भाग में नहीं होता; इत्यादि कथन (उ. ६, सू. २२१ में कथित) पुलाक के समान जानना चाहिए।

१७७. एवं जाव सुहुमसंपराए।

[१७७] इसी प्रकार का कथन यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत तक जानना चाहिए।

१७८. अहक्खायसंजते जहा सिणाए (उ० ६ सु० २२३)। [दारं ३२]।

[१७८] यथाख्यातसंयत का कथन (उ. ६, सू. २२३ में उक्त) स्नातक के अनुसार जानना चाहिए। [बत्तीसवाँ द्वार]

तेतीसवाँ स्पर्शनाद्वार : पंचविध संयतों की क्षेत्रस्पर्शना-प्ररूपणा

१७९. सामाइयसंजए णं भंते ! लोगस्स किं संखेज्जतिभागं फुसति ?

जहेव होज्जा तहेव फुसति वि। [दारं ३३]।

[१७९ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत क्या लोक के संख्यातवें भाग का स्पर्श करता है ? इत्यादि प्रश्न।

[१७९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार क्षेत्र-अवगाहना कही है, उसी प्रकार क्षेत्र-स्पर्शना भी जाननी चाहिए। [तेतीसवाँ द्वार]

चौतीसवाँ भावद्वार पंचविध संयतों में औपशमिकादि भावों की प्ररूपणा

१८०. सामाइयसंजए णं भंते ! कयरम्मि भावे होज्जा ?

गोयमा ! खओवसमिए भावे होज्जा।

[१८० प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत किस-किस भाव में होता है ?

[१८० उ.] गौतम ! वह क्षायोपशमिक भाव में होता है।

१८१. एवं जाव सुहुमसंपराए।

[१८१] इसी प्रकार का कथन यावत् सूक्ष्मसम्परायसंयत तक जानना चाहिए।

१८२. अहक्खायसंजए० पुच्छा।

गोयमा ! ओवसमिए वा खइए वा भावे होज्जा। [दारं ३४]।

[१८२ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत किस-किस भाव में होता है ?

[१८२ उ.] गौतम ! वह औपशमिक भाव या क्षायिक भाव में होता है। [चौतीसवाँ द्वार]

विवेचन—अतिदेश—समुद्घातद्वार से लेकर भावद्वार तक (लोकस्पर्श, क्षेत्रद्वार, स्पर्शनाद्वार एवं भावद्वार आदि) के लिए छठे उद्देशक में उक्त पुलाक आदि का अतिदेश किया है, जिसे वहाँ से समझ लेना चाहिए।

पैंतीसवाँ परिमाणद्वार : पंचविध संयतों के एक समयवर्ती परिमाण की प्ररूपणा

१८३. सामाइयसंजया णं भंते ! एगसमएणं केवतिया होज्जा ?

गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च जहा कसायकुसीला (उ० ६ सु० २३२) तहेव निरवसेसं।

[१८३ प्र.] भगवन् ! सामायिकसंयत एक समय में कितने होते हैं ?

[१८३ उ.] गौतम ! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा समग्र कथन (उ. ६, सू. २३२ में उक्त) कषाय-कुशील के समान जानना चाहिए।

१८४. छेदोवट्ठावणिया० पुच्छा।

गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जइ अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं सयपुहत्तं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं कोडिसयपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिसयपुहत्तं।

[१८४ प्र.] भगवन् ! छेदोपस्थापनीयसंयत एक समय में कितने होते हैं ?

[१८४ उ.] गौतम ! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा वे कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक दो या तीन और उत्कृष्ट शत-पृथक्त्व होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न कदाचित् नहीं भी होते। यदि होते हैं तब जघन्य कोटिशतपृथक्त्व तथा उत्कृष्ट भी कोटिशतपृथक्त्व होते हैं।

१८५. परिहारविसुद्धिया जहा पुलागा (उ० ६ सु० २२९)।

[१८५] परिहारविशुद्धिकसंयतों की संख्या (उ. ६, सू. २२९ में उक्त) पुलाक के समान है।

१८६. सुहुमसंपरागा जहा नियंठा (उ० ६ सु० २३३)।

[१८६] सूक्ष्मसम्परायसंयतों की संख्या (उ. ६, सू. २३३ में उक्त) निर्ग्रन्थों के अनुसार होती है।

१८७. अहक्खायसंजता णं० पुच्छा।

गोयमा ! पडिवज्जमाणए पडुच्च सिय अत्थि, सिय नत्थि। जदि अत्थि जहन्नेणं एक्को वा दो वा तिन्नि वा, उक्कोसेणं बावट्ठं सयं—अट्ठुत्तरसयं खवगाणं, चउप्पन्नं उवसामगाणं। पुव्वपडिवन्नए पडुच्च जहन्नेणं कोडिपुहत्तं, उक्कोसेण वि कोडिपुहत्तं। [दारं ३५]।

[१८७ प्र.] भगवन् ! यथाख्यातसंयत एक समय में कितने होते हैं ?

[१८७ उ.] गौतम ! प्रतिपद्यमान की अपेक्षा वे कदाचित् होते हैं और कदाचित् नहीं होते। यदि होते हैं तो जघन्य एक, दो या तीन और उत्कृष्ट १६२ (एक सौ बासठ) होते हैं; जिनमें से १०८ क्षपक और ५४ उपशमक होते हैं। पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट कोटिपृथक्त्व होते हैं।

विवेचन—संयतों की संख्या-विषयक स्पष्टीकरण—परिमाणद्वार में छेदोपस्थापनीयसंयतों का जो उत्कृष्ट परिमाण बताया है, वह प्रथम तीर्थंकर के तीर्थ की अपेक्षा सम्भवित होता है। किन्तु जघन्य परिमाण यथार्थरूप से समझ में नहीं आता, क्योंकि पंचम आरे के अन्त में भरतादि दस क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र में दो-दो संयत होने से जघन्य बीस छेदोपस्थापनीयसंयत होते हैं। किसी आचार्य का मत है कि जघन्य परिमाण भी प्रथम तीर्थंकर की अपेक्षा से समझना चाहिए, ऐसा टीकाकारों का अभिप्राय है। जघन्य परिमाण यहाँ जो कोटिशतपृथक्त्व बताया है उसका परिमाण अल्प है और जो उत्कृष्ट कोटिशतपृथक्त्व परिमाण बताया है उसका परिमाण अधिक समझना चाहिए।

प्रतिपद्यमान यथाख्यातसंयत एक समय में उत्कृष्ट १६२ होते है, उनमें से १०८ क्षपक होते हैं। क्षपकश्रेणी वाले सभी मोक्ष जाते हैं, एक समय में १०८ से अधिक मोक्ष नहीं जा सकते और एक समय में क्षपक यथाख्यातसंयतों की उत्कृष्ट संख्या १०८ ही होती है। उसी समय उपशमक यथाख्यातसंयतों की संख्या ५४ होती है, क्योंकि जीव का स्वभाव ही ऐसा है। इस प्रकार एक समय में यथाख्यातसंयतों की उत्कृष्ट संख्या १६२ घटित होती है।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१८

छत्तीसवाँ अल्पबहुत्वद्वार : पंचविध संयतों का अल्पबहुत्व

१८८. एएसि णं भंते ! सामाइय-छेदोवट्ठावणिय-परिहारविसुद्धिय-सुहुमसंपराय-अहक्खायसंजयाणं कयरे कयरेहिंतो जाव विसेसाहिया वा ?

गोयमा ! सव्वत्थोवा सुहुमसंपरायसंजया, परिहारविसुद्धियसंजया संखेज्जगुणा, अहक्खायसंजया संखेज्जगुणा, छेदोवट्ठावणियसंजया संखेज्जगुणा, सामाइयसंजया संखेज्जगुणा। [दारं ३६]।

[१८८ प्र.] भगवन् ! इन सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहारविशुद्धिक, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात संयतों में कौन किससे अल्प, बहुत, तुल्य या विशेषाधिक है ?

[१८८ उ.] गौतम ! सूक्ष्मसम्परायसंयत सबसे थोड़े होते हैं; उनसे परिहारविशुद्धिकसंयत संख्यातगुणे हैं, उनसे यथाख्यातसंयत संख्यातगुणे हैं, उनसे छेदोपस्थापनीयसंयत संख्यातगुणे हैं और उनसे सामायिकसंयत संख्यातगुणे हैं। [छत्तीसवाँ द्वार]

विवेचन—संयतों का अल्पबहुत्व : स्पष्टीकरण—अल्पबहुत्वद्वार में सबसे थोड़े सूक्ष्मसम्पराय-संयत बताए हैं, क्योंकि उनका काल अत्यल्प है और वे निर्ग्रन्थ के तुल्य होने से एक समय में शत-पृथक्त्व होते हैं। उनसे परिहारविशुद्धिकसंयत संख्यातगुणे हैं, क्योंकि उनका काल सूक्ष्मसम्परायसंयतों से अधिक है और वे पुलाक के समान सहस्रपृथक्त्व होते हैं। उनसे यथाख्यात-संयत संख्यातगुणे हैं, क्योंकि उनका परिमाण कोटिपृथक्त्व है। उनसे छेदोपस्थापनीयसंयत संख्यातगुणे हैं, क्योंकि उनका परिमाण कोटिशतपृथक्त्व होता है। उनसे सामायिकसंयत संख्यातगुणे होते हैं, क्योंकि उनका परिमाण कषायकुशील के समान कोटिसहस्रपृथक्त्व होता है।[1]

प्रतिसेवना-दोषालोचनादि छह द्वार

१८९. पडिसेवण १ दोसालोयण य आलोयणारिहे ३ चेव।
तत्तो सामायारी ४ पायच्छित्ते ५ तवे ६ चेव ॥ ६ ॥

[१८९. गाथार्थ] (१) प्रतिसेवना, (२) दोषालोचना, (६) आलोचनार्ह, (४) समाचारी, (५) प्रायश्चित्त और (६) तप ॥ ६ ॥

विवेचन—विशेषार्थ—ये छह द्वार प्रायः प्रायश्चित्त से सम्बन्धित है। प्रथम प्रतिसेवनाद्वार में यह देखा जाता है कि किया गया दोष किस प्रकार का है ? द्वितीयद्वार है—आलोचना के दोष। उसका आशय यह है कि लगे हुए दोषों की आलोचना शुद्ध है या किसी दोष से युक्त है ? यदि दोषयुक्त है तो किस प्रकार के दोष से युक्त है ? तृतीयद्वार में आलोचना करने वाले और सुनने वाले दोनों के गुणों का प्रतिपादन है। चतुर्थद्वार है—समाचारी। उसका आशय यह है कि साधु को किस प्रकार की समाचारी से युक्त होना चाहिए, ताकि संयम में दोष न लगे। पंचमद्वार है—प्रायश्चित्त। जिसका आशय यह है कि आलोचना के बाद दोषसेवन करने वाले साधु को किस प्रकार का प्रायश्चित्त आता है ? इसका निर्णय करना चाहिए। छठा द्वार है—तप। प्रायश्चित्त में अमुक तप-विशेष भी दिया जाता है, इसलिए तप का १२ भेदों सहित वर्णन किया गया है।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१८-९१९

प्रथम प्रतिसेवनाद्वार : प्रतिसेवना के दस भेद

१९०. दसविहा पडिसेवणा पन्नत्ता, तं जहा—

दप्प १ प्पमाद-ऽणाभोगे २-३ आउरे ४ आवती ५ ति य।
संकिण्णे ६ सहसक्कारे ७ भय ८ प्पदोसा ९ य वीमंसा १० ॥७॥ [दारं १]।

[१९०] प्रतिसेवना दस प्रकार की कही है। यथा [गाथार्थ]—(१) दर्पप्रतिसेवना, (२) प्रमादप्रतिसेवना, (३) अनाभोगप्रतिसेवना, (४) आतुरप्रतिसेवना, (५) आपत्प्रतिसेवना, (६) संकीर्णप्रतिसेवना, (७) सहसाकारप्रतिसेवना, (८) भयप्रतिसेवना, (९) प्रद्वेषप्रतिसेवना और (१०) विमर्शप्रतिसेवना ॥ ७ ॥ [प्रथम द्वार]

विवेचन—**प्रतिसेवना के प्रकार और स्वरूप**—पाप या दोषों के सेवन से होने वाली चारित्र की विराधना को **'प्रतिसेवना'** कहते हैं। उसके मुख्य दस भेद हैं—(१) **दर्पप्रतिसेवना**—अभिमान(अहंकार) पूर्वक होने वाली संयम की विराधना। (२) **प्रमादप्रतिसेवना**—अष्टविध मदजनित या मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा आदि प्रमादों के सेवन से होने वाली संयमविराधना। (३) **अनाभोगप्रतिसेवना**—अनजान में हो जाने वाली संयमविराधना। (४) **आतुरप्रतिसेवना**—भूख, प्यास, रोग-व्याधि आदि किसी पीड़ा से व्याकुलतावश की गई संयम की स्खलना। (५) **आपत्प्रतिसेवना**—किसी आफत, संकट या विपत्ति के आने पर की गई संयम की विराधना। आपत्ति चार प्रकार की होती है। द्रव्य-आपत्ति—प्रासुक, दोषरहित आहारादि न मिलना। क्षेत्र-आपत्ति—मार्ग भूल जाने से भयंकर अटवी आदि में भटक जाना, अथवा उक्त क्षेत्र में दुर्भिक्ष, भूकम्प, या अन्य क्षेत्रीय संकट आ पड़ना। काल-आपत्ति—दुर्भिक्ष, दुर्दिन आदि और भाव-आपत्ति—रोगातंक से शरीर अस्वस्थ-अशक्त हो जाना। (६) **संकीर्णप्रतिसेवना**—स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली स्थान की तंगी के कारण संयम मर्यादा का अतिक्रमण करना। अर्थात् छोटे-छोटे क्षेत्रों में साधु, साध्वियों तथा भिक्षाचरों के अधिक संख्या में इकट्ठे हो जाने से संयम में दोष लगना। **शंकितप्रतिसेवना**—ग्रहणयोग्य आहारादि में किसी दोष की आशंका होने पर भी उसे लेना। अथवा निशीथसूत्रानुसार आहारादि के न मिलने पर खेदपूर्वक वचन बोलना तिंतिणप्रतिसेवना है।(७) **सहसाकारप्रतिसेवना**—हठात् या अकस्मात् पहले से बिना सोचे-विचारे, अथवा बिना प्रतिलेखना किये कोई दोषयुक्त प्रवृत्ति करना। यथा—पहले बिना देखे सहसा भूमि पर पैर आदि रखना और पीछे देखना। (८) **भयप्रतिसेवना**—सिंह आदि के भय से संयम की विराधना करना। (९) **प्रद्वेषप्रतिसेवना**—किसी के प्रति द्वेष, ईर्ष्या या क्रोधादिकषाय के वश संयम की विराधना करना और (१०) **विमर्शप्रतिसेवना**—शिष्य की परीक्षा आदि के लिए विचारपूर्वक की गई संयम की विराधना।

इन दस कारणों में से किसी भी कारण से संयम की विराधना की जाती या हो जाती है। आलोचना करते समय गुरु इसका निर्णय करते हैं।[1]

द्वितीय आलोचनाद्वार : आलोचना के दस दोष

१९१. दस आलोयणादोसा पन्नत्ता, तं जहा—

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१९
(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृष्ठ ३४८६-३४८७

आकंपइत्ता १ अणुमाणइत्ता २ जं दिट्ठं ३ बायरं व ४ सुहुमं वा ५ ।
छन्नं ६ सद्दाउलयं ७ बहुजण ८ अव्वत्त ९ तस्सेवी १० ॥८॥ [दारं २] ।

[१९१] आलोचना के दस दोष कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—यथा—[गाथार्थ] (१) आकम्प्य, (२) अनुमान्य, (३) दृष्ट, (४) बादर, (५) सूक्ष्म, (६) छन्न-प्रच्छन्न, (७) शब्दाकुल, (८) बहुजन, (९) अव्यक्त और (१०) तत्सेवी॥ ८ ॥ [द्वितीय द्वार]

विवेचन—आलोचना के दस दोष—जाने या अनजाने लगे हुए दोषों का पहले स्वयं मन में विचार करना, फिर उचित प्रायश्चित्त कर लेने के लिए गुरु, आचार्य या बड़े (गीतार्थ) साधु के समक्ष निवेदन करना 'आलोचना' है। वैसे सामान्यतया आलोचना का अर्थ है—अपने दोषों को भलीभांति देखना। आलोचना के दस दोष हैं। साधक को उनका त्याग करके शुद्ध हृदय से आलोचना करनी चाहिए। वे दोष इस प्रकार हैं—**(१) आंकपयित्ता-आकम्प्य**—प्रसन्न होने पर गुरुदेव मुझे थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा सोचकर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न करके फिर आलोचना करना। अथवा कांपते हुए आलोचना करना, ताकि गुरुदेव समझें कि यह दोष का नाम लेते हुए कांपता है, मन में दोष न करने का खटका है। यह अर्थ भी सम्भव है। **(२) अणुमाणइत्ता**—अनुमान्य या अणुमान्य—बिलकुल छोटा अपराध बताने से गुरुदेव मुझे बहुत थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे, ऐसा अनुमान करके अपने अपराध को बहुत ही छोटा (अणु) करके बताना। **(३) दिट्ठ (दृष्ट)**—जिस दोष को गुरु आदि ने सेवन करते देख लिया, उसी की आलोचना करना। **(४) बायर (बादर)**—केवल बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना और छोटे अपराधों की आलोचना न करना बादर दोष है। **(५) सुहुमं—सूक्ष्म**—जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की आलोचना करता है, वह बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना कैसे छोड़ सकता है? इस प्रकार का विश्वास उत्पन्न कराने हेतु केवल छोटे-छोटे अपराधों की आलोचना करना। **(६) छण्ण—छन्न**—अधिक लज्जा के कारण अलोचना के समय अव्यक्त-शब्द बोलते हुए इस प्रकार से आलोचना करना कि जिसके पास आलोचना करे वह भी सुन न सके। **(७) सद्दाउलयं**—शब्दाकुल होकर दूसरे अगीतार्थ व्यक्तिगण सुन सकें, इस प्रकार से उच्चस्वर में बोलना। **(८) बहुजणं—बहुजन**—एक ही दोष या अतिचार की अनेक साधुओं के पास आलोचना करना। **(९) अव्वत्तं (अव्यक्त)**—अगीतार्थ (जिस साधु को पूरा ज्ञान नहीं है कि किस अपराध का, कैसी परिस्थिति में किए हुए दोष का कितना प्रायश्चित्त दिया जाता है) के समक्ष आलोचना करना। **१०—तस्सेवी (तत्सेवी)**—जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसे उसी दोष के सेवन करने वाले आचार्य या बड़े साधु के समक्ष आलोचना करना।

ये आलोचना के दस दोष हैं, जिन्हें त्याज्य समझना चाहिए।[1]

तृतीय आलोचनाद्वार : आलोचना करने तथा सुनने योग्य साधकों के गुण

१९२. दसहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहति अत्तदोसं आलोएत्तए, तं जहा—जातिसंपन्ने १ कुलसंपन्ने २ विणयसंपन्ने ३ णाणसंपन्ने ४ दंसणसंपन्ने ५ चरित्तसंपन्ने ६ खंते ७ दंते ८ अमायी ९ अपच्छाणुतावी १० ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९१९-९२०
(ख) भगवती. (हिन्दी-विवेचन) भा. ७, पृ. ३४८८

[१९२] दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है। यथा—(१) जातिसम्पन्न, (२) कुलसम्पन्न, (३) विनयसम्पन्न, (४) ज्ञानसम्पन्न, (५) दर्शनसम्पन्न, (६) चारित्रसम्पन्न, (७) क्षान्त (क्षमाशील), (८) दान्त, (९) अमायी और (१०) अपश्चात्तापी।

१९३. अट्ठहिं ठाणेहिं संपन्ने अणगारे अरिहति आलोयणं पडिच्छित्तए, तं जहा—आयारवं १ आहारवं २ ववहारवं ३ उव्वीलए ४ पकुव्वए ५ अपरिस्सावी ६ निज्जवए ७ अवायदंसी ८। [दारं ३]।

[१९३] आठ गुणों से सम्पन्न अनगार आलोचना देने (सुनने और सुनकर प्रायश्चित्त देने) के योग्य होते हैं। यथा—(१) आचारवान्, (२) आधारवान्, (३) व्यवहारवान्, (४) अपव्रीडक, (५) प्रकुर्वक, (६) अपरिस्रावी, (७) निर्यापक और (८) अपायदर्शी। [तृतीय द्वार]

विवेचन—आलोचना करने योग्य अनगार : दस गुणों से सम्पन्न—(१) जातिसम्पन्न—मातृपक्ष के कुल को जाति कहते हैं। उत्तम जाति (मातृकुल) वाला बुरा कार्य नहीं करता। कदाचित् उससे भूल हो भी जाती है तो वह शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है। **(२) कुलसम्पन्न**—(पितृवंश) को कुल कहते हैं। उत्तम कुल (पितृवंश) में पैदा हुआ व्यक्ति स्वीकृत प्रायश्चित्त, को सम्यक् प्रकार पूर्ण करता है। **(३) विनयसम्पन्न**—विनयवान् साधु, बड़ों की बात मानकर पवित्र हृदय से आलोचना करता है। **(४) ज्ञानसम्पन्न**—सम्यग्ज्ञानवान् साधु मोक्षमार्ग की आराधना करने के लिए क्या करना उचित है और क्या नहीं ? इस बात को भलीभांति समझ कर आलोचना करता है। **(५) दर्शनसम्पन्न**—श्रद्धावान् साधक भगवान् के वचनों पर श्रद्धा होने के कारण शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त से होने वाली शुद्धि को मानता और श्रद्धापूर्वक आलोचना करता है। **(६) चारित्रसम्पन्न**—उत्तम अथवा विशुद्ध चारित्र पालन करने वाला साधक चारित्र को शुद्ध रखने के लिए दोषों की आलोचना करता है। **(७) क्षान्त**—क्षमावान्। किसी दोष के कारण गुरु से उपालम्भ आदि मिलने पर वह क्रोध नहीं करता, और सहिष्णुतापूर्वक समभाव से दिया हुआ प्रायश्चित्त सहन करता है, अपना दोष स्वीकार करके आलोचना करता है। **(८) दान्त**—इन्द्रियों को वश में रखने वाला। इन्द्रिय विषयों के प्रति अनासक्त साधक कठोर से कठोर प्रायश्चित्त को स्वीकार कर लेता है। वह पापों की आलोचना भी शुद्ध चित से करता है। **(९) अमायी**—छल-कपट और दम्भ से रहित। अपने पाप को विना छिपाए वह स्वच्छ हृदय से आलोचना करता है। **(१०) अपश्चात्तापी**—आलोचना करने के बाद पश्चात्ताप नहीं करने वाला साधक। ऐसा व्यक्ति आराधक होता है।

आलोचना सुनने (सुनकर योग्य प्रायश्चित्त देने) योग्य अनगार—आठ गुणों से युक्त होते हैं। यथा—**(१) आचारवान्**—ज्ञानादि पांच प्रकार के आचार से युक्त, **(२) आधारवान्**—बताए हुए अतिचारों (दोषों) को मन में धारण करने वाले, **(३) व्यवहारवान्**—आगमव्यवहार, श्रुतव्यवहार, धारणाव्यवहार, जीतव्यवहार आदि पांच प्रकार के व्यवहार के ज्ञाता। **(४) अपव्रीडक**—लज्जा से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की लज्जा मीठे वचनों से दूर करके भलीभाँति आलोचना कराने वाले। **(५) प्रकुर्वक**—आलोचना किये हुए दोष का योग्य प्रायश्चित्त देकर अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ। **(६) अपरिस्रावी**—आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के समक्ष प्रकाशित नहीं करने वाले। **(७) निर्यापक**—अशक्ति या किसी अन्य कारण से एक साथ पूरा प्रायश्चित्त

लेने में असमर्थ साधु को थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह कराने वाले। (८) **अपायदर्शी**—आलोचना नहीं लेने से परलोक का भय तथा दूसरे दोष बताकर भलीभांति आलोचना कराने वाले।

आलोचना सुनने वाले के यहाँ उपर्युक्त आठ गुण बताये हैं, किन्तु स्थानांगसूत्र में दस गुण बताए हैं, जिनमें (९) प्रियधर्मी और (१०) दृढधर्मी—ये दो गुण अधिक हैं।[1]

चतुर्थ समाचारीद्वार : समाचारी के १० भेद

१९४. दसविहा सामायारी पन्नत्ता, तं जहा—

इच्छा १ मिच्छा २ तहक्कारो ३ आवस्सिया य ४ निसीहिया ५।
आपुच्छणा य ६ पडिपुच्छा ७ छंदणा य ८ निमंतणा ९।
उपसंपया य काले १०, सामायारी भवे दसहा ॥९॥ [दारं ४]।

[१९४] समाचारी दस प्रकार की कही है। यथा—[गाथार्थ] (१) इच्छाकार, (२) मिथ्याकार, (३) तथाकार, (४) आवश्यकी, (५) नैषेधिकी, (६) आपृच्छना, (७) प्रतिपृच्छना, (८) छन्दना, (९) निमंत्रणा और (१०) उपसम्पदा ॥९॥ [चतुर्थ द्वार]

विवेचन—इच्छाकार आदि की परिभाषा—(१) इच्छाकार—'यदि आपकी इच्छा हो, तो आप मेरा अमुक कार्य करें,' अथवा 'आपकी आज्ञा हो, तो मैं आपका यह कार्य करूं'—इस प्रकार पूछना 'इच्छाकार' है। इस समाचारी से किसी भी कार्य में किसी की विवशता नहीं रहती। इस समाचारी के अनुसार एक साधु, दूसरे साधु से उसकी इच्छा जान कर ही कार्य करे, अथवा दूसरा साधु अपने गुरु या बड़े साधु की इच्छा जान कर स्वयं वह कार्य करे।

(२) मिथ्याकार—संयमपालन करते हुए कोई विपरीत आचरण हो गया हो, तो उस पाप के लिए पश्चात्ताप करता हुआ साधु स्वयं यह उद्‌गार निकालता है कि 'मिच्छा मि दुक्कडं'—अर्थात् मेरा यह दुष्कृत-पाप मिथ्या (निष्फल) हो, इसे मिथ्याकार-समाचारी कहते हैं।

(३) तथाकार—सूत्रादि आगम-वाचना या व्याख्या के मध्य गुरु से कुछ पूछने पर जब वे उत्तर दें तब अथवा व्याख्यान दें तब 'तहत्ति' अर्थात् आप कहते हैं, वह यथार्थ है; कहना 'तथाकार' समाचारी है।

(४) आवश्यकी—आवश्यक कार्य के लिए उपाश्रय से बाहर निकलते समय 'आवस्सइ-आवस्सइ' कहे। अर्थात् मैं आवश्यक कार्य के लिए बाहर जाता हूँ, ऐसा कहना 'आवश्यकी' समाचारी है।

(५) नैषेधिकी—बाहर से लौट कर उपाश्रय में प्रवेश करते समय 'निसीहि-निसीहि' कहे। अर्थात् जिस कार्य के लिए मैं बाहर गया था, उस कार्य से निवृत्त होकर आ गया हूँ, इस प्रकार उस कार्य का निषेध करना 'नैषेधिकी' समाचारी है।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४८९-३४९०

(६) आपृच्छना—किसी कार्य में प्रवृत्त होने से पूर्व गुरुदेव से पूछना—'भगवन् ! मैं यह कार्य करूं ?' यह 'आपृच्छना' समाचारी है।

(७) प्रतिपृच्छना—गुरुमहाराज ने पहले जिस कार्य का निषेध किया, उसी कार्य में आवश्यकतानुसार प्रवृत्त होना हो तो गुरुदेव से पूछना—'भगवन् ! आपने पहले इस कार्य के लिए निषेध किया था, किन्तु अब यह कार्य करना आवश्यक है। आप अनुज्ञा दें तो करूं' इस प्रकार पुनः पूछना 'प्रतिपृच्छना' समाचारी है।

(८) छन्दना—लाये हुए आहार के लिए दूसरे साधुओं को आमंत्रण देना कि यदि आपके उपयोग में आ सके तो इस आहार को ग्रहण कीजिए, इत्यादि 'छन्दना' समाचारी है।

(९) निमंत्रणा—आहार लाने के लिए दूसरे साधुओं को निमंत्रण देना या उनसे पूछना कि क्या आपके लिए आहार लाऊँ ? यह 'निमंत्रणा' समाचारी है।

(१०) उपसम्पदा—ज्ञानादि प्राप्त करने के लिए गुरु की आज्ञा प्राप्त कर अपना गण छोड़ कर किसी विशेष आगमज्ञ गुरु के या आचार्य के सान्निध्य में रहना, 'उपसम्पद' समाचारी है।

यह दस प्रकार की समाचारी साधु के संयम-पालन में उपयोगी आचार-पद्धति है।[1]

पंचम प्रायश्चित्तद्वार : प्रायश्चित्त के दस भेद

१९५. दसविहे पायच्छित्ते पन्नत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे १ पडिक्कमणारिहे २ तदुभयारिहे ३ विवेगारिहे ४ विउसग्गारिहे ५ तवारिहे ६ छेदारिहे ७ मूलारिहे ८ अणवट्ठप्पारिहे ९ पारंचियारिहे १०। [दारं ५]।

[१९५] दस प्रकार का प्रायश्चित्त कहा है। यथा—(१) आलोचनार्ह, (२) प्रतिक्रमणार्ह, (३) तदुभयार्ह, (४) विवेगार्ह, (५) व्युत्सर्गार्ह, (६) तपार्ह, (७) छेदार्ह, (८) मूलार्ह, (९) अनवस्थाप्यार्ह और (१०) पारांचिकार्ह। [पंचम द्वार]

विवेचन—प्रायश्चित्त और उसके दस भेदों का स्वरूप—यहाँ प्रायः शब्द अपराध या पाप अथवा अतिचार अर्थ में और चित्त शब्द उसकी विशुद्धि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पाप-दोषों की विशुद्धि या आत्मशुद्धि के लिए गुरु या विश्वस्त आचार्य के समक्ष अपने दोषों को प्रकट करना और उनके द्वारा प्रदत्त आलोचनादि रूप प्रायश्चित्त को स्वीकार करना प्रायश्चित्त का हार्द है। प्रायश्चित्त दस प्रकार का है, जो गुरु आदि द्वारा दोषी साधु को स्वेच्छा से आलोचनादि करने पर दिया जाता है।

(१) आलोचनार्ह—संयम में लगे हुए दोष को गुरु आदि के समक्ष स्पष्ट वचनों से सरलता-पूर्वक प्रकट करना 'आलोचना' है। ऐसा दोष जिसकी शुद्धि आलोचना-मात्र से हो जाए, उसे आलोचनार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं।

---

१. (क) भगवती. प्रमेयचन्द्रिका टीका भा. १६, पृ. ४१५-१६
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४९१-९२

(२) **प्रतिक्रमणार्ह**—प्रतिक्रमण के योग्य। अर्थात्—जिस पाप या दोष की शुद्धि केवल प्रतिक्रमण से हो जाए। प्रतिक्रमणार्ह प्रायश्चित्त में गुरु के समक्ष आलोचना करने की आवश्यकता नहीं रहती।

(३) **तदुभयार्ह**—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों के योग्य। जिस दोष की शुद्धि आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से हो उसे तदुभयार्ह प्रायश्चित्त कहते हैं।

(४) **विवेकार्ह**—अशुद्ध आहारादि आ गया हो तो उसे पृथक् कर देने से अथवा आधाकर्मादि दोषयुक्त आहारादि का विवेक यानी त्याग कर देने से जिस दोष की शुद्धि हो उसे 'विवेकार्ह' प्रायश्चित्त कहते हैं।

(५) **व्युत्सर्गार्ह**—कायोत्सर्ग के योग्य। शरीर की चेष्टा को रोक कर ध्येय वस्तु में उपयोग लगाने से जिस दोष की शुद्धि होती हो, उसे 'व्युत्सर्गार्ह प्रायश्चित्त' कहते हैं।

(६) **तपार्ह**—जिस दोष की शुद्धि तप से हो, उसे 'तपार्ह प्रायश्चित्त' कहते हैं।

(७) **छेदार्ह**—दीक्षापर्याय में छेद यानी कटौती करने के योग्य। जिस अपराध की शुद्धि दीक्षापर्याय का छेद करने से हो, उसे 'छेदार्ह' प्रायश्चित्त कहते हैं।

(८) **मूलार्ह**—मूल अर्थात् मूलगुणों—महाव्रतों को पुनः ग्रहण करने यानी फिर से दीक्षा लेने से दोषशुद्धि होने योग्य। ऐसा प्रबल दोष, जिसके सेवन करने पर पूर्वगृहीत संयम छोड़ कर दूसरी बार नई दीक्षा लेनी पड़े, वह 'मूलार्ह प्रायश्चित्त' है। मूलार्ह-प्रायश्चित्त में पहले का संयम बिलकुल नहीं गिना जाता, दोषी को उस समय से पहले दीक्षित सभी साधुओं को वन्दना करनी पड़ती है।

(९) **अनवस्थाप्यार्ह**—अमुक प्रकार का विशिष्ट तप न कर ले, तब तक महादोषी साधु वेष या महाव्रतों में रखने योग्य नहीं होता, इस प्रकार का अनवस्थान अर्थात् अनिश्चित काल तक साधु-जीवन में स्थापित न करने के कारण, ऐसा प्रायश्चित्त 'अनवस्थाप्य' कहलाता है। अनवस्थाप्य प्रायश्चित्त में दोषी को अमुक निश्चित तप करने तथा गृहस्थ का वेष पहनाने के बाद दूसरी बार दीक्षा देने के बाद ही शुद्धि होती है।

(१०) **पारांचिकार्ह**—जिस गम्भीर दोष के सेवन करने पर साधु को गच्छ से बाहर निकलने तथा स्वक्षेत्र-त्याग करने योग्य प्रायश्चित्त दिया जाए, उसे **पारांचिकार्ह** प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्त रानी या साध्वी आदि का शील-भंग या किसी विशिष्ट व्यक्ति की हत्या आदि महादोष सेवन करने पर दिया जाता है। इस प्रायश्चित्त में दोषी को साधुवेष और स्वक्षेत्र का त्याग करके जिनकल्पी के समान महातप का आचरण करना पड़ता है।

ऐसी पारम्परिक धारणा है कि पारांचिकार्ह प्रायश्चित्त महासत्त्वशाली आचार्य को ही दिया जाता है। इस प्रायश्चित्त द्वारा दोषशुद्धि के लिए छह महीने से लेकर बारह वर्ष तक गच्छ छोड़ कर जिनकल्पी के समान कठोर तपश्चरण करना पड़ता है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का विधान है और सामान्य साधु के लिए आठवें मूलार्ह तक का विधान है। जहाँ तक चतुर्दशपूर्वधारी और वज्रऋषभनाराचसंहननी होते हैं, वहीं तक दसों प्रायश्चित्त होते हैं। उनका विच्छेद होने के पश्चात् मूलार्ह तक आठों ही प्रायश्चित्त होते हैं।

अन्य आगमों में आचार्य, उपाध्याय के अतिरिक्त दूसरे साधुओं के लिए भी दसों प्रायश्चित्तों का विधान मिलता है।[1]

छठा तपोद्वार : तप के भेद-प्रभेद

१९६. दुविधे तवे पन्नत्ते, तं जहा—बाहिरए य, अब्भितरए य।

[१९६] तप दो प्रकार का कहा गया है। यथा—बाह्य और आभ्यन्तर।

१९७. से किं तं बाहिरए तवे ?

बाहिरए तवे छव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—अणसणमोमोयरिया १-२ भिक्खायरिया ३ य रसपरिच्चाओ ४। कायकिलेसो ५ पडिसंलीणया ६।

[१९७ प्र.] (भगवन् !) वह बाह्य तप किस प्रकार का है ?

[१९७ उ.] (गौतम !) बाह्य तप छह प्रकार का कहा गया है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य, (३) भिक्षाचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसंलीनता।

विवेचन—तप और उसके भेद—शरीर, आत्मा, कर्म या विकारों को जिससे तपाया जाए, उसे तप कहते हैं। जैसे—अग्नि में तप्त होकर सोना विशुद्ध और मलरहित हो जाता है, वैसे ही तपस्या रूपी अग्नि में तपी हुई आत्मा कर्ममल, विकार या पाप आदि से रहित होकर निर्मल और विशुद्ध हो जाती है। वह तप दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य तप शरीर और इन्द्रियों आदि से विशेष सम्बन्ध रखता है, जबकि आभ्यन्तर तप मन और आत्मा से सम्बद्ध है। इनके प्रत्येक के छह-छह भेद हैं।[2]

अनशन तप के भेद-प्रभेद

१९८. से किं तं अणसणे ?

अणसणे दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—इत्तरिए य आवकहिए य।

[१९८ प्र.] भगवन् ! अनशन कितने प्रकार का है ?

[१९८ उ.] गौतम ! अनशन दो प्रकार का कहा है, यथा—इत्वरिक और यावत्कथिक।

१९९. से किं तं इत्तरिए ?

इत्तरिए अणेगविधे पन्नत्ते, तं जहा—चउत्थे भत्ते, छट्ठे भत्ते, अट्ठमे भत्ते, दसमे भत्ते, दुवालसमे भत्ते, चोद्दसमे भत्ते, अद्धमासिए भत्ते, मासिए भत्ते, दोमासिए भत्ते। जाव छम्मासिए भत्ते। से त्तं इत्तरिए।

[१९९ प्र.] भगवन् ! इत्वरिक अनशन कितने प्रकार का कहा है ?

[१९९ उ.] इत्वरिक अनशन अनेक प्रकार का कहा गया है। यथा—चतुर्थभक्त (उपवास),

---

१. (क) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिकाटीका) भा. १६, पृ. ४२४-४२५
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४१३-१४

२. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३४९५

षष्ठभक्त (बेला), अष्टम-भक्त (तेला), दशम-भक्त (चौला), द्वादशभक्त (पचौला), चतुर्दशभक्त (छह-उपवास), अर्द्धमासिक (१५ दिन के उपवास), मासिकभक्त (मासखमण—एक महीने के उपवास)—द्विमासिकभक्त, त्रिमासिक भक्त यावत् षाण्मासिक भक्त। यह इत्वरिक अनशन है।

२००. से किं तं आवकहिए ?

आवकहिए दुविधे पन्नत्ते तं जहा—पाओवगमणे य भत्तपच्चक्खाणे य।

[२०० प्र.] भगवन् ! यावत्कथिक अनशन कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२०० उ.] गौतम ! वह दो प्रकार का कहा गया है। यथा—पादोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान।

२०१. से किं तं पाओवगमणे ?

पाओवगमणे दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—नीहारिमे य, अनीहारिमे य, नियमं अपडिकम्मे। से त्तं पाओवगमणे।

[२०१ प्र.] भगवन् ! पादोपगमन कितने प्रकार का कहा गया है ?

[२०१ उ.] गौतम ! पादपोपगमन दो प्रकार का कहा गया है। यथा—निर्हारिम और अनिर्हारिम। ये दोनों नियम से अप्रतिकर्म होते हैं। यह है—पादपोपगमन।

२०२. से किं तं भत्तपच्चक्खाणे ?

भत्तपच्चक्खाणे दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—नीहारिमे य, अनीहारिमे य, नियमं सपडिक्कम्मे। से त्तं आवकहिए। से त्तं अणसणे।

[२०२ प्र.] भगवन् ! भक्तप्रत्याख्यान अनशन क्या है ?

[२०२ उ.] भक्तप्रत्याख्यान दो प्रकार का कहा गया है, यथा—निर्हारिम और अनिर्हारिम। यह नियम से सप्रतिकर्म होता है। इस प्रकार यावत्कथिक अनशन और साथ ही अनशन का निरूपण पूरा हुआ।

विवेचन—अनशन के कतिपय प्रकारों की संज्ञा और उनके विशेषार्थ—अनशन का सामान्यतया अर्थ है—आहार का त्याग करना। इसके दो भेदों में इत्वरिक अनशन का अर्थ है—अल्पकाल के लिए किया जाने वाला अनशन। प्रथम तीर्थंकर के शासन में एक वर्ष, मध्य के बाईस तीर्थंकरों के शासन में आठ मास और अन्तिम तीर्थंकर के शासन में उत्कृष्ट ६ मास तक का इत्वरिक अनशन होता है। इसके चतुर्थभक्त आदि अनेक भेद हैं। चतुर्थभक्त उपवास की, षष्ठभक्त बेले की, अष्टमभक्त तेले की (तीन उपवास की) संज्ञा है। इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिए।

यावत्कथिक अनशन यावज्जीवन का होता है। उसके दो भेद हैं—पादपोपगमन और भक्त-प्रत्याख्यान।

पादोपगमन का अर्थ है—कटे हुए वृक्ष की तरह अथवा वृक्ष की कटी डाली के समान शरीर के किसी भी अंग को किञ्चित् मात्र भी नहीं हिलाते हुए अशन-पान-खादिम-स्वादिम रूप चारों प्रकार के आहार का त्याग करके निश्चलरूप से संथारा करना।

पादपोपगमन अनशन में हाथ-पैर हिलाने का भी आगार नहीं है। साधक संथारा करके जिस स्थान में जिस रूप में एक बार लेट जाता है, फिर उसी स्थान में उसी स्थिति में लेटे रहना और अन्तिम समय तक निश्चल होकर मृत्यु का सद्भावना से वरण करना पादपोपगमन है।

तीनों या चारों प्रकार के आहार का त्याग करके जो संथारा किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं, इसे 'भक्तपरिज्ञा' भी कहते हैं।

पादपोपगमन और भक्तप्रत्याख्यान के निर्हारिम और अनिर्हारिम, ऐसे दो-दो भेद होते हैं। जिस साधक का संथारा ग्राम आदि में रहते हुए हुआ हो और उसके मृतशरीर को ग्रामादि से बाहर ले जाया जाए, उसे 'निर्हारिम' कहते हैं और ग्रामादि से बाहर किसी पर्वत की गुफा आदि में जो संथारा (अनशन) किया जाए, उसे 'अनिर्हारिम' कहते हैं। पादपोपगमन अप्रतिकर्म होता है, उसमें संथारे की स्थिति में किसी दूसरे प्रति से किसी प्रकार की सेवा नहीं ली जाती। भक्तप्रत्याख्यान अनशन सप्रतिकर्म होता है। इसमें दूसरे मुनियों से सेवा कराई जा सकती है।[1]

अवमौदर्य तप के भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा

२०३. से किं तं ओमोदरिया ?

ओमोदरिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—दव्वोमोदरिया य भावोमोदरिया य।

[२०३ प्र.] भगवन् ! अवमोदरिका (ऊनोदरी) तप कितने प्रकार का है ?

[२०३ उ.] गौतम ! अवमोदरिका तप दो प्रकार का कहा गया है। यथा—द्रव्य-अवमोदरिका और भाव-अवमोदरिका।

२०४. से किं तं दव्वोमोदरिया ?

दव्वोमोदरिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—उवगरणदव्वोमोदरिया य, भत्त-पाणदव्वोमोयरिया य।

[२०४ प्र.] भगवन् ! द्रव्य-अवमोदरिका कितने प्रकार का कहा है ?

[२०४ उ.] गौतम ! द्रव्य-अवमोदरिका दो प्रकार का कहा है। यथा—उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका और भक्तपानद्रव्य-अवमोदरिका।

२०५. से किं तं उवगरणदव्वोमोदरिया ?

उवगरणदव्वोमोयरिया—एगे वत्थे एगे पादे चियत्तोवगरणसातिज्जणया। से त्तं उवगरण-दव्वोमोयरिया।

[२०५ प्र.] भगवन् ! उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका कितने प्रकार का कहा है ?

[२०५ उ.] गौतम ! उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका (तीन प्रकार का है, यथा—) एक वस्त्र, एक पात्र और त्यक्तोपकरण-स्वदनता। यह हुआ उपकरणद्रव्य-अवमोदरिका।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३४९७-३४९८

२०६. से किं तं भत्त-पाणदव्वोमोदरिया ?

भत्त-पाणदव्वोमोदरिया अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारं आहारेमाणस्स अप्पाहारे, दुवालस० जहा सत्तमसए पढमुद्देसए (स० ७ उ० १ सु० १९) जाव नो पकामरसभोती ति वत्तव्वं सिया। से त्तं भत्त-पाणदव्वोमोदरिया। से त्तं दव्वोमोदरिया।

[२०६ प्र.] भगवन् ! भक्तपानद्रव्य-अवमोदरिका कितने प्रकार का है ?

[२०६ उ.] गौतम ! (मुर्गी) के अण्डे के प्रमाण के आठ कवल आहार करना अल्पाहार-अवमोदरिका है तथा बारह कवल प्रमाण आहार करना अवड्ढ-अवमोदरिका है, इत्यादि वर्णन सातवें शतक के प्रथम उद्देशक के (सू. १९ के) अनुसार यावत् वह प्रकाम-रसभोजी नहीं होता, ऐसा कहा जा सकता है, यहाँ तक जानना चाहिए। यह भक्तपान-अवमोदरिका का वर्णन हुआ। इस प्रकार द्रव्य-अवमोदरिका का वर्णन पूर्ण हुआ।

२०७. से किं तं भावोमोदरिया ?

भावोमोदरिया अणेगविहा पन्नत्ता, तं जहा—अप्पकोहे, जाव अप्पलोभे, अप्पसद्दे, अप्पझंझे, अप्पतुमंतुमे, से त्तं भावोमोदरिया। से त्तं ओमोयरिया।

[२०७ प्र.] भगवन् ! भाव-अवमोदरिका कितने प्रकार का है ?

[२०७ उ.] गौतम ! भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार का कहा है। यथा—अल्पक्रोध यावत् अल्पलोभ, अल्पशब्द, अल्पझंझा (थोड़ी झंझट) और अल्प तुमन्तुमा। यह हुई भाव-अवमोदरिका। इस प्रकार अवमोदरिका का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—अवमोदरिका : लक्षण, प्रकार और स्वरूप—अवमोदरिका का दूसरा प्रचलित नाम ऊनोदरी है। भोजन, वस्त्र, उपकरण आदि का तथा क्रोधादि भावों का आवेश कम करना 'ऊनोदरी' तप है। इसके दो भेद हैं—द्रव्य-ऊनोदरो और भाव-ऊनोदरो। भण्ड-उपकरण और आहारादि का जो परिमाण शास्त्रों में साधुवर्ग के लिए बताया है, उसमें कमी करना अर्थात् कम से कम उपकरणादि का उपयोग करना तथा सरस और पौष्टिक आहार का त्याग करना द्रव्य-ऊनोदरी है। द्रव्य ऊनोदरी के मुख्य दो भेद हैं। यथा—उपकरण-द्रव्य-ऊनोदरी और भक्त-पान-द्रव्य-ऊनोदरी। उपकरण-द्रव्य-ऊनोदरी के तीन भेद हैं—एकपात्र, एकवस्त्र और जीर्ण उपधि। शास्त्र में चार पात्र तक रखने का विधान है। उससे कम रखना पात्र-ऊनोदरी है। इसी प्रकार शास्त्र में साधु को ७२ हाथ (चौरस) और साध्वी के लिए ९६ हाथ वस्त्र रखने का विधान है। इससे कम रखना वस्त्र-ऊनोदरी है। तीसरा भेद है—**चियत्तोवगरणसातिज्जणया**—जिसका संस्कृत रूपान्तर होता है-**त्यक्तोपकरण-स्वदनता**। त्यक्त अर्थात् संयतों के त्यागे हुए उपकरणों की स्वदनता अर्थात् परिभोग करना। यह अर्थ वृत्तिकार-सम्मत है। चूर्णिकार ने अर्थ किया है—साधु के पास जो वस्त्र हों, उन पर ममत्वभाव न रखे, दूसरा कोई (सांभोगिक) साधु मांगे तो उसे उदारतापूर्वक दे दे। ये सभी ऊनोदरी के विशेषार्थ हैं, जो अवमोदरिका के अर्थ में घटित होते हैं। **भक्तपानद्रव्य-ऊनोदरी** के सामान्यतया ५ भेद हैं। यथा—आठ कवल (कौर)-प्रमाण आहार करना **अल्पाहार-ऊनोदरी** है, बारह कौर-प्रमाण आहार-करना **अपार्द्ध ऊनोदरी** है, सोलह कवल-प्रमाण आहार करना **अर्द्ध-ऊनोदरी** है। चौबीस कवल-

प्रमाण आहार करना 'प्राप्त ऊनोदरी' है। अर्थात् चार विभाग में से तीन विभाग आहार है और एक भाग ऊनोदरी है। इकतीस कवल-प्रमाण आहार करना 'किंचित् ऊनोदरी' है और पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना 'प्रमाणोपेत ऊनोदरी' है। पूर्ण आहार तप नहीं माना जाता। उसमें से एक कौर भी आहार कम करे वहाँ तक थोड़ा तप अवश्य है। इस प्रकार ऊनोदरी तप करने वाला साधु 'प्रकामरसभोजी' नहीं है, ऐसा कहा जाता है। इस ऊनोदरी तप का विशेष विवेचन सातवें शतक के प्रथम उद्देशक में किया गया है।

भाव-ऊनोदरी के अनेक भेद कहे हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के आवेश को कम करना, अल्प वचन बोलना, क्रोध के वश यद्वा-तद्वा न बोलना (झंझा न करना) तथा हृदयस्थ कषाय (तुमन्तुम) को शान्त करना (मन में कुढ़ना-चिढ़ना नहीं) 'भाव-ऊनोदरी' है।[1]

भिक्षाचर्या, रसपरित्याग एवं कायक्लेश तप की प्ररूपणा

२०८. से किं तं भिक्खायरिया ?

भिक्खायरिया अणेगविहा पन्नत्ता, तं जहा—दव्वाभिग्गहचरए, खेत्ताभिग्गहचरए, जहा उववातिए जाव सुद्धेसणिए, संखादत्तिए। से त्तं भिक्खायरिया।

[२०८ प्र.] भगवन्! भिक्षाचर्या कितने प्रकार की है ?

[२०८ उ.] गौतम! भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की कही है। यथा—द्रव्याभिग्रहचरक भिक्षाचर्या, क्षेत्राभिग्रहचरक भिक्षाचर्या, इत्यादि वर्णन औपपातिकसूत्र के अनुसार यावत् शुद्धैषणिक, संख्यादत्तिक, यहाँ तक कहना। यह भिक्षाचर्या का वर्णन हुआ।

२०९. से किं तं रसपरिच्चाए ?

रसपरिच्चाए अणेगविधे पन्नत्ते, तं जहा—निव्वितिए, पणीतरसविवज्जए जहा उववाइए जाव लूहाहारे। से त्तं रसपरिच्चाए।

[२०९ प्र.] भगवन्! रस-परित्याग के कितने प्रकार हैं ?

[२०९ उ.] गौतम! रस-परित्याग अनेक प्रकार का कहा गया है। यथा—निर्विकृतिक, प्रणीतरस-विवर्जक, इत्यादि औपपातिकसूत्र में कथित वर्णन के अनुसार यावत् रूक्षाहार-पर्यन्त कहना चाहिए।

२१०. से किं तं कायकिलेसे ?

कायकिलेसे अणेगविधे पन्नत्ते, तं जहा—ठाणादीए, उक्कुडुयासणिए, जहा उववातिए जाव सव्वगायपडिकम्मविप्पमुक्के। से त्तं कायकिलेसे।

[२१० प्र.] भगवन्! कायक्लेश तप कितने प्रकार का है ?

[२१० उ.] गौतम! कायक्लेश तप अनेक प्रकार का कहा है। यथा—स्थानातिग, उत्कुटुकासनिक इत्यादि औपपातिकसूत्र के अनुसार यावत् सर्वगात्रप्रतिकर्मविप्रमुक्त तक कहना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५००-३५०१

विवेचन—भिक्षाचर्या का स्वरूप और प्रकार—विविध प्रकार के अभिग्रह लेकर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से भिक्षा संकोच करते हुए चर्या (अटन) करना—भिक्षाचर्या-तप कहलाता है। अभिग्रह-पूर्वक भिक्षाचरी करने से वृत्ति-संकोच होता है, इसलिए इसे 'वृत्तिसंक्षेप' कहते हैं। औपपातिकसूत्र में द्रव्याभिग्रहचरक, क्षेत्राभिग्रहचरक, कालाभिग्रहचरक, भावाभिग्रहचरक इत्यादि कई भेद किये हैं। शुद्ध एषणा, अर्थात् शंकितादि दोषों का परित्याग करते हुए शुद्ध पिण्ड ग्रहण करना शुद्धैषणिकभिक्षा है तथा पांच, छह अथवा सात आदि दत्तियों की गणनापूर्वक भिक्षा करना संख्यादत्तिक भिक्षा है। इसके अतिरिक्त भिक्षा के आचाम्ल (आयंबिल), आयाम-सिक्थभोजी, अरसाहार इत्यादि अनेक भेद औपपातिकसूत्र में बताए हैं।[1]

रसपरित्याग : स्वरूप और प्रकार—दुग्ध, दधि, घृत, तेल और मिष्ठान्न ये पांचों रस विकृति-जनक होने से इन्हें विकृति (विग्गई) कहा जाता है। इन पांचों विकृतिजनक रसों (विकृतियों) का तथा प्रणीत, स्निग्ध, गरिष्ठ एवं स्वादिष्ट खाद्य-पेय वस्तुओं के रस (स्वाद) का त्याग करना रस-परित्याग कहलाता है। यह एक प्रकार का अस्वादव्रत है। इसमें छहों रसों (तिक्त, कटु, मधुर, कसैला, खट्टा आदि) का तथा विकृतिजनक पदार्थों का त्याग किया जाता है। इसीलिए इसके निर्विकृतिक, प्रणीतरसविवर्जक, रूक्षाहारक आदि अनेक भेद औपपातिकसूत्र में वर्णित हैं।[2]

कायक्लेश : परिभाषा तथा प्रकार—आध्यात्मिक तप, जप, संयम आदि की साधना एवं धर्म-पालन के लिए काय यानी शरीर को शास्त्रसम्मत-रीति से सद्भाव पूर्वक क्लेश (कष्ट) पहुँचाना कायक्लेशतप है। इसके वीरासन, उत्कुटुकासन, दण्डासन आदि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा-शुश्रूषा-शृंगारादि परिकर्म का त्याग करना इत्यादि अनेक प्रकार औपपातिकसूत्र में बताए हैं। इसके स्थान-स्थितिक, स्थानातिग, प्रतिमास्थायी, नैषधिक इत्यादि और भी अनेक भेद हैं।[3]

प्रतिसंलीनता तप के भेद एवं स्वरूप का निरूपण

२११. से किं तं पडिसंलीणया ?

पडिसंलीणया चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—इंदियपडिसंलीणया कसायपडिसंलीणया जोगपडि-संलीणया विवित्तसयणासणसेवणया।

[२११ प्र.] (भगवन् !) प्रतिसंलीनता कितने प्रकार की कही है ?

[२११ उ.] (गौतम !) प्रतिसंलीनता चार प्रकार की कही है। यथा—(१) इन्द्रियप्रति-संलीनता, (२) कषायप्रतिसंलीनता, (३) योगप्रतिसंलीनता और (४) विविक्तशय्यासनप्रतिसंलीनता।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२४
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५०१

२. (क) वही, भा. ७, पृ. ३५०२
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२४

३. (क) वही, पत्र ९२४
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५०३

२१२. से किं तं इंदियपडिसंलीणया ?

इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पन्नत्ता, तंजहा—सोइंदियविसयपयारणिरोहो वा, सोतिंदियविसयप्पत्तेसु वा अत्थेसु राग-दोसविणिग्गहो; चक्खिदियविसय०, एवं जाव फासिंदियविसयपयारणिरोहो वा, फासिंदियविसयप्पत्तेसु वा अत्थेसु राग-दोसविणिग्गहो। से त्तं इंदियपडिसंलीणया।

[२१२ प्र.] भगवन् ! इन्द्रियप्रतिसंलीनता कितने प्रकार की है ?

[२१२ उ.] गौतम ! इन्द्रियप्रतिसंलीनता पांच प्रकार की कही है। यथा—(१) श्रोत्रेन्द्रियविषय-प्रचारनिरोध अथवा श्रोत्रेन्द्रियविषयप्राप्त अर्थों में रागद्वेषविनिग्रह, (२) चक्षुरिन्द्रियविषयप्रचारनिरोध अथवा चक्षुरिन्द्रियविषयप्राप्त अर्थों में रागद्वेषविनिग्रह, इसी प्रकार यावत् स्पर्शनेन्द्रियविपयप्रचारनिरोध अथवा स्पर्शनेन्द्रियविषयप्राप्त अर्थों में रागद्वेषविनिग्रह। यह इन्द्रियप्रतिसंलीनता-तप का वर्णन हुआ।

२१३. से किं तं कसायपडिसंलीणया ?

कसायपडिसंलीणया चउव्विहा पन्नत्ता, तंजहा—कोहोदयनिरोहो वा, उदयप्पत्तस्स वा कोहस्स विफलीकरणं; एवं जाव लोभोदयनिरोहो वा उदयपत्तस्स वा लोभस्स विफलीकरणं। से त्तं कसायपडिसंलीणया।

[२१३ प्र.] भगवन् ! कषायप्रतिसंलीनता कितने प्रकार की है ?

[२१३ उ.] गौतम ! कषायप्रतिसंलीनता चार प्रकार की कही है। यथा—(१) क्रोधोदयनिरोध अथवा उदयप्राप्त क्रोध का विफलीकरण, यावत् (४) लोभोदयनिरोध अथवा उदयप्राप्त लोभ का विफलीकरण। यह हुआ कषायप्रतिसंलीनता का वर्णन।

२१४. से किं तं जोगपडिसंलीणया ?

जोगपडिसंलीणया तिविहा पन्नत्ता, तं जहा[१]—अकुसलमणनिरोहो वा, कुसलमणउदीरणं वा, मणस्स वा एगत्तीभावकरणं; अकुसलवइनिरोहो वा, कुसलवइउदीरणं वा, वईए वा एगत्तीभावकरणं।

[२१४ प्र.] भगवन् ! योगप्रतिसंलीनता कितने प्रकार की है ?

[२१४ उ.] गौतम ! योगप्रतिसंलीनता तीन प्रकार की कही है। यथा—(१) मनोयोगप्रतिसंलीनता, (२) वचनयोगप्रतिसंलीनता और (३) काययोगप्रतिसंलीनता।

[प्र.] मनोयोगप्रतिसंलीनता किस प्रकार की है ?

[उ.] मनोयोगप्रतिसंलीनता इस प्रकार की है—अकुशल मन का निरोध, कुशलमन की उदीरणा और मन को एकाग्र करना।

---

१. अन्य प्रतियों में अधिक पाठ उपलब्ध होता है—मणजोगपडिसंलीणया वइजोगपडिसंलीणया कायजोगपडिसंलीणया य। से किं तं मणजोगपडिसंलीणया ? मणजोगपडिसंलीणया—अकुसलमणनिरोहो वा, कुसलमणउदीरणं वा, मणस्स वा एगत्तीभावकरणं। से त्तं मणजोगपडिसंलीणया। से किं तं वइजोगपडिसंलीणया ? वइजोगपडिसंलीणया।

[प्र.] वचनयोगप्रतिसंलीनता किस प्रकार की है ?

[उ.] वचनयोगप्रतिसंलीनता इस प्रकार की है— अकुशल वचन का निरोध, कुशल वचन की उदीरणा और वचन की एकाग्रता करना।

२१५. से किं तं कायपडिसंलीणया ?

कायपडिसंलीणया जं णं सुसमाहियपसंतसाहरियपाणि-पाए कुम्मो इव गुत्तिदिए अल्लीणे पल्लीणे चिट्ठइ। से त्तं कायपडिसंलीणया। से त्तं जोगपडिसंलीणया।

[२१५ प्र.] कायप्रतिसंलीनता किसे कहते हैं ?

[२१५ उ.] कायप्रतिसंलीनता है—सम्यक् प्रकार से समाधिपूर्वक प्रशान्तभाव से हाथ-पैरों को संकुचित करना (सिकोड़ना), कछुए के समान इन्द्रियों का गोपन करके आलीन-प्रलीन (स्थिर) होना। यह हुआ योगप्रतिसंलीनता का वर्णन।

२१६. से किं तं विवित्तसयणासणसेवणता ?

विवित्तसयणासणसेवणया जं णं आरामेसु वा उज्जाणेसु वा जहा सोमिलुद्देसए (स० १८ उ० १० सु० २३) जाव सेज्जासंथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरति। से त्तं विवित्तसयणासणसेवणया। से त्तं पडिसंलीणया। से त्तं बाहिरए तवे।

[२१६ प्र.] विविक्तशय्यासनसेवनता किसे कहते हैं ?

[२१६ उ.] विविक्त (स्त्री, पशु और नपुंसक से रहित) स्थान में, अर्थात्—आराम (बगीचों) अथवा उद्यानों आदि में, (अठारहवें शतक के दसवें सोमिल-उद्देशक के सू. २३) के अनुसार, यावत् निर्दोष शय्यासंस्तारक आदि उपकरण लेकर रहना (यहाँ तक) विविक्तशय्यासनसेवनता है। यह हुई विविक्तशय्यासनसेवनता। इस प्रकार प्रतिसंलीनता का वर्णन पूर्ण हुआ। साथ ही बाह्यतप का वर्णन पूर्ण हुआ।

विवेचन—प्रतिसंलीनता : विशेषार्थ, उद्देश्य और प्रकार—प्रतिसंलीनता का सामान्य अर्थ है—गोपन करना अथवा तल्लीन हो जाना। इसका विशेषार्थ है—इन्द्रिय, कषाय और योगों की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना, शुभ योग में प्रवृत्त होना, शुभ योग में एकाग्र होना। मुख्यरूप से इसके चार भेद हैं—इन्द्रियप्रतिसंलीनता, कषायप्रतिसंलीनता, योगप्रतिसंलीनता और विविक्तशय्यासनसेवनता। इन्द्रियप्रतिसंलीनता के पांच, कषायप्रतिसंलीनता के चार और योगप्रतिसंलीनता के तीन भेद; ये कुल बारह और तेरहवाँ विविक्तशय्यासनसेवनता; ये सभी मिलाने से तेरह भेद होते हैं। इनके विशेषार्थ मूलपाठ में स्पष्ट हैं। इन प्रतिसंलीनताओं के उद्देश्य भी मूल में स्पष्ट हैं।[1]

ये बाह्यतप क्यों और किसलिए ?—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता, ये छह बाह्यतप कहलाते हैं। ये बाह्य द्रव्यादि की अपेक्षा रखते हैं और प्रायः बाह्य-

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२३

(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २ की टिप्पणी (मू. पा. टि.), पृ. १०५३

(ग) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५०६

शरीर को तपाते हैं, अर्थात्—शरीर पर इनका अधिक प्रभाव पड़ता है। इन तपश्चर्याओं को करने वाला लोकव्यवहार में 'तपस्वी' के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है। अन्यतीर्थिकजन भी स्वाभिप्रायानुसार इन तपश्चर्याओं को अपनाते हैं; इन और ऐसे कारणों से ये तपश्चरण बाह्यतप कहलाते हैं। ये बाह्यतप मोक्षप्राप्ति के बाह्य अंग हैं।[1]

षड्विध आभ्यन्तर तप के नाम-निर्देश

२१७. से किं तं अब्भितरए तवे ?

अब्भितरए तवे छव्विहे पन्नत्ते, तंजहा—पायच्छित्तं १ विणओ २ वेयावच्चं ३ सज्झायो ४ झाणं ५ विओसग्गो ६।

[२१६ प्र.] (भगवन् !) वह आभ्यन्तर तप कितने प्रकार का है ?

[२१७ उ.] (गौतम !) आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा है। यथा—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

विवेचन—आभ्यन्तर तप का स्वरूप—जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों (आन्तरिक परिणामों) के साथ हो, उसे आभ्यन्तर तप कहा गया है। उपर्युक्त छह आभ्यन्तर तपों का आत्मा के परिणामों के साथ सीधा सम्बन्ध है।

प्रायश्चित्त तप के दश भेद

२१८. से किं तं पायच्छित्ते ?

पायच्छित्ते दसविधे पन्नत्ते, तं जहा—आलोयणारिहे जाव पारंचियारिहे। से त्तं पायच्छित्ते।

[२१८ प्र.] (भगवन् !) प्रायश्चित्त कितने प्रकार का है ?

[२१८ उ.] (गौतम !) प्रायश्चित्त दस प्रकार का कहा है। यथा—आलोचनार्ह (से लेकर) यावत् पारांचिकार्ह। यह हुआ प्रायश्चित्त तप।

विवेचन—प्रायश्चित्त : स्वरूप और तद्विषयक ५० बोल—मूलगुण और उत्तरगुण-विषयक अतिचारों से मलिन हुई आत्मा जिस अनुष्ठान से शुद्ध हो, अथवा जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। कहा भी है—

'प्रायः पापं विजानीयात्, चित्तं तस्य विशोधनम्।'

प्राय: का अर्थ है—पाप और चित्त का अर्थ है,—उसकी विशुद्धि। **प्रायश्चित्त से सम्बन्धित पचास बोल** इस प्रकार हैं—आलोचनार्ह आदि दस प्रकार का प्रायश्चित्त, आकम्प्य आदि आलोचना के दस दोष, दर्प, प्रमाद आदि प्रायश्चित्त-सेवन के दस कारण, फिर प्रायश्चित्त देने वाले के आचारवान् आदि दस गुण और प्रायश्चित्त लेने वाले के जातिसम्पन्नता, कुलसम्पन्नता आदि दस गुण, इस प्रकार कुल मिला कर प्रायश्चित्त सम्बन्धी पचास बोल होते हैं।[2]

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५०७

२. वही, भा. ७, पृ. ३५०८

विनय तप के भेद-प्रभेदों का निरूपण

२१९. से किं तं विणए ?

विणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—नाणविणए १ दंसणविणए २ चरित्तविणए ३ मणविणए ४ वइविणए ५ कायविणए ६ लोगोवयारविणए ७।

[२१९ प्र.] (भगवन् !) विनय कितने प्रकार का है ?

[२१९ उ.] (गौतम !) विनय सात प्रकार का कहा है। यथा—(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शन-विनय, (३) चारित्रविनय, (४) मनविनय, (५) वचनविनय, (६) कायविनय और (७) लोकोपचार विनय।

२२०. से किं तं नाणविणए ?

नाणविणए पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—आभिनिवोहियनाणविणए जाव केवलनाणविणए। से त्तं नाणविणए।

[२२० प्र.] (भगवन् !) ज्ञानविनय कितने प्रकार का है ?

[२२० उ.] (गौतम !) ज्ञानविनय पाँच प्रकार का कहा है। यथा—आभिनिवोधिकज्ञान-विनय यावत् केवलज्ञानविनय। यह है ज्ञानविनय।

२२१. से किं तं दंसणविणए ?

दंसणविणए दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—सुस्सूसणाविणए य अणच्चासायणाविणए य।

[२२१ प्र.] (भगवन् !) दर्शनविनय कितने प्रकार का है ?

[२२१ उ.] (गौतम !) दर्शनविनय दो प्रकार का कहा है। यथा—शुश्रूषाविनय और अनाशातनाविनय।

२२२. से किं तं सुस्सूसणाविणए ?

सुस्सूसणाविणए अणेगविधे पन्नत्ते, तं जहा—सक्कारेति वा सम्माणेति वा जहा चोद्दसमसए ततिए उद्देसए (स० १४ उ० ३ सु० ४) जाव पडिसंसाहणया। से त्तं सुस्सूसणाविणए।

[२२२ प्र.] (भगवन् !) शुश्रूषाविनय कितने प्रकार का है ?

[२२२ उ.] (गौतम !) शुश्रूषाविनय अनेक प्रकार का कहा है। यथा—सत्कार, सम्मान इत्यादि सब वर्णन चौदहवें शतक के तीसरे उद्देशक (के सूत्र ४) के अनुसार यावत् प्रतिसंसाधनता तक जानना चाहिए।

२२३. से किं तं अणच्चासादणाविणए ?

अणच्चासादणाविणए पणयालीसतिविधे पन्नत्ते, तं जहा—अरहंताणं अणच्चासादणया, अरहंतपन्नत्तस्स धम्मस्स अणच्चासायणया २ आयरियाणं अणच्चासादणया ३ उवज्झायाणं अणच्चासायणया ४ थेराणं अणच्चासायणया ५ कुलस्स अणच्चासायणया ६ गणस्स अणच्चासा-यणया ७ संघस्स अणच्चासादणया ८ किरियाए अणच्चासायणया ९ संभोगस्स अणच्चासायणया १०

आभिणिबोहियनाणस्स अणच्चासायणया ११ जाव केवलनाणस्स अणच्चासायणया १२-१३-१४-१५, एएसिं चेव भत्तिबहुमाणे णं १५, एएसिं चेव वण्णसंजलणया १५,=४५। से त्तं अणच्चासायणाविणए। से त्तं दंसणविणए।

[२२३ प्र.] (भगवन् !) अनाशातनाविनय कितने प्रकार का है ?

[२२३ उ.] (गौतम !) अनाशातनाविनय पैंतालीस प्रकार का कहा है। यथा—(१) अरिहन्तों की अनाशातना, (२) अरिहन्तप्रज्ञप्त धर्म की अनाशातना, (३) आचार्यों की अनाशातना, (४) उपाध्यायों की अनाशातना, (५) स्थविरों की अनाशातना, (६) कुल की अनाशातना, (७) गण की अनाशातना, (८) संघ की अनाशातना, (९) क्रिया की अनाशातना, (१०) साम्भोगिक (साधर्मिक साधु-साध्वीगण) की अनाशातना, (११ से १५ तक) आभिनिबोधिकज्ञान से लेकर केवलज्ञान तक की अनाशातना। इन पन्द्रह की (१) भक्ति करना, (२) बहुमान करना और (३) इनका गुण-कीर्तन करना, इस प्रकार कुल १५ × ३ = ४५ भेद अनाशातनाविनय के हुए। यह हुआ अनाशातनाविनय का वर्णन। साथ ही दर्शनविनय का वर्णन भी पूर्ण हुआ।

२२४. से किं तं चरित्तविणए ?

चरित्तविणए पंचविधे पन्नत्ते, तं जहा—सामाइयचरित्तविणए जाव अहक्खायचरित्तविणए। से त्तं चरित्तविणए।

[२२४ प्र.] (भगवन् !) चारित्रविनय कितने प्रकार का है।

[२२४ उ.] (गौतम !) चारित्रविनय पांच प्रकार का कहा है। यथा—सामायिकचारित्रविनय (से लेकर) यावत् यथाख्यातचारित्रविनय। इस प्रकार चारित्रविनय का वर्णन हुआ।

२२५. से किं तं मणविणए ?

मणविणए दुविहे पन्नत्ते, तं जहा—पसत्थमणविणए य अप्पसत्थमणविणए य।

[२२५ प्र.] वह मनोविनय कितने प्रकार का है ?

[२२५ उ.] मनोविनय दो प्रकार का कहा है। यथा—प्रशस्तमनोविनय और अप्रशस्तमनोविनय।

२२६. से किं तं पसत्थमणविणए ?

पसत्थमणविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—अपावए, असावज्जे, अकिरिए, निरुवक्केसे, अणण्हयकरे, अच्छविकरे, अभूयाभिसंकणे। से त्तं पसत्थमणविणए।

[२२६ प्र.] वह प्रशस्तमनोविनय कितने प्रकार का है।

[२२६ उ.] प्रशस्तमनोविनय सात प्रकार का बताया है। यथा—(१) अपापक (पापरहित), (२) असावद्य (क्रोधादि सावद्य—पापों से रहित), (३) अक्रिय (कायिकी आदि क्रियाओं से रहित), (४) निरुपक्लेश—(शोकादि उपक्लेशों से रहित), (५) अनाश्रवकर (आश्रवों से रहित), (६) अच्छविकर (स्वपर को पीड़ा न देने वाला) और (७) अभूताभिशंकित (जीवों को शंकित या भयभीत न करने वाला)।

35022

२२७. से किं तं अप्पसत्थमणविणए ?

अप्पसत्थमणविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा— पावए सावज्जे सकिरिए सउवक्केसे अण्हयकरे छविकरे भूयाभिसंकणे। से त्तं अप्पसत्थमणविणए। से त्तं मणविणए।

[२२७ प्र.] अप्रशस्तमनोविनय कितने प्रकार का है ?

[२२७ उ.] (गौतम !) अप्रशस्तमनोविनय भी सात प्रकार का कहा है। यथा—पापक (पापकारी), सावद्य, सक्रिय (कायिकी आदि क्रियाओं से युक्त), सोपक्लेश, आश्रवकारी, छविकारी (प्राणियों को या स्वपर को पीड़ा उत्पन्न करने वाला) और भूताभिशंकित (प्राणियों के मन में भय उत्पन्न करने वाला)।

यह हुआ अप्रशस्तमनोविनय का वर्णन।

२२८. से किं तं वइविणए ?

वइविणए दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—पसत्थवइविणए य अप्पसत्थवइविणए य।

[२२८ प्र.] (भगवन् !) वचनविनय कितने प्रकार का है ?

[२२८ उ.] (गौतम !) वचनविनय दो प्रकार का कहा है। यथा—प्रशस्तवचनविनय और अप्रशस्तवचनविनय।

२२९. से किं तं पसत्थवइविणए ?

पसत्थवइविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—अपावए जाव अभूयाभिसंकणे। से त्तं पसत्थवइविणए।

[२२९ प्र.] वह प्रशस्तवचनविनय कितने प्रकार का है ?

[२२९ उ.] (गौतम !) प्रशस्तवचनविनय सात प्रकार का कहा है। यथा—अपापक (पाप-रहित), असावद्य यावत् अभूताभिशंकित।

२३०. से किं तं अप्पसत्थवइविणए ?

अप्पसत्थवइविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—पावए सावज्जे जाव भूयाभिसंकणे। से त्तं अप्पसत्थवइविणए। से त्तं वइविणए।

[२३० प्र.] (भगवन् !) अप्रशस्तवचोविनय कितने प्रकार का है ?

[२३० उ.] (गौतम !) अप्रशस्त वचोविनय सात प्रकार का कहा है। यथा—पापक, सावद्य यावत् भूताभिशंकित।

२३१. से किं तं कायविणए ?

कायविणए दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—पसत्थकायविणए य अप्पसत्थकायविणए य।

[२३१ प्र.] (भगवन् !) कायविनय कितने प्रकार का है ?

[२३१ उ.] (गौतम !) कायविनय दो प्रकार का कहा है। यथा—प्रशस्तकायविनय और अप्रशस्तकायविनय।

२३२. से किं तं पसत्थकायविणए ?

पसत्थकायविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—आउत्तं गमणं, आउत्तं ठाणं, आउत्तं निसीयणं, आउत्तं तुयट्टणं, आउत्तं उल्लंघणं, आउत्तं पल्लंघणं, आउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया। से त्तं पसत्थकायविणए।

[२३२ प्र.] (भगवन् !) प्रशस्त कायविनय कितने प्रकार का है ?

[२३२ उ.] (गौतम !) प्रशस्त कायविनय सात प्रकार का कहा है। यथा—आयुक्त गमन (यतनापूर्वक गमन), आयुक्त स्थान (यतनापूर्वक ठहरना या खड़े रहना), आयुक्त निषीदन (सावधानी पूर्वक करवट बदलना, लेटना या सोना), आयुक्त उल्लंघन (सावधानीपूर्वक लांघना), आयुक्त प्रलंघन (सावधानी से बार-बार या जोर से लाँघना) और आयुक्त सर्वेन्द्रिययोगयुंजनता (सभी इन्द्रियों और योगों की सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना)। यह हुआ प्रशस्तकायविनय का वर्णन।

२३३. से किं तं अप्पसत्थकायविणए ?

अप्पसत्थकायविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—अणाउत्तं गमणं, जाव अणाउत्तं सव्विंदियजोगजुंजणया। से त्तं अप्पसत्थकायविणए। से त्तं कायविणए।

[२३३ प्र.] (भगवन् !) अप्रशस्त कायविनय कितने प्रकार का है ?

[२३३ उ.] (गौतम !) अप्रशस्त कायविनय सात प्रकार का कहा है। यथा—अनायुक्त गमन यावत् अनायुक्त सर्वेन्द्रिययोगयुजनता (असावधानी से सभी इन्द्रियों और योगों की प्रवृत्ति करना)। यह हुआ अप्रशस्तकायविनय का वर्णन। साथ ही कायविनय का वर्णन पूर्ण हुआ।

२३४. से किं तं लोगोवयारविणए ?

लोयोवयारविणए सत्तविधे पन्नत्ते, तं जहा—अब्भासवत्तियं, परछंदाणुवत्तियं, कज्जहेउं, कयपडिकतया, अत्तगवेसणया, देसकालण्णया, सव्वत्थेसु अपडिलोमया। से त्तं लोगोवयारविणए। से त्तं विणए।

[२३४ प्र.] (भगवन् !) लोकोपचारविनय के कितने प्रकार हैं ?

[२३४ उ.] (गौतम !) लोकोपचारविनय सात प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) अभ्याशवृत्तिता (गुरु आदि के सान्निध्य में रहना, अथवा अभ्यास (अध्ययन) में चित्तवृत्ति को एकाग्र करना), (२) परच्छन्दानुवर्तिता (गुरु आदि बड़ों के अधीनस्थ (आज्ञापरायण) होकर कार्य करना), (३) कार्य-हेतु (गुरु आदि द्वारा किये हुए ज्ञानदानादि कार्य के लिए उन्हें विशेष मानना तथा उन्हें आहारादि लाकर देना), (४) कृत-प्रतिक्रिया (अपने पर किये हुए उपकार के बदले प्रत्युपकार करना (बदला चुकाना) अथवा आहारादि द्वारा गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने से वे प्रसन्न होंगे और उससे वे मुझे ज्ञान सिखायेंगे, ऐसा समझ कर उनकी विनय-भक्ति करना), (५) आर्त्तगवेषणता (रुग्ण, अशक्त एवं पीड़ित साधुओं की सार-संभाल करना), (६) देश-कालज्ञता (देश और काल देख कर कार्य करना) और (७) सर्वार्थ-अप्रतिलोमता (सभी कार्यों में गुरुदेव के अनुकूल प्रवृत्ति करना)।

विवेचन—विनय के भेद-प्रभेद और स्वरूप—जिसके द्वारा ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का विनयन—विनाश हो, उसे 'विनय' कहते हैं। लोकव्यवहार में अपने से बड़े और गुरुजनों का देश-काल के अनुसार सत्कार-सम्मान एवं भक्ति-बहुमान करना 'विनय' कहलाता है। कहा है—

'कर्मणां द्राग् विनयनाद्, विनयो विदुषां मतः।'
अपवर्ग-फलाढ्यस्य, मूलं धर्मतरोरयम् ॥

अर्थात् ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों का शीघ्र विनाशक होने से यह 'विनय' कहलाता है। विद्वानों का मत है कि मोक्ष-रूपी फल से समृद्ध धर्मतरु का यह मूल है। सामान्यतया विनय के ७ भेद हैं, जिनका उल्लेख मूल में किया गया है। इन सातों के अवान्तरभेद १३४ होते हैं। जैसे—ज्ञानविनय के ५ भेद, दर्शनविनय के ५५ भेद, चारित्रविनय के ५ भेद, मनविनय के २४, वचनविनय के २४ और कायविनय के १४ भेद तथा लोकोपचारविनय के ७ भेद; यों कुल मिला कर १३४ भेद हुए।

१—ज्ञानविनय—ज्ञान और ज्ञानी के प्रति श्रद्धा-भक्ति रखना, उनके प्रति बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों पर सम्यक् चिन्तन-मनन करना तथा विधिपूर्वक नम्र होकर ज्ञान ग्रहण करना, शास्त्रीय तथा तात्त्विक ज्ञान का अभ्यास करना **'ज्ञान-विनय'** है। इसके ५ भेद हैं—(१) मतिज्ञानविनय, (२) श्रुतज्ञानविनय, (३) अवधिज्ञानविनय, (४) मनःपर्यवज्ञानविनय और (५) केवलज्ञानविनय।

२—दर्शनविनय—अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और केवलिभाषित सद्धर्म, इन तीन तत्त्वों पर श्रद्धा रखना दर्शनविनय है। अथवा सम्यग्दर्शन-गुण में अधिक (आगे बढ़े हुए) साधकों की शुश्रूषादि करना तथा सम्यग्दर्शन के प्रति विनय-भक्ति और श्रद्धा रखना **दर्शनविनय** है। **दर्शनविनय** के सामान्यतया दो भेद हैं—शुश्रूषा-विनय और अनाशातना-विनय। शुश्रूषा-विनय के दस भेद हैं, यथा—(१) **अभ्युत्थान**—गुरुदेव या अपने से दीक्षा में ज्येष्ठ रत्नाधिक सन्त पधार रहे हों, तब उन्हें देखते ही खड़े हो जाना, (२) **आसनाभिग्रह**—उन्हें इस प्रकार आसन-ग्रहण के लिए आमंत्रित करना कि पधारिये, आसन पर विराजिये, (३) **आसन-प्रदान**—बैठने के लिए आसन देना, (४) **सत्कार**, (५) **सम्मान**, (६) **कीर्ति-कर्म**—उनके गुणगान करना, (७) **अंजलि**—उन्हें करबद्ध हो कर प्रणाम करना, (८) **अनुगमनता**—लौटते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना, (९) **पर्युपासनता**—उनकी पर्युपासना (सेवा) करना और (१०) **प्रतिसंसाधनता**—उनके वचन को शिरोधार्य करना। (१) अरिहन्त, (२) अरिहन्त-प्ररूपित धर्म, (३) आचार्य, (४) उपाध्याय, (५) स्थविर, (६) कुल, (७) गण, (८) संघ, (९) क्रिया और (१०) साधर्मिक का विनय, प्रकारान्तर से शुश्रूषाविनय के ये दस भेद भी किये गये हैं। आत्मा, परलोक, मोक्ष आदि हैं, ऐसी प्ररूपणा करना क्रियाविनय है।

अनाशातना-दर्शनविनय—सम्यग्दर्शन और सम्यग्दर्शनी की आशातना न करना, अनाशातना-विनय है। इसके ४५ भेद हैं। अरिहन्त भगवान्, अर्हत्प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय आदि पन्द्रह की आशातना न करना, अर्थात् (१) इनकी विनय करना, (२) भक्ति करना और (३) गुणगान करना, पूर्वोक्त १५ के प्रति तीन कार्यों के करने से ४५ भेद होते हैं। हाथ जोड़ना आदि बाह्य आचारों को 'भक्ति', हृदय में श्रद्धा और प्रीति रखने को 'बहुमान' तथा गुणकीर्त्तन करने या गुण-ग्रहण करने को 'गुणानुवाद' (वर्णवाद) कहते हैं।

चारित्रविनय—चारित्र और चारित्रवानों का विनय करना। चारित्रविनय के पांच भेद मूलपाठ में बता दिये गए हैं।

मनोविनय एवं वचनविनय—आचार्य का मन से विनय करना, मन के अशुभ व्यापारों को रोकना, उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना मनोविनय है। इसके प्रशस्त और अप्रशस्त, ये दो भेद किये हैं। मन में प्रशस्तभाव लाना 'प्रशस्तमनोविनय' है और अप्रशस्त मनोभावों को मन में न आने देना 'अप्रशस्तमनोविनय' है। मनोविनय के समान वचनविनय के भी चौवीस भेद हैं। आचार्य आदि का वचन से विनय करना, वचन की अशुभ-प्रवृत्ति को रोकना तथा शुभ-प्रवृत्ति में लगाना 'वचन-विनय' है।

कायविनय—आचार्य आदि का काया से विनय करना, काया की अशुभ प्रवृत्ति रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना कायविनय है। इसके भी प्रशस्त और अप्रशस्त, इस प्रकार दो भेद बताए हैं। यतनापूर्वक गमन करना, खड़े रहना, बैठना, सोना, उल्लंघन एवं प्रलंघन करना तथा इन्द्रियों और योगों की प्रवृत्ति सावधानी से करना 'प्रशस्त कायविनय' है तथा उपर्युक्त क्रियाओं में अप्रशस्तता—अमावधानी को रोकना 'अप्रशस्त कायविनय' है।

इस प्रकार कायविनय के ७+७=१४ भेद हुए।

लोकोपचारविनय : विशेषार्थ एवं भेद—दूसरे साधर्मिकों को सुख-शान्ति प्राप्त हो, इस प्रकार का व्यवहार एवं बाह्य चेष्टाएँ करना 'लोकोपचारविनय' है। इसके ७ भेद हैं, जिनका उल्लेख मूलपाठ में किया गया है। इस प्रकार विनय के कुल मिला कर १३४ भेद होते हैं।

प्रकारान्तर से बावन भेद—अन्यत्र विनय के ५२ भेद भी किये गए हैं। वे इस प्रकार हैं—तीर्थंकर, सिद्ध, कुल, गण, संघ, क्रिया, धर्म, ज्ञान, ज्ञानी, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर और गणी, इन तेरह की—(१) आशातना न करना, (२) भक्ति करना, (३) बहुमान करना (इनके प्रति पूज्यभाव रखना) और (४) इनके गुणों की प्रशंसा करना। इन चार प्रकारों से इन तेरह का विनय करना; यों १३×४=५२ भेद विनय के होते हैं।[1]

वैयावृत्य और स्वाध्याय तप का निरूपण

२३५. से किं तं वेयावच्चे ?

वेयावच्चे दसविधे पन्नत्ते, तंजहा—आयरियवेयावच्चे उवज्झायवेयावच्चे थेरवेयावच्चे तवस्सिवेयावच्चे गिलाणवेयावच्चे सेहवेयावच्चे कुलवेयावच्चे संघवेयावच्चे साहम्मियवेयावच्चे। से त्तं वेयावच्चे।

[२३५ प्र.] (भगवन् !) वैयावृत्य कितने प्रकार का है ?

[२३५ उ.] (गौतम !) वैयावृत्य दस प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) आचार्यवैयावृत्य, (२) उपाध्यायवैयावृत्य, (३) स्थविरवैयावृत्य, (४) तपस्वीवैयावृत्य, (५) ग्लानवैयावृत्य,

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२४-९२५
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५१६-१७-१८
(ग) भगवती. प्रमेयचन्द्रिकाटीका, भा. १६, पृ. ४५३ से ४६८ तक

(६) शैक्ष (नव-दीक्षित)-वैयावृत्य, (७) कुलवैयावृत्य, (८) गणवैयावृत्य, (९) संघवैयावृत्य और (१०) सार्धमिक-वैयावृत्य। यह वैयावृत्य का वर्णन है।

२३६. से किं तं सज्झाए ?

सज्झाए पंचविधे पन्नत्ते, तंजहा—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा अणुप्पेहा धम्मकहा। से त्तं सज्झाए।

[२३६ प्र.] (भगवन् !) स्वाध्याय कितने प्रकार का है ?

[२३६ उ.] (गौतम !) स्वाध्याय पांच प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) वाचना, (२) प्रतिपृच्छना, (३) परिवर्तना, (४) अनुप्रेक्षा और (५) धर्मकथा। यह हुआ स्वाध्याय का वर्णन।

विवेचन—वैयावृत्य : प्रकार और स्वरूप—वैयावृत्य जैन शास्त्रों का पारिभाषिक शब्द है। यह मुख्यतया सेवा-शुश्रूषा या परिचर्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रस्तुत में वैयावृत्य के उत्तम पात्रों के अनुसार १० भेद किये हैं। आचार्य (गुरु), तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधिपूर्वक आहारादि लाकर देना, परिचर्या करना, सेवा करना आदि वैयावृत्य है।[1]

स्वाध्याय : स्वरूप और प्रकार—अस्वाध्याय-काल को या अस्वाध्याय-दशा को छोड़ कर मर्यादा-पूर्वक शास्त्रों का अध्ययन, वाचन या अध्यापन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पांच भेद हैं—(१) **वाचना**—शिष्य को या जिज्ञासु साधक को शास्त्र और उनका अर्थ पढ़ाना, वाचना देना या स्वयं वाचना करना। (२) **पृच्छना**—वाचना करने या वाचना लेने के बाद उसमें सन्देह होने पर या समझ में न आने पर अथवा पहले सीखे हुए शास्त्रीय ज्ञान या तात्त्विक ज्ञान में शंका होने पर योग्य अधिकारी से प्रश्न करना—पूछना पृच्छना है। (३) **परिवर्त्तना**—पढ़ा या सीखा हुआ ज्ञान विस्मृत न हो जाए, इसलिए उसकी बार-बार आवृत्ति करना। (४) **अनुप्रेक्षा**—सीखे हुए शास्त्र का अर्थ विस्मृत न हो जाए, इसलिए उसका बार-बार मनन-चिन्तन एवं स्मरण करना। (५) **धर्मकथा**—उपर्युक्त चारों प्रकार से शास्त्रों का अच्छा अध्ययन हो जाने पर श्रोताओं को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, प्रवचन करना।[2]

ध्यान : प्रकार और भेद-प्रभेद

२३७. से किं तं झाणे ?

झाणे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—अट्टे झाणे, रोद्दे झाणे, धम्मे झाणे, सुक्के झाणे।

[२३७ प्र.] (भगवन् !) ध्यान कितने प्रकार का है ?

[२३७ उ.] (गौतम !) ध्यान चार प्रकार का कहा है। यथा—(१) आर्त्तध्यान, (२) रौद्रध्यान, (३) धर्मध्यान और (४) शुक्लध्यान।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. २ (मू. पा. टि.), पृ. १०६६
(ख) भगवतीसूत्र (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५१८

२. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५१९
(ख) तत्त्वार्थसूत्र अ. ९, सू. २४-२५

२३८. अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अमणुण्णसंपयोगसंपउत्ते तस्स विप्पयोग-सतिसमन्नागते यावि भवति १, मणुण्णसंयोगसंपउत्ते तस्स अविप्पयोगसतिसमन्नागते यावि भवति २, आयंकसंपयोगसंपउत्ते तस्स विप्पयोगसतिसमन्नागते यावि भवति ३, परिझुसियकामभोगसंपउत्ते तस्स अविप्पयोगसतिसमन्नागते यावि भवति ४।

[२३८] आर्त्तध्यान चार प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) अमनोज्ञ वस्तुओं की प्राप्ति होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना, (२) मनोज्ञ वस्तुओं की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना, (३) आतंक (रोग-विपत्ति आदि कष्ट) प्राप्त होने पर उसके वियोग की चिन्ता करना और (४) परिसेवित या प्रीति-उत्पादक कामभोगों आदि की प्राप्ति होने पर उनके अवियोग की चिन्ता करना।

२३९. अट्टस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—कंदणया सोयणया तिप्पणया परिदेवणया।

[२३९] आर्त्तध्यान के चार लक्षण कहे हैं। यथा—(१) क्रन्दनता (रोना), (२) सोचनता (चिन्ता या शोक करना), (३) तेपनता (बार-बार अश्रुपात करना) और (४) परिदेवनता (विलाप करना)।

२४०. रोद्दे झाणे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—हिंसाणुबंधी, मोसाणबंधी, तेयाणुबंधी, सारक्खणाणुबंधी।

[२४०] रौद्रध्यान चार प्रकार का कहा है। यथा—(१) हिंसानुबन्धी, (२) मृषानुबन्धी, (३) स्तेयानुबन्धी और (४) संरक्षणाऽनुबन्धी।

२४१. रोद्दस्स झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—उस्सन्नदोसे बहुदोसे अण्णाणदोसे आमरणंतदोसे।

[२४१] रौद्रध्यान के चार लक्षण कहे हैं। यथा—(१) ओसन्नदोष, (२) बहुलदोष, (३) अज्ञानदोष और (४) आमरणान्तदोष।

२४२. धम्मे झाणे चउव्विहे चउपडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—आणाविजये, अवायविजये विवागविजये संठाणविजये।

[२४२] धर्मध्यान चार प्रकार का और चतुष्प्रत्यवतार कहा है। यथा—(१) आज्ञाविचय, (२) अपायविचय, (३) विपाकविचय और (४) संस्थानविचय।

२४३. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—आणारुयी निसग्गरुयी सुत्तरुयी ओगाढरुयी।

[२४३] धर्मध्यान के चार लक्षण बताए हैं। यथा—(१) आज्ञारुचि, (२) निसर्गरुचि, (३) सूत्ररुचि और (४) अवगाढ़रुचि।

२४४. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पन्नत्ता, तं जहा—वायणा पडिपुच्छणा परियट्टणा धम्मकहा।

[२४४] धर्मध्यान के चार आलम्बन कहे हैं। यथा—(१) वाचना, (२) प्रतिपृच्छना, (३) परिवर्तना और (४) धर्मकथा।

२४५. धम्मस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुपेहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—एगत्ताणुपेहा अणिच्चाणुपेहा असरणाणुपेहा संसाराणुपेहा।

[२४५] धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही हैं। यथा—(१) एकत्वानुप्रेक्षा, (२) अनित्यानुप्रेक्षा, (३) अशरणानुप्रेक्षा और (४) संसारानुप्रेक्षा।

२४६. सुक्के झाणे चउव्विधे चउपडोयारे पन्नत्ते, तं जहा—पुहत्तवियक्के सवियारी, एगत्तवियक्के अवियारी, सुहुमकिरिए अनियट्टी, समोछिन्नकिरिए अप्पडिवाई।

[२४६] शुक्लध्यान चार प्रकार का है और चतुष्प्रत्यवतार कहा गया है। यथा—(१) पृथक्त्ववितर्क-सविचार, (२) एकत्ववितर्क-अविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती और (४) समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती।

२४७. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पन्नत्ता, तं जहा—खंती मुत्ती अज्जवे मद्दवे।

[२४७] शुक्लध्यान के चार लक्षण कहे हैं। यथा—(१) क्षान्ति (क्षमा), (२) मुक्ति (निर्लोभता या अनासक्ति), (३) आर्जव (सरलता) और (४) मार्दव (मृदुता या नम्रता)।

२४८. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि आलंबणा पन्नत्ता, तं जहा—अव्वहे असम्मोहे विवेगे विओसग्गे।

[२४८] शुक्लध्यान के चार आलम्बन कहे गए हैं। यथा—(१) अव्यथा, (२) असम्मोह, (३) विवेक और (४) व्युत्सर्ग।

२४९. सुक्कस्स णं झाणस्स चत्तारि अणुपेहाओ पन्नत्ताओ, तं जहा—अणंतवत्तियाणुप्पेहा विप्परिणामाणुप्पेहा असुभाणुपेहा अवायाणुपेहा। से त्तं झाणे।

[२४९] शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ कही हैं। यथा—(१) अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा, (३) अशुभाऽनुप्रेक्षा और (४) अपायानुप्रेक्षा।

यह हुआ ध्यान का समग्र वर्णन।

विवेचन—ध्यान : स्वरूप और प्रकार—मन को किसी एक वस्तु में एकाग्र करना ध्यान है। छद्मस्थों का ध्यान अन्तर्मूहूर्त्त तक का होता है। उत्तम संहनन वालों का ध्यान अन्तर्मूहूर्त्त से अधिक रह सकता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ध्यान के संक्रमण होने पर तो ध्यान का प्रवाह चिरकाल तक भी रह सकता है। अर्हन्तों के लिए तो योगों का निरोध करना ही ध्यानरूप हो जाता है। ध्यान के ४ प्रकार हैं।

आर्त्तध्यान : प्रकार और स्वरूप—दुःख या पीड़ा अथवा अत्यधिक चिन्ता के निमित्त से होने वाला दुःखी प्राणी का निरन्तर चिन्तन आर्त्तध्यान कहलाता है। मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि कारणों से चित्त चिन्ताकुल हो जाता है, तब आर्त्तध्यान होता है। अथवा मोहवश राज्य, शय्या, आसन, वस्त्राभूषण, रत्न, पंचेन्द्रिय सम्बन्धी मनोज्ञ विषय अथवा स्त्री, पुत्र आदि स्वजनों के प्रति अत्यधिक इच्छा, तृष्णा, लालसा एवं आसक्ति होने से भी आर्त्तध्यान होता है। आर्त्तध्यान के ४ भेद हैं—अमनोज्ञ-वियोगचिन्ता, मनोज्ञ-अवियोगचिन्ता, रोगादि-वियोगचिन्ता एवं भोगों का निदान। इनमें से पहले और तीसरे आर्त्तध्यान का कारण द्वेष है और दूसरे व चौथे का कारण राग है। आर्त्तध्यान का मूल कारण अज्ञान है। ज्ञानी तो कर्मबन्धन को काटने का ही सदा उपाय करता है। वह कर्मबन्धन को गाढ करने के कारण को नहीं अपनाता। आर्त्तध्यान संसार को बढ़ाने वाला है और सामान्यतया तिर्यञ्चगति में ले जाता है। मूलपाठ में आर्त्तध्यान के क्रन्दनता आदि जो चार लक्षण बताए हैं, वे इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग और वेदना के निमित्त से होते हैं।

रौद्रध्यान : स्वरूप और प्रकार—हिंसा, असत्य, चोरी तथा धन आदि की रक्षा में अहर्निश चित्त को जोड़ना 'रौद्रध्यान' है। रौद्रध्यान में हिंसा आदि के प्रति क्रूर परिणाम होते हैं। अथवा हिंसा में प्रवृत्त आत्मा द्वारा दूसरों को रुलाने या पीड़ित करने वाले व्यापार का चिन्तन करना भी रौद्रध्यान है। अथवा छेदन, भेदन, काटना, मारना, पीटना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना इत्यादि क्रूर कार्यों में जो राग रखता है, जिसमें अनुकम्पाभाव नहीं है, उस व्यक्ति का ध्यान भी रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्रध्यान के हिंसानुबन्धी आदि चार भेद हैं।

हिंसानुबन्धी—प्राणियों पर चाबुक आदि से प्रहार करना, नाक-कान आदि को कील से बींध देना, रस्सी, लोहे की शृंखला (सांकल) आदि से बांधना, आग में झौंक देना, डाम लगाना, शस्त्रादि से प्राणवध करना, अंगभंग कर देना आदि तथा इनके जैसे क्रूर कर्म करते हुए अथवा न करते हुए भी क्रोधवश होकर निर्दयतापूर्वक ऐसे हिंसाजनक कुकृत्यों का सतत चिन्तन करना तथा हिंसाकारी योजनाएँ मन में बनाते रहना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

मृषानुबन्धी—दूसरों को छलने, ठगने, धोखा एवं चकमा देने तथा छिप कर पापाचरण करने, झूठा प्रचार करने, झूठी अफवाहें फैलाने, मिथ्या-दोषारोपण करने की योजना बनाते रहना, ऐसे पापाचरणी को अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत्य अर्थ का अपलाप, एक के बदले दूसरे पदार्थ आदि के कथनरूप असत्य वचन बोलने तथा प्राणियों का उपघात करने वाले वचन कहने का निरन्तर चिन्तन करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

स्तेयानुबन्धी (चौर्यानुबन्धी)—तीव्र लोभ एवं तीव्र काम, क्रोध से व्याप्त चित्त वाले पुरुष की प्राणियों के उपघातक, परनारीहरण तथा परद्रव्यहरण आदि कुकृत्यों में निरन्तर चित्तवृत्ति का होना, स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है।

संरक्षणानुबन्धी—शब्दादि पाँच विषयों के साधनभूत धन की रक्षा करने की चिन्ता करना और 'न मालूम दूसरा क्या करेगा ?' इस आशंका से दूसरों का उपघात करने की कषाययुक्त चित्त-वृत्ति रखना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है।

रागद्वेष से व्याकुल अज्ञानी जीव के उपर्युक्त चारों प्रकार का रौद्रध्यान होता है। यह कुध्यान संसार को बढ़ाने वाला और प्रायः नरकगति में ले जाने वाला होता है।

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं। **ओसन्नदोष**—हिंसा आदि से निवृत्त न होने के कारण रौद्रध्यानी बहुधा हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है। **बहुलदोष**—रौद्रध्यानी हिंसादि सभी दोषों में प्रवृत्त होता है। **अज्ञानदोष**—अज्ञानवश या कुशास्त्रों के संस्कारवश नरकादि के कारणभूत अधर्मस्वरूप हिंसादि में धर्मबुद्धि से उन्नति के लिए प्रवृत्ति करना 'अज्ञानदोष' है। अथवा **'नानादोष'**—हिंसादि के विविध उपायों में अनेक वार प्रवृत्ति करना 'नानादोष' है। **आमरणान्तदोष**—मरणपर्यन्त हिंसादि क्रूर कार्यों में अनुताप (पश्चात्ताप) न होना तथा हिंसादि में प्रवृत्ति करते रहना आमरणान्तदोष है। जैसे—कालसौकरिक (कसाई)। जो रौद्रध्यानी कठोर एवं संक्लिष्ट परिणाम वाला होता है, वह दूसरे के दुःख, कष्ट एवं संकट में तथा पापकार्य करने में प्रसन्न होता है, उसे इहलोक-परलोक का भय नहीं होता, उसके मन में दयाभाव विलकुल नहीं होता। कुकृत्य करने का पछतावा भी नहीं होता।

धर्म और शुक्ल ध्यान को चतुष्प्रत्यवतार कहा गया है, जिसका अर्थ है—भेद, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा, इन चार लक्षणों से जिसका विचार किया जाए।

धर्मध्यान—श्रुत-चारित्ररूप धर्मसहित ध्यान धर्मध्यान है अथवा धर्म अर्थात् जिनाज्ञायुक्त पदार्थ के स्वरूपपर्यालोचन में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है या सूत्रार्थ की साधना करने, महाव्रतादि को ग्रहण करने, वन्ध-मोक्ष, गति-आगति आदि हेतुओं के विचार करने में चित्त को एकाग्र करना तथा पंचेन्द्रिय-विषयों से निवृत्ति एवं प्राणियों के प्रति अनुकम्पाभाव आदि धर्मों में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है। इसके ४ भेद हैं।

आज्ञाविचय—जिनाज्ञा को सत्य मानकर उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना, जिनोक्त शास्त्रों में प्ररूपित तत्त्वों का चिन्तन-मनन करना, वीतराग-प्रज्ञप्त कोई तत्त्व समझ में न आए तो भी यह विचार करे कि चाहे मुझे मंदबुद्धिवश समझ में न आए, किन्तु वीतराग सर्वज्ञ कथित होने से यह वचन सर्वथा सत्य ही है, इसके असत्य होने का कोई कारण नहीं है। इस प्रकार वीतराग वचनों का सतत चिन्तन-मनन करना, संदेहरहित होकर मन को उनमें एकाग्र करना **आज्ञाविचय** नामक धर्मध्यान है।

अपायविचय—राग-द्वेष, कषाय, विषयासक्ति, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, अशुभयोग और क्रियाओं आदि से होने वाली इहलौकिक-पारलौकिक हानियों तथा कुपरिणामों का विचार एवं चिन्तन करना **अपायविचय** है। इन अपायों—दोषों से होने वाले दुष्परिणामों का चिन्तन करने वाला जीव इनसे अपनी आत्मा की रक्षा करने में तत्पर रहता है, इनसे दूर रह कर स्वपरकल्याण साधना करता है।

विपाकविचय—शुद्ध आत्मा ज्ञान-दर्शन और सुखादिरूप है, किन्तु कर्मों के कारण आत्मा के ये निजगुण दवे हुए हैं। कर्मों के वशीभूत होकर जीव चारों गतियों में भ्रमण करती है। सुख-दुःख सौभाग्य-दुर्भाग्य, सम्पत्ति-विपत्ति आदि जीवों के पूर्वकृत कर्मों के ही फल हैं। अपने द्वारा उपार्जित कर्मों के सिवाय जीव को दूसरा कोई भी सुख-दुःख देने वाला नहीं है। इस प्रकार कर्मविषयक चिन्तन में मन को एकाग्र करना **विपाकविचय** धर्मध्यान है।

संस्थानविचय—धर्मस्तिकायादि ६ द्रव्य, उनकी पर्याय, जीव-अजीव के आकार, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, लोकस्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, स्वर्ग आदि का आकार, लोकस्थिति,

जीव की गति-आगति, जीवन-मरण आदि शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन-मनन करना तथा इस अनादि-अनन्त जन्म-मरणप्रवाहरूप संसार-सागर से पार करने वाली ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अथवा संवर-निर्जरारूप धर्मनौका का विचार करना, ऐसे धर्मचिन्तन में मन को एकाग्र करना **संस्थानविचय** धर्मध्यान है।

धर्मध्यान के आज्ञारुचि आदि ४ लक्षण हैं। रुचि का अर्थ श्रद्धा है। अवगाढरुचि को दूसरे शब्दों में उपदेशरुचि भी कह सकते हैं। अथवा द्वादशांगी के विस्तारपूर्वक ज्ञान करने से जिनोक्त तत्त्वों पर जो श्रद्धा होती है, वह भी अवगाढ़रुचि है। अथवा साधु-साध्वियों के शास्त्रानुकूल उपदेश से जो श्रद्धा होती, वह भी अवगाढ़रुचि है।

वस्तुतः देव-गुरु-धर्म के गुणों का कथन करने, उनकी भक्तिपूर्वक प्रशंसा एवं स्तुति करने तथा गुरु आदि का विनय करने से एवं श्रुत, शील, संयम एवं तप में अनुराग रखने से धर्मध्यानी पहचाना जाता है।

वाचनादि चार अवलम्बन धर्मध्यान के है। एकत्व, अनित्यत्व, अशरणत्व एवं संसार, ये चारों धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाएँ हैं।

पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ये चार प्रकार के ध्यान भी धर्मध्यान के अन्तर्गत हैं।

शुक्लध्यान : स्वरूप और प्रकार—परावलम्बनरहित शुक्ल यानी निर्मल आत्मस्वरूप का तन्मयतापूर्वक चिन्तन करना शुक्लध्यान है। इसमें पूर्वादि-विषयक श्रुत के आधार से मन अत्यन्त स्थिर होकर योगों का निरोध हो जाता है। इस ध्यान में विषयों का इन्द्रियों एवं मन से सम्बन्ध होने पर भी वैराग्यावल से चित्त बाह्यविषयों की ओर नहीं जाता, शरीर का छेदन-भेदनादि होने पर भी चित्त ध्यान से जरा भी नहीं हटता। यह ध्यान इष्टवियोग-अनिष्टसंयोगजनित शोक को जरा भी फटकने नहीं देता, इसीलिए इसे शुक्लध्यान कहते हैं। आत्मा पर लगे हुए अष्टविध कर्ममल को दूर करके उसे शुक्ल—उज्ज्वल बनाता है, इस कारण भी यह शुक्लध्यान कहलाता है। इसके चार प्रकार हैं।

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार—एकद्रव्यविषयक अनेक पर्यायों का पृथक्-पृथक् विश्लेषणपूर्वक विस्तार से तथा पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान है। यह ध्यान विचारसहित होता है। विचार का विशेषार्थ यहाँ है—अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) और योगों में संक्रमण। इस ध्यान में शब्द से अर्थ में, शब्द से शब्द में, अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होना। प्रायः यह ध्यान-पूर्वधारी को होता है, किन्तु मरुदेवी माता के समान जो पूर्वधारी नहीं हैं, उन्हें भी अर्थ, व्यञ्जन और योगों में संक्रमणरूप यह शुक्लध्यान होता है। यह ध्यान तीनों योग वाले को होता है।

२. एकत्व-वितर्क-अविचार—पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व (अभेद) रूप से किसी एक पदार्थ या पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान है। यह विचाररहित (अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों के संक्रमण से रहित) होता है। जिस प्रकार एकान्त निर्वात स्थान में दीपक की लौ स्थिर रहती है, उसी प्रकार इस ध्यान में चित्त निर्विचार एवं स्थिर रहता है। यह ध्यान किसी एक ही योग में होता है।

३. **सूक्ष्मक्रिया-अनिवर्ती**—मोक्षगमन से पूर्व केवली भगवान् मन और वचन इन दो योगों का तथा अर्द्धकाययोग का भी निरोध करते हैं। उस समय केवली के उच्छ्वास आदि कायिकी सूक्ष्मक्रिया ही रहती है। विशेष चढ़ते परिणाम रहने के कारण केवलज्ञानी भगवान् उससे पीछे नहीं हटते। यह तृतीय 'सूक्ष्मक्रिय-अनिवर्ती' शुक्लध्यान है। यह केवल काययोग में होता है।

४. **समुच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती**—शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर देते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाओं का अभाव हो जाता है। इस ध्यान में लेश-मात्र भी क्रिया शेष नहीं रहती, इसलिए इसे समुच्छिन्नक्रिय-अप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी अवस्था में ही होता है।

शुक्लध्यान के चार लक्षणों का स्वरूप इस प्रकार है—प्रथम लक्षण क्षान्ति है अर्थात् क्रोध न करना और उदय में आए हुए क्रोध को विफल कर देना, इस प्रकार क्रोध का त्याग करना क्षमा (क्षान्ति) है। दूसरा लक्षण मुक्ति—लोभ का त्याग है। उदय में आए हुए लोभ को विफल कर देना मुक्ति है। तीसरा लक्षण है—आर्जव (सरलता)। माया को उदय में नहीं आने देना एवं उदय में आई हुई माया को विफल कर देना आर्जव है। चौथा लक्षण है—मार्दव (कोमलता)। मान न करना, उदय में आए हुए मान को निष्फल कर देना, मान का त्याग करना मार्दव है।

शुक्लध्यान के चार अवलम्बन—(१) **अव्यय**—शुक्लध्यानी परिषहों और उपसर्गों से डर कर ध्यान से विचलित नहीं होता। (२) **असम्मोह**—शुक्लध्यानी को देवादिकृत माया में अथवा अत्यन्त गहन सूक्ष्मविषयों में सम्मोह नहीं होता। (२) **विवेक**—शुक्लध्यानी शरीर से आत्मा को भिन्न तथा शरीर-सम्बन्धित सभी संयोगों को आत्मा से भिन्न समझना है। (४) **व्युत्सर्ग**—वह अना-सक्तभाव से देह और सभी संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—(१) **अनन्तवर्तितानुप्रेक्षा**—अनन्त-भवपरम्परा का अनुप्रेक्षण (अनुचिन्तन) करना। जैसे यह जीव अनादिकाल से संसाररूपी अटवी में परिभ्रमण कर रहा है। इस संसाररूपी महासागर से पार होना अत्यन्त दुष्कर हो रहा है। यह जीव नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य एवं देव भवों में एक के बाद दूसरे में सतत अविरत परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भावना से शुक्लध्यानी संसार से शीघ्र छूटने का तीव्रता से उपाय करता है।

(२) **विपरिणामानुप्रेक्षा**—वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना। जैसे सभी स्थान अशाश्वत हैं, परिणमित होते रहते हैं। मनुष्यलोक एवं देवलोक के स्थान तथा यहाँ और वहाँ की ऋद्धियाँ एवं सुखभोग सभी अस्थायी हैं। इस प्रकार की भावना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

(३) **अशुभानुप्रेक्षा**—संसार के अशुभ-स्वरूप या देह के घिनौने रूप पर विचार करना। जैसे धिक्कार है इस संसार को, जिसमें सुन्दर रूपवान् अभिमानी मानव मर कर अपने ही मृत देह में कृमिरूप में पैदा हो जाता है। यह शरीर कितना अशुचि से भरा है, जिस पर अभिमान करके मनुष्य नाना पापकर्म करता है, इत्यादि भावना करना अशुभानुप्रेक्षा है।

(४) **अपायानुप्रेक्षा**—जीव जिन कारणों से दुःखी होता है, उन अपायों का चिन्तन करना। जैसे—वश में नहीं किये हुए क्रोध और मान तथा वृद्धिगत माया और लोभ संसार के मूल को सींचने

और बढ़ाने वाले हैं। इन्हीं से जीव विविध प्रकार के दुःख भोगता है, इत्यादि आश्रवों से होने वाले अपायों का चिन्तन करना, 'अपायानुप्रेक्षा' है।

ध्यान के भेद तथा प्रशस्त-अप्रशस्त-विवेक—इस प्रकार चारों ध्यानों के कुल मिलाकर ४८ भेद होते हैं। आर्त्तध्यान के ८, रौद्रध्यान के ८, धर्मध्यान के १६ और शुक्लध्यान के १६, यों कुल मिलाकर ४८ भेद हुए।

चारों ध्यानों में धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त हैं, शुभ हैं, निर्जरा के कारण हैं तथा आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं अशुभ हैं, कर्मबन्ध और संसार की वृद्धि के कारण हैं, अतः त्याज्य हैं। तप के प्रकरण में दो अप्रशस्त ध्यानों का वर्णन करने का कारण यह है कि प्रशस्त ध्यानों का आसेवन करने से और अप्रशस्त ध्यानों को छोड़ने से तप होता है। इसलिए त्याज्य होते हुए भी वर्णन किया गया है।[1]

व्युत्सर्ग के भेद-प्रभेदों का निरूपण

२५०. से किं तं विओसग्गे ?

विओसग्गे दुविधे पन्नत्ते, तं जहा—दव्वविओसग्गे य भावविओसग्गे य।

[२५० प्र.] (भंते !) व्युत्सर्ग कितने प्रकार का है ?

[२५० उ.] (गौतम !) व्युत्सर्ग दो प्रकार का है। यथा—द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग।

२५१. से किं तं दव्वविओसग्गे ?

दव्वविओसग्गे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—गणविओसग्गे सरीरविओसग्गे उवधिविओसग्गे भत्त-पाणविओसग्गे। से त्तं दव्वविओसग्गे।

[२५१ प्र.] (भगवन् !) द्रव्यव्युत्सर्ग कितने प्रकार का है ?

[२५१ उ.] (गौतम !) द्रव्यव्युत्सर्ग चार प्रकार का कहा है। यथा—गणव्युत्सर्ग, शरीर-व्युत्सर्ग, उपधिव्युत्सर्ग और भक्तपानव्युत्सर्ग। यह द्रव्यव्युत्सर्ग का वर्णन हुआ।

२५२. से किं तं भावविओसग्गे ?

भावविओसग्गे तिविहे पन्नत्ते, तं जहा—कसायविओसग्गे संसारविओसग्गे कम्मविओसग्गे।

[२५२ प्र.] (भगवन् !) भावव्युत्सर्ग कितने प्रकार का कहा है ?

[२५२ उ.] (गौतम !) भावव्युत्सर्ग तीन प्रकार का कहा गया है। यथा—(१) कषायव्युत्सर्ग, (२) संसारव्युत्सर्ग और (३) कर्मव्युत्सर्ग।

२५३. से किं तं कसायविओसग्गे ?

कसायविओसग्गे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—कोहविओसग्गे माणविओसग्गे मायाविओसग्गे लोभविओसग्गे। से त्तं कसायविओसग्गे।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५२० से ३५३१

(ख) भगवती. (प्रमेयचन्द्रिका टीका) भा. १६, पृ. ४७५ से ४९०

[२५३ प्र.] (भगवन् !) कषायव्युत्सर्ग कितने प्रकार का है ?

[२५३ उ.] (गौतम !) कषायव्युत्सर्ग चार प्रकार का कहा गया है। यथा—क्रोधव्युत्सर्ग, मानव्युत्सर्ग, मायाव्युत्सर्ग और लोभव्युत्सर्ग। यह है कषायव्युत्सर्ग का वर्णन।

२५४. से किं तं संसारविओसग्गे ?

संसारविओसग्गे चउव्विधे पन्नत्ते, तं जहा—नेरइयसंसारविओसग्गे जाव देवसंसारविओसग्गे। से त्तं संसारविओसग्गे।

[२५४ प्र.] (भगवन् !) संसारव्युत्सर्ग कितने प्रकार का है ?

[२५४ उ.] (गौतम !) संसारव्युत्सर्ग चार प्रकार का कहा है। यथा—नैरयिकसंसार-व्युत्सर्ग यावत् देवसंसारव्युत्सर्ग। यह हुआ संसारव्युत्सर्ग का वर्णन।

२५५. से किं तं कम्मविओसग्गे ?

कम्मविओसग्गे अट्ठविधे पन्नत्ते, तं जहा—णाणावरणिज्जकम्मविओसग्गे जाव अंतराइय-कम्मविओसग्गे। से त्तं कम्मविओसग्गे। से त्तं भावविओसग्गे। से त्तं अब्भितरए तवे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पणवीसइमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-७ ॥

[२५५ प्र.] (भगवन् !) कर्मव्युत्सर्ग कितने प्रकार का है ?

[२५५ उ.] (गौतम !) कर्मव्युत्सर्ग आठ प्रकार का कहा गया है। यथा—ज्ञानावरणीय-कर्मव्युत्सर्ग यावत् अन्तरायकर्मव्युत्सर्ग। यह कर्मव्युत्सर्ग हुआ। साथ ही भावव्युत्सर्ग का वर्णन भी पूर्ण हुआ।

इस प्रकार आभ्यन्तर तप का वर्णन पूर्ण हुआ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—व्युत्सर्ग : स्वरूप और प्रकार—किसी वस्तु पर से ममत्व का त्याग करना अथवा परभावों या विभावों का त्याग करना भी व्युत्सर्ग है। सामान्यतया व्युत्सर्ग दो प्रकार का है—द्रव्यव्युत्सर्ग और भावव्युत्सर्ग। द्रव्यव्युत्सर्ग के चार भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **शरीरव्युत्सर्ग**—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना अथवा शरीर पर आसक्ति या मूर्च्छा को त्यागना।

(२) **गणव्युत्सर्ग**—अपने गण का त्याग करके 'जिनकल्प' अवस्था स्वीकार करना।

(३) **उपधिव्युत्सर्ग**—किसी कल्पविशेष में उपधि (भण्डोपकरण) का भी त्याग करना।

(४) **भक्तपानव्युत्सर्ग**—सदोष आहारपानी का या यावज्जीव अनशन करके चतुर्विध आहार का त्याग करना।

भावव्युत्सर्ग के तीन भेदों का स्वरूप इस प्रकार है—

(१) **कषायव्युत्सर्ग**—क्रोधादि कषायों का त्याग करना।
(२) **संसारव्युत्सर्ग**—नरकादि-आयुबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व आदि का त्याग करना।
(३) **कर्मव्युसर्ग**—कर्मवन्ध के कारणों का त्याग करना।

कहीं-कहीं भावव्युत्सर्ग के चार भेद बताए हैं। वहाँ चौथा भेद बताया है—योगव्युत्सर्ग। योगव्युत्सर्ग के मनोयोगव्युत्सर्ग, वचनयोगव्युत्सर्ग और काययोगव्युत्सर्ग, ये तीन भेद हैं।[1]

आभ्यन्तर तप का प्रभाव—मोक्षप्राप्ति का अन्तरंग कारण आभ्यन्तर तप है। अन्तर्दृष्टि आत्मार्थी एवं मुमुक्षु साधक ही आभ्यन्तर तप को अपनाता है और वही इन्हें तपरूप से श्रद्धापूर्वक मानता है। इस तप का प्रभाव वाह्य शरीर पर नहीं पड़ता, किन्तु अन्तरंग राग-द्वेष, कषाय आदि पर पड़ता है।[2]

।। पच्चीसवाँ शतक : सप्तम उद्देशक सम्पूर्ण ।।

□□

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२७
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५३३-३४

२. वही भा. ७, पृ. ३५३४

अट्ठमो उद्देसओ : 'ओहे'

अष्टम उद्देशक : 'ओघ'

चौवीस दण्डकवर्ती जीवों की उत्पत्ति का विविध पहलुओं से निरूपण

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में गौतमस्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. नेरतिया णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहाणामए पवए पवमाणे अज्झवसाणनिव्वत्तिएणं करणोवाएणं सेयकाले तं ठाणं विप्पजहित्ता पुरिमं ठाणं उवसंपज्जित्ताणं विहरति, एवामेव ते वि जीवा पवओ विव पवमाणा अज्झवसाणनिव्वत्तिएणं करणोवाएणं सेयकाले तं भवं विप्पजहित्ता पुरिमं भवं उवसंपज्जित्ताणं विहरंति।

[२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला पुरुष कूदता हुआ अध्यवसायनिर्वर्तित (निष्पन्न) क्रियासाधन द्वारा उस स्थान को छोड़ कर भविष्यत्काल में अगले स्थान को प्राप्त होता है, वैसे ही जीव भी कूदने वाले की तरह कूदते हुए अध्यवसायनिर्वर्तित क्रियासाधन द्वारा अर्थात् कर्मों द्वारा उस (पूर्व) भव को छोड़ कर भविष्यत्काल में उत्पन्न होने योग्य (आगामी) भव को प्राप्त होकर उत्पन्न होते हैं।

३. तेसि णं भंते ! जीवाणं कहं सीहा गती ? कहं सीहे गतिविसए पन्नत्ते ?

गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे तरुणे बलवं एवं जहा चोद्दसमसए पढमुद्देसए (स० १४ उ० १ सु० ६) जाव तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जंति। तेसि णं जीवाणं तहा सीहा गती, तहा सीहे गतिविसए पन्नत्ते।

[३ प्र.] भगवन् ! उन (नारक) जीवों की शीघ्रगति और शीघ्रगति का विषय कैसा होता है ?

[३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कोई पुरुष तरुण और बलवान् हो, इत्यादि चौदहवें शतक के पहले उद्देशक [के सू. ६] के अनुसार यावत् तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होते हैं। उन जीवों की वैसी शीघ्र गति और वैसा शीघ्रगति का विषय होता है।

४. ते णं भंते ! जीवा कहं परभवियाउयं पकरेंति ?

गोयमा ! अज्झवसाणजोगनिव्वत्तिएणं करणोवाएणं एवं खलु ते जीवा परभवियाउयं पकरेंति।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव परभव की आयु किस प्रकार बांधते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! वे जीव अपने अध्यवसाय योग (अध्यवसायरूप मन आदि के व्यापार) से निष्पन्न करणोपाय (कर्मबन्ध के हेतु) द्वारा परभव की आयु बांधते हैं ।

५. तेसि णं भंते ! जीवाणं कहं गती पवत्तइ ?

गोयमा ! आउक्खएणं भवक्खएणं ठितिक्खएणं; एवं खलु तेसिं जीवाणं गती पवत्तति ।

[५ प्र.] भगवन् ! उन जीवों की गति किस कारण से प्रवृत्त होती है ?

[५ उ.] गौतम ! उन जीवों की आयु के क्षय होने से, भव का क्षय होने से और स्थिति का क्षय होने से उनकी गति प्रवृत्त होती है ।

६. ते णं भंते ! जीवा किं आतिड्ढीए उववज्जंति, परिड्ढीए उववज्जंति ?

गोयमा ! आतिड्ढीए उववज्जंति, नो परिड्ढीए उववज्जंति ।

[६ प्र.] भगवन् ! वे जीव आत्म-ऋद्धि (अपनी शक्ति) से उत्पन्न होते हैं या पर की ऋद्धि (दूसरों की शक्ति) से ?

[६ उ.] गौतम ! वे जीव आत्म-ऋद्धि से उत्पन्न होते हैं, पर-ऋद्धि से नहीं ।

७. ते णं भंते ! जीवा किं आयकम्मुणा उववज्जंति, परकम्मुणा उववज्जंति ?

गोयमा ! आयकम्मुणा उववज्जंति नो परकम्मुणा उववज्जंति ।

[७ प्र.] भगवन् ! वे जीव अपने कर्मों से उत्पन्न होते हैं या दूसरों के कर्मों से ?

[७ उ.] गौतम ! वे जीव अपने कर्मों से उत्पन्न होते हैं, दूसरों के कर्मों से नहीं ।

८. ते णं भंते ! जीवा किं आयप्पयोगेणं उववज्जंति, परप्पयोगेणं उववज्जंति ?

गोयमा ! आयप्पयोगेणं उववज्जंति, नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

[८ प्र.] भगवन् ! वे जीव अपने प्रयोग से उत्पन्न होते हैं या परप्रयोग से ?

[८ उ.] गौतम ! वे अपने प्रयोग (व्यापार) से उत्पन्न होते हैं, परप्रयोग से नहीं ।

९. असुरकुमारा णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

जहा नेरतिया तहेव निरवसेसं जाव नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

[९ प्र.] भगवन् ! असुरकुमार कैसे उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार नैरयिकों (के उत्पन्न होने आदि) का कहा, उसी प्रकार यहाँ यावत् 'आत्मप्रयोग से उत्पन्न होते हैं, परप्रयोग से नहीं', यहाँ तक कहना चाहिए ।

१०. एवं एगिंदियवज्जा जाव वेमाणिया । एगिंदिया एवं चेव, नवरं चउसमइओ विग्गहो । सेसं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति ।

॥ पंचवीसइमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-८ ॥

[१०] इसी प्रकार एकेन्द्रिय से अतिरिक्त, यावत् वैमानिक तक, (सभी जीवों के विषय में जानना)। एकेन्द्रियों के विषय में भी उसी प्रकार कहना चाहिए। विशेष यह है कि उनकी विग्रहगति उत्कृष्ट चार समय की होती है। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—आठवें उद्देशक में १० सूत्रों द्वारा चौवीस दण्डकगत जीवों की उत्पत्ति, शीघ्रगति, गति का विषय, परभवायुष्यबन्ध, गति का कारण, आत्मकर्म एवं आत्मप्रयोग से उत्पत्ति आदि की प्ररूपणा की गई है।

अतिदेश—जीवों की उत्पत्ति, शीघ्र गति एवं शीघ्र गति के विषय में श. १४, उ. १, सू. ६ में विस्तृत विवेचन है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिए।[1]

कठिन शब्दार्थ—सेयकाले—भविष्यकाल में। **करणोवाएणं**—क्रियाविशेषरूप उपाय अथवा कर्मरूपसाधन (हेतु) द्वारा। **पुरिमं भवं**—प्राप्तव्य भव। **पवए**—प्लवक—कूदने वाला। **पवमाणे**—कूदता हुआ।

॥ पच्चीसवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

□□

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२८
(ख) वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. २, पृ. १०६९

नवमो उद्देसओ : भविए

नौवां उद्देशक : भव्यों की उत्पत्ति

चौवीस दण्डकगत भव्य जीवों की उत्पत्ति का अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. भवसिद्धियनेरइया णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे०, अवसेसं तं चेव जाव वेमाणिए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ पंचवीसइमे सते : नवमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-९ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक (भव्य) नैरयिक किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला पुरुष कूदता हुआ ····· इत्यादि अवशिष्ट (समस्त वर्णन) पूर्ववत् यावत् वैमानिक पर्यन्त (कहना चाहिए) ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

॥ पच्चीसवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त ॥

दसमो उद्देसओ : 'अभविए'

दसवाँ उद्देशक : अभव्य जीवों की उत्पत्ति

चौवीस दण्डकगत अभव्य जीवों की उत्पत्ति का अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. अभवसिद्धियनेरइया णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे०, अवसेसं तं चेव जाव वेमाणिए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति ।

॥ पंचवीसइमे सते : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-१० ॥

[१ प्र.] भगवन् ! अभवसिद्धिक (अभव्य) नैरयिक किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला पुरुष कूदता हुआ, इत्यादि अवशिष्ट (समस्त वर्णन) पूर्ववत् यावत् वैमानिक पर्यन्त (कहना चाहिए) ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

॥ पच्चीसवाँ शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

एगारसमो उद्देसओ : 'सम्म'

ग्यारहवाँ उद्देशक : सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति

चौवीस दण्डकगत सम्यग्दृष्टि जीवों की उत्पत्ति का अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. सम्मदिट्ठिनेरइया णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! जहानामए पवए पवमाणे०, अवसेसं तं चेव।

२. एगिंदियवज्जं जाव वेमाणिया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचवीसइमे सते : एगारसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २५-११ ॥

[१-२ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि नैरयिक किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१-२ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला पुरुष कूदता हुआ ··· इत्यादि, अवशिष्ट (सब-वर्णन) एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ पच्चीसवाँ शतक : ग्यारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

बारसमो उद्देसओ : 'मिच्छे'

बारहवाँ उद्देशक : मिथ्यादृष्टि की उत्पत्ति

चौवीस दण्डकगत मिथ्यादृष्टि जीवों की उत्पत्ति का अतिदेशपूर्वक निरूपण

१. मिच्छदिट्ठिनेरइया णं भंते ! कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे०, अवसेसं तं चेव ।

[१ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादृष्टि नैरयिक किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला पुरुष कूदता हुआ ....इत्यादि अवशिष्ट (सब वर्णन) पूर्ववत् जानना ।

२. एवं जाव वेमाणिए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति ।

।। पंचवीसइमे सते : बारसमो उद्देसओ समत्तो ।। २५-१२ ।।

।। पंचवीसतिमं सतं समत्तं ।।

[२] इसी प्रकार यावत् वैमानिक तक (कहना चाहिए ।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—पूर्वोक्त चारों उद्देशकों (९-१०-११-१२) का वर्णन प्रायः समान है, किन्तु भव्य, अभव्य, सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि इन चार विशेषणों से युक्त चौवीस दण्डकों की उत्पत्ति के विषय में आठवें उद्देशक में वर्णित समस्त वर्णन का अतिदेश किया है । सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति में एकेन्द्रिय को छोड़ कर कहा गया है, वह इसलिए कि एकेन्द्रिय जीव मिथ्यादृष्टि ही होते हैं ।

।। पच्चीसवाँ शतक : बारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ।।

।। पच्चीसवाँ शतक समाप्त ।।

छव्वीसइमाइं-एगूणतीसइमाइं चउ-सयाइं

छव्वीसवें से उनतीसवें तक चार शतक

[प्राथमिक]

* भगवतीसूत्र के छव्वीसवें से लेकर उनतीसवें तक चार शतकों का प्रतिपाद्य विषय प्रायः समान होने से चारों का प्राथमिक एक साथ दिया जा रहा है।

* इन शतकों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

  १—बंधिसयं (छव्वीसवाँ शतक), २—करिसुसयं (सत्ताईसवाँ शतक), ३—कम्म-समज्जण-सयं (अट्ठाईसवाँ शतक), ४—कम्म-पट्ठवण-सयं (उनतीसवाँ शतक)।

* इनके प्रतिपाद्य विषय ही इनके अर्थ को सूचित करते हैं—(१) बंधीशतक में त्रैकालिक पापकर्म-बन्ध और ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्मबन्ध का, जीव आदि ग्यारह स्थानों (द्वारों) के माध्यम से ग्यारह उद्देशकों में प्ररूपण है।

  (२) 'करिसुशतक' में भी त्रैकालिक पापकर्म (क्रिया), करण और ज्ञानावरणीयादि कर्मकरण का पूर्वोक्त ग्यारह स्थानों के माध्यम से ग्यारह उद्देशकों में निरूपण है।

  (३) कर्मसमर्जनशतक में त्रैकालिक पापकर्म, अष्टविध कर्मों के समर्जन एवं समाचरण का पूर्वोक्त ग्यारह स्थानों के माध्यम से ग्यारह उद्देशकों में निरूपण है।

  (४) कर्मप्रस्थापनशतक में जीव और चौवीस दण्डकों में सम-विषमकाल की अपेक्षा पापकर्म एवं अष्टविधकर्मवेदन के प्रारम्भ और अन्त का ग्यारह उद्देशकों में निरूपण है।

* चारों शतकों में प्रतिपाद्य विषय की प्ररूपणा चार भंगों के रूप में हुई है।

* ग्यारह स्थान (द्वार) इस प्रकार हैं—(१) जीव, (२) लेश्या, (३) पाक्षिक (शुक्लपाक्षिक और कृष्णपाक्षिक), (४) दृष्टि, (५) अज्ञान, (६) ज्ञान, (७) संज्ञा, (८) वेद, (९) कषाय, (१०) योग और (११) उपयोग। प्रत्येक शतक में ये ग्यारह उद्देशक हैं।

* छव्वीसवें शतक के प्रथम उद्देशक में सामान्य जीव तथा लेश्यादि-विशिष्ट जीव के त्रैकालिक पापकर्मबन्ध का तथा सामान्य नारक आदि तथा लेश्यादिविशिष्ट नारक आदि का अष्टविध कर्मबन्ध का चार भंगों के रूप में निरूपण है।

* दूसरे उद्देशक में अनन्तरोपपन्नक नैरयिक आदि में पूर्ववत् ग्यारह स्थानों के माध्यम से पापकर्म-बन्ध व कर्मबन्ध की चतुर्भंगी की प्ररूपणा है।
  तीसरे उद्देशक में परम्परोपपन्नक नैरयिकादि में चतुर्भंगी की प्ररूपणा है।

चतुर्थ उद्देशक में अनन्तरावगाढ नैरयिकादि में,
पंचम उद्देशक में परम्परावगाढ नैरयिकादि में,
छठे उद्देशक में अनन्तराहारक नैरयिकादि में,
सातवें उद्देशक में परम्पराहारक नैरयिकादि में,
आठवें उद्देशक में अनन्तरपर्याप्तक नैरयिकादि में,
नौवें उद्देशक में परम्परपर्याप्तक नैरयिकादि में,
दसवें उद्देशक में चरम नैरयिकादि में, और
ग्यारहवें उद्देशक में अचरम नैरयिकादि में पूर्ववत् ग्यारह स्थानों के माध्यम से पापकर्म एवं अष्टविधकर्म के बन्ध की चतुर्भंगी के रूप में प्ररूपणा है।

* इन्हीं ग्यारह स्थानों के माध्यम से २७ वें शतक के ग्यारह उद्देशकों में त्रैकालिक पापकर्मकरण की चतुर्भंगी के रूप में प्ररूपणा है।

* अट्ठाईसवें शतक के प्रथम उद्देशक में सामान्य जीव (एक और अनेक) तथा नैरयिक से वैमानिक गति-योनि तक में नरक, तिर्यञ्च आदि गतियों में से पापकर्म एवं अष्टकर्म का समर्जन और समार्जन एवं समाचरण किया था, यह वर्णन है।

* द्वितीय उद्देशक में इसी प्रकार अनन्तरोपपन्नक नैरयिकादि में पापकर्म एवं अष्टविधकर्म के समर्जन एवं समाचरण का लेखाजोखा चतुर्विध भंगों के रूप में है।

* तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक तक में पूर्ववत् अचरम तक के ग्यारह स्थानों के माध्यम से निरूपण है।

* उनतीसवाँ कर्म-प्रस्थापन शतक है, जिसका अर्थ होता है पापकर्म या अष्टविधकर्म के वेदन का सम-विषमरूप से प्रारम्भ तथा अन्त। इसका प्ररूपण पूर्ववत् ग्यारह उद्देशकों में है।

* कुल मिलाकर चारों शतकों में कर्मबन्ध से लेकर कर्मफलभोग तक का विविध विशिष्ट जीवों सम्बन्धी प्ररूपण है।

* कर्मसिद्धान्त का इतनी सूक्ष्मता से विविध पहलुओं से सांगोपांग प्ररूपण किया गया है कि अल्प-शिक्षित व्यक्ति भी इतना तो स्पष्टता से समझ सकता है कि जीव विभिन्न गतियों, योनियों तथा लेश्या आदि से युक्त होकर स्वयमेव कर्म करता है, स्वयं ही शुभाशुभ कर्मबन्ध करता है, स्वयं ही उन शुभाशुभकृत कर्मों का फल भोगता है। कोई जीव किसी रूप में तो कोई किसी रूप में फलभोग देर या सवेर से करता है, ईश्वर, देवी, देव या कोई अन्य व्यक्ति न तो उसके बदले में शुभ या अशुभ कर्म कर सकता है, न ही कर्मों का बन्ध कर सकता है और न ही एक के बदले दूसरा कर्मफलभोग कर सकता है और न ही अपना शुभ फल या अशुभ फल दूसरे को दे सकता है। कुछ लोगों की यह मान्यता थी / है कि ईश्वर या कोई अन्य शक्ति किसी के आयुष्य को बढ़ाने-घटाने में समर्थ है, अल्पायु को अधिक आयु दी जा सकती है, अथवा आयुष्य की अदलाबदली हो सकती है, परन्तु जैनशास्त्रों में प्रतिपादित इस अकाट्य सिद्धान्त से इस बात का खण्डन हो जाता है।

* इन चारों शतकों से यह तथ्य भी प्रकट होता है कि अगर किसी जीव के कर्म निकाचितरूप से न बंधे हों और पापकर्म या अशुभकर्म का वेदन समभाव से करे तो वह स्वयं के अशुभ या पाप-

कर्म को शुभ या पुण्यकर्म में परिणत कर सकता है। समिति, गुप्ति, व्रताचरण, तपश्चर्या आदि द्वारा शुभ या अशुभ कर्मों को क्षीण कर सकता है। चतुर्भंगी बताने का एक उद्देश्य यह भी प्रतीत होता है कि कोई सम्यग्दृष्टि साधक चाहे तो तृतीय या चतुर्थ भंग का (मोक्ष का) अधिकारी भी हो सकता है तथा अशुभ या पापकर्म करे तो नरकगति या तिर्यंचगति का पथिक भी हो सकता है।

※ अट्ठाईसवें शतक के प्रथम उद्देशक के वर्णन से यह भी फलित होता है कि जीव ने पापकर्म का समर्जन या आचरण एक गति में अज्ञानवश कर लिया हो तो दूसरी शुभगति में उत्पन्न होकर और विवेकपूर्वक कृत पापाचरण की शुद्धि करना चाहे तो कर सकता है।

※ इन चारों शतकों की मुख्य प्रेरणा का स्वर यही है कि जीव को अपनी आत्मा की विशुद्धि एवं पवित्रता के लिए कर्मबन्ध, चाहे किसी भी रूप में हो, स्वयमेव समभाव से भोग कर छुटकारा पा लेना चाहिए।

※ ग्यारह स्थानों में से कई स्थान, (यथा—लेश्या, योग, अज्ञान, कषाय, वेद, संज्ञा, मिथ्यादृष्टि आदि) ऐसे हैं जो कर्मबन्ध के साक्षात् या परम्परा से कारण हैं, उन पर मनन-आलोचन करके उनको त्यागने का प्रयत्न करना चाहिए और अलेश्यत्व, अकषायत्व, अयोगित्व, अवेदकत्व, असंज्ञित्व आदि प्राप्त करके आत्मा को निज-शुद्धस्वरूप में रमण कराने का प्रयत्न करना चाहिए।

※ कुल मिला कर ये चारों शतक एक दूसरे से सापेक्ष हैं, आत्मशुद्धि के प्रेरक हैं, जीवन की उच्चता—आध्यात्मिक उच्चता को प्राप्त कराने में मार्गदर्शक हैं।

□□

छव्वीसइमं सयं : बंधिसय[1]

छव्वीसवाँ शतक : बन्धीशतक

छव्वीसवें शतक का मंगलाचरण

१. नमो सुयदेवयाए भगवतीए।

[१] भगवती श्रुतदेवता को नमस्कार हो।

विवेचन—मध्य-मंगलाचरण—भगवतीसूत्र का यह मध्य-मंगलाचरण-सूत्र है, जिसमें भगवती श्रुतदेवता (दूसरे शब्दों में जिनवाणी) को नमस्कार किया गया है, ताकि यह महाशास्त्र निर्विघ्न परिपूर्ण हो।

छव्वीसवें शतक के ग्यारह-उद्देशकों में ग्यारह द्वारों का निरूपण

१. जीवा १ य लेस २ पक्खिय ३ दिट्ठी ४ अन्नाण ५ नाण ६ सन्नाओ ७।
वेय ८ कसाए ९ उवयोग १० योग ११ एक्कारस वि ठाणा ॥१॥

[२ गाथार्थ] इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं और (इसके प्रत्येक उद्देशक में) (१) जीव, (२) लेश्याएँ, (३) पाक्षिक (शुक्लपाक्षिक और कृष्णपाक्षिक), (४) दृष्टि, (५) अज्ञान, (६) ज्ञान, (७) संज्ञाएँ, (८) वेद, (९) कषाय, (१०) उपयोग और (११) योग, ये ग्यारह स्थान (विषय) हैं, जिनको लेकर बन्ध की वक्तव्यता कही जाएगी।

विवेचन—ग्यारह स्थान ही ग्यारह द्वार—(१) प्रथम : जीवद्वार, (२) द्वितीय : लेश्याद्वार, (३) तृतीय : शुक्लपाक्षिक और कृष्णपाक्षिक द्वार, (४) चौथा : दृष्टिद्वार, (५) पंचम : अज्ञानविषयकद्वार, (६) छठा : ज्ञानद्वार, (७) सप्तम : संज्ञाद्वार, (८) अष्टम : स्त्री-पुरुष आदि वेदविषयक-द्वार, (९) नौवाँ : कषायद्वार, (१०) दसवाँ : उपयोगद्वार तथा (११) ग्यारहवाँ : योगद्वार। प्रस्तुत शतक के ११ उद्देशकों में से प्रत्येक उद्देशक में इन ग्यारह स्थानों, अर्थात् द्वारों से बन्ध-सम्बन्धी वक्तव्यता कही गई है।[1]

---

१. भगवतीसूत्र प्रमेयचन्द्रिकाटीका, भा. १६, पृ. ५१७-१८

पढमो उद्देसओ : 'जीवादि-बंध'

प्रथम उद्देशक : जीवादि के बन्धसम्बन्धी

प्रथम स्थान : जीव को लेकर पापकर्मबन्ध-प्ररूपणा

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव एवं वयासी—

[३] उस काल उस समय में राजगृह नगर में यावत् गौतमस्वामी ने इस प्रकार पूछा—

४. जीवे णं भंते ! पावं कम्मं किं बंधी, बंधति, बंधिस्सति; बंधी, बंधति, न बंधिस्सति; बंधी, न बंधति, बंधिस्सति; बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति ?

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, बंधति, न बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सइ; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति ।

[४ प्र.] भगवन् ! (१) क्या जीव ने (भूतकाल में) पापकर्म बांधा था, (वर्तमान में) बांधता है और (भविष्य में) बांधेगा ? (२) (अथवा क्या जीव ने पापकर्म) बांधा था, बांधता है और नहीं बांधेगा ? (३) (या जीव ने पापकर्म) बांधा था, नहीं बांधता है और बांधेगा ? (४) अथवा बांधा था, नहीं बांधता है और नहीं बांधेगा ?

[४ उ.] गौतम ! (१) किसी जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा। (२) किसी जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है, किन्तु आगे नहीं बांधेगा। (३) किसी जीव ने पापकर्म बांधा था, अभी नहीं बांधता है, किन्तु आगे बांधेगा। (४) किसी जीव ने पापकर्म बांधा था, अभी नहीं बांधता है आगे भी नहीं बांधेगा।

विवेचन—जीव के पापकर्मबन्धसम्बन्धी चतुर्भंगी—(१) इन चार भंगों में से प्रथम भंग—'पापकर्म बांधा था, बांधता है, बांधेगा', —अभव्य जीव की अपेक्षा से है। (२) 'बांधा था, बांधता है और नहीं बांधेगा' यह द्वितीय भंग क्षपक-अवस्था को प्राप्त होने वाले भव्य जीव की अपेक्षा से है। (३) 'बांधा था, नहीं बांधता है, किन्तु आगे बांधेगा'; यह तृतीय भंग जिस जीव ने मोहनीय कर्म का उपशम किया है, उस भव्य जीव की अपेक्षा से है और (४) 'बांधा था, नहीं बांधता है और नहीं बांधेगा;' यह चतुर्थ भंग क्षीण-मोहनीय जीव की अपेक्षा से है।

शंका-समाधान—कोई यह शंका करे कि जिस प्रकार 'बांधा था' के चार भंग बनते हैं, उसी प्रकार 'नहीं बांधा था' के भी चार भंग क्यों नहीं बन सकते ? इसका समाधान यह है कि कोई भी जीव ऐसा नहीं है जिसने भूतकाल में पापकर्म नहीं बांधा था। इसलिए 'नहीं बांधा था' ऐसा मूल भंग ही नहीं बनता तो फिर चार भंग बनने का तो प्रश्न ही नहीं है।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२९

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५४९

द्वितीय-स्थान : सलेश्य-अलेश्य जीवों की अपेक्षा पापकर्मबन्ध-निरूपण

५. सलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं किं बंधी, बंधिस्सति; बंधी, बंधति, न बंधिस्सति० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए०, चउभंगो।

[५ प्र.] भगवन् ! सलेश्य जीव ने क्या पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? अथवा बांधा था, बांधता है और नहीं बांधेगा ? इत्यादि चारों प्रश्न।

[५ उ.] गौतम ! किसी लेश्या वाले जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा; इत्यादि चारों भंग जानने चाहिए।

६. कण्हलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं किं बंधी०, पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, बंधति, न बंधिस्सति।

[६ प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णलेश्यी जीव पहले पापकर्म बांधता था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि चारों प्रश्न।

[६ उ.] गौतम ! कोई (कृष्णलेश्यी जीव) पापकर्म बांधता था, बांधता है और बांधेगा; तथा कोई (कृष्णलेश्यी) जीव (पापकर्म) बांधता था, बांधता है, किन्तु आगे नहीं बांधेगा।

७. एवं जाव पम्हलेस्से। सव्वत्थ पढम-बितिया भंगा।

[७] इसी प्रकार (नीललेश्यी से लेकर) यावत् पद्मलेश्या वाले जीव तक समझना चाहिए। सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग जानना।

८. सुक्कलेस्से जहा सलेस्से तहेव चउभंगो।

[८] शुक्ललेश्यी के सम्बन्ध में सलेश्यजीव के समान चारों भंग कहने चाहिए।

९. अलेस्से णं भंते जीवे पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति।

[९ प्र.] भगवन् ! अलेश्यी जीव ने क्या पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९ उ.] गौतम ! उस जीव ने पूर्व में पापकर्म बांधा था, किन्तु वर्तमान में नहीं बांधता और बांधेगा भी नहीं।

विवेचन—स्पष्टीकरण—सलेश्य, कृष्णादिलेश्यायुक्त और अलेश्य इन तीनों प्रकार के जीवों के सम्बन्ध में त्रैकालिक पापकर्मबन्ध-सम्बन्धी वक्तव्यता इस द्वार में है।

सलेश्यी जीव में चारों भंग पाए जाते हैं, क्योंकि शुक्ललेश्यी जीव भी पापकर्म का बन्धक होता है। कृष्णादि पांच लेश्या वाले जीवों में पहला और दूसरा, ये दो भंग ही पाए जाते हैं, क्योंकि उन जीवों के वर्तमानकाल में मोहनीयरूप पापकर्म का क्षय या उपशम नहीं है, इसलिए

अन्तिम दो (तीसरा, चौथा) भंग उनमें नहीं पाया जाता। कृष्णादि पांच लेश्यावाले जीवों में दूसरा भंग (बांधा था, बांधता है और नहीं बांधेगा) इसलिए सम्भव है कि कालान्तर में क्षपकदशा प्राप्त होने पर वह नहीं बांधेगा। अलेश्यी जीव में सिर्फ एक चौथा भंग ही पाया जाता है, क्योंकि जीव अयोगीकेवली-अवस्था में अयोगी होता है तथा लेश्या के अभाव में (अलेश्यी) जीव अबन्धक (पुण्य-पापकर्म का बन्ध न करने वाला) होता है।[1]

तृतीय स्थान : कृष्ण-शुक्लपाक्षिक को लेकर पापकर्मबन्ध प्ररूपणा

१०. कण्हपक्खिए णं भंते ! जीवे पावं कम्मं० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी०, पढम-बितिया भंगा।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या कृष्णपाक्षिक जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि प्रश्न।

[१० उ.] गौतम ! किसी जीव ने पापकर्म बंधा था; इत्यादि पहला और दूसरा भंग (इस विषय में) जानना चाहिए।

११. सुक्कपक्खिए णं भंते ! जीवे० पुच्छा।

गोयमा ! चउभंगो भाणियव्वो।

[११ प्र] भगवन् ! क्या शुक्लपाक्षिक जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि प्रश्न।

[११ उ.] गौतम ! (इस विषय में) चारों ही भंग जानने चाहिए।

विवेचन—कृष्णपाक्षिक और शुक्लपाक्षिक की परिभाषा—जिन जीवों का संसार-परिभ्रमण-काल अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन-काल से अधिक है, वे कृष्णपाक्षिक कहलाते हैं और जिन जीवों का संसार-परिभ्रमण-काल अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन-काल से अधिक नहीं है; जो अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन-काल के भीतर ही मोक्ष चले जाएँगे, वे शुक्लपाक्षिक कहलाते हैं।

कृष्णपाक्षिक जीवों में प्रथम और द्वितीय ये दो भंग पाए जाते हैं, क्योंकि वर्तमानकाल में उन जीवों में पापकर्म की अबन्धकता नहीं है, इसलिए भविष्यत्काल में भी उनके बंध तो चालू रहेगा। प्रश्न होता है—कृष्णपाक्षिक जीवों में 'बांधेंगे नहीं', यह अंश असम्भव प्रतीत होता है तथा शुक्लपाक्षिक जीवों में 'बांधेंगे नहीं' इस अंश का अवश्य सम्भव होने से 'बांधेंगे' इस अंश से युक्त प्रथम भंग क्यों नहीं घटित होता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शुक्लपाक्षिक जीवों में प्रश्न-समय के अनन्तर (तुरन्त पश्चात्) समय की अपेक्षा प्रथम भंग है तथा कृष्णपाक्षिक जीवों में शेष समयों की अपेक्षा दूसरा भंग घटित होता है।

इस दृष्टि से शुक्लपाक्षिक जीवों में चारों ही भंगों की सम्भावना बताई गई है। प्रथम भंग तो प्रश्न-समय के अनन्तर तात्कालिक (आसन्न) भविष्यत्काल की अपेक्षा घटित होता है। दूसरा भंग भविष्यत्काल में क्षपक-अवस्था की प्राप्ति की अपेक्षा घटित होता है। तीसरा भंग उन शुक्लपाक्षिक

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२९
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५४९

जीवों में घटित होता है, जो मोहनीयकर्म का उपशम करके पीछे गिरने वाले हैं और चौथा भंग क्षपक-अवस्था की प्राप्ति की अपेक्षा घटित होता है ।[1]

चतुर्थ स्थान : सम्यक्-मिथ्या-मिश्रदृष्टि जीव की अपेक्षा पापकर्मबन्ध निरूपण

१२. सम्मद्दिट्ठीणं चत्तारि भंगा ।

[१२] सम्यग्दृष्टि जीवों में चारों भंग जानना चाहिए ।

१३. मिच्छादिट्ठीणं पढम-बितिया ।

[१३] मिथ्यादृष्टि जीवों में पहला और दूसरा भंग जानना चाहिए ।

१४. सम्मामिच्छद्दिट्ठीणं एवं चेव ।

[१४] सम्यग्-मिथ्यादृष्टि जीवों में भी इसी प्रकार पहला और दूसरा दो भंग जानने चाहिए ।

विवेचन—सम्यग्दृष्टि आदि जीवों में चतुर्भंगी प्ररूपणा—सम्यग्दृष्टि जीवों में शुक्लपाक्षिक के समान चारों ही भंग पाये जाते हैं । मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि जीवों में पहला और दूसरा, ये दो भंग पाये जाते हैं । उनके मोहनीय कर्म का बन्ध होने से अन्तिम दोनों भंग उनमें घटित नहीं होते ।[2]

पंचम स्थान : ज्ञानी जीव की अपेक्षा पापकर्मबन्ध निरूपण

१५. नाणीणं चत्तारि भंगा ।

[१५] ज्ञानी जीवों में चारों भंग पाये जाते हैं ।

१६. आभिणिबोहियनाणीणं जाव मणपज्जवणाणीणं चत्तारि भंगा ।

[१६] आभिनिबोधिक ज्ञानी से (लेकर) यावत् मनःपर्यवज्ञानी जीवों में भी चारों ही भंग जानने चाहिए ।

१७. केवलनाणीणं चरिमो भंगो जहा अलेस्साणं ।

[१७] केवलज्ञानी जीवों में अन्तिम (चतुर्थ) एक भंग अलेश्य जीवों के समान पाया जाता है ।

विवेचन—ज्ञानी जीवों में चतुर्भंगी प्ररूपणा—सामान्य ज्ञानी और आभिनिबोधिक ज्ञानी से लेकर मनःपर्यवज्ञानी तक छद्मस्थ होने से मोहकर्मबन्ध होने के कारण पहले के दो भंग घटित होते हैं, शेष दो भंग भी शुक्लपाक्षिक जीवों के समान इनमें भी घटित होते हैं ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९२९
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५५०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०

केवलज्ञानी जीवों के वर्तमान में तथा भविष्य में पापकर्म का बन्ध न होने से उनमें एकमात्र चतुर्थ भंग ही होता है।[1]

छठा स्थान : अज्ञानी जीव की अपेक्षा पापकर्मबन्ध निरूपण

१८. अन्नाणीणं पढम-बितिया।

[१८] अज्ञानी जीवों में पहला और दूसरा भंग पाया जाता है।

१९. एवं मतिअन्नाणीणं, सुयअन्नाणीणं, विभंगनाणीण वि।

[१९] इसी प्रकार मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी और विभंगज्ञानी में भी पहला और दूसरा भंग जानना चाहिए।

विवेचन—अज्ञानी जीवों में दो भंग ही क्यों? अज्ञानी जीवों तथा मति-अज्ञानी आदि तीनों में प्रथम और द्वितीय ये दो भंग ही पाए जाते हैं, क्योंकि उनके मोहनीयकर्म का बन्ध होने से अन्तिम दो भंग घटित नहीं होते।[2]

सप्तम स्थान : आहारादि संज्ञी की अपेक्षा पापकर्मबन्ध प्ररूपणा

२०. आहारसन्नोवउत्ताणं जाव परिग्गहसण्णोवउत्ताणं पढम-बितिया।

[२०] आहार-संज्ञोपयुक्त यावत् परिग्रह-संज्ञोपयुक्त जीवों में पहला और दूसरा भंग पाया जाता है।

२१. नोसण्णोवउत्ताणं चत्तारि।

[२१] नोसंज्ञोपयुक्त जीवों में चारों भंग पाये जाते हैं।

विवेचन—आहारादि संज्ञा वाले जीवों में चतुर्भंगी-प्ररूपणा—आहारादि चारों संज्ञाओं वाले जीवों में क्षपकत्व और उपशमकत्व नहीं होने से पहला और दूसरा दो भंग ही होते हैं। नोसंज्ञा अर्थात् आहारादि की आसक्ति से रहित जीवों के मोहनीयकर्म का क्षय या उपशम सम्भव होने से उनमें चारों ही भंग पाये जाते हैं।[3]

अष्टम स्थान : सवेदक-अवेदक जीव को लेकर पापकर्मबन्ध प्ररूपणा

२२. सवेयगाणं पढम-बितिया। एवं इत्थिवेयग-पुरिसवेयग-नपुंसगवेदगाण वि।

[२२] सवेदक जीवों में पहला और दूसरा भंग पाये जाते हैं। इसी प्रकार स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी और नपुंसकवेदी में भी प्रथम और द्वितीय भंग पाये जाते हैं।

२३. अवेयगाणं चत्तारि।

[२३] अवेदक जीवों में चारों भंग पाये जाते हैं।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०

३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०

विवेचन—सवेदी-अवेदी में चतुर्भंगी की चर्चा—जब तक वेदोदय रहता है, तब तक जीव मोहनीयकर्म का क्षय और उपशम नहीं कर सकता, इसलिए पहले के दो भंग ही पाये जाते हैं। अवेदी जीवों में स्ववेद उपशान्त हो, किन्तु सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान की प्राप्ति न हो, तब तक वे मोहनीयकर्म को बांधते हैं और बांधेंगे अथवा वहाँ से गिर कर भी बांधेंगे। वेद क्षीण हो जाने पर पापकर्म बांधता है, किन्तु सूक्ष्मसम्परायादि अवस्था में नहीं बांधता। उपशान्तवेदी जीव सूक्ष्मसम्परायादि अवस्था में पापकर्म नहीं बांधता, किन्तु वहाँ से गिरने के बाद बांधता है। वेद का क्षय हो जाने पर सूक्ष्मसम्परायादि गुणस्थानों में पापकर्म नहीं बांधता और आगे भी नहीं बांधेगा।[1]

नवम स्थान : सकषायी-अकषायी जीव को लेकर पापकर्मबन्ध-प्ररूपणा

२४. सकसाईणं चत्तारि।

[२४] सकषायी जीवों में चारों भंग पाये जाते हैं।

२५. कोहकसायीणं पढम-बितिया।

[२५] क्रोधकषायी जीवों में पहला और दूसरा भंग पाये जाते हैं।

२६. एवं माणकसायिस्स वि, मायाकसायिस्स वि।

[२६] इसी प्रकार मानकषायी तथा मायाकषायी जीवों में भी ये दोनों भंग पाये जाते हैं।

२७. लोभकसायिस्स चत्तारि भंगा।

[२७] लोभकषायी जीवों में चारों भंग पाये जाते हैं।

२८. अकसायी णं भंते ! जीवे पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सति। अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या अकषायी जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि प्रश्न।

[२८ उ.] गौतम ! किसी अकषायी जीव ने (भूतकाल में पापकर्म) बांधा था, किन्तु अभी नहीं बांधता है, मगर भविष्य में बांधेगा तथा किसी जीव ने बांधा था, किन्तु अभी तक नहीं बांधता है और आगे भी नहीं बांधेगा।

विवेचन—सकषायी-अकषायी जीवों में चतुर्भंगी चर्चा—सकषायी जीवों में पूर्वोक्त चारों भंग पाये जाते हैं। उनमें से प्रथम भंग अभव्यजीव की अपेक्षा से है। दूसरा भंग उस भव्य जीव की अपेक्षा से है, जिसका मोहनीयकर्म क्षय होने वाला है तथा उपशमक सूक्ष्मसम्पराय जीव की अपेक्षा से तीसरा भंग है और चौथा भंग क्षपक सूक्ष्मसम्परायी जीव की अपेक्षा से है। इसी प्रकार लोभकषायी जीवों के विषय में भी पूर्वोक्त अपेक्षा से इन चारों भंगों की संभावना समझनी चाहिए। क्रोधकषायी, मानकषायी और मायाकषायी जीवों में पहला और दूसरा ये दो ही भंग पाये जाते हैं,

---

१. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९३०

पहला भंग अभव्य की अपेक्षा से है और दूसरा भंग भव्यविशेष की अपेक्षा से है। उनमें तीसरा और चौथा भंग नहीं पाया जाता, क्योंकि क्रोधादि के उदय में अवन्धकता नहीं होती। अकषायी जीवों में तीसरा और चौथा, ये दो भंग पाए जाते हैं। तीसरा भंग उपशमक अकषायी में और चौथा भंग क्षपक अकषायी में पाया जाता है।[1]

दसवाँ स्थान : सयोगी-अयोगी जीव को लेकर पापकर्मबन्ध-प्ररूपणा

२९. सजोगिस्स चउभंगो।

[२९] सयोगी जीवों में चारों भंग घटित होते हैं।

३०. एवं मणजोगिस्स वि, वइजोगिस्स वि, कायजोगिस्स वि।

[३०] इसी प्रकार मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी जीव में चारों भंग पाये जाते हैं।

३१. अजोगिस्स चरिमो।

[३१] अयोगी जीव में अन्तिम एक भंग पाया जाता है।

विवेचन—सयोगी, त्रियोगी एवं अयोगी चातुर्भंगिक चर्चा—सयोगी में भव्य, भव्य-विशेष, उपशमक और क्षपक की अपेक्षा क्रमशः चारों भंग पाये जाते हैं। अयोगी के वर्तमान में पापकर्म का बंध नहीं होता और न भविष्य में होगा, इस दृष्टि से उसमें एकमात्र चौथा भंग ही पाया जाता है।[2]

ग्यारहवाँ स्थान : साकार-अनाकारोपयुक्त जीव की अपेक्षा पापकर्मबन्ध-प्ररूपणा

३२. सागारोवउत्ते चत्तारि।

[३२] साकारोपयुक्त जीव में चारों ही भंग पाये जाते हैं।

३३. अणागारोवउत्ते वि चत्तारि भंगा।

[३३] अनाकारोपयुक्त जीव में भी उक्त चारों भंग होते हैं।

विवेचन—साकारोपयोगी और अनाकारोपयोगी जीवों में चतुर्भंगी—इन दोनों प्रकार के उपयोग वाले जीवों में पूर्वोक्त चारों भंग पाये जाते हैं। इसका स्पष्टीकरण पूर्ववत् जानना चाहिए।[3]

चौवीस दण्डकों में ग्यारह स्थानों की अपेक्षा पापकर्मबन्ध की चातुर्भंगिक-प्ररूपणा

३४. नेरतिए णं भंते ! पावं कम्मं किं बंधी, बंधति, बंधिस्सति० ?

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी० पढम-बितिया।

[३४ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि (चतुर्भंगीयुक्त प्रश्न !)

[३४ उ.] गौतम ! किसी नैरयिक जीव ने पापकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा, इस प्रकार पहला और (पूर्ववत्) दूसरा भंग जानना चाहिए।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०
२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०
३. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३०

३५. सलेस्से णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं० ?

एवं चेव ।

[३५ प्र.] भगवन् ! क्या सलेश्य नैरयिक जीव ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि चतुर्भंगीयुक्त प्रश्न ।

[३५ उ.] गौतम ! यहाँ भी पूर्ववत् पहला और दूसरा भंग जानना ।

३६. एवं कण्हलेस्से वि, नीललेस्से वि, काउलेस्से वि ।

[३६] इसी प्रकार कृष्णलेश्या वाले, नीललेश्या वाले और कापोतलेश्या वाले जीव में भी प्रथम और द्वितीय भंग पाया जाता है ।

३७. एवं कण्हपक्खिए, सुक्कपक्खिए; सम्मद्दिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्मामिच्छादिट्ठी; नाणी, आभिणिबोहियनाणी, सुयनाणी, ओहिनाणी; अन्नाणी, मतिअन्नाणी, सुयअन्नाणी, विभंगनाणी; आहारसन्नोवउत्ते जाव परिग्गहसन्नोवउत्ते; सवेयए, नपुंसकवेयए; सकसायी जाव लोभकसायी; सजोगी, मणजोगी, वइजोगी, कायजोगी; सागरोवउत्ते अणागारोवउत्ते । एएसु सव्वेसु पएसु पढम-बितिया भंगा भाणियव्वा ।

[३७] इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक, सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, ज्ञानी, आभिनिबोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, अज्ञानी, मति-अज्ञानी, श्रुत-अज्ञानी, विभंगज्ञानी, आहारसंज्ञोपयुक्त यावत् परिग्रहसंज्ञोपयुक्त, सवेदी, नपुंसकवेदी, सकषायी यावत् लोभकषायी, सयोगी, मनोयोगी, वचनयोगी, काययोगी, साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त, इन सब पदों में प्रथम और द्वितीय भंग कहना चाहिए ।

३८. एवं असुरकुमारस्स वि वत्तव्वया भाणियव्वा ।

नवरं तेउलेस्सा, इत्थिवेयग-पुरिसवेयगा य अब्भहिया, नपुंसगवेयगा न भण्णंति । सेसं तं चेव । सव्वत्थ पढम-बितिया भंगा ।

[३८] असुरकुमारों के विषय में भी यही वक्तव्यता कहनी चाहिए । विशेष यह है कि इनमें तेजोलेश्या वाले स्त्रीवेदक और पुरुषवेदक अधिक कहने चाहिए । शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए । इन सबमें पहला और दूसरा भंग जानना चाहिए ।

३९. एवं जाव थणियकुमारस्स ।

[३९] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक कहना चाहिए ।

४०. एवं पुढविकाइयस्स वि, आउकाइयस्स वि जाव पंचिंदियतिरिक्खजोणियस्स वि, सव्वत्थ वि पढम-बितिया भंगा । नवरं जस्स जा लेस्सा, दिट्ठी, नाणं, अन्नाणं, वेदो, जोगो य, जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं । सेसं तहेव ।

[४०] इसी प्रकार पृथ्वीकायिक, अप्कायिक यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक तक भी सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग कहना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि जहाँ जिसमें जो लेश्या, जो दृष्टि, ज्ञान, अज्ञान, वेद और योग हों, उसमें वही कहना चाहिए । शेष सब पूर्ववत् है ।

४१. मणूसस्स जच्चेव जीवपए वत्तव्वया सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वा।

[४१] मनुष्य के विषय में जीवपद में जो वक्तव्यता है, वही समग्र वक्तव्यता कहनी चाहिए।

४२. वाणमंतरस्स जहा असुरकुमारस्स।

[४२] वाणव्यन्तरों का कथन असुरकुमारों के कथन के समान है।

४३. जोतिसिय-वेमाणियस्स एवं चेव, नवरं लेस्साओ जाणियव्वाओ, सेसं तहेव भाणियव्वं।

[४३] ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में भी कथन इसी प्रकार है, किन्तु जिसके जो लेश्या हो, वही कहनी चाहिए। शेष सब पूर्ववत् समझना।

विवेचन—चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में त्रैकालिक पापकर्मबन्ध—नैरयिक जीव में उपशम-श्रेणी या क्षपकश्रेणी नहीं होती, इसलिए उनमें तीसरा और चौथा भंग नहीं पाया जाता, केवल पहला और दूसरा भंग ही पाया जाता है। सलेश्य इत्यादि विशेषणयुक्त नैरयिकादि में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। असुरकुमारादि में भी इसी प्रकार प्रारम्भ के दो भंग पाये जाते हैं।

औधिक जीव और सलेश्य आदि विशेषणयुक्त जीव के लिए जो चतुर्भंगी आदि वक्तव्यता कही है, मनुष्य के लिए भी वह उसी प्रकार कहनी चाहिए, क्योंकि जीव और मनुष्य दोनों समानधर्मा हैं।[1]

जीव और चौवीस दण्डकों में ज्ञानावरणीय से लेकर मोहनीय-कर्मबन्ध तक की चतुर्भंगीय-प्ररूपणा ग्यारह स्थानों में

४४. जीवे णं भंते! नाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी, बंधति, बंधिस्सति०? एवं जहेव पावस्स कम्मस्स वत्तव्वया भणिया तहेव नाणावरणिज्जस्स वि भाणियव्वा, नवरं जीवपए मणुस्सपए य सकसायिम्मि जाव लोभकसाइम्मि य पढम-बितिया भंगा। अवसेसं तं चेव जाव वेमाणिए।

[४४ प्र.] भगवन्! क्या जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा? इत्यादि चातुर्भंगिक प्रश्न।

[४४ उ.] गौतम! जिस प्रकार पापकर्म की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म की वक्तव्यता कहनी चाहिए। परन्तु (औधिक) जीवपद और मनुष्यपद में सकषायी (से लेकर) यावत् लोभकषायी में प्रथम और द्वितीय भंग ही कहना चाहिए। शेष सब कथन पूर्ववत् यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

४५. एवं दरिसणावरणिज्जेण वि दंडगो भाणियव्वो निरवसेसं।

[४५] ज्ञानावरणीय कर्म के समान दर्शनावरणीय कर्म के विषय में भी समग्र दण्डक कहने चाहिए।

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३१

४६. जीवे णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, बंधति, न बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति ।

[४६ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ने वेदनीयकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[४६ उ.] गौतम ! (१) किसी जीव ने (वेदनीय कर्म) बांधा था, बांधता है और बांधेगा, (२) किसी जीव ने बांधा था, बांधता है और नहीं बांधेगा तथा (३) किसी जीव ने (वेदनीय कर्म) बांधा था, नहीं बांधता है और नहीं बांधेगा ।

४७. सलेस्से वि एवं चेव ततियविहूणा भंगा ।

[४७] सलेश्य जीव में भी तृतीय भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग पाये जाते हैं ।

४८. कण्हलेस्से जाव पम्हलेस्से पढम-बितिया भंगा ।

[४८] कृष्णलेश्या वाले से लेकर यावत् पद्मलेश्या वाले जीव तक में पहला और दूसरा भंग पाया जाता है ।

४९. सुक्कलेस्से ततियविहूणा भंगा ।

[४९] शुक्ललेश्या वाले में तृतीय भंग को छोड़ कर शेप तीन भंग पाये जाते हैं ।

५०. अलेस्से चरिमो ।

[५०] अलेश्यजीव में अन्तिम (चतुर्थ) भंग पाया जाता है ।

५१. कण्हपक्खिए पढम-बितिया ।

[५१] कृष्णपाक्षिक में प्रथम और द्वितीय भंग जानना चाहिए ।

५२. सुक्कपक्खिए ततियविहूणा ।

[५२] शुक्लपाक्षिक में तृतीय भंग को छोड़ कर शेप तीनों भंग पाये जाते हैं ।

५३. एवं सम्मद्दिट्ठिस्स वि ।

[५३] इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि में भी ये ही तीनों भंग जानने चाहिए ।

५४. मिच्छद्दिट्ठिस्स सम्मामिच्छादिट्ठिस्स य पढम-बितिया ।

[५४] मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि में प्रथम और द्वितीय भंग जानना ।

५५. णाणिस्स ततियविहूणा ।

[५५] ज्ञानी में तृतीय भंग को छोड़ कर शेष तीनों भंग समझने चाहिए ।

५६. आभिनिबोहियनाणी जाव मणपज्जवनाणी पढम-बितिया ।

[५६] आभिनिबोधिक ज्ञानी (से लेकर) यावत् मनःपर्यवज्ञानी तक में प्रथम और द्वितीय भंग जानना ।

५७. केवलनाणी ततियविहूणा।

[५७] केवलज्ञानी में तृतीय भंग के सिवाय शेष तीनों भंग पाये जाते हैं।

५८. एवं नोसन्नोवउत्ते, अवेदए, अकसायी, सागरोवउत्ते, अणागारोवउत्ते, एएसु ततियविहूणा।

[५८] इसी प्रकार नो-संज्ञोपयुक्त में, अवेदी में, अकषायी में, साकारोपयुक्त एवं अनाकारोपयुक्त में भी तृतीय भंग को छोड़ कर शेष तीनों भंग पाये जाते हैं।

५९. अजोगिम्मि य चरिमो।

[५९] अयोगी में अन्तिम (चतुर्थ) भंग जानना चाहिए।

६०. सेसेसु पढम-वितिया।

[६०] शेष सभी में प्रथम और द्वितीय भंग जानना चाहिए।

६१. नेरइए णं भंते ! वेयणिज्जं कम्मं किं बंधी, बंधइ० ?

एवं नेरइयाइया जाव वेमाणिय त्ति, जस्स जं अत्थि। सव्वत्थ वि पढम-बितिया, नवरं मणुस्से जहा जीवे।

[६१ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव ने वेदनीय कर्म बांधा, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि (चातुर्भंगिक प्रश्न।)

[६१ उ.] इसी प्रकार नैरयिक से लेकर यावत् वैमानिक तक जिसके जो लेश्यादि हों, वे कहने चाहिए। इन सभी में पहला और दूसरा भंग पाया जाता है। विशेष यह है कि मनुष्य की वक्तव्यता सामान्य जीव के समान है।

६२. जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी, बंधति० ?

जहेव पावं कम्मं तहेव मोहणिज्जं पि निरवसेसं जाव वेमाणिए।

[६२ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ने मोहनीय कर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[६२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पापकर्मबन्ध के विषय में कहा था, उसी प्रकार समग्र कथन मोहनीयकर्मबन्ध के विषय में यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

विवेचन—ज्ञानावरणीय से मोहनीयकर्मबन्ध तक चतुर्भंगीचर्चा—जिस प्रकार औघिक जीव सहित पापकर्मबन्ध-सम्बन्धी पच्चीस दण्डक कहे, उसी प्रकार ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध-सम्बन्धी पच्चीस दण्डक कहने चाहिए। किन्तु पापकर्मबन्ध के दण्डक में जीवपद और मनुष्यपद में सकषाय और लोभकषाय की अपेक्षा सूक्ष्मसम्परायगुणस्थानवर्ती जीव मोहनीयकर्मरूप पापकर्म का अबन्धक होता है, इसलिए चारों भंग कहे थे, क्योंकि सकषायी जीव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय का बन्धक अवश्य होता है, अबन्धक नहीं होता।

वेदनीयकर्मबन्धसम्बन्धी चर्चा—वेदनीयकर्म के बन्धक में पहला भग अभव्यजीव की अपेक्षा से है, दूसरा भंग—भविष्य में मोक्ष जाने वाले भव्यजीव की अपेक्षा से है, तीसरा भंग यहां घटित

नहीं होता, क्योंकि जो जीव वेदनीयकर्म का अबन्धक हो जाता है, वह फिर वेदनीयकर्म का बन्ध नहीं करता। चौथा भंग अयोगीकेवली की अपेक्षा से है। इस प्रकार वेदनीयकर्मबन्ध में तीसरे भंग के सिवाय शेष तीन भंग घटित होते हैं।

सलेश्यीजीव में यहाँ तीसरे भंग को छोड़कर शेष तीन भंग बताए हैं, किन्तु उसमें चौथा भंग (वेदनीयकर्म बांधा था, नहीं बांधता है, नहीं बांधेगा) कैसे घटित होना सम्भव है, क्योंकि लेश्या तेरहवें गुणस्थान तक होती है। अतः वहाँ तक सलेश्यीजीव वेदनीयकर्म का बन्धक होता है, तब फिर अबन्धक कैसे हो सकता है? कतिपय आचार्य इसका समाधान यों करते हैं—इस सूत्र के प्रमाण (वचन) के अनुसार अयोगी-अवस्था के प्रथम समय में 'घंटालालान्यायेन' परम शुक्ललेश्या होती है, इसलिए सलेश्यी में भी चतुर्थ भंग घटित हो सकता है। तत्त्व केवलिगम्य है।

कृष्णादि पांच लेश्यावाले जीवों में अयोगीपन का अभाव होने से वेदनीयकर्म के अबन्धक नहीं होते। अतएव उनमें पहले के दो भंग ही पाये जाते हैं। शुक्ललेश्यी जीव में सलेश्यी के समान पूर्वोक्त तीन भंग ही होते हैं। अलेश्यीजीव तो केवली और सिद्ध होते हैं, अतः उनमें केवल चतुर्थ भंग ही पाया जाता है। कृष्णपाक्षिक जीवों में अयोगीपन का अभाव होने से उनमें अन्तिम दो भंग नहीं पाये जाते, प्रथम और द्वितीय, ये दो भंग ही पाये जाते हैं। शुक्लपाक्षिक जीव अयोगी भी होता है, इसलिए उसमें तीसरे भंग के सिवाय शेष तीनों भंग पाए जाते हैं।

सम्यग्दृष्टिजीव में अयोगीपन सम्भव होने से उसमें तीसरे भंग को छोड़कर शेष तीनों भंग होते हैं। मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि में अयोगीपन का अभाव होने से वे वेदनीयकर्म के अबन्धक नहीं होते। अतएव उनमें पहले के दो भंग ही पाये जाते हैं। ज्ञानी और केवलज्ञानी में अयोगी-अवस्था में चौथा भंग पाया जाता है, अतः उनमें तीसरे भंग के अतिरिक्त शेष तीनों भंग पाए जाते हैं। आभिनिबोधिक आदि ज्ञान वाले जीवों में अयोगीपन का अभाव होने से उनमें चौथा भंग नहीं पाया जाता। उनमें पहले के दो भंग ही पाये जाते हैं। इस प्रकार सभी स्थानों में यह समझ लेना चाहिए कि जहाँ अयोगी-अवस्था सम्भव है, वहाँ-वहाँ तीसरे भंग के सिवाय शेष तीन भंग पाए जाते हैं और जहाँ-जहाँ अयोगी-अवस्था सम्भव नहीं है, वहाँ-वहाँ पहला और दूसरा, ये दो भंग ही पाए जाते हैं।

मोहनीयकर्मबन्ध-सम्बन्धी—मोहनीयकर्म एक प्रकार से पाप (अशुभ) कर्म ही है, इसलिए इसके ग्यारह स्थानों के वैमानिकदेव-पर्यन्त चौवीस दण्डकों में पापकर्म के समान सभी आलापक कहने चाहिए।[1]

जीव और चौवीस दण्डकों में आयुष्यकर्म की अपेक्षा चतुर्भंगीय-प्ररूपणा ग्यारह स्थानों में

६३, जीवे णं भंते ! आउयं कम्मं किं बंधी बंधति० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी० चउभंगो।

[६३ प्र.] भगवन् ! क्या जीव ने आयुष्यकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५५४-३५५६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३१-९३२

[६३ उ.] गौतम ! किसी जीव ने (आयुष्यकर्म) बांधा था, इत्यादि चारों भंग पाये जाते हैं।

६४. सलेस्से जाव सुक्कलेस्से चत्तारि भंगा।

[६४] सलेश्यी से लेकर यावत् शुक्ललेश्यी जीवों तक में चारों भंग पाए जाते हैं।

६५. अलेस्से चरिमो।

[६५] अलेश्यी जीवों में एकमात्र अन्तिम भंग होता है।

६६. कण्हपक्खिए णं० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति। अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सति।

[६६ प्र.] भगवन् ! कृष्णपाक्षिक जीव ने (आयुष्यकर्म) बांधा था, इत्यादि प्रश्न।

[६६ उ.] गौतम ! (१) किसी जीव ने (आयुष्यकर्म) बांधा था, बांधता है और बांधेगा तथा (२) किसी जीव ने बांधा था, नहीं बांधता है और बांधेगा, ये दो भंग पाये जाते हैं।

६७. सुक्कपक्खिए सम्मद्दिट्ठी मिच्छादिट्ठी चत्तारि भंगा।

[६७] शुक्लपाक्षिक सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में चारों भंग पाये जाते हैं।

६८. सम्मामिच्छादिट्ठी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति।

[६८ प्र.] भगवन् ! सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव ने आयुष्यकर्म बांधा था ? इत्यादि प्रश्न।

[६८ उ.] गौतम ! किसी जीव ने बांधा था, नहीं बांधता है और बांधेगा तथा किसी जीव ने बांधा था, नहीं बांधता और नहीं बांधेगा, ये (तीसरा और चौथा) दो भंग पाये जाते हैं।

६९. नाणी जाव ओहिनाणी चत्तारि भंगा।

[६९] ज्ञानी (से लेकर) यावत् अवधिज्ञानी तक में चारों भंग पाये जाते हैं।

७०. मणपज्जवनाणी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, न बंधिस्सति।

[७० प्र.] भगवन् ! मन:पर्यवज्ञानी जीव ने आयुष्यकर्म बांधा था ? इत्यादि (चातुर्भंगिक प्रश्न)।

[७० उ.] गौतम ! किसी मन:पर्यवज्ञानी ने आयुष्यकर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा; किसी मन:पर्यवज्ञानी ने आयुष्यकर्म बांधा था, नहीं बांधता है और बांधेगा तथा किसी मन:पर्यवज्ञानी ने बांधा था, नहीं बांधता है और नहीं बांधेगा, ये तीन भंग पाये जाते हैं।

७१. केवलनाणे चरिमो भंगो ।

[७१] केवलज्ञानी में एकमात्र चौथा भंग पाया जाता है ।

७२. एवं एएणं कमेणं नोसन्नोवउत्ते बितियविहूणा जहेव मणपज्जवनाणे ।

[७२] इसी प्रकार इस क्रम से नोसंज्ञोपयुक्त जीव में द्वितीय भंग के अतिरिक्त तीन भंग मन:पर्यवज्ञानी के समान होते हैं ।

७३. अवेयए अकसाई य ततिय-चउत्था जहेव सम्मामिच्छत्ते ।

[७३] अवेदी और अकषायी में सम्यग्मिथ्यादृष्टि के समान तीसरा और चौथा भंग पाया जाता है ।

७४. अजोगिम्मि चरिमो ।

[७४] अयोगी केवली जीव में एकमात्र चौथा (अन्तिम) भंग पाया जाता है ।

७५. सेसेसु पएसु चत्तारि भंगा जाव अणागारोवउत्ते ।

[७५] शेष पदों में यावत् अनाकारोपयुक्त तक में चारों भंग पाये जाते हैं ।

७६. नेरतिए णं भंते ! आउयं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगतिए० चत्तारि भंगा । एवं सव्वत्थ वि नेरइयाणं चत्तारि भंगा, नवरं कण्हलेस्से कण्हपक्खिए य पढम-ततिया भंगा, सम्मामिच्छत्ते ततिय-चउत्था ।

[७६ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक जीव ने आयुष्यकर्म बांधा था ? इत्यादि चातुर्भंगिक प्रश्न ।

[७६ उ.] गौतम ! किसी नैरयिक ने आयुष्यकर्म बांधा था इत्यादि चारों भंग पाये जाते हैं । इसी प्रकार सभी स्थानों में नैरयिक के चार भंग कहने चाहिए, किन्तु कृष्णलेश्यी एवं कृष्णपाक्षिक नैरयिक जीव में पहला तथा तीसरा भंग तथा सम्यग्मिथ्यादृष्टि में तृतीय और चतुर्थ भंग होता है ।

७७. असुरकुमारे एवं चेव, नवरं कण्हलेस्से वि चत्तारि भंगा भाणियव्वा । सेसं जहा नेरतियाणं ।

[७७] असुरकुमार में भी इसी प्रकार कहना चाहिए । किन्तु कृष्णलेश्यी असुरकुमार में पूर्वोक्त चारों भंग कहने चाहिए । शेष सभी नैरयिकों के समान कहना चाहिए ।

७८. एवं जाव थणियकुमाराणं ।

[७८] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए ।

७९. पुढविकाइयाणं सव्वत्थ वि चत्तारि भंगा, नवरं कण्हपक्खिए पढम-ततिया भंगा ।

[७९] पृथ्वीकायिकों में सभी स्थानों में चारों भंग होते हैं । किन्तु कृष्णपाक्षिक पृथ्वीकायिक में पूर्वोक्त चार भंगों में से पहला और तीसरा भंग पाया जाता है ।

८०. तेउलेस्से० पुच्छा।

गोयमा ! बंधी, न बंधति, बंधिस्सति।

[८० प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्यी पृथ्वीकायिक जीव ने आयुष्यकर्म बांधा था ? इत्यादि प्रश्न।

[८० उ.] गौतम ! (तेजो० पृ० ने) बांधा था, बांधता नहीं है और बांधेगा, यह केवल तृतीय भंग पाया जाता है।

८१. सेसेसु सव्वेसु चत्तारि भंगा।

[८१] शेष सभी स्थानों में चार-चार भंग कहने चाहिए।

८२. एवं आउकाइय-वणस्सइकाइयाण वि निरवसेसं।

[८२] इसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के विषय में भी सब कहना चाहिए।

८३. तेउकाइय-वाउकाइयाणं सव्वत्थ वि पढम-ततिया भंगा।

[८३] तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों के सभी स्थानों में प्रथम और तृतीय भंग होते हैं।

८४. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं पि सव्वत्थ वि पढम-ततिया भंगा, नवरं सम्मत्ते नाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ततियो भंगो।

[८४] द्वीन्द्रिय, तृतीय और चतुरिन्द्रिय जीवों के सभी स्थानों में प्रथम और तृतीय भंग होते हैं।

विशेष यह है कि इनके सम्यक्त्व, ज्ञान, आभिनिवोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान में एकमात्र तृतीय भंग होता है।

८५. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं कण्हपक्खिए पढम-ततिया भंगा। सम्मामिच्छत्ते ततिय-चउत्था भंगा। सम्मत्ते नाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे ओहिनाणे, एएसु पंचसु वि पएसु बितियविहूणा भंगा। सेसेसु चत्तारि भंगा।

[८५] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक में तथा कृष्णपाक्षिक में प्रथम और तृतीय भंग पाये जाते हैं।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव में तृतीय और चतुर्थ भंग होते हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, आभिनिवोधिक-ज्ञान, श्रुतज्ञान एवं अवधिज्ञान, इन पांचों पदों में द्वितीय भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग पाये जाते हैं। शेष सभी पूर्ववत् (चार भंग) जानना।

८६. मणुस्साणं जहा जीवाणं, नवरं सम्मत्ते, ओहिए नाणे, आभिनिवोहियनाणे, सुयनाणे, ओहिनाणे, एएसु बितियविहूणा भंगा; सेसं तं चेव।

[८६] मनुष्यों का कथन औधिक जीवों के समान जानना। किन्तु इनके सम्यक्त्व, औधिक-ज्ञान, आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, इन पदों में द्वितीय भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग पाये जाते हैं। शेप सब पूर्ववत् जानना।

८७, वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[८७] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का कथन असुरकुमारों के समान है।

विवेचन—आयुष्यकर्मबन्ध की अपेक्षा से चतुर्भंगीय चर्चा—सामान्यजीव द्वारा आयुष्यकर्मवन्ध के विषय में चार भंग वताये हैं। उनमें प्रथम भंग तो अभव्यजीव की अपेक्षा से है। जो जीव चरमशरीरी होगा, उसकी अपेक्षा द्वितीय भंग है। तृतीय भंग उपशमक की अपेक्षा से है, क्योंकि उसने पहले आयु वांधा था. वर्तमानकाल में उपशम-अवस्था में आयु नहीं वांधता और उपशम-अवस्था से गिरने पर फिर आयु वांधेगा। चतुर्थ भंग क्षपक की अपेक्षा से है, उसने भूतकाल में (जन्मान्तर में) आयुष्य वांधा था, वर्तमान में नहीं वांधता और न ही भविष्यत्काल में आयुष्य वांधेगा।

सलेश्यी से लेकर शुक्ललेश्यी जीव तक में चार भंग वताए हैं। उनमें से प्रथम भंग उसकी अपेक्षा से है जो निर्वाण को प्राप्त नहीं होगा। जो चरमशरीरीरूप से उत्पन्न होगा, उसकी अपेक्षा द्वितीय भंग है। अवन्ध-समय की अपेक्षा तृतीय भंग है और जो चरमशरीरी है, उसकी अपेक्षा चतुर्थ भंग है।

इस प्रकार अन्य स्थानों में भी यथायोग्यरूप से घटित कर लेना चाहिए। शैलेशी-अवस्था को प्राप्त जीव तथा सिद्ध भगवान् अलेश्यी होते हैं। उनमें एकमात्र चतुर्थ भंग ही पाया जाता है, क्योंकि वे वर्तमान में आयुष्य का वन्ध नहीं करते और भविष्यत्काल में भी नहीं करेंगे।

कृष्णपाक्षिक जीव में प्रथम और तृतीय भंग पाया जाता है, क्योंकि अभव्यजीव की अपेक्षा से प्रथम भंग और अवन्धकाल की अपेक्षा तृतीय भंग है, क्योंकि वह वर्त्तमानकाल में आयुष्यकर्म नहीं वांधता, किन्तु भविष्यत्काल में वांधेगा। तृतीय और चतुर्थ भंग कृष्णपाक्षिक में नहीं होते, क्योंकि उसमें आयुष्यवन्ध का सर्वथा अभाव नहीं होता।

शुक्लपाक्षिक और सम्यग्दृष्टि में चार भंग होते हैं, क्योंकि उसने पहले आयुष्य वांधा था, वन्धनकाल में वांधता है और अवन्धकाल के वाद फिर बांधेगा। इस अपेक्षा से यहाँ प्रथम भंग घटित होता है। चरमशरीरजीव की अपेक्षा द्वितीय, उपशम-अवस्था की अपेक्षा तृतीय और क्षपक-अवस्था की अपेक्षा चौथा भंग होता है।

मिथ्यादृष्टि में चार भंग वताए हैं, अभव्य की अपेक्षा पहला भंग, भविष्य में चरमशरीर की प्राप्ति होने पर नहीं वांधेगा, अतः दूसरा भंग है। अवन्धकाल की अपेक्षा तीसरा भंग और चरमशरीरी की अपेक्षा चौथा भंग है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्रदृष्टि) जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अवस्था में आयु नहीं वांधता और कोई जीव चरमशरीरी हो जाए तो आयुष्य बांधेगा भी नहीं। इसलिए इसमें तीसरा और चौथा भंग घटित होता है।

ज्ञानी जीवों में चार भंग पाए जाते हैं, जिन्हें पूर्ववत् घटित कर लेना चाहिए। मन:पर्यवज्ञानी में दूसरे भंग को छोड़ कर शेप तीन भंग पाये जाते हैं। उसने पहले आयु वांधा था, वर्त्तमान में

देवायु बांधता है और भविष्यत्काल में मनुष्यायु बांधेगा। इस अपेक्षा से प्रथम भंग घटित होता है। दूसरा भंग यहाँ संभव नहीं है, क्योंकि देवभव में मनुष्यायु का बन्ध अवश्य करेगा। उपशम-अवस्था की अपेक्षा तीसरा भंग और क्षपक-अवस्था की अपेक्षा चौथा भंग होता है, क्योंकि क्षपक और केवलज्ञानी न तो आयु बांधते हैं, और न ही बांधेंगे, इसलिए इनमें एक ही (चौथा) भंग पाया जाता है।

नो-संज्ञोपयुक्त जीव में भी मन:पर्यवज्ञानी के समान तीन भंग घटित कर लेने चाहिए। अवेदक और अकषायी जीव में उपशम और क्षपक अवस्था की अपेक्षा तृतीय और चतुर्थ भंग पाया जाता है। मति आदि तीन अज्ञान वाले, आहारादि चार संज्ञोपयुक्त, सवेदक (स्त्री-पुरुषादि तीन वेदों से युक्त), सकषाय (क्रोधादि चार कषायों से युक्त), सयोगी (मन-वचन-काया के तीन योगों सहित) तथा साकारोपयुक्त एवं अनाकारोपयुक्त इन सभी जीवों में चार-चार भंग पाये जाते हैं।

नैरयिक जीवों में चार भंग कहे हैं, क्योंकि नैरयिक जीव ने आयुष्य बांधा था, बन्धनकाल में वर्त्तमान में बांधता है और भवान्तर में बांधेगा, इस प्रकार प्रथम भंग घटित होता है। जो नैरयिक मोक्ष को प्राप्त होने वाला है, उसकी अपेक्षा से दूसरा भंग घटित होता है। बन्धनकाल के अभाव तथा भावी बन्धनकाल की अपेक्षा तृतीय भंग है। जिस नैरयिक ने परभव का (मनुष्यायुष्य) बांध लिया और जिसका आयुष्य बांधा है, वही उसका चरम भव है, उसकी अपेक्षा से चौथा भंग है। इस प्रकार सर्वत्र घटित कर लेना चाहिए।

कृष्णलेश्यी नैरयिक में पहला और तीसरा भंग पाया जाता है। प्रथम भंग तो प्रतीत ही है। कृष्णलेश्यी नैरयिक में दूसरा भंग नहीं होता, क्योंकि कृष्णलेश्यी नारक, तिर्यञ्च में अथवा अचरम-शरीरी मनुष्य में उत्पन्न होता है। कृष्णलेश्या पांचवीं नरकपृथ्वी आदि में होती है, वहाँ से निकला हुआ केवली या चरमशरीरी नहीं होता। इसलिए वहाँ से निकला हुआ नैरयिक अचरमशरीरी होने से फिर आयुष्य बांधेगा। कृष्णलेश्यी नैरयिक अबन्धकाल में आयुष्य नहीं बांधता, बन्धनकाल में आयुष्य बांधेगा, इस दृष्टि से उसमें तृतीय भंग घटित होता है। वह आयु का अबन्धक नहीं होता, इसलिए उसमें चौथा भंग घटित नहीं होता।

इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक नैरयिक के विषय में भी पहला और तीसरा भंग घटित कर लेना चाहिए। सम्यग्मिथ्यादृष्टि नैरयिकजीव आयु नहीं बांधता, इसलिए उसमें तीसरा और चौथा भंग होता है। कृष्णलेश्यी असुरकुमार में चारों भंग पाये जाते हैं, क्योंकि वहाँ से निकल कर मनुष्यगति में आकर वह सिद्ध हो सकता है। इस अपेक्षा से उसमें दूसरा और चौथा भंग घटित होता है।

पृथ्वीकायिक जीवों में सभी स्थानों में चार भंग पाये जाते हैं। किन्तु कृष्णपाक्षिक में प्रथम और तृतीय भंग ही होता है। तेजोलेश्यी पृथ्वीकायिक में एकमात्र तृतीय भंग ही होता है, क्योंकि जो तेजोलेश्यी देव पृथ्वीकायिकों में उत्पन्न होता है, वह अपर्याप्त अवस्था में तेजोलेश्यी होता है तथा तेजोलेश्या का समय व्यतीत हो जाने के बाद आयुष्य बांधता है। अत: तेजोलेश्यी पृथ्वीकायिक ने पूर्वभव में आयुष्य बांधा था, वह तेजोलेश्या के समय आयुष्य बन्ध नहीं करता, किन्तु तेजोलेश्या का समय बीत जाने पर आयुष्य बांधेगा, इस दृष्टि से तेजोलेश्यी पृथ्वीकायिक में तीसरा भंग घटित होता है।

इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक, अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों में पहला और तीसरा भंग पाया जाता है तथा इनमें तेजोलेश्यायुक्त में तीसरा भंग होता है। दूसरे स्थानों में चार भंग होते हैं।

तेजस्कायिक और वायुकायिक जीवों में सभी स्थानों में पहला और तीसरा भंग ही होता है, क्योंकि वहाँ से निकल कर उनकी उत्पत्ति मनुष्यों में न होने से सिद्धिगमन का उनमें अभाव है। अतः दूसरा और चौथा भंग उनमें नहीं होता।

विकलेन्द्रिय जीवों में सभी स्थानों में पहला और तीसरा भंग पाया जाता है, क्योंकि इनमें से निकले हुए मनुष्य तो हो सकते हैं, किन्तु मोक्ष नहीं पा सकते। इसलिए वे अवश्य ही आयु का वन्ध करेंगे। इस कारण उनमें आयुष्यवन्ध का अभाव न होने से दूसरा और चौथा भंग घटित नहीं होता। विकलेन्द्रियों में इतने स्थानों में विशेषता है—(१) सम्यक्त्व, (२) ज्ञान, (३) आभिनिबोधिकज्ञान, (४) श्रुतज्ञान। इन स्थानों में केवल तृतीय भंग ही पाया जाता है, क्योंकि इनमें सम्यक्त्व आदि सास्वादनभाव से अपर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। इनके चले जाने पर आयुष्य का वन्ध होता है। इस दृष्टि से इन्होंने पूर्वभव में आयुष्य वांधा था, वर्त्तमान में सम्यक्त्व आदि अवस्था में नहीं वांधते, किन्तु उसके बाद आयुष्य वाधेंगे, इस प्रकार इनमें एक मात्र तृतीय भंग ही घटित होता है।

पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में कृष्णपाक्षिक पद में पहला और तीसरा भंग पाया जाता है, क्योंकि कृष्णपाक्षिक आयु वांधे या न बांधे उसका अवन्धक अनन्तर ही होता है और मोक्ष में जाने के लिए अयोग्य होता है। सम्यग्मिथ्यादृष्टि तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय में आयुष्यवन्ध का अभाव होने से तीसरा और चौथा भंग भी घटित होता है। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में सम्यक्त्व ,ज्ञान, आभिनिवोधिकज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान, इन पांच स्थानों में द्वितीय भंग को छोड़ कर शेप तीन भंग पाये जाते हैं। क्योंकि सम्यग्दृष्टियुक्त पंचेन्द्रियतिर्यञ्च मर कर देवों में ही उत्पन्न होता है। वहाँ वह आयुष्य बांधेगा, इसलिए दूसरा भंग घटित नहीं होता। प्रथम और तृतीय भंग पूर्ववत् घटित कर लेने चाहिए। चौथा भंग इस प्रकार घटित होता है—जैसे कि किसी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च ने मनुष्यायु का वंध कर लिया, इसके पश्चात् उसे सम्यक्त्व आदि की प्राप्ति हुई, इसके बाद पूर्व प्राप्त मनुष्यभव में ही वह मोक्ष चला जाए तो आयुष्य का वन्ध वह नहीं करेगा। इस प्रकार चौथा भंग घटित हो जाता है।

मनुष्य के लिए भी सम्यक्त्व आदि पूर्वोक्त पांच पदों में भी इन तीन भंगों को इसी रीति से घटित कर लेना चाहिए।[1]

जीव और चौवीस दण्डकों में नाम, गोत्र और अन्तरायकर्म की अपेक्षा ग्यारह स्थानों में चतुर्भंगी प्ररूपणा

८८. नामं गोयं अंतरायं च एयाणि जहा नाणावरणिज्जं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरति।

॥ छव्वीसइमे बंधिसए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-१ ॥

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३२ से ९३४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५६१ से ३५६४

[८८] नामकर्म, गोत्रकर्म और अन्तरायकर्म का (बन्ध-सम्बन्धी कथन) ज्ञानावरणीयकर्म के समान समझना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—उ. १, सू. ४४ में ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध की जिस प्रकार सभी स्थानों में चतुर्भंगी की चर्चा की है, उसी प्रकार इन तीनों कर्मों के बन्ध के विषय में भी समझ लेना चाहिए ।

।। छब्बीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ।।

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक को पापकर्मादिबन्ध

अनन्तरोपपन्नक नारकादि चौवीस दण्डकों में पापकर्मबन्ध की अपेक्षा ग्यारह स्थानों की प्ररूपणा

१. अणंतरोववन्नए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा तहेव ।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी० पढम-बितिया भंगा ।

[१ प्र.] भगवन् क्या अनन्तरोपपन्नक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगीय प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! किसी (अ. नै.) ने पापकर्म बांधा था, इत्यादि प्रथम और द्वितीय भंग होता है ।

२. सलेस्से णं भंते ! अणंतरोववन्नए नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ।

गोयमा ! पढम-बितिया भंगा, नवरं कण्हपक्खिए ततिओ ।

[२ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[२ उ.] गौतम ! इनमें सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग पाया जाता है । किन्तु कृष्णपाक्षिक (अ. नै.) में तृतीय भंग पाया जाता है ।

३. एवं सव्वत्थ पढम-बितिया भंगा, नवरं सम्मामिच्छत्तं मणजोगो वइजोगो य न पुच्छिज्जइ ।

[३] इस प्रकार सभी पदों में पहला और दूसरा भंग कहना चाहिए, किन्तु विशेष यह है कि सम्यग्मिथ्यात्व, मनोयोग और वचनयोग के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए ।

४. एवं जाव थणियकुमाराणं ।

[४] स्तनितकुमार पर्यन्त इसी प्रकार कहना चाहिए ।

५. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं वइजोगो न भण्णति ।

[५] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय में वचनयोग नहीं कहना चाहिए ।

६. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं पि सम्मामिच्छत्तं ओहिनाणं विभंगनाणं मणजोगो वइजोगो, एयाणि पंच ण भण्णंति ।

[६] पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में भी सम्यग्मिथ्यात्व, अवधिज्ञान, विभंगज्ञान, मनोयोग और वचनयोग, ये पांच पद नहीं कहने चाहिए।

७. मणुस्साणं अलेस्स-सम्मामिच्छत्त-मणपज्जवनाण-केवलनाण-विभंगनाण-नोसण्णोवउत्त-अवेयग-अकसायि-मणजोग-वइजोग-अजोगि, एयाणि एक्कारस पयाणि ण भण्णंति।

[७] मनुष्यों में अलेश्यत्व, सम्यग्मिथ्यात्व, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, विभंगज्ञान, नोसंज्ञोपयुक्त, अवेदक, अकषायी, मनोयोग, वचनयोग और अयोगी ये ग्यारह पद नहीं कहने चाहिए।

८. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणियाणं जहा नेरतियाणं तहेव तिण्णि न भण्णंति। सव्वेसिं जाणि सेसाणि ठाणाणि सव्वत्थ पढम-बितिया भंगा।

[८] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों के विषय में नैरयिकों की वक्तव्यता के समान पूर्वोक्त तीन पद (सम्यग्मिथ्यात्व, मनोयोग और वचनयोग) नहीं कहने चाहिए। इन सबके जो शेष स्थान हैं, उनमें सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग जानना चाहिए।

९. एगिंदियाणं सव्वत्थ पढम-बितिया भंगा।

[९] एकेन्द्रिय जीवों के सभी स्थानों में प्रथम और द्वितीय भंग कहना चाहिए।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक : स्वरूप और दण्डक—'अनन्तरोपपन्नक' उसे कहते हैं, जिसकी उत्पत्ति का प्रथम समय ही हो। इस दूसरे उद्देशक में नैरयिक आदि चौवीस ही दण्डकों में उपर्युक्त ग्यारह द्वारों में पापकर्म आदि के बन्ध की चातुर्भंगिक दृष्टि से प्ररूपणा की गई है। प्रथम उद्देशक में औधिक जीव और नारक आदि चौवीस, इस प्रकार पच्चीस दण्डक कहे हैं, किन्तु इस द्वितीय उद्देशक में नैरयिक आदि चौवीस दण्डक ही कहने चाहिए, क्योंकि औधिक जीव के साथ अनन्तरोपपन्नक आदि विशेषण नहीं लगाये जा सकते।

अनन्तरोपपन्नक में पृच्छा के अयोग्यपद—अनन्तरोपपन्नक नैरयिक आदि में प्रथम और द्वितीय, ये दो भंग ही पाये जाते हैं, क्योंकि उसमें मोहरूप पापकर्म के अबन्धक का अभाव है। अबन्धकत्व सूक्ष्मसम्परायादि गुणस्थानों में होता है और वे गुणस्थान नैरयिक आदि के नहीं होते। लेश्यादि पद सामान्यतया नैरयिक आदि में होते हैं। जो पद यद्यपि नारकों में उक्त सम्यग्मिथ्यात्व आदि तीनों पद होते हैं, किन्तु अनन्तरोपपन्नक नैरयिक आदि में अपर्याप्त होने के कारण नहीं होते, अतः उनके विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए, यह कथन मूलपाठ में यत्र-तत्र किया गया है। वे पद ये हैं—मिश्रदृष्टि, मनोयोग, वचनयोग। पंचेन्द्रियतिर्यञ्च में इन तीनों के अतिरिक्त अवधिज्ञान और विभंगज्ञान, ये दो पद भी अप्रष्टव्य हैं। मनुष्यों में अलेश्यत्व, सम्यग्मिथ्यात्व, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान, विभंगज्ञान, नोसंज्ञोपयुक्त, अवेदी, अकषायी, मनोयोग, वचनयोग और अयोगित्व, इन ग्यारह पदों के विषय में नहीं कहा जाता। पर्याप्तक होने के बाद ये होते हैं।[1]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३५

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५६७

ज्ञानावरणीयादि अष्टकर्मबन्ध की अपेक्षा अनन्तरोपपन्नक चौवीस दण्डकों में ग्यारह स्थानों की प्ररूपणा

१०. जहा पावे एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ।

[१०] जिस प्रकार पापकर्म के विषय में कहा है, उसी प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म के विषय में भी (अनन्तरोपपन्नक-आश्रित) दण्डक कहना चाहिए।

११. एवं आउयवज्जेसु जाव अंतराइए दंडओ।

[११] इसी प्रकार आयुष्यकर्म को छोड़ कर यावत् अन्तरायकर्म तक दण्डक कहना चाहिए।

१२. अणंतरोववन्नए णं भंते ! नेरतिए आउयं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! बंधी, न बंधति, बंधिस्सति।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तरोपपन्नक नैरयिक ने आयुष्य कर्म बांधा था, बांधता है और बांधेगा ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगीय प्रश्न।

[१२ उ.] गौतम ! (उसमें केवल तृतीय भंग ही पाया जाता है, अर्थात्—) उसने (पहले आयुष्यकर्म) बांधा था, वर्तमान में नहीं बांधता और भविष्य में बांधेगा।

१३. सलेस्से णं भंते ! अणंतरोववन्नए नेरतिए आउयं कम्मं किं बंधी० ?

एवं चेव ततिओ भंगो।

[१३ प्र.] भगवन् ! सलेश्य अनन्तरोपपन्नक नैरयिक ने क्या आयुष्यकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१३ उ.] गौतम ! उसी प्रकार (पूर्ववत्) तृतीय भंग होता है।

१४. एवं जाव अणागारोवउत्ते। सव्वत्थ वि ततिओ भंगो।

[१४] इसी प्रकार यावत् अनाकारोपयुक्त पद तक सर्वत्र तृतीय भंग समझना चाहिए।

१५. एवं मणुस्सवज्जं जाव वेमाणियाणं।

[१५] इसी प्रकार मनुष्यों के अतिरिक्त यावत् वैमानिकों तक तृतीय भंग होता है।

१६. मणुस्साणं सव्वत्थ ततिय-चउत्था भंगा, नवरं कण्हपक्खिएसु ततिओ भंगो। सव्वेसिं णाणत्ताइं ताइं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छव्वीसइमे बंधिसए : बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥ २६-२ ॥

[१६] मनुष्यों में सभी स्थानों में तृतीय और चतुर्थ भंग कहना चाहिए, किन्तु कृष्णपाक्षिक मनुष्यों में तृतीय भंग ही होता है। सभी स्थानों में नानात्व (भिन्नता) पूर्ववत् वही समझनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक की आयुष्यकर्मबन्ध-विषयक चतुर्भंगी चर्चा—अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में आयुष्यकर्म के विषय में सभी स्थानों में तीसरा और चौथा भंग पाया जाता है, क्योंकि अनन्तरोपपन्नक मनुष्य आयुष्य नहीं बांधता, वह बाद में बांधेगा, इस अपेक्षा से उसमें तृतीय भंग घटित होता है। यदि मनुष्य चरमशरीरी हो तो वर्त्तमान में आयुष्यकर्म नहीं बांधता और न भविष्य में बांधेगा। इस प्रकार चतुर्थ भंग घटित होता है। कृष्णपाक्षिक अनन्तरोपपन्नक मनुष्य में केवल तीसरा भंग ही होता है। आशय यह है कि आयुष्यकर्म की पृच्छा में मनुष्य के अतिरिक्त शेष तेईस दण्डकों में एकमात्र तृतीय भंग ही बताया गया है। मनुष्यों में भी कृष्णपाक्षिक को छोड़ कर शेष अनन्तरोपपन्नक मनुष्यों में पाये जाने वाले ३५ बोलों में तीसरा और चौथा भंग बताया गया है।

सभी नैरयिक जीवों में पापकर्मदण्डक में जो भिन्नताएँ कही हैं, वे सभी आयुष्यदण्डक में भी कहनी चाहिए।[1]

॥ छब्बीसवां शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३५
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५६८

ततिओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

परम्परोपपन्नक का पापकर्मादिबन्ध-सम्बन्धी

परम्परोपपन्नक चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध को लेकर ग्यारह स्थानों की निरूपणा

१. परंपरोववन्नए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ।

गोयमा ! अत्थेगतिए०, पढम-बितिया ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या परम्परोपपन्नक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगीय प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! किसी (प. नै.) ने पापकर्म बांधा था, इत्यादि प्रथम और द्वितीय भंग जानना चाहिए ।

२. एवं जहेव पढमो उद्देसओ तहेव परंपरोववन्नएहि वि उद्देसओ भाणियव्वो नेरइयाइओ तहेव नवदंडगसंगहितो । अट्ठण्ह वि कम्मपगडीणं जा जस्स कम्मस्स वत्तव्वया सा तस्स अहीणमतिरित्ता नेयव्वा जाव वेमाणिया अणागारोवउत्ता ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। छव्वीसइमे सए : ततिओ उद्देसओ समत्तो ।। २६-३ ।।

[२] जिस प्रकार प्रथम उद्देशक कहा, उसी प्रकार परम्परोपपन्नक नैरयिक आदि के विषय में पापकर्मादि नौ दण्डक सहित यह तृतीय उद्देशक भी कहना चाहिए । आठ कर्मप्रकृतियों में से जिसके लिए जिस कर्म की वक्तव्यता कही है, उसके लिए उस कर्म की वक्तव्यता यावत् अनाकारोपयुक्त वैमानिकों तक अन्यूनाधिकरूप से कहनी चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—प्रथम उद्देशक का अतिदेश तथा विशेष—जिस प्रकार प्रथम उद्देशक में जीव और नैरयिकादि के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार यह तीसरा उद्देशक भी कहना चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि प्रथम उद्देशक में सामान्य जीव एवं नैरयिकादि मिला कर पच्चीस दण्डक कहे हैं, किन्तु इस (तृतीय) उद्देशक में नैरयिक आदि चौवीस दण्डक ही कहने चाहिये । क्योंकि औघिक जीव के साथ अनन्तरोपपन्नक, परम्परोपपन्नक आदि विशेषण नहीं लग सकते ।

पापकर्म का यह पहला सामान्य दण्डक और आठ कर्मों के आठ दण्डक, यों नौ दण्डक प्रथम उद्देशक में कहे हैं, वे ही नौ दण्डक इस उद्देशक में कहने चाहिए ।[1]

।। छव्वीसवां शतक : तृतीय उद्देशक सम्पूर्ण ।।

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५७०

चउत्थो उद्देसओ : चतुर्थ उद्देशक

अनन्तरावगाढ नैरयिकादि के पापकर्मादिबन्ध-सम्बन्धी

अनन्तरावगाढ चौवीस दण्डकों में पापकर्मादि-बन्ध प्ररूपणा

१. अणंतरोगाढए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए०, एवं जहेव अणंतरोववन्नएहिं नवदंडगसंगहितो उद्देसो भणितो तहेव अणंतरोगाढएहि वि अहीणमतिरित्तो भाणियव्वो नेरइयाईए जाव वेमाणिए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छव्वीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-४ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तरावगाढ नैरयिक ने पापकर्म बांधा था० ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगीय प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! किसी (अन. नैर.) ने पापकर्म बांधा था, इत्यादि क्रम से जिस प्रकार अनन्तरोपपन्नक के नौ दण्डकों सहित (द्वितीय) उद्देशक कहा है, उसी प्रकार अनन्तरावगाढ नैरयिक आदि (से लेकर) यावत् वैमानिक तक उन्हीं नौ दण्डकों सहित इस उद्देशक को अन्यूनाधिकरूप से कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरावगाढ : स्वरूप—जो जीव एक भी समय के अन्तर के विना उत्पत्ति-स्थान को अवलम्बित होकर रहता है, वह 'अनन्तरावगाढ' कहलाता है। परन्तु कुछ आचार्यों के मतानुसार ऐसा अर्थ करने से अनन्तरोपपन्नक और अनन्तरावगाढ के अर्थ में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः इसका यह अर्थ करना चाहिए—उत्पत्ति के एक समय बाद, फिर एक भी समय के अन्तर विना उत्पत्तिस्थान की अपेक्षा करके जो रहता है, वह 'अनन्तरावगाढ' कहलाता है तथा उसके पश्चात् एक आदि समय का अन्तर हो, वह 'परम्परावगाढ' कहलाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो—उत्पत्ति के द्वितीय समयवर्ती अनन्तरावगाढ कहलाता है और उत्पत्ति के तृतीयादि समयवर्ती 'परम्परावगाढ' कहलाता है, यही इन दोनों में अन्तर है।[1]

॥ छव्वीसवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५७२

पंचमो उद्देसओ : पांचवाँ उद्देशक

परम्परावगाढ नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

परम्परावगाढ चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध-प्ररूपणा

१. परंपरोगाढए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० ?

जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो सो चेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ छव्वीसइमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-५ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या परम्परावगाढ नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगीय प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार अनन्तरोपपन्नक के विषय में उद्देशक कहा है, उसी प्रकार परम्परावगाढ (नैरयिकादि) के विषय में यह समग्र उद्देशक अन्यूनाधिक रूप से कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

॥ छव्वीसवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ॥

छट्ठो उद्देसओ : छठा उद्देशक

अनन्तराहारक नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

अनन्तराहारक चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध की प्ररूपणा

१. अणंतराहारए णं भंते ! नेरइए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

एवं जहेव अणंतरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छव्वीसइमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तराहारक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (पहले) अनन्तरोपपन्नक (द्वितीय) उद्देशक कहा गया था, उसी प्रकार यह अनन्तराहारक उद्देशक भी सारा कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तराहारक का स्वरूप—आहारकत्व के प्रथम समयवर्ती को अनन्तराहारक कहते हैं।

॥ छव्वीसवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ : सातवाँ उद्देशक

परम्पराहारक नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

परम्पराहारक चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध की प्ररूपणा

१. परंपराहारए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसो भाणियव्वो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छव्वीसइमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-७ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या परम्पराहारक नैरयिक ने पापकर्म का बन्ध किया था ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार परम्परोपपन्नक नैरयिकादि-सम्बन्धी उद्देशक कहा था, उसी प्रकार समग्र परम्पराहारक उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—परम्पराहारक का स्वरूप—आहारकत्व के द्वितीय आदि समयवर्ती को परम्पराहारक कहते हैं।

॥ छव्वीसवाँ शतक : सप्तम उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ : आठवाँ उद्देशक

अनन्तरपर्याप्तक नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

अनन्तरपर्याप्तक चौवीस दण्डकों में पाकर्मादिबन्ध की प्ररूपणा

१. अणंतरपज्जत्तए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! एवं जहेव अणंतरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ छव्वीसइमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तरपर्याप्तक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक (नैरयिकादिसम्बन्धी) उद्देशक के समान यह सारा उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरपर्याप्तक का स्वरूप—पर्याप्तकत्व के प्रथम समयवर्ती को अनन्तरपर्याप्तक कहते हैं।

॥ छव्वीसवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त ॥

नवमो उद्देसओ : नौवाँ उद्देशक

परम्परपर्याप्तक नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

परम्परपर्याप्तक चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध-प्ररूपणा

१. परंपरपज्जत्तए णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा ?

गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव निरवसेसो भाणियव्वो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ ।

।। छव्वीसइमे सए : नवमो उद्देसओ समत्तो ।। २६-९ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या परम्परपर्याप्तक नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार परम्परोपपन्नक (नैरयिकादि के पापकर्मबन्ध--सम्बन्धी) उद्देशक कहा था, उसी प्रकार परम्परपर्याप्तक नैरयिकादि के पापकर्मादि-सम्बन्धी उद्देशक समग्ररूप से कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

।। छव्वीसवाँ शतक : नौवाँ उद्देशक समाप्त ।।

दसमो उद्देसओ : दसवाँ उद्देशक

चरम नैरयिकादि को पापकर्मादिबन्ध

चरम चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध-प्ररूपणा

१. चरिमे णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! एवं जहेव परंपरोववन्नएहिं उद्देसो तहेव चरिमेहि वि निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ छव्वीसइमे सए : दसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-१० ॥

[१ प्र.] भगवन् ! क्या चरम नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार परम्परोपपन्नक उद्देशक कहा था, उसी प्रकार चरम नैरयिकादि के सम्बन्ध में यह समग्र उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—चरम नैरयिक : स्वरूप और समाधान—जिसका नरकभव चरम-अन्तिम है, अर्थात् जो नरक से निकल कर मनुष्यादि गति में जाकर मोक्ष प्राप्त करेगा, किन्तु पुनः लौटकर नरक में नहीं जाएगा, वह 'चरम नैरयिक' कहलाता है। प्रस्तुत में चरम नैरयिक के लिए परम्परोपपन्नक उद्देशक का अतिदेश किया है और परम्परोद्देशक के लिए प्रथम उद्देशक का अतिदेश किया है। फिर भी मनुष्य-पद की अपेक्षा आयुष्यकर्मबन्ध के विषय में यह विशेषता है कि प्रथम उद्देशक से आयुष्यकर्मबन्ध के सामान्यतः चार भंग कहे हैं, परन्तु चरम मनुष्य के सम्बन्ध में केवल चौथा भंग ही घटित होता है, क्योंकि जो चरम मनुष्य है, उसने पहले (पूर्वभव में) आयुष्य बांधा था, वर्त्तमान समय में नहीं बांधता है और भविष्यत्काल में भी नहीं बांधेगा। यदि ऐसा न हो तो उसकी चरमता ही घटित नहीं हो सकती। वृत्तिकार का यह कथन है। किन्तु यह मनुष्यभव की अपेक्षा चरम है। इसलिए वह नरक, तिर्यञ्च और देवगति में तो नहीं जाएगा, किन्तु मनुष्य के उत्कृष्ट आठ भव तक करते हुए भी मनुष्य का चरमपन कायम रहता है और ऐसा होने पर उसको आयुष्य की अपेक्षा चारों भंग घटित हो सकते हैं।[1]

॥ छव्वीसवां शतक : दसवाँ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग. ७, पृ. ३५७७-३५७८

एगारसमो उद्देसओ : ग्यारहवाँ उद्देशक

अचरम नैरयिकादि को पापकर्मादि-बन्ध

अचरम चौवीस दण्डकों में पापकर्मादिबन्ध-प्ररूपणा

१. अचरिमे णं भंते ! नेरतिए पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइए०, एवं जहेव पढमुद्देसए तहेव पढम-बितिया भंगा भाणियव्वा सव्वत्थ जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या अचरम नैरयिक ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! किसी ने पापकर्म बांधा था, इत्यादि प्रथम उद्देशक में कहे अनुसार यहाँ भी सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक पर्यन्त कहना चाहिए।

२. अचरिमे णं भंते ! मणुस्से पावं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगतिए बंधी, बंधति, बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, बंधति, न बंधिस्सति; अत्थेगतिए बंधी, न बंधति, बंधिस्सति।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या अचरम मनुष्य ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[२ उ.] गौतम ! (१) किसी मनुष्य ने बांधा था, बांधता है और बांधेगा, (२) किसी ने बांधा था, बांधता है और आगे नहीं बांधेगा, (३) किसी मनुष्य ने बांधा था, नहीं बांधता है और आगे बांधेगा। (इसी प्रकार अचरम मनुष्य में ये तीन भंग होते हैं।)

३. सलेस्से णं भंते ! अचरिमे मणुस्से पावं कम्मं किं बंधी० ?

एवं चेव तिन्नि भंगा चरिमविहूणा भाणियव्वा एवं जहेव पढमुद्देसए, नवरं जेसु तत्थ वीससु पदेसु चत्तारि भंगा तेसु इहं आदिल्ला तिन्नि भंगा भाणियव्वा चरिमभंगवज्जा; अलेस्से केवलनाणी य अजोगी य, एए तिन्नि वि न पुच्छिज्जंति। सेसं तहेव !

[३ प्र.] भगवन् ! क्या सलेश्यी अचरम मनुष्य ने पापकर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३ उ.] गौतम ! पूर्ववत् अन्तिम भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग प्रथम उद्देशक के समान यहाँ कहने चाहिए। विशेष यह है कि जिन बीस पदों में वहाँ चार भंग कहे हैं उन पदों में से यहाँ अन्तिम भंग को छोड़ कर आदि के तीन भंग कहने चाहिए।

यहाँ अलेश्यी, केवलज्ञानी और अयोगी के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए। शेष स्थानों में पूर्ववत् जानना चाहिए।

४. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरतिए।

[४] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों के विषय में नैरयिक के समान कथन करना चाहिए।

विवेचन—अचरम : स्वरूप और भंगों की प्राप्ति का विश्लेषण—जो जीव जिस भव में वर्त्तमान है, उस भव को पुनः कभी प्राप्त करेगा, वह भव की अपेक्षा 'अचरम' कहलाता है। अचरम उद्देशक में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च तक के पदों में पापकर्म की अपेक्षा प्रथम और द्वितीय भंग कहा गया है। मनुष्य में अन्तिम भंग को छोड़ कर शेष तीन भंग होते हैं। मनुष्य में चौथा भंग इसलिए नहीं बताया कि यहाँ अचरम का प्रकरण है और चौथा भंग चरमशरीरी मनुष्य में पाया जाता है।

जिन वीस पदों में, पहले उद्देशक में चार भंग बताए थे, उनमें यहाँ अन्तिम भंग को छोड़ कर प्रथम के शेष तीन भंग कहने चाहिए। वे वीस पद ये हैं—जीव, सलेश्यी, शुक्ललेश्यी, शुक्लपाक्षिक, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी, मतिज्ञानी आदि चार, नोसंज्ञोपयुक्त, सवेदी, सकषायी, लोभकषायी, सयोगी, मनोयोगी आदि तीन, साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त। इनमें सामान्यतया चार भंग ही होते हैं, किन्तु जब ये वीस पद अचरम मनुष्य के साथ हों, तब चौथा भंग इनमें नहीं होता, क्योंकि चौथा भंग चरम मनुष्य में ही होता है। अलेश्यी, केवलज्ञानी और अयोगी, ये तीन पद चरम में ही होते हैं, अचरम के साथ इनका प्रश्न सम्भव ही नहीं है, इस कारण इनके विषय में अचरम-सम्बन्धी प्रश्न करने का निषेध किया गया है।[1]

अचरम चौवीस दण्डकों में ज्ञानावरणीयादि कर्मबन्ध-प्ररूपणा

५. अचरिमे णं भंते! नेरइए नाणावरणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा! एवं जहेव पावं, नवरं मणुस्सेसु सकसाईसु लोभकसायीसु य पढम-बितिया भंगा, सेसा अट्ठारस चरिमविहूणा।

[५ प्र.] भगवन्! क्या अचरम नैरयिक ने ज्ञानावरणीय कर्म बांधा था? इत्यादि पूर्ववत् चतुर्भंगात्मक प्रश्न।

[५ उ.] गौतम! जिस प्रकार पापकर्मबन्ध के विषय में कहा था, उसी प्रकार यहाँ भी कहना चाहिए। विशेष यह है कि सकषायी और लोभकषायी मनुष्यों में प्रथम और द्वितीय भंग कहने चाहिए। शेष अठारह पदों में अन्तिम भंग के अतिरिक्त शेष तीन भंग कहने चाहिए।

६. सेसं तहेव जाव वेमाणियाणं।

[६] शेष सर्वत्र यावत् वैमानिक पर्यन्त पूर्ववत् जानना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५८२

(ख) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ९३७

७. दरिसणावरणिज्जं पि एवं चेव निरवसेसं।

[७] दर्शनावरणीय कर्म के विषय में समग्र कथन इसी प्रकार समझना चाहिए।

८. वेदणिज्जे सव्वत्थ वि पढम-बितिया भंगा जाव वेमाणियाणं, नवरं मणुस्सेसु अलेस्से केवली अजोगी य नत्थि।

[८] वेदनीय कर्म के विषय में सभी स्थानों में यावत् वैमानिक तक प्रथम और द्वितीय भंग कहना चाहिए। विशेष यह है कि अचरम मनुष्यों में अलेश्यी, केवलज्ञानी और अयोगी नहीं होते।

९. अचरिमे णं भंते ! नेरइए मोहणिज्जं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! जहेव पावं तहेव निरवसेसं जाव वेमाणिए।

[९ प्र.] भगवन् ! अचरम नैरयिक ने क्या मोहनीय कर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[९ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पापकर्मबन्ध के विषय में कहा था, उसी प्रकार यहाँ भी अचरम नैरयिक के विषय में पापकर्म-सम्बन्धी समस्त कथन यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए।

१०. अचरिमे णं भंते ! नेरतिए आउयं कम्मं किं बंधी० पुच्छा।

गोयमा ! पढम-ततिया भंगा।

[१० प्र.] भगवन् ! क्या अचरम नैरयिक ने आयुष्य कर्म बांधा था ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१० उ.] गौतम ! प्रथम और तृतीय भंग जानना चाहिए।

११. एवं सव्वपएसु वि नेरइयाणं पढम-ततिया भंगा, नवरं सम्मामिच्छत्ते तइयो भंगो।

[११] इसी प्रकार नैरयिकों के बहुवचन-सम्बन्धी समस्त पदों में पहला और तीसरा भंग कहना चाहिए। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व में केवल तीसरा भंग कहना चाहिए।

१२. एवं जाव थणियकुमाराणं।

[१२] इस प्रकार यावत् स्तनितकुमारों तक कहना चाहिए।

१३. पुढविकाइय-आउकाइय-वणस्सइकाइयाणं तेउलेसाए ततियो भंगो। सेसपएसु सव्वत्थ पढम-ततिया भंगा।

[१३] पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, वनस्पतिकायिक और तेजोलेश्या, इन सबमें तृतीय भंग होता है। शेष पदों में सर्वत्र प्रथम और तृतीय भंग कहना चाहिए।

१४. तेउकाइय-वाउकाइयाणं सव्वत्थ पढम-ततिया भंगा।

[१४] तेजस्कायिक और वायुकायिक के सभी स्थानों में प्रथम और तृतीय भंग कहना चाहिए।

१५. बेइंदिय-तेइंदिय-चतुरिंदियाणं एवं चेव, नवरं सम्मत्ते ओहिनाणे आभिणिबोहियनाणे सुयनाणे, एएसु चउसु वि ठाणेसु ततियो भंगो।

[१५] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

विशेष यह है कि सम्यक्त्व, अवधिज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान, और श्रुतज्ञान इन चार स्थानों में केवल तृतीय भंग कहना चाहिए।

१६. पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं सम्मामिच्छत्ते ततियो भंगो। सेसपएसु सव्वत्थ पढम-ततिया भंगा।

[१६] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिकों में सम्यग्मिथ्यात्व में तीसरा भंग पाया जाता है। शेष पदों में सर्वत्र प्रथम और तृतीय भंग जानना चाहिए।

१७. मणुस्साणं सम्मामिच्छत्ते अवेयए अकसायिम्मि य ततियो भंगो, अलेस्स-केवलनाण-अजोगी य न पुच्छिज्जंति, सेसपएसु सव्वत्थ पढम-ततिया भंगा।

[१७] मनुष्यों में सम्यग्मिथ्यात्व, अवेदक और अकषाय में तृतीय भंग ही कहना चाहिए। अलेश्यी, केवलज्ञानी और अयोगी के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए। शेष पदों में सभी स्थानों में प्रथम और तृतीय भंग होता है।

१८. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरतिया।

[१८] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का कथन नैरयिकों के समान समझना चाहिए।

१९. नामं गोयं अंतराइयं च जहेव नाणावरणिज्जं तहेव निरवसेसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ छव्वीसइमे सए : एगारसमो उद्देसओ समत्तो ॥ २६-११ ॥

॥ छव्वीसइमं बंधिसयं समत्तं ॥ २६ ॥

[१९] नाम, गोत्र और अन्तराय, इन तीन कर्मों का बन्ध ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के समान समग्ररूप से कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—स्पष्टीकरण—ज्ञानावरणीय कर्मबन्धक का दण्डक पापकर्मबन्ध के दण्डक के समान है, किन्तु पापकर्मदण्डक में सकषाय और लोभकषाय में प्रथम के तीन भंग कहे हैं, जबकि यहाँ प्रथम के दो भंग (पहला और दूसरा) ही कहने चाहिए, क्योंकि ये ज्ञानावरणीय कर्म को बांधे बिना उसके पुनर्बन्धक नहीं होते, और सकषायी जीव सदैव ज्ञानावरणीय कर्म के बन्धक होते ही हैं। अचरम होने से इनमें चौथा भंग नहीं होता।

वेदनीयकर्म में सर्वत्र प्रथम और द्वितीय भंग ही होता है। इसमें तीसरा और चौथा भंग घटित नहीं हो सकता, क्योंकि जो एक बार वेदनीय कर्म का अबन्धक हो जाता है, वह फिर वेदनीयकर्म कदापि नहीं बांधता। चौथा भंग अयोगी-अवस्था में होता है, इसलिए वह अचरम में नहीं बनता।

आयुकर्म-बन्ध के विषय में नैरयिक में पहला और तीसरा भंग पाया जाता है। प्रथम भंग का घटित होना स्पष्ट है। तीसरे भंग की घटना इस प्रकार है—उसने आयुकर्म बांधा था, वर्तमान में (अबन्धकाल में) नहीं बांधता, परन्तु भविष्य में बन्धकाल में बांधेगा, क्योंकि यह अचरम है। इसमें दूसरा और चौथा भंग घटित नहीं हो सकता, क्योंकि अचरम होने से आयु का बन्ध अवश्य करेगा, इसलिए दूसरा भंग नहीं बनता अन्यथा उसका अचरमत्व ही नहीं हो सकता और इसी युक्ति से चौथा भंग भी घटित नहीं होता। शेष पदों की घटना पूर्ववत् कर लेनी चाहिए।[1]

॥ छव्वीसवाँ शतक : ग्यारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

॥ छव्वीसवाँ बन्धीशतक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३७-९३८

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५८३

सत्तावीसइमं सयं : करिंसु सयं

सत्ताईसवां शतक : 'किया था' इत्यादि शतक

प्रथम से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक

छब्वीसवें शतक की वक्तव्यतानुसार ज्ञानावरणीयादि पापकर्मकरण-प्ररूपणा

१. जीवे णं भंते ! पावं कम्मं किं करिंसु, करेति, करिस्सति; करिंसु, करेति, न करेस्सति; करिंसु, न करेइ, करिस्सति; करिंसु, न करेइ, न करेस्सइ ?

गोयमा ! अत्थेगतिए करिंसु, करेति, करिस्सति; अत्थेगतिए करिंसु, करेति, न करिस्सति; अत्थेगतिए करिंसु, न करेति, करेस्सति; अत्थेगतिए करिंसु, न करेति, न करेस्सति ।

[१ प्र.] भगवन् ! (१) क्या जीव ने पापकर्म किया था, करता है और करेगा ? (२) अथवा किया था, करता है और नहीं करेगा ? या (३) किया था, नहीं करता और करेगा ? (४) अथवा किया था, नहीं करता और नहीं करेगा ?

[१ उ.] गौतम ! (१) किसी जीव ने पापकर्म किया था, करता है और करेगा ।

(२) किसी जीव ने किया था, करता है और नहीं करेगा ।

(३) किसी जीव ने किया था, नहीं करता है और करेगा ।

(४) किसी जीव ने किया था, नहीं करता है और नहीं करेगा ।

२. सलेस्से णं भंते ! जीवे पावं कम्मं० ?

एवं एएणं अभिलावेणं जच्चेव बंधिसते वत्तव्वया सच्चेव निरवसेसा भाणियव्वा, तह चेव नवदंडगसंगहिया एक्कारस उद्देसगा भाणितव्वा ।

।। सत्तावीसइमस्स सयस्स एक्कारस-उद्देसगा समत्ता ।। २७ । १-११ ।।

।। सत्तावीसइमं सयं : करिंसुसयं समत्तं ।। २७ ।।

[२ प्र.] भगवन् ! सलेश्य जीव ने पापकर्म किया था ? इत्यादि पूर्वोक्त बन्धिशतकानुसार सभी प्रश्न ।

[२ उ.] (गौतम !) बन्धीशतक (छब्बीसवें शतक) में जो वक्तव्यता इस (पूर्वोक्त) अभिलाप (पाठ) द्वारा कही थी, वह सभी यहाँ कहनी चाहिए तथा उसी प्रकार नौ दण्डकसहित ग्यारह उद्देशक भी यहाँ कहने चाहिए ।

विवेचन—छब्बीसवें और सत्ताईसवें शतक में अन्तर—जिस प्रकार छब्बीसवें शतक में प्रत्येक प्रश्न के प्रारम्भ में 'बंधी' शब्द का प्रयोग किया गया होने से वह 'बंधीशतक' कहलाता है, किन्तु

इस सत्ताईसवें शतक में प्रत्येक प्रश्न के प्रारम्भ में 'करिंसु' पद प्रयुक्त हुआ है, इसलिए इसे 'करिंसु-शतक' कहते हैं। सत्ताईसवें शतक के सभी प्रश्न और उनके उत्तर छव्वीसवें शतक के समान हैं—विषय में थोड़ा अन्तर है, छव्वीसवें में त्रैकालिक पापकर्मबन्ध-सम्बन्धी[1] प्रश्न हैं, जबकि सत्ताईसवें शतक में त्रैकालिक पापकर्मकरण-सम्बन्धी प्रश्न हैं।

शंका—छव्वीसवें शतक में प्रयुक्त 'बन्ध' और सत्ताईसवें शतक में प्रयुक्त 'करण' में क्या अन्तर है?

समाधान—यद्यपि 'बन्ध' और 'करण' में कोई अन्तर नहीं है, तथापि यहाँ पृथक् शतक के रूप में कथन करने का कारण यह है कि शास्त्रकार इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करना चाहते हैं कि जीव की जो कर्मबन्ध-क्रिया है, वह जीवकृत ही है, अर्थात्—वह कर्मबन्ध-क्रिया जीव के द्वारा ही हुई है, ईश्वरादिकृत नहीं। अथवा—'बन्ध' का अर्थ है—सामान्यरूप से कर्म को बांधना, जबकि 'करण' का अर्थ है—कर्मों को निधत्तादिरूप से बांधना, जिससे विपाकादिरूप से उनका फल अवश्य भोगना पड़े, इत्यादि तथ्यों को व्यक्त करने के लिए 'बन्ध' और 'करण' का पृथक्-पृथक् कथन किया है।[2]

॥ सत्ताईसवाँ 'करिंसु' शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५८५

२. (क) वही (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३५८५-३५८६

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३८

अट्ठावीसइमं सयं : कम्मसमज्जणसयं

अट्ठाईसवाँ शतक : कर्मसमर्जक-शतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

छव्वीसवें शतक में निर्दिष्ट ग्यारह स्थानों से जीवादि के पापकर्म-समर्जन एवं समाचरण का निरूपण

१. जीवा णं भंते ! पावं कम्मं कहिं समज्जिणिंसु ? कहिं समायरिंसु ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा १, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य होज्जा २, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य मणुस्सेसु य होज्जा ३, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य देवेसु य होज्जा ४, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य मणुस्सेसु य होज्जा ५, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य देवेसु य होज्जा ६, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य मणुस्सेसु य देवेसु य होज्जा ७, अहवा तिरिक्खजोणिएसु य नेरइएसु य मणुस्सेसु य देवेसु य होज्जा ८।

[१ प्र.] भगवन् ! जीवों ने किस गति में पापकर्म का समर्जन (ग्रहण) किया था और किस गति में आचरण किया था ?

[१ उ.] गौतम ! (१) सभी जीव तिर्यञ्चयोनिकों में थे (२) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों और नैरयिकों में थे, (३) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों और मनुष्यों में थे, (४) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों और देवों में थे, (५) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों, नैरयिकों और मनुष्यों में थे, (६) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों, नैरयिकों और देवों में थे, (७) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों, मनुष्यों और देवों में थे, (८) अथवा (सभी जीव) तिर्यञ्चयोनिकों, नैरयिकों, मनुष्यों और देवों में थे। (अर्थात्—उन-उन गतियों-योनियों में उन्होंने पापकर्म का समर्जन और समाचरण किया था।)

२. सलेस्सा णं भंते ! जीवा पावं कम्मं कहिं समज्जिणिंसु ? कहिं समायरिंसु ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी जीव ने किस गति में पापकर्म का समर्जन और किस गति में समाचरण किया था ?

[२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् (यहाँ सभी भंग पाये जाते हैं।)

३. एवं कण्हलेस्सा जाव अलेस्सा।

[३] इसी प्रकार कृष्णलेश्यी जीवों (से लेकर) यावत् अलेश्यी जीवों तक के विषय में भी कहना चाहिए।

४. कण्हपक्खिया, सुक्कपक्खिया एवं जाव अणागारोवउत्ता।

[४] कृष्णपाक्षिक, शुक्लपाक्षिक (से लेकर) अनाकारोपयुक्त तक इसी प्रकार का कथन करना चाहिए।

५. नेरतिया णं भंते ! पावं कम्मं कहिं समज्जिणिसु ? कहिं समायरिंसु ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा, एवं चेव अट्ठ भंगा भाणियव्वा।

[५ प्र.] भगवन् ! नैरयिकों ने कहाँ (किस गति या योनि में) पापकर्म का समर्जन और कहाँ समाचरण किया था ?

[५ उ.] गौतम ! सभी जीव तिर्यञ्चयोनिकों में थे, इत्यादि पूर्ववत् आठों भंग यहाँ कहने चाहिए।

६. एवं सव्वत्थ अट्ठ भंगा जाव अणागारोवउत्ता।

[६] इसी प्रकार सर्वत्र यावत् अनाकारोपयुक्त तक आठ-आठ भंग कहने चाहिए।

७. एवं जाव वेमाणियाणं।

[७] इसी प्रकार (दण्डक के क्रम से) यावत् वैमानिक पर्यन्त प्रत्येक के आठ-आठ भंग जानने चाहिए।

८. एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ।

[८] इसी प्रकार ज्ञानावरणीय के विषय में भी ८ भंग समझने चाहिए।

९. एवं जाव अंतराइएणं।

[९] (दर्शनावरणीय से लेकर) यावत् अन्तरायिक तक इसी प्रकार जानना चाहिए।

१०. एवं एते जीवाईया वेमाणियपज्जवसाणा नव दंडगा भवंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ अट्ठावीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ २८-१ ॥

[१०] इस प्रकार जीव से लेकर वैमानिक पर्यन्त ये नौ दण्डक होते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—समर्जन और समाचरण का विशेषार्थ—समर्जन का विशेषार्थ है—पापकर्मों का समर्जन अर्थात्—उपार्जन और समाचरण का विशेषार्थ है—पापकर्म के हेतुभूत पापक्रिया का आचरण या उसके विपाक का अनुभव। यहाँ प्रश्न का आशय यह है कि जीव ने पापक्रिया के समाचरण द्वारा किस गति में पापकर्म का उपार्जन किया था ? अथवा समर्जन और समाचरण ये दोनों एकार्थक (पर्यायवाची) शब्द हैं।[1]

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३९

आठ भंगों का स्पष्टीकरण—इन आठ भंगों में प्रथम भंग तिर्यञ्चगति का ही है। दूसरा, तीसरा और चौथा, ये तीन भंग द्विकसंयोगी बनते हैं। यथा—तिर्यञ्च और नैरयिक, तिर्यञ्च और मनुष्य तथा तिर्यञ्च और देव। पांचवाँ, छठा और सातवाँ, ये तीन भंग त्रिकसंयोगी बनते हैं। यथा—तिर्यञ्च, नैरयिक और मनुष्य, तिर्यञ्च, नैरयिक और देव तथा तिर्यञ्च, मनुष्य और देव। आठवाँ भंग—तिर्यञ्च, नैरयिक, मनुष्य और देव, इस प्रकार चतुःसंयोगी बनता है।[1]

तिर्यञ्चयोनि अधिक जीवों की आश्रयभूत होने से सभी जीवों की मातृरूपा है। इसलिए अन्य नारकादि सभी जीव कदाचित् तिर्यञ्च से आकर उत्पन्न हुए हों, इसलिए ऐसा कहा जाता है कि 'वे सभी तिर्यञ्चयोनि में थे।' इसका आशय यह है कि किसी विवक्षित काल में जो नैरयिक आदि थे, वे अल्पसंख्यक होने से, मोक्ष चले जाने के कारण अथवा तिर्यञ्चगति में प्रविष्ट हो जाने से उन विवक्षित नैरयिकों की अपेक्षा नरकगति निर्लेप (खाली) हो गई हो, परन्तु तिर्यञ्चगति अनन्त होने से कदापि खाली नहीं हो सकती। अतः उन तिर्यञ्चों में से निकल कर उन विवक्षित नैरयिकों के स्थान में नैरयिकरूप से उत्पन्न हुए हों, उनकी अपेक्षा यह कहा जा सकता है कि उन सभी ने तिर्यञ्चगति में (रहते) नरकगति आदि के हेतुभूत पापकर्मों का उपार्जन किया था। यह प्रथम भंग है।

अथवा विवक्षित समय में जो मनुष्य और देव थे, वे निर्लेपरूप से वहाँ से निकल गए और उनके स्थानों में तिर्यञ्चगति और नरकगति से आकर जो जीव उत्पन्न हो गए, उनकी अपेक्षा से दूसरा भंग बनता है कि विवक्षित सभी जीव तिर्यञ्चयोनि और नैरयिकों में थे, जो जहाँ थे वहीं पर उन्होंने पापकर्मों का उपार्जन किया।

अथवा विवक्षित समय में जो नैरयिक और देव थे, वे उसी प्रकार वहाँ से निर्लेपरूप से निकल गए और उनके स्थानों में तिर्यञ्चगति और मनुष्यगति से आकर दूसरे जीव उत्पन्न हो गए, उनकी अपेक्षा यह तीसरा भंग बनता है कि वे सभी तिर्यञ्चों और मनुष्यों में थे, जो जहाँ थे वहीं पर उन्होंने पापकर्म उपार्जित किये। इस प्रकार क्रमशः आठों भंगों के विषय में समझ लेना चाहिए।[2]

॥ अट्ठाईसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

□□

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९३९

२. वही, पत्र ९३९

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक जीवों द्वारा कर्मसमर्जन

अनन्तरोपपन्नक चौवीस दण्डकों में छब्बीसवें शतकानुसार पापकर्मसमर्जन-प्ररूपणा

१. अणंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया पावं कम्मं कहिं समज्जिणिंसु ? कहिं समायरिंसु ?

गोयमा ! सव्वे वि ताव तिरिक्खजोणिएसु होज्जा। एवं एत्थ वि अट्ठ भंगा।

[१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक नैरयिकों ने किस गति में पापकर्मों का समर्जन किया था, कहाँ आचरण किया था ?

[१ उ.] गौतम ! वे सभी तिर्यञ्चयोनिकों में थे, इत्यादि पूर्वोक्त आठों भंगों का यहाँ कथन कहना चाहिए।

२. एवं अणंतरोववन्नगाणं नेरइयाईणं जस्स जं अत्थि लेस्साईयं अणागारोवयोगपज्जवसाणं तं सव्वं एयाए भयणाए भाणियव्वं जाव वेमाणियाणं। नवरं अणंतरेसु जे परिहरियव्वा ते जहा बंधिसते तहा इहं पि।

[२] अनन्तरोपपन्नक नैरयिकों की अपेक्षा लेश्या आदि से लेकर यावत् अनाकारोपयोग-पर्यन्त भंगों में से जिसमें जो भंग पाया जाता हो, वह सब विकल्प (भजना) से यावत् वैमानिक तक कहना चाहिए। परन्तु अनन्तरोपपन्नक नैरयिकों के जो-जो बोल छोड़ने (परिहार करने) योग्य (मिश्रदृष्टि मनोयोग, वचनयोगादि) हैं, उन-उन बोलों को बन्धीशतक के अनुसार यहाँ भी छोड़ देना चाहिए।

३. एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ।

४. एवं जाव अंतराइएणं निरवसेसं। एस वि नवदंडगसंगहिओ उद्देसओ भाणियव्वो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठावीसइमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ २८-२ ॥

[३-४] इसी प्रकार ज्ञानावरणीयकर्म से लेकर यावत् अन्तरायकर्म तक नौ दण्डकसहित यह सारा उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नकों में ये बोल परिहरणीय—अनन्तरोपपन्नक नैरयिक में सम्यग्-मिथ्यात्व, मनोयोग, वचनयोगादि कतिपय पद संभवित नहीं हैं, इसलिए जैसे बन्धीशतक में उस विषय के प्रश्न नहीं किये गए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी नहीं करने चाहिए।

शंका : समाधान—प्रथम भंग में कहा गया है—सभी तिर्यञ्चयोनिक से आकर उत्पन्न हुए, किन्तु सिद्धान्तानुसार तिर्यञ्च तो आठवें देवलोक तक ही उत्पन्न हो सकते हैं, तब फिर तिर्यञ्च से निकले हुए आनतादि देवों में कैसे उत्पन्न हो सकते हैं ? तथा तिर्यञ्च से निकले हुए तीर्थंकरादि उत्तम पुरुष भी नहीं होते, ऐसी शंका द्वितीय आदि भंगों में होती है। इसका समाधान वृत्तिकार ने यह किया है कि वृद्ध-आचार्यो को धारणानुसार ये भंग बाहुल्य को लेकर समझने चाहिए।[1]

॥ अट्ठाईसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

□□

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४०

तइयादि-एगारसम-पज्जंता उद्देसगा

तीसरे से लेकर ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

छव्वीसवें शतक के तृतीय से ग्यारहवें उद्देशकानुसार पापकर्मसमर्जन-प्ररूपणा

१. एवं एएणं कमेणं जहेव बंधिसते उद्देसगाणं परिवाडी तहेव इहं पि अट्ठसु भंगेसु नेयव्वा। नवरं जाणियव्वं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं जाव अचरिमुद्देसो। सव्वे वि एए एक्कारस उद्देसगा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरइ।

॥ अट्ठावीसइमे सए : तइयाइ-एक्कारस-उद्देसगा समत्ता ॥ २८। ३-११ ॥

॥ अट्ठावीसइमं पापकम्म-समज्जण-सयं समत्तं ॥

[१] जिस प्रकार 'बन्धीशतक' में उद्देशकों की परिपाटी कही है, उसी क्रम से, उसी प्रकार यहाँ भी आठों ही भंगों में जाननी चाहिए। विशेष यह है कि जिसमें जो बोल सम्भव हों, उसमें वे ही बोल यावत् अचरम उद्देशक तक कहने चाहिए। इस प्रकार ये सब ग्यारह उद्देशक (पूर्ववत्) हुए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—ग्यारह उद्देशक तक बन्धीशतक का अतिदेश—बन्धीशतक में तीसरे से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक जिस क्रम से जो भी प्रश्नोत्तर अंकित हुए हैं, उसी प्रकार यहाँ भी तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक तक कहना चाहिए। इतना अवश्य विवेक करना चाहिए कि जिसमें जो बोल सम्भव हो, वही कहना चाहिए, अन्य नहीं।

॥ अट्ठाईसवाँ शतक : तीसरे से ग्यारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

॥ अट्ठाईसवाँ शतक समाप्त ॥

□□

एगूणतीसइमं सयं : कम्मपट्ठवण-सयं

उनतीसवाँ शतक : कर्मप्रस्थापनशतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

जीव और चौवीस दण्डकों में समकाल-विषमकाल की अपेक्षा पापकर्मवेदन के प्रारम्भ और अन्त का निरूपण

१. [१] जीवा णं भंते ! पावं कम्मं किं समायं पट्ठविसु समायं निट्ठविसु; समायं पट्ठविसु विसमायं निट्ठविसु; विसमायं पट्ठविसु समायं निट्ठविसु; विसमायं पट्ठविसु विसमायं निट्ठविसु ?

गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्ठविसु, समायं निट्ठविसु; जाव अत्थेगतिया विसमायं पट्ठविसु, विसमायं निट्ठविसु ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! (१) जीव पापकर्म का वेदन एक साथ प्रारम्भ करते हैं और एक साथ ही समाप्त करते हैं ? (२) अथवा एक साथ प्रारम्भ करते हैं और भिन्न-भिन्न समय में समाप्त करते हैं ? या (३) भिन्न-भिन्न समय में प्रारम्भ करते हैं और एक साथ समाप्त करते हैं ? (४) अथवा भिन्न-भिन्न समय में प्रारम्भ करते हैं और भिन्न-भिन्न समय में समाप्त करते हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! कितने ही जीव (पापकर्मवेदन) एक साथ करते हैं और एक साथ ही समाप्त करते हैं यावत् कितने ही जीव विभिन्न समय में प्रारम्भ करते और विभिन्न समय में समाप्त करते हैं ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया समायं० ?

तं चेव । गोयमा ! जीवा चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा । तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविसु, समायं निट्ठविसु । तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविसु, विसमायं निट्ठविसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं विसमायं पट्ठविसु, समायं निट्ठविसु । तत्थ णं जे ते विसमाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं विसमायं पट्ठविसु, विसमायं निट्ठविसु । से तेणट्ठेणं गोयमा ! ०, तं चेव ।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा कि कितने ही जीव पापकर्मों का वेदन एक साथ प्रारम्भ करते हैं और एक साथ ही समाप्त करते हैं, इत्यादि ?

[१-२ उ.] गौतम ! जीव चार प्रकार के कहे हैं । यथा-(१) कई जीव समान आयु वाले हैं और समान (एक साथ) उत्पन्न होते हैं, (२) कई जीव समान आयु वाले हैं, किन्तु विषम(भिन्न-भिन्न)

समय में उत्पन्न होते हैं, (३) कितने ही जीव विषम आयु वाले हैं और सम (एक साथ) उत्पन्न होते हैं और (४) कितने ही जीव विषम आयु वाले हैं और विषम (भिन्न-भिन्न) समय में उत्पन्न होते हैं। इनमें से जो (१) समान आयु वाले और समान (एक साथ) उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म का वेदन (भोग) एक साथ प्रारम्भ करते हैं और एक साथ ही समाप्त करते हैं, (२) जो समान आयु वाले हैं, किन्तु विषम समय में उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म का वेदन एक साथ प्रारम्भ करते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न समय में समाप्त करते हैं, (३) जो विषम आयु वाले हैं और समान समय में उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म का भोग (वेदन) भिन्न-भिन्न समय में प्रारम्भ करते हैं और एक साथ अन्त करते हैं और (४) जो विषम आयु वाले हैं और विषम (भिन्न) समय में उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म का वेदन भी भिन्न-भिन्न समय में प्रारम्भ करते हैं और अन्त भी विभिन्न समय में करते हैं, इस कारण से हे गौतम ! पूर्वोक्त प्रकार का कथन किया है।

२. सलेस्सा णं भंते ! जीवा पावं कम्मं० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी (लेश्या वाले) जीव पापकर्म का वेदन एक काल में (एक साथ) करते हैं ? इत्यादि (पूर्वोक्त प्रकार से) प्रश्न।

[२ उ.] गौतम ! इसका समाधान पूर्ववत् समझना।

३. एवं सव्वट्ठाणेसु वि जाव अणागारोवउत्ता, एते सव्वे वि पया एयाए वत्तव्वयाए भाणितव्वा।

[३] इसी प्रकार सभी स्थानों में यावत् अनाकारोपयुक्त पर्यन्त जानना चाहिए। इन सभी पदों में यही वक्तव्यता कहनी चाहिए।

४. नेरइया णं भंते ! पावं कम्मं किं समायं पट्ठविंसु, समायं निट्ठविंसु० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु०, एवं जहेव जीवाणं तहेव भाणितव्वं जाव अणागारोवउत्ता।

[४ प्र.] भगवन् ! क्या नैरयिक पापकर्म भोगने का प्रारम्भ एक साथ (एक काल में) करते हैं और उसका अन्त भी एक साथ करते है ?

[४ उ.] गौतम ! कई नैरयिक एक साथ पापकर्म भोगने का प्रारम्भ करते हैं और एक साथ ही उसका अन्त करते हैं, इत्यादि सब (पूर्वोक्त चतुर्भंगी का) कथन सामान्य जीवों की वक्तव्यता के समान यावत् अनाकारोपयुक्त तक नैरयिकों के सम्बन्ध में जानना चाहिए।

५. एवं जाव वेमाणियाणं। जस्स जं अत्थि तं एएणं चेव कमेणं भाणियव्वं।

[५] इसी प्रकार (नैरयिकों से लेकर) यावत् वैमानिकों तक जिसमें जो बोल पाये जाते हों, उन्हें इसी क्रम से कहना चाहिए।

६. जहा पावेण दंडओ, एएणं कमेणं अट्ठसु वि कम्मप्पगडीसु अट्ठ दंडगा भाणियव्वा जीवाईया वेमाणियपज्जवसाणा। एसो नवदंडगसंगहिओ पढमो उद्देसओ भाणियव्वो।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ एगूणतीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ २९-१ ॥

[६] जिस प्रकार पापकर्म के सम्बन्ध में दण्डक कहा, इसी प्रकार इसी क्रम से सामान्य जीव से लेकर वैमानिकों तक आठों कर्म-प्रकृतियों के सम्बन्ध में आठ दण्डक कहने चाहिए।

इस रीति से नौ दण्डकसहित यह प्रथम उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पापकर्मवेदन के प्रारम्भ और अन्त की चौभंगी का स्पष्टीकरण—पापकर्म को भोगने के प्रारम्भ और अन्त के लिए प्रस्तुत शतक में कथित चतुर्भंगी, समकाल और विषमकाल की अपेक्षा से कही गई है। यह चतुर्भंगी सम और विषम (एक काल और विभिन्न काल) तथा सम (एक काल में) उत्पत्ति और विषम (विभिन्न काल में) उत्पत्ति वाले जीवों की अपेक्षा से घटित होती है।

शंका : समाधान—प्रश्न होता है कि यह चतुर्भंगी आयुकर्म की अपेक्षा तो घटित हो सकती है, किन्तु पापकर्मवेदन की अपेक्षा कैसे घटित होगी, क्योंकि पापकर्म का आयुकर्म की अपेक्षा न तो प्रारम्भ होता है और न ही उसका अन्त होता है? इसका समाधान यह है कि यहाँ कर्मों का उदय और क्षय भव की अपेक्षा से विवक्षित है। इसी अपेक्षा से आयुकर्म की समानता (समकालिक कर्मवेदन) और विषमता तथा विवक्षित आयुष्यकर्म का क्षय होने पर भव में उत्पत्ति की समानता और विषमता को लेकर पापकर्मवेदन के प्रारम्भ और अन्त का कथन किया है। अतएव पापकर्मवेदन सेसम्बन्धित यह चौभंगी घटित हो जाती है।[1]

कठिन शब्दार्थ—समायं—एक साथ एक काल में, पट्ठविंसु—प्रस्थापित हुए—प्राथमिकरूप से वेदन करना प्रारम्भ किया, निट्ठविंसु—निष्ठा को प्राप्त किया, अन्त—समाप्त किया।[2]

॥ उनतीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४०-९४१
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३५९८

२. भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९४०

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक नैरयिकादि के पापकर्मवेदन सम्बन्धी

अनन्तरोपपन्नक चौवीस दण्डकों में ग्यारह स्थानों की अपेक्षा समकाल-विषमकाल को लेकर पापकर्मवेदन आदि की प्ररूपणा

१. [१] अणंतरोववन्नगा णं भंते! नेरतिया पावं कम्मं किं समायं पट्ठविंसु, समायं निट्ठविंसु० पुच्छा।

गोयमा ! अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु समायं निट्ठविंसु; अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु विसमायं निट्ठविंसु।

[१-१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तरोपपन्नक नैरयिक एक काल में (एक साथ) पापकर्म वेदन करते हैं तथा एक साथ ही उसका अन्त करते हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! कई (अनन्तरोपपन्नक नैरयिक) पापकर्म कों एक साथ (समकाल में) भोगते हैं और एक साथ अन्त करते हैं तथा कितने ही (अन. नैर.) एक साथ पापकर्म को भोगते हैं, किन्तु उनका अन्त विभिन्न समय में करते हैं।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—अत्थेगइया समायं पट्ठविंसु० तं चेव।

गोयमा ! अणंतरोववन्नगा नेरतिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा । तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु समायं निट्ठविंसु। तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं पावं कम्मं समायं पट्ठविंसु विसमायं निट्ठविंसु। से तेणट्ठेणं० तं चेव।

[१-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहते हैं कि कई···एक साथ भोगते हैं ? इत्यादि प्रश्न ?

[१-२ उ.] गौतम! अनन्तरोपपन्नक नैरयिक दो प्रकार के हैं। यथा—कई (अ. नै.) समकाल के आयुष्य वाले और समकाल में ही उत्पन्न होते हैं तथा कतिपय (अ. नै.) समकाल के आयुष्य वाले, किन्तु पृथक्-पृथक् काल में उत्पन्न हुए होते हैं। उनमें से जो समकाल के आयुष्य वाले होते हैं तथा एक साथ उत्पन्न होते हैं, वे एक काल में (एक साथ) पापकर्म के वेदन का प्रारम्भ करते हैं तथा उसका अन्त भी एक काल में (एक साथ) करते हैं और जो समकाल के आयुष्य वाले होते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न समय में उत्पन्न होते हैं, वे पापकर्म को भोगने का प्रारम्भ तो एक साथ (एक काल में) करते हैं, किन्तु उसका अन्त पृथक्-पृथक् काल में करते हैं, इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा जाता है०····।

२. सलेस्सा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरतिया पावं० ? एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या लेश्या वाले (सलेश्यी) अनन्तरोपपन्नक नैरयिक पापकर्म को भोगने का प्रारम्भ एक काल में करते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र प्रश्न।

[२ उ.] गौतम ! इस विषय में सारा कथन पूर्ववत् समझना।

३. एवं जाव अणागारोवयुत्ता।

[३] इसी प्रकार की वक्तव्यता यावत् अनाकारोपयुक्त तक समझना चाहिए।

४. एवं असुरकुमारा वि, एवं जाव वेमाणिया।

[४] असुरकुमारों से लेकर यावत् वैमानिकों तक भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

५. नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणितव्वं।

[५] विशेष यह है कि जिसमें जो बोल पाया जाता हो, वही कहना चाहिए।

६. एवं नाणावरणिज्जेण वि दंडओ।

[६] इसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के सम्बन्ध में भी दण्डक कहना चाहिए।

७. एवं निरवसेसं जाव अंतराइएणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ एगूणतीसइमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ॥ २९-२ ॥

[७] और इसी प्रकार यावत् अन्तरायकर्म तक समग्र पाठ कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक, समोपपन्नक, समायुष्क और विषमोपपन्नक के विशेषार्थ—आयुष्य के उदय के प्रथम समयवर्ती (तुरंत उत्पन्न हुए) जीव **'अनन्तरोपपन्नक'** कहलाते हैं। उनके आयुष्य का उदय समकाल में ही होता है अन्यथा उनका अनन्तरोपपन्नकत्व ही नहीं रह सकता। मरण के पश्चात् परभव की उत्पत्ति की अपेक्षा **'समोपपन्नक'** कहलाते हैं तथा मरणकाल में भूतपूर्व गति की अपेक्षा से भी वे जीव अनन्तरोपपन्नक होते हैं। इस प्रकार यह **प्रथम भंग** बनता है।

दूसरे भंगवर्ती जीवों का समकाल में आयु का उदय होने से वे समायुष्क कहलाते हैं तथा मरणसमय की विषमता (विभिन्न काल में मृत्यु) के कारण वे **'विषमोपपन्नक'** कहलाते हैं। इस प्रकार यह दूसरा भंग बनता है।

ये अनन्तरोपपन्नक हैं, इसलिए इनमें विषमायु-सम्बन्धी तृतीय और चतुर्थ भंग घटित नहीं होता।[1]

॥ उनतीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४१
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६००

तइयाइ-एक्कारसम-पज्जंता उद्देसगा

तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक तक

छव्वीसवें शतक के तीसरे से ग्यारहवें उद्देशकानुसार सम-विषम-कर्मप्रारम्भ एवं कर्मान्त का निरूपण

१. एवं एतेणं गमएणं जच्चेव बंधिसए उद्देसग-परिवाडी सच्चेव इह वि भाणियव्वा जाव अचरिमोत्ति । अणंतर-उद्देसगाणं चउण्ह वि एक्का वत्तव्वया, सेसाणं सत्तण्हं एक्का ।

॥ एगूणतीसइमे सए : तइयाइ-एक्कारसम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ २९-३-११ ॥

॥ एगूणतीसइमं कम्म-पट्ठवणसयं समत्तं ॥ २९ ॥

[१] बन्धीशतक (२६ वें शतक) में उद्देशकों की जो परिपाटी कही है, यहाँ भी इस पाठ से समग्र उद्देशकों की वह परिपाटी यावत् अचरमोद्देशक पर्यन्त कहनी चाहिए। अनन्तर सम्बन्धी चार उद्देशकों की एक वक्तव्यता और शेष सात उद्देशकों की एक वक्तव्यता कहनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—दो प्रकार की वक्तव्यताओं का अतिदेश—यहाँ दो प्रकार की वक्तव्यताओं का अतिदेश किया गया है। अनन्तरोपपन्नक, अनन्तरावगाढ, अनन्तराहारक और अनन्तरपर्याप्तक, इन चार उद्देशकों की वक्तव्यता एक समान है और वह बन्धीशतक के अनन्तरसम्बन्धी चार उद्देशकों के समान कहनी चाहिए। शेष जो सात उद्देशक हैं, उनकी वक्तव्यता भी एक समान है और वह २६ वें शतक में उक्त वक्तव्यतानुसार कहनी चाहिए।[1]

॥ उनतीसवाँ शतक : तीसरे से ग्यारहवाँ उद्देशक सम्पूर्ण ॥

॥ उनतीसवाँ : कर्मप्रस्थापनशतक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४२

तीसइमं सयं : तीसवाँ शतक

प्राथमिक

* भगवतीसूत्र का यह तीसवाँ समवसरणशतक है। यहाँ समवसरण का अर्थ 'तीर्थंकर भगवान् की धर्मसभा' नहीं, किन्तु कथंचित् समानता के कारण विभिन्न परिणाम वाले जीवों का एकत्र अवतरण समवसरण है। वास्तव में प्रस्तुत शतक में विभिन्न मतों या दर्शनों के अर्थ में समवसरण शब्द प्रयुक्त किया गया है।

* प्राचीनकाल में भारतवर्ष में विभिन्न मत, वाद, दर्शन, मान्यता या परम्पराएँ प्रचलित थीं। परस्पर सहिष्णुता और समन्वयदृष्टि न होने के कारण विभिन्न दर्शन एवं मत के अनुगामियों का संघर्ष हो जाता था। वह राग-द्वेषवर्द्धक या कषायवर्द्धक बन जाता था। उससे सत्य की तह में पहुँचने की अपेक्षा विभिन्न मतवादी कलह, विवाद और ईर्ष्या की आग भड़काते रहते थे। श्रमण भगवान् महावीर अनेकान्तदृष्टि से अथवा सापेक्षदृष्टि से विभिन्न मतों और वादों में निहित सत्य को ग्रहण करते थे। उनका उपदेश भी यही था कि प्रत्येक वस्तु को विभिन्न पहलुओं से जांचो-परखो और एकान्तवाद, हठाग्रह या पूर्वाग्रह छोड़कर सत्य को पकड़ो। इससे रागद्वेष या कषाय का भी शमन होगा, आत्मिक शान्ति का प्रादुर्भाव होगा और समता की साधना में तेजस्विता आएगी।

* इसी दृष्टिकोण से श्रमण भगवान् महावीर ने 'समवसरण' का प्रतिपादन इस शतक में किया है।

* समवसरण के वैसे तो अनेक भेद हो सकते हैं, परन्तु भ. महावीर ने यहाँ मुख्यतया चार भेद किये हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी।

* ऐसा प्रतीत होता है कि श्रमण भगवान् महावीर के युग में जो-जो मत या वाद प्रचलित थे, उन सबका पूर्वोक्त चार प्रकारों में समावेश किया गया है। यथा—आत्मा-परमात्मा, स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म आदि के अस्तित्व को मानने वाले सभी दर्शन क्रियावादियों में परिगणित किये जा सकते हैं, उसी प्रकार आत्मा को न मानने वाले चार्वाक या उसे क्षणिक मानने वाले बौद्ध आदि दर्शन अक्रियावादी कहे जा सकते हैं।

* सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के बारहवें समवसरण अध्ययन में इन मतों का संक्षिप्त वर्णन है। आचारांग-सूत्र (अ. १ उ. १) की शीलांकाचार्यवृत्ति में उनके भेद-प्रभेदों का वर्णन है। परन्तु उस पर से यह स्पष्ट नहीं जाना जा सकता कि उन सबकी क्या मान्यता थी?

* प्रायः आगमों में अनेक स्थलों पर इन चारों वादियों को एकान्तवादी होने से मिथ्यादृष्टि कहा है। क्रियावादी एकान्तरूप से जीवादिपदार्थों के अस्तित्व को ही मानते हैं, अक्रियावादी इनका अस्तित्व ही नहीं मानते, अज्ञानवादी अज्ञान को एवं विनयवादी विनय को ही एकान्त

रूप से श्रेयस्कर मानते हैं, इसलिए मिथ्यादृष्टि हैं। परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में क्रियावादी को सम्यग्दृष्टि माना है। अक्रियावादी, विनयवादी एवं अज्ञानवादी दोनों ही प्रकार के माने गए हैं। किन्तु अज्ञानवादी एवं विनयवादी प्राय: मिथ्यादृष्टि दृष्टि हैं।

* इस शतक में ग्यारह उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में समवसरण के क्रियावादी आदि चार भेद तथा पूर्वोक्त ग्यारह स्थानों से विशेषित चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में क्रियावादित्व आदि की प्ररूपणा की गई है।

* इसके पश्चात् क्रियावादी आदि चारों ही प्रकार के जीवों के आयुष्यबन्ध का कथन किया गया है।

* तृतीय दण्डक में क्रियावादी आदि औधिक तथा विशेषणयुक्त जीवों के भव्यत्व-अभव्यत्व का निर्णय किया गया है।

* द्वितीय उद्देशक के अनन्तरोपपन्नक नैरयिक आदि के क्रियावादित्व-अक्रियावादित्व की चर्चा की गई है। साथ ही इनके आयुष्यबन्ध तथा भव्याभव्यत्व की भी चर्चा पूर्ववत् की गई है।

* तृतीय उद्देशक में परम्परोपपन्नक नैरयिक आदि के क्रियावादित्व-अक्रियावादित्व की चर्चा की गई है। साथ ही आयुष्यबन्ध तथा भव्याभव्यत्व की चर्चा भी पूर्ववत् की गई है।

* चौथे से ग्यारहवें उद्देशक में छव्वीसवें शतक के अतिदेशपूर्वक क्रमश: ८ उद्देशकों की प्ररूपणा की गई है।

  क्रम इस प्रकार है—अनन्तरावगाढ, परम्परावगाढ, अनन्तराहारक-परम्पराहारक, अनन्तर-पर्याप्तक, परम्पर-पर्याप्तक, चरम और अचरम।

* कुल मिलाकर ग्यारह उद्देशकों के द्वारा विभिन्न पहलुओं से क्रियावादी आदि का सांगोपांग निरूपण किया गया है।

□□

तीसइमं सयं : समवसरण-सयं

तीसवाँ शतक : समवसरण-शतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

समवसरण और उसके चार भेद

१. कति णं भंते ! समोसरणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि समोसरणा पन्नत्ता, तं जहा—किरियावादी अकिरियावादी अन्नाणियवादी वेणइयवादी ।

[१ प्र.] भगवन् ! समवसरण कितने कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! समवसरण चार कहे हैं । यथा—१. क्रियावादी, २. अक्रियावादी, ३. अज्ञानवादी और ४. विनयवादी ।

विवेचन—समवसरण का स्वरूप—कथञ्चित् तुल्यता के कारण नाना परिणाम वाले जीव जिसमें (जिस विषय में) रहते हैं—समवसृत (जहाँ एकत्रित) होते हैं, उसे अर्थात्—भिन्न-भिन्न मतों या दर्शनों को समवसरण कहते हैं । अथवा परस्पर भिन्न क्रियावाद आदि मतों में, कथञ्चित् समानता होने से कहीं-कहीं वादियों का अवतरण समवसरण कहलाता है ।[1]

समवसरण के चार भेद हैं—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी । इन मतों के सम्बन्ध में विस्तृत तथ्य प्राप्त नहीं होते ।[2]

क्रियावादी आदि की पुरातन और प्रस्तुत व्याख्या—(१) **क्रियावादी**—कर्ता के विना क्रिया सम्भव नहीं । इसलिए क्रिया का जो कर्ता—आत्मा है, उसके अस्तित्व को मानने वाले **क्रियावादी**

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४४

(१) समवसरन्ति नानापरिणामा जीवाः कथञ्चित्तुल्यतया येषु मतेषु तानि समवसरणानि । (२) समवसृतयो वाऽन्योऽन्यभिन्नेषु क्रियावादादिमतेषु कथञ्चित्तुल्यत्वेन क्वचिद् केषांचित् वादिनामवताराः समवसरणानि ।

२. (क) श्रीमद् भगवतीसूत्र, चतुर्थखण्ड (गुजराती अनुवाद), पृ. ३०२

(ख) आचारांगवृत्ति अ. १, उ. १, पत्र १६

हैं। अथवा क्रिया ही प्रधान है, ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है, ऐसी क्रिया-प्राधान्य की मान्यता वाले **क्रियावादी** कहलाते हैं। तीसरी व्याख्या के अनुसार एकान्तरूप से जो जीव, अजीव आदि पदार्थों के अस्तित्व को मानते हैं, वे **क्रियावादी** हैं। इनके १८० भेद हैं। यथा—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन नौ पदों के स्व और पर के भेद से अठारह भेद होते हैं। इन १८ भेदों के नित्य और अनित्य रूप से ३६ भेद होते हैं। इनमें से प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा पांच-पांच भेद करने से १८० भेद होते हैं। यथा—जीव स्व-स्वरूप से काल की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है। जीव पररूप से काल की अपेक्षा नित्य भी है और अनित्य भी है। इस प्रकार काल की अपेक्षा से ४ भेद होते हैं। इसी प्रकार नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा भी जीव के चार-चार भेद होते हैं। इस प्रकार जीव आदि नौ तत्त्वों के प्रत्येक के बीस-बीस भेद होने से कुल १८० भेद हुए।

(२) **अक्रियावादी**—इसकी भी अनेक व्याख्याएँ हैं। यथा—(१) किसी भी अनवस्थित पदार्थ में क्रिया नहीं होती। यदि पदार्थ में क्रिया हो तो उसकी अनवस्थिति नहीं होगी। इस प्रकार पदार्थों को अनवस्थित मान कर उनमें क्रिया का अभाव मानने वाले **अक्रियावादी** हैं। (२) अथवा क्रिया की क्या आवश्यकता है? केवल चित्त की शुद्धि चाहिए। ऐसी मान्यता वाले (बौद्ध आदि) अक्रियावादी कहलाते हैं। (३) अथवा जीवादि के अस्तित्व को न मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। इनके ८४ भेद हैं। यथा—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन सात तत्त्वों के स्व और पर के भेद से चौदह भेद होते हैं। काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा; इन ६ की अपेक्षा पूर्वोक्त १४ भेदों का वर्णन करने से १४ × ६ = ८४ भेद होते हैं। जैसे कि—जीव स्वतः काल से नहीं है, जीव परतः काल से नहीं है। इस प्रकार काल की अपेक्षा जीव के दो भेद होते हैं, इसी प्रकार यदृच्छा, नियति आदि की अपेक्षा से भी जीव के दो-दो भेद होने से कुल बारह भेद जीव के हुए। जीव के समान शेष ६ तत्त्वों के भी बारह-बारह भेद होते हैं। यों कुल १२ × ७ = ८४ भेद हुए।

(३) **अज्ञानवादी**—जीवादि अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने वाला कोई नहीं है और न ही उनके जानने से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों का समान अपराध होने पर ज्ञानी का दोष अधिक माना जाता है, अज्ञानी का कम। इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है। इस प्रकार की मान्यता वाले अज्ञानवादी कहलाते हैं। इनके ६७ भेद हैं। यथा—जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन नौ तत्त्वों के सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद्-अवक्तव्य, असद्-अवक्तव्य और सद्-असद्-अवक्तव्य इन सात से गुणन करने पर ९ × ७ = ६३ भेद होते हैं। उत्पत्ति के सद्, असद्, सदसत् और अवक्तव्य की अपेक्षा से चार भेद होते हैं। जैसे कि—सत् जीव की उत्पत्ति होती है, यह कौन जानता है? और इसके जानने से क्या लाभ है? इत्यादि।

(४) **विनयवादी**—स्वर्ग, अपवर्ग आदि श्रेय का कारण विनय है। इसलिए विनय ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विनय को ही एकान्तरूप से मानने वाले विनयवादी कहलाते हैं। इन विनयवादियों का कोई लिंग (वेष या चिह्न), आचार या शास्त्र नहीं होता। इसके बत्तीस भेद हैं। यथा—देव,

राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता; इन आठों का मन, वचन, काय और दान, इन चार प्रकार से विनय करना चाहिए। यों ८ को ४ से गुणा करने पर ३२ भेद हुए।[1]

चारों वादी मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग्दृष्टि ?—प्राय: शास्त्रों में अनेक स्थलों पर इन चारों वादियों को मिथ्यादृष्टि कहा है।

क्रियावादी जीवादि पदार्थों के अस्तित्व को ही मानते हैं। इस प्रकार एकान्त अस्तित्व को मानने से इनके मत में पररूप की अपेक्षा से नास्तित्व नहीं माना जाता। पररूप की अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व न मानने से वस्तु में स्वरूप के समान पररूप का भी अस्तित्व रहेगा। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में सभी वस्तुओं का अस्तित्व रहने से एक ही वस्तु सर्वरूप हो जाएगी, जो कि प्रत्यक्ष-वाधित है। इस प्रकार क्रियावादियों का मत मिथ्यात्वपूर्ण है।

अक्रियावादी जीवादि पदार्थों का अस्तित्व नहीं मानते, इस कारण वे असद्भूत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। जीव के अस्तित्व का एकान्तरूप से निषेध करने के कारण वे भी मिथ्यादृष्टि हैं। जीव के अस्तित्व का निषेध करने से उनके मतानुसार निषेधकर्ता का भी अभाव सिद्ध होता है, जो प्रत्यक्ष-वाधित है। निषेधकर्ता का अभाव हो जाने से सभी का अस्तित्व स्वत: सिद्ध हो जाता है।

अज्ञानवादी—अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं। इसलिए वे भी मिथ्यादृष्टि हैं और उनका कथन स्ववचन-वाधित है। क्योंकि 'अज्ञान ही श्रेयस्कर है' इस बात को वे बिना ज्ञान के कैसे जान सकते हैं और ज्ञान के अभाव में वे अपने मत का समर्थन भी कैसे कर सकते हैं ? इस प्रकार अज्ञान को श्रेयस्कर मानने पर भी उन्हें ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है।

विनयवादी—विनय से ही स्वर्ग और मोक्ष आदि कल्याण को पाने की इच्छा रखने वाले विनयवादी मिथ्यादृष्टि हैं; क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है, अकेले ज्ञान से या अकेली क्रिया से नहीं। ज्ञान को छोड़ कर एकान्तरूप से क्रिया के केवल एक अंग का आश्रय लेने से वे सत्यमार्ग से दूर हैं। इस प्रकार से चारों वादी मिथ्यादृष्टि हैं। यह मत अन्य शास्त्रों में प्रतिपादित है।

परन्तु प्रस्तुत शतक (तीसवें) में उपर्युक्त क्रियावादी का ग्रहण नहीं किया गया है। यहाँ 'क्रियावादी' शब्द से सम्यग्दृष्टि का ग्रहण किया गया है, जो जीव-अजीव आदि का अस्तित्व मानने के साथ-साथ आत्मा, परमात्मा, स्वर्ग, नरक, पुण्य-पाप आदि के अस्तित्व को दृढ़तापूर्वक मानते हैं। सर्वज्ञवचनों पर श्रद्धा रख कर चलते हैं।[2]

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४४
   (ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३३०७
   (ग) अत्थित्ति किरियवाई वयंति, नत्थित्तिऽकिरियवाईओ।
   अन्नाणिय अन्नाणं, वेणइया विणयवायंति ॥ १ ॥ —भ. अ. वृ. प. ९४४

२. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६०८
   (ख) एते च सर्वेऽप्यन्यत्र यद्यपि मिथ्यादृष्टयोऽभिहितास्तथाऽपीहाद्याः सम्यग्दृष्टयो ग्राह्याः, सम्यगस्तित्व-वादिनामेव तेषां समाश्रयणात्। —भगवती. अ. वृ., पत्र ९४४
   (ग) विशेष जानकारी के लिये देखिये—आचारांग वृत्ति अ. १, उ. १, पत्र १६

जीवों की ग्यारह स्थानों द्वारा क्रियावादिता आदि प्ररूपणा

२. जीवा णं भंते ! किं किरियावादी, अकिरियावादी, अन्नाणियवादी, वेणइयवादी ?

गोयमा ! जीवा किरियावादी वि, अकिरियावादी वि, अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ।

[२ प्र.] भगवन् ! जीव क्रियावादी हैं, अक्रियावादी हैं, अज्ञानवादी हैं अथवा विनयवादी हैं ?

[२ उ.] गौतम ! जीव क्रियावादी भी हैं, अक्रियावादी भी हैं, अज्ञानवादी भी हैं और विनयवादी भी हैं ।

३. सलेस्सा णं भंते ! जीवा किं किरियावादी० पुच्छा ।

गोयमा ! किरियावादी वि जाव वेणइयवादी वि ।

[३ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी (लेश्यावाले) जीव क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[३ उ.] गौतम ! सलेश्यी जीव क्रियावादी भी हैं यावत् विनयवादी भी हैं ।

४. एवं जाव सुक्कलेस्सा ।

[४] इसी प्रकार (कृष्णलेश्या वाले से लेकर) यावत् शुक्ललेश्या वाले जीव पर्यन्त जानना ।

५. अलेस्सा णं भंते ! जीवा० पुच्छा ।

गोयमा ! किरियावादी, नो अकिरियावादी, नो अन्नाणियवादी, नो वेणइयवादी ।

[५ प्र.] भगवन् ! अलेश्यी जीव क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[५ उ.] गौतम ! वे क्रियावादी हैं, किन्तु अक्रियावादी, अज्ञानवादी या विनयवादी नहीं हैं ।

६. कण्हपक्खिया णं भंते ! जीवा किं किरियावादी० पुच्छा ।

गोयमा ! नो किरियावादी, अकिरियावादी वि, अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ।

[६ प्र.] भगवन् ! कृष्णपाक्षिक जीव क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[६ उ.] गौतम ! कृष्णपाक्षिक जीव क्रियावादी नहीं हैं, अपितु अक्रियावादी हैं, अज्ञानवादी भी हैं और विनयवादी भी हैं ।

७. सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा ।

[७] शुक्लपाक्षिक जीवों (का कथन) सलेश्यी जीवों के समान जानना चाहिए ।

८. सम्मद्दिट्ठी जहा अलेस्सा ।

[८] सम्यग्दृष्टि जीव, अलेश्यी जीव के समान हैं ।

९. मिच्छादिट्ठी जहा कण्हपक्खिया ।

[९] मिथ्यादृष्टि जीव, कृष्णपाक्षिक जीवों के समान हैं ।

१०. सम्मामिच्छद्दिट्ठी णं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो किरियावादी, नो अकिरियावादी, अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि ।

[१० प्र.] भगवन् ! सम्यग्मिथ्या (मिश्र) दृष्टि जीव क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१० उ.] गौतम ! वे न तो क्रियावादी हैं और न ही अक्रियावादी हैं, किन्तु वे अज्ञानवादी हैं और विनयवादी भी हैं।

११. णाणी जाव केवलनाणी जहा अलेस्सा।

[११] ज्ञानी (से लेकर) यावत् केवलज्ञानी जीव, अलेश्यी जीवों के तुल्य हैं।

१२. अण्णाणी जाव विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया।

[१२] अज्ञानी (से लेकर) यावत् विभंगज्ञानी जीव, कृष्णपाक्षिक जीवों के समान हैं।

१३. आहारसन्नोवउत्ता जाव परिग्गहसण्णोवउत्ता जहा सलेस्सा।

[१३] आहारसंज्ञोपयुक्त यावत् परिग्रहसंज्ञोपयुक्त जीव सलेश्यी जीवों के समान हैं।

१४. नोसण्णोवउत्ता जहा अलेस्सा।

[१४] नोसंज्ञोपयुक्त जीवों का कथन अलेश्यी जीवों के समान है।

१५. सवेयगा जाव नपुंसगवेयगा जहा सलेस्सा।

[१५] सवेदी (से लेकर) यावत् नपुंसकवेदी जीव तक सलेश्यी जीवों के सदृश हैं।

१६. अवेयगा जहा अलेस्सा।

[१६] अवेदी जीवों का कथन अलेश्यी जीवों के तुल्य है।

१७. सकसायी जाव लोभकसायी जहा सलेस्सा।

[१७] सकषायी (से लेकर) यावत् लोभकषायी जीवों का कथन सलेश्यी जीवों के समान है।

१८. अकसायी जहा अलेस्सा।

[१८] अकषायी जीवों का कथन अलेश्यी जीवों के सदृश है।

१९. सजोगी जाव काययोगी जहा सलेस्सा।

[१९] सयोगी (से लेकर) यावत् काययोगी पर्यन्त जीवों का कथन सलेश्यी जीवों के समान है।

२०. अजोगी जहा अलेस्सा।

[२०] अयोगी जीव, अलेश्यी जीवों के समान हैं।

२१. सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा।

[२१] साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त जीव, सलेश्यी जीवों के तुल्य हैं।

विवेचन—क्रियावादी आदि चारों में से कौन क्या है ? क्रियावादी का अर्थ सम्यग्दृष्टि होने से यहाँ उन्हें अलेश्यी जीवों के समान बताया है। अलेश्यी जीव अयोगी (मन-वचन-काया के योगों से रहित) एवं सिद्ध होता है। वे क्रियावाद के कारणभूत द्रव्य और पर्याय के यथार्थ ज्ञान से युक्त होने

से क्रियावादी हैं। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टि के योग्य अलेश्यी, सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी यावत् केवलज्ञानी, नोसंज्ञोपयुक्त, अवेदी, अकषायी और अयोगी को यहाँ क्रियावादी कहा है तथा मिथ्यादृष्टि के योग्य कृष्णपाक्षिक, मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, यावत् विभंगज्ञानी आदि स्थानों का अक्रियावाद आदि तीन समवसरणों में समावेश किया गया है। मिश्रदृष्टि साधारण परिणाम वाला होने से उसकी गणना न तो क्रियावादी (आस्तिक) में होती है और न ही अक्रियावादी (नास्तिक) में किन्तु वे अज्ञानवादी और विनयवादी ही होते हैं। इनके अतिरिक्त शेष सबकी गणना (मिश्रदृष्टि वाले को छोड़ कर) तीनों समवसरणों में होती है।[1]

चौवीस दण्डकों में ग्यारह स्थानों द्वारा क्रियावादादिसमवसरण-प्ररूपणा

२२. नेरइया णं भंते ! किं किरियावादी० पुच्छा।

गोयमा ! किरियावादी वि जाव वेणइयवादी वि।

[२२ प्र.] भगवन् ! नैरयिक क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२२ उ.] गौतम ! वे क्रियावादी भी होते हैं, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी भी।

२३. सलेस्सा णं भंते ! नेरइया किं किरियावादी० ?

एवं चेव।

[२३ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी नैरयिक क्रियावादी होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् समग्र प्रश्न।

[२३ उ.] गौतम ! वे क्रियावादी भी यावत् विनयवादी भी हैं।

२४. एवं जाव काउलेस्सा।

[२४] इसी प्रकार यावत् कापोतलेश्यी नैरयिकों तक पूर्ववत जानना चाहिए।

२५. कण्हपक्खिया किरियाविवज्जिया।

[२५] कृष्णपाक्षिक नैरयिक क्रियावादी नहीं हैं।

२६. एवं एएणं कमेणं जहेव जच्चेव जीवाण वत्तव्वया सच्चेव नेरइयाण वि जाव अणागारोवउत्ता, नवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं, सेसं न भण्णति।

[२६] इसी प्रकार और इसी क्रम से जिस प्रकार सामान्य जीवों के सम्बन्ध में वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार और उसी क्रम से यहाँ भी यावत् अनाकारोपयुक्त तक वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि जिसके जो हो, वही कहना चाहिए, शेष (न हो उसे) नहीं कहना चाहिए।

२७. जहा नेरतिया एवं जाव थणियकुमारा।

[२७] जिस प्रकार नैरयिकों का कथन किया है, उसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार पर्यन्त कथन करना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७ पृ. ३६०१

२८. पुढविकाइया णं भंते ! किं किरियवादी० पुच्छा।

गोयमा ! नो किरियावादी, अकिरियावादी वि अन्नाणियवादी वि, नो वेणइयवादी। एवं पुढविकाइयाणं जं अत्थि तत्थ सव्वत्थ वि एयाइं दो मज्झिल्लाइं समोसरणाइं जाव अणागारोवउत्त त्ति।

[२८ प्र.] भगवन् ! क्या पृथ्वीकायिक क्रियावादी होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२८ उ.] गौतम ! वे क्रियावादी नहीं हैं, वे अक्रियावादी भी हैं, अज्ञानवादी भी हैं, किन्तु वे विनयवादी नहीं है।

इसी प्रकार पृथ्वीकायिक आदि जीवों में जो पद संभवित हों, उन सभी पदों में (इन चारों में से) ये जो दो मध्यम समवसरण (अक्रियावादी और अज्ञानवादी) हैं, ये ही यावत् अनाकारोपयुक्त पृथ्वीकायिक पर्यन्त होते हैं।

२९. एवं जाव चउरिंदियाणं, सव्वट्ठाणेसु एयाइं चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं। सम्मत्त-नाणेहि वि एयाणि चेव मज्झिल्लगाइं दो समोसरणाइं।

[२९] इसी प्रकार यावत् चतुरिन्द्रिय जीवों तक सभी पदों में मध्य के दो समवसरण होते हैं। इनके सम्यक्त्व और ज्ञान में भी ये दो मध्यम समवसरण जानने चाहिए।

३०. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा जीवा, नवरं जं अत्थि तं भाणियव्वं।

[३०] पञ्चेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों का कथन औघिक जीवों के समान है, किन्तु इनमें भी जिसके जो पद हों, वे कहने चाहिए।

३१. मणुस्सा जहा जीवा तहेव निरवसेसं।

[३१] मनुष्यों का समग्र कथन औघिक जीवों के सदृश है।

३२. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[३२] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक जीवों का कथन असुरकुमारों के समान जानना चाहिए।

विवेचन—स्पष्टीकरण—(१) पृथ्वीकायिक आदि जीव मिथ्यादृष्टि होने से वे अक्रियावादी और अज्ञानवादी होते हैं। यद्यपि उनमें वचन (वाणी) का अभाव होने से वाद नहीं होता, तथापि उस-उस वाद के योग्य परिणाम होने से वे अक्रियावादी और अज्ञानवादी कहे गए हैं। उनमें विनय-वाद के योग्य परिणाम न होने से वे विनयवादी नहीं होते।

(२) पृथ्वीकायिकादि के योग्य सलेश्यत्व, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या और तेजो-लेश्या तथा कृष्णपाक्षिकत्वादि जो स्थान हैं, उन सभी में अक्रियावादी और अज्ञानवादी समवसरण होते हैं। इस प्रकार चतुरिन्द्रिय पर्यन्त जानना चाहिए किन्तु यहाँ इतना समझना आवश्यक है कि क्रियावाद और विनयवाद विशिष्ट सम्यक्त्वादि परिणाम के सद्भाव में होते हैं। इसलिए यद्यपि द्वीन्द्रिय आदि जीवों में सास्वादनगुणस्थान की प्राप्ति के समय सम्यक्त्व और ज्ञान का अंश होने से उनमें क्रियावादिता युक्तियुक्त है, तथापि वे क्रियावादी और विनयवादी नहीं कहलाते।

(३) पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च में अलेश्यत्व, अकषायत्व आदि की पृच्छा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि ये स्थान इनमें नहीं होते। अन्य सब बातें स्पष्ट हैं।[1]

क्रियावादादि चतुर्विध समवसरणगत जीवों की ग्यारह स्थानों में आयुष्यबन्ध-प्ररूपणा

३३. [१] किरियावादी णं भंते! जीवा किं नेरतियाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, देवाउयं पकरेंति?

गोयमा! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

[३३-१ प्र.] भगवन्! क्रियावादी जीव नारकायु बांधते हैं, तिर्यञ्चायु बांधते हैं, मनुष्यायु बांधते हैं अथवा देवायु बांधते हैं?

[३३-१ उ.] गौतम! क्रियावादी जीव नैरयिक और तिर्यञ्चयोनिक का आयुष्य नहीं बांधते, किन्तु मनुष्यायु और देवायु बांधते हैं।

[२] जति देवाउयं पकरेंति किं भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, जाव वेमाणियदेवाउयं पकरेंति?

गोयमा! नो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, नो वाणमंतरदेवाउयं पकरेंति, नो जोतिसियदेवाउयं पकरेंति, वेमाणियदेवाउयं पकरेंति।

[३३-२ प्र.] भगवन्! यदि क्रियावादी जीव देवायुष्य बांधते हैं तो क्या वे भवनवासी-देवायुष्य बांधते हैं, वाणव्यन्तर-देवायुष्य बांधते हैं, ज्योतिष्क-देवायुष्य बांधते हैं अथवा वैमानिक-देवायुष्य बांधते हैं?

[३३-२ उ.] गौतम! वे न तो भवनवासी-देवायुष्य बांधते हैं, न वाणव्यन्तर-देवायुष्य बांधते हैं और न ही ज्योतिष्क-देवायुष्य बांधते हैं, किन्तु वैमानिक-देवायुष्य बांधते हैं।

३४. अकरियावाई णं भंते! जीवा किं नेरतियाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं० पुच्छा।

गोयमा! नेरइयाउयं पि पकरेंति, जाव देवाउयं पि पकरेंति।

[३४ प्र.] भगवन्! अक्रियावादी जीव नैरयिकायुष्य बांधते हैं, तिर्यञ्चायुष्य बांधते हैं, मनुष्यायुष्य बांधते हैं, अथवा देवायुष्य बांधते हैं?

[३४ उ.] गौतम! वे नैरयिकायुष्य भी बांधते हैं, तिर्यञ्चायुष्य भी बांधते हैं, मनुष्यायुष्य भी बांधते हैं और देवायुष्य भी।

३५. एवं अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

[३५] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी जीवों के आयुष्य-बन्ध के विषय में भी समझना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४५
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६०२

३६. सलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं नेरतियाउयं पकरेंति० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं०, एवं जहेव जीवा तहेव सलेस्सा वि चउहि वि समोसरणेहि भाणियव्वा।

[३६ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी क्रियावादी जीव नारकायुष्य बांधता है ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३६ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य नहीं बांधते इत्यादि सब औधिक जीव (के आयुष्यबन्ध-कथन) के समान सलेश्यी में चारों समवसरणों का (आयुष्यबन्ध) कथन करना चाहिए।

३७. कण्हलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं नेरइयाउयं पकरेंति० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

[३७ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी क्रियावादी जीव, नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[३७ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य, तिर्यञ्चायुष्य और देवायुष्य नहीं बांधते, किन्तु मनुष्यायुष्य बांधते हैं।

३८. अकिरिया-अन्नाणिय-वेणइयवादी चत्तारि वि आउयाइं पकरेंति।

[३८] कृष्णलेश्यी अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी जीव, नैरयिक आदि चारों प्रकार का आयुष्य बांधते हैं।

३९. एवं नीललेस्सा काउलेस्सा वि।

[३९] इसी प्रकार नीललेश्यी और कापोतलेश्यी क्रियावादी, (अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी जीवों के आयुष्यबन्ध) के विषय में भी जानना चाहिए।

४०. [१] तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं नेरइयाउयं पकरेंति० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणि०, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

[४०-१ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्यी क्रियावादी जीव नारकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४०-१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य एवं तिर्यञ्चायुष्य नहीं बांधते, किन्तु मनुष्यायुष्य बांधते हैं और देवायुष्य भी बांधते हैं।

[२] जइ देवाउयं पकरेंति०।

तहेव।

[४०-२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (तेजोलेश्यी क्रियावादी जीव) देवायुष्य बांधते हैं तो क्या भवनवासी-देवायुष्य बांधते हैं, यावत् वैमानिक देवायुष्य बांधते हैं ?

[४०-२ उ.] पूर्ववत् आयुष्य-बन्ध करते हैं।

४१. तेउलेस्सा णं भंते ! जीवा अकिरियावादी किं नेरइयाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

[४१ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्यी अक्रियावादी जीव नैरयिकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४१ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य नहीं बांधते, किन्तु तिर्यञ्चायुष्य बांधते हैं, मनुष्यायुष्य और देवायुष्य भी बांधते हैं।

४२. एवं अन्नाणियवाई वि, वेणइयवादी वि।

[४२] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी के आयुष्य-बन्ध के विषय में जानना चाहिए।

४३. जहा तेउलेस्सा एवं पम्हलेस्सा वि, सुक्कलेस्सा वि नेयव्वा।

[४३] जिस प्रकार तेजोलेश्यी के आयुष्य-बन्ध का कथन किया, उसी प्रकार पद्मलेश्यी और शुक्ललेश्यी के आयुष्यबन्ध के विषय में जानना चाहिए।

४४. अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरतियाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरि०, नो मणु०, नो देवाउयं पकरेंति।

[४४ प्र.] भगवन् ! अलेश्यी क्रियावादी जीव नैरयिकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४४ उ.] गौतम ! नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव, किसी का आयुष्य नहीं बांधते।

४५. कण्हपक्खिया णं भंते ! जीवा अकिरियावाई किं नेरतियाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नेरइयाउयं पि पकरेंति, एवं चउव्विहं पि।

[४५ प्र.] भगवन् ! कृष्णपाक्षिक अक्रियावादी जीव नैरयिकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[४५ उ.] गौतम ! वे नैरयिक, तिर्यञ्च आदि चारों प्रकार का आयुष्य बांधते हैं।

४६. एवं अण्णाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

[४६] इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक अज्ञानवादी और विनयवादी जीवों के आयुष्यबन्ध के विषय में जानना चाहिए।

४७. सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा।

[४७] शुक्लपाक्षिक जीव सलेश्यी जीवों के समान आयुष्यबन्ध करते हैं।

४८. सम्मद्दिट्ठी णं भंते ! जीवा किरियावाई किं नेरइयाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

[४८ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि क्रियावादी जीव नैरयिकायुष्यवन्ध करते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[४८ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य एवं तिर्यञ्चायुष्य नहीं वांधते, किन्तु मनुष्य और देव का आयुष्य बांधते ।

४९. मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया ।

[४९] मिथ्यादृष्टि क्रियावादी जीव का आयुष्यवन्ध कृष्णपाक्षिक के समान है ।

५०. सम्मामिच्छद्दिट्ठी णं भंते ! जीवा अन्नाणियवादी किं नेरइयाउयं० ?

जहा अलेस्सा ।

[५० प्र.] भगवन् ! सम्यग्मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादी जीव नैरयिकायुष्य वांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[५० उ.] गौतम ! अलेश्यी जीव के समान कथन जानना ।

५१. एवं वेणइयवादी वि ।

[५१] इसी प्रकार विनयवादी जीवों का आयुष्यवन्ध जानना चाहिए ।

५२. णाणी, आभिणिबोहियनाणी य सुयनाणी य ओहिनाणी य जहा सम्मद्दिट्ठी ।

[५२] ज्ञानी, आभिनिवोधिकज्ञानी, श्रुतज्ञानी और अवधिज्ञानी के आयुष्यवन्ध का कथन सम्यग्दृष्टि के समान है ।

५३. [१] मणपज्जवनाणी णं भंते ! ० पुच्छा ।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरिक्ख०, नो मणुस्स०, देवाउयं पकरेंति ।

[५३-१ प्र.] भगवन् ! मनःपर्यवज्ञानी नैरयिकायुष्य वांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[५३-१ उ.] गौतम ! वे नैरयिक, तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्य नहीं वांधते, किन्तु देव का आयुष्य बांधते हैं ।

[२] जदि देवाउयं पकरेंति किं भवणवासि० पुच्छा ।

गोयमा ! नो भवणवासिदेवाउयं पकरेंति, नो वाणमंतर०, नो जोतिसिय०, वेमाणियदेवाउयं० ।

[५३-२ प्र.] भगवन् ! यदि वे देवायुष्य वांधते हैं, तो क्या भवनवासी देवायुष्य वांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[५३-२ उ.] गौतम ! वे भवनवासी, वाणव्यन्तर अथवा ज्योतिष्क का देवायुष्य नहीं वांधते, किन्तु वैमानिकदेव का आयुष्य वांधते हैं ।

५४. केवलनाणी जहा अलेस्सा ।

[५४] केवलज्ञानी के विषय में अलेश्यी के समान वक्तव्यता जाननी चाहिए ।

५५. अन्नाणी जाव विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया ।

[५५] अज्ञानी (से लेकर) यावत् विभंगज्ञानी तक का आयुष्यबन्ध कृष्णपाक्षिक के समान समझना चाहिए ।

५६. सन्नासु चउसु वि जहा सलेस्सा ।

[५६] आहारादि चारों संज्ञाओं वाले जीवों का आयुष्यवन्ध सलेश्यी जीवों के समान है ।

५७. नोसन्नोवउत्ता जहा मणपज्जवनाणी ।

[५७] नोसंज्ञोपयुक्त जीवों का आयुष्यवन्ध मनःपर्यवज्ञानी के सदृश है ।

५८. सवेयगा जाव नपुंसगवेयगा जहा सलेस्सा ।

[५८] सवेदी (से लेकर) यावत् नपुंसकवेदी तक (आयुष्यवन्ध) सलेश्यी जीवों के समान है ।

५९. अवेयगा जहा अलेस्सा ।

[५९] अवेदी जीवों का आयुष्यबन्ध अलेश्यी जीवों के समान है ।

६०. सकसायी जाव लोभकसायी जहा सलेस्सा ।

[६०] सकषायी (से लेकर) यावत् लोभकषायी तक का सलेश्यी जीवों के समान आयुष्य-बन्ध जानना ।

६१. अकसायी जहा अलेस्सा ।

[६१] अकषायी जीवों के विषय में अलेश्यी के समान जानना ।

६२. सजोगी जाव कायजोगी जहा सलेस्सा ।

[६२] सयोगी (से लेकर) यावत् काययोगी तक सलेश्यी जीवों के समान आयुष्यबन्ध समझना चाहिए ।

६३. अजोगी जहा अलेस्सा ।

[६३] अयोगी जीवों के विषय में अलेश्यी के समान कहना चाहिए ।

६४. सागारोवउत्ता य अणागारोवउत्ता य जहा सलेस्सा ।

[६४] साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त के विषय में सलेश्यी जीवों के समान जानना चाहिए ।

विवेचन—क्रियावादी जीवों के आयुष्यबन्ध का विवरण—प्रस्तुत ३३-१ सू. में जो यह कहा गया है कि औघिक क्रियावादी जीव नारक और तिर्यञ्च का आयुष्य नहीं बांधते, किन्तु मनुष्य और देव का आयुष्य बांधते हैं; उसका आशय यह है कि जो नैरयिक और देव क्रियावादी हैं, वे मनुष्य का आयुष्य बाँधते हैं तथा जो मनुष्य और पंचेन्द्रियतिर्यञ्च क्रियावादी हैं, वे देव का आयुष्य बांधते हैं ।

कृष्णलेश्यी क्रियावादी जीव का आयुष्यबन्ध—इनके विषय में जो यह कहा गया है कि कृष्णलेश्यी क्रियावादी जीव नैरयिक, तिर्यञ्च और देव का आयुष्य बन्ध नहीं करते, किन्तु मनुष्य का आयुष्य बांधते हैं, वह कथन नैरयिक और असुरकुमारादि की अपेक्षा से समझना चाहिए। क्योंकि जो कृष्णलेश्यी सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च हैं, वे तो मनुष्य का आयुष्य बांधते ही नहीं हैं, वे केवल वैमानिक देव का ही आयुष्य बांधते हैं।

अलेश्यी आदि जीव आयुष्य ही नहीं बांधते—अलेश्यी, अकषायी, अयोगी और केवलज्ञानी आदि जीव जन्म-मरण से मुक्त, सिद्ध होते हैं। अतः वे किसी प्रकार का आयुष्य नहीं बांधते।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव का कथन अलेश्यी के समान कहा गया है, उसका आशय यह है कि अलेश्यी जीव, जो सिद्ध हैं, वे तो कृतकृत्य होने से एवं कर्मों का समूल नाश करने के कारण आयुष्य-बन्ध नहीं करते तथा अयोगी जीव भी उसी भव में मुक्त हो जाते हैं, इसलिए वे भी कोई आयुष्य नहीं बांधते। किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्मिथ्यादृष्टि-अवस्था में तथाविध स्वभाव-विशेष से किसी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं करते।[1]

चौवीस दण्डकवर्ती क्रियावादी आदि जीवों की ग्यारह स्थानों में आयुष्यबन्ध-प्ररूपणा

६५. किरियावाई णं भंते ! नेरइया किं नेरइयाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं०, नो तिरिक्ख०, मणुस्साउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

[६५ प्र.] भगवन् ! क्रियावादी नैरयिक जीव नैरयिकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[६५ उ.] गौतम ! वे नारक, तिर्यञ्च और देव का आयुष्य नहीं बांधते, किन्तु मनुष्य का आयुष्य बांधते हैं।

६६. अकिरियावाई णं भंते ! नेरइया० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

[६६ प्र.] भगवन् ! अक्रियावादी नैरयिक जीव नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[६६ उ.] गौतम ! वे नैरयिक और देव का आयुष्य नहीं बांधते, किन्तु तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्य बांधते हैं।

६७. एवं अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

[६७] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी नैरयिक के आयुष्यबन्ध के विषय में समझना चाहिए।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४५

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६१६

६८. सलेस्सा णं भंते ! नेरतिया किरियावादी किं नेरइयाउयं० ?

एवं सव्वे वि नेरइया जे किरियावादी ते मणुस्साउयं एगं पकरेंति, जे अकिरियावादी अण्णाणियवादी वेणइयवादी ते सव्वट्ठाणेसु वि नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति; नवरं सम्मामिच्छत्त उवरिल्लेहिं दोहिं वि समोसरणेहिं न किंचि वि पकरेंति जहेव जीवपदे ।

[६८ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी क्रियावादी नैरयिक, नैरयिकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[६८ उ.] गौतम ! सभी नैरयिक, जो क्रियावादी हैं, वे एकमात्र मनुष्यायुष्य ही बांधते हैं तथा जो अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी नैरयिक हैं, वे सभी स्थानों में नैरयिक और देव का आयुष्य नहीं बांधते, किन्तु तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्य बांधते हैं । विशेष यह है कि सम्यग्-मिथ्यादृष्टि अज्ञानवादी और विनयवादी इन दो समवसरणों में जीवपद के समान किसी भी प्रकार के आयुष्य का वन्ध नहीं करते ।

६९. एवं जाव थणियकुमारा जहेव नेरतिया ।

[६९] इसी प्रकार यावत् स्तनितकुमार तक के आयुष्यबन्ध का कथन नैरयिकों के समान जानना चाहिए ।

७०. अकिरियावाई णं भंते ! पुढविकाइया० पुच्छा ।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं०, मणुस्साउयं०, नो देवाउयं पकरेंति ।

[७० प्र.] भगवन् ! अक्रियावादी पृथ्वीकायिक जीव नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[७० उ.] गौतम ! वे भी नैरयिक और देव का आयुष्यबन्ध नहीं करते, किन्तु तिर्यञ्च और मनुष्य का आयुष्यवन्ध करते हैं ।

७१. एवं अन्नाणियवादी वि ।

[७१] इसी प्रकार अज्ञानवादी (पृथ्वी०) जीवों का आयुष्यबन्ध समझना चाहिए ।

७२. सलेस्सा णं भंते !० ।

एवं जं जं पयं अत्थि पुढविकाइयाणं तहिं तहिं मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु एवं चेव दुविहं आउयं पकरेंति, नवरं तेउलेस्साए न किं पि पकरेंति ।

[७२ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी अक्रियावादी पृथ्वीकायिक जीव नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[७२ उ.] गौतम ! जो-जो पद पृथ्वीकायिक जीवों के होते हैं, उन-उन में अक्रियावादी और

अज्ञानवादी, इन दो समवसरणों में इसी प्रकार (पूर्वकथनानुसार) मनुष्य और तिर्यञ्च, दो प्रकार का आयुष्य बांधते हैं। किन्तु तेजोलेश्या में तो किसी भी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं होता।

७३. [१] एवं आउक्काइयाण वि, वणस्सतिकाइयाण वि।

[७३-१] इसी प्रकार अप्कायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के आयुष्य-बन्ध के विषय में जानना चाहिए।

[२] तेउकाइया०, वाउकाइया०, सव्वट्ठाणेसु मज्झिमेसु दोसु समोसरणेसु नो नेरइयाउयं पक०, तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, नो मणुयाउयं पकरेंति, नो देवाउयं पकरेंति।

[७३-२] तेजस्कायिक और वायुकायिक जीव, सभी स्थानों में अक्रियावादी और अज्ञानवादी, इन दो मध्यम समवसरणों में, नैरयिक, मनुष्य और देव का आयुष्य नहीं बांधते। एकमात्र तिर्यञ्च का आयुष्य बांधते हैं।

७४. बेइंदिय-तेइंदिय-चउरिंदियाणं जहा पुढविकाइयाणं, नवरं सम्मत्तनाणेसु न एक्कं पि आउयं पकरेंति।

[७४] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों का आयुष्यबन्ध पृथ्वीकायिक जीवों के तुल्य है। परन्तु सम्यक्त्व और ज्ञान में वे किसी भी आयुष्य का बन्ध नहीं करते।

७५. किरियावाई णं भंते ! पंचेंदियतिरिक्खजोणिया किं नेरइयाउयं पकरेंति० पुच्छा।

गोयमा ! जहा मणपज्जवनाणी।

[७५ प्र.] भगवन् ! क्रियावादी पचेन्द्रियतिर्यञ्च नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् पृच्छा।

[७५ उ.] गौतम ! इनका आयुष्यबन्ध मन:पर्यवज्ञानी के समान है।

७६. अकिरियावादी अन्नाणियवादी वेणइयवादी य चउव्विहं पि पकरेंति।

[७६] अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी (तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय जीव) चारों प्रकार का आयुष्य बांधते हैं।

७७. जहा ओहिया तहा सलेस्सा वि।

[७७] सलेश्यी (पंचेन्द्रियतिर्यञ्च) जीवों का निरूपण औघिक जीव के सदृश है।

७८. कण्हलेस्सा णं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं नेरइयाउयं० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरिक्खजोणियाउयं०. नो मणुस्साउयं०, नो देवाउयं पकरेंति।

[७८ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी क्रियावादी पंचेन्द्रियतिर्यञ्च नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[७८ उ.] गौतम ! वे नैरयिक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव किसी का भी आयुष्य नहीं बांधते।

७९. अकिरियावाई अन्नाणियवाई वेणइयवाई चउव्विहं पि पकरेंति।

[७९] अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी (कृष्णलेश्यी) चारों प्रकार का आयुष्यबन्ध करते हैं।

८०. जहा कण्हलेस्सा एवं नीललेस्सा वि, काउलेस्सा वि।

[८०] नीललेश्यी और कापोतलेश्यी का आयुष्यबन्ध भी कृष्णलेश्यी के समान है।

८१. तेउलेस्सा जहा सलेस्सा, नवरं अकिरियावादी अन्नाणियवादी वेणइयवादी य नो नेरइयाउयं पकरेंति, तिरिक्खजोणियाउयं पि पकरेंति, मणुस्साउयं पि पकरेंति, देवाउयं पि पकरेंति।

[८१] तेजोलेश्यी का आयुष्यबन्ध सलेश्यी के समान है। परन्तु अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी जीव नैरयिक का आयुष्य नहीं बांधते, वे तिर्यञ्च, मनुष्य और देव का आयुष्य बांधते हैं।

८२. एवं पम्हलेस्सा वि, सुक्कलेस्सा वि भाणियव्वा।

[८२] इसी प्रकार पद्मलेश्यी और शुक्ललेश्यी जीवों के आयुष्यबन्ध के विषय में कहना चाहिए।

८३. कण्हपक्खिया तिहिं समोसरणेहिं चउव्विहं पि आउयं पकरेंति।

[८३] कृष्णपाक्षिक अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी (इन तीनों समवसरणों के) जीव चारों ही प्रकार का आयुष्यबन्ध करते हैं।

८४. सुक्कपक्खिया जहा सलेस्सा।

[८४] शुक्लपाक्षिकों का कथन सलेश्यी के समान है।

८५. सम्मद्दिट्ठी जहा मणपज्जवनाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेंति।

[८५] सम्यग्दृष्टि जीव मनःपर्यवज्ञानी के सदृश वैमानिक देवों का आयुष्यबन्ध करते हैं।

८६. मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया।

[८६] मिथ्यादृष्टि का आयुष्यबन्ध कृष्णपाक्षिक के समान है।

८७. सम्मामिच्छद्दिट्ठी ण एक्कं पि पकरेंति जहेव नेरतिया।

[८७] सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव एक भी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं करते। उनमें नैरयिकों के समान दो समवसरण होते हैं।

८८. नाणी जाव ओहिनाणी जहा सम्मद्दिट्ठी।

[८८] ज्ञानी (से लेकर) यावत् अवधिज्ञानी तक के जीवों का आयुष्यबन्ध सम्यग्दृष्टि जीवों के समान जानना।

८९. अन्नाणी जाव विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया।

[८९] अज्ञानी (से लेकर) यावत् विभंगज्ञानी तक के जीवों का आयुष्यबन्ध कृष्णपाक्षिकों के समान है।

९०. सेसा जाव अणागारोवउत्ता सव्वे जहा सलेस्सा तहेव भाणियव्वा।

[९०] शेष सभी यावत् अनाकारोपयुक्त पर्यन्त जीवों का आयुष्यबन्ध सलेश्यी जीवों के समान कहना चाहिए।

९१. जहा पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं वत्तव्वया भणिया एवं मणुस्साण वि भाणियव्वा, नवरं मणपज्जवनाणी नोसन्नोवउत्ता य जहा सम्मद्दिट्ठी तिरिक्खजोणिया तहेव भाणियव्वा।

[९१] जिस प्रकार पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीवों की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार मनुष्यों (के आयुष्यबन्ध) की वक्तव्यता कहनी चाहिए। विशेष यह है कि मनःपर्यवज्ञानी और नोसंज्ञोपयुक्त मनुष्यों का आयुष्यबन्ध-कथन सम्यग्दृष्टि तिर्यञ्चयोनिक के समान है।

९२. अलेस्सा, केवलनाणी, अवेदका, अकसायी, अजोगी य, एए न एगं पि आउयं पकरेंति जहा ओहिया जीवा, सेसं तहेव।

[९२] अलेश्यी, केवलज्ञानी, अवेदी, अकषायी और अयोगी, ये औघिक जीवों के समान किसी भी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं करते। शेष सब पूर्ववत् है।

९३. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

[९३] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक जीवों का (आयुष्यबन्ध) कथन असुरकुमारों के समान जानना चाहिए।

विवेचन—क्रियावादी आदि नैरयिकों का आयुष्यबन्ध—नारकभव के स्वभाव के कारण क्रियावादी नैरयिक नरकायु और देवायु का बन्ध नहीं करते तथा क्रियावादी होने के कारण वे तिर्यञ्चायु भी नहीं बांधते। वे एकमात्र मनुष्यायु का बन्ध करते हैं। अक्रियावादी आदि तीनों समवसरणों के नैरयिक जीव सभी स्थानों में तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु का बन्ध करते हैं। सम्यग्-मिथ्यादृष्टि नैरयिक अज्ञानवादी और विनयवादी ही होते हैं। वे सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुण-स्थान में रहते हुए किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बांधते, क्योंकि सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान का स्वभाव ही ऐसा है।

पृथ्वीकायिकों का तेजोलेश्या में आयुष्यबन्ध क्यों नहीं? पृथ्वीकायिक जीवों में अपर्याप्त अवस्था में इन्द्रियपर्याप्ति पूर्ण होने के पूर्व ही तेजोलेश्या होती है और वे इन्द्रियपर्याप्ति पूरी होने पर ही परभव का आयुष्य बांधते हैं। अतएव तेजोलेश्या के अभाव में ही उनके आयुष्य का बन्ध होता है, तेजोलेश्या के रहते नहीं। इसीलिए कहा गया है—**'तेउलेस्साए न किं पि पकरेंति।'**

द्वीन्द्रियादि जीवों में सम्यक्त्व और ज्ञान के रहते आयुष्यबन्ध क्यों नहीं? द्वीन्द्रिय आदि जीवों में सास्वादन-सम्यक्त्व होने से उनमें सम्यक्त्व और ज्ञान तो होता है, किन्तु उनका काल अत्यल्प होने से उतने समय में आयुष्य का बन्ध संभव नहीं है। इसीलिए कहा गया है इनमें सम्यक्त्व और ज्ञान के रहते एक भी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं होता।

सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियतिर्यञ्च कब और कौन-सा आयुष्यबन्ध करते हैं? जब सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रियतिर्यञ्च कृष्ण आदि अशुभ लेश्या के परिणाम वाले होते हैं, तब किसी भी प्रकार के

आयुष्य का बन्ध नहीं करते। जब वे तेजोलेश्यादिरूप शुभ परिणाम वाले होते हैं, तब एकमात्र वैमानिकदेव का आयुष्य बांधते हैं। इसीलिए कहा गया है कि **'सम्मदिट्ठी मणपज्जवनाणी तहेव वेमाणियाउयं पकरेंति।'**

तेजोलेश्यी जीवों का आयुष्यबन्ध—तेजोलेश्या वाले जीव के आयुष्य का बन्ध सलेश्यी जीवों के समान बताया है। इसका आशय यह है कि क्रियावादी केवल वैमानिक का आयुष्य बांधते हैं। शेष तीन समवसरण वाले जीव चारों प्रकार का आयुष्य बांधते हैं, क्योंकि सलेश्यी जीव में इसी प्रकार के आयुष्य का बन्ध कहा है।[1]

क्रियावादी आदि चारों में जीव और चौवीस दण्डकों की ग्यारह स्थानों द्वारा भव्याभव्यत्व-प्ररूपणा

९४. किरियावादी णं भंते! जीवा किं भवसिद्धीया, अभवसिद्धीया?

गोयमा! भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[९४ प्र.] भगवन्! क्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक?

[९४ उ.] गौतम! वे अभवसिद्धिक नहीं, भवसिद्धिक हैं।

९५. अकिरियावादी णं भंते! जीवा किं भवसिद्धीया० पुच्छा।

गोयमा! भवसिद्धीया वि, अभवसिद्धीया वि।

[९५ प्र.] भगवन्! अक्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक?

[९५ उ.] गौतम! वे भवसिद्धिक भी हैं और अभवसिद्धिक भी।

९६. एवं अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

[९६] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी जीवों के विषय में भी समझना चाहिए।

९७. सलेस्सा णं भंते! जीवा किरियावादी किं भव० पुच्छा।

गोयमा! भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[९७ प्र.] भगवन्! सलेश्यी क्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक?

[९७ उ.] गौतम! वे भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

९८. सलेस्सा णं भंते! जीवा अकिरियावादी किं भव० पुच्छा।

गोयमा! भवसिद्धीया वि, अभवसिद्धीया वि।

[९८ प्र.] भगवन्! सलेश्यी अक्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक?

[९८ उ.] गौतम! वे भवसिद्धिक भी हैं और अभवसिद्धिक भी।

९९. एवं अन्नाणियवादी वि, वेणइयवादी वि।

[९९] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी भी (सलेश्यी के समान) जानना।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६२२

१००. जहा सलेस्सा, एवं जाव सुक्कलेस्सा।

[१००] कृष्णलेश्यी (से लेकर) यावत् शुक्ललेश्यी पर्यन्त सलेश्यी के समान जानना।

१०१. अलेस्सा णं भंते ! जीवा किरियावादी किं भव० पुच्छा।

गोयमा ! भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[१०१ प्र.] भगवन् ! अलेश्यी क्रियावादी जीव भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक ?

[१०१ उ.] गौतम ! वे भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

१०२. एवं एएणं अभिलावेणं कण्हपक्खिया तिसु वि समोसरणेसु भयणाए।

[१०२] इस अभिलाप से कृष्णपाक्षिक तीनों समवसरणों (अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी) में भजना (विकल्प) से भवसिद्धिक हैं।

१०३. सुक्कपक्खिया चतुसु वि समोसरणेसु भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[१०३] शुक्लपाक्षिक जीव चारों समवसरणों में भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

१०४. सम्मद्दिट्ठी जहा अलेस्सा।

[१०४] सम्यग्दृष्टि अलेश्यी जीवों के समान हैं।

१०५. मिच्छद्दिट्ठी जहा कण्हपक्खिया।

[१०५] मिथ्यादृष्टि जीव कृष्णपाक्षिक के सदृश हैं।

१०६. सम्मामिच्छद्दिट्ठी दोसु वि समोसरणेसु जहा अलेस्सा।

[१०६] सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञानवादी और विनयवादी, इन दोनों समवसरणों में अलेश्यी जीवों के समान भवसिद्धिक हैं।

१०७. नाणी जाव केवलनाणी भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[१०७] ज्ञानी (से लेकर) यावत् केवलज्ञानी तक भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

१०८. अन्नाणी जाव विभंगनाणी जहा कण्हपक्खिया।

[१०८] अज्ञानी (से लेकर) यावत् विभंगज्ञानी तक कृष्णपाक्षिकों के सदृश हैं।

१०९. सण्णासु चउसु वि जहा सलेस्सा।

[१०९] चारों संज्ञाओं से युक्त जीवों का कथन सलेश्यी जीवों के समान है।

११०. नोसण्णोवउत्ता जहा सम्मद्दिट्ठी।

[११०] नोसंज्ञोपयुक्त जीवों का कथन सम्यग्दृष्टि के समान है।

१११. सवेयगा जाव नपुंसगवेयगा जहा सलेस्सा।

[१११] सवेदी (से लेकर) यावत् नपुंसकवेदी जीव (तक) का कथन सलेश्यी जीवों के सदृश है।

११२. अवेयगा जहा सम्मद्दिट्ठी।

[११२] अवेदी जीवों का कथन सम्यग्दृष्टि के समान है।

११३. सकसायी जाव लोभकसायी जहा सलेस्सा।

[११३] सकषायी यावत् लोभकषायी, सलेश्यी के समान जानना।

११४. अकसायी जहा सम्मद्दिट्ठी।

[११४] अकषायी जीव सम्यग्दृष्टि के समान जानना।

११५. सजोगी जाव कायजोगी जहा सलेस्सा।

[११५] सयोगी यावत् काययोगी जीव सलेश्यी के समान हैं।

११६. अजोगी जहा सम्मद्दिट्ठी।

[११६] अयोगी जीव सम्यग्दृष्टि के सदृश हैं।

११७. सागारोवउत्ता अणागारोवउत्ता जहा सलेस्सा।

[११७] साकारोपयुक्त और अनाकारोपयुक्त जीव सलेश्यी जीवों के सदृश जानना।

११८. एवं नेरतिया वि भाणियव्वा, नवरं नायव्वं जं अत्थि।

[११८] इसी प्रकार नैरयिकों के विषय में कहना चाहिए, किन्तु उनमें जो बोल पाये जाते हों, वे कहने चाहिए।

११९. एवं असुरकुमारा वि जाव थणियकुमारा।

[११९] इसी प्रकार असुरकुमार (से लेकर) यावत् स्तनितकुमार तक के विषय में जानना चाहिए।

१२०. पुढविकाइया सव्वट्ठाणेसु वि मज्झिल्लेसु दोसु वि समोसरणेसु भवसिद्धीया वि, अभवसिद्धीया वि।

[१२०] पृथ्वीकायिक जीव सभी स्थानों में मध्य के दोनों समवसरणों (अक्रियावादी और अज्ञानवादी) में भवसिद्धिक भी होते हैं और अभवसिद्धिक भी होते हैं।

१२१. एवं जाव वणस्सतिकाइय त्ति।

[१२१] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त जानना चाहिए।

१२२. बेइंदिय-तेइंदिय-चतुरिंदिया एवं चेव, नवरं सम्मत्ते, ओहिए नाणे, आभिणिबोहियनाणे, सुयनाणे, एएसु चेव दोसु मज्झिमेसु समोसरणेसु भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया, सेसं तं चेव।

[१२२] द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों के विषय में भी इसी प्रकार जानना चाहिए। विशेष यह है कि सम्यक्त्व, औघिक ज्ञान, आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान, इनके मध्य

के दोनों समवसरणों (अक्रियावादी एवं अज्ञानवादी) में भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं। शेष सब पूर्ववत् जानना।

१२३. पंचेंदियतिरिक्खजोणिया जहा नेरइया, नवरं जं अत्थि।

[१२३] पंचेन्द्रियतिर्यञ्चयोनिक जीव नैरयिकों के सदृश (जानना,) किन्तु उनमें जो बोल पाये जाते हों, (वे सब कहने चाहिए)।

१२४. मणुस्सा जहा ओहिया जीवा।

[१२४] मनुष्यों का कथन औधिक जीवों के समान है।

१२५. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा असुरकुमारा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३०-१ ॥

[१२५] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिकों का निरूपण असुरकुमारों के समान जानना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—भवसिद्धिक एवं अभवसिद्धिक का निरूपण—प्रस्तुत ३२ सूत्रों (९४ से १२५ तक) में क्रियावादी आदि चारों तथा लेश्या आदि ११ स्थानों में चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक की चर्चा की गई है। सभी सूत्र स्पष्ट हैं। भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक का अर्थ भव्य और अभव्य है।

॥ तीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

(अनन्तरोपपन्नक क्रियावादी आदि सम्बन्धी)

अनन्तरोपपन्न चौवीस दण्डकवर्ती जीवों में ग्यारह स्थानों द्वारा क्रियावादादि-प्ररूपणा

१. अणंतरोववन्नगा णं भंते ! नेरइया किं किरियावादी० पुच्छा।

गोयमा ! किरियावाई वि जाव वेणइयवाई वि।

[१ प्र.] भगवन् ! क्या अनन्तरोपपन्नक नैरयिक क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।
[१ उ.] गौतम ! वे क्रियावादी भी हैं, यावत् विनयवादी भी हैं।

२. सलेस्सा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरतिया किं किरियावादी० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या सलेश्यी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना चाहिए।

३. एवं जहेव पढमुद्देसे नेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इह वि भाणियव्वा, नवरं जं जस्स अत्थि अणंतरोववन्नगाणं नेरइयाणं तं तस्स भाणियव्वं।

[३] जिस प्रकार प्रथम उद्देशक में नैरयिकों की वक्तव्यता कही, उसी प्रकार यहाँ भी कहनी चाहिए। विशेष यह है कि अनन्तरोपपन्न नैरयिकों में से जिसमें जो बोल सम्भव हों, वही कहने चाहिए।

४. एवं सव्वजीवाणं जाव वेमाणियाणं, नवरं अणंतरोववन्नगाणं जहिं जं अत्थि तहिं तं भाणियव्वं।

[४] इसी प्रकार सर्व जीवों की, यावत् वैमानिकों (तक) की वक्तव्यता कहनी चाहिए, किन्तु अनन्तरोपपन्नक जीवों में जहाँ जो सम्भव हो, वहाँ वह कहना चाहिए।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक नैरयिकादि की चर्चा—प्रस्तुत चार सूत्रों में अनन्तरोपपन्नक नैरयिकादि चौवीस दण्डकीय जीवों में ग्यारह स्थानों की अपेक्षा से क्रियावादी आदि का निरूपण किया गया है।

'तत्काल उत्पन्न हुआ जीव "अनन्तरोपपन्नक" कहलाता है।'

५. किरियावाई णं भंते ! अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं पकरेंति० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरतियाउयं पकरेंति, नो तिरि०, नो मणु०, नो देवाउयं पकरेंति।

[५ प्र.] भगवन् ! क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक, नैरयिक का आयुष्य बांधते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[५ उ.] गौतम ! वे नारक,तिर्यञ्च, मनुष्य और देव का आयुष्य नहीं बांधते ।

६. एवं अकिरियावाई वि, अन्नाणियवाई वि, वेणइयवाई वि ।

[६] इसी प्रकार अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक के विषय में समझना चाहिए ।

७. सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं नेरइयाउयं० पुच्छा ।

गोयमा ! नो नेरइयाउयं पकरेंति, जाव नो देवाउयं पकरेंति ।

[७ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक नारकायुष्य बांधते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[७ उ.] गौतम ! वे नैरयिकायुष्य यावत् देवायुष्य नहीं बांधते ।

८. एवं जाव वेमाणिया ।

[८] इसी प्रकार (असुरकुमारादि से लेकर) यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

९. एवं सव्वट्ठाणेसु वि अणंतरोववन्नगा नेरइया न किंचि वि आउयं पकरेंति जाव अणागारोवउत्त त्ति ।

[९] इसी प्रकार सभी स्थानों में अनन्तरोपपन्नक नैरयिक यावत् अनाकारोपयुक्त जीवों तक किसी भी प्रकार का आयुष्यबन्ध नहीं करते ।

१०. एवं जाव वेमाणिया, नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणियव्वं ।

[१०] इसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त समझना चाहिए; किन्तु जिसमें जो बोल सम्भव हो, वह उसमें कहना चाहिए ।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक नैरयिकादि चौवीस दण्डकों का आयुष्यबन्ध—प्रस्तुत प्रकरण आयुष्यबन्ध का है । अनन्तरोपपन्नक किसी भी विशेषण से युक्त हो, उसमें किसी भी प्रकार का आयुष्य नहीं बंधता ।

क्रियावादी आदि चारों में अनन्तरोपपन्न चौवीस दण्डकों की ग्यारह स्थानों द्वारा भव्याभव्यत्व-प्ररूपणा

११. किरियावाई णं भंते । अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धीया अभवसिद्धीया ?

गोयमा ! भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया ।

[११ प्र.] भगवन् ! क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक ?

[११ उ.] गौतम ! वे भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं ।

१२. अकिरियावाई णं० पुच्छा।

गोयमा ! भवसिद्धीया वि, अभवसिद्धीया वि।

[१२ प्र.] भगवन् ! अक्रियावादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक ?

[१२ उ.] गौतम ! वे भवसिद्धिक भी हैं और अभवसिद्धिक भी।

१३. एवं अन्नाणियवाई वि, वेणइयवाई वि।

[१३] इसी प्रकार अज्ञानवादी और विनयवादी भी समझने चाहिए।

१४. सलेस्सा णं भंते ! किरियावाई अणंतरोववन्नगा नेरइया किं भवसिद्धीया, अभवसिद्धीया ?

गोयमा ! भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया।

[१४ प्र.] भगवन् ! सलेश्यी क्रियावादी अनन्तरोपपन्नक नैरयिक भवसिद्धिक हैं अथवा अभवसिद्धिक ?

[१४ उ.] गौतम ! वे भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं।

१५. एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए उद्देसए नेरइयाणं वत्तव्वया भणिया तहेव इह वि भाणियव्वा जाव अणागारोवउत्त त्ति।

[१५] इसी प्रकार इस अभिलाप से जिस प्रकार औघिक उद्देशक में नैरयिकों की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यहाँ भी यावत् अनाकारपयुक्त तक कहनी चाहिए।

१६. एवं जाव वेमाणियाणं, नवरं जं जस्स अत्थि तं तस्स भाणितव्वं। इमं से लक्खणं—जे किरियावादी सुक्कपक्खिया सम्मामिच्छद्दिट्ठी य एए सव्वे भवसिद्धीया, नो अभवसिद्धीया। सेसा सव्वे भवसिद्धीया वि, अभवसिद्धीया वि।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

।। तीसइमे सए : बीओ उद्देसओ समत्तो ।। ३०-२ ।।

[१६] इसी प्रकार यावत् वैमानिक पर्यन्त कहना चाहिए; किन्तु जिसमें जो बोल हो उसके सम्बन्ध में वह कहना चाहिए।

उनका लक्षण यह है कि क्रियावादी, शुक्लपाक्षिक और सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, ये सब भवसिद्धिक हैं, अभवसिद्धिक नहीं। शेष सब भवसिद्धिक भी हैं और अभवसिद्धिक भी हैं। 'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतम स्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नकों की भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक चर्चा : निष्कर्ष—अनन्तरोपपन्नकों में नैरयिकों से वैमानिकों तक जो क्रियावादी हों, शुक्लपाक्षिक हों, सम्यग्मिथ्यादृष्टि हों, वे सब भवसिद्धिक हैं, इनके अतिरिक्त शेष सब दोनों प्रकार के हैं

।। तीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ।।

तइओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

परम्परोपपन्नक नैरयिकादि-सम्बन्धी

परम्परोपपन्नक चौवीस दण्डकीय जीवों में ग्यारह स्थानों के द्वारा क्रियावादादिनिरूपण

१. परंपरोववन्नगा णं भंते नेरइया किरियावादी० ? एवं जहेव ओहिओ उद्देसओ तहेव परंपरोववन्नएसु वि नेरइयाईओ तहेव निरवसेसं भाणियव्वं, तहेव तियदंडगसंगहिओ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ।

॥ तीसइमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३०-३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक नैरयिक क्रियावादी हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! औधिक उद्देशकानुसार परम्परोपपन्नक नैरयिक आदि (नारक से वैमानिक तक) हैं और उसी प्रकार वैमानिक पर्यन्त समग्र उद्देशक तीन दण्डक सहित कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—औधिक उद्देशक का अतिदेश—प्रस्तुत उद्देशक में जिन जीवों को उत्पन्न हुए एक समय से अधिक काल हो गया है, ऐसे परम्परोपपन्नक जीवों में क्रियावादित्वादि के निरूपण के लिए औधिक उद्देशक का अतिदेश किया गया है।

तीन दण्डक : तीन पाठ—(१) क्रियावादित्व आदि की प्ररूपणा एकदण्डक, (२) उनके आयुष्यबन्ध की प्ररूपणा करना दूसरा दण्डक है और (३) भवसिद्धिकत्व-अभवसिद्धिकत्व की प्ररूपणा करना तृतीय दण्डक है।[1]

॥ तीसवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४८
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६३२

चउत्थाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

चतुर्थ से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक

छव्वीसवें शतक के क्रम से चौथे से ग्यारहवें उद्देशक तक की प्ररूपणा

१. एवं एएणं कमेणं जच्चेव बंधिसए उद्देसगाणं परिवाडी सच्चेव इहं पि जाव अचरिमो उद्देसो, नवरं अणंतरा चत्तारि वि एक्कगमगा। परंपरा चत्तारि वि एक्कगमएणं। एवं चरिमा वि, अचरिमा वि एवं चेव, नवरं अलेस्सो केवली अजोगी य भण्णति। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

एते एक्कारस उद्देसगा।

॥ तीसइमे सए : चउत्थाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ३०। ४-११ ॥

॥ तीसइमं समवसरणसयं समत्तं ॥ ३० ॥

[१] इसी प्रकार और इसी क्रम से बन्धीशतक में उद्देशकों की जो परिपाटी है, वही परिपाटी यहाँ भी यावत् अचरम उद्देशक पर्यन्त समझनी चाहिए। विशेष यह है कि 'अनन्तर' शब्द से विशेषित चार उद्देशक एक गम (समान पाठ) वाले हैं ? 'परम्पर' शब्द से विशेषित चार उद्देशक एक गम वाले हैं। इसी प्रकार 'चरम' और 'अचरम' विशेषणयुक्त उद्देशकों के विषय में भी समझना चाहिए, किन्तु अलेश्यी, केवली और अयोगी का कथन यहाँ (अचरम उद्देशक में) नहीं करना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

इस प्रकार ये ग्यारह उद्देशक हुए।

विवेचन—जो जीव अचरम हैं, वे अलेश्यी, अयोगी या केवलीज्ञानी नहीं हो सकते, इसलिए अचरम उद्देशक में इनका कथन नहीं करना चाहिए।[1]

॥ तीसवाँ शतक : चौथे से ग्यारहवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ तीसवाँ समवसरण-शतक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९४८

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, ३६३३

एगतीसइमं उववायसयं, बत्तीसइमं उव्वट्टणासयं

इकतीसवाँ उपपातशतक और बत्तीसवाँ उद्वर्त्तनशतक

प्राथमिक

- भगवतीसूत्र के यह इकतीसवाँ और वत्तीसवाँ शतक हैं।
- इकतीसवें शतक का नाम उपपातशतक है और वत्तीसवें शतक का नाम उद्वर्त्तनशतक है।
- ये दोनों शतक जीवों के जन्ममरण से सम्बन्धित हैं। उपपात का अर्थ है—उत्पत्ति या जन्म और उद्वर्त्तन का अर्थ है—मरण या उक्तभव (या शरीर) से निकलना।
- संसार में प्राणियों के लिए उत्पत्ति भी दुःखदायी है और मृत्यु या उद्वर्त्तना भी दुःखदायी है। जिसकी उत्पत्ति होगी, उस सांसारिक जीव की उद्वर्त्तना (मृत्यु) निश्चित है, अवश्यम्भावी है। परन्तु सामान्य प्राणी अथवा अज्ञजन इसे दृष्टि से ओझल कर देते हैं। वे जन्म को तो महत्त्वपूर्ण मानते हैं, मरण को दुःखद।
- भगवान् महावीर ने तो दोनों को अपने प्रवचन में दुःखदायी कहा है—

  "जम्म दुक्खं जरा दुक्खं रोगा या मरणाणि य।
  अहो दुक्खो हु संसारे, तत्थ किस्संति जंतवो॥"

  अर्थात्—जन्म, जरा, रोग और मरण ये सब दुःखमय हैं। यह संसार ही दुःखरूप है, किन्तु अज्ञानी प्राणी इसमें मोहवश फँसकर क्लेश पाते हैं।
- ये दोनों शतक साधक की आँखों को खोल देने वाले हैं। इकतीसवें शतक में बताया गया है कि जीव किस-किस गति और योनि से आकर वर्त्तमान भव में उत्पन्न होता है? एक समय में कितने जीवों का और किस-किस प्रकार से उत्पाद होता है? लेश्या आदि अमुक विशेषणों से युक्त जीव कहाँ से, कितनी संख्या में और कैसे-कैसे उत्पन्न होते हैं? इत्यादि तथ्य इकतीसवें शतक में प्रकट किए हैं।
- बत्तीसवें शतक में इकतीसवें शतक के क्रम से ही उद्वर्त्तन (मरण) की चर्चा की गई है कि अमुक जीव अपने वर्त्तमान भव से मर कर तुरंत कहाँ, किस योनि-गति में और कैसे जाता है? इत्यादि।
- दोनों ही शतकों में क्षुद्रयुग्म के माध्यम से चर्चा-विचारणा की गई है।
- दोनों शतकों में से इकतीसवें तथा वत्तीसवें में प्रत्येक में २८-२८ उद्देशक हैं, जिनकी परिगणना शास्त्रकार ने की है।

एगतीसइमं सयं—उववायसयं

इकतीसवाँ शतक—उपपातशतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

क्षुद्रयुग्म-सम्बन्धी

क्षुद्रयुग्म : नाम और प्रकार

१. रायगिहे जाव एवं वयासी—

[१] राजगृह नगर में गौतमस्वामी ने यावत् इस प्रकार पूछा—

२. [१] कति णं भंते खुड्डा जुम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि खुड्डा जुम्मा पन्नत्ता, तं जहा— कडजुम्मे, तेयोए, दावरजुम्मे, कलियोए।

[२-१ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रयुग्म कितने कहे हैं ?

[२-१ उ.] गौतम ! क्षुद्रयुग्म चार कहे हैं। यथा—कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—चत्तारि खुड्डा जुम्मा पन्नत्ता, तं जहा कडजुम्मे जाव कलियोगे ?

गोयमा ! जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए से त्तं खुड्डागकडजुम्मे। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए से त्तं खुड्डागतेयोगे। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए से त्तं खुड्डागदावरजुम्मे। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए से त्तं खुड्डागकलियोगे। से तेणट्ठेणं जाव कलियोगे।

[२-२ प्र.] भगवन् ! यह क्यों कहा जाता है कि क्षुद्र युग्म चार हैं, यथा—कृतयुग्म यावत् कल्योज ?

[२-२ उ.] गौतम ! जिस राशि में से चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में चार रहें, उसे क्षुद्र कृतयुग्म कहते हैं। जिस राशि में चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में तीन शेष रहें, उसे क्षुद्रत्र्योज कहते हैं। जिस राशि में से चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में दो शेष रहें, उसे क्षुद्रद्वापरयुग्म कहते हैं और जिस राशि में से चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में एक ही शेष रहे, उसे क्षुद्रकल्योज कहते हैं। इस कारण से हे गौतम ! यावत् कल्योज कहा है।

विवेचन—क्षुद्रयुग्म : स्वरूप और प्रकार—लघुसंख्या (अल्पसंख्या) वाली राशि-विशेष को क्षुद्रयुग्म कहते हैं। इनमें से चार, आठ, बारह आदि संख्या वाली राशि को 'क्षुद्रकृतयुग्म' कहते हैं। तीन, सात, ग्यारह आदि संख्या वाली राशि को 'क्षुद्रत्र्योज' कहते हैं। दो, छह, दस आदि संख्या वाली राशि को 'क्षुद्रद्वापरयुग्म' कहते हैं और एक, पांच, नौ आदि संख्या वाली राशि को 'क्षुद्रकल्योज' कहते हैं।[1]

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म नैरयिकों के उपपात के सम्बन्ध में विविध प्ररूपणा

३. खुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो उववज्जंति, तिरिक्ख० पुच्छा।

गोयमा ! नो नेरइएहिंतो उववज्जंति, एवं नेरतियाणं उववातो जहा वक्कंतीए तहा भाणितव्वो।

[३ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्म-राशिपरिमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? अथवा तिर्यञ्चयोनिकों से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] गौतम ! वे नैरयिकों से आकर उत्पन्न नहीं होते, (किन्तु पंचेन्द्रियतिर्यञ्च और गर्भज मनुष्यों से आकर उत्पन्न होते हैं।) इत्यादि प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद में कथित नैरयिकों के उपपात के अनुसार यहाँ कहना चाहिए।

४. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! चत्तारि वा, अट्ठ वा, बारस वा, सोलस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! वे चार, आठ, बारह, सोलह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

५. ते णं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे अज्झवसाण० एवं जहा पंचवीसतिमे सते अट्ठमुद्देसए नेरइयाणं वत्तव्वया तहेव इह वि भाणियव्वा (स० २५ उ० ८ सु० २—८) जाव आयप्पयोगेण उववज्जंति, नो परप्पयोगेण उववज्जंति।

[५ प्र.] भगवन् ! वे जीव किस प्रकार उत्पन्न होते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कोई कूदने वाला, कूदता-कूदता अपने पूर्वस्थान को छोड़ कर आगे के स्थान को प्राप्त करता है, इसी प्रकार नैरयिक भी पूर्ववर्ती भव को छोड़ कर अध्यवसायरूप कारण से आगामी भव को प्राप्त करते हैं। इत्यादि पच्चीसवें शतक के आठवें

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५०
   (ख) श्रीमद्भगवतीसूत्रम् खण्ड ४ (गुजराती-अनुवाद) पृ. ३११

उद्देशक (सू. २ से ८ तक) में उक्त नैरयिक-सम्बन्धी वक्तव्यता के समान यहाँ भी कहना चाहिए यावत् वे आत्मप्रयोग से उत्पन्न होते हैं, परप्रयोग से नहीं।

६. रतणप्पभपुढविखुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं जहा ओहियनेरइयाणं वत्तव्वया सच्चेव रयणप्पभाए वि भाणियव्वा जाव नो परप्पयोगेणं उववज्जंति।

[६ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्म-राशिप्रमाण रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[६ उ.] गौतम ! औघिक नैरयिकों की जो वक्तव्यता कही है, वही रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिकों के लिए कहनी चाहिए यावत् वे परप्रयोग से उत्पन्न नहीं होते, यहाँ तक जानना।

७. एवं सक्करप्पभाए वि।

८. एवं जाव अहेसत्तमाए। एवं उववाओ जहा वक्कंतीए।

अस्सण्णी खलु पढमं दोच्चं च सरीसवा ततिय पक्खी।० गाहा (पण्णवणासुत्तं सु० ६४७—४८, गा० १८३—८४)। एवं उववातेयव्वा। सेसं तहेव।

[७-८] इसी प्रकार शर्कराप्रभा (से लेकर) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए। प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार यहाँ भी उपपात जानना चाहिए।

यावत् असंज्ञी जीव प्रथम नरक तक, सरीसृप (भुजपरिसर्प) द्वितीय नरक तक और पक्षी तृतीय नरक तक उत्पन्न होते हैं, इत्यादि (प्रज्ञापनासूत्र सू. ६४७-४८, गाथा-१८३-८४ के अनुसार उपपात जानना चाहिए। शेष पूर्ववत् समझना।

९. खुड्डातेयोगनेरतिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो ?०

उववातो जहा वक्कंतीए।

[९ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रत्र्योज-राशिप्रमाण नैरयिक कहाँसे आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[९ उ.] इनका उपपात भी प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार जानना चाहिए।

१०. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! तिन्नि वा, सत्त वा, एक्कारस वा, पन्नरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति। सेसं जहा कडजुम्मस्स।

[१० प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[१० उ.] गौतम ! वे एक समय में तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष सभी कृतयुग्म नैरयिक के समान जानना चाहिए।

११. एवं जाव अहेसत्तमाए।

[११] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक समझना चाहिए।

१२. खुड्डागदावरजुम्मनेरतिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे, नवरं परिमाणं दो वा, छ वा, दस वा, चोद्दस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा। सेसं तं चेव जाव अहेसत्तमाए।

[१२ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रद्वापरयुग्म-राशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! क्षुद्रकृतयुग्मराशि के अनुसार इनका उत्पाद जानना चाहिए। किन्तु ये परिमाण में—दो, छह, दस, चौदह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत् यावत् अधःसप्तमपृथ्वी पर्यन्त जानना।

१३. खुड्डागकलियोगनेरतिया णं भंते ! कतो उववज्जंति० ?

एवं जहेव खुड्डागकडजुम्मे, नवरं परिमाणं एक्को वा, पंच वा, नव वा, तेरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति। सेसं तं चेव।

[१३ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकल्योज-राशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! क्षुद्रकृतयुग्मराशि के अनुसार इनकी उत्पत्ति जाननी चाहिए। किन्तु ये परिमाण में—एक, पांच, नौ, तेरह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत्।

१४. एवं जाव अहेसत्तमाए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ इकतीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-१ ॥

[१४] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी पर्यन्त जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

बिइओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

चतुर्विधक्षुद्रयुग्म-कृष्णलेश्यी नैरयिकों के उपपात को लेकर विविध प्ररूपणा

१. कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति ?०

एवं चेव जहा ओहियगमो जाव नो परप्पयोगेण उववज्जंति, नवरं उववातो जहा वक्कंतीए धूमप्पभपुढविनेरइयाणं। सेसं तं चेव।

[१ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण कृष्णलेश्यी नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! औघिकगम के अनुसार समझना चाहिए यावत् वे परप्रयोग से उत्पन्न नहीं होते। विशेष यह है कि धूमप्रभापृथ्वी के नैरयिकों का उपपात प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार कहना चाहिए। शेष सब कथन (प्रश्न और उत्तर) पूर्ववत् जानना चाहिए।

२. धूमप्पभपुढविकण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति ?

एवं चेव निरवसेसं।

[२ प्र.] भगवन् ! धूमप्रभापृथ्वी के क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण कृष्णलेश्यी नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! इनके विषय में पूर्ववत् जानना।

३. एवं तमाए वि, अहेसत्तमाए वि, नवरं उववातो सव्वत्थ जहा वक्कंतीए।

[३] इसी प्रकार तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी पर्यन्त कहना चाहिए। किन्तु उपपात सर्वत्र (सभी स्थानों में प्रज्ञापनासूत्र के छठे) व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार जानना चाहिए।

४. कण्हलेस्सखुड्डागतेयोगनेरइया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति?०

एवं चेव, नवरं तिन्नि वा, सत्त वा, एक्कारस वा, पण्णरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा। सेसं तं चेव।

[४ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रत्र्योजराशिप्रमाण धूम्रप्रभापृथ्वी के कृष्णलेश्यी नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समझना चाहिए। विशेष यह है कि ये तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत् है।

५. एवं जाव अहेसत्तमाए वि।

[५] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक जानना चाहिए।

६. कण्हलेस्सखुड्डागदावरजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं चेव, नवरं दो वा, छ वा, दस वा, चोद्दस वा। सेसं तं चेव।

[६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी क्षुद्रद्वापरयुग्मराशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) समझना। किन्तु दो, छह, दस या चोदह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत्।

७. एवं धूमप्पभाए वि जाव अहेसत्तमाए।

[७] इसी प्रकार धूमप्रभा यावत् अधःसप्तमपृथ्वी पर्यन्त जानना चाहिए।

८. कण्हलेस्सखुड्डागकलियोगनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं चेव, नवरं एक्को वा, पंच वा, नव वा, तेरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा। सेसं तं चेव।

[८ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकल्योजराशिपरिमाण कृष्णलेश्या वाले नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना। किन्तु परिमाण में वे एक, पांच, नौ, तेरह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत्।

९. एवं धूमप्पभाए वि, तमाए वि, अहेसत्तमाए वि।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : बितिओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-२ ॥

[९] इसी प्रकार धूमप्रभा, तमःप्रभा और अधःसप्तमपृथ्वी पर्यन्त समझना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कृष्णलेश्यी नैरयिकों के विषय में—प्रस्तुत प्रकरण में कृष्णलेश्या वाले नैरयिकों के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से उत्पत्ति का कथन किया है। यह लेश्या पांचवीं, छठी और सातवीं नरकपृथ्वी के नैरयिकों में होती है। यहाँ सामान्यदण्डक तथा नरकत्रय-सम्बन्धी तीन दण्डक, यों कुल चार दण्डक होते हैं। इनका उपपात (उत्पाद) प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार है। इनमें असंज्ञी, सरीसृप, पक्षी और सिंह (आदि सभी चतुष्पदों) को छोड़ कर अन्य तिर्यञ्च-पंचेन्द्रिय और गर्भज उत्पन्न होते हैं।[1]

॥ इक्कतीसवाँ शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६४२

(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५०

तइओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म-विशिष्ट नीललेश्यी नैरयिकों सम्बधी प्ररूपणा

१. नीललेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्मा, नवरं उववातो जो वालुयप्पभाए। सेसं तं चेव।

[१ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्म-प्रमाण नीललेश्यी नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यी क्षुद्रकृतयुग्म नैरयिक के समान। किन्तु इनका उपपात बालुकाप्रभापृथ्वी के समान है। शेष पूर्ववत्।

२. वालुयप्पभपुढविनीललेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरइया० ?

एवं चेव।

[२ प्र.] भगवन् ! नीललेश्या वाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण वालुकाप्रभापृथ्वी के नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना।

३. एवं पंकप्पभाए वि, एवं धूमप्पभाए वि।

[३] इसी प्रकार पंकप्रभा और धूमप्रभा वाले क्षुद्रकृतयुग्म नीललेश्यी के विषय में समझना चाहिए।

४. एवं चउसु वि जुम्मेसु, नवरं परिमाणं जाणियव्वं, परिमाणं जहा कण्हलेस्सउद्देसए। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : ततिओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-३ ॥

[४] इसी प्रकार चारों युग्मों के विषय में समझना। परन्तु विशेष यह है कि जिस प्रकार कृष्णलेश्या के उद्देशक में परिमाण बताया है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना। शेष सब पूर्वकथितानुसार जानना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—नीललेश्यी नैरयिक सम्बन्धी—इस तृतीय उद्देशक में नीललेश्या वाले नैरयिकों की प्ररूपणा की गई है। नीललेश्या तृतीय, चतुर्थ और पंचम नरकपृथ्वी में होती है। इसलिए एक सामान्य दण्डक तथा तीन नरक-सम्बन्धी तीन दण्डक, यों चार दण्डक कहे हैं। यहाँ नीललेश्या का प्रकरण है। नीललेश्या वालुकाप्रभा में होती है, इस अपेक्षा से इसमें जिन जीवों की उत्पत्ति होती है, उन्हीं की उत्पत्ति जाननी चाहिए। इसमें असंज्ञी और सरीसृप के सिवाय शेष तिर्यञ्चपंचेन्द्रिय और गर्भज मनुष्य उत्पन्न होते हैं।[1]

॥ इकतीसवाँ शतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५०

चउत्थो उद्देसओ : चतुर्थ उद्देशक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म कपोतलेश्यी नैरयिकों को लेकर विविध प्ररूपणा

१. काउलेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरतिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं जहेव कण्हलेस्सखुड्डागकडजुम्म०, नवरं उववातो जो रयणप्पभाए । सेसं तं चेव ।

[१ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्या वाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमित नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इनका उपपात कृष्णलेश्या वाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण नैरयिकों के समान जानना । विशेष यह है कि इनका उपपात रत्नप्रभा में होता है । शेष पूर्ववत् ।

२. रयणप्पभपुढविकाउलेस्सखुड्डागकडजुम्मनेरतिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं चेव ।

[२ प्र.] भगवन् ! कापोतलेश्या वाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! इस सम्बन्ध में पूर्ववत् जानना ।

३. एवं सक्करप्पभाए वि, एवं वालुयप्पभाए वि ।

[३] इसी प्रकार शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा में भी निरूपण करना चाहिए ।

४. एवं चउसु वि जुम्मेसु, नवरं परिमाणं जाणियव्वं, परिमाणं जहा कण्हलेस्सउद्देसए । सेसं एवं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ इक्कतीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो । ३१-४ ॥

[४] इनमें चारों युग्मों का निरूपण करना चाहिए । किन्तु विशेष यह है कि इन सबका परिमाण जानना चाहिए । परिमाण कृष्णलेश्या वाले उद्देशक के अनुसार कहना चाहिए । शेष सब पूर्ववत् जानना ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—कापोतलेश्या-सम्बन्धी नैरयिकोत्पत्ति—इस चतुर्थ उद्देशक में कापोतलेश्या वाले नैरयिकों की उत्पत्ति का निरूपण है। कापोतलेश्या प्रथम, द्वितीय और तृतीय नरक में होती है। इसलिए एक सामान्यदण्डक और इन तीनों के तीन अन्य दण्डक, यों इस उद्देशक में चार दण्डक है। सामान्यदण्डक में रत्नप्रभापृथ्वी के समान उपपात जानना चाहिए।[1]

॥ इकतीसवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५०

पंचमो उद्देसओ : पंचम उद्देशक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म-भवसिद्धिक नैरयिकों की उपपात-सम्बन्धी विविध प्ररूपणा

१. भवसिद्धीयखुड्डागकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? किं नेरइए० ?

एवं जहेव ओहिओ गमओ तहेव निरवसेसं जाव नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमित भवसिद्धक नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या नैरयिकों से ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! इनका सारा कथन औधिक गमक के समान जानना चाहिए यावत् ये परप्रयोग से उत्पन्न नहीं होते ।

२. रतणप्पभपुढविभवसिद्धीयखुड्डागकडजुम्मनेरतिया णं० ?

एवं चेव निरवसेसं ।

[२ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमित भवसिद्धिक नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! इनका समग्र कथन पूर्ववत् जानना ।

३. एवं जाव अहेसत्तमाए ।

[३] इसी प्रकार यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक कहना चाहिए ।

४. एवं भवसिद्धीयखुड्डातेयोगनेरइया वि, एवं जाव कलियोगो त्ति, नवरं परिमाण जाणियव्वं, परिमाणं पुव्वभणियं जहा पढमुद्देसए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। इक्कतीसइमे सए : पंचमो उद्देसओ समत्तो ।। ३१-५ ।।

[४] इसी प्रकार भवसिद्धिक क्षुद्रत्र्योजराशिप्रमाण नैरयिक के विषय में भी, तथा यावत् ....कल्योज पर्यन्त जानना चाहिए । किन्तु इनका परिमाण जान लेना चाहिए । परिमाण पूर्वकथित प्रथम उद्देशक के अनुसार जानना ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

।। इकतीसवाँ शतक : पंचम उद्देशक समाप्त ।।

छट्ठो उद्देसओ : छठा उद्देशक

कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक नारकों की उपपात-सम्बन्धी प्ररूपणा

१. कण्हलेस्सभवसिद्धीयखुड्डाकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं जहेव ओहिओ कण्हलेस्सउद्देसओ तहेव निरवसेसं। चउसु वि जुम्मेसु भाणियव्वो जाव—

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले भवसिद्धिक क्षुद्रकृतयुग्मप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार औघिक कृष्णलेश्या के उद्देशक में कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ सब कथन करना चाहिए। चारों युग्मों में इसका कथन करना चाहिए।

२. अहेसत्तमपुढविकण्हलेस्सखुड्डाकलियोगनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : छट्ठो उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-६ ॥

[२ प्र.] भगवन् ! अधःसप्तमपृथ्वी के कृष्णलेश्यी क्षुद्रकल्योजराशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] पूर्ववत् कथन करना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : छठा उद्देशक समाप्त ॥

सत्तमो उद्देसओ : सप्तम उद्देशक

१. नीललेस्सभवसिद्धीय० चउसु वि जुम्मेसु तहेव भाणियव्वा जहा ओहियनीललेस्सउद्देसए।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति।

॥ इक्कतीसइमे सए : सत्तमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-७ ॥

[१] नीललेश्या वाले भवसिद्धिक नैरयिक के चारों युग्मों का कथन औघिक नीललेश्या-सम्बन्धी उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : सातवाँ उद्देशक समाप्त ॥

अट्ठमो उद्देसओ : आठवाँ उद्देशक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म-कापोतलेश्यी भवसिद्धिक नैरयिकों की उपपात-सम्बन्धी प्ररूपणा

१. काउलेस्सभवसिद्धीय० चउसु वि जुम्मेसु तहेव उववातेयव्वा जहेव ओहिए काउलेस्सउद्देसए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति ।

॥ इक्कतीसइमे सए : अट्ठमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३१-८ ॥

[१] कापोतलेश्यी भवसिद्धिक नैरयिक के चारों ही युग्मों का कथन औघिक नीललेश्या-सम्बन्धी उद्देशक के अनुसार कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

॥ इकतीसवाँ शतक : आठवाँ उद्देशक समाप्त ॥

नवमाइ-बारसम-पज्जंता उद्देसगा

नौवें से बारहवें उद्देशक तक

भव्यनैरयिकों के समान अभव्यनैरयिकों सम्बन्धी वक्तव्यता

१. जहा भवसिद्धीएहिं चत्तारि उद्देसगा भणिया एवं अभवसिद्धीएहिं वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव काउलेस्सउद्देसओ त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : नवमाइ-बारसम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

[१] जिस प्रकार भवसिद्धिक-सम्बन्धी चार उद्देशक कहे, उसी प्रकार अभवसिद्धिक-सम्बन्धी चारों उद्देशक यावत् कापोतलेश्या-सम्बन्धी उद्देशकों तक कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : नौवें से बारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

तेरसमाइ-सोलसम-पज्जंता उद्देसगा

तेरहवें से सोलहवें उद्देशक पर्यन्त

लेश्यायुक्त सम्यग्दृष्टि नारकों की वक्तव्यता के चार उद्देशक

१. एवं सम्मदिट्ठीहि वि लेस्सासंजुत्तेहिं चत्तारि उद्देसगा कायव्वा, नवरं सम्मद्दिट्ठी पढम-बितिएसु दोसु वि उद्देसएसु अहेसत्तमपुढवीए न उववातेयव्वो। सेसं तं चेव।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : तेरसमाइ-सोलसमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

[१] इसी प्रकार लेश्या सहित सम्यग्दृष्टि के चार उद्देशक कहने चाहिए। विशेष यह है कि सम्यग्दृष्टि का प्रथम और द्वितीय, इन दो उद्देशकों में कथन है।

पहले और दूसरे उद्देशक में अधःसप्तम नरकपृथ्वी तक सम्यग्दृष्टि का उपपात नहीं कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवां शतक : तेरहवें से सोलहवें उद्देशक तक समाप्त ॥

सत्तरसमाइ-वीसइम-पज्जंता उद्देसगा

सत्रहवें से लेकर बीसवें उद्देशक तक

मिथ्यादृष्टि नारक सम्बन्धी चार उद्देशक

१. मिच्छादिट्ठीहि वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहा भवसिद्धीयाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते !०।

॥ इक्कतीसइमे सए : सत्तरसमाइ-वीसइम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

[१] मिथ्यादृष्टि के भी भवसिद्धिकों के समान चार उद्देशक कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : सत्रहवें से बीसवें उद्देशक तक समाप्त ॥

एगवीसमाइ-चउव्वीसइम-पज्जंता उद्देसगा

इक्कीसवें से चौवीसवें उद्देशक-पर्यन्त

कृष्णपाक्षिक नारक-सम्बन्धी

१. एवं कण्हपक्खिएहि वि लेस्सासंजुत्ता चत्तारि उद्देसगा कायव्वा जहेव भवसिद्धीएहिं। सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इक्कतीसइमे सए : एगवीसमाइ-चउव्वीसइमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

[१] इसी प्रकार कृष्णपाक्षिक के लेश्याओं सहित चार उद्देशक भवसिद्धिकों के उद्देशकों के समान कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतीसवाँ शतक : इक्कीसवें से चौवीसवें उद्देशक तक समाप्त ॥

पंचवीसइमाइ-अट्ठावीसइम-पज्जंता उद्देसगा

पच्चीसवें से लेकर अट्ठाईसवें उद्देशक तक

शुक्लपाक्षिक नैरयिक सम्बन्धी चार उद्देशकों का अतिदेश

१. सुक्कपक्खिएहिं एवं चेव चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा जाव—वालुयप्पभपुढविकाउलेस्स-सुक्कपक्खिखुड्डाकलियोगनेरतिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?०

तहेव जाव नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

सव्वे वि एए अट्ठावीसं उद्देसगा ।

।। इक्कतीसइमे सए : पंचवीसइमाइ-अट्ठावीसइम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ।। ३१-२८ ।।

।। इक्कतीसइमे उववायसयं समत्तं ।। ३१ ।।

[१] इसी प्रकार शुक्लपाक्षिक के भी लेश्या-सहित चार उद्देशक कहने चाहिए ।

[प्र.] यावत् भगवन् ! वालुकाप्रभापृथ्वी के कापोतलेश्या वाले शुक्लपाक्षिक क्षुद्रकल्योज-राशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[उ.] गौतम ! पूर्वकथनवत् समझना चाहिए । यावत् वे परप्रयोग से उत्पन्न नहीं होते ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे । ये सब मिला कर अट्ठाईस उद्देशक हुए ।

विवेचन—निष्कर्ष—नौवें से लेकर अट्ठाईसवें उद्देशक तक चार-चार उद्देशकों का सम्मिलित निरूपण किया गया है ।

।। इकतीसवाँ शतक : पच्चीसवें से अट्ठाईसवें उद्देशक तक समाप्त ।।

।। इकतीसवाँ : उपपातशतक सम्पूर्ण ।।

बत्तीसइमं सयं : उव्वट्टणा-सयं

बत्तीसवाँ : उद्वर्त्तना-शतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म-नैरयिकों के उद्वर्त्तन को लेकर विविध प्ररूपणा

१. खुड्डाकडजुम्मनेरइया णं भंते ! अणंतरं उववट्टित्ता कहिं गच्छंति ? कहिं उववज्जंति ? किं नेरइएसु उववज्जंति ? किं तिरिक्खजोणिएसु उवव० ?

उववट्टणा जहा वक्कंतीए ।

[१ प्र.] भगवन् ! क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से उद्वर्तित होकर (निकल— मर कर) तुरन्त कहाँ जाते हैं और कहाँ उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों में उत्पन्न होते हैं या तिर्यञ्चयोनिकों में उत्पन्न होते हैं अथवा मनुष्यों में या देवों में उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इनका उद्वर्त्तन प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिक पद के अनुसार जानना।

२. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उव्वट्टंति ?

गोयमा ! चत्तारि वा, अट्ठ वा, बारस वा, सोलस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, उव्वट्टंति ।

[२ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उद्वर्त्तित होते (मरते) हैं ?

[२ उ.] गौतम ! (वे एक समय में) चार, आठ, बारह, सोलह, संख्यात या असंख्यात उद्वर्त्तित होते हैं ।

३. ते णं भंते ! जीवा कहं उव्वट्टंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए०, एवं तहेव (स० २५ उ० ८ सु० २-८) । एवं सो चेव गमओ जाव आयप्पयोगेणं उव्वट्टंति, नो परप्पयोगेणं उव्वट्टंति ।

[३ प्र.] भगवन् ! वे जीव किस प्रकार उद्वर्त्तित होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कोई कूदने वाला इत्यादि सब कथन पूर्ववत् (श. २५ उ. ८ सू. २-८ के अनुसार) जानना; यावत् वे आत्मप्रयोग से उद्वर्त्तित होते हैं, परप्रयोग से नहीं ।

४. रयणप्पभापुढविखुड्डाकड० ?

एवं रयणप्पभाए वि ।

[४ प्र.] भगवन् ! रत्नप्रभापृथ्वी के क्षुद्र-कृतयुग्म-राशि-प्रमाण नैरयिक, कहाँ से उद्वर्तित होकर तुरन्त कहाँ जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! रत्नप्रभापृथ्वी के नैरयिक की उद्वर्त्तना के समान इनकी उद्वर्त्तना आदि जानना ।

५. एवं जाव अहेसत्तमाए ।

[५] इसी प्रकार (शर्कराप्रभा के नैरयिक से लेकर) यावत् अधःसप्तमपृथ्वी तक उद्वर्त्तना जानना ।

६. एवं खुड्डातेयोग-खुड्डादावरजुम्मखुड्डाकलियोग०, नवरं परिमाणं जाणियव्वं । सेसं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। बत्तीसइमे सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ।। ३१-१ ।।

[६] इस प्रकार क्षुद्रत्र्योज, क्षुद्रद्वापरयुग्म और क्षुद्रकल्योज के विषय में भी जानना चाहिए । परन्तु इनका परिमाण पूर्ववत् अपना-अपना पृथक्-पृथक् कहना चाहिए । शेष सब पूर्ववत् है ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

।। बत्तीसवाँ शतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ।।

बीइयाइ-अट्ठावीसइम-पज्जंता उद्देसगा

द्वितीय से लेकर अट्ठाईसवें उद्देशक तक

चतुर्विध क्षुद्रयुग्म-कृष्णलेश्यी नैरयिकों की उद्वर्त्तना-सम्बन्धी प्ररूपणा

१. कण्हलेस्सखुड्डाकडजुम्मनेरइया० ?

एवं एएणं कमेणं जहेव उववायसए (स० ३१) अट्ठावीसं उद्देसगा भणिया तहेव उव्वट्टणासए वि अट्ठावीसं उद्देसगा भाणियव्वा निरवसेसा, नवरं 'उव्वट्टंति' त्ति अभिलावो भाणियव्वो। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

बत्तीसइमे सए : बीइयाइ-अट्ठावीसइम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ३२-२-२८ ॥

॥ बत्तीसइमं उव्वट्टणासयं समत्तं ॥ ३२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले क्षुद्रकृतयुग्मराशिप्रमाण नैरयिक कहाँ से निकल कर (उद्वर्त्तित होकर) तुरन्त कहाँ जाते हैं, कहाँ उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] इसी प्रकार उपपातशतक के अट्ठाईस उद्देशकों के समान उद्वर्त्तनाशतक के भी अट्ठाईस उद्देशक जानना चाहिए। विशेष यह है कि 'उत्पन्न होते हैं' के स्थान पर 'उद्वर्त्तित होते हैं' कहना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—उत्पत्ति के समान उद्वर्त्तना के अट्ठाईस उद्देशक—इकतीसवें शतक में नारकों की उत्पत्ति की प्ररूपणा की थी, उसी प्रकार यहाँ उनकी उद्वर्त्तना अट्ठाईस उद्देशकों में क्रमशः कहनी चाहिए।[1]

प्रथम उद्देशक में कहा गया है—'**उव्वट्टणा जहा वक्कंतीए।**' प्रज्ञापनासूत्र के व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार नैरयिकों की उद्वर्त्तना कहनी चाहिए। वहाँ संक्षेप में कहा गया है—'**नरगाओ उव्वट्टा गब्भे पज्जत्त-संखजीवीसु**' अर्थात् नरक से निकल कर जीव पर्याप्त संख्यातवर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यञ्च में उत्पन्न होते हैं ?[2]

॥ बत्तीसवाँ शतक : दूसरे से लेकर अट्ठाईसवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ बत्तीसवाँ : उद्वर्त्तनाशतक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) भा. ३, पृ. ११११

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५१

(ख) प्रज्ञापनासूत्र (पण्णवणासुत्तं) भा. १, सू. ६६६-६७. पृ. १७८-७९ (महावीर जैन विद्यालय द्वारा प्रकाशित)

तेत्तीसइमं सयं : बारस एगिंदियसयाणि

तेतीसवाँ शतक : बारह अवान्तर एकेन्द्रियशतक

प्राथमिक

* यह भगवतीसूत्र का तेतीसवाँ शतक है। इसका नाम एकेन्द्रियशतक है। इस शतक के अन्तर्गत बारह अवान्तर शतक हैं।

* इसका एकेन्द्रियशतक नाम रखने का कारण यह है कि इसमें एकेन्द्रियों के समस्त भेद-प्रभेद तथा अनन्तरोपपन्नक-परम्परोपपन्नक, अनन्तरावगाढ-परम्परावगाढ, अनन्तराहारक-परम्पराहारक, अनन्तरपर्याप्तक-परम्परपर्याप्तक, चरम-अचरम इत्यादि विशेषणों से युक्त एकेन्द्रियजीव में कर्मप्रकृतियों की सत्ता, बन्ध, वेदन आदि का विश्लेषण युक्तिपूर्वक किया गया है।

* साथ ही इसके अन्य अवान्तरशतकों में कृष्णलेश्याविशिष्ट, नीललेश्याविशिष्ट, कापोतलेश्या-विशिष्ट, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिकताविशिष्ट तथा भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक भेद-प्रभेद युक्त एकेन्द्रियों की कृष्ण-नीलादिलेश्याविशिष्ट तथा अनन्तरोपपन्नक-परम्परोपपन्नक आदि से युक्त कृष्णलेश्यादिविशिष्ट एकेन्द्रियजीवों की सांगोपांग प्ररूपणा की है।

* इस प्रकार बारह एकेन्द्रिय अवान्तरशतकों में भिन्न-भिन्न पहलुओं से कर्मबन्धादि का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

* यह सारा प्रतिपादन उन लोगों की आँखों को खोल देने वाला है, जो यह मानते हैं कि 'पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति में जीव (आत्मा) नहीं है। ये जड़ हैं। इनमें अव्यक्त चेतना होती है।[1] सभी भावेन्द्रियाँ होती हैं, जिनसे इन्हें सुख-दुःख का वेदन होता है, जिनसे राग-द्वेष कषाय, लेश्या आदि का जत्था बढ़ता जाता है। इन्हें जड़ माना जाए तो इनके कर्मबन्धादि क्यों हों और क्यों ये जन्म-मरण करें? बाहर से अपरिग्रही, अहिंसक, ब्रह्मचारी आदि दिखाई देने वाले एकेन्द्रिय जीवों में वर्तमान युग के विश्लेषण के अनुसार यह सिद्ध हो गया है कि ये परिग्रह, हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य आदि से मुक्त नहीं हैं। इनमें क्रोधादिकषाय, आहारादि-संज्ञा इत्यादि होते हैं। न तो ये सम्यक्त्वी होते हैं और न ही सम्यग्ज्ञान से युक्त या हिंसादि से विरत होते हैं। यही प्ररूपणा शास्त्रकारों ने इस शतक में की है।

□□

---

१. अन्तःप्रज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः, शारीरजैः कर्मदोषैः यान्ति स्थावरतां नराः। —मनुस्मृति।

तेत्तीसइमं सयं : बारस एगिंदियसयाणि

तेतीसवाँ शतक : बारह एकेन्द्रियशतक

पढमे एगिंदियसए : पढमो उद्देसओ

प्रथम एकेन्द्रियशतक : प्रथम उद्देशक

एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेदों का निरूपण

१. कतिविधा णं भंते ! एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पन्नत्ता, तंजहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया।

[१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक।

२. पुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता तं जहा—सुहुमपुढविकायिया य, बायरपुढविकाइया य।

[२ प्र.] भगवन् ! पृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं, यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादरपृथ्वीकायिक।

३. सुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पज्जत्ता सुहुमपुढविकाइया य, अपज्जत्ता सुहुमपुढविकाइया य।

[३ प्र.] भगवन् ! सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं। यथा—पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक।

४. बायरपुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

एवं चेव।

[४ प्र.] भगवन् ! बादरपृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[४ उ.] गौतम ! वे भी पूर्ववत् दो प्रकार के हैं।

५. एवं आउकाइया वि चउक्कएणं भेएणं णेतव्वा।

[५] इसी प्रकार अप्कायिक जीवों के चार भेद जानने चाहिए।

६. एवं जाव वणस्सतिकाइया।

[६] इसी प्रकार यावत् वनस्पतिकायिक जीव-पर्यन्त जानना।

विवेचन—एकेन्द्रिय जीवों का परिवार—प्रस्तुत ६ सूत्रों (१ से ६ तक) में एकेन्द्रिय जीवों के मुख्य ५ भेद बताकर, फिर पृथ्वीकायिक आदि पांचों के प्रत्येक के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार-चार भेद बताए हैं। इस प्रकार पांचों प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों के कुल ५×४=२० भेद हुए।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति, इन पांचों एकेन्द्रिय जीवों में जीवत्व (आत्मा) की सिद्धि आगम, वृत्ति एवं जीवविज्ञान से सिद्ध है।

एकेन्द्रिय जीवों की कर्मप्रकृतियाँ, उनके बन्ध और वेदन का निरूपण

७. अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयाणं भंते! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ?

गोयमा! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[७ प्र.] भगवन्! अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितने कर्मप्रकृतियाँ कही हैं?

[७ उ.] गौतम! उनके आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म।

८. पज्जत्तासुहुमपुढविकाइयाणं भंते! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ?

गोयमा! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं।

[८ प्र.] भगवन्! पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं?

[८ उ.] गौतम! उनके आठ कर्म-प्रकृतियाँ कही हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म।

९. अपज्जत्ताबायरपुढविकायियाणं भंते! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ?

एवं चेव।

[९ प्र.] भगवन्! अपर्याप्तबादरपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं?

[९ उ.] गौतम! उनके भी पूर्ववत् आठ कर्मप्रकृतियाँ हैं।

१०. पज्जत्ताबायरपुढविकायियाणं भंते! कति कम्मप्पगडीओ० ?

एवं चेव।

[१० प्र.] भगवन्! पर्याप्तबादरपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं?

[१० उ.] गौतम! उनके भी पूर्ववत् आठ कर्मप्रकृतियाँ हैं।

११. एवं एएणं कमेणं जाव बायरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ति।

[११] इसी प्रकार इसी क्रम से (अपर्याप्तसूक्ष्मअप्कायिक से लेकर) यावत् पर्याप्तबादर वनस्पतिकायिक जीवों की कर्मप्रकृतियों का कथन करना चाहिए।

१२. अपज्जत्तासुहुमपुढविकायिया णं भंते! कति कम्मप्पगडीओ बंधंति?

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि, अट्ठविहबंधगा वि। सत्त बंधमाणा आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ बंधंति। अट्ठ बंधमाणा पडिपुण्णाओ अट्ठ कम्मप्पगडीओ बंधंति।

[१२ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१२ उ.] गौतम ! वे सात कर्मप्रकृतियाँ भी बांधते हैं और आठ भी बांधते हैं। सात बांधते हुए आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं तथा आठ बांधते हुए सम्पूर्ण आठ कर्म-प्रकृतियाँ बांधते हैं।

१३. पज्जत्तासुहुमपुढविकायिया णं भंते ! कति कम्म० ?

एवं चेव।

[१३ प्र.] भगवन् ! पर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! (ये भी) पूर्ववत् (सात या आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं।)

१४. एवं सव्वे जाव—पज्जत्ताबायरवणस्सतिकायिया णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ बंधंति ?

एवं चेव।

[१४ प्र.] भगवन् ! इसी प्रकार शेष सभी (भेद-प्रभेद सहित एकेन्द्रिय जीव) यावत्—पर्याप्त-बादरवनस्पतिकायिक जीव-पर्यन्त कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[१४ उ.] गौतम ! (ये सभी यावत् पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिक-पर्यन्त) पूर्ववत् (सात या आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं।)

१५. अपज्जत्तासुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ वेदेंति ?

गोयमा ! चोद्दस कम्मप्पगडीओ वेदेंति, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं, सोतिंदियवज्झं चक्खिदियवज्झं घाणिंदियवज्झं जिब्भिदियवज्झं इत्थिवेदवज्झं पुरिसवेदवज्झं।

[१५ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियों को वेदन करते (भोगते) हैं।

[१५ उ.] गौतम ! वे चौदह कर्मप्रकृतियाँ वेदते (भोगते) हैं। यथा—(१-८) ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म, (९) श्रोत्रेन्द्रियवध्य (श्रोत्रेन्द्रियावरण), (१०) चक्षुरिन्द्रियावरण, (११) घ्राणेन्द्रियावरण, (१२) जिह्वेन्द्रियावरण, (१३) स्त्रीवेदावरण और (१४) पुरुषवेदावरण।

१६. एवं चउक्कएणं भेएणं जाव—पज्जत्ताबायरवणस्सतिकाइया णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ वेदेंति ?

एवं चेव चोद्दस।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेत्तीसइमे सए : पढमे एगिंदियसए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३३-१। १ ॥

[१६ प्र.] इसी प्रकार (सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त) इन चारों भेदों सहित, यावत्—हे भगवन् ! पर्याप्तबादरवनस्पतिकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ वेदते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! पूर्ववत् चौदह कर्मप्रकृतियाँ वेदते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन--एकेन्द्रिय में कर्मप्रकृतियों की सत्ता, बन्ध और वेदन—सभी प्रकार के एकेन्द्रिय जीवों में आठ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। वे सात या आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं तथा चौदह कर्मप्रकृतियाँ वेदते (भोगते) हैं। १४ में से ८ तो मूल कर्मप्रकृतियाँ हैं, ६ उत्तरप्रकृतियाँ हैं। चार इन्द्रियों के क्रमशः आवरण तथा स्त्रीवेदावरण एवं पुरुषवेदावरण। श्रोत्रेन्द्रियावरण आदि ४ मतिज्ञानावरणीय के प्रकार हैं तथा स्त्रीवेदावरण एवं पुरुषवेदावरण मोहनीयकर्म के प्रकार हैं।

चौदह कर्मप्रकृतियों का वेदन क्यों और कैसे ?—समस्त प्रकार के एकेन्द्रिय जीव १४ कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं, उनमें से आठ तो प्रसिद्ध हैं। शेष ६ उनके विशेषभूत हैं। आशय यह है कि एकेन्द्रिय जीवों को सिर्फ स्पर्शेन्द्रिय और नपुंसकवेद प्राप्त होता है, उनको शेष चार इन्द्रियाँ उपलब्ध नहीं होतीं, उनका ज्ञान भी आवृत रहता है तथा स्त्रीवेद और पुरुषवेद भी उन्हें प्राप्त नहीं होते।

सोइंदियवज्झं आदि का विशेषार्थ—जिसका श्रोत्रेन्द्रिय वध्य—हननीय हो, वह श्रोत्रेन्द्रियवध्य है, इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के साथ तथा वेद के साथ **'वध्य'** शब्द लगा है, उसका भावार्थ है—श्रोत्रेन्द्रिय आदि मतिज्ञान विशेष आवृत होते हैं, उन्हें प्राप्त नहीं।[1]

तेतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) श्रीमद्भगवतीसूत्रम्, खण्ड ४ (गुजराती अनुवाद) पृ. ३१८
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५४

पढमे एगिंदियसए : बीओ उद्देसओ

प्रथम एकेन्द्रिय शतक : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय के भेद-प्रभेद, उनमें कर्मप्रकृतियाँ, उनके बन्ध और वेदन का निरूपण

१. कतिविधा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सइकाइया ।

[१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक (तत्कालोत्पन्न) एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक ।

२. अणंतरोववन्नगा णं भंते ! पुढविकाइया कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइयिया य बादरपुढविकायिया य ।

[२ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक पृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं । यथा—सूक्ष्म अ० पृथ्वीकायिक और बादर-अ० पृथ्वीकायिक ।

३. एवं दुपएणं भेएणं जाव वणस्सतिकाइया ।

[३] इसी प्रकार (प्रत्येक एकेन्द्रिय के) दो-दो भेद—यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त समझना ।

४. अणंतरोववन्नगसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[४ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नकसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही गई हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उनके आठ कर्मप्रकृतियाँ कही गई हैं । यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तरायकर्म ।

५. अणंतरोववन्नगबादरपुढविकायियाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पयडीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं ।

[५ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपन्नकबादरपृथ्वीकायिक के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही गई हैं ?

[५ उ.] गौतम ! उनके आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय-कर्म।

६. एवं जाव अणंतरोववन्नगबादरवणस्सइकाययियाणं ति।

[६] इसी प्रकार यावत् अनन्तरोपपन्नकबादरवनस्पतिकायिक-पर्यन्त जानना।

७. अणंतरोववन्नगसुहुमपुढविकाययिया णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! आउयवज्जाओ सत्त कम्मप्पगडीओ बंधंति।

[७ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नकसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! वे आयुकर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं।

८. एवं जाव अणंतरोववन्नगबायरवणस्सइकायिय त्ति।

[८] इसी प्रकार यावत् अनन्तरोपपन्नकबादरवनस्पतिकायिक पर्यन्त जानना।

९. अणंतरोववन्नगसुहुमपुढविकाययिया णं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ वेदेंति ?

गोयमा ! चोद्दस कम्मप्पगडीओ वेदेंति, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव पुरिसवेदवज्झं।

[९ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नकसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ वेदते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! वे (पूर्वोक्त) चौदह कर्मप्रकृतियाँ वेदते हैं। यथा—पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानावरणीय यावत् पुरुषवेदवध्य (पुरुषवेदावरण) वेदते हैं।

१०. एवं जाव अणंतरोववन्नगबायरवणस्सतिकाइय त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेत्तीसइमे सए : पढमे एगिंदियसए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३३। १। २॥

[१०] इसी प्रकार यावत् अनन्तरोपपन्नकबादरवनस्पतिकायिक-पर्यन्त कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में यत्किंचित्—प्रस्तुत उद्देशक में अनन्तरोपपन्नक जीवों के पांच भेद तथा उनके प्रत्येक के सूक्ष्म और बादर ये दो भेद करके उनमें कर्मप्रकृतियों तथा उनके बन्ध और वेदन का निरूपण किया गया है। प्रथम उद्देशक से इस द्वितीय उद्देशक में यही अन्तर है कि वहाँ सामान्य एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में निरूपण है, जबकि इसमें अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीवों का है। प्रथम उद्देशक में पृथ्वीकायिकादि एकेन्द्रिय के प्रत्येक के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त, यों चार-चार भेद किये हैं, जबकि यहाँ अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय में पर्याप्त और अपर्याप्त का अभाव होने से सिर्फ दो भेद किये हैं। ये सभी अपर्याप्त ही होते हैं। कर्मबन्ध आयुष्य को छोड़ कर सात प्रकृतियों का होता है। शेष सब प्ररूपण पूर्ववत् ही है।[१]

॥ तेतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक : द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५४

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६६५

पढमे एगिंदियसए : तइओ उद्देसओ

प्रथम एकेन्द्रियशतक : तृतीय उद्देशक

परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद, उनमें कर्मप्रकृतियाँ, उनका बंध और वेदन

१. कतिविधा णं भंते ! परंपरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा एगिंदिया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया० । एवं चउक्कओ भेदो जहा ओहिउद्देसए ।

[१ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे गए हैं । *यथा*—पृथ्वीकायिक इत्यादि । इसी प्रकार औघिक उद्देशक के चार-चार भेद कहने चाहिए ।

२. परंपरोववन्नगअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एतेणं अभिलावेणं जहा ओहिउद्देसए तहेव निरवसेसं भाणियव्वं जाव चोद्दस वेदेंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। तेतीसइमे सए : पढमे एगिंदियसए : ततिओ उद्देसओ समत्तो ।। ३३-१-३ ।।

[२ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक अपर्याप्तसूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्म-प्रकृतियाँ कही गई हैं ?

[२ उ.] गौतम ! इस अभिलाप से औघिक (प्रथम) उद्देशक के अनुसार यावत् चौदह कर्म-प्रकृतियाँ वेदते हैं; (यहाँ तक) समग्र पाठ पूर्ववत् (इसी प्रकार) कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन---प्रथम उद्देशक का अतिदेश—इस परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय उद्देशक में समग्र वक्तव्यता प्रथम (औघिक) उद्देशक के अनुसार प्रतिपादित की गई है । तत्काल उत्पन्न हुए जीव को 'अनन्तरोपपन्नक' और जिसको उत्पन्न हुए दो-तीन आदि समय हो चुके हैं, उसे परम्परोपपन्नक कहते हैं । परम्परोपपन्नक में पृथ्वीकायिक आदि प्रत्येक एकेन्द्रिय जीव के प्रथम उद्देशक में कहे अनुसार चार-चार भेद होते हैं ।[1]

।। तेतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक : तृतीय उद्देशक सम्पूर्ण ।।

---

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. ३ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) पृ. ११११६-१११७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६६५

पढमे एगिंदियसए : चउत्थाइ- एक्कारस पज्जंता उद्देसगा

प्रथम एकेन्द्रियशतक : चौथे से लेकर ग्यारहवें उद्देशकपर्यन्त

१. अणंतरोगाढा जहा अणंतरोववन्नगा ।। ३३-१-४ ।।

[१] अनन्तरावगाढ एकेन्द्रिय के सम्बन्ध में अनन्तरोपपन्नक उद्देशक के समान कहना चाहिए ।।३३।१।४।।

२. परंपरोगाढा जहा परंपरोववन्नगा ।। ३३-१-५ ।।

[२] परम्परावगाढ एकेन्द्रिय का कथन परम्परोपपन्नक उद्देशक के समान जानना चाहिए ।। ३३।१।५।।

३. अणंतराहारगा जहा अणंतरोववन्नगा ।। ३३-१-६ ।।

[३] अनन्तराहारक एकेन्द्रिय का कथन अनन्तरोपपन्नक उद्देशक के अनुसार जानना ।।३३।१।६।।

४. परंपराहारगा जहा परंपरोववन्नगा ।। ३३-१-७ ।।

[४] परम्पराहारक एकेन्द्रिय का कथन परम्परोपपन्नक उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए ।।३३।१।७।।

५. अणंतरपज्जत्तगा जहा अणंतरोववन्नगा ।। ३३-१-८ ।।

[५] अनन्तरपर्याप्तक एकेन्द्रिय की वक्तव्यता अनन्तरोपपन्नक के समान जाननी चाहिए ।।३३।१।८।।

६. परंपरपज्जत्तगा जहा परंपरोववन्नगा ।। ३३-१-९ ।।

[६] परम्परपर्याप्तक एकेन्द्रिय की वक्तव्यता परम्परोपपन्नक के समान जाननी चाहिए ।।३३।१।९।।

७. चरिमा वि जहा परंपरोववन्नगा ।। ३३-१-१० ।।

[७] चरम एकेन्द्रिय का कथन परम्परोपपन्नक उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए ।।३३।१।१०।।

८. एवं अचरिमा वि एवं एते एक्कारस उद्देसगा ।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरति ।। ३३-१-११ ।।

।। तेतीसइमे सए : चउत्थाइ-एगारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ।।

।। तेतीसइमे सए : पढमं एगिंदियसयं समत्तं ।। ३३-१ ।।

[८] इसी प्रकार अचरम एकेन्द्रिय-सम्बन्धी वक्तव्यता भी जान लेनी चाहिए।

ये सभी ग्यारह उद्देशक हुए ॥३३।१-११॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—अतिदेशपूर्वक आठ उद्देशक—चतुर्थ उद्देशक से लेकर ग्यारहवें उद्देशक तक आठ उद्देशकों में प्रतिपाद्य विषय का अतिदेश चौथे से नौवें उद्देशक तक अनन्तरविशिष्ट एकेन्द्रिय का अनन्तरोपपन्नक उद्देशक के अनुसार और परम्परविशिष्ट एकेन्द्रिय का परम्परोपपन्नक उद्देशक के अनुसार तथा चरम और अचरम एकेन्द्रिय का अतिदेश परम्परोपपन्नक उद्देशक के अनुसार किया गया है।[1]

॥ तेतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक : चौथे से ग्यारहवें तक के उद्देशक सम्पूर्ण ॥

तेतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक समाप्त ॥

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), भा. ३., पृ. ११३७-११३८

बिईए एगिंदियसए : पढमे उद्देसओ

द्वितीय एकेन्द्रियशतक : प्रथम उद्देशक

कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय-भेद-प्रभेद उनकी कर्मप्रकृतियाँ, उनके बंध और वेदन की प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया।

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्या वाले एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त ।

२. कण्हलेस्सा णं भंते ! पुढविकाइया कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया य बादरपुढविकाइया य ।

[२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले पृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे गए हैं। यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादरपृथ्वीकायिक ।

३. कण्हलेस्सा णं भंते ! सुहुमपुढविकायिया कतिविहा पन्नत्ता ?

एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कओ भेदो जहेव ओहिउद्देसए ।

[३ प्र.] भगवन् ! (कृष्णलेश्यी) सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार औघिक उद्देशक में प्रत्येक एकेन्द्रिय के चार-चार भेद कहे हैं उसी अभिलाप (पाठ) के अनुसार यहाँ भी पूर्ववत् प्रत्येक एकेन्द्रिय के चार-चार भेद कहने चाहिए ।

४. कण्हलेस्सअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिउद्देसए तहेव पन्नत्ताओ ।

[४ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी अपर्याप्तक सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[४ उ.] गौतम ! औघिक उद्देशक के अनुसार इसी अभिलाप (पाठ) से कर्मप्रकृतियाँ कहनी चाहिए ।

५. तहेव बंधंति ।

[५] उसी प्रकार वे (कर्मप्रकृतियाँ) बांधते हैं ।

६. तहेव वेदेंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेतीसइमे सए : विइए एगिंदिय-सए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३३।२।१ ॥

[६] उसी प्रकार वे (कर्मप्रकृतियाँ) वेदते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय के लिए औघिक उद्देशक का अतिदेश—प्रस्तुत प्रकरण में कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद, उनमें पाई जाने वाली कर्मप्रकृतियाँ तथा उनके बन्ध और वेदन के समग्र कथन का प्रथम अवान्तरशतक के प्रथम (औघिक) उद्देशक के अनुसार अतिदेश किया गया है।[1]

॥ तेतीसवाँ शतक : दूसरा अवान्तर एकेन्द्रियशतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं, भा. ३, पृ. ११११

बिइए एगिंदियसए : बिईओ उद्देसओ

द्वितीय एकेन्द्रियशतक : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय भेद-प्रभेद, उनकी कर्म प्रकृतियाँ, बंध तथा वेदन की प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा कण्हलेस्सा एगिंदिया० । एवं एएणं अभिलावेणं तहेव दुपओ भेदो जाव वणस्सतिकाइय त्ति ।

[१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नककृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नककृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीव (पूर्ववत्) पांच प्रकार के कहे हैं। इस अभिलाप से (अ. कृ. एके. पृथ्वीकायिक से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त (पूर्ववत् प्रत्येक के) दो-दो भेद होते हैं।

२. अणंतरोववन्नगकण्हलेस्ससुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहिओ अणंतरोववन्नगाणं उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। तेतीसइमे सए : बिइए एगिंदियसए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ।।३३-२-२ ।।

[२ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्म-प्रकृतियाँ कही हैं ?

[२ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त अभिलाप से औधिक अनन्तरोपपन्नक के अनुसार यावत्—'वेदते हैं', यहाँ तक समग्र कथन कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—औधिक अनन्तरोपपन्नक उद्देशक के अनुसार—यहाँ कृष्णलेश्याविशिष्ट अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय के मूल पांच भेद तथा आठ कर्मप्रकृतियाँ, बन्ध तथा वेदन का निरूपण किया गया है। अन्तर केवल इतना ही है कि यहाँ पृथ्वीकायिक आदि पांचों के चार भेद के बदले केवल दो भेद ही होते हैं—सूक्ष्म और बादर।

।। तेतीसवाँ शतक : द्वितीय एकेन्द्रियशतक : द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ।।

बिइए एगिंदियसए : तइओ उद्देसओ

द्वितीय एकेन्द्रिय-शतक : तृतीय उद्देशक

परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यी एकेन्द्रियजीवों के भेद-प्रभेद, कर्मप्रकृतियाँ, बंध और वेदन की प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! परंपरोववन्नगा कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा० एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा— पुढविकाइया०, एवं एएणं अभिलावेणं चउक्कओ भेदो जाव वणस्सतिकाइय त्ति।

[१ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे हैं। यथा— पृथ्वीकायिक इत्यादि। इस प्रकार इसी अभिलाप से (पृथ्वीकायादि प्रत्येक के) यावत् वनस्पति-कायिक-पर्यन्त चार-चार भेद कहने चाहिए।

२. परंपरोववन्नगकण्हलेस्सअपज्जत्तसुहुमपुविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ परंपरोववन्नगउद्देसओ तहेव जाव वेदेंति।

॥ तेतीसइमे सए : बिइए एगिंदियसए : तइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३३-२-३ ॥

[२ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यी अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[२ उ.] गौतम ! औधिक परम्परोपपन्नक उद्देशक के अनुसार (कर्मप्रकृतियों से लेकर) यावत् 'वेदते हैं' तक समग्र कथन कहना चाहिए।

विवेचन—निष्कर्ष—कृष्णलेश्याविशिष्ट परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद, कर्मप्रकृतियाँ, बन्ध और वेदन का समग्र कथन औधिक परम्परोपपन्नक के समान है।

॥ तेतीसवां शतक : द्वितीय एकेन्द्रियशतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ॥

बिइए एगिंदियसए : चउत्थाइ-एक्कारसम-पज्जंता उद्देसगा

द्वितीय एकेन्द्रियशतक : चौथे से ग्यारहवें उद्देशक-पर्यन्त

परम्परोपपन्नक कृष्ण. एके. के चौथे से ग्यारहवें शतक तक की वक्तव्यता

१. एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिए एगिंदियसए एक्कारस उद्देसगा भणिया तहेव कण्हलेस्ससते वि भाणियव्वा जाव अचरिमकण्हलेस्सा एगिंदिया।

॥ तेत्तीसइमे सए : बिइए एगिंदियसए : चउत्थाइ-एक्कारसम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

[१] औधिक एकेन्द्रियशतक में जिस प्रकार ग्यारह उद्देशक कहे, उसी प्रकार इस अभिलाप से यावत् अचरम और चरम कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय पर्यन्त कृष्णलेश्यीशतक में भी कहने चाहिए।

॥ तेतीसवाँ शतक : द्वितीय एकेन्द्रियशतक : चौथे से ग्यारहवें पर्यन्त उद्देशक समाप्त ॥

तइए एगिंदियसए पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

तृतीय एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें पर्यन्त उद्देशक

द्वितीय एकेन्द्रियशतकानुसार तृतीय नीललेश्यी एकेन्द्रियशतक-वक्तव्यता

१. जहा कण्हलेस्सेहिं एवं नीललेस्सेहि वि सयं भाणितव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ तेत्तीसइमे : ततिए एगिंदियसए पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

॥ तेतीसइमे सए : ततियं एगिंदियसयं समत्तं ॥ ३३-३ ॥

[१] जैसे कृष्णलेश्यी एकेन्द्रियविषयक शतक कहा, वैसे ही नीललेश्यी एकेन्द्रिय जीवों के विषय में भी समग्र शतक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ तेतीसवाँ शतक : तृतीय एकेन्द्रिय शतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक-पर्यन्त समाप्त ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : तृतीय एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ॥ ३३-३ ॥

चउत्थे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

चतुर्थ एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें पर्यन्त उद्देशक

द्वितीय एकेन्द्रियशतकानुसार कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. एवं काउलेस्सेहि वि सयं भाणितव्वं, नवरं 'काउलेस्स' त्ति अभिलावो।

॥ चउत्थे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ४-१-११ ॥

॥ तेत्तीसइमे सए : चउत्थं एगिंदियसयं समत्तं ॥ ३३-४ ॥

[१] कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय के विषय में भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) शतक कहना चाहिए, किन्तु **'कापोतलेश्या'**, ऐसा पाठ कहना चाहिए।

॥ तेतीसवाँ शतक : चतुर्थ एकेन्द्रिय शतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त सम्पूर्ण ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : चतुर्थ एकेन्द्रियशतक समाप्त ॥ ३३।४ ॥

पंचमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

पांचवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

प्रथम एकेन्द्रियशतकानुसार भवसिद्धिक-एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. कतिविहा णं भंते ! भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया। भेदो चउक्कओ जाव वणस्सतिकाइय त्ति।

[१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! भवसिद्धिक एकेन्द्रिय पांच प्रकार के कहे हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक। इनके चार-चार भेद (आदि समस्त वक्तव्यता) यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त पूर्ववत् कहनी चाहिए।

२. भवसिद्धीयअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ?

एवं एतेणं अभिलावेणं जहेव पढमिल्लं एगिंदियसयं तहेव भवसिद्धीयसयं पि भाणियव्वं। उद्देसगपरिवाडी तहेव जाव अचरिम त्ति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ५।१-११ ॥

॥ तेतीसइमे सए : पंचमं एगिंदियसयं समत्तं ॥ ३३-५ ॥

[२ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[२ उ.] गौतम ! प्रथम एकेन्द्रियशतक के समान भवसिद्धिकशतक भी कहना चाहिए। उद्देशकों की परिपाटी भी उसी प्रकार (पूर्ववत्) यावत् अचरम उद्देशक पर्यन्त कहनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ पांचवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त सम्पूर्ण ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : पंचम एकेन्द्रियशतक समाप्त ॥

छट्ठे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

छठा एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें पर्यन्त उद्देशक

प्रथम एकेन्द्रियशतकानुसार कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक-एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. कतिविहा णं भंते ! कण्हलेस्सा भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता, पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया ।

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यावान् भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक ।

२. कण्हलेस्सभवसिद्धीयपुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पण्णत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया य, बायरपुढविकाइया य ।

[२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक पृथ्वीकायिक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं । यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादर-पृथ्वीकायिक ।

३. कण्हलेस्सभवसिद्धीयसुहुमपुढविकायिया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—पज्जत्तगा य अपज्जत्तगा य ।

[३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक सूक्ष्मपृथ्वीकायिक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं । यथा—पर्याप्तक और अपर्याप्तक ।

४. एवं बायरा वि ।

[४] इसी प्रकार बादरपृथ्वीकायिकों के भी दो भेद हैं ।

५. एवं एतेणं अभिलावेणं तहेव चउक्कओ भेदो भाणियव्वो ।

[५] इसी अभिलाप से उसी प्रकार प्रत्येक के चार-चार भेद कहने चाहिए ।

६. कण्हलेस्सभवसिद्धीयअपज्जत्तासुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिउद्देसए तहेव जाव वेदेंति त्ति ।

[६ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियां कही हैं ?

[६ उ.] गौतम ! इसी अभिलाप से औघिक उद्देशक के समान 'वेदते हैं,' यहाँ तक कहना चाहिए।

७. कतिविधा णं भंते अणंतरोववन्नगा कण्हलेस्सा भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा जाव वणस्सतिकाइया।

[७ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[७ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय पाँच प्रकार के कहे हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक।

८. अणंतरोववन्नगकण्हलेस्सभवसिद्धीयपुढविकाइया णं भंते ! कतिविहा पन्नत्ता ?

गोयमा ! दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—सुहुमपुढविकाइया य, बायरपुढविकाइया य।

[८ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक पृथ्वीकायिक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[८ उ.] गौतम ! वे दो प्रकार के कहे हैं। यथा—सूक्ष्मपृथ्वीकायिक और बादर-पृथ्वीकायिक।

९. एवं दुपओ भेदो।

[९] इसी प्रकार अप्कायिक आदि के भी दो-दो भेद कहने चाहिए।

१०. अणंतरोववन्नगकण्हलेस्सभवसिद्धीयसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मपगडीओ पन्नत्ताओ ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ अणंतरोववन्नो उद्देसओ तहेव जाव वेदेंति।

[१० प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक सूक्ष्मपृथ्वीकायिकों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[१० उ.] गौतम ! यहाँ भी इसी अभिलाप से अनन्तरोपपन्नक के औघिक उद्देशक के अनुसार, यावत् 'वेदते हैं' यहाँ तक कहना चाहिए।

११. एवं एतेणं अभिलावेणं एक्कारस वि उद्देसगा तहेव भाणियव्वा जहा ओहियसए जाव अचरिमो त्ति।

॥ छट्ठे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ६।१-११ ॥

॥ तेत्तीसइमे सए : छट्ठं एगिंदियसतं समत्तं ॥ ३३-६ ॥

[११] इसी प्रकार इसी अभिलाप से, औघिक शतक के अनुसार, पूर्ववत् ग्यारह ही उद्देशक यावत् 'अचरमउद्देशक' पर्यन्त कहने चाहिए।

॥ छठा एकेन्द्रियशतक : एक से लेकर ग्यारह उद्देशक-पर्यन्त समाप्त ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : छठा एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ॥

सत्तमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

सप्तम एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

छठे एकेन्द्रियशतकानुसार नीललेश्यी-भवसिद्धिक-एकेन्द्रिय-कथन-निर्देश

१. जहा कण्हलेस्सभवसिद्धीए सयं भणियं एवं नीललेस्सभवसिद्धीएहि वि सयं भाणियव्वं।

।। सत्तमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ।। ७।१-११ ।।

।। तेत्तीसइमे सए : सत्तमं एगिंदियसतं समत्तं ।। ३३-७ ।।

[१] जिस प्रकार कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों का शतक कहा, उसी प्रकार नीललेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों का शतक भी कहना चाहिए।

।। सप्तम एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक समाप्त ।।

।। तेतीसवाँ शतक : सप्तम एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ।।

अट्ठमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

आठवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक-पर्यन्त

छठे एकेन्द्रिय-शतकानुसार : कापोतलेश्यी-भवसिद्धिक-एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. एवं काउलेस्सभवसिद्धीएहि वि सयं।

॥ अट्ठमे एगिंदियसए : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ८।१-११ ॥

॥ तेत्तीसइमेसए : अट्ठमं एगिंदियसयं समत्तं ॥ ३३-८ ॥

[१] कापोतलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों का शतक भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) कहना चाहिए।

॥ आठवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : अष्टम एकेन्द्रियशतक समाप्त ॥

नवमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा

नौवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक तक

पंचम एकेन्द्रियशतक के नौ उद्देशकानुसार : अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. कतिविधा णं भंते ! अभवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता ? गोयमा !

पंचविहा अभवसिद्धीया० पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकायिया ।

[१ प्र.] भगवन् ! अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय पांच प्रकार के कहे गए हैं । यथा—पृथ्वीकायिक (से लेकर) यावत् वनस्पतिकायिक ।

२. एवं जहेव भवसिद्धीयसयं, नवरं नव उद्देसगा, चरिम-अचरिमउद्देसकवज्जं । सेसं तहेव ।

।। नवमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ।। ९।१-११ ।।

।। तेतीसइमे सए : नवमं एगिंदियसयं समत्तं ।। ३३-९ ।।

[२] जिस प्रकार भवसिद्धिकशतक कहा, उसी प्रकार अभवसिद्धिकशतक भी कहना चाहिए; किन्तु 'चरम' और 'अचरम' इन दो उद्देशकों को छोड़ कर (इनके) शेष नौ उद्देशक कहने चाहिए । शेष सब पूर्ववत् है ।

।। नवम एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक-पर्यन्त समाप्त ।।

।। तेतीसवाँ शतक : नौवाँ एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ।।

दसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा

दसवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक-पर्यन्त

छठे एकेन्द्रियशतकानुसार : कृष्णलेश्यी-अभवसिद्धिक-एकेन्द्रिय-वक्तव्यता-निर्देश

१. एवं कण्हलेस्सअभवसिद्धीयसयं पि।

॥ दसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ १०।१-९ ॥

॥ तेतीसइमे सए : दसमं एगिंदियसयं समत्तं ॥ ३३-१० ॥

[१] इसी प्रकार (पूर्ववत्) कृष्णलेश्यी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय का शतक भी कहना चाहिए।

॥ दसवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : दसवाँ एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ॥

एक्कारसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा

ग्यारहवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें पर्यन्त उद्देशक

सप्तम एकेन्द्रियशतकानुसार : नीललेश्यी-अभवसिद्धिक-एकेन्द्रियशतक-निर्देश

१. नीललेस्सअभवसिद्धीयएगिंदिएहि वि सयं।

।। तेतीसइमे सए : एक्कारसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ।। ३३।११।१-९ ।।

[१] इसी प्रकार नीललेश्यी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय का शतक भी जानना चाहिए।

।। ग्यारहवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक तक समाप्त ।।

।। तेतीसवाँ शतक : ग्यारहवाँ एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ।।

बारसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा

बारहवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक-पर्यन्त

अष्टम एकेन्द्रियशतकानुसार कापोतलेश्यी अभवसिद्धिक-एकेन्द्रियशतक-निर्देश

१. काउलेस्सअभवसिद्धीएहि वि सयं।

[१] कापोतलेश्यी अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय का शतक भी इसी प्रकार कहना चाहिए।

२. एवं चत्तारि [९—१२] वि अभवसिद्धीयसताणि, नव नव उद्देसगा भवंति।

[२] इस प्रकार (नौवें से बारहवें तक) चार अभवसिद्धिक (अवान्तर-) शतक हैं। इनमें से प्रत्येक के नौ-नौ उद्देशक हैं।

३. एवं एयाणि बारस एगिंदियसयाणि भवंति।

॥ तेतीसइमे सए : बारसमे एगिंदियसए : पढमाइ-नवम-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ३३।१२।१-९ ॥

[३] इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों के (कुल मिला कर) ये बारह शतक होते हैं।

॥ बारहवाँ एकेन्द्रियशतक : पहले से नौवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ तेतीसवाँ शतक : बारहवाँ एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ॥

॥ तेतीसवाँ शतक समाप्त ॥

चोत्तीसइमं सयं : बारस एगिंदिय-सेढि-सयाइं

चौतीसवाँ शतक : बारह एकेन्द्रिय-श्रेणीशतक

प्राथमिक

※ यह भगवतीसूत्र का चौतीसवाँ श्रेणीशतक या एकेन्द्रिय श्रेणीशतक है। इसके भी पूर्व शतक के समान बारह अवान्तर शतक हैं।

※ इस शतक में एकेन्द्रियजीव से ही सम्बन्धित चर्चा की गई है, किन्तु पृथ्वीकायिक (भेद-प्रभेद सहित) से लेकर वनस्पतिकायिक तक के समस्त एकेन्द्रिय जीवों का जब मरण होता है तब उन्हें जिस गति-योनि में जाना होता है, वहाँ वे एक समय की विग्रहगति से जाते हैं अथवा दो, तीन या चार समय की विग्रहगति से ? इत्यादि चर्चा मुख्य रूप से पूर्वशतक में उक्त विभिन्न विशेषणों से युक्त एकेन्द्रिय को लेकर की गई है। साथ ही एक, दो, तीन या चार समय की विग्रहगति से ही वे क्यों उत्पन्न होते हैं ? इसका भी विश्लेषण किया गया है।

※ ऋज्वायता, एकतोवक्रा आदि सात श्रेणियों का प्रतिपादन किया गया है। ये आकाशप्रदेश में पहले से निश्चित या अंकित नहीं हैं। जीव अपनी स्वाभाविक गति से अनुश्रेणी, विश्रेणी आदि से जाता है, तब सात श्रेणियों में से जिस श्रेणी से जाता है, उसी के अनुसार उसकी विग्रहगति का समयमान निश्चित किया जाता है।

※ इसी प्रकार एक दिशा के चरमान्त से दूसरी दिशा के चरमान्त में तथा उसी दिशा के अमुक क्षेत्र में कौन-सा एकेन्द्रिय कितने समय की विग्रहगति से जाता है ? इसका भी परिमाण बताया है।

※ सातों श्रेणियों का स्वरूप भी वृत्तिकार ने स्पष्ट किया है।

※ अधिकांश दार्शनिक तो एकेन्द्रिय जीवों के जन्म, मरण को ही नहीं मानते। जो मानते हैं, उनमें से कई कहते हैं कि एकेन्द्रिय मरकर एकेन्द्रिय ही बनता है अथवा शरीर नष्ट होने के साथ ही वह सदा के लिए मर जाता है, फिर जन्मता नहीं। इस प्रकार की असंगत धारणाओं का निराकरण भी तथा मरणोत्तरदशा एवं भावी गति-योनि में उत्पत्ति होने से पूर्व की ऋज्वायता आदि सात श्रेणियों से गमन भी बता दिया है।

※ निष्कर्ष यह है कि मरने के बाद एकेन्द्रिय जीव भी अधिक से अधिक चार समय में स्वगन्तव्य स्थान में पहुँच जाता है। मरण के पश्चात् इतनी तीव्रगति से वह जाता है। □□

चोत्तीसइमं सयं : बारस एगिंदिय-सेढि-सयाइं

चौतीसवाँ शतक : बारह एकेन्द्रिय-श्रेणी-शतक

एकेन्द्रिय जीवों के भेद-प्रभेद का निरूपण

१. कतिविहा णं भंते ! एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया जाव वणस्सतिकाइया। एवमेते वि चउक्कएणं भेएणं भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइया।

[१ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे गए हैं ?

[१ उ.] गौतम ! एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे गए हैं। यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक।

इस प्रकार इनके भी प्रत्येक के चार-चार भेद यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त कहने चाहिए।

विवेचन—एकेन्द्रिय भेद-प्रभेद की पुनरुक्ति क्यों ?—यहाँ इस शतक में एकेन्द्रिय जीवों की श्रेणी में विषय में निरूपण करने के लिए एकेन्द्रिय के भेद-प्रभेदों का पुनः कथन किया गया है।

एकेन्द्रियों की विग्रहगति का विविध दिशाओं की अपेक्षा समय-निरूपण

२. [१] अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा।

[२-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमान्त में मरणसमुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के पश्चिमीय चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है, तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२-१ उ.] गौतम वह ! एक समय की, दो समय की अथवा तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—एगसमइएण वा दुसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा ?

एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—उज्जुयायता सेढी १, एगओवंका २, दुहतोवंका ३, एगतोखहा ४, दुहओखहा ५, चक्कवाला ६, अद्धचक्कवाला ७। उज्जुयायताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, एगओवंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव उववज्जेज्जा। १।

[२-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा जाता है कि वह एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२-२ उ.] हे गौतम ! मैंने सात श्रेणियाँ कही हैं । यथा—(१) ऋज्वायता, (२) एकतोवक्रा, (३) उभयतोवक्रा, (४) एकतः खा, (५) उभयतः खा, (६) चक्रवाल और (७) अर्द्धचक्रवाल ।

जो पृथ्वीकायिक जीव ऋज्वायता श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह एक समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है, जो एकतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह दो समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है, जो उभयतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ।

इस कारण से हे गौतम ! यह कहा जाता है कि वह एक, दो या तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ।। १ ।।

३. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते पज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! एगसमइएण वा दुसमइएण वा, सेसं तं चेव जाव सेतेणट्ठेणं जाव विग्गहेणं उववज्जेज्जा । २ ।

[३ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव जो रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमान्त में मरणसमुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के पश्चिमदिशा के चरमान्त में पर्याप्त सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य है, तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३ उ.] गौतम ! वह एक समय, दो समय अथवा तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है, इत्यादि शेष सब पूर्ववत् कहना यावत् इस कारण……तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है. यहाँ तक कहना चाहिए । ।। २ ।।

४. एवं अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइओ पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते बायरपुढविकाइएसु अपज्जत्तएसु उववातेयव्वो । ३ ।

[४] इसी प्रकार अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव का पूर्वदिशा के चरमान्त में मरणसमुद्घात से मृत्यु प्राप्त कर पश्चिमदिशा के चरमान्त में बादर अपर्याप्त पृथ्वीकायिक-रूप से उपपात कहना चाहिए ।। ३ ।।

५. ताहे तेसु चेव पज्जत्तएसु । ४ ।

[५] और वहीं (पूर्ववत्) पर्याप्त-रूप से उपपात कहना चाहिए ।। ४ ।।

६. एवं आउकाइएसु वि चत्तारि आलावगा—सुहुमेहिं अपज्जत्तएहिं १, ताहे पज्जत्तएहिं २, बादरेहिं अपज्जत्तएहिं ३, ताहे पज्जत्तएहिं उववातेयव्वो ४ ।

[६] इसी प्रकार अप्कायिक जीव के भी चार आलापक कहने चाहिए । यथा—(१) सूक्ष्म-

अपर्याप्तक का, (२) उन्हीं (सूक्ष्म) के पर्याप्तक का, (३) बादर-अपर्याप्तक का तथा (४) उन्हीं (बादर) के पर्याप्तक का उपपात कहना चाहिए।

७. एवं चेव सुहुमतेउकाइएहि वि अपज्जत्तएहि १, ताहे पज्जत्तएहि उववातेयव्वो २।

[७] और इसी प्रकार सूक्ष्म तेजस्कायिक अपर्याप्तक और उसी के पर्याप्तक का उपपात कहना चाहिए।

८. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

सेसं तं चेव ३।

[८ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव, जो इस रत्नप्रभा पृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमान्त में मरण समुद्घात करके मनुष्य-क्षेत्र में अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य है, तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[८ उ.] गौतम ! (इस सम्बन्ध में) सब वक्तव्यता पूर्ववत् कहनी चाहिए।

९. एवं पज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववातेयव्वो ४।

[९] इसी प्रकार पर्याप्त बादरतेजस्कायिक रूप से उपपात का कथन करना चाहिए।

१०. वाउकाइए सुहुम-बायरेसु जहा आउकाइएसु उववातिओ तहा उववातेयव्वो ४।

[१०] जिस प्रकार सूक्ष्म और बादर अप्कायिक का उपपात कहा, उसी प्रकार सूक्ष्म और बादर वायुकायिक का उपपात कहना चाहिए।

११. एवं वणस्सतिकाइएसु वि ४, =२०।

[११] इसी प्रकार (सूक्ष्म और बादर) वनस्पतिकायिक जीवों के उपपात के विषय में भी कहना चाहिए ॥ २० ॥

१२. पज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० ?

एवं पज्जत्तसुहुमपुढविकाइओ वि पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहणावेत्ता एएणं चेव कमेणं एएसु चेव वीससु ठाणेसु उववातेयव्वो जाव बायरवणस्सतिकाइएसु पज्जत्तएसु ति। ४०।

[१२ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभा पृथ्वी के इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ?

[१२ उ.] गौतम ! पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव भी रत्नप्रभा पृथ्वी के पूर्वदिशा के चरमान्त में मरण समुद्घात से मर कर क्रमशः इन बीस स्थानों में यावत् बादर पर्याप्त वनस्पतिकायिक तक, उपपात कहना चाहिए ॥ =४० ॥

१३. एवं अपज्जत्तबायरपुढविकाइओ वि। ६०।

[१३] इसी प्रकार अपर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक का उपपात भी कहना चाहिए। ॥ =६० ॥

१४. एवं पज्जत्तबायरपुढविकाइओ वि। ८०।

[१४] इसी प्रकार पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक के उपपात का कथन जानना चाहिए। ॥ =८० ॥

१५. एवं आउकाइओ वि चउसु वि गमएसु पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए एयाए चेव वत्तव्वयाए एएसु चेव वीसाए ठाणेसु उववातेयव्वो। १६०।

[१५] इसी प्रकार अप्कायिक जीवों के चार गमकों द्वारा पूर्व-चरमान्त में मरण समुद्घात-पूर्वक मरकर इन्हीं पूर्वोक्त बीस स्थानों में पूर्ववत् वक्तव्यता से उपपात का कथन करना चाहिए। ॥ =१६० ॥

१६. सुहुमतेउकाइओ वि अपज्जत्तओ पज्जत्तओ य एएसु चेव वीसाए ठाणेसु उववातेयव्वो. ४०=२००।

[१६] अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्कायिक जीवों का भी इन्हीं बीस स्थानों में पूर्वोक्तरूप से उपपात कहना चाहिए ॥ =+४०=२०० ॥

१७. अपज्जत्तबायरतेउकाइए णं भंते! मणुस्सखेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा?

सेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं०। १=२०१।

[१७ प्र.] भगवन्! अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक जीव, जो मनुष्यक्षेत्र में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभापृथ्वी के पश्चिम-चरमान्त में अपर्याप्त पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य है, हे भगवन्! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[१७ उ.] गौतम! पूर्ववत् समग्र वक्तव्यता यावत् 'इस कारण से वह.........तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है', यहाँ तक कहनी चाहिए ॥ +१+२०१ ॥

१८. एवं पुढविकाइएसु चउव्विहेसु वि उववातेयव्वो। ३=२०४।

[१८] इसी प्रकार चारों प्रकार के पृथ्वीकायिक जीवों में भी पूर्ववत् उपपात कहना चाहिए। +३+२०४ ॥

१९. एवं आउकाइएसु चउव्विहेसु वि। ४=२०८।

[१९] चार प्रकार के अप्कायिकों में भी इसी प्रकार उपपात कहना चाहिए ॥ +४+२०८ ॥

२०. तेउकाइएसु सुहुमेसु अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य एवं चेव उववातेयव्वो। २=२१०।

[२०] सूक्ष्मतेजस्कायिक जीव के पर्याप्तक और अपर्याप्तक में भी इसी प्रकार उपपात कहना चाहिए। +२०८+२+२१० ॥

२१. अपज्जत्तबादरतेउकाइए णं भंते! मणुस्सखेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए मणुस्सखेत्ते अपज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए, से णं भंते! कतिसम०?

सेसं तं चेव । १=२११ ।

[२१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक जीव, जो मनुष्यक्षेत्र में मरणसमुद्घात करके मनुष्यक्षेत्र में अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक रूप से उत्पन्न होने योग्य है, तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२१ उ.] गौतम ! (इसका उपपात) पूर्ववत् कहना चाहिए ।। +१=२११ ।

२२. एवं पज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए वि उ वाएयव्वो । १=२१२ ।

[२२] इसी प्रकार पर्याप्त बादर तेजस्कायिक रूप से उपपात का भी कथन करना चाहिए । +१=२१२ ।।

२३. वाउकाइयत्ताए य, वणस्सतिकाइयत्ताए य जहा पुढविकाइएसु तहेव चउक्कएणं भेएणं उववाएयव्वो । ८=२२० ।

[२३] जिस प्रकार (चार प्रकार के) पृथ्वीकायिक जीवों के उपपात के विषय में कहा, उसी प्रकार चार भेदों से, वायुकायिक रूप से तथा वनस्पतिकायिक रूप से उपपात का कथन करना चाहिए । +८—२२० ।।

२४. एवं पज्जत्तबायरतेउकाइओ वि समयखेत्ते समोहणावेत्ता एएसु चेव वीसाए ठाणेसु उववातेयव्वो जहेव अपज्जत्तओ उववातिओ । २० ।

[२४] इसी प्रकार पर्याप्त बादर तेजस्कायिक का भी समय (मनुष्य-) क्षेत्र में समुद्घात करके इन्हीं (पूर्वोक्त) बीस स्थानों में उपपात का कथन करना चाहिए ।। २० ।।

२५. एवं सव्वत्थ वि बायरतेउकाइया अपज्जत्तगा पज्जत्तगा य समयखेत्ते उववातेयव्वा, समोहणावेयव्वा वि=२४० ।

[२५] जिस प्रकार अपर्याप्त का उपपात कहा है, उसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त-बादर तेजस्कायिक के मनुष्यक्षेत्र में समुद्घात और उपपात का कथन करना चाहिए । =२४० ।।

२६. वाउकाइया, वणस्सतिकाइया य जहा पुढविकाइया तहेव चउक्कएणं भेएणं उववातेयव्वा जाव ।

पज्जत्तबायरवणस्सइकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणेत्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए० पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते पज्जत्तबायरवणस्सतिकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसम० ?

सेसं तहेव जाव से तेणट्ठेणं० । ८०+८०=४०० ।

[२६] पृथ्वीकायिक-उपपात के समान चार-चार भेद से वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों का उपपात कहना चाहिए; यावत्—

[प्र.] भगवन् ! पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक जीव रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वीय-चरमान्त में

मरणसमुद्घात करके इस रत्नप्रभापृथ्वी के पश्चिम-चरमान्त में बादर वनस्पतिकायिक रूप में उत्पन्न होने योग्य हो तो, हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[उ.] पूर्ववत् सब कथन यावत्—'इस कारण से ऐसा कहा जाता है', तक करना चाहिए। २४०+८०+८०=४००।

२७. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते समोहणित्ता जे भविए इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं० ?

सेसं तहेव निरवसेसं।

[२७ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव रत्नप्रभापृथ्वी के पश्चिम-चरमान्त में समुद्घात करके रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वीय चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न हो तो कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२७ उ.] गौतम ! पूर्ववत् समस्त कथन करना चाहिए।

२८. एवं जहेव पुरत्थिमिल्ले चरिमंते सव्वपदेसु वि समोहया पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातिया, जे य समयखेत्ते समोहया पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातिया, एवं एएणं चेव कमेणं पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहया पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातेयव्वा तेणेव गमएणं। ४००=८००।

[२८] जिस प्रकार पूर्वीय-चरमान्त के सभी पदों में समुद्घात करके पश्चिम-चरमान्त में और मनुष्यक्षेत्र में और जिनका मनुष्यक्षेत्र में समुद्घातपूर्वक पश्चिम-चरमान्त में और मनुष्यक्षेत्र में उपपात कहा, उसी प्रकार उसी क्रम से पश्चिम-चरमान्त में मनुष्यक्षेत्र में समुद्घातपूर्वक पूर्वीय-चरमान्त में और मनुष्यक्षेत्र के उसी गमक से उपपात होता है। +४००=८००॥

२९. एवं एतेणं गमएणं दाहिणिल्ले चरिमंते समोहयाणं समयखेत्ते य, उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववाओ। ४००=१२००।

[२९] और इसी गमक से दक्षिण के चरमान्त में समुद्घात करके मनुष्यक्षेत्र में और उत्तर के चरमान्त में तथा मनुष्यक्षेत्र में उपपात कहना चाहिए। +४००=१२००॥

३०. एवं चेव उत्तरिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य समोहया, दाहिणिल्ले चरिमंते समयखेत्ते य उववातेयव्वा तेणेव गमएणं। ४००=१६००।

[३०] इसी प्रकार उत्तरी-चरमान्त में और मनुष्यक्षेत्र में समुद्घात करके दक्षिणी-चरमान्त में और मनुष्यक्षेत्र में उपपात कहना चाहिए। +४००=१६००।

३१. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए सक्करप्पभाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उवव० ?

एवं जहेव रयणप्पभाए जाव से तेणट्ठेणं।

[३१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव शर्कराप्रभापृथ्वी के पूर्वीय-चरमान्त में मरणसमुद्घात करके शर्कराप्रभापृथ्वी के पश्चिम-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रूप से उत्पन्न होने योग्य हो तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३१ उ.] गौतम ! (पूर्वोक्त) रत्नप्रभापृथ्वी-सम्बन्धी कथनानुसार यावत् 'इस कारण से ऐसा कहा है', यहाँ तक कहना चाहिए।

३२. एवं एएणं कमेणं जाव पज्जत्तएसु सुहुमतेउकाइएसु।

[३२] एवं इसी क्रम से यावत् पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्कायिक-पर्यन्त कहना चाहिए।

३३. [१] अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! सक्करप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइ० पुच्छा।

गोयमा ! दुसमइएण वा तिसमइएण वा विग्गहेण उववज्जिज्जा।

[३३-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव शर्कराप्रभापृथ्वी के पूर्व चरमान्त में मरणसमुद्घात करके मनुष्यक्षेत्र के अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य हो, तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३३-१ उ.] गौतम ! वह दो या तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तंजहा—उज्जुयायता जाव अद्धचक्कवाला। एगतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहओवंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, से तेणट्ठेणं०।

[३३-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि वह दो या तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३३-२ उ.] गौतम ! मैंने सात श्रेणियाँ कही हैं। यथा—ऋज्वायता (से लेकर) यावत् अर्द्धचक्रवाल पर्यन्त। जो एकतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है, वह दो समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है और जो उभयतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है वह तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। इस कारण से मैंने पूर्वोक्त बात कही है।

३४. एवं पज्जत्तएसु वि बायरतेउकाइएसु। सेसं जहा रतणप्पभाए।

[३४] इस प्रकार पर्याप्त बादर तेजस्कायिक-रूप से (उत्पन्न होने योग्य का उपपात कहना चाहिए।) शेष सब कथन रत्नप्रभापृथ्वी के समान कहना चाहिए।

३५. जे वि बायरतेउकाइया अपज्जत्तगा य पज्जत्तगा य समयखेत्ते समोहया, समोहणित्ता दोच्चाए पुढवीए पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते पुढविकाइएसु चउव्विहेसु, आउकाइएसु चउव्विहेसु,

तेउकाइएसु दुविहेसु, वाउकाइएसु चउव्विहेसु, वणस्सतिकाइएसु चउव्विधेसु उववज्जंति ते वि एवं चेव दुसमइएण वा विग्गहेण उववातेयव्वा।

[३५] जो बादरतेजस्कायिक अपर्याप्त और पर्याप्त जीव मनुष्यक्षेत्र में मरणसमुद्घात करके शर्कराप्रभापृथ्वी के पश्चिम-चरमान्त में, चारों प्रकार के पृथ्वीकायिक जीवों में, चारों प्रकार के अप्कायिक जीवों में, दो प्रकार के तेजस्कायिक जीवों में और चार प्रकार के वायुकायिक जीवों में तथा चार प्रकार के वनस्पतिकायिक जीवों में उत्पन्न होते हैं, उनका भी दो या तीन समय की विग्रहगति से उपपात कहना चाहिए।

३६. बायरतेउकाइया अपज्जत्तगा पज्जत्तगा य जाहे तेसु चेव उववज्जंति ताहे जहेव रयणप्पभाए तहेव एगसमइय-दुसमइय-तिसमइया विग्गहा भाणियव्वा, सेसं जहेव रयणप्पभाए तहेव निरवसेसं।

[३६] जब पर्याप्त और अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक जीव उन्हीं में उत्पन्न होते हैं, तब उनके सम्बन्ध में रत्नप्रभापृथ्वी-सम्बन्धी कथन के अनुसार एक समय, दो समय या तीन समय की विग्रहगति कहनी चाहिए। शेष सब कथन रत्नप्रभापृथ्वी-सम्बन्धी कथन के अनुसार जानना चाहिए।

३७. जहा सक्करप्पभाए वत्तव्वया भणिया एवं जाव अहेसत्तमाए भाणियव्वा।

[३७] जिस प्रकार शर्कराप्रभा-सम्बन्धी वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार यावत् अधःसप्तम-पृथ्वी-पर्यन्त कहनी चाहिए।

विवेचन—विग्रहगति एवं श्रेणी का लक्षण—एक स्थान में मरण करके दूसरे स्थान पर जाते हुए जीव की जो गति होती है, उसे विग्रहगति कहते हैं। वह श्रेणी के अनुसार होती है। जिससे जीव और पुद्गलों की गति होती है, ऐसी आकाश-प्रदेश की पंक्ति को श्रेणी कहते हैं। जीव और पुद्गल एक स्थान से दूसरे स्थान पर श्रेणी के अनुसार ही जा सकते हैं। वे श्रेणियाँ सात हैं, जिनका उल्लेख मूलपाठ में किया गया है। वे इस प्रकार हैं—

१. ऋज्वायता—जिस श्रेणी के द्वारा जीव ऊर्ध्वलोक आदि से अधोलोक आदि में सीधे चले जाते हैं, उसे 'ऋज्वायताश्रेणी' कहते हैं। इस श्रेणी के अनुसार जाने वाला जीव एक ही समय में गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाता है।

२. एकतोवक्रा—जिस श्रेणी से जीव सीधा जाकर एक ओर वक्रगति पाये, अर्थात् मोड़ खाए या दूसरी श्रेणी में प्रवेश करे उसे 'एकतोवक्राश्रेणी' कहते हैं। इस श्रेणी से जाने वाले जीव को दो समय लगते हैं।

३. उभयतोवक्रा—जिस श्रेणी से जाता हुआ जीव दो बार वक्रगति करे, अर्थात् दो बार दूसरी श्रेणी को प्राप्त करे, उसे 'उभयतोवक्रा श्रेणी' कहते हैं। इस श्रेणी से जाने में जीव को तीन समय लगते हैं। यह श्रेणी आग्नेयी (पूर्व-दक्षिण) दिशा से अधोलोक की वायव्यी (उत्तर-पश्चिम) दिशा में उत्पन्न होने वाले जीव की होती है। पहले समय में वह आग्नेयीदिशा से तिर्छा पश्चिम की ओर दक्षिणदिशा के कोण अर्थात् नैऋत्य दिशा की ओर जाता है। फिर दूसरे समय में वहाँ से तिर्छा होकर उत्तर-पश्चिम कोण अर्थात् वायव्यीदिशा की ओर जाता है। तदनन्तर तीसरे समय में नीचे

वायव्यीदिशा की ओर जाता है। तीन समय की यह विग्रहगति त्रसनाडी अथवा उससे बाहर के भाग में होती है।

४. एकतःखा—'ख' आकाश को कहते हैं। इस श्रेणी के एक ओर त्रसनाडी के बाहर का आकाश आया हुआ है, इसलिए इसे 'एकत:खा श्रेणी' कहते हैं। आशय यह है कि जिस श्रेणी से जीव या पुद्गल त्रसनाडी के बायें पक्ष से त्रसनाडी में प्रवेश करे और फिर त्रसनाडी से जाकर उसके बांयीं ओर वाले भाग में उत्पन्न हो, उसे 'एकत.खा श्रेणी' कहते हैं। इस श्रेणी में एक, दो, तीन या चार समय की वक्रगति होने पर भी क्षेत्र की अपेक्षा उसे पृथक् कहा है।

५. उभयतःखा—त्रसनाडी से बाहर में बायें पक्ष में प्रवेश करके त्रसनाडी से जाते हुए जिस श्रेणी से दाहिने पक्ष में उत्पन्न होते हैं, उसे 'उभयत:खा (दोनों ओर आकाश वाली) श्रेणी कहते हैं।

६. चक्रवाल—जिस श्रेणी के माध्यम से परमाणु आदि गोल चक्कर लगा कर उत्पन्न होते हैं, उसे 'चक्रवाल' कहते हैं।

७. अर्द्धचक्रवाल—जिस श्रेणी से आधा चक्कर लगा कर उत्पन्न होते हैं, उसे 'अर्द्धचक्रवाल श्रेणी' कहते हैं।

बादर तेजस्कायिक की उत्पत्ति--बादर तेजस्काय मनुष्यक्षेत्र में ही संभव है, उसके बाहर उसकी उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए उसके प्रश्नोत्तरों में 'मनुष्यक्षेत्र' (समयक्षेत्र) कहा है।

रत्नाप्रभा आदि पृथ्वियों के सोलह सौ गमक—पृथ्वीकायिक आदि प्रत्येक एकेन्द्रिय के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त और अपर्याप्त ये चार-चार भेद होने से ५ × ४ = २० भेद होते हैं। इनमें प्रत्येक जीव-स्थान में वीस-बीस गमक होते हैं। इस प्रकार पूर्व दिशा के चरमान्त की अपेक्षा २० × २० = ४०० गम होते हैं। इस दृष्टि से चारों दिशाओं के चरमान्त की अपेक्षा रत्नप्रभापृथ्वी के १६०० गम हुए। इसी प्रकार प्रत्येक नरकपृथ्वी के सोलह-सौ, सोलह-सौ गम होते हैं।

शर्कराप्रभा-सम्बन्धी विग्रहगति—शर्कराप्रभा के पूर्वीय-चरमान्त से मनुष्यक्षेत्र में उत्पन्न होने वाले जीव की समश्रेणी नहीं होती। इसलिए उसमें एक समय की विग्रहगति नहीं होती, अपितु दो या तीन समय की होती है।

बादर तेजस्काय के दो भेद क्यों?—रत्नप्रभा के पश्चिम-चरमान्त में बादर तेजस्काय न होने से सूक्ष्म पर्याप्त और अपर्याप्त, ये दो भेद ही कहे हैं। बादर तेजस्कायिक के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो भेद मनुष्यक्षेत्र की अपेक्षा से कहे हैं।[1]

३८. [१] **अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते! अहेलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा?**

गोयमा! तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति. पत्र ९५६-९५७

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३६८९-९०

(ग) 'अनुश्रेणि गतिः'—तत्त्वार्थसूत्र अ. २,

[३८-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोक क्षेत्र की त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके ऊर्ध्वलोक की त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य है तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३८-१ उ.] गौतम ! वह तीन समय या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—तिसमइएण वा चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं अहेलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए एगपयरम्मि अणुसेढिं उववज्जित्तए से णं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, जे भविए विसेढिं उववज्जित्तए से णं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा। से तणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा।

[३८-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा कहने का क्या कारण है कि वह जीव तीन या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[३८-२ उ.] गौतम ! जो अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके ऊर्ध्वलोकक्षेत्र की त्रसनाडी के बाहर क्षेत्र में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक के रूप में एक प्रतर में अनुश्रेणी (समश्रेणी) में उत्पन्न होने योग्य है, वह तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है और जो विश्रेणी में उत्पन्न होने योग्य है, वह चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा है कि यावत् वह तीन या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

३९. एवं पज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए वि।

[३९] इसी प्रकार जो पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होता है, उसके विषय में भी समझना चाहिए।

४०. जाव पज्जत्तसुहुमतेउकाइयत्ताए।

[४०] इसी भांति जो पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्कायिक-रूप से यावत् उत्पन्न होता है, उसके विषय में भी जानना चाहिए।

४१. [१] अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! अहेलोग जाव समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! दुसमइएण वा, तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा।

[४१-१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव अधोलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके मनुष्यक्षेत्र में अपर्याप्त बादर तेजस्कायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य हो तो भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४१-१ उ.] गौतम ! वह दो या तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला। एगतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, दुहतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, से तेणट्ठेणं०।

[४१-२ प्र.] भगवन् ! यह किस कारण से कहा जाता है, कि वह दो या तीन समय की ? इत्यादि प्रश्न।

[४१-२ उ.] गौतम ! मैंने सात श्रेणियाँ कही हैं। यथा—ऋज्वायता यावत् अर्द्धचक्रवाल। यदि वह जीव एकतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है, तो दो समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है, यदि वह उभयतोवक्राश्रेणी से उत्पन्न होता है, तो तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। इसी कारण से हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है।

४२. एवं पज्जत्तएसु वि, बायरतेउकाइएसु वि उववातेयव्वो। वाउकाइय-वणस्सति-काइयत्ताए चउक्कएणं भेएणं जहा आउकाइयत्ताए तहेव उववातेयव्वो।

[४२] इसी प्रकार पर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव में भी उपपात जानना चाहिए।

जिस प्रकार अप्कायिक-रूप में उत्पन्न होने की वक्तव्यता कही है, उसी प्रकार वायुकायिक और वनस्पतिकायिक रूप में भी चार-चार भेद से उत्पन्न होने की वक्तव्यता कहनी चाहिए।

४३. एवं जहा अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयस्स गमओ भणिओ एवं पज्जत्तसुहुमपुढविकाइयस्स वि भाणियव्वो, तहेव वीसाए ठाणेसु उववातेयव्वो।

[४३] जिस प्रकार अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक का गमक कहा है, उसी प्रकार पर्याप्त सूक्ष्म-पृथ्वीकायिक का गमक भी कहना चाहिए और उसी प्रकार (पूर्वोक्त) वीस स्थानों में उपपात कहना चाहिए।

४४. अहेलोयखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते समोहयओ एवं बायरपुढविकाइयस्स वि अपज्जत्तगस्स पज्जत्तगस्स य भाणियव्वं।

[४४] जिस प्रकार अधोलोकक्षेत्र की त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके.... यावत् विग्रहगति में उपपात कहा है, उसी प्रकार पर्याप्त और अपर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक के उपपात का भी कथन करना चाहिए।

४५. एवं आउकाइयस्स चउव्विहस्स वि भाणियव्वं।

[४५] चारों प्रकार के अप्कायिक जीवों का कथन भी इसी प्रकार करना चाहिए।

४६. सुहुमतेउकाइयस्स दुविहस्स वि एवं चेव।

[४६] पर्याप्त और अपर्याप्त सूक्ष्मतेजस्कायिक जीव के उपपात का कथन भी इसी प्रकार है।

४७. [१] अपज्जत्तबायरतेउकाइए णं भंते ! समयखेत्ते समोहते, समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! दुसमइएण वा, तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ।

[४७-१ प्र.] भगवन् ! यदि अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव मनुष्यक्षेत्र में मरणसमुद्घात करके ऊर्ध्वलोकक्षेत्र की त्रसनाडी से बाहर के क्षेत्र में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-रूप से उत्पन्न होने योग्य है, तो हे भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४७-१ उ.] गौतम ! वह दो समय या तीन समय (अथवा चार समय) की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

अट्ठो तहेव सत्त सेढीओ ।

[४७-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा किस कारण से कहा गया है कि वह दो या तीन (या चार) समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४७-२ उ.] इसका कथन पूर्वोक्त प्रकार से ही समझना चाहिए यावत् सप्तश्रेणी तक ।

४८. एवं जाव अपज्जत्तबायरतेउकाइए णं भंते ! समयखेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए उड्ढलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते पज्जत्तसुहुमतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! ०

सेसं तं चेव ।

[४८ प्र.] भगवन् ! इसी प्रकार यावत् जो अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव मनुष्यक्षेत्र में मरणसमुद्घात करके ऊर्ध्वलोकक्षेत्र की त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में पर्याप्त सूक्ष्मतेजस्कायिक-रूप में उत्पन्न हो तो वह कितने समय की विग्रहगति से ?

[४८ उ.] गौतम ! इसका कथन भी पूर्वोक्त प्रकार से ही जानना चाहिए ।

४९. [१] अपज्जत्तबायरतेउकाइए णं भंते ! समयखेत्ते समोहए, समोहणित्ता जे भविए समयखेत्ते अपज्जत्तबायरतेउकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! एगसमइएण वा, दुसमइएण वा, तिसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा ।

[४९-१ प्र.] भगवन् ! यदि अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव मनुष्यक्षेत्र में मरण-समुद्घात करके मनुष्यक्षेत्र में अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है तो भगवन् ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४९-१ उ.] गौतम ! वह एक समय, दो समय या तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ।

[२] से केणट्ठेणं० ?

अट्ठो जहेव रयणप्पभाए तहेव सत्त सेढीओ ।

[४९-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहते हैं कि यावत् वह तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४९-२ उ.] गौतम ! जैसे रत्नप्रभापृथ्वी में सप्तश्रेणीरूप हेतु कहा, वही हेतु यहाँ जानना चाहिए।

५०. एवं पज्जत्तबादरतेउकाइयत्ताए वि।

[५०] इसी प्रकार पर्याप्त बादरतेजस्कायिक-रूप में उपपात का भी कथन करना चाहिए।

५१. वाउकाइएसु, वणस्सतिकाइएसु य जहा पुढविकाइएसु उववातिओ तहेव चउक्कएणं भेएणं उववाएयव्वो।

[५१] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक का चारों भेदों सहित उपपात कहा, उसी प्रकार वायुकायिक और वनस्पतिकायिक का भी चार-चार भेद सहित उपपात कहना चाहिए।

५२. एवं पज्जत्तबायरतेउकाइश्रो वि एएसु चेव ठाणेसु उववातेयव्वो।

[५२] इसी प्रकार पर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव का उपपात भी इन्हीं स्थानों में जानना चाहिए।

५३. वाउकाइय-वणस्सतिकाइयाणं जहेव पुढविकाइयत्ते उववातिश्रो तहेव भाणियव्वो।

[५३] जिस प्रकार पृथ्वीकायिक जीव के रूप में उपपात का कथन किया, उसी प्रकार वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीवों के उपपात का कथन करना चाहिए।

५४. श्रपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! उड्ढलोकखेत्त०....जे भविए श्रहेलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते श्रपज्जत्तसुहुमकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कतिस० ?

एवं उड्ढलोगखेत्तनालीए वि बाहिरिल्ले खेत्ते समोहयाणं श्रहेलोगखेत्तनालीए बाहिरिल्ले खेत्ते उववज्जंताणं सो चेव गमश्रो निरवसेसो भाणियव्वो जाव बायरवणस्सतिकाइओ पज्जत्तश्रो बादरवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु उववातिश्रो।

[५४ प्र.] भगवन् ! जो श्रपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव ऊर्ध्वलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके, अधोलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में श्रपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिकरूप से उत्पन्न होने योग्य है तो भंते ! वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[५४ उ.] गौतम ! ऊर्ध्वलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में मरणसमुद्घात करके श्रधोलोकक्षेत्रीय त्रसनाडी के बाहर के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिकादि के लिए भी वही समग्र पूर्वोक्त गमक यावत् पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक जीव का पर्याप्त बादरवनस्पतिकायिक-रूप में उपपात तक कथन यहाँ करना चाहिए।

५५. [१] श्रपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहते, समोहणित्ता जे भविए लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते श्रपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते ! कइसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा ?

गोयमा ! एगसमइएण वा, दुसमइएण वा, तिसमइएण वा, चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा।

[५५-१ प्र.] भगवन् ! जो अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव, लोक के पूर्वीय-चरमान्त में मरणसमुद्घात करके लोक के पूर्वीय-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है, तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[५५-१ उ.] गौतम ! वह एक, दो, तीन या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—एगसमइएण वा जाव उववज्जेज्जा ?

एवं खलु गोयमा ! मए सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला। उज्जुआयताए सेढीए उववज्जमाणे एगसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा; एगतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा; दुहओवंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगयरंसि अणुसेढिं उववज्जित्तए से णं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, जे भविए विसेढिं उववज्जित्तए से णं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा; से तेणट्ठेणं जाव उववज्जेज्जा।

[५५-२ प्र.] भगवन् ! किस कारण से ऐसा कहा जाता है कि वह एक समय की यावत् चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[५५-२ उ.] गौतम ! मैंने सात श्रेणियाँ बताई हैं। यथा—ऋज्वायता यावत् अर्द्धचक्रवाला। यदि ऋज्वायता श्रेणी से उत्पन्न होता है तो एक समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। यदि एकतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है तो दो समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। यदि उभयतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है तो जो एक प्रतर में अनुश्रेणी (समश्रेणी) से उत्पन्न होने योग्य है, वह तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है और यदि वह विश्रेणी से उत्पन्न होने योग्य है तो वह चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। इसी कारण से हे गौतम ! पूर्वोक्त कथन किया गया है कि वह एक समय की··· यावत् चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

५६. एवं अपज्जत्तओ सुहुमपुढविकाइओ लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहतो लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चेव चरिमंते अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमपुढविकाइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमआउकाइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमतेउक्काइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमवाउकाइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बायरवाउकाइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य सुहुमवणस्सतिकाइएसु, अपज्जत्तएसु पज्जत्तएसु य बारससु वि ठाणेसु एएणं चेव कमेणं भाणियव्वो।

[५६] इसी प्रकार अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव का लोक के पूर्वीय-चरमान्त में (मरण)समुद्घात करके लोक के पूर्वीय-चरमान्त में ही अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों में, अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्मअप्कायिक जीवों में, अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्मतेजस्कायिक जीवों में, अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्मवायुकायिक जीवों में, अपर्याप्त और पर्याप्त बादरवायुकायिक जीवों में तथा अपर्याप्त और पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवों में, इस प्रकार इन अपर्याप्त और पर्याप्त-रूप बारह ही स्थानों में इसी क्रम से उपपात कहना चाहिए।

५७. सुहुमपुढविकाइओ पज्जत्तओ एवं चेव निरवसेसो बारससु वि ठाणेसु उववातेयव्वो।

[५७] पर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव के उपपात का कथन भी इसी प्रकार पूर्वोक्त बारह स्थानों में करना चाहिए।

५८. एवं एएणं गमएणं जाव सुहुमवणस्सतिकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु पज्जत्तएसु चेव भाणितव्वो।

[५८] इसी प्रकार इस गमक (पाठ) से यावत् पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक तक पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवों में उपपात का कथन करना चाहिए।

५९. [१] अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते! लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइएसु उववज्जित्तए से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा?

गोयमा दुसमइएण वा, तिसमइएण वा, चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जिज्जा।

[५९-१ प्र.] भगवन्! जो अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव लोक के पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके लोक के दक्षिण-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीवों में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[५९-१ उ.] गौतम! वह दो समय, तीन समय या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चति०?

एवं खलु गोयमा! मए सत्त सेढीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—उज्जुआयता जाव अद्धचक्कवाला। एगतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे दुसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा; दुहतोवंकाए सेढीए उववज्जमाणे जे भविए एगपयरंसि अणुसेढिं उववज्जित्तए से णं तिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा, जे भविए विसेढिं उववज्जित्तए से णं चउसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा; से तेणट्ठेणं गोयमा!०।

[५९-२ प्र.] भगवन्! ऐसा किस कारण से कहते हैं कि वह दो समय यावत् चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[५९-२ उ.] गौतम! मैंने सात श्रेणियाँ बताई हैं। यथा—ऋज्वायता यावत् अर्द्धचक्रवाला। यदि वह जीव एकतोवक्रा श्रेणी से उत्पन्न होता है तो दो समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। यदि वह उभयतोवक्रा श्रेणी से एक प्रतर में अनुश्रेणी (समश्रेणी) से उत्पन्न होने योग्य है, तो तीन समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है और यदि वह विश्रेणी से उत्पन्न होने योग्य है तो चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है। हे गौतम! इसी कारण से मैंने कहा कि वह दो, तीन या चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

६०. एवं एएणं गमएणं पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहतो दाहिणिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो। जाव सुहुमवणस्सतिकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सतिकाइएसु पज्जत्तएसु चेव, सव्वेसिं दुसमइओ, तिसमइओ, चउसमइओ विग्गहो भाणियव्वो।

[६०] इसी प्रकार इसी गमक से पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके दक्षिण-चरमान्त में यावत् पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक, पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवों में भी उपपात का कथन करना चाहिए। इन सभी में यथायोग्य दो समय, तीन समय या चार समय की विग्रहगति कहनी चाहिए।

६१. [१] अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते! लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए लोगस्स पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते! कतिसमइएणं विग्गहेणं उववज्जेज्जा?

गोयमा! एगसमइएण वा, दुसमइएण वा, तिसमइएण वा, चउसमइएण वा विग्गहेणं उववज्जेज्जा।

[६१-१ प्र.] भगवन्! जो अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव, लोक के पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके लोक के पश्चिम-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[६१-१ उ.] गौतम! वह एक, दो, तीन अथवा चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है।

[२] से केणट्ठेणं० ?

एवं जहेव पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहया पुरत्थिमिल्ले चेव चरिमंते उववातिता तहेव पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहया पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वा सव्वे।

[६१-२ प्र.] भगवन्! किस कारण से कहते हैं कि वह यावत् चार समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[६१-२ उ.] गौतम! पूर्ववत्, जैसे पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके पूर्वीय-चरमान्त में ही उपपात का कथन किया, वैसे ही पूर्वीय चरमान्त में समुद्घात करके पश्चिम-चरमान्त में सभी के उपपात का कथन करना चाहिए।

६२. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते! लोगस्स पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए लोगस्स उत्तरिल्ले चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए से णं भंते!० ?

एवं जहा पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहओ दाहिणिल्ले चरिमंते उववातिओ तहा पुरत्थिमिल्ले० समोहओ उत्तरिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो।

[६२ प्र.] भगवन्! जो अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव, लोक के पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके लोक के उत्तर-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव में उत्पन्न होने योग्य है तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है?

[६२ उ.] गौतम! जिस प्रकार पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके दक्षिण-चरमान्त में

उपपात का कथन किया, उसी प्रकार पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके उत्तर-चरमान्त में उपपात का कथन करना चाहिए।

६३. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! लोगस्स दाहिणिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए लोगस्स दाहिणिल्ले चेव चरिमंते अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं जहा पुरत्थिमिल्ले समोहओ पुरत्थिमिल्ले चेव उववातिओ तहा दाहिणिल्ले समोहओ दाहिणिल्ले चेव उववातेयव्वो। तहेव निरवसेसं जाव सुहुमवणस्सतिकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सइकाइएसु चेव पज्जत्तएसु दाहिणिल्ले चरिमंते उववातिओ।

[६३ प्र.] भगवन् ! जो अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव लोक के दक्षिण-चरमान्त में समुद्घात करके लोक के दक्षिण-चरमान्त में ही अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक-रूप में उत्पन्न होने योग्य है, वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[६३ उ.] गौतम ! जिस प्रकार पूर्वीय-चरमान्त में समुद्घात करके पूर्वीय-चरमान्त में ही उपपात का कथन किया, उसी प्रकार दक्षिण-चरमान्त में समुद्घात करके दक्षिण-चरमान्त में ही उत्पन्न होने योग्य का उपपात कहना चाहिए। इसी प्रकार यावत् पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक का, पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिकों में दक्षिण-चरमान्त तक उपपात कहना चाहिए।

६४. एवं दाहिणिल्ले समोहयओ पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते उववातेयव्वो, नवरं दुसमइय-तिसमइय-चउसमइओ विग्गहो। सेसं तहेव।

[६४] इसी प्रकार दक्षिण-चरमान्त में समुद्घात करके पश्चिम-चरमान्त में उपपात का कथन करना चाहिए। विशेष यह है कि इनमें दो, तीन या चार समय की विग्रहगति होती है। शेष पूर्ववत् कहना चाहिए।

६५. एवं दाहिणिल्ले समोहयओ उत्तरिल्ले उववातेयव्वो जहेव सट्ठाणे तहेव एगसमइय-दुसमइय-तिसमइय-चउसमइयविग्गहो।

[६५] जिस प्रकार स्वस्थान में उपपात का कथन किया, उसी प्रकार दक्षिण-चरमान्त में समुद्घात करके उत्तर-चरमान्त में उपपात का तथा एक, दो, तीन या चार समय की विग्रहगति का कथन करना चाहिए।

६६. पुरत्थिमिल्ले जहा पच्चत्थिमिल्ले तहेव दुसमइय-तिसमइय-चउसमइय०।

[६६] पश्चिम-चरमान्त में उपपात के समान पूर्वीय-चरमान्त में भी दो, तीन या चार समय की विग्रहगति से उपपात का कथन करना चाहिए।

६७. पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते समोहताणं पच्चत्थिमिल्ले चेव चरिमंते उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे। उत्तरिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो नत्थि, सेसं तहेव। पुरत्थिमिल्ले जहा सट्ठाणे। दाहिणिल्ले एगसमइओ विग्गहो नत्थि, सेसं तं चेव।

[६७] पश्चिम-चरमान्त में समुद्घात करके पश्चिम चरमान्त में ही उत्पन्न होने वाले पृथ्वी-कायिक के लिए स्वस्थान में उपपात के अनुसार कथन करना चाहिए। उत्तर-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले जीव के एक समय की विग्रहगति नहीं होती। शेष सब पूर्ववत्। पूर्वीय-चरमान्त में उपपात का कथन स्वस्थान में उपपात के समान है। दक्षिण-चरमान्त में उपपात में एक समय की विग्रहगति नहीं होती। शेष सब पूर्ववत् है।

६८. उत्तरिल्ले समोहयाणं उत्तरिल्ले चेव उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे। उत्तरिल्ले समोहयाणं पुरत्थिमिल्ले उववज्जमाणाणं एवं चेव, नवरं एगसमइओ विग्गहो नत्थि। उत्तरिल्ले समोहताणं दाहिणिल्ले उववज्जमाणाणं जहा सट्ठाणे। उत्तरिल्ले समोहयाणं पच्चत्थिमिल्ले उववज्जमाणाणं एगसमइओ विग्गहो नत्थि, सेसं तहेव जाव सुहुमवणस्सतिकाइओ पज्जत्तओ सुहुमवणस्सतिकाइएसु पज्जत्तएसु चेव।

[६८] उत्तर-चरमान्त में समुद्घात करके उत्तर-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले जीव का कथन स्वस्थान में उपपात के समान जानना चाहिए। इसी प्रकार उत्तर-चरमान्त में समुद्घात करके पूर्वीय-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले पृथ्वीकायिकादि जीवों के उपपात का कथन समझना किन्तु इनमें एक समय की विग्रहगति नहीं होती। उत्तर-चरमान्त में समुद्घात करके दक्षिण-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले जीवों का कथन भी स्वस्थान के समान है। उत्तर-चरमान्त में समुद्घात करके पश्चिम-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले जीवों के एक समय की विग्रहगति नहीं होती। शेष पूर्ववत् यावत् पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक का पर्याप्त सूक्ष्मवनस्पतिकायिक जीवों तक में उपपात का कथन जानना चाहिए।

विवेचन—तीन या चार समय की विग्रहगति क्यों और कहाँ—जब कोई स्थावर अधोलोक-क्षेत्र की नाडी के बाहर पूर्वादि दिशा में मर कर प्रथम समय में त्रसनाडी में प्रवेश करता है, दूसरे समय में ऊपर जाता है और तत्पश्चात् एक प्रतर में पूर्व या पश्चिम में उसकी उत्पत्ति होती है, तब अनुश्रेणी में जाकर तीसरे समय में उत्पन्न होता है। इस प्रकार तीन समय की विग्रहगति होती है।

जब कोई जीव त्रसनाडी के बाहर वायव्यादि विदिशा में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब एक समय में पश्चिम या उत्तर दिशा में जाता है, दूसरे समय में त्रसनाडी में प्रवेश करता है, तीसरे समय में ऊँचा जाता है और चौथे समय में अनुश्रेणी में जाकर पूर्वादि दिशा में उत्पन्न होता है। यहाँ चार समय की विग्रहगति होती है।

दो या तीन समय की विग्रहगति कब और क्यों?—जब अपर्याप्त बादरतेजस्कायिक जीव ऊर्ध्व-लोक की त्रसनाडी के बाहर उत्पन्न होता है, तब दो या तीन समय की विग्रहगति होती है। इसका कारण यह है कि बादरतेजस्काय मनुष्यक्षेत्र में ही होता है। इसलिए एक समय में मनुष्यक्षेत्र से ऊपर जाता है तथा दूसरे समय में त्रसनाडी से बाहर रहे हुए उत्पत्तिस्थान को प्राप्त होता है। इस प्रकार यह दो समय की विग्रहगति होती है। अथवा एक समय में मनुष्यक्षेत्र से ऊपर जाता है, दूसरे समय में त्रसनाडी से बाहर पूर्वादि दिशा में जाता है और तीसरे समय विदिशा में रहे हुए उत्पत्ति-स्थान को प्राप्त होता है।

लोक के चरमान्त में बादर पृथ्वीकायिक, अप्कायिक, तेजस्कायिक और वनस्पतिकायिक जीव

नहीं होते, किन्तु सूक्ष्म पृथ्वीकायिकादि पांचों होते हैं तथा बादर वायुकाय भी होता है। इन छह के पर्याप्तक और अपर्याप्तक के भेद से बारह भेद होते हैं।

लोक के पूर्वीय-चरमान्त से पूर्व-चरमान्त में ही उत्पन्न होने वाले जीव की एक समय से लेकर चार समय तक की विग्रहगति होती है, क्योंकि उसमें अनुश्रेणी और विश्रेणी दोनों गतियाँ होती हैं। पूर्व-चरमान्त से दक्षिण-चरमान्त में उत्पन्न होने वाले जीव की दो, तीन या चार समय की ही विग्रहगति होती है। वहाँ अनुश्रेणी न होने से एक समय की विग्रहगति नहीं होती। अतएव विश्रेणीगमन में दो आदि समय की विग्रहगति का कथन किया गया है।[1]

एकेन्द्रिय जीवों में स्थान-कर्मप्रकृतिबन्ध-वेदन, उपपात समुद्घातादि की अपेक्षा प्ररूपणा

६९. कहि णं भंते ! बायरपुढविकाइयाणं पज्जत्ताणं ठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु जहा ठाणपए जाव सुहुमवणस्सतिकाइया जे य पज्जत्तगा जें य अपज्जत्तगा ते सव्वे एगविहा अविसेसमणाणत्ता सव्वलोगपरियावन्ना पण्णत्ता समणाउसो !

[६९ प्र.] भगवन् ! पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहाँ कहे हैं ?

[६९ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा आठ पृथ्वियाँ हैं, इत्यादि सव कथन प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थानपद के अनुसार यावत् पर्याप्त और अपर्याप्त सभी सूक्ष्म वनस्पतिकायिक जीव एक ही प्रकार के हैं। इनमें कुछ भी विशेषता या भिन्नता नहीं है। हे आयुष्मन् श्रमण ! वे (सूक्ष्म) सर्व लोक में व्याप्त हैं।

७०. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ, तं जहा—नाणावरणिज्जं जाव अंतराइयं। एवं चउक्कएणं भेएणं जहेव एगिंदियसएसु (स० ३३—१-१ सु० ७—११) जाव बायरवणस्सतिकाइयाणं पज्जत्तगाणं।

[७० प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[७० उ.] गौतम ! आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं। यथा—ज्ञानावरणीय यावत् अन्तराय। इस प्रकार प्रत्येक के चार-चार भेदों से एकेन्द्रिय शतक के (३३ श. १-१, ७-११ सू. के) अनुसार यावत्—पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक तक कहना चाहिए।

७१. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कति कम्मपगडीओ बंधंति ?

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वि, अट्ठविहबंधगा वि जहा एगिंदियसएसु (स० ३३—१-१ सु० १२—१४) जाव पज्जत्तबायरवणस्सतिकाइया।

[७१ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं ?

[७१ उ.] गौतम ! वे सात या आठ कर्मप्रकृतियाँ बांधते हैं। यहाँ भी एकेन्द्रियशतक के अनुसार यावत् पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक तक का कथन करना चाहिए।

---

२. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९६०-९६१

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७०५-३७०६

७२. अपज्जत्तसुहुमपुढविकाइया णं भंते ! कति कम्मपगडीओ वेएंति ?

गोयमा ! चोद्दस कम्मपगडीओ वेएंति, तं जहा—नाणावरणिज्जं० जहा एगिंदियसएसु (स० ३३—१-१ सु० १५) जाव पुरिसवेयवज्जं ।

[७२ प्र.] भगवन् ! अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव कितनी कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं ।

[७२ उ.] गौतम ! वे चौदह कर्मप्रकृतियों का वेदन करते हैं । यथा—ज्ञानावरणीय आदि । शेष सब वर्णन एकेन्द्रियशतक के अनुसार यावत् पुरुषवेदवध्य कर्मप्रकृति-पर्यन्त कहना चाहिए ।

७३. एवं जाव बादरवणस्सइकाइयाणं पज्जत्तगाणं ।

[७३] इसी प्रकार यावत् पर्याप्त बादर वनस्पतिकायिक-पर्यन्त जानना चाहिए ।

७४. एगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? किं नेरइएहिंतो० ?

जहा वक्कंतीए पुढविकाइयाणं उववातो ।

[७४ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[७४ उ.] गौतम ! प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद में उक्त पृथ्वीकायिक जीव के उपपात के समान इनका भी उपपात कहना चाहिए ।

७५. एगिंदियाणं भंते ! कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए जाव वेउव्वियसमुग्घाए ।

[७५ प्र.] भगवन् ! एकेन्द्रिय जीवों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[७५ उ.] गौतम ! उनके चार समुद्घात कहे हैं । यथा—वेदनासमुद्घात यावत् वैक्रिय-समुद्घात ।

७६. [१] एगिंदिया णं भंते ! किं तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, तुल्लट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, वेमायट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, वेमायट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइया तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, अत्थेगइया तुल्लट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, अत्थेगइया वेमायट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, अत्थेगइया वेमायट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति ।

[७६-१ प्र.] भगवन् ! १. तुल्य (समान) स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव तुल्य और विशेषाधिककर्म का बन्ध करते हैं ? २. अथवा तुल्य स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव भिन्न-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ? ३. अथवा भिन्न-भिन्न स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव तुल्य-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ? या ४. भिन्न-भिन्न स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव भिन्न-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ?

[७६-१ उ.] गौतम ! तुल्य स्थिति वाले कई एकेन्द्रिय जीव तुल्य और विशेषाधिक कर्म-बन्ध करते हैं, तुल्य स्थिति वाले कतिपय एकेन्द्रिय जीव भिन्न-भिन्न विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं, कई भिन्न-भिन्न स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव तुल्य-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं और कई भिन्न-भिन्न स्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव भिन्न-भिन्न विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चति—अत्थेगइया तुल्लट्ठितीया जाव वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! एगिंदिया चउव्विहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया विसमाउया विसमोववन्नगा। तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं तुल्लट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, तत्थ णं जे ते विसमाउया समोववन्नगा ते णं वेमायट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, तत्थ णं जे ते विसमाउया विसमोववन्नगा ते णं वेमायट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति। से तेणट्ठेणं गोयमा ! जाव वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ चोतीसइमं सयं : पढमे अवांतरसए, पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३४।१।१ ॥

[७६-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया कि कई तुल्यस्थिति वाले... यावत् भिन्न-भिन्न विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ?

[७६-२ उ.] गौतम ! एकेन्द्रिय जीव चार प्रकार के कहे हैं। यथा—(१) कई जीव समान आयु वाले और साथ उत्पन्न हुए होते हैं, (२) कई जीव समान आयु वाले और विषम उत्पन्न हुए होते हैं, (३) कई विषम आयु वाले और साथ उत्पन्न हुए होते हैं तथा (४) कितने ही जीव विषम आयु वाले और विषम उत्पन्न हुए होते हैं। इनमें से जो समान आयु और समान उत्पत्ति वाले हैं, वे तुल्य स्थिति वाले तथा तुल्य एवं विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं। जो समान आयु और विषम उत्पत्ति वाले हैं, वे तुल्य स्थिति वाले विमात्रा विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं। जो जीव विषम आयु और समान उत्पत्ति वाले हैं, वे विमात्रा स्थिति वाले तुल्य-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं और जो विषम आयु और विषम उत्पत्ति वाले हैं, वे विमात्रा स्थिति वाले, विमात्रा-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं। इसी कारण से यह कहा गया है कि यावत् विमात्रा-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—स्वस्थान, अविशेष और नानात्व—बादर पृथ्वीकायादि जीव जिस स्थान पर रहता है, वह उसका 'स्वस्थान' कहलाता है। जहाँ पर्याप्तक-अपर्याप्तक के भेद की विवक्षा न हो, वह अविशेष कहलाता है। जिनमें परस्पर नानात्व=अन्तर न हो, उन्हें अनानात्व कहते हैं।

वैक्रियसमुद्घात—एकेन्द्रिय में जो वैक्रियसमुद्घात कहा है, वह वायुकाय की अपेक्षा से है।

स्थिति और उत्पत्ति की भंगचतुष्टयी—स्थिति और उत्पत्ति की अपेक्षा एकेन्द्रिय के ४ भंग कहे हैं और इन्हीं ४ भंगों की अपेक्षा चार प्रकार का कर्मबन्ध कहा है।[1]

॥ चौतीसवाँ शतक : प्रथम अवान्तरशतक का प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९६१

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७११

पढमे एगिंदियसए : बिइओ उद्देसओ

पहला एकेन्द्रियशतक : द्वितीय उद्देशक

अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय के प्रकारों की तथा अन्य प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा अणंतरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया०, दुयाभेदो जहा एगिंदियसतेसु जाव बायरवणस्सइकाइया ।

[१ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—पृथ्वीकायिक यावत् वनस्पतिकायिक । फिर प्रत्येक के दो-दो भेद एकेन्द्रिय शतक के अनुसार यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त कहने चाहिए ।

२. कहि णं भंते ! अणंतरोववन्नगाणं बायरपुढविकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! सट्ठाणेणं अट्ठसु पुढवीसु, तं जहा—रयणप्पभा जहा ठाणपए जाव दीवेसु समुद्देसु, एत्थ णं अणंतरोववन्नगाणं बायरपुढविकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता, उववातेण सव्वलोए, समुग्घाएणं सव्वलोए, सट्ठाणेणं लोगस्स असंखेज्जइभागे, अणंतरोववन्नगसुहुमपुढविकाइया णं एगविहा अविसेसमणाणत्ता सव्वलोगपरियावन्ना पन्नत्ता समणाउसो ! ।

[२ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहाँ कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे स्वस्थान की अपेक्षा आठ पृथ्वियों में हैं । यथा—रत्नप्रभा इत्यादि । प्रज्ञापनासूत्र के द्वितीय स्थानपद के अनुसार—यावत् द्वीपों में तथा समुद्रों में अनन्तरोपपन्नक बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहे हैं । उपपात और समुद्घात की अपेक्षा वे समस्त लोक में हैं । स्वस्थान की अपेक्षा वे लोक के असंख्यातवें भाग में रहे हुए हैं । अनन्तरोपपन्नक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक सभी जीव एक प्रकार के हैं तथा विशेषता और भिन्नता रहित हैं तथा हे आयुष्मन् श्रमण ! वे सर्वलोक में व्याप्त हैं ।

३. एवं एतेणं कमेणं सव्वे एगिंदिया भाणियव्वा । सट्ठाणाइं सव्वेसिं जहा ठाणपए । एतेसिं पज्जत्तगाणं बायराणं उववाय-समुग्घाय-सट्ठाणाणि जहा तेसिं चेव अपज्जत्तगाणं बायराणं, सुहुमाणं सव्वेसिं जहा पुढविकाइयाणं भणिया तहेव भाणियव्वा जाव वणस्सइकाइय त्ति ।

[३] इसी क्रम से सभी एकेन्द्रिय-सम्बन्धी कथन करना चाहिए । उन सभी के स्वस्थान प्रज्ञापनासूत्र के दूसरे स्थानपद के अनुसार हैं । इन पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों के उपपात, समुद्घात और स्वस्थान के अनुसार अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव के भी उपपातादि जानने चाहिए तथा सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के उपपात, समुद्घात और स्वस्थान के अनुसार सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

४. अणंतरोववन्नगसुहुमपुढविकाइयाणं भंते ! कति कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ ?

गोयमा ! अट्ठ कम्मप्पगडीओ पन्नत्ताओ। एवं जहा एगिंदियसतेसु अणंतरोववन्नगउद्देसए (स० ३३-१-२ सु० ४-६) तहेव पन्नत्ताओ, तहेव (स० ३३-१-२ सु० ७-८) बंधेंति, तहेव (स० ३१-१-२ सु० ९) वेदेंति जाव अणंतरोववन्नगा बायरवणस्सतिकाइया।

[४ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीवों के कितनी कर्मप्रकृतियाँ कही हैं ?

[४ उ.] गौतम ! उनके आठ कर्मप्रकृतियाँ कही हैं, इत्यादि एकेन्द्रियशतक में उक्त अनन्तरोपपन्नक उद्देशक के समान यावत् उसी प्रकार बांधते हैं और वेदते हैं, यहाँ तक यावत् इसी प्रकार अनन्तरोपपन्नक वादर वनस्पतिकायिक-पर्यन्त जानना चाहिए।

५. अणंतरोववन्नगएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहेव ओहिए उद्देसओ भणिओ।

[५ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[५ उ.] गौतम ! यह भी औघिक उद्देशक के अनुसार कहना चाहिए।

६. अणंतरोववन्नगएगिंदियाणं भंते ! कति समुग्घाया पन्नत्ता ?

गोयमा ! दोन्नि समुग्घाया पन्नत्ता, तं जहा—वेयणासमुग्घाए य कसायसमुग्घाए य।

[६ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीवों के कितने समुद्घात कहे हैं ?

[६ उ.] गौतम ! उनके दो समुद्घात कहे हैं। यथा—वेदनासमुद्घात और कषाय-समुद्घात।

७. [१] अणंतरोववन्नगएगिंदिया णं भंते ! किं तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति० पुच्छा तहेव।

गोयमा ! अत्थेगइया तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति, अत्थेगइया तुल्लट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति।

[७-१ प्र.] भगवन् ! क्या तुल्यस्थिति वाले अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव परस्पर तुल्य, विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[७-१ उ.] गौतम ! कई तुल्यस्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव तुल्य-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं और कई तुल्यस्थिति वाले एकेन्द्रिय जीव विमात्र-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं।

[२] से केणट्ठेणं जाव वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति ?

गोयमा ! अणंतरोववन्नगा एगिंदिया दुविहा पन्नत्ता, तं जहा—अत्थेगइया समाउया समोववन्नगा, अत्थेगइया समाउया विसमोववन्नगा। तत्थ णं जे ते समाउया समोववन्नगा ते णं तुल्लट्ठितीया तुल्लविसेसाहियं कम्मं पकरेंति। तत्थ णं जे ते समाउया विसमोववन्नगा ते णं तुल्लट्ठितीया वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति। से तेणट्ठेणं जाव वेमायविसेसाहियं कम्मं पकरेंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चोतीसइमे सए : पढमे अवांतरसए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ।। ३४।१।२ ।।

[७-२ प्र.] भगवन् ! ऐसा क्यों कहा गया कि यावत् भिन्न-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं ?

[७-२ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव दो प्रकार के कहे हैं। यथा कई जीव समान आयु और समान उत्पत्ति वाले होते हैं, जबकि कई जीव समान आयु और विषम उत्पत्ति वाले होते हैं। इनमें से जो समान आयु और समान उत्पत्ति वाले हैं, वे तुल्यस्थिति वाले परस्पर तुल्य-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं और जो समान आयु और विषम उत्पत्ति वाले हैं वे तुल्य स्थिति वाले विमात्र-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं। इस कारण से हे गौतम ! ऐसा कहा गया कि····यावत् विमात्र-विशेषाधिक कर्मबन्ध करते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—पहले उद्देशक में उत्पत्ति और स्थिति की अपेक्षा ४ भंग कहे थे । उनमें से विषम स्थिति सेम्बन्धी अन्तिम दो भंग अनन्तरोपपन्नक जीव में नही पाए जाते, क्योंकि अनन्तरोपपन्नक में विषम स्थिति का अभाव है।[1]

।। चौतीसवाँ शतक : प्रथम अवान्तरशतक : द्वितीय उद्देशक सम्पूर्ण ।।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९५६

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७१५

पढमे एगिंदियसए : तइओ उद्देसओ

प्रथम एकेन्द्रियशतक : तृतीय उद्देशक

१. कतिविधा णं भंते ! परंपरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नगा एगिंदिया पन्नत्ता, तं जहा—पुढविकाइया० भेदो चउक्कश्रो जाव वणस्सतिकातिय त्ति ।

[१ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! परम्परोपपन्नक एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे हैं । यथा—पृथ्वी-कायिक इत्यादि । उनके चार-चार भेद यावत् वनस्पतिकायिक पर्यन्त कहने चाहिए ।

२. परंपरोववन्नगश्रपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले चरिमंते समोहए, समोहणित्ता जे भविए इमीसे रतणप्पभाए पुढवीए जाव पच्चत्थिमिल्ले चरिमंते श्रपज्जत्तसुहुमपुढविकाइयत्ताए उववज्जित्तए० ?

एवं एएणं श्रभिलावेणं जहेव पढमो उद्देसश्रो जाव लोगचरिमंतो त्ति ।

[२ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक जीव रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्व-चरमान्त में मरणसमुद्घात करके रत्नप्रभापृथ्वी के यावत् पश्चिम-चरमान्त में अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायिक रूप से उत्पन्न हो तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] गौतम ! इस अभिलाप से प्रथम उद्देशक के अनुसार यावत् लोक के चरमान्त पर्यन्त कहना ।

३. कहि णं भंते ! परंपरोववन्नगपज्जत्तगबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ?

गोयमा ! सट्ठाणेणं श्रट्ठसु वि पुढवीसु । एवं एएणं श्रभिलावेणं जहा पढमे उद्देसए जाव तुल्लट्ठितीय त्ति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। चोतीसइमे सए : पढमे श्रवांतरसए : तइश्रो उद्देसश्रो समत्तो ।। ३४।१।३ ।।

[३ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक पर्याप्त बादर पृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहाँ हैं ?

[३ उ.] गौतम ! स्वस्थान की अपेक्षा वे आठ पृथ्वियों में हैं । इस प्रकार इस अभिलाप के अनुसार प्रथम उद्देशक में उक्त कथनानुसार यावत् तुल्य-स्थिति तक कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

।। चौतीसवाँ शतक : प्रथम अवान्तरशतक : तृतीय उद्देशक समाप्त ।।

पढमे एगिंदियसए : चउत्थाइ-एक्कारसमपज्जंता उद्देसगा

प्रथम एकेन्द्रियशतक : चौथे से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

चौथे से ग्यारहवें उद्देशक तक प्ररूपणा

१. एवं सेसा वि अट्ठ उद्देसगा जाव अचरिमो त्ति। नवरं अणंतरा० अणंतरसरिसा, परंपरा० परंपरसरिसा। चरिमा य, अचरिमा य एवं चेव।

एवं एते एक्कारस उद्देसगा।

॥ पढमं एगिंदियसेढिसयं समत्तं ॥ ३४-१ ॥

[१] इसी प्रकार शेष आठ उद्देशक भी यावत् 'अचरम' तक जानने चाहिए। विशेष यह है कि अनन्तर-उद्देशक अनन्तर के समान और परम्पर-उद्देशक परम्पर के समान कहना चाहिए।

चरम और अचरम सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार है।

इस प्रकार ये ग्यारह उद्देशक हुए।

॥ प्रथम एकेन्द्रियशतक : चार से ग्यारह उद्देशक पर्यन्त समाप्त ॥

॥ चौतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियशतक सम्पूर्ण ॥

बिइए एगिंदियसेढिसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

द्वितीय एकेन्द्रिय श्रेणीशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय : प्रकार तथा अन्य प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा कण्हलेस्सा एगिंदिया पन्नत्ता, भेदो चउक्कओ जहा कण्हलेस्सएगिंदियसए जाव वणस्सतिकाइय त्ति ।

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय पांच प्रकार के कहे गये हैं । उनके चार-चार भेद एकेन्द्रियशतक के अनुसार यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त जानने चाहिए ।

२. कण्हलेस्सअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रतणप्पभाए पुढवीए पुरत्थिमिल्ले० ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिउद्देसओ जाव लोगचरिमंते त्ति । सव्वत्थ कण्हलेस्सेसु चेव उववातेयव्वो ।

[२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्व-चरमान्त में समुद्घात करके पश्चिमी-चरमान्त में उत्पन्न हो तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[२ उ.] गौतम ! औघिक उद्देशक के अनुसार यावत् लोक के चरमान्त तक सर्वत्र कृष्ण-लेश्या वालों में उपपात कहना चाहिए ।

३. कहिं णं भंते ! कण्हलेस्सअपज्जत्तबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहा आहिउद्देसओ जाव तुल्लट्ठितीय त्ति ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ चोत्तीसइमे सए : बिइए अवांतरसए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३४।२।१ ॥

[३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले अपर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहाँ कहे गए हैं ?

[३ उ.] गौतम ! औघिक उद्देशक के इस अभिलाप के अनुसार 'तुल्यस्थिति वाले' पर्यन्त कहना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

पहले से ग्यारह उद्देशक तक समाप्त

॥ चौतीसवाँ शतक : द्वितीय अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

तइयाइपंचमसयपज्जंता सया : पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा

तीसरे से पांचवाँ एकेन्द्रिय-श्रेणी-शतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

१. एवं एएणं अभिलावेणं जहेव पढमं सेढिसयं तहेव एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा ।

इसी प्रकार जैसा प्रथम श्रेणीशतक कहा है, उसी प्रकार यहाँ ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए ।

[१] एवं नीललेस्सेहि वि सयं ।

[१] इसी प्रकार नीललेश्या वाले एकेन्द्रिय जीव के विषय में तृतीय अवान्तरशतक है ।

[२] काउलेस्सेहि वि सयं एवं चेव ।

[२] कापोतलेश्यी एकेन्द्रिय के लिए भी इसी प्रकार चतुर्थ शतक है ।

[३] भवसिद्धियएगिंदियेहिं सयं ।

चोत्तीसइमे सए : तइयाइ-पंचमपज्जंता सया समत्ता ।। ३४ । ३-५ ।।

[३] तथा भवसिद्धिक-एकेन्द्रियविषयक पंचम शतक भी समझना चाहिए ।

।। तृतीय से पंचम शतक तक : प्रत्येक के ग्यारह उद्देशक समाप्त ।।

छट्ठे एगिंदियसए : पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

छठा एकेन्द्रियशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय-प्ररूपणा

१. कतिविधा णं भंते ! कण्हलेस्सा भवसिद्धीया एगिंदिया पन्नत्ता ?

जहेव ओहिउद्देसओ ।

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी-भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव कितने प्रकार के कहे हैं ?

[१ उ.] गोतम ! औधिक उद्देशकानुसार जानना चाहिए ।

२. कतिविधा णं भंते ! अणंतरोववन्ना कण्हलेस्सा भवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ?

जहेव अणंतरोववण्णाउद्देसओ ओहिओ तहेव ।

[२ प्र.] भगवन् ! अनन्तरोपपन्नक-भवसिद्धिक-कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय कितने प्रकार के कहे हैं ?

[२ उ.] गौतम ! अनन्तरोपपन्नक-सम्बन्धी औधिक उद्देशक के अनुसार जानना ।

३. कतिविहा णं भंते ! परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता ?

गोयमा ! पंचविहा परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धिया एगिंदिया पन्नत्ता । भेदो चउक्कओ जाव वणस्सतिकाइय त्ति ।

[३ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक-कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक कितने प्रकार के कहे हैं ?

[३ उ.] गौतम ! परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यी-भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के कहे हैं । इसी प्रकार यहाँ प्रत्येक के औधिक चार-चार भेद यावत् वनस्पतिकायिक-पर्यन्त समझने चाहिए ।

४. परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धीयअपज्जत्तसुहुमपुढविकाइए णं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए पुढवीए० ?

एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिया उद्देसओ जाव लोयचरमंते त्ति । सव्वत्थ कण्हलेस्सेसु भवसिद्धिएसु उववातेयव्वो ।

[४ प्र.] भगवन् ! जो परम्परोपन्नक-कृष्णलेश्यी-भवसिद्धिक अपर्याप्त सूक्ष्मपृथ्वीकायिक जीव, इस रत्नप्रभापृथ्वी के पूर्वीय-चरमान्त में मरणसमुद्घात करके पश्चिम-चरमान्त में उत्पन्न हो तो वह कितने समय की विग्रहगति से उत्पन्न होता है ?

[४ उ.] गौतम ! पूर्ववत् जानना । इस अभिलाप से औधिक उद्देशक के अनुसार यावत् लोक के चरमान्त तक यहाँ सर्वत्र कृष्णलेश्यी-भवसिद्धिक में उपपात कहना चाहिए ।

५. कहि णं भंते ! परंपरोववन्नकण्हलेस्सभवसिद्धियपज्जत्तबायरपुढविकाइयाणं ठाणा पन्नत्ता? एवं एएणं अभिलावेणं जहेव ओहिओ उद्देसओ जाव तुल्लट्ठितीय त्ति।

[५ प्र.] भगवन् ! परम्परोपपन्नक कृष्णलेश्यीभवसिद्धिक पर्याप्त बादरपृथ्वीकायिक जीवों के स्थान कहाँ कहे गए हैं ?

[५ उ.] गौतम ! इसी प्रकार इस अभिलाप से औधिक उद्देशक यावत् तुल्यस्थिति-पर्यन्त जानना चाहिए।

६. एवं एएणं अभिलावेणं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहि वि तहेव।

॥ एक्कारसउद्देसगसंजुत्तं छट्ठं सतं समत्तं ॥ ३४-६ ॥

[६] इसी प्रकार इस अभिलाप से कृष्णलेश्यीभवसिद्धिक के सम्बन्ध में भी ग्यारह उद्देशक-सहित छठा शतक कहना चाहिए।

॥ चौतीसवाँ शतक : छठा अवान्तरशतक समाप्त ॥

सत्तमाइ बारसमसयपज्जंतेसु : उद्देसगा

सातवें से बारहवें शतक तक : १-११ उद्देशक

१. नीललेस्सभवसिद्धियएगिंदिएसु सयं ।

[१] नीललेश्या वाले भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों के सम्बन्ध में सातवाँ शतक कहना चाहिए ।

२. एवं काउलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहि वि सयं ।

[२] इसी प्रकार कापोतलेश्या वाले भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव-सम्बन्धी आठवाँ शतक कहना चाहिए ।

३. जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाणि एवं अभवसिद्धीएहि वि चत्तारि सयाणि भाणियव्वाणि, नवरं चरिम-अचरिमवज्जा नवउद्देसगा भाणियव्वा । सेसं तं चेव ।

एवं एयाइं बारस एगिंदियसेढिसयाइं ।

सेवं भंते ! सेवं ! भंते ! त्ति जाव विहरइ ।

चउतीसइमे सए एगिंदियसेढिसयाइं समत्ताइं ।। ३४-१-१२ ।।

एगिंदियसेढिससेयं चउत्तीसइमं ।। ३४ ।।

[३] भवसिद्धिक जीव के चार शतकों के अनुसार अभवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीव के भी चार शतक कहने चाहिए । विशेष यह है कि चरम और अचरम को छोड़कर इनमें नौ उद्देशक ही कहने चाहिए । शेष पूर्ववत् जानना । इस प्रकार ये बारह एकेन्द्रिय-श्रेणी-शतक कहे हैं ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—इसमें ऋज्वायता आदि श्रेणियों की मुख्यता होने से इस शतक का नाम 'श्रेणी-शतक' प्रसिद्ध हो गया ।

।। चौतीसवाँ शतक : सातवें से बारहवें अवान्तर शतक तक समाप्त ।।

।। चौतीसवाँ श्रेणी-शतक सम्पूर्ण ।।

पंचतीसइमसयाओ चत्तालीसइमसयपज्जंता सया

पैंतीसवें से लेकर चालीसवें शतक पर्यन्त

छह महायुग्मशतक

प्राथमिक

* ये भगवतीसूत्र के छह महायुग्म शतक हैं—पैंतीसाँ, छत्तीसवाँ, सैंतीसवाँ, अड़तीसवाँ, उनचालीसवाँ और चालीसवाँ।

* इनमें एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी-पंचेन्द्रिय तक के महायुग्मों की उत्पत्ति (कहाँ से ?), आयु, गति, आगति, परिमाण, अपहार, अवगाहना, कर्मप्रकृतिबन्धक-अवन्धक, वेदक-अवेदक, उदयवान्-अनुदयवान्, उदीरक-अनुदीरक, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान-अज्ञान, योग, उपयोग, वर्णादि चार, श्वासोच्छ्वास, आहारक-अनाहारक, विरत-अविरत, क्रियायुक्त—क्रियारहित आदि पदों का १६ प्रकार के महायुग्मों की दृष्टि से विश्लेषण किया गया है।

* पैंतीसवाँ एकेन्द्रिय महायुग्म शतक है, जिसमें १६ महायुग्म और उनके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। इनकी जघन्य और उत्कृष्ट संख्या का भी निरूपण किया गया है। इस प्रकार पैंतीसवें शतक के १२ अवान्तर शतकों में से प्रत्येक के ग्यारह उद्देशकों सहित विविध पहलुओं से एकेन्द्रिय जीवों का सांगोपांग वर्णन किया गया है।
  इसमें पूर्वशतकद्वय के समान अनन्तर-परम्पर, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, चरम-अचरम तथा लेश्यादि विशेषणों से युक्त एकेन्द्रिय के माध्यम से भी प्ररूपणा की गई है।

* छत्तीसवें शतक के अन्तर्गत १२ अवान्तरशतकों में भी प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह उद्देशकों में एकेन्द्रिय जीवों के विषय में प्ररूपणाक्रम के समान द्वीन्द्रिय जीवों की भी विविध पहलुओं से चर्चा की गई है।

* सैंतीसवें शतक में भी १२ अवान्तरशतकों और प्रत्येक के ११-११ उद्देशकों में अतिदेशपूर्वक त्रीन्द्रिय-महायुग्मों की प्ररूपणा है।

* अड़तीसवें शतक में पूर्ववत् चतुरिन्द्रियमहायुग्मों की प्ररूपणा है।

* उनचालीसवें शतक में भी पूर्वशतकानुसार अवगाहना और स्थिति को छोड़कर शेष सब कथन प्रायः द्वीन्द्रिय शतक के समान असंज्ञीपंचेन्द्रिय महायुग्म के विषय में प्ररूपणा की है।

* चालीसवें शतक में इक्कीस अवान्तर शतकों में संज्ञी-पंचेन्द्रिय के षोडश महायुग्मों के माध्यम से उनकी उत्पत्ति आदि का सांगोपांग वर्णन है।

* संक्षेप में समस्त जीवों की विविधताओं और विशेषताओं का सूक्ष्म विवेचन है।

पंचतीसइमं सयं : बारस एगिंदिय-महाजुम्म-सयाणि

पैंतीसवाँ शतक : बारह एकेन्द्रिय-महायुग्मशतक

पढमे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमो उद्देसओ

प्रथम एकेन्द्रिय-महायुग्मशतक : प्रथम उद्देशक

१. [१] कति णं भंते ! महाजुम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! सोलस महाजुम्मा पन्नत्ता, तं जहा—कडजुम्मकडजुम्मे १, कडजुम्मतेयोगे २, कडजुम्मदावरजुम्मे ३, कडजुम्मकलियोगे ४, तेयोगकडजुम्मे ५, तेयोगतेयोए ६, तेओयदावरजुम्मे ७, तेयोगकलियोए ८, दावरजुम्मकडजुम्मे ९, दावरजुम्मतेओए १०, दावरजुम्मदावरजुम्मे ११, दावरजुम्मकलियोगे १२, कलिओगकडजुम्मे १३, कलियोगतेओये १४, कलियोगदावरजुम्मे १५, कलियोगकलिओगे १६।

[१-१ प्र.] भगवन् ! महायुग्म कितने बताए गए हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! सोलह महायुग्म कहे गए हैं । यथा—(१) कृतयुग्मकृतयुग्म, (२) कृतयुग्मत्र्योज, (३) कृतयुग्मद्वापरयुग्म, (४) कृतयुग्मकल्योज, (५) त्र्योजकृतयुग्म, (६) त्र्योजत्र्योज, (७) त्र्योजद्वापरयुग्म, (८) त्र्योजकल्योज, (९) द्वापरयुग्मकृतयुग्म, (१०) द्वापरयुग्मत्र्योज, (११) द्वापरयुग्मद्वापरयुग्म, (१२) द्वापरयुग्मकल्योज, (१३) कल्योजकृतयुग्म, (१४) कल्योजत्र्योज, (१५) कल्योजद्वापरयुग्म और (१६) कल्योजकल्योज।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—सोलस महाजुम्मा पन्नत्ता, तं जहा—कडजुम्मकडजुम्मे जाव कलियोगकलियोगे ?

गोयमा ! जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से त्तं कडजुम्मकडजुम्मे १। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से त्तं कडजुम्मतेयोए २। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से त्तं कडजुम्मदावरजुम्मे ३। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कडजुम्मा, से त्तं कडजुम्मकलियोगे ४। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेयोगा, से त्तं तेयोगकडजुम्मे ५। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेयोया से त्तं तेयोयतेयोगे ६। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेयोगा, से त्तं तेओयदावरजुम्मे ७। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अव-

हीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया तेयोया, से त्तं तेयोयकलियोए ८। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा, से त्तं दावरजुम्मकडजुम्मे ९। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा, से त्तं दावरजुम्मतेयोए १०। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा, से त्तं दावरजुम्मदावरजुम्मे ११। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया दावरजुम्मा से त्तं दावरजुम्मकलियोए १२। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलियोगा, से त्तं कलियोगकडजुम्मे १३। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे तिपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलियोया, से त्तं कलियोयतेयोए १४। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे दुपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलियोगा, से त्तं कलियोगदावरजुम्मे १५। जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे एगपज्जवसिए, जे णं तस्स रासिस्स अवहारसमया कलियोगा, से त्तं कलियोयकलियोए १६। से तणट्ठेणं जाव कलियोगकलियोगे।

[१-२ प्र.] भगवन् ! क्या कारण है कि महायुग्म सोलह कहे गए हैं, यथा—कृतयुग्मकृतयुग्म से लेकर यावत् कल्योजकल्योज तक ?

[१-२ उ.] गौतम ! (१) जिस राशि में से चार संख्या का अपहार करते हुए चार शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय भी कृतयुग्म (चार) हों तो वह राशि कृतयुग्मकृतयुग्म कहलाती है, (२) जिस राशि में से चार संख्या का अपहार करते हुए तीन शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय भी कृतयुग्म हों तो वह राशि कृतयुग्मत्र्योज कहलाती है। (३) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए दो शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय भी कृतयुग्म हों तो वह राशि कृतयुग्मद्वापरयुग्म कहलाती है, (४) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए एक शेष रहे और उस राशि के अपहारसमय भी कृतयुग्म हों तो वह राशि कृतयुग्म-कल्योज कहलाती है, (५) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए चार शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय भी त्र्योज हों तो वह राशि त्र्योजकृतयुग्म कहलाती है। (६) जिस राशि में से चार के अपहार से अपहृत करते हुए तीन शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय भी त्र्योज (तीन) हों तो वह राशि त्र्योजत्र्योज कहलाती है, (७) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए दो बचें और उस राशि के अपहारसमय त्र्योज हों तो वह राशि त्र्योज-द्वापरयुग्म कहलाती है, (८) जिस राशि में से चार से अपहृत करते हुए एक बचे और उस राशि के अपहारसमय त्र्योज हों तो वह राशि त्र्योजकल्योज कहलाती है, (९) जिस राशि में से चार संख्या से अपहृत करते हुए चार शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय द्वापरयुग्म (दो) हों तो वह राशि द्वापरयुग्मकृतयुग्म कहलाती है, (१०) जिस राशि में से चार संख्या से अपहृत करते हुए तीन शेष रहें और उस राशि के अपहारसमय द्वापरयुग्म हो तो वह राशि द्वापरयुग्मत्र्योज कहलाती है। (११) जिस राशि में से चार संख्या से अपहृत करते हुए दो बचें और उस राशि के अपहारसमय भी द्वापरयुग्म हों तो वह राशि द्वापरयुग्मद्वापरयुग्म कहलाती है। (१२) जिस राशि में से चार संख्या के

अपहार से अपहृत करते हुए एक शेष रहे और उस राशि के अपहार-समय द्वापरयुग्म हों, तो वह राशि द्वापरयुग्मकल्योज कहलाती है, (१३) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए चार शेष रहें और उस राशि का अपहार-समय कल्योज (एक) हो तो वह राशि कल्योज-कृतयुग्म कहलाती है, (१४) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए तीन शेष रहें और उस राशि का अपहार-समय कल्योज हो तो वह राशि कल्योजत्र्योज कहलाती है। (१५) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए दो बचें और उस राशि का अपहार समय कल्योज हो तो वह राशि कल्योजद्वापरयुग्म कहलाती है, और (१६) जिस राशि में से चार संख्या के अपहार से अपहृत करते हुए एक शेष रहे और उस राशि का अपहार-समय कल्योज हो तो वह राशि कल्योजकल्योज कहलाती है। इसी कारण से हे गौतम ! (कृतयुग्मकृतयुग्म से लेकर) यावत् कल्योजकल्योज तक कहा गया है।

विवेचन—महायुग्म : स्वरूप प्रकार और जघन्य संख्या—'युग्म' राशिविशेष को कहते हैं और वे युग्म क्षुल्लक (छोटे) भी होते हैं और महान् (बड़े) भी होते हैं। क्षुल्लकयुग्मों का वर्णन पहले किया जा चुका है। उनसे इनका अन्तर बताने हेतु इस शतक में 'महायुग्म' का वर्णन प्रारम्भ किया जाता है। महायुग्म सोलह हैं, जिनका नाम और संक्षिप्त स्वरूप मूलपाठ में ही बता दिया गया है। उदाहरणार्थ सर्वप्रथम महायुग्म का नाम 'कृतयुग्मकृतयुग्म' है। यह राशि कृतयुग्मकृतयुग्म इसलिए कहलाती है कि जिस राशि में से प्रतिसमय चार-चार के अपहार से अपहृत करते हुए अन्त में चार शेष रहें और अपहार-समय भी चार हों, क्योंकि जिस द्रव्य में से अपहरण किया जाता है, वह द्रव्य भी कृतयुग्म है और अपहरण के समय भी कृतयुग्म (चार) हैं। अतः ऐसी राशि कृतयुग्मकृतयुग्म कहलाती है। इसी प्रकार अन्य राशियों का स्वरूप भी शब्दार्थ से जान लेना चाहिए। यथा—१६ की संख्या जघन्य कृतयुग्मकृतयुग्म-राशिरूप है, क्योंकि उसमें से चार संख्या से अपहार करते हुए अन्त में चार शेष रहते हैं और अपहारसमय भी चार होते हैं। कृतयुग्मत्र्योज इस प्रकार है—जघन्य १९ की संख्या में से प्रतिसमय चार का अपहार करते हुए अन्त में तीन शेष रहते हैं और अपहार-समय चार शेष होते हैं। इस प्रकार अपहरण किये जाने वाले द्रव्य की अपेक्षा वह राशि त्र्योज है और अपहार-समय की अपेक्षा 'कृतयुग्म' है। अतएव इस राशि को कृतयुग्मत्र्योज कहा जाता है। यहाँ सर्वत्र अपहारक समय की अपेक्षा पहला पद है और अपहार किये जाने वाले द्रव्य की अपेक्षा दूसरा पद है। इन सोलह महायुग्मों की जघन्य संख्या इस प्रकार है—(१) सोलह आदि, (२) उन्नीस आदि, (३) अठारह आदि, (४) सत्रह आदि, (५) बारह आदि, (६) पन्द्रह आदि, (७) चौदह आदि, (८) तेरह आदि, (९) आठ आदि, (१०) ग्यारह आदि, (११) दस आदि, (१२) नौ आदि, (१३) चार आदि, (१४) सात आदि, (१५) छह आदि और (१६) पांच आदि।[1]

कृतयुग्म-कृतयुग्म-राशियुक्त एकेन्द्रियमहायुग्मों में उपपातादि बत्तीस द्वारों की प्ररूपणा

२. कडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ? किं नेरइय० ?

जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० ५) तहा उववातो।

[२ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? क्या वे नैरयिकों के आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९६५-९६६

[२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार (भ. शतक ११, उ. १, सू. ५) उत्पलोद्देशक में उपपात कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी उपपात कहना चाहिए।

३. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! सोलस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति।

[३ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे एक समय में सोलह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त उत्पन्न होते हैं।

४. ते णं भंते ! जीवा समए समए० पुच्छा।

गोयमा ! ते णं अणंता समए समए अवहीरमाणा अवहीरमाणा अणंताहिं ओसप्पिणि-उस्सप्पिणीहिं अवहीरंति, नो चेव णं अवहिया सिया।

[४ प्र.] भगवन् ! वे अनन्त जीव समय-समय में एक-एक अपहृत किये जाएँ तो कितने काल में अपहृत (रिक्त) होते हैं ?

[४ उ.] गौतम ! यदि वे अनन्त जीव समय-समय में अपहृत किये जाएँ और ऐसा करते हुए अनन्त अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी बीत जाएँ तो भी वे अपहृत (रिक्त—खाली) नहीं हो पाते। (किन्तु ऐसा किसी ने किया नहीं)।

५. उच्चत्तं जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० ८)।

[५] इनकी ऊँचाई उत्पलोद्देशक (श. ११, उ. १, सू. ८) के अनुसार जानना चाहिए।

६. ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स कम्मस्स किं बंधगा, अबंधगा ?

गोयमा ! बंधगा, नो अबंधगा।

[६ प्र.] भगवन् ! वे एकेन्द्रिय जीव ज्ञानावरणीयकर्म के वन्धक हैं या अवन्धक ?

[६ उ.] गौतम ! वे जीव ज्ञानावरणीयकर्म के वन्धक हैं, अवन्धक नहीं।

७. एवं सव्वेसिं आउयवज्जाणं, आउयस्स बंधगा वा, अबंधगा वा।

[७] इसी प्रकार वे जीव आयुष्यकर्म को छोड़ कर शेष सभी कर्मों के वन्धक हैं। आयुष्यकर्म के वे बन्धक भी हैं और अबन्धक भी।

८. ते णं भंते ! जीवा नाणावरणिज्जस्स० पुच्छा।

गोयमा ! वेदगा, नो अवेदगा।

[८ प्र.] भगवन् ! वे जीव ज्ञानावरणीयकर्म के वेदक हैं या अवेदक ?

[८ उ.] गौतम ! वे ज्ञानावरणीयकर्म के वेदक हैं, अवेदक नहीं।

९. एवं सव्वेसिं।

[९] इसी प्रकार सभी कर्मों के विषय में जानना चाहिए।

१०. ते णं भंते ! जीवा किं सातावेदगा० पुच्छा।

गोयमा ! सातावेयगा वा असातावेयगा वा। एवं उप्पलुद्देसगपरिवाडी (स० ११ उ० १ सु० १२—१३)—सव्वेसिं कम्माणं उदई, नो अणुदई। छण्हं कम्माणं उदीरगा, नो अणुदीरगा। वेयणिज्जा-ऽऽउयाणं उदीरगा वा, अणुदीरगा वा।

[१० प्र.] भगवन् ! वे जीव साता के वेदक हैं अथवा असाता के वेदक हैं ?

[१० उ.] गौतम ! वे सातावेदक होते हैं, अथवा असातावेदक भी एवं उत्पलोद्देशक (श. ११, उ. ११, सू. १२-१३) की परिपाटी के अनुसार वे सभी कर्मों के उदय वाले हैं, अनुदयी नहीं। वे छह कर्मों के उदीरक हैं, अनुदीरक नहीं तथा वेदनीय और आयुष्यकर्म के उदीरक भी हैं और अनुदीरक भी।

११. ते णं भंते जीवा किं कण्ह० पुच्छा।

गोयमा ! कण्हलेस्सा वा नीललेस्सा वा काउलेस्सा वा तेउलेस्सा वा। नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी, नो सम्मामिच्छद्दिट्ठी। नो नाणी, अन्नाणी; नियमं दुअन्नाणी, तं जहा—मतिअन्नाणी य, सुयअन्नाणी य। नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी। सागारोवउत्ता वा, अणागारोव-उत्ता वा।

[११ प्र.] भगवन् ! वे एकेन्द्रिय जीव क्या कृष्णलेश्या वाले होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[११ उ.] गौतम ! वे जीव कृष्णलेश्यी, नीललेश्यी, कापोतलेश्यी अथवा तेजोलेश्यी होते हैं। वे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते, मिथ्यादृष्टि होते हैं। वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी होते हैं। वे नियमतः दो अज्ञान वाले होते हैं। यथा—मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी। वे मनोयोगी और वचनयोगी नहीं होते, केवल काययोगी होते हैं। वे साकारोपयोग वाले भी होते हैं और अनाकारोपयोग वाले भी।

१२. तेसि णं भंते ! जीवाणं सरीरगा कतिवण्णा० ?

जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० १९—३०) सव्वत्थ पुच्छा। गोयमा ! जहा उप्पलुद्देसए। ऊसासगा वा, नीसासगा वा, नो ऊसासगनीसासगा। आहारगा वा, अणाहारगा वा। नो विरया, अविरया, नो विरयाविरया। सकिरिया, नो अकिरिया। सत्तविहबंधगा वा, अट्ठविहबंधगा वा। आहारसन्नोवउत्ता वा जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता वा। कोहकसाई वा जाव लोभकसाई वा। नो इत्थवेदगा, नो पुरिसवेदगा, नपुंसगवेदगा। इत्थिवेदबंधगा वा, पुरिसवेदबंधगा वा, नपुंसगवेदबंधगा वा। नो सण्णी, असण्णी। सइंदिया, नो अणिंदिया।

[१२ प्र.] भगवन् ! उन एकेन्द्रिय जीवों के शरीर कितने वर्ण के होते हैं ? इत्यादि समग्र प्रश्न (श. ११, उ. १) उत्पलोद्देशक (सू. १९ से ३० तक) के अनुसार।

[१२ उ.] गौतम ! उत्पलोद्देशक के अनुसार, उनके शरीर पांच वर्ण, पांच रस, दो गन्ध और आठ स्पर्श वाले होते हैं। वे उच्छ्वास वाले या निःश्वास वाले अथवा नो-उच्छ्वास-निःश्वास वाले होते हैं। वे आहारक या अनाहारक होते हैं। वे विरत (सर्वविरत) और विरताविरत (देशविरत) नहीं होते, किन्तु अविरत होते हैं। वे क्रियायुक्त होते हैं, क्रियारहित नहीं। वे सात या आठ कर्मप्रकृतियों के वन्धक होते हैं। वे आहारसंज्ञा यावत् परिग्रहसंज्ञा वाले होते हैं। वे क्रोधकषायी

यावत् लोभकषायी होते हैं। वे स्त्रीवेदी या पुरुषवेदी नहीं होते, किन्तु नपुंसकवेदी होते हैं। वे स्त्रीवेद-वन्धक पुरुषवेद-वन्धक या नपुंसकवेद-वन्धक होते हैं। वे संज्ञी नहीं होते, असंज्ञी होते हैं। वे सइन्द्रिय होते हैं, अनिन्द्रिय नहीं होते।

१३. ते णं भंते ! 'कडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय' त्ति कालओ केवचिरं होंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अणंतं कालं[1]—अणंतो वणस्सतिकालो। संवेहो न भण्णइ आहारो जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० ४०), नवरं निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघायं पडुच्च सिय तिदिसिं, सिय चतुदिसिं, सिय पंचदिसिं। सेसं तहेव। ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, (अंतोमुहुत्तं), उक्कोसेणं बावीसं वाससहस्साइं। समुग्घाया आइल्ला चत्तारि, मारणंतियसमुग्घाएणं समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति। उव्वट्टणा जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० ४४)।

[१३ प्र.] भगवन् ! वे कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव काल की अपेक्षा कितने काल तक होते हैं ?

[१३ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्तकाल—अनन्त (उत्सर्पिणी-अवसर्पिणीरूप) वनस्पतिकाल-पर्यन्त होते हैं। यहाँ संवेध का कथन नहीं किया जाता। इनका आहार उत्पलोद्देशक (श. ११, उ. १, सू. ४०) के अनुसार जानना, किन्तु वे व्याघातरहित छह दिशा का और व्याघात हो तो कदाचित् तीन, चार या पांच दिशा से आहार लेते हैं। इनकी स्थिति जघन्य अन्तर्मूहूर्त्त की और उत्कृष्ट वाईस हजार वर्ष की होती है। इनमें आदि (पहले) के चार समुद्घात पाये जाते हैं। ये मारणान्तिक समुद्घात से समवहत अथवा असमवहत होकर मरते हैं। इनकी उद्वर्त्तना उत्पलोद्देशक के अनुसार जाननी चाहिए।

१४. अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता कडजुम्मकडजुम्मएगिंदियत्ताए उववन्नपुव्वा ?

हंता गोयमा ! असइं अदुवा अणंतखुत्तो।

[१४ प्र.] भगवन् ! समस्त प्राण, भूत, जीव और सत्त्व क्या कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रियरूप से पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[१४ उ.] हाँ, गौतम ! वे अनेक बार अथवा अनन्त वार उत्पन्न हो चुके हैं।

विवेचन—कृतयुग्म-कृतयुग्म-एकेन्द्रिय जीवों के विषय में कुछ स्पष्टीकरण—जिन एकेन्द्रिय जीवों में से चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में चार वचें और अपहार-समय भी चार हों, वे कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रिय कहलाते हैं। यहाँ प्रायः ग्यारहवें शतक के प्रथम उत्पलोद्देशक का अतिदेश किया गया है।

एकेन्द्रिय जीवों में संवेध असम्भव क्यों ?—उत्पलोद्देशक में उत्पल यानी कमल के जीव की उत्पत्ति विवक्षित हो और वह पृथ्वीकायादि दूसरी काय में जाए और फिर उत्पल में आकर उत्पन्न हो तव उसका संवेध संभावित होता है, किन्तु प्रस्तुत में कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय का प्रकरण है और एकेन्द्रिय तो अनन्त उत्पन्न होते हैं। उनमें से निकल कर वे विजातीयकाय में उत्पन्न हों और

---

१. अधिकपाठ—किसी किसी प्रति में यहाँ इतना पाठ अधिक है—'अणंता ओसप्पिणि-उस्सपिणीओ……।'

पुनः एकेन्द्रिय में उत्पन्न हों तब उनका संवेध हो सकता है, किन्तु वहाँ से उनका निकलना असम्भव होने से सवेध नहीं हो सकता। यहाँ जो सोलह कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप उत्पाद कहा है, वह त्रसकाय से आकर उत्पन्न होने वाले जीव की अपेक्षा से है, वह वास्तविक उत्पाद नहीं है, क्योंकि एकेन्द्रिय में प्रतिसमय अनन्त जीवों का उत्पाद होता है। इसलिए यहाँ एकेन्द्रिय की अपेक्षा से संवेध असम्भवित होने से उसका निषेध किया गया है।[1]

कृतयुग्म-त्र्योज-एकेन्द्रिय से लेकर कल्योज-कल्योज-एकेन्द्रिय तक का उत्पादादि निरूपण

१५. कडजुम्मतेयोयएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ?

उववातो तहेव।

[१५ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-त्र्योजराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१५ उ.] गौतम ! उनका उपपात पूर्ववत् कहना चाहिए।

१६. ते णं भंते ! जीवा एगसमए० पुच्छा।

गोयमा ! एक्कूणवीसा वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। सेसं जहा कडजुम्मकडजुम्माणं (सु० ४—१४) जाव अणंतखुत्तो।

[१६ प्र.] भगवन् ! वे जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[१६ उ.] गौतम ! वे एक समय में उन्नीस, संख्यात, असंख्यात या अनन्त उत्पन्न होते हैं। शेष पूर्ववत् कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय के पाठ (सू. ४ से १४ तक) के अनुसार यावत् पहले अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

१७. कडजुम्मदावरजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओहिंतो उववज्जंति ?

उववातो तहेव।

[१७ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-द्वापरयुग्मरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१७ उ.] गौतम ! इनका उपपात पूर्ववत् जानना चाहिए।

१८. ते णं भंते ! एगसमएणं० पुच्छा।

गोयमा ! अट्ठारस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। सेसं तहेव (सु० ४—१४) जाव अणंतखुत्तो।

[१८ प्र.] भगवन् ! वे (पूर्वोक्त एकेन्द्रिय) जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[१८ उ.] गौतम ! वे एक समय में अठारह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त उत्पन्न होते हैं। शेष सब पूर्ववत् (सू. ४ से १४ तक कृतयुग्मएकेन्द्रिय के अनुसार) यावत् अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

१९. कडजुम्मकलियोगएगिंदिया णं भंते ! कओ उवव० ?

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९६७

उववातो तहेव। परिमाणं सत्तरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा। सेसं तहेव (सु० ४-१४) जाव अणंतखुत्तो।

[१९ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कल्योजरूप एकेन्द्रिय कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१९ उ.] गौतम ! इनका उपपात पूर्ववत् समझना चाहिए। इनका परिमाण है—सत्रह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त। शेष (सू. ४ से १४ तक के अनुसार) पूर्ववत् यावत् अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

२०. तेयोगकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

उववातो तहेव। परिमाणं—बारस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। सेसं तहेव (सु० ४-१४) जाव अणंतखुत्तो।

[२० प्र.] भगवन् ! त्र्योज-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२० उ.] गौतम ! इनका उपपात भी पूर्ववत् जानना। इनके प्रतिसमय उत्पाद का परिमाण है—बारह, संख्यात, असंख्यात अथवा अनन्त। शेष (सू. ४ से १४ तक के अनुसार) पूर्ववत् यावत् अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

२१. तेयोयतेयोयएगिंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

उववातो तहेव। परिमाणं—पन्नरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा। सेसं तहेव (सु० ४-१४) जाव अणंतखुत्तो।

[२१ प्र.] भगवन् ! त्र्योज-त्र्योजराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[२१ उ.] गौतम ! इनका उपपात भी पूर्ववत् है। इनके प्रतिसमय उत्पाद का परिमाण है—पन्द्रह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त। शेष सब (सू. ४ से १४ के अनुसार) पूर्ववत् यावत् अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक जानना चाहिए।

२२. एवं एएसु सोलससु महाजुम्मेसु एक्को गमओ, नवरं परिमाणे नाणत्तं—तेयोयदावरजुम्मेसु परिमाणं चोद्दस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। तेयोगकलियोगेसु तेरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। दावरजुम्मकडजुम्मेसु अट्ठ वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति। दावरजुम्मतेयोगेसु एक्कारस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। दावरजुम्मदावरजुम्मेसु दस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। दावरजुम्मकलियोगेसु नव वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। कलियोगकडजुम्मेसु चत्तारि वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। कलियोगतेयोगेसु सत्त वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति। कलियोगदावरजुम्मेसु छ वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति।

[२२] इस प्रकार इन सोलह महायुग्मों का एक ही प्रकार का कथन (गमक) समझना चाहिए। किन्तु इनके परिमाण में भिन्नता है। जैसे कि—त्र्योजद्वापरयुग्म का प्रतिसमय उत्पाद का परिमाण चौदह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। त्र्योजकल्योज का प्रतिसमय उत्पाद-परिमाण है—तेरह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त। द्वापरयुग्मकृतयुग्म का उत्पाद-परिमाण आठ, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। द्वापरयुग्मत्र्योज का प्रतिसमय उत्पाद-परिमाण ग्यारह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। द्वापरयुग्मद्वापरयुग्म में प्रतिसमय में दस, संख्यात, असंख्यात या अनन्त उत्पन्न होते हैं। द्वापरयुग्मकल्योज में प्रतिसमय उत्पाद-परिमाण नौ, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। कल्योजकृतयुग्म में प्रतिसमय उत्पाद-परिमाण चार, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। कल्योजत्र्योज में प्रतिसमय उत्पत्ति-परिमाण सात, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है और कल्योजद्वापरयुग्म में प्रतिसमय में उत्पाद का परिमाण छह, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है।

२३. कलियोगकलियोगएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

उववातो तहेव। परिमाणं पंच वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, अणंता वा उववज्जंति सेसं तहेव (सु० ४-१४) जाव अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पणतीसइमे सए : पढमे एगिंदिय-महाजुम्मसए : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३५।१।१ ॥

[२३ प्र.] भगव ! कल्योज-कल्योजराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२३ उ.] गौतम ! इनका उपपात भी पूर्ववत् कहना चाहिए। इनका प्रतिसमय उत्पाद का परिमाण पांच, संख्यात, असंख्यात या अनन्त है। शेष सब पूर्ववत् (सू. ४ से १४ तक के अनुसार) यावत् अनेक वार अथवा अनन्त वार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—इस प्रकरण में कृतयुग्म-त्र्योजरूप एकेन्द्रिय से लेकर कल्योज-कल्योज एकेन्द्रिय तक के जीवों के उत्पाद आदि का कथन पूर्वोक्त कृतयुग्म-कृमयुग्म एकेन्द्रिय के (सू. ४ से १४ तक के अनुसार) अतिदेशपूर्वक किया गया है। किन्तु इन सोलह ही महायुग्मों के प्रतिसमयोत्पत्ति के जघन्य परिमाण में अन्तर है, जिसे मूलपाठ में स्पष्ट कर दिया गया है।[1]

॥ पैंतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. ३ (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ११४५-४६

पढमे एगिंदियमहाजुम्मसए : बिइओ उद्देसगो

प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : द्वितीय उद्देशक

१. पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

गोयमा ! तहेव ।

[१ प्र.] भगवन् ! प्रथमसमयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पूर्ववत् कहना चाहिए ।

२. एवं जहेव पढमो उद्देसओ तहेव सोलसखुत्तो बितियो वि भाणियव्वो । तहेव सव्वं । नवरं इमाणि दस नाणत्ताणि—ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेण वि अंगुलस्स असंखेज्जइभागं । आउयकम्मस्स नो बंधगा, अबंधगा । आउयस्स नो उदीरगा, अणुदीरगा । नो उस्सासगा, नो निस्सासगा, नो उस्सासनिस्सासगा । सत्तविहबंधगा, नो अट्ठविहबंधगा ।

[२] इसी प्रकार जैसे प्रथम उद्देशक में (उत्पाद-परिमाण) कहा है, वैसे द्वितीय उद्देशक में भी उत्पाद-परिमाण सोलह वार कहना चाहिए । अन्य सब कथन पूर्ववत् ही है । किन्तु इन दस बातों में भिन्नता (नानात्व) है । यथा—(१) अवगाहना—जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग है और उत्कृष्ट भी अंगुल के असंख्यातवें भाग है । (२-३) आयुष्यकर्म के बन्धक नहीं, अबन्धक होते हैं । (४-५) आयुष्यकर्म के ये उदीरक नहीं, अनुदीरक होते हैं । (६-७-८) ये उच्छ्वास, निःश्वास तथा उच्छ्वास-निःश्वास से युक्त नहीं होते और (९-१०) ये सात प्रकार के कर्मों के बन्धक होते हैं, अष्टविधकर्मों के बन्धक नहीं होते ।

३. ते णं भंते ! 'पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय' त्ति कालतो केवचिरं० ?

गोयमा ! एक्कं समयं ।

[३ प्र.] भगवन् ! वे प्रथमसमयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव काल की अपेक्षा कितने काल तक होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे एक समय तक होते हैं ।

४. एवं ठिती वि । समुग्घाया आइल्ला दोन्नि । समोहया न पुच्छिज्जंति । उव्वट्टणा न पुच्छिज्जइ । सेसं तहेव सव्वं निरवसेसं सोलससु वि गमएसु जाव अणंतखुत्तो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ पढमे एगिंदिय-महाजुम्मसए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३५।१।२ ॥

[४] उनकी स्थिति भी इतनी ही (इसी प्रकार) है। उनमें आदि (पहले) के दो समुद्घात होते हैं। उनमें समवहत एवं उद्वर्त्तना नहीं होने से, इन दोनों की पृच्छा नहीं करनी चाहिए। शेष सब बातें सोलह ही महायुग्मों में यावत् अनन्त वार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक उसी प्रकार (प्रथम उद्देशक के अनुसार) कहनी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—स्वरूप और भिन्नताएँ—एकेन्द्रियरूप में उत्पन्न हुए, जिनको अभी एक समय ही हुआ है और जो कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप हैं, ऐसे एकेन्द्रिय को **'प्रथमसमयकृतयुग्मकृतयुग्म-एकेन्द्रिय'** कहते हैं। ये जीव प्रथमसमयोत्पन्न हैं, इसलिए इनमें जो बातें सम्भव नहीं, उन बातों का अभाव होने से प्रथम-उद्देशक-कथित दस बातों से इनमें भिन्नता है।[1]

॥ पैंतीसवाँ शतक : प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९६८

पढमे एगिंदियमहाजुम्मसए : तइयाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

१. अपढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एसो जहा पढमुद्देसो सोलसहि वि जुम्मेसु तहेव नेयव्वो जाव कलियोगकलियोगत्ताए जाव अणंतखुत्तो ॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।१।३ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! अप्रथमसमयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथम उद्देशक में कहा है, उसी प्रकार इस उद्देशक में भी सोलह महायुग्मों के पाठ द्वारा यावत् अनन्त वार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए ॥१-३॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है०' इत्यादि पूर्ववत् ।

२. चरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कत्तो उववज्जंति ?

एवं जहेव पढमसमयउद्देसओ, नवरं देवा न उववज्जंति, तेउलेस्सा न पुच्छिज्जंति । सेसं तहेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।१।४ ॥

[२ प्र.] भगवन् ! चरमसमयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार प्रथमसमय उद्देशक कहा है, उसी प्रकार यह उद्देशक भी कहना चाहिए । किन्तु इनमें देव उत्पन्न नहीं होते तथा तेजोलेश्या के विषय में प्रश्न नहीं करना चाहिए । शेष सब बातें पूर्ववत् हैं ॥१-४॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है० २', इत्यादि पूर्ववत् ।

३. अचरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा अपढमसमयउद्देसओ तहेव भाणियव्वो निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते !० ॥ ३५।१।५ ॥

[३ प्र.] भगवन् ! अचरमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[३ उ.] गौतम ! इस उद्देशक का समग्र कथन अप्रथमसमय उद्देशक (तीन) के अनुसार कहना चाहिए ॥१-५॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है० २', इत्यादि पूर्ववत् ।

४. पढमपढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ ।। ३५।१।६ ।।

[४ प्र.] भगवन् ! प्रथमप्रथमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[४ उ.] गौतम ! प्रथमसमय के उद्देशक के अनुसार समग्र कथन करना चाहिए ।।१-६।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

५. पढम-अपढमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा पढमसमयउद्देसो तहेव भाणियव्वो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।। ३५।१।७ ।।

[५ प्र.] भगवन् ! प्रथम-अप्रथमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न ।

[५ उ.] गौतम ! इसका समग्र कथन प्रथमसमय के उद्देशकानुसार करना चाहिए ।।१-७।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है० २', यों कह कर श्री गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

६. पढम-चरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा चरिमुद्देसओ तहेव निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।। ३५।१।८ ।।

[६ प्र.] भगवन् ! प्रथम-चरमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! इनका समस्त निरूपण चरमउद्देशक के अनुसार जानना चाहिए ।।१-८।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है० २', यों कह कर श्री गौतम-स्वामी यावत् विचरते हैं ।

७. पढम-अचरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

जहा बीओ उद्देसओ तहेव निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ ।। ३५।१।९ ।।

[७ प्र.] भगवन् ! प्रथम-अचरमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[७ उ.] गौतम ! इनका समस्त निरूपण दूसरे उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए ।।१-९।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

८. चरिम-चरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा चउत्थो उद्देसओ तहेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।। ३५।१।१० ।।

[८ प्र.] भगवन् ! चरम-चरमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[८ उ.] गौतम ! इनका समग्र निरूपण चौथे उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए ।।१-१०।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है'०, इत्यादि पूर्ववत् ।

९. चरिम-अचरिमसमयकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा पढमसमयउद्देसओ तहेव निरवसेसं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! जाव विहरइ ।। ३५।१।११ ।।

एवं एए एक्कारस उद्देसगा । पढमो ततियो पंचमओ य सरिसगमगा, सेसा अट्ठ सरिसगमगा, नवरं चउत्थे[1] अट्ठमे दसमे य देवा न उववज्जंति, तेउलेसा नत्थि ।

।। पंचतीसइमे सए : पढमं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ।। ३५-१ ।।

[९ प्र.] भगवन् ! चरम-अचरमसमय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[९ उ.] गौतम ! इनका समस्त कथन प्रथमसमयउद्देशक के अनुसार करना चाहिए ।।१-११।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि कथन पूर्ववत् ।

इस प्रकार ये ग्यारह उद्देशक हैं । इनमें से पहले, तीसरे और पांचवें उद्देशक के पाठ एक-समान हैं । शेष आठ उद्देशक एकसमान पाठ वाले हैं । किन्तु चौथे, (छठे), आठवें और दसवें उद्देशक में देवों का उपपात तथा तेजोलेश्या का कथन नहीं करना चाहिए ।

विवेचन—निष्कर्ष और आशय—प्रस्तुत प्रकरण में अप्रथमसमय से लेकर चरम-अचरम-समय तक कुल दस उद्देशक कहे गए हैं । प्रथम उद्देशक का निरूपण पहले किया जा चुका है । ये ग्यारह उद्देशक कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय के हैं, परन्तु विभिन्न विशेषणों से युक्त है यथा—(१) प्रथमसमय, (२) अप्रथमसमय, (३) चरमसमय, (४) अचरमसमय, (५) प्रथम-प्रथमसमय, (६) प्रथम-अप्रथम-समय, (७) प्रथम-चरम-समय, (८) प्रथम-अचरम-समय, (९) चरम-चरम-समय, (१०) चरम-अचरम-समय । यहाँ अप्रथम-समय से चरम-अचरम-समय तक (तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक तक) का निरूपण किया गया है ।

अप्रथमसमय०—जिनको उत्पन्न हुए द्वितीयादि समय हो गए हैं और जो संख्या में कृतयुग्म-कृतयुग्म हैं, ऐसे एकेन्द्रिय जीवों को **'अप्रथमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय'** कहा गया है । इनका कथन सामान्य एकेन्द्रियों के समान है, इसी कारण यहाँ प्रथम उद्देशक का अतिदेश किया गया है ।

चरमसमय०—चरमसमय शब्द यहाँ एकेन्द्रियों के मरणसमय के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । उस (चरम) समय में रहे हुए कृतयुग्म-कृतयुग्म एकेन्द्रियों का कथन प्रथमसमय के एकेन्द्रियोद्देशक के समान है, उनमें जो दस बोलों की भिन्नता बताई गई है, वह यहाँ भी समझनी चाहिए । इनमें एक विशेषता यह है कि इनमें देव आकर उत्पन्न नहीं होते । इसलिए इस उद्देशकान्तार्गत इनमें तेजोलेश्या का कथन नहीं करना चाहिए । एकेन्द्रियों में तेजोलेश्या तभी पाई जाती है जब उनमें देव उत्पन्न होते हैं ।

---

१. अधिकपाठ—यहाँ 'चउत्थे' के बाद 'छट्ठे' अधिकपाठ मिलता है । —सं.

अचरमसमय०—जिस एकेन्द्रिय जीवों का 'चरमसमय' नहीं है, वे 'अचरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्म-एकेन्द्रिय' कहे गए हैं।

प्रथम-प्रथमसमय०—जो एकेन्द्रिय जीव प्रथमसमयोत्पन्न हों और कृतयुग्म-कृतयुग्मत्व के अनुभव के प्रथमसमय में वर्त्तमान हों, वे प्रथम-प्रथमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय कहलाते हैं।

प्रथम-अप्रथमसमय०—प्रथमसमयोत्पन्न होते हुए भी जिन एकेन्द्रिय जीवों ने कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि का पूर्वभव में अनुभव किया हुआ हो, वे एकेन्द्रिय जीव (जिनका सप्तम उद्देशक में वर्णन है), प्रथम-अप्रथमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय कहलाते हैं। यहाँ उत्पत्ति के प्रथमसमय में एकेन्द्रियत्व में वर्त्तमान तथा पूर्वभव में कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिसंख्या का अनुभव किया हुआ होने से इन्हें प्रथम-अप्रथम-समयवर्ती कहा गया है।

प्रथम-चरम-समय०—कृतयुग्म-कृतयुग्मसंख्या के अनुभव के प्रथम-समयवर्ती और चरम-समय अर्थात् मरणसमयवर्ती होने से इन्हें 'प्रथम-चरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय' कहा गया है, जिनका कथन आठवें उद्देशक में किया गया है।

प्रथम-अचरमसमय०—कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि के अनुभव के प्रथमसमय में वर्त्तमान तथा अचरम अर्थात् एकेन्द्रियोत्पत्ति के प्रथमसमयवर्ती एकेन्द्रिय जीवों को 'प्रथम-अचरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय' कहा गया है, क्योंकि इनमें चरमत्व का निषेध है। यदि ऐसा न हो तो द्वितीय उद्देशक में कही हुई अवगाहना आदि की सदृशता इनमें घटित नहीं हो सकती। इसलिए नौवें उद्देशक में 'प्रथम-अचरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय' का कथन किया गया है।

चरम-चरमसमय०—जो कृतयुग्म-कृतयुग्मसंख्या के अनुभव के चरम अर्थात् अन्तिम समय में वर्त्तमान हों तथा जो चरमसमय, अर्थात् मरणसमयवर्ती हों, उन एकेन्द्रिय जीवों को 'चरम-चरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय' कहा गया है, जिनका कथन दसवें उद्देशक में किया गया है।

चरम-अचरमसमय०—कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि के अनुभव के चरम अर्थात् अन्तिम-समय में वर्त्तमान और अचरमसमय अर्थात् एकेन्द्रियोत्पत्ति के प्रथमसमयवर्ती जो एकेन्द्रिय हैं, उन्हें 'चरम-अचरमसमय-कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय' कहते हैं, जिनका कथन ग्यारहवें उद्देशक में किया गया है।

सारांश—प्रथम, तृतीय और पंचम इन तीन उद्देशकों का कथन समान है, क्योंकि इनमें अवगाहना आदि की भिन्नता का कथन नहीं है। शेष आठ उद्देशकों का कथन एक समान है, उनमें अवगाहना आदि दस बोलों की भिन्नता है। किन्तु चौथे, (छठे), आठवें और दसवें उद्देशक में देवोत्पत्ति और तेजोलेश्या की संभावना न होने से उनका कथन नहीं करना चाहिए।[1]

॥ पंतीसवें शतक में प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक के तीसरे से ग्यारहवाँ उद्देशक संपूर्ण ॥

॥ प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

---

१. भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७४५-४६

बिइए एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

१. कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

गोयमा ! उववातो तहेव। एवं जहा ओहिउद्देसए (स० ३५-१ उ० १), नवरं इमं नाणत्तं—

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी-कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! इनका उपपात (श. ३५।१ के उ. १) औधिक उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए । किन्तु इन बातों में भिन्नता है ।

२. ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ?

हंता, कण्हलेस्सा।

[२ प्र.] भगवन् ! क्या वे जीव कृष्णलेश्या वाले हैं ?

[२ उ.] हाँ, गौतम ! वे कृष्णलेश्या वाले हैं ।

३. ते णं भंते ! 'कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिय' त्ति कालओ केवचिरं होंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं अंतोमुहुत्तं ।

[३ प्र.] भगवन् ! वे कृष्णलेश्यी कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव काल की अपेक्षा कितने काल तक होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे जघन्य एकसमय तक और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त तक होते हैं ।

४. एवं ठिती वि।

[४] उनकी स्थिति भी इसी प्रकार समझनी चाहिए ।

५. सेसं तहेव—जाव अणंतखुत्तो।

[५] शेष सब बातें पूर्ववत् यावत् अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक कहनी चाहिए ।

६. एवं सोलस वि जुम्मा भाणियव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।२।१ ॥

[६] इसी प्रकार क्रमशः सोलह महायुग्मों सम्बन्धी कथन पूर्ववत् करना चाहिए । ३५।२।१॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

७. पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा पढमसमयउद्देसओ, नवरं—

[७ प्र.] भगवन् ! प्रथमसमय-कृष्णलेश्यी कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[७ उ.] गौतम ! इसका समग्र कथन प्रथमसमयउद्देशक (अवान्तर शतक १ उ. २) के समान जानना । विशेष यह है—

८. ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ?

हंता, कण्हलेस्सा । सेसं तहेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।२।२ ॥

[८ प्र.] भगवन् ! वे जीव कृष्णलेश्या वाले हैं ?

[८ उ.] हाँ, गौतम ! वे कृष्णलेश्या वाले हैं। शेष समग्र कथन पूर्ववत् जानना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।।३५।२।२।।

९. एवं जहा ओहियसते एक्कारस उद्देसगा भणिया तहा कण्हलेस्ससए वि एक्कारस उद्देसगा भाणियव्वा । पढमो, ततिओ, पंचमो य सरिसगमा । सेसा अट्ठ वि सरिसगमा, नवरं० चउत्थ[१]-अट्ठम-दसमेसु उववातो नत्थि देवस्स ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।२।३-११ ।

॥ पंचतीसइमे सते : बितियं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५-२ ॥

[९] औघिकशतक के ग्यारह उद्देशकों के समान कृष्णलेश्याविशिष्ट (एकेन्द्रिय) शतक के भी ग्यारह उद्देशक कहने चाहिए । प्रथम, तृतीय और पंचम उद्देशक के पाठ एक समान हैं । शेष आठ उद्देशकों के पाठ सदृश हैं । किन्तु इनमें से चौथे, (छठे), आठवें और दसवें उद्देशक में देवों की उत्पत्ति का कथन नहीं करना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।।३५।२।३—११।।

॥ द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

---

१. यहाँ भी 'चउत्थ' के पश्चात् 'छट्ठ' पाठ अधिक मिलता है । —सं.

तइए एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

तृतीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

कृष्णलेश्याविशिष्टशतक के अतिदेशपूर्वक नीललेश्याशतक-प्ररूपणा

१. एवं नीललेस्सेहि वि कण्हलेस्ससयसरिसं, एक्कारस उद्देसगा तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! ० ॥३५।३।१-११॥

॥ पंचतीसइमे सए : ततियं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५-३ ॥

[१] नीललेश्या वाले एकेन्द्रियों का शतक भी कृष्णलेश्यावाले एकेन्द्रियों के शतक के समान कहना चाहिए। इसके भी ग्यारह उद्देशकों का कथन उसी प्रकार है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ तृतीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : तृतीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतक सम्पूर्ण ॥

चउत्थे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

चतुर्थ एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार चतुर्थ एकेन्द्रियमहायुग्मशतक का निर्देश

१. एवं काउलेस्सेहि वि सयं कण्हलेस्ससयसरिसं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।४।१-११ ॥

॥ पंचतीसइमे सए । चउत्थं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५-४ ॥

[१] इसी प्रकार कापोतलेश्या-सम्बन्धी शतक भी कृष्णलेश्याविशिष्ट शतक के समान जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।३५।४।१-११॥

॥ चतुर्थ एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक समाप्त ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : चतुर्थ एकेन्द्रियमहायुग्मशतक सम्पूर्ण ॥

पंचमे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

पंचम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

प्रथम एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार पंचम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक का निर्देश

१. भवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

जहा ओहियसयं तहेव, नवरं एक्कारससु वि उद्देसएसु।

अह भंते ! सव्वपाणा जाव सव्वसत्ता भवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मएगिंदियत्ताए उववन्नपुव्वा ?

गोयमा ! णो इणट्ठे समट्ठे। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।५।१-११ ॥

॥ पंचतीसइमे सए : पंचमं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५।५ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इनका समग्र कथन औधिकशतक के समान जानना चाहिए। इनके ग्यारह ही उद्देशकों में विशेष बात यह है—

[प्र.] भगवन् ! सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्म विशिष्ट एकेन्द्रिय के रूप में पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

इसके अतिरिक्त शेष सब कथन पूर्वोक्त औधिक शतकवत् समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरण करने लगे। ३५।५।१-११॥

॥ पंचम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : पंचम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

छट्ठे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

छठा एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार छट्ठे एकेन्द्रियमहायुग्मशतक का कथननिर्देश

१. कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मएगिंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं कण्हलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहि वि सयं बितियसयकण्हलेस्ससरिसं भाणियव्वं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५-६।१-११ ॥

॥ पंचतीसइमे सए : छट्ठं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५-६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप एकेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों से सम्बन्धित समग्र शतक का कथन कृष्णलेश्या-सम्बन्धी द्वितीय शतक के समान करना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कहकर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥३५।६।१-११॥

॥ छठा एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ पंतीसवाँ शतक : छठा एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

सत्तमे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

सप्तम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार सप्तम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक-निरूपण

१. एवं नीललेस्सभवसिद्धियएगिंदियेहि वि सयं ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।७।१-११ ॥

पंचतीसइमे सए : सत्तमं एगिंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ३५-७ ॥

[१] इसी प्रकार नीललेश्या वाले भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मएकेन्द्रिय शतक का कथन भी नीललेश्या-सम्बन्धी तृतीय शतक के समान जानना चाहिए ।

'हे भगवन् यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥३५।७।१-११॥

॥ सप्तम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : सप्तम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

अट्ठमे एगिंदियमहाजुम्मसए : पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

अष्टम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार अष्टम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक-प्ररूपणा

१. एवं काउलेस्सभवसिद्धियएगिंदिएहि वि तहेव एक्कारसउद्देसगसंजुत्तं सयं।

२. एवं एयाणि चत्तारि भवसिद्धिएसु सयाणि, चउसु वि सएसु 'सव्वपाणा जाव उववन्नपुव्वा ?'

नो इणट्ठे समट्ठे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ३५।८।१-११ ॥

॥ पंचतीसइमे सए : अट्ठमं एगिंदियमहाजुम्मसतं समत्तं ॥ ३५-८ ॥

[१-२] इसी प्रकार कापोतलेश्यीभवसिद्धिक (कृतयुग्म-कृतयुग्मरूप) एकेन्द्रियों के भी ग्यारह उद्देशकों सहित यह शतक पूर्वोक्त कापोतलेश्या-सम्बन्धी चतुर्थ शतक के समान) जानना चाहिए। इस प्रकार ये चार (पांचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ) शतक भवसिद्धिक एकेन्द्रिय जीवों के हैं। इन चारों शतकों में—

[प्र.] क्या सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्व पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं है।

इतना विशेष जानना चाहिए।

॥ अष्टम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : अष्टम एकेन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

नवमाइबारसमपज्जंतेसु एगिंदियमहाजुम्मसएसु पढमाइ-एक्कारसपज्जंता उद्देसगा

नौवें से बारहवाँ शतक : सबमें पहले से ग्यारह उद्देशक पर्यन्त

पंचम से अष्ट अवान्तरशतकवत् नौवें से बारहवें तक अभवसिद्धिकशतकचतुष्टय-निर्देश

१. जहा भवसिद्धिएहिं चत्तारि सयाइं भणियाइं एवं अभवसिद्धिएहि वि चत्तारि सयाणि लेसासंजुत्ताणि भाणियव्वाणि।

सव्वपाणा० ?

तहेव, नो इणट्ठे समट्ठे।

एवं एयाइं बारस एगिंदियमहाजुम्मसयाइं भवंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पंचतीसइमे सए : नवमाइ-बारसम-पज्जंताइं सयाइं समत्ताइं ॥

॥ पंचतीसइमं सयं समत्तं ॥ ३५ ॥

[१] जिस प्रकार भवसिद्धिक-सम्बन्धी चार शतक कहे, उसी प्रकार अभवसिद्धिक-एकेन्द्रिय के लेश्या-सहित चार शतक कहने चाहिए। (इन चारों शतकों में भी)—

[प्र.] भगवन् ! सर्व प्राण यावत् सर्व सत्त्व पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] पूर्ववत्। यह अर्थ समर्थ नहीं है। (इतना विशेष जानना चाहिए।)

इस प्रकार ये बारह एकेन्द्रियमहायुग्मशतक हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥३५।९-१२।१-११॥

॥ पैंतीसवाँ शतक : नौवें से बारहवें अवान्तरशतक तक सम्पूर्ण ॥

॥ पैंतीसवाँ शतक समाप्त ॥ ३५ ॥

छत्तीसइमं सयं : बारस बेइंदियमहाजुम्मसयाइं

छत्तीसवाँ शतक : द्वादश द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

सोलह द्वीन्द्रियमहायुग्मशतकों में उपपात आदि बत्तीस द्वारों की प्ररूपणा

१. कडजुम्मकडजुम्मबेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति० ?

उववातो जहा वक्कंतीए। परिमाणं—सोलस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा, उववज्जंति। अवहारो जहा उप्पलुद्देसए (स० ११ उ० १ सु० ७)। ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं बारस जोयणाइं। एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमुद्देसए तहेव; नवरं तिन्नि लेस्साओ; देवा न उववज्जंति; सम्मद्दिट्ठी वा, मिच्छद्दिट्ठी वा, नो सम्मामिच्छादिट्ठी; नाणी वा, अन्नाणी वा; नो मणयोगी, वइयोगी वा, कायजोगी वा।

[१ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिप्रमाण द्वीन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! इनका उपपात (उत्पत्ति) प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार जानना। परिमाण—एक समय में सोलह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं। इनका अपहार (ग्यारहवें शतक के प्रथम) उत्पलोद्देशक (के सूत्र ७) के अनुसार जानना। इनकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट बारह योजन की है। एकेन्द्रियमहायुग्मराशि के प्रथम उद्देशक के समान समझना। विशेष यह है कि इनमें तीन लेश्याएँ होती हैं। इनमें देवों से आकर उत्पन्न नहीं होते। ये सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी, किन्तु सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते। ये ज्ञानी अथवा अज्ञानी होते हैं। ये मनोयोगी नहीं होते, वचनयोगी और काययोगी होते हैं।

२. ते णं भंते ! कडजुम्मकडजुम्मबेंदिया कालतो केवचिरं होंति ?

गोयमा ! जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं संखेज्जं कालं।

[२ प्र.] भगवन् ! वे कृतयुग्म-कृतयुग्म द्वीन्द्रिय जीव काल की अपेक्षा कितने काल तक होते हैं।

[२ उ.] गौतम ! वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट संख्यातकाल तक होते हैं।

३. ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं बारस संवच्छराइं। आहारो नियमं छद्दिसिं। तिन्नि समुग्घाया। सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो।

[३] उनकी स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट बारह वर्ष की होती है। वे नियमतः

छह दिशा का आहार लेते हैं। उनमें (पहले के) तीन समुद्घात होते हैं। शेष पूर्ववत् यावत् पहले अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक जानना।

४. एवं सोलससु वि जुम्मेसु।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ पढमे बेंदियमहाजुम्मसते : पढमो उद्देसओ समत्तो ॥ ३६-१-१ ॥

[४] इसी प्रकार द्वीन्द्रिय जीवों के सोलह महायुग्मों में कहना चाहिए।[1]

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ छत्तीसवां शतक : प्रथम अवान्तरशतक : प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१. द्वीन्द्रिय जीवों के १६ महायुग्मों को ३२ द्वारों द्वारा प्ररूपित किया गया है। ३२ द्वारों के लिए देखिए— भगवतीसूत्र शतक ११ का द्वितीयसूत्र। —वियाहपण्णत्तिसुत्तं भा. ३ (मू. पा. टि.), पृ. ११५५

पढमे बेइंदियमहाजुम्मसए : बिइओ उद्देसओ

प्रथम द्वीन्द्रिय शतक : द्वितीय उद्देशक

एकेन्द्रिय महायुग्मशतक के अतिदेशपूर्वक प्रथमसमय-द्वीन्द्रियमहायुग्मवक्तव्यता

१. पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मबेंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

एवं जहा एगिंदियमहाजुम्माणं पढमसमयुद्देसए दस नाणत्ताइं ताइं चेव दस इह वि। एक्कारसमं इमं नाणत्तं—नो मणजोगी, नो वइजोगी, कायजोगी। सेसं जहा एगिंदियाणं चेव पढमुद्देसए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

छत्तीसइमे सए : पढम बेइंदियमहाजुम्मसए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ३६-१।२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! प्रथमसमयोत्पन्न कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिप्रमाण द्वीन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार एकेन्द्रियमहायुग्मों का प्रथमसमय-सम्बन्धी उद्देशक कहा गया है, उसी प्रकार इनके विषय में भी जानना। वहाँ दस बातों का अन्तर बताया है, यहाँ भी उन दस बातों का अन्तर समझना। ग्यारहवीं विशेषता यह है कि ये मनयोगी और वचनयोगी नहीं होते, सिर्फ काययोगी होते हैं। शेष सब बातें एकेन्द्रियमहायुग्मों के प्रथम उद्देशक के समान जानना।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—निष्कर्ष—प्रस्तुत द्वितीय उद्देशक में प्रथमसमयोत्पन्न द्वीन्द्रियमहायुग्म-सम्बन्धी बत्तीस द्वारों की प्ररूपणा एकेन्द्रियमहायुग्म के प्रथमसमय-सम्बन्धी उद्देशक के अतिदेशपूर्वक की गई है। एकेन्द्रियमहायुग्म में उक्त १० बातों का अन्तर इनमें भी है। ग्यारहवीं विशेषता है—ये मात्र काययोगी होते हैं।

॥ छत्तीसवें शतक में प्रथम द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

पढमे बेइंदियमहाजुम्मसए : तइयाइएक्कारसमपज्जंता उद्देसगा

प्रथम द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक : तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

कुछ विशेषताओं के साथ तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक-पर्यन्त प्ररूपणा

१. एवं एए वि जहा एगिंदियमहाजुम्मेसु एक्कारस उद्देसगा तहेव भाणियव्वा, नवरं चउत्थ[1]-अट्ठम-दसमेसु सम्मत्त-नाणाणि न भण्णंति । जहेव एगिंदिएसु; पढमो ततिओ पंचमो य एक्कगमा, सेसा अट्ठ एक्कगमा ।

॥ छत्तीसइमे सए : पढम-बेइंदियमहाजुम्मसए तइयाइएक्कारसमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

॥ ३६।१।३-११ ॥

॥ पढमं बेंदियमहाजुम्मसयं ॥ ३६-१ ॥

[१] एकेन्द्रियमहायुग्म-सम्बन्धी ग्यारह उद्देशकों के समान यहाँ भी कहना चाहिए । किन्तु यहाँ चौथे, (छठे)[1] आठवें और दसवें उद्देशकों में सम्यक्त्व और ज्ञान का कथन नहीं होता । एकेन्द्रिय के समान प्रथम, तृतीय और पंचम, इन तीन उद्देशकों के एकसरीखे पाठ हैं, शेष आठ उद्देशक एक समान हैं ।

॥ छत्तीसवें शतक में प्रथम द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के तीसरे से ग्यारहवें उद्देशक तक सम्पूर्ण ॥

॥ प्रथम द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

---

१. यहाँ किसी प्रति में 'चउत्थ' शब्द के बाद 'छट्ठ' शब्द मिलता है । इस दृष्टि से चौथे, छठे, आठवें और दसवें उद्देशकों में सम्यक्त्व और ज्ञान नहीं होता, ऐसा अर्थ किया गया है । —सं.

बिइए बेइंदियमहाजुम्मसए : पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

द्वितीय द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक

१. कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मबेंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

एवं चेव। कण्हलेस्सेसु वि एक्कारस उद्देसगसंजुत्तं सयं, नवरं लेसा, संचिट्ठणा[1] जहा एगिंदियकण्हलेस्साणं।

॥ छत्तीसइमे सए : बिइए बेइंदियमहाजुम्मसए पढमाइ-एक्कारस-पज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

॥ बितियं बेंदियसयं समत्तं ॥ ३६-२ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिप्रमाण द्वीन्द्रिय कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इस विषय में पूर्ववत् जानना चाहिए। कृष्णलेश्यी जीवों का भी शतक ग्यारह उद्देशक-युक्त जानना चाहिए। विशेष यह है कि इनकी लेश्या और संचिट्ठणा (कायस्थिति) स्थिति (भवस्थिति), कृष्णलेश्यी एकेन्द्रिय जीवों के समान होती है।

विवेचन—प्रस्तुत ग्यारह उद्देशकों में कृष्णलेश्याविशिष्ट द्वीन्द्रियमहायुग्म जीवों के सम्बन्ध में लेश्या, कायस्थिति आदि के अतिरिक्त शेष सर्वकथन एकेन्द्रियजीवों के समान बताया गया है।

॥ छत्तीसवाँ शतक : द्वितीय द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के ग्यारह उद्देशक सम्पूर्ण ॥

॥ द्वितीय द्वीन्द्रियशतक समाप्त ॥

---

१. किसी किसी प्रति में 'संचिट्ठणा' के आगे 'ठिई' शब्द मिलता है। वहाँ 'स्थिति' से भवस्थिति अर्थ समझना चाहिए। —सं.

तइए बेइंदियमहाजुम्मसए : पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

तृतीय द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के अनुसार नीललेश्यी द्वीन्द्रियशतकनिर्देश

१. एवं नीललेस्सेहि वि सयं।

[॥ ३६-२-१-११ ॥]

॥ छत्तीसइमे सए : ततियं सतं समत्तं ॥ ३६-३ ॥

[१] इसी प्रकार नीललेश्यी द्वीन्द्रिय जीवों का ग्यारह उद्देशक-सहित शतक है।

॥ छत्तीसवाँ शतक : तृतीय द्वीन्द्रियशतक समाप्त ॥

चउत्थे बेइंदियमहाजुम्मसए : पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

चतुर्थ द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

द्वितीय द्वीन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार कापोतलेश्यो द्वीन्द्रियशतकनिर्देश

१. एवं काउलेस्सेहि वि सयं।

[॥ ३६-४-१-११ ॥]

॥ छत्तीसइमे सए : चउत्थं सतं समत्तं ॥ ३६-४ ॥

[१] इसी प्रकार कापोतलेश्यी द्वीन्द्रिय जीवों का (ग्यारह उद्देशक-सहित) शतक है।

॥ छत्तीसवाँ शतक : चतुर्थ द्वीन्द्रियशतक समाप्त ॥

पंचमाइअट्ठमपज्जंतेसु बेइंदियमहाजुम्मसएसु पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

पाँचवें से आठवें द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक पर्यन्त : पहले से ग्यारहवें उद्देशक तक

पांचवें से आठवें शतक तक एकेन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार निर्देश

१. भवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मबेइंदिया णं भंते ! ० ?

एवं भवसिद्धियसया वि चत्तारि तेणेव पुव्वगमएणं नेतव्वा, नवरं 'सव्वपाणा० ? णो इणट्ठे समट्ठे ।' सेसं जहेव ओहियसयाणि चत्तारि ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

[॥ ३६-५-८ ॥]

॥ छत्तीसतिमे सए : अट्ठमं सयं समत्तं ॥ ३६-८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिप्रमाण द्वीन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पूर्वोक्त पाठ के अनुसार भवसिद्धिक महायुग्मद्वीन्द्रिय जीवों के चार शतक जानने चाहिए । विशेष यह है कि—

[प्रश्न] सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व यावत् अनन्त वार उत्पन्न हुए ?
[उत्तर] यह बात शक्य नहीं है ।

शेष सब पूर्ववत् जानना चाहिए । ये चार औघिकशतक हुए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

॥ छत्तीसवाँ शतक : पांचवें से आठवें शतक पर्यन्त सम्पूर्ण ॥

नवमाइबारसमपज्जंतेसु बेइंदियमहाजुम्मसएसु पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

नौवें से बारहवें द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

नौवें से बारहवें द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक तक पूर्वशतकानुसार निर्देश

१. जहा भवसिद्धियसया चत्तारि एवं अभवसिद्धियसया वि चत्तारि भाणियव्वा, नवरं सम्मत्त-नाणाणि सव्वेहिं नत्थि। सेसं तं चेव।

[१] जिस प्रकार भवसिद्धिक (द्वीन्द्रिय जीवों) के चार शतक कहे, उसी प्रकार अभवसिद्धिक (द्वी. जी.) के भी चार शतक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इन सबमें सम्यक्त्व और ज्ञान नहीं होते है। शेष सब पूर्ववत् ही है।

२. एवं एयाणि बारस बेंदियमहाजुम्मसयाणि भवंति।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति०।

॥ बेंदियमहाजुम्मसया समत्ता ॥ ३६-१२ ॥

॥ छत्तीसतिमं सयं समत्तं ॥ ३६ ॥

[२] इस प्रकार ये बारह द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक होते हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ छत्तीसवाँ शतक : बारह द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

॥ छत्तीसवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

सत्ततीसइमं सयं : बारस तेइंदियमहाजुम्मसयाइं

सैंतीसवाँ शतक : बारह त्रीन्द्रियमहायुग्मशतक

द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के अतिदेशपूर्वक बारह त्रीन्द्रियमहायुग्मशतक

१. कडजुम्मकडजुम्मतेंदिया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति० ?

एवं तेइंदिएसु वि बारस सया कायव्वा बेंदियसयसरिसा, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं तिन्नि गाउयाइं; ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं एकूणवन्न-राँतिदियाइं। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ सत्ततीसइमे सए : तेइंदियमहाजुम्मसया समत्ता ॥ ३७-१-१२ ॥

॥ सत्ततीसइमं सतं समत्तं ॥ ३७ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि वाले त्रीन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रियशतक के समान त्रीन्द्रिय जीवों के भी बारह शतक करने चाहिए। विशेष यह है कि इनकी (त्रीन्द्रिय की) अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट तीन गाऊ (गव्यूति) की है तथा स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट उनपचास (४९) अहोरात्रि की है। शेष सब कथन पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—द्वीन्द्रियशतक का अतिदेश—कृतयुग्म-कृतयुग्मविशिष्ट त्रीन्द्रिय जीवों की अवगाहना और स्थिति को छोड़ कर, उत्पत्ति आदि का शेष समग्र कथन द्वीन्द्रियशतक के अतिदेशपूर्वक किया गया है।

॥ सैंतीसवाँ शतक : द्वादश त्रीन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

॥ सैंतीसवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

अट्ठतीसइमं सयं : बारस चउरिंदियमहाजुम्मसयाइं

अड़तीसवाँ शतक : द्वादश चतुरिन्द्रियमहायुग्मशतक

द्वीन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार द्वादश चतुरिन्द्रियमहायुग्मशतक-निरूपण

१. चउरिंदिएहि वि एवं चेव बारस सया कायव्वा, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं चत्तारि गाउयाइं; ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं छम्मासा। सेसं जहा बेंदियाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ अट्ठतीसइमे सए : बारस चउरिंदियमहाजुम्मसया समत्ता ॥ ३८।१-१२ ॥

॥ अट्ठतीसइमं सयं समत्तं ॥ ३८ ॥

[१] इसी प्रकार चतुरिन्द्रिय जीवों के बारह शतक कहने चाहिए। विशेष यह है कि इनकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग, उत्कृष्ट चार गाऊ की है तथा स्थिति जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट छह महीने की है। शेष सब कथन द्वीन्द्रिय जीवों के शतक के समान है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—द्वीन्द्रियमहायुग्मशतकानुसार वक्तव्यता—इन बारह चतुरिन्द्रियमहायुग्मशतकों की समग्र वक्तव्यता भी अवगाहना और स्थिति के अतिरिक्त द्वीन्द्रियमहायुग्मशतक के अनुसार बताई गई है।

॥ अड़तीसवाँ शतक : द्वादश चतुरिन्द्रियमहायुग्मशतक समाप्त ॥

॥ अड़तीसवाँ शतक सम्पूर्ण ॥

एगूणयालीसइमं सयं : बारस असन्निपंचिंदियमहाजुम्मसयाइं

उनचालीसवाँ शतक : द्वादश असंज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक

द्वीन्द्रिय-महायुग्म-शतकानुसार द्वादश असंज्ञीपंचेन्द्रिय महायुग्मशतक-निरूपण

१. कडजुम्मकडजुम्मअसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

जहा बेंदियाणं तहेव असन्नीसु वि बारस सया कायव्वा, नवरं ओगाहणा जहन्नेणं अंगुलस्स असंखेज्जइभागं, उक्कोसेणं जोयणसहस्सं; संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडीपुहत्तं; ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं पुव्वकोडी। सेसं जहा बेंदियाणं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ असण्णिपंचेंदियमहाजुम्मसया समत्ता ॥ ३९-१-१२ ॥

॥ एगूणयालीसइमं सयं समत्तं ॥ ३९ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिप्रमाण असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! द्वीन्द्रियशतक के समान असंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के भी बारह शतक करने चाहिए। विशेष यह है कि इनकी अवगाहना जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग की और उत्कृष्ट एक हजार योजन की है तथा कायस्थिति (संचिट्ठणा) जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व की है एवं भवस्थिति (स्थिति) जघन्य एकसमय की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की है। शेष पूर्ववत् द्वीन्द्रिय जीवों के समान है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—द्वीन्द्रियशतक के समान—अवगाहना, कायस्थिति और भवस्थिति के सिवाय असंज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्म के १२ शतकों का शेष समग्र कथन द्वीन्द्रियशतक के समान प्रस्तुत शतक में बताया गया है।

॥ उनचालीसवाँ शतक : द्वादश असंज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक सम्पूर्ण ॥

॥ उनचालीसवाँ शतक समाप्त ॥३९॥

चत्तालीसइमं सयं : एक्कवीसं सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसयाइं

चालीसवाँ शतक : इक्कीस संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक

पढमे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : पढमो उद्देसओ

प्रथम संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : प्रथम उद्देशक

संज्ञीपंचेन्द्रिय के उपपातादि की प्ररूपणा

१. कडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

उववातो चउसु वि गतीसु । संखेज्जवासाउय-असंखेज्जवासाउय-पज्जत्त-अपज्जत्तएसु य । कतो वि पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाण त्ति । परिमाणं, अवहारो, ओगाहणा य जहा असण्णिपंचेंदियाणं वेयणिज्जवज्जाणं सत्तण्हं पगडीणं बंधगा वा अबंधगा वा वेयणिज्जस्स बंधगा, नो अबंधगा मोहणिज्जस्स वेयगा वा, अवेयगा वा । सेसाणं सत्तण्ह वि वेयगा, नो अवेयगा । सायावेयगा वा असायावेयगा वा । मोहणिज्जस्स उदई वा, अणुदई वा; सेसाणं सत्तण्ह वि उदई, नो अणुदई । नाम.. गोयस्स य उदीरगा, नो अणुदीरगा; सेसाणं छण्ह वि उदीरगा वा, अणुदीरगा वा । कण्हले.. वा जाव सुक्कलेस्सा वा । सम्मद्दिट्ठी वा, मिच्छादिट्ठी, वा, सम्मामिच्छद्दिट्ठी वा । णाणी वा अण्णाणी वा । मणजोगी वा, वइजोगी वा, कायजोगी वा । उवयोगो, वन्नमाई, उस्सासगा, आहारगा य जहा एगिंदियाणं । विरया वा अविरया वा, विरयाविरया वा । सकिरिया, नो अकिरिया ।

[१ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशिरूप संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! इनका उपपात चारों गतियों से होता है । ये संख्यात वर्ष और असंख्यात वर्ष की आयु वाले पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवों से आते हैं । यावत् अनुत्तरविमान तक किसी भी गति से आने का निषेध नहीं है । इनका परिमाण, अपहार और अवगाहना असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के समान है । ये जीव वेदनीयकर्म को छोड़ कर शेष सात कर्मप्रकृतियों के बन्धक अथवा अबन्धक होते हैं । वेदनीयकर्म के तो बन्धक ही होते हैं, अबन्धक नहीं । मोहनीयकर्म के वेदक या अवेदक होते हैं । शेष सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, अवेदक नहीं । वे सातावेदक अथवा असातावेदक होते हैं । मोहनीयकर्म के उदयी अथवा अनुदयी होते हैं । शेष सात कर्मप्रकृतियों के उदयी होते हैं, अनुदयी नहीं । नाम और गोत्र कर्म के वे उदीरक होते हैं, अनुदीरक नहीं । शेष छह कर्मप्रकृतियों के उदीरक या अनुदीरक होते हैं । वे कृष्णलेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी होते हैं । वे सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि या सम्यग्-मिथ्यादृष्टि होते हैं । ज्ञानी अथवा अज्ञानी होते हैं । वे मनोयोगी, वचनयोगी और काययोगी होते हैं । उनमें उपयोग, वर्णादि चार, उच्छ्वास-निःश्वास और आहारक (-अनाहारक) का कथन

एकेन्द्रिय जीवों के समान है। वे विरत, अविरत या विरताविरत होते हैं। वे सक्रिय (क्रिया वाले) होते हैं, अक्रिय (क्रियारहित) नहीं।

२. ते णं भंते ! जीवा किं सत्तविहबंधगा, अट्ठविहबंधगा, छव्विहबंधगा, एगविहबंधगा ?

गोयमा ! सत्तविहबंधगा वा जाव एगविहबंधगा वा।

[२ प्र.] भगवन् ! वे जीव सप्तविध-(कर्म-)बन्धक, अष्टविधकर्मबन्धक, षड्विधकर्मबन्धक या एकविधकर्मबन्धक होते हैं ?

[२ उ.] गौतम ! वे सप्तविधकर्मबन्धक भी होते हैं, यावत् एकविधकर्मबन्धक भी होते हैं।

३. ते णं भंते ! जीवा किं आहारसण्णोवउत्ता जाव परिग्गहसन्नोवउत्ता, नोसण्णोवउत्ता ?

गोयमा ! आहारसन्नोवउत्ता वा जाव नोसन्नोवउत्ता वा।

[३ प्र.] भगवन् ! वे जीव क्या आहारसंज्ञोपयुक्त यावत् परिग्रहसंज्ञोपयुक्त होते हैं अथवा वे नोसंज्ञोपयुक्त होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! आहारसंज्ञोपयुक्त यावत् नोसंज्ञोपयुक्त होते हैं।

४. सव्वत्थ पुच्छा भाणियव्वा। कोहकसाई वा जाव लोभकसाई वा, अकसायी वा। इत्थिवेयगा वा, पुरिसवेयगा वा, नपुंसगवेयगा वा, अवेदगा वा। इत्थिवेदबंधगा वा, पुरिसवेयबंधगा वा, नपुंसगवेदबंधगा वा, अबंधगा वा। सण्णी, नो असण्णी। सइंदिया, नो अणिंदिया। संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं सागरोवमसयपुहत्तं सातिरेगं। आहारो तहेव जाव नियमं छद्दिसिं। ठिती जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं। छ समुग्घाता आदिल्लगा। मारणंतियसमुग्घातेणं समोहया वि मरंति, असमोहया वि मरंति। उव्वट्टणा जहेव उववातो, न कत्थइ पडिसेहो जाव अणुत्तरविमाण त्ति।

[४] इसी प्रकार सर्वत्र प्रश्नोत्तर की योजना करनी चाहिए। (यथा—) वे क्रोधकषायी यावत् लोभकषायी होते हैं। वे स्त्रीवेदक, पुरुषवेदक, नपुंसकवेदक या अवेदक होते हैं। वे स्त्रीवेद-बन्धक, पुरुषवेद-बन्धक, नपुंसकवेद-बन्धक या अबन्धक होते हैं। वे संज्ञी होते हैं, असंज्ञी नहीं। इनका संचिट्ठणाकाल (संस्थितिकाल) जघन्य एक समय और उत्कृष्ट सातिरेक सागरोपम-शतपृथक्त्व होता है। इनका आहार पूर्ववत् यावत् नियम से छह दिशा का होता है। इनकी स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की है। इनमें प्रथम के छह समुद्घात पाये जाते हैं। ये मारणान्तिक-समुद्घात से समवहत होकर भी मरते हैं और असमवहत भी मरते हैं। इनकी उद्वर्त्तना का कथन उपपात के समान है। किसी भी विषय में निषेध यावत् अनुत्तरविमान तक, नहीं है।

५. अह भंते ! सव्वपाणा० ?

जाव अणंतखुत्तो।

[५ प्र.] भगवन् ! सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व यहाँ, पहले (इससे पूर्व) उत्पन्न हुए हैं ?

[५ उ.] गौतम ! वे इससे पूर्व अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं।

६. एवं सोलससु वि जुम्मेसु भाणियव्वं जाव अणंतखुत्तो, नवरं परिमाणं जहा बेइंदियाणं, सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१।१ ॥

[६] इसी प्रकार सोलह युग्मों में यावत् अनेक बार अथवा अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक कहना चाहिए। इनका परिमाण द्वीन्द्रिय जीवों के समान है। शेष सब पूर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥४०।१।१॥

७. पढमसमयकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?०

उववातो, परिमाणं, अवहारो[1] जहा एतेसिं चेव पढमे उद्देसए। ओगाहणा, बंधो, वेदो, वेयणा, उदयी, उदीरगा य जहा बेंदियाणं पढमसमइयाणं तहेव। कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा। सेसं जहा बेंदियाणं पढमसमइयाणं जाव अणंतखुत्तो, नवरं इत्थिवेदगा वा, पुरिसवेदगा वा, नपुंसगवेदगा वा; सण्णिणो, नो असण्णिणो। सेसं तहेव। एवं सोलससु वि जुम्मेसु परिमाणं तहेव सव्वं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१।२ ॥

[७ प्र.] भगवन् ! प्रथम समय के कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं० ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[७ उ.] गौतम ! इनका उपपात, परिमाण, अपहार (आहार) प्रथम उद्देशक के अनुसार जानना। इनकी अवगाहना, बन्ध, वेद, वेदना, उदयी और उदीरक द्वीन्द्रिय जीवों के समान समझना। ये कृष्णलेश्यी यावत् शुक्ललेश्यी होते हैं। शेष प्रथमसमयोत्पन्न द्वीन्द्रिय के समान यावत् इससे पूर्व अनेक बार या अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक जानना। वे स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी या नपुंसकवेदी होते हैं। वे संज्ञी होते हैं, असंज्ञी नहीं। शेष पूर्ववत्। इसी प्रकार सोलह ही युग्मों में परिमाण आदि की वक्तव्यता पूर्ववत् जाननी चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है'०, इत्यादि पूर्ववत् ॥४०।१।२॥

८. एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा तहेव। पढमो, ततिओ, पंचमो य सरिसगमा। सेसा अट्ठ वि सरिसगमा। चउत्थ-अट्ठम-दसमेसु नत्थि विसेसो कोयि वि।

सेवं भंते ! भंते ! त्ति० ॥ ४०-१।३-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते पढमं सन्निपंचेंदियमहाजुम्मसयं समत्तं ॥ ४०-१ ॥

---

१. पाठान्तर—'आहारो'

[८] यहाँ (इस प्रथम अवान्तर शतक में) भी ग्यारह उद्देशक पूर्ववत् हैं। प्रथम, तृतीय और पंचम उद्देशक एक समान हैं और शेष आठ उद्देशक एक समान हैं तथा चौथे, (छठे), आठवें और दसवें उद्देशक में कोई विशेष बात नहीं है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४०।१।३-११॥

विवेचन—विशिष्टसंज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के विषय में—उपशान्तमोहादि जीव वेदनीय के अतिरिक्त ७ कर्मों के अबन्धक होते हैं। शेष जीव यथासम्भव बन्धक होते हैं। केवली अवस्था से पूर्व सभी संज्ञी जीव संज्ञीपंचेन्द्रिय कहलाते हैं और वहाँ तक वे अवश्य ही वेदनीय कर्म के बन्धक ही होते हैं, अबन्धक नहीं। इनमें से सूक्ष्मसम्परायगुणस्थान तक संज्ञीपंचेन्द्रिय मोहनीयकर्म के वेदक होते हैं तथा उपशान्तमोहादि जीव अवेदक होते हैं। उपशान्तमोहादि जो संज्ञीपंचेन्द्रिय होते हैं, वे मोहनीय के अतिरिक्त सात कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, अवेदक नहीं। यद्यपि केवलज्ञानी चार अघाती कर्मप्रकृतियों के वेदक होते हैं, परन्तु वे इन्द्रियों के उपयोग-रहित होने से पंचेन्द्रिय और संज्ञी नहीं कहलाते, वे अनिन्द्रिय और नोसंज्ञी-नोअसंज्ञी कहलाते हैं।

सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान तक जीव मोहनीयकर्म के उदय वाले होते हैं और उपशान्त-मोहादिविशिष्ट जीव अनुदय वाले होते हैं। वेदकत्व और उदय, इन दोनों में अन्तर यह है कि अनुक्रम से और उदीरणाकरणी के द्वारा उदय में आए हुए (फलोन्मुख) कर्म का अनुभव करना वेदकत्व है और केवल अनुक्रम से उदय में आए हुए कर्म का अनुभव करना उदय है।

अकषाय अर्थात् क्षीणमोहगुणस्थान तक सभी संज्ञीपंचेन्द्रिय नामकर्म और गोत्रकर्म के उदीरक होते हैं और शेष छह कर्मप्रकृतियों के यथासम्भव उदीरक और अनुदीरक होते हैं। उदीरणा का क्रम इस प्रकार है—छठे प्रमत्त गुणस्थान तक सामान्य रूप से सभी जीव आठों कर्मों के उदीरक होते हैं। जब आयुष्य आवलिका मात्र शेष रह जाता है, तब वे आयु के अतिरिक्त सात कर्मों के उदीरक होते हैं। अप्रमत्त आदि चार गुणस्थानवर्ती जीव वेदनीय और आयु के अतिरिक्त छह कर्मों के उदीरक होते हैं। जब सूक्ष्मसम्पराय आवलिकामात्र शेष रह जाता है तब मोहनीय, वेदनीय और आयु के अतिरिक्त पांच कर्मों के उदीरक होते हैं। उपशान्तमोहगुणस्थानवर्ती जीव इन्हीं पांच कर्मों के उदीरक होते हैं। क्षीणकषायगुणस्थानवर्ती जीव का काल आवलिकामात्र शेष रहता है, तब वे नामकर्म और गोत्रकर्म के उदीरक होते हैं। सयोगीगुणस्थानवर्ती जीव भी इसी प्रकार उदीरक होते हैं और अयोगीगुणस्थानवर्ती जीव अनुदीरक होते हैं।

कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि वाले संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों का अवस्थितिकाल जघन्य एक समय का है, क्योंकि एक समय के बाद संख्यान्तर होना संभव है और उत्कृष्ट सातिरेक-सागरोपम-शत-पृथक्त्व है, क्योंकि इसके बाद संज्ञीपंचेन्द्रिय नहीं होते।

संज्ञीपंचेन्द्रियों में पहले के छह समुद्घात होते हैं। सातवाँ केवलीसमुद्घात तो केवलज्ञानियों में होता है और वे अनिन्द्रिय होते हैं।[1]

चालीसवाँ शतक : प्रथम अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९७०

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७६७-३७६८

बिइए सन्निपंचेंदियमहाजुम्मसए : पढमाइएक्कारसपज्जंता उद्देसगा

द्वितीय संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : पहले से ग्यारहवें उद्देशक पर्यन्त

कृष्णलेश्याविशिष्ट संज्ञीपंचेन्द्रियों के उपपातादि की प्ररूपणा

१. कण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेदिया णं भंते ! कश्रो उववज्जंति ?

तहेव जहा पढमुद्देसश्रो सन्नीणं, नवरं बंधो, वेश्रो, उवई, उदीरणा, लेस्सा, बंधगा, सण्णा, कसाय, वेदबंधगा य एयाणि जहा बेंदियाणं कण्हलेस्साणं। वेदो तिविहो, श्रवेयगा नत्थि। संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं श्रंतोमुहुत्तमब्भहियाइं। एवं ठिती वि, नवरं ठितीए 'अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं' न भण्णंति। सेसं जहा एएसिं चेव पढमे उद्देसए जाव श्रणंतखुत्तो। एवं सोलससु वि जुम्मेसु।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०-२।१ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त संज्ञीपंचेन्द्रिय कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! संज्ञी के प्रथम उद्देशक के अनुसार इनकी वक्तव्यता जाननी चाहिए। विशेष यह है कि बन्ध, वेद, उदय, उदीरणा, लेश्या, बन्धक, संज्ञा, कषाय और वेदबंधक, इन सभी का कथन द्वीन्द्रियजीव-सम्बन्धी कथन के समान है। कृष्णलेश्यी संज्ञी के तीनों वेद होते हैं, वे अवेदी नहीं होते। उनकी संचिट्ठणा जघन्य एक समय की और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम की होती है और उनकी स्थिति भी इसी प्रकार होती है। स्थिति में अन्तर्मुहूर्त्त अधिक नहीं कहना चाहिए। शेष प्रथम उद्देशक के अनुसार यावत् पहले अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए। इसी प्रकार सोलह युग्मों का कथन समझ लेना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।।४०।२।१

२. पढमसमयकण्हलेस्सकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

जहा सन्निपंचेंदियपढमसमयुद्देसए तहेव निरवसेसं। नवरं ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता, कण्हलेस्सा। सेसं तं चेव। एवं सोलससु वि जुम्मेसु।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।२।२ ॥

[२ प्र.] भगवन् ! प्रथमसमयोत्पन्न कृष्णलेश्यायुक्त कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि वाले संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२ उ.] गौतम ! इनकी वक्तव्यता प्रथमसमयोत्पन्न संज्ञीपंचेन्द्रियों के उद्देशक के अनुसार जाननी चाहिए। विशेष यह है कि—

[प्र.] भगवन् ! क्या वे जीव कृष्णलेश्या वाले हैं ?

[उ.] हाँ, गौतम ! वे कृष्णलेश्या वाले हैं। शेष पूर्ववत् ।

इसी प्रकार सोलह ही युग्मों में कहना चाहिए।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

३. एवं एए वि एक्कारस उद्देसगा कण्हलेस्ससए। पढम-ततिय-पंचमा सरिसगमा। सेसा अट्ठ वि सरिसगमा।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति० ॥ ४०।२।३-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सए : बितियं सयं समत्तं ॥ ४०-२ ॥

[३] इस प्रकार इस कृष्णलेश्याशतक में ग्यारह उद्देशक हैं। प्रथम, तृतीय और पंचम, ये तीनों उद्देशक एक समान हैं। शेष आठ उद्देशक एक समान हैं।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन्! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥४०।२।३-११॥

विवेचन—स्पष्टीकरण—यहाँ कृष्णलेश्यीकृतयुग्म-कृतयुग्म संज्ञीपंचेन्द्रिय सातवीं नरकपृथ्वी के नैरयिक की उत्कृष्ट स्थिति और पूर्वभव के अन्तिम परिणाम की अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त्त मिलाकर अन्तर्मुहूर्त्त अधिक तेतीस सागरोपम होता है।[1]

॥ चालीसवाँ शतक : द्वितीय अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९७०

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७७०

तइए सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

तृतीय संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

नीललेश्यी संज्ञीपंचेन्द्रिय की वक्तव्यता

१. एवं नीललेस्सेसु वि सयं। नवरं संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं पलिओवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं; एवं ठिती वि। एवं तिसु उद्देसएसु। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।३।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते ततियं सयं समत्तं ॥ ४०-३ ॥

[१] नीललेश्या वाले संज्ञी की वक्तव्यता भी इसी प्रकार समझनी चाहिए। विशेष यह है कि इसका संचिट्ठणाकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम है। स्थिति भी इसी प्रकार समझनी चाहिए। इसी प्रकार पहले, तीसरे, पांचवें इन तीन उद्देशकों के विषय में जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—नीललेश्याविशिष्ट संज्ञी. पं. की आयु.—पांचवीं नरकपृथ्वी के ऊपर के प्रतर में पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागरोपम का उत्कृष्ट आयुष्य है और वहाँ तक नीललेश्या है। यहाँ पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त का पल्योपम के असंख्यातवें भाग में ही समाविष्ट कर दिया है, इस कारण उस अन्तर्मुहूर्त्त का कथन नहीं किया गया है।[1]

॥ चालीसवाँ शतक : तृतीय अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

---

१. (क) भगवती अ. वृत्ति, पत्र ९७५
(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३७७१

चउत्थे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

चतुर्थ संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

कापोतलेश्यी संज्ञीपंचेन्द्रिय की वक्तव्यता

१. एवं काउलेस्ससयं पि, नवरं संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं तिन्नि सागरोवमाइं पलियोवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं; एवं ठिती वि। एवं तिसु वि उद्देसएसु। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।४।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते चउत्थं सयं ॥ ४०-४ ॥

[१] इसी प्रकार कापोतलेश्याशतक के विषय में समझना चाहिए। विशेष—संचिट्ठणाकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम है। स्थिति भी इसी प्रकार है तथा इसी प्रकार तीनों उद्देशक जानना। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—तृतीय नरकपृथ्वी के ऊपरी प्रतर में रहने वाले नारक की स्थिति पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक तीन सागरोपम की है और वहीं तक कापोतलेश्या है। इसलिए पूर्वोक्त स्थिति ही युक्तियुक्त है।

॥ चालीसवाँ शतक : चतुर्थ अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

पंचमे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

पंचम संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

तेजोलेश्यी संज्ञीपंचेन्द्रिय की वक्तव्यता

१. एवं तेउलेस्सेसु वि सयं। नवरं संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दो सागरोवमाइं पलियोवमस्स असंखेज्जइभागमब्भहियाइं; एवं ठिती वि, नवरं नोसण्णोवउत्ता वा। एवं तिसु वि गम-(? उद्देस) एसु। सेसं तं चेव।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति० ॥ ४०।५।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते पंचमं सयं ॥ ४०-५ ॥

[१] तेजोलेश्याविशिष्ट (सं. पं.) का शतक भी इसी प्रकार है। विशेष यह है कि संचिट्ठणा-काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागरोपम है। स्थिति भी इसी प्रकार है। किन्तु यहाँ नोसंज्ञोपयुक्त भी होते हैं। इसी प्रकार तीनों उद्देशकों के विषय में समझना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन्! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—यहाँ तेजोलेश्याविशिष्ट जीवों की जो उत्कृष्ट स्थिति कही है, वह ईशान देवलोक के देवों की उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा है।

॥ चालीसवाँ शतक : पंचम अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

छट्ठे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

छठा संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

पद्मलेश्यी संज्ञीपंचेन्द्रिय की वक्तव्यता

१. जहा तेउलेसासयं तहा पम्हलेसासयं पि । नवरं संचिट्ठणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं दस सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं; एवं ठिती वि, नवरं अंतोमुहुत्तं न भण्णइ । सेसं तं चेव । एवं एएसु पंचसु सएसु जहा कण्हलेसासए गमओ तहा नेयव्वो जाव अणंतखुत्तो ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।६।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते छट्ठं सयं समत्तं ॥ ४०-६ ॥

[१] तेजोलेश्याशतक के समान पद्मलेश्याशतक है। विशेष—संचिट्ठणाकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त अधिक दस सागरोपम है। स्थिति भी इतनी ही है, किन्तु इसमें अन्तर्मुहूर्त्त अधिक नहीं कहना चाहिए।

शेष पूर्ववत्। इस प्रकार इन पांचों शतकों में कृष्णलेश्याशतक के समान गमक यावत् पहले अनन्त बार उत्पन्न हो चुके हैं, यहाँ तक जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—पद्मलेश्या की उत्कृष्ट स्थिति ब्रह्मलोक के देवों की उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त-सहित दस सागरोपम कही है।

॥ चालीसवाँ शतक : छठा अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

सत्तमे सन्निपंचिदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

सप्तम संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

१. सुक्कलेस्ससयं जहा ओहियसयं, नवरं संचिट्ठणा ठिती य जहा कण्हलेस्ससते। सेसं तहेव जाव अणंतखुत्तो।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥४०।७।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सए : सत्तमं सयं समत्तं ॥ ४०-७ ॥

[१[शुक्ललेश्याशतक भी औघिक शतक के समान है। इनका संचिट्ठणाकाल और स्थिति कृष्णलेश्याशतक के समान है। शेष पूर्ववत्, यावत् पहले अनन्त बार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—शुक्ललेश्यी की स्थिति पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त-सहित अनुत्तरदेवों की उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम की स्थिति की अपेक्षा समझनी चाहिए।

॥ चालीसवाँ शतक : सातवाँ अवान्तरशतक सम्पूर्ण ॥

अट्ठमे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

अष्टम संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

भवसिद्धिक संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतकवक्तव्यता-निर्देश

१. भवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

जहा पढमं सन्निसयं तहा नेयव्वं भवसिद्धियाभिलावेणं, नवरं 'सव्वपाणा० ? णो तिणट्ठे समट्ठे ।' सेसं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० । ४०।८।१-११।।

।। चत्तालीसइमे सए : अट्ठमं सयं ।। ४०-८ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त भवसिद्धिकसंज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! प्रथम संज्ञीशतक के अनुसार भवसिद्धिक के आलापक से यह शतक जानना चाहिए । विशेष में—

[प्र.] भगवन् ! क्या सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व यहाँ पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

शेष पूर्ववत् जानना ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' इत्यादि पूर्ववत् ।

।। चालीसवाँ शतक : अष्टम अवान्तरशतक सम्पूर्ण ।।

नवमाइचोद्दसमपज्जंता सया : पत्तेयं एक्कारस उद्देसगा

नौवें से चौदहवें शतक पर्यन्त : प्रत्येक के ग्यारह उद्देशक

१. कण्हलेस्सभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं एएणं अभिलावेणं जहा ओहियकण्हलेस्ससयं।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।९।१-११ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी-भवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि समग्र प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! कृष्णलेश्यी औघिकशतक के अनुसार इसी अभिलाप से यह शतक कहना ।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

२. एवं नीललेस्सभवसिद्धिएहि वि सतं।

सेवं भंते ! सेवं भंते !० ॥ ४०।१०।१-११ ॥

[२] नीललेश्यीभवसिद्धिकशतक भी इसी प्रकार जानना ।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

३. एवं जहा ओहियाणि सन्निपंचेंदियाणं सत्त सयाणि भणियाणि एवं भवसिद्धिएहि वि सत्त सयाणि कायव्वाणि, नवरं सत्तसु वि सएसु 'सव्वपाणा जाव णो इणट्ठे समट्ठे।' सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते !०।

॥ भवसिद्धियसया समत्ता ॥ ४०-८-१४ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते चोद्दसमं सयं समत्तं ॥ ४०-१४ ॥

[३] संज्ञीपंचेन्द्रिय जीवों के सात औघिकशतक कहे हैं, उसी प्रकार भवसिद्धिक सम्बन्धी सातों शतक कहने चाहिए । विशेष यह है—

[प्र.] सातों शतकों में क्या····इससे पूर्व सर्व प्राण, यावत् सर्व सत्त्व उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है । शेष पूर्ववत् ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है,' इत्यादि पूर्ववत् ।

विवेचन—प्रस्तुत में कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक आदि नौवें से चौदहवें शतक तक का औघिक अतिदेश पूर्वक कथन किया गया है ।

॥ चालीसवाँ शतक : नौवें से चौदहवें अवान्तरशतक तक सम्पूर्ण ॥

पन्नरसमे सन्निपंचिदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

पन्द्रहवाँ संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

१. अभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

उववातो तहेव अणुत्तरविमाणवज्जो। परिमाणं, अवहारो, उच्चत्तं, बंधो, वेदो, वेयणं, उदयो, उदीरणा, य जहा कण्हलेस्ससते। कण्हलेस्सा वा जाव सुक्कलेस्सा वा। नो सम्मद्दिट्ठी, मिच्छद्दिट्ठी नो सम्मामिच्छादिट्ठी। नो नाणी, अन्नाणी। एवं जहा कण्हलेस्ससए, नवरं नो विरया, अविरया, नो विरयाविरया। संचिट्ठणा, ठिती य जहा ओहिउद्देसए। समुग्घाया आइल्लगा पंच। उव्वट्टणा तहेव अणुत्तरविमाणवज्जं। 'सव्वपाणा० ? णो इणट्ठे समट्ठे।' सेसं जहा कण्हलेस्ससए जाव अणंतखुत्तो।

[१ प्र.] भगवन् ! अभवसिद्धिक-कृतयुग्म-कृतयुग्मराशि-संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! अनुत्तरविमानों को छोड़ कर शेष सभी स्थानों में पूर्ववत् उपपात जानना चाहिए। इनका परिमाण, अपहार, ऊँचाई, बन्ध, वेद, वेदन, उदय और उदीरणा कृष्णलेश्या-शतक के समान है। वे कृष्णलेश्यी से लेकर यावत् शुक्ललेश्यी होते हैं। वे सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि नहीं होते केवल मिथ्यादृष्टि होते हैं। वे ज्ञानी नहीं, अज्ञानी हैं। इसी प्रकार सब कृष्णलेश्याशतक के समान है। विशेष यह है कि वे विरत और विरताविरत नहीं होते, मात्र अविरत होते हैं। इनका संचिट्ठणाकाल और स्थिति औघिक उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए। इनमें प्रथम के पांच समुद्घात पाये जाते हैं। उद्वर्त्तना अनुत्तरविमानों को छोड़कर पूर्ववत् जानना चाहिए। तथा—

[प्र.] क्या सभी प्राण यावत् सत्त्व पहले इनमें उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] यह अर्थ समर्थ नहीं। शेष कृष्णलेश्याशतक के समान यावत् पहले अनन्त वार उत्पन्न हुए हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

२. एवं सोलससु वि जुम्मेसु।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१५।१ ॥

[२] इसी प्रकार सोलह ही युग्मों के विषय में जानना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥४०।१५।१॥

३. पढमसमयअभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

जहा सन्नीणं पढमसमयुद्देसए तहेव, नवरं सम्मत्तं, सम्मामिच्छत्तं, नाणं च सव्वत्थ नत्थि। सेसं तहेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१५।२ ॥

[३ प्र.] भगवन् ! प्रथमसमयोत्पन्न अभवसिद्धिक कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] गौतम ! प्रथमसमय के संज्ञी-उद्देशक के अनुसार सर्वत्र जानना चाहिए, विशेष में—सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व और ज्ञान सर्वत्र नहीं होता। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४०।१५।२॥

४. एवं एत्थ वि एक्कारस उद्देसगा कायव्वा, पढम-ततिय-पंचमा एक्कगमा। सेसा अट्ठ वि एक्कगमा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१५।३-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते : पन्नरसमं सयं समत्तं ॥ ४०-१५ ॥

[४] इस प्रकार इस शतक में भी ग्यारह उद्देशक होते हैं। इनमें से प्रथम, तृतीय एवं पंचम, ये तीनों उद्देशक समान पाठ वाले हैं तथा शेष आठ उद्देशक भी एक समान हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४०।१५।३-११।

॥ चालीसवाँ शतक : पन्द्रहवाँ अवान्तरशतक समाप्त ॥

सोलसमे सन्निपंचिंदियमहाजुम्मसए : एक्कारस उद्देसगा

सोलहवाँ संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्मशतक : ग्यारह उद्देशक

१. कण्हलेस्सअभवसिद्धियकडजुम्मकडजुम्मसन्निपंचेंदिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?०

जहा एएसिं चेव ओहियसतं तहा कण्हलेस्ससयं पि, नवरं 'ते णं भंते ! जीवा कण्हलेस्सा ? हंता, कण्हलेस्सा ।' ठिती, संचिट्ठणा य जहा कण्हलेस्ससए । सेसं तं चेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४०।१६।१-११ ॥

॥ चत्तालीसइमे सते : सोलसमं सतं समत्तं ॥ ४०-१६ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी-अभवसिद्धिक-कृतयुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त संज्ञीपंचेन्द्रिय जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[१ उ.] गौतम ! जिस प्रकार इनका औघिक शतक है, उसी प्रकार कृष्णलेश्या-शतक जानना चाहिए । विशेष—

[प्र.] भगवन् ! वे जीव कृष्णलेश्या वाले हैं ?

[उ.] 'हाँ, गौतम ! वे कृष्णलेश्या वाले हैं ।' इनकी स्थिति और संचिट्ठणाकाल कृष्णलेश्या-शतक में उक्त कथन के समान है । शेष पूर्ववत् है ।

'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।।४०।१६।१-११।।

॥ चालीसवाँ शतक : सोलहवाँ अवान्तरशतक समाप्त ॥

सत्तरसमाइएक्कवीसइमपज्जंताइं सयाइं : पत्तेयं एक्कारस उद्देसगा

सत्रहवें से इक्कीसवें शतक पर्यन्त : प्रत्येक के ग्यारह उद्देशक

१. एवं छहि वि लेसाहिं छ सया कायव्वा जहा कण्हलेस्ससयं, नवरं संचिट्ठणा, ठिती य जहेव ओहिएसु तहेव भाणियव्वा; नवरं सुक्कलेसाए उक्कोसेणं एक्कत्तीसं सागरोवमाइं अंतोमुहुत्तमब्भहियाइं; ठिती एवं चेव, नवरं अंतोमुहुत्तो नत्थि, जहन्नगं तहेव; सव्वत्थ सम्मत्तं नाणाणि नत्थि। विरती, विरयाविरई, अणुत्तरविमाणोववत्ती, एयाणि नत्थि।

सव्वपाणा० ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

[१] जिस प्रकार कृष्णलेश्या-सम्बन्धी शतक कहा, उसी प्रकार छहों लेश्या-सम्बन्धी छह शतक कहने चाहिए। विशेष—संचिट्ठणाकाल और स्थिति का कथन औधिक शतक के समान है, किन्तु शुक्ललेश्यी का उत्कृष्ट संचिट्ठणाकाल अन्तर्मुहूर्त्त अधिक इकतीस सागरोपम होता है और स्थिति भी पूर्वोक्त ही होती है, किन्तु उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त्त अधिक नहीं कहना चाहिए। इनमें सर्वत्र सम्यक्त्व और ज्ञान नहीं होता तथा इनमें विरति, विरताविरति तथा अनुत्तरविमानोत्पत्ति नहीं होती। इसके पश्चात्—

[प्र.] भगवन् ! सभी प्राण यावत् सत्त्व यहाँ पहले उत्पन्न हुए हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है' इत्यादि पूर्ववत्।

२. एवं एताणि सत्त (४०-१५-२१) अभवसिद्धीयमहाजुम्मसयाणि भवंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥४०।१७-२१ ॥

[२] इस प्रकार ये सात अभवसिद्धिकमहायुग्म (४०।१५-२१) शतक होते हैं ॥४०।१७-२१॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

३. एवं एयाणि एक्कवीसं सन्निमहाजुम्मसयाणि।

[३] इस प्रकार ये इक्कीस (अवान्तर) महायुग्मशतक संज्ञिपंचेन्द्रिय के हुए।

४. सव्वाणि वि एक्कासीतिं महाजुम्मसताणि।

॥ अवांतर महाजुम्मसता समत्ता ॥

॥ चत्तालीसतिमं सयं समत्तं ॥ ४० ॥

[४] सभी मिला कर महायुग्म-सम्बन्धी ८१ शतक सम्पूर्ण हुए ।

विवेचन—शुक्ललेश्यी अभव्य की स्थिति—अभव्य संज्ञी पंचेन्द्रिय की शुक्ललेश्या की स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त-अधिक इकतीस सागरोपम की कही है, वह पूर्वभव के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त्त-सहित नौवें ग्रैवेयक की ३१ सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति की अपेक्षा जाननी चाहिए, क्योंकि अभव्य जीव उत्कृष्ट नौवें ग्रैवेयक तक जाता है तथा वहाँ शुक्ललेश्या होती है ।

८१ महायुग्मशतक—पैंतीसवें से उनचालीसवें शतक तक प्रत्येक के १२-१२ अवान्तर शतक हैं तथा इस चालीसवें शतक के कुल २१ अवान्तरशतक हैं, इस प्रकार कुल शतक ६०+२१=८१ हुए ।

।। चालीसवाँ शतक : अवान्तरमहायुग्मशतक समाप्त ।।

।। चालीसवाँ शतक सम्पूर्ण ।।

एगचत्तालीसइमं सयं–रासीजुम्मसयं

इकतालीसवाँ शतक : राशियुग्मशतक

※ भगवतीसूत्र का यह इकतालीसवां शतक है। इसका नाम राशियुग्मशतक है। युग्म का अर्थ यहाँ युगल है, अर्थात् युगलरूपराशि। इसके भी पूर्ववत् कृतयुग्मादि चार भेद कहे हैं।

※ इस शतक में राशियुग्म—कृतयुग्मादि-विशिष्ट, कृष्णादि षट्लेश्या-विशिष्ट तथा कृष्णादि लेश्या-युक्त भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, कृष्णपाक्षिक-शुक्लपाक्षिक चौबीस दण्डकवर्ती जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विविध पहलुओं से विचार किया गया है।

※ जैनदर्शन अथवा तीर्थंकरोपदिष्ट सिद्धान्त का चरम लक्ष्य मनुष्य को, विशेषतः साधक को जन्म-मरण से तथा सर्वदुःखों से सदा के लिए मुक्ति पाने की प्रेरणा रही है। इसी दृष्टिकोण से शास्त्रकार ने इस शतक का प्रतिपादन किया है। जब तक व्यक्ति जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता, तब तक वह अनेकानेक दुःखों, संकटों, चिन्ताओं, भय-आशंका, संज्ञा, कषाय, अज्ञान, मिथ्या-दृष्टित्व आदि अनेक विकारों से घिरा रहता है। उसे प्रायः यह भाव ही नहीं रहता कि मैं कहाँ से आया हूँ, कैसे और क्यों यहाँ आया हूँ, यहाँ से मर कर कहाँ जाऊँगा ? ये और ऐसे प्रश्न उसके मन-मस्तिष्क में उद्‌भूत ही नहीं होते हैं। कई मत या दर्शन उसे बहका भी देते हैं कि मनुष्य मर कर दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता, वह मनुष्य ही बनता है। अथवा यहाँ शरीर भस्म होने के बाद कहीं जाना-आना नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है, अथवा मनुष्य कभी सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो ही नहीं सकता, वह अधिक से अधिक स्वर्ग जा सकता है, स्वर्गीय सुख ही उसके लिए अन्तिम लक्ष्य है, इत्यादि।

※ ये और ऐसी ही भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करने हेतु शास्त्रकार इस शतक में निम्नोक्त प्रश्न उठा कर यथोचित समाधान करते हैं—(१) ये जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?, (२) एक समय में कितनी संख्या में उत्पन्न होते हैं ?, (३) सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?, (४) किस प्रकारसे उत्पन्न होतेहैं ?, (५) वे आत्म-यश से उत्पन्न होते हैं या आत्म-अयश से ?, (६) वे अपना जीवन-निर्वाह आत्म-यश से करते हैं या आत्म-अयश से ?, (७) आत्म-यश से या आत्म-अयश से जीवन-निर्वाह करने वाले सलेश्यी होते हैं या अलेश्यी ?, (८) वे क्रियायुक्त होते हैं या क्रियारहित ? और (९) वे एक भव करके जन्म-मरण से मुक्त हो जाते हैं अथवा मुक्त नहीं हो पाते ? इन प्रश्नोंका समाधान ही जन्म-मरण से मुक्ति पाने की ओर अंगुलिनिर्देश करता है।

※ कुल मिला कर १९६ उद्देशकों में विविध पहलुओं से आत्मलक्षी चर्चा है।

एगचत्तालीसइमं सयं : रासीजुम्मसयं

इकतालीसवाँ शतक : राशियुग्मशतक

पढमो उद्देसओ : प्रथम उद्देशक

राशियुग्म : भेद और स्वरूप

१. [१] कति णं भंते ! रासीजुम्मा पन्नत्ता ?

गोयमा ! चत्तारि रासीजुम्मा पन्नत्ता, तंजहा—कडजुम्मे जाव कलियोगे ।

[१-१ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म कितने कहे गए हैं ?

[१-१ उ.] गौतम ! राशियुग्म चार कहे हैं, यथा—कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योज ।

[२] से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ—चत्तारि रासीजुम्मा पन्नत्ता, तंजहा जाव कलियोगे ?

गोयमा जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं अवहीरमाणे चउपज्जवसिए से त्तं रासीजुम्मकडजुम्मे, एवं जाव जे णं रासी चउक्कएणं अवहारेणं० एगपज्जवसिए से त्तं रासीजुम्मकलियोगे, सेतेणट्ठेणं जाव कलियोगे ।

[१-२ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म चार कहे हैं, यथा—कृतयुग्म यावत् कल्योज, ऐसा किस कारण से कहते हैं ?

[१-२ उ.] गौतम ! जिस राशि में से चार-चार का अपहार करते हुए अन्त में ४ शेष रहें, उस राशियुग्म को कृतयुग्म कहते है । यावत् जिस राशि में से चार-चार अपहार करते हुए अन्त में एक शेष रहे, उस राशियुग्म को 'कल्योज' कहते हैं । इसी कारण से हे गौतम ! यावत् कल्योज कहलाता है, (यह कहा गया है ।)

विवेचन—राशियुग्म-कृतयुग्म क्या और क्यों ?—'युग्म' शब्द युगल (दो) का पर्यायवाची भी है । अतः उसके साथ 'राशि' विशेषण लगाया गया है । जो राशियुग्म हो और कृतयुग्म-परिमाण हो, उसे राशियुग्म-कृतयुग्म कहते हैं ।[1]

राशियुग्म-कृतयुग्मराशि वाले चौबीस दण्डकों में उपपातादि वक्तव्यता

२. रासीजुम्मकडजुम्मनेरतिया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

उववातो जहा वक्कंतीए ।

[२ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म-कृतयुग्मरूप नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[२ उ.] इनका उपपात (उत्पत्ति) प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार जानना चाहिए ।

---

१. (क) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९७८

(ख) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भाग ७, पृ. ३७९०

३. ते णं भंते ! जीवा एगसमएणं केवतिया उववज्जंति ?

गोयमा ! चत्तारि वा, अट्ठ वा, बारस वा, सोलस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति।

[३ प्र.] भगवन् ! वे (पूर्वोक्त विशेषणविशिष्ट) जीव एक समय में कितने उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! वे एक समय में चार, आठ, बारह, सोलह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

४. ते णं भंते ! जीवा किं संतरं उववज्जंति, निरंतरं उववज्जंति ?

गोयमा ! संतरं पि उववज्जंति, निरंतरं पि उववज्जंति। संतरं उववज्जमाणा जहन्नेणं एक्कं समयं, उक्कोसेणं असंखेज्जे समये अंतरं कट्टु उववज्जंति; निरंतरं उववज्जमाणा जहन्नेणं दो समया, उक्कोसेणं असंखेज्जा समया अणुसमयं अविरहियं निरंतरं उववज्जंति।

[४ प्र.] भगवन् ! वे जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?

[४ उ.] गौतम ! वे जीव सान्तर भी उत्पन्न होते हैं और निरन्तर भी। जो सान्तर उत्पन्न होते हैं, वे जघन्य एक समय और उत्कृष्ट असंख्यात समय का अन्तर करके उत्पन्न होते हैं। जो निरन्तर उत्पन्न होते हैं, वे जघन्य दो समय और उत्कृष्ट असंख्यात समय तक निरन्तर प्रतिसमय अविरहितरूप से उत्पन्न होते हैं।

५. [१] ते णं भंते ! जीवा जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेयोगा, जं समयं तेयोगा तं समयं कडजुम्मा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[५-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव जिस समय कृतयुग्मराशिरूप होते हैं, क्या उसी समय त्र्योज-राशिरूप होते हैं और जिस समय त्र्योजराशियुक्त होते हैं, उसी समय कृतयुग्मराशिरूप होते हैं ?

[५-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं।

[२] जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[५-२ प्र.] भगवन् ! जिस समय वे जीव कृतयुग्मरूप होते हैं, क्या उस समय द्वापरयुग्मरूप होते हैं तथा जिस समय वे द्वापरयुग्मरूप होते हैं, उसी समय कृतयुग्मरूप होते हैं ?

[५-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है।

[३] जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलियोगा, जं समयं कलियोगा तं समयं कडजुम्मा ?

णो इणट्ठे समट्ठे।

[५-३ प्र.] भगवन् ! जिस समय वे कृतयुग्म होते हैं, क्या उस समय कल्योज होते हैं तथा जिस समय कल्योज होते हैं, उस समय कृतयुग्मराशि होते हैं ?

[५-३ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

६. ते णं भंते ! जीवा कहं उववज्जंति ?

गोयमा ! से जहानामए पवए पवमाणे एवं जहा उववायसए (स० २५ उ० ८ सु० २-८) जाव नो परप्पयोगेणं उववज्जंति ।

[६ प्र.] भगवन् ! वे जीव (तथाकथित नारक) कैसे उत्पन्न होते हैं ?

[६ उ.] गौतम ! जैसे कोई कूदने वाला (कूदता हुआ अपने पूर्वस्थान को छोड़ कर आगे के स्थान को प्राप्त करता है, इसी प्रकार) इत्यादि उपपातशतक (श० २५, उ० ८, सू० २-८ में उक्त उपपात-कथन) के अनुसार यावत् वे आत्मप्रयोग से उत्पन्न होते हैं, परप्रयोग से नहीं, यहाँ तक कहना चाहिए।

७. [१] ते णं भंते ! जीवा किं आयजसेणं उववज्जंति, आयअजसेणं उववज्जंति ?

गोयमा ! नो आयजसेणं उववज्जंति, आयअजसेणं उववज्जंति ।

[७-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव आत्म-यश (आत्म-संयम) से उत्पन्न होते हैं अथवा आत्म-अयश (आत्म-असंयम) से उत्पन्न होते हैं ?

[७-१ उ.] गौतम ! वे आत्म-यश से उत्पन्न नहीं होते हैं किन्तु आत्म-अयश से उत्पन्न होते हैं।

[२] जति आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति, आयअजसं उवजीवंति ?

गोयमा ! नो आयजसं उवजीवंति, आयअजसं उवजीवंति ।

[७-२ प्र.] भगवन् ! यदि वे जीव आत्म-अयश से उत्पन्न होते हैं तो क्या वे आत्म-यश से जीवन चलाते हैं अथवा आत्म-अयश से जीवननिर्वाह करते हैं ?

[७-२ उ.] गौतम ! वे आत्म-यश से जीवननिर्वाह नहीं करते, किन्तु आत्म-अयश से करते हैं।

[३] जति आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा, अलेस्सा ?

गोयमा ! सलेस्सा, नो अलेस्सा ।

[७-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे आत्म-अयश से अपना जीवन चलाते हैं, तो वे सलेश्यी होते हैं अथवा अलेश्यी ?

[७-३ उ.] गौतम ! वे सलेश्यी होते हैं, अलेश्यी नहीं।

[४] जति सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ?

गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया ।

[७-४ प्र.] भगवन् ! यदि वे सलेश्यी होते हैं तो सक्रिय (क्रियासहित) होते हैं या अक्रिय (क्रियारहित) होते हैं ?

[७-४ उ.] गौतम ! वे सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं।

[५] जति सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[७-५ प्र.] भगवन् ! यदि वे सक्रिय होते हैं तो क्या उसी भव को ग्रहण करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाते हैं यावत् सर्वदुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[७-५ उ.] गौतम ! उनके लिए यह अर्थ (बात) समर्थ (शक्य) नहीं है।

८. रासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमारा णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहेव नेरतिया तहेव निरवसेसं।

[८ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म-कृतयुग्मराशिरूप असुरकुमार (आदि) कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न।

[८ उ.] जिस प्रकार नैरयिकों के विषय में कथन किया है, उसी प्रकार सभी कथन करना चाहिए।

९. एवं जाव पंचेंदियतिरिक्खजोणिया, नवरं वणस्सतिकाइया जाव असंखेज्जा वा अणंता वा उववज्जंति। सेसं एवं चेव।

[९] यावत् पंचेन्द्रियतिर्यञ्च तक सारी वक्तव्यता इसी प्रकार कहनी चाहिए, विशेष—वनस्पतिकायिक जीव यावत् असंख्यात या अनन्त उत्पन्न होते हैं, (यह कहना चाहिए।) शेष सब पूर्वोक्त कथन के समान है।

१०. [१] मणुस्सा वि एवं चेव जाव नो आयजसेणं उववज्जंति, आयअजसेणं उववज्जंति।

[१०-१] मनुष्यों से सम्बन्धित कथन भी इसी प्रकार यावत् वे आत्म-यश से उत्पन्न नहीं होते, किन्तु आत्म-अयश से उत्पन्न होते हैं, यहाँ तक कहना चाहिए।

[२] जति आयअजसेणं उववज्जंति किं आयजसं उवजीवंति, आयअजसं उवजीवंति ?

गोयमा ! आयजसं पि उवजीवंति, आयअजसं पि उवजीवंति।

[१०-२ प्र.] भगवन् ! यदि वे (मनुष्य) आत्म-अयश से उत्पन्न होते हैं तो क्या आत्म-यश से जीवन-निर्वाह करते हैं या आत्म-अयश से जीवन चलाते हैं ?

[१०-२ उ.] गौतम ! आत्म-यश से भी जीवन चलाते हैं और आत्म-अयश से भी।

[३] जति आयजसं उवजीवंति किं सलेस्सा, अलेस्सा ?

गोयमा ! सलेस्सा वि, अलेस्सा वि।

[१०-३ प्र.] भगवन् ! यदि वे आत्मयश से जीवन-निर्वाह करते हैं तो सलेश्यी होते हैं या अलेश्यी ?

[१०-३ उ.] गौतम ! वे सलेश्यी भी होते हैं और अलेश्यी भी।

[४] जति अलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ?

गोयमा ! नो सकिरिया, अकिरिया।

[१०-४ प्र.] भगवन् ! यदि वे अलेश्यी होते हैं तो सक्रिय होते हैं या अक्रिय होते हैं ?

[१०-४ उ.] गौतम ! वे सक्रिय नहीं होते, किन्तु अक्रिय (क्रियारहित) होते हैं।

[५] जति अकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

हंता, सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

[१०-५ प्र.] भगवन् ! यदि वे अक्रिय होते हैं तो क्या उसी भव को ग्रहण करके सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं ?

[१०-५ उ.] हाँ, गौतम ! वे उसी भव में सिद्ध यावत् सर्व दुःखों का अन्त करते हैं।

[६] जदि सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ?

गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया।

[१०-६ प्र.] भगवन् ! यदि वे (तथाकथिक मनुष्य) सलेश्यी हैं तो सक्रिय होते हैं या अक्रिय होते हैं ?

[१०-६ उ.] गौतम ! वे सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं।

[७] जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

गोयमा ! अत्थेगइया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति, अत्थेगइया नो तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति।

[१०-७ प्र.] भगवन् ! वे सक्रिय होते हैं तो क्या उसी भव को ग्रहण करके सिद्ध होते हैं यावत् सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

[१०-७ उ.] गौतम ! कितने ही (मनुष्य) इसी भव में सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त कर देते हैं और कितने ही (मानव) उसी भव में सिद्ध-बुद्ध-मुक्त नहीं होते, यावत् सर्व दुःखों का अन्त नहीं कर पाते।

[८] जति आयअजसं उवजीवंति किं सलेस्सा, अलेस्सा ?

गोयमा ! सलेस्सा, नो अलेस्सा।

[१०-८ प्र.] भगवन् ! यदि वे आत्म-अयश से जीवन चलाते हैं तो वे सलेश्यी होते हैं या अलेश्यी होते हैं ?

[१०-८ उ.] गौतम ! वे सलेश्यी होते हैं, अलेश्यी नहीं।

[९] जदि सलेस्सा किं सकिरिया, अकिरिया ?

गोयमा ! सकिरिया, नो अकिरिया।

[१०-९ प्र.] भगवन् ! यदि वे सलेश्यी होते हैं तो सक्रिय होते हैं अथवा अक्रिय होते हैं ?

[१०-९ उ.] गौतम ! वे सक्रिय होते हैं, अक्रिय नहीं।

[१०] जदि सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

[१०-१० प्र.] भगवन् ! यदि वे सक्रिय होते हैं तो क्या उसी भव को ग्रहण करके सिद्ध होते हैं यावत् सर्व दुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[१०-१० उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ (शक्य) नहीं है।

११. वाणमंतर-जोतिसिय-वेमाणिया जहा नेरइया।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ एगचत्तालीसइमे सए : रासीजुम्मसते पढमो उद्देसो ॥ ४१-१ ॥

[११] वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक-सम्बन्धी (पूर्वोक्त) कथन नैरयिक-सम्बन्धी कथन के समान है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है' यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—विविध पहलुओं से जीवों की उत्पत्ति-सम्बन्धी प्ररूपणा—प्रस्तुत १० सूत्रों (सू. २ से ११ तक) में राशियुग्म-कृतयुग्मरूप जीवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में निम्नोक्त पहलुओं से विचार किया गया है—(१) ये जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? (२) कितनी संख्या में उत्पन्न होते हैं ? (३) सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ? (४) किस प्रकार से उत्पन्न होते हैं ? (५) आत्म-यश से उत्पन्न होते हैं अथवा आत्म-अयश से ? (६) आत्म-यश से जीवन चलाते हैं या आत्म-अयश से ? (७) आत्म-यश या आत्म-अयश से जीवन चलाने वाले सलेश्यी होते हैं या अलेश्यी ? (८) सक्रिय होते हैं या अक्रिय ? (९) एक भव करके जन्म-मरण का अन्त कर देते हैं अथवा नहीं कर पाते ?[१]

आत्म-यश तथा आत्म-अयश का भावार्थ—यश का हेतु संयम है। इसलिए यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके 'संयम' के अर्थ में 'यश' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः 'यश' का अर्थ यहाँ संयम है और अयश का अर्थ है—असंयम। सभी जीवों की उत्पत्ति आत्म-अयश से अर्थात् आत्म-असंयम से होती है, क्योंकि उत्पत्ति में सभी जीव अविरत (असंयमी) होते हैं।[२]

॥ इकतालीसवां शतक : राशियुग्मशतक में प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१. वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पण-युक्त) भा. ३, पृ. ११७४

२. भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९७८-९७९

बिइओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

राशियुग्म-त्र्योजराशिवाले चौबीस दण्डकों में उपपातादि-वक्तव्यता

१. रासीजुम्मतयोयनेरयिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं चेव उद्देसओ भाणियव्वो, नवरं परिमाणं तिन्नि वा, सत्त वा, एक्कारस वा, पन्नरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति । संतरं तहेव ।

[१ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म-त्र्योजराशि-परिमित नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पूर्ववत् इस उद्देशक का कथन करना चाहिए। इनका परिमाण—ये तीन, सात, ग्यारह, पन्द्रह, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं । सान्तर पूर्ववत् ।

२. [१] ते णं भंते ! जीवा जं समयं तेयोया तं समयं कडजुम्मा जं समयं कडजुम्मा तं समयं तेयोया ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव जिस समय त्र्योजराशि होते हैं, क्या उस समय कृतयुग्म-राशि होते हैं, तथा जिस समय कृतयुग्मराशि होते हैं, क्या उस समय त्र्योजराशि होते हैं ?

[२-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] जं समयं तेयोया तं समयं दावरजुम्मा, जं समयं दावरजुम्मा तं समयं तेयोया ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२-२ प्र.] भगवन् ! जिस समय वे जीव त्र्योजराशि होते हैं, क्या उस समय द्वापरयुग्म-राशि होते हैं तथा जिस समय वे द्वापरयुग्मराशि होते हैं, क्या उस समय वे त्र्योजराशि होते हैं ?

[२-२ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[३] एवं कलियोगेण वि समं ।

[२-३] कल्योजराशि के साथ कृतयुग्मादिराशि-सम्बन्धी वक्तव्यता भी इसी प्रकार जाननी चाहिए ।

३. सेसं तं चेव जाव वेमाणिया, नवरं उववातो सव्वेसिं जहा वक्कंतीए ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

॥ इकचत्तालीसइमे सए : बिइओ उद्देसओ समत्तो ॥ ४१।१।२ ॥

[३] शेष सब कथन पूर्ववत् यावत् वैमानिक दण्डक-पर्यन्त जानना चाहिए किन्तु सभी का उपपात प्रज्ञापनासूत्र के छठे व्युत्क्रान्तिपद के अनुसार समझना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

विवेचन—राशियुग्म-त्र्योजराशिविशिष्ट जीवों की उत्पत्ति आदि सम्बन्धी—प्रस्तुत ३ सूत्रों में राशियुग्म-त्र्योजराशियुक्त जीवों के उपपात आदि के सम्बन्ध में विभिन्न पहलुओं से पूर्व उद्देशक के अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है ।

॥ इकतालीसवां शतक : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

तइओ उद्देसओ : तृतीय उद्देशक

राशियुग्म-द्वापरयुग्मराशिवाले चौबीस दण्डकों में उपपातादि-प्ररूपणा

१. रासीजुम्मदावरजुम्मनेरतिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं चेव उद्देसओ, नवरं परिमाणं दो वा, छ वा, दस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा उववज्जंति ।[1]

[१ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म-द्वापरयुग्मराशि वाले नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यह उद्देशक भी पूर्ववत् जानना चाहिए, किन्तु इनका परिमाण—ये दो, छह, दस, संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं । (संवेध भी जानना चाहिए ।)

२. [१] ते णं भंते ! जीवा जं समयं दावरजुम्मा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं दावरजुम्मा ?

णो इणट्ठे समट्ठे ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव जिस समय द्वापरयुग्म होते हैं, क्या उस समय कृतयुग्म होते हैं, अथवा जिस समय कृतयुग्म होते हैं, क्या उस समय द्वापरयुग्म होते हैं ?

[२-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] एवं तयोएण वि समं ।

[२-२] इसी प्रकार त्र्योजराशि के साथ भी कृतयुग्मादि सम्बन्धी वक्तव्यता कहनी चाहिए ।)

[३] एवं कलियोगेण वि समं ।

[२-३] कल्योजराशि के साथ भी कृतयुग्मादि-सम्बन्धी वक्तव्यता इसी प्रकार है ।

३. सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। इकचत्तालीसइमे सए : तइओ उद्देसओ समत्तो ।। ४१-३ ।।

[३] शेष सब कथन प्रथम उद्देशक के अनुसार, यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरने लगे ।

विवेचन—राशियुग्म-द्वापरयुग्मराशि वाले जीवों की उत्पत्ति-सम्बन्धी—प्रस्तुत तीन सूत्रों में राशियुग्म-द्वापरयुग्मराशि वाले नैरयिकादि के उपपात, परिमाण आदि की वक्तव्यता कही गई है ।

।। इकतालीसवाँ शतक : तीसरा उद्देशक समाप्त ।।

---

१. अधिक पाठ—यहाँ 'संवेहो' अधिक पाठ है ।

चउत्थो उद्देसओ : चतुर्थ उद्देशक

राशियुग्म-कल्योजराशिरूप चौबीस दण्डकों में उपपातादि प्ररूपणा

१. रासीजुम्मकलियोगनेरयिया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं चेव, नवरं परिमाणं एक्को वा, पंच वा, नव वा, तेरस वा, संखेज्जा वा, असंखेज्जा वा० ।

[१ प्र.] भगवन् ! राशियुग्म-कल्योजराशि नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! सब कथन पूर्ववत् है । विशेष इनका परिमाण—ये एक, पांच, नौ, तेरह संख्यात या असंख्यात उत्पन्न होते हैं ।

२. [१] ते णं भंते ! जीवा जं समयं कलियोगा तं समयं कडजुम्मा, जं समयं कडजुम्मा तं समयं कलियोगा ?

नो इणट्ठे समट्ठे ।

[२-१ प्र.] भगवन् ! वे जीव जिस समय कल्योज होते हैं, क्या उस समय कृतयुग्म होते हैं अथवा जिस समय कृतयुग्म होते हैं, क्या उस समय कल्योज होते हैं ?

[२-१ उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं है ।

[२] एवं तेयोयेण वि समं ।

[२-२] इसी प्रकार त्र्योज के साथ कृतयुग्मादि-सम्बन्धी कथन भी जानना चाहिए ।

[३] एवं दावरजुम्मेण वि समं ।

[२-३] द्वापरयुग्म के साथ कृतयुग्मादि-सम्बन्धी कथन भी इसी प्रकार समझना चाहिए ।

३. सेसं जहा पढमुद्देसए जाव वेमाणिया ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। इकचत्तालीसइमे सए : चउत्थो उद्देसओ समत्तो ।।

[३] शेष सब प्रथम उद्देशक के समान यावत् वैमानिक पर्यन्त जानना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

विवेचन—राशियुग्म-कल्योजराशिरूप जीवों की उत्पत्ति आदि का कथन—प्रस्तुत ३ सूत्रों में राशियुग्म एवं कल्योजरूप जीवों का उत्पत्ति-सम्बन्धी अतिदेशपूर्वक कथन किया गया है ।

।। इकतालीसवाँ शतक : चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।

पंचमाइअट्ठमउद्देसगपज्जंता उद्देसगा

पाँचवें से आठवें उद्देशक पर्यन्त

कृष्णलेश्यावाले राशियुग्म में कृतयुग्मादिरूप चौबीस दण्डकों में उपपातादि-प्ररूपणा

१. कण्हलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कतो उववज्जंति ?०

उववातो जहा धूमप्पभाए। सेसं जहा पढमुद्देसए।

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले राशियुग्म-कृतयुग्मराशिरूप नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] इनका उपपात धूमप्रभापृथ्वी (के नैरयिक) के समान है। शेष सब कथन प्रथम उद्देशक के अनुसार जानना चाहिए।

२. असुरकुमाराणं तहेव, एवं जाव वाणमंतराणं।

[२] असुरकुमारों के विषय में भी इसी प्रकार यावत् वाणव्यन्तर पर्यन्त कहना चाहिए।

३. मणुस्साण वि जहेव नेरइयाणं। आय [? अ] जसं उवजीवंति। अलेस्सा, अकिरिया, तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति एवं न भाणियव्वं। सेसं जहा पढमुद्देसए।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१-५ ॥

[३] मनुष्यों के विषय में भी नैरयिकों के समान कथन करना चाहिए। वे आत्म-(अ)यशपूर्वक जीवन-निर्वाह करते हैं। (इनके विषय में) अलेश्यी, अक्रिय तथा उसी भव में सिद्ध होने का कथन नहीं करना चाहिए। शेष सब प्रथमोद्देशक के समान हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४१-५॥

४. कण्हलेस्सतेयोएहि वि एवं चेव उद्देसओ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१-६ ॥

[४] कृष्णलेश्या वाले राशियुग्म में त्र्योजराशि नैरयिक का उद्देशक भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) है ॥४१-६॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

५. कण्हलेस्सदावरजुम्मेहिं वि एवं चेव उद्देसओ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१-७ ॥

[५] कृष्णलेश्या वाले द्वापरयुग्मराशि नैरयिक का उद्देशक भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) है ॥४१-७॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

६. कण्हलेस्सकलिओएहि वि एवं चेव उद्देसओ। परिमाणं संवेहो य जहा ओहिएसु उद्देसएसु।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१-८ ॥

॥ इकचत्तालीसइमे सए : पंचमाइ अट्ठम-उद्देसगपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ४१ । ५-८ ॥

[६] कृष्णलेश्या वाले कल्योजराशि नैरयिक का उद्देशक भी इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना। किन्तु इनका परिमाण और संवेध औधिक उद्देशक के अनुसार समझना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत्।

विवेचन—प्रस्तुत पंचम उद्देशक से अष्टम उद्देशक पर्यन्त कृष्णलेश्यी राशियुग्म वाले कृतयुग्म, त्र्योज, द्वापरयुग्म और कल्योजराशिरूप जीवों के उपपात आदि का कथन प्रथमोद्देशक के अतिदेश-पूर्वक किया गया है।

॥ इकतालीसवाँ शतक : पंचम से अष्टम उद्देशक समाप्त ॥

नवमाइअट्ठावीसइमपज्जंता उद्देसगा

नौवें से अट्ठाईसवें उद्देशक पर्यन्त

१. जहा कण्हलेस्सेहिं एवं नीललेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा भाणियव्वा निरवसेसा, नवरं नेरइयाणं उववातो जहा वालुयप्पभाए। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०। ४१। ९-१२॥

[१] कृष्णलेश्या वाले जीवों के अनुसार नीललेश्यायुक्त जीवों के भी पूर्ण चार उद्देशक कहने चाहिए। विशेष में, नैरयिकों के उपपात का कथन वालुकाप्रभा के समान जानना चाहिए। शेष सब पर्ववत् है।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४१।९-१२॥

२. काउलेस्सेहि वि एवं चेव चत्तारि उद्देसगा कायव्वा, नवरं नेरयियाणं उववातो जहा रयणप्पभाए। सेसं तं चेव।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१। १३-१६॥

[२] इसी प्रकार कापोतलेश्या-सम्बन्धी भी चार उद्देशक कहने चाहिए। विशेष नैरयिकों का उपपात रत्नप्रभापृथ्वी के समान जानना चाहिए। शेष पूर्ववत्।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४१।१३-१६॥

३. तेउलेस्सरासीजुम्मकडजुम्मअसुरकुमारा णं भंते ! कतो उववज्जंति ?

एवं चेव, नवरं जेसु तेउलेस्सा अत्थि तेसु भाणियव्वं। एवं एए वि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि उद्देसगा कायव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१। १७-२०॥

[३ प्र.] भगवन् ! तेजोलेश्या वाले राशियुग्म-कृतयुग्मरूप असुरकुमार कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] गौतम ! इसी प्रकार (पूर्ववत्) जानना, किन्तु जिनमें तेजोलेश्या पाई जाती हो, उन्हीं के जानना। इस प्रकार ये भी कृष्णलेश्या-सम्बन्धी चार उद्देशक कहना चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ॥४१।१७-२०॥

४. एवं पम्हलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा। पंचेंदियतिरिक्खजोणियाणं मणुस्साणं वेमाणियाण य एतेसिं पम्हलेस्सा, सेसाणं नत्थि।

सेवं भंते ! सेवं भंते त्ति० ॥ ४१। २१-२४॥

[४] इसी प्रकार पद्मलेश्या के भी चार उद्देशक जानने चाहिए। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चयोनिक, मनुष्य और वैमानिकदेव, इनमें पद्मलेश्या होती है, शेष में नहीं होती ।।४१।२१-२४।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

५. जहा पम्हलेस्साए एवं सुक्कलेस्साए वि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा, नवरं मणुस्साणं गमश्रो जहा श्रोहिउद्देसएसु। सेसं तं चेव।

[५] पद्मलेश्या के अनुसार शुक्ललेश्या के भी चार उद्देशक जानने चाहिए। विशेष यह है कि मनुष्यों के लिए औघिक उद्देशक के अनुसार पाठ जानना चाहिए। शेष सब पूर्ववत् ।

६. एवं एए छसु लेस्सासु चउवीसं उद्देसगा। ओहिया चत्तारि। सव्वेए अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।। ४१ । २५-२८ ।।

।। इकचत्तालीसइमे सए : नवमाइअट्ठावीसइमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ।।

[६] इस प्रकार इन छह लेश्याओं-सम्बन्धी चौबीस उद्देशक होते हैं तथा चार औघिक उद्देशक हैं। ये सभी मिल कर अट्ठाईस उद्देशक होते हैं।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् । ।।४१।२५-२८।।

।। इकतालीसवाँ शतक : नौवें से अट्ठाईसवें उद्देशक तक समाप्त ।।

एगूणतीसइमाइछप्पन्नइमपज्जंता उद्देसगा

उनतीसवें से छप्पनवें उद्देशक पर्यन्त

प्रथम के अट्ठाईस उद्देशकों के अतिदेशपूर्वक भवसिद्धिकसम्बन्धी अट्ठाईस उद्देशक

१. भवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

जहा ओहिया पढमगा चत्तारि उद्देसगा तहेव निरवसेसं एए चत्तारि उद्देसगा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० । ४१।२९-३२ ।।

[१ प्र.] भगवन् ! भवसिद्धिक राशियुग्म-कृतयुग्मराशि नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! पहले के चार औधिक उद्देशकों के अनुसार (इनके विषय में भी) सम्पूर्ण चारों उद्देशक जानने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है' इत्यादि पूर्ववत् ।।४१।२९-३२।।

२. कण्हलेस्सभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

जहा कण्हलेसाए चत्तारि उद्देसगा तहा इमे वि भवसिद्धियकण्हलेस्सेहि चत्तारि उद्देसगा कायव्वा ।। ४१।३३-३६ ।।

[२ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी भवसिद्धिक राशियुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।

[२ उ.] गौतम ! जिस प्रकार कृष्णलेश्या-सम्बन्धी चार उद्देशक कहे हैं, उसी प्रकार भवसिद्धिक कृष्णलेश्यी जीवों के भी चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।३३-३६।।

३. एवं नीललेस्सभवसिद्धिएहि वि चत्तारि ।। ४१।३७-४० ।।

[३] इसी प्रकार नीललेश्यी भवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।३७-४०।।

४. एवं काउलेस्सेहि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।४१-४४ ।।

[४] इसी प्रकार कापोतलेश्या वाले भवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक कहने चाहिएं ।।४१।४१-४४।।

५. तेउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा ।। ४१।४५-४८ ।।

[५] तेजोलेश्यायुक्त भवसिद्धिक जीवों के भी औधिक के सदृश चार उद्देशक समझने चाहिए ।।४१।४५-४८।।

६. पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।४९-५२ ।।

[६] पद्मलेश्या वाले भवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक जानने चाहिए ।।४१।४९-५२।।

७. सुक्कलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ओहियसरिसा ।। ४१।५३-५६ ।।

[७] शुक्ललेश्या-विशिष्ट भवसिद्धिक जीवों के भी औधिक के सदृश चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।५३-५६।।

८. एवं एए वि भवसिद्धिएहिं अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति ।
सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।। ४१ । २९-५६ ।।

।। इकचत्तालीसइमे सए : एगुणतीसइमाइछप्पनइमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ।।

[८] इस प्रकार भवसिद्धिकजीव-सम्बन्धी अट्ठाईस उद्देशक होते हैं ।
'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

विवेचन—भवसिद्धिक-सम्बन्धी अट्ठाईस उद्देशक—उद्देशक २९ से लेकर ५६ तक भवसिद्धिक-जीव-सम्बन्धी २८ उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) भवसिद्धिक सामान्य के ४ उद्देशक, (२) कृष्णलेश्यादि ६ लेश्याओं से युक्त भवसिद्धिक के प्रत्येक के चार-चार उद्देशक के हिसाब से ६×४=२४ उद्देशक होते हैं । इस प्रकार ४+२४=२८ उद्देशक होते हैं ।

।। इकतालीसवाँ शतक : उनतीसवें से छप्पनवें उद्देशक पर्यन्त समाप्त ।।

सत्तावण्णइमाइचुलसीइमपज्जंता उद्देसगा

सत्तावनवें से लेकर चौरासीवें उद्देशक पर्यन्त

प्रथम अट्ठाईस उद्देशकों के अनुसार अभवसिद्धिकसम्बन्धी अट्ठाईस उद्देशक-निरूपण

१. अभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति ?

जहा पढमो उद्देसगो, नवरं मणुस्सा नेरइया य सरिसा भाणियव्वा । सेसं तहेव ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

[१ प्र.] *भगवन् ! अभवसिद्धिक-राशियुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न ।*

[१ उ.] गौतम ! प्रथम उद्देशक के समान इस उद्देशक का कथन करना चाहिए । विशेष यह है कि मनुष्यों और नैरयिकों की वक्तव्यता समान जाननी चाहिए । शेष पूर्ववत् ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ।

२. एवं चउसु वि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।५७-६० ।।

[२] इसी प्रकार चार युग्मों (कृतयुग्म से कल्योज तक) के चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।५७-६०।।

३. कण्हलेस्सअभवसिद्धियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कम्रो उववज्जंति ?०

एवं चेव चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।६१-६४ ।।

[३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी-अभवसिद्धिक-राशियुग्म-कृतयुग्मराशिरूप नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[३ उ.] इनके भी पूर्ववत् चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।६१-६४।।

४. एवं नीललेस्सअभवसिद्धिएहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।६५-६८ ।।

[४] इसी प्रकार नीललेश्या वाले अभवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक जानने चाहिए ।।४१।६५-६८।।

५. एवं काउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।६९-७२ ।।

[५] इसी प्रकार कापोतलेश्यायुक्त अभवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक होते हैं ।।४१।६९-७२।।

६. एवं तेउलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।७३-७६ ।।

[६] तेजोलेश्यी अभवसिद्धिक जीवों के भी इसी प्रकार चार उद्देशक कहने चाहिए ।।४१।७३-७६।।

७. पम्हलेस्सेहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।७७-८० ।।

[७] पद्मलेश्यी अभवसिद्धिक-सम्बन्धी भी चार उद्देशक होते हैं ।।४१।७७-८०।।

८. सुक्कलेस्सअभवसिद्धिएहि वि चत्तारि उद्देसगा ।। ४१।८१-८४ ।।

[८] शुक्ललेश्यायुक्त अभवसिद्धिक जीवों के भी चार उद्देशक होते हैं ।।४१।८१-८४।।

९. एवं एएसु अट्ठावीसाए (५७-८४) वि अभवसिद्धियउद्देसएसु मणुस्सा नेरइयगमेणं नेतव्वा ।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ।

।। इकचत्तालीसइमे सए : सत्तावण्णइमाइचुलसीइमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ।। ४१।५७-८४ ।।

[९] इस प्रकार इन अट्ठाईस (५७ से ८४ तक) अभवसिद्धिक उद्देशकों में मनुष्यों-सम्बन्धी कथन नैरयिकों के आलापक के समान जानना चाहिए ।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं ।

।। इकतालीसवां शतक : सत्तावन से चौरासी उद्देशक पर्यन्त सम्पूर्ण ।।

पंचासीइमाइबारसुत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा

पचासीवें से एकसौ बारहवें उद्देशक पर्यन्त

सम्यग्दृष्टिसम्बन्धी पूर्वोक्तानुसार अट्ठाईस उद्देशक

१. सम्मद्दिट्ठिरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एवं जहा पढमो उद्देसओ।

[१ प्र.] भगवन् ! सम्यग्दृष्टि-राशियुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] प्रथम उद्देशक के समान यह उद्देशक जानना चाहिए।

२. एवं चउसु वि जुम्मेसु चत्तारि उद्देसगा भवसिद्धियसरिसा कायव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति० ॥ ४१।८५-८८ ॥

[२] इसी प्रकार चारों युग्मों में भवसिद्धिक के समान चार उद्देशक कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है', इत्यादि पूर्ववत् ॥४१।८५-८८॥

३. कण्हलेस्ससम्मद्दिट्ठिरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?०

एए वि कण्हलेस्ससरिसा चत्तारि उद्देसगा कातव्वा ॥ ४१।८९-९२ ॥

[३ प्र.] भगवन् ! कृष्णलेश्यी सम्यग्दृष्टि राशियुग्म-कृतयुग्मराशि नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[३ उ.] यहाँ भी कृष्णलेश्या-सम्बन्धी (चार उद्देशकों) के समान चार उद्देशक कहने चाहिए ॥४१।८९-९२॥

४. एवं सम्मद्दिट्ठीसु वि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा ॥ ४१।९३-११२ ॥

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति जाव विहरइ।

॥ इकचत्तालीसइमे सए : पंचासीइमाइबारसुत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥ ४१।८५-११२ ॥

[४] इस प्रकार (नीललेश्यादि पंचविध) सम्यग्दृष्टि जीवों के भी भवसिद्धिक जीवों के समान (प्रत्येक लेश्या सम्बन्धी चार-चार उद्देशक होने से इनके २० उद्देशक मिलने से कुल) अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए ॥४१।९३-११२॥

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

विवेचन—सम्यग्दृष्टि-राशियुग्म-कृतयुग्मादि नैरयिक के २८ उद्देशक—ये २८ उद्देशक इस प्रकार हैं—(१) सम्यग्दृष्टि राशियुग्म में कृतयुग्म आदि चारों युग्मों के चार उद्देशक, (२) कृष्ण-लेश्यायुक्त सम्यग्दृष्टि-राशियुग्म-कृतयुग्मादि चारों युग्मों के चार उद्देशक तथा (३) शेष नीललेश्यादि पांच लेश्याओं से युक्त राशियुग्म-कृतयुग्मादि चतुष्टयरूप सम्यग्दृष्टि जीवों के ५×४=२० उद्देशक, यों कुल ४+४+२०=२८ उद्देशक होते हैं।

॥ इकतालीसवाँ शतक : पच्चासी से एकसौ बारह उद्देशक समाप्त ॥

तेरसुत्तरसयतमाइचत्तालीसुत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा

एकसौ तेरह से एकसौ चालीस उद्देशक पर्यन्त

मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा अट्ठाईस उद्देशकों का निर्देश

१. मिच्छद्दिट्ठिरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं एत्थ वि मिच्छादिट्ठिअभिलावेणं अभवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसका कायव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इकचत्तालीसइमे सए : तेरसुत्तरसयतमाइचत्तालीसुत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥

॥ ४१।११३-१४० ॥

[१ प्र.] भगवन् ! मिथ्यादृष्टि-राशियुग्म-कृतयुग्मराशियुक्त नैरयिक जीव कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] मिथ्यादृष्टि के अभिलाप से यहाँ भी अभवसिद्धिक उद्देशकों के समान अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए।।४१।११३-१४०।।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतालीसवाँ शतक : एकसौ तेरह से एकसौ चालीस उद्देशक पर्यन्त समाप्त ॥

एगचत्तालीसुत्तरसयतमाइअडसट्ठिउत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा

एकसौ इकतालीस से एकसौ अड़सठ उद्देशक पर्यन्त

कृष्णपाक्षिक की अपेक्षा पूर्ववत् अट्ठाईस उद्देशकों का निर्देश

१. कण्हपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?

एवं एत्थ वि अभवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा कायव्वा।

सेवं भंते ! सेवं भंते ! त्ति०।

॥ इकचत्तालीसइमे सए : एगचत्तालीसुत्तरसयतमाइअडसट्ठिउत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा समत्ता ॥
॥ ४१।१४१-१६८ ॥

[१ प्र.] भगवन् ! कृष्णपाक्षिक-राशियुग्म-कृतयुग्मराशिविशिष्ट नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ?

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी अभवसिद्धिक-उद्देशकों के समान अट्ठाईस उद्देशक कहने चाहिए।

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर गौतमस्वामी यावत् विचरते हैं।

॥ इकतालीसवाँ शतक : एकसौ इकतालीस से एकसौ अड़सठ उद्देशक पर्यन्त सम्पूर्ण ॥

एगूणसत्तरिउत्तरसयतमाइछन्नउइउत्तरसयतमपज्जंता उद्देसगा

एकसौ उनहत्तर से एकसौ छियानवै उद्देशक पर्यन्त

शुक्लपाक्षिक के आश्रित पूर्ववत् अट्ठाईस उद्देशकों का निर्देश

१. सुक्कपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मनेरइया णं भंते ! कओ उववज्जंति ?
एवं एत्थ वि भवसिद्धियसरिसा अट्ठावीसं उद्देसगा भवंति।

[१ प्र.] भगवन् ! शुक्लपाक्षिक-राशियुग्म-कृतयुग्मराशि-विशिष्ट नैरयिक कहाँ से आकर उत्पन्न होते हैं ? इत्यादि प्रश्न।

[१ उ.] गौतम ! यहाँ भी भवसिद्धिक उद्देशकों के समान अट्ठाईस उद्देशक होते हैं।

२. एवं एए सव्वे वि छण्णउयं उद्देसगसयं भवति रासीजुम्मसतं। जाव—
सुक्कलेस्ससुक्कपक्खियरासीजुम्मकडजुम्मकलियोगवेमाणिया जाव—जति सकिरिया तेणेव भवग्गहणेणं सिज्झंति जाव अंतं करेंति ?

नो इणट्ठे समट्ठे।

'सेवं भंते ! सेवं भंते !' त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, तिक्खुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेत्ता वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासि—एवमेयं भंते !, तहमेयं भंते !, अवितहमेतं भंते !, असंदिद्धमेयं भंते !, इच्छियमेयं भंते !, पडिच्छियमेयं भंते ! इच्छियपडिच्छियमेयं भंते !, सच्चे णं एसमट्ठे जं णं तुब्भे वदह, त्ति कट्टु 'अपुव्ववयणा'[1] खलु अरहंता भगवंतो' समणं भगवं महावीरं वंदति नमंसति, वंदित्ता नमंसित्ता संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति।

[२] इस प्रकार यह (४१ वाँ) राशियुग्मशतक इन सबको मिलाकर १९६ (एक सौ छियानवै) उद्देशकों का है यावत्—

[प्र.] भगवन् ! शुक्ललेश्या वाले शुक्लपाक्षिक राशियुग्म-कृतयुग्म-कल्योजराशिविशिष्ट वैमानिक यावत् यदि सक्रिय हैं तो क्या उस भव को ग्रहण करके सिद्ध हो जाते हैं यावत् सब दुःखों का अन्त कर देते हैं ?

[उ.] गौतम ! यह अर्थ समर्थ नहीं, (यहाँ तक जानना चाहिए।)

'हे भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है', यों कह कर भगवान् गौतमस्वामी, श्रमण भगवान् महावीर की तीन वार आदक्षिण (दाहिनी ओर से) प्रदक्षिणा करते हैं, यों तीन वार आदक्षिण-प्रदक्षिणा करके वे उन्हें वन्दन-नमस्कार करते हैं। तत्पश्चात् इस प्रकार बोलते हैं—'भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह इसी प्रकार है, भगवन् ! यह अवितथ-सत्य है,

---

१- पाठान्तर—'अपूइवयणा,' अर्थ होता है—पवित्र वचन वाले।

भगवन् ! यह असंदिग्ध है, भंते ! यह इच्छित (इष्ट) है, भंते ! यह प्रतीच्छित—विशेपरूप से इच्छित (स्वीकृत) है, भंते ! यह इच्छित-प्रतीच्छित है, भगवन् ! यह अर्थ सत्य है, जैसा आप कहते हैं, क्योंकि अरहन्त भगवन्त अपूर्व (अथवा पवित्र) वचन वाले होते हैं, यों कहकर वे श्रमण भगवान् महावीर को पुनः वन्दन-नमस्कार करते हैं। तत्पश्चात् तप और संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते हैं।

विवेचन—अपुव्ववयणा : भावार्थ—अरिहन्त भगवन्तों की वाणी अपूर्व होती है।

॥ इकतालीसवाँ शतक : एकसौ उनहत्तर से एकसौ छियानवै उद्देशक पर्यन्त समाप्त ॥

॥ इकतालीसवाँ राशियुग्मशतक सम्पूर्ण ॥

उवसंहारो : उपसंहार

व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र के शतक, उद्देशक और पदों का परिमाण-निरूपण

१. सव्वाए भगवतीए अट्ठत्तीसं सयं सयाणं १३८। उद्देसगाणं १९२५ ॥

[१] सम्पूर्ण भगवती (व्याख्याप्रज्ञप्ति) सूत्र के कुल १३८ शतक हैं और १९२५ (एक हजार नौ सौ पच्चीस) उद्देशक हैं।

२. चुलसीतिसयसहस्सा पयाण पवरवरणाण-दंसीहिं।
भावाभावमणंता पण्णत्ता एत्थमंगम्मि ॥१॥

[२] प्रवर (सर्वश्रेष्ठ) ज्ञान और दर्शन के धारक महापुरुषों ने इस अंगसूत्र में ८४ लाख पद कहे है तथा विधि-निषेधरूप भाव तो अनन्त (अपरिमित) कहे हैं ॥१॥

अन्तिम मंगल : श्रीसंघ-जयवाद

३. तव-नियम-विणयवेलो जयति सया नाणविमलविपुलजलो।
हेउसयविउलवेगो संघसमुद्दो गुणविसालो ॥२॥

[३] गुणों से विशाल संघरूपी समुद्र सदैव विजयी होता है, जो ज्ञानरूपी विमल और विपुल जल से परिपूर्ण है, जिसकी तप, नियम और विनयरूपी वेला है और जो सैकड़ों हेतुओं-रूप प्रवल वेग वाला है ॥२॥

पुस्तक लिपिकार द्वारा किया गया नमस्कार

[नमो गोयमादीण गणहराणं।
नमो भगवतीए विवाहपन्नत्तीए।
नमो दुवालसंगस्स गणिपिडगस्स ॥१॥

[गौतम आदि गणधरों को नमस्कार हो। भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति को नमस्कार हो तथा द्वादशांग-गणिपिटक को नमस्कार हो ॥१॥]

कुमुयसुसंठियचलणा, अमलियकोरेंटबिंटसंकासा।
सुयदेवया भगवती मम मतितिमिरं पणासेउ ॥२॥]

कच्छप के समान संस्थित चरण वाली तथा अम्लान (नहीं मुर्झाई हुई) कोरंट की कली के समान, भगवती श्रुतदेवी मेरे मति-(बुद्धि के अथवा मति-अज्ञानरूपी) अन्धकार को विनष्ट करे ॥२॥

भगवती व्याख्याप्रज्ञप्ति की उद्देश-विधि

पण्णत्तीए आदिमाणं अट्ठण्हं सयाणं दो दो उद्देसया उद्दिसिज्जंति, णवरं चउत्थसए पढमदिवसे अट्ठ, बितियदिवसे दो उद्देसगा उद्दिसिज्जंति [१—८]।

व्याख्याप्रज्ञप्ति के प्रारम्भ के आठ शतकों के दो-दो उद्देशकों का उद्देश (उपदेश या वाचना) एक-एक दिन में दिया जाता है, किन्तु चतुर्थ शतक के आठ उद्देशकों का उद्देश पहले दिन किया जाता है, जबकि दूसरे दिन दो उद्देशों का किया जाता है। (१-८)

नवमाओ सयाओ आरद्धं जावतियं ठाइ तावइयं उद्दिसिज्जइ; उक्कोसेणं सयं पि एगदिवसेणं उद्दिसिज्जइ, मज्झिमेणं दोहिं दिवसेहिं सयं, जहन्नेणं तिहिं दिवसेहिं सतं। एवं जाव वीसइमं सतं। णवरं गोसालो एगदिवसेणं उद्दिसिज्जइ; जति ठियो एगेण चेव आयंबिलेणं अणुण्णव्वइ, अह ण ठियो आयंबिलछट्ठेणं अणुण्णव्वति [९-२०]।

नौवें शतक से लेकर आगे यावत् वीसवें शतक तक जितना-जितना शिष्य की बुद्धि में स्थिर हो सके, उतना-उतना एक दिन में उपदिष्ट किया जाता है। उत्कृष्टतः एक दिन में एक शतक का भी उद्देश (वाचन) दिया जा सकता है, मध्यम दो दिन में और जघन्य तीन दिन में एक शतक का पाठ दिया जा सकता है। किन्तु ऐसा वीसवें शतक तक किया जा सकता है। विशेष यह है कि इनमें से पन्द्रहवें गोशालकशतक का एक ही दिन में वाचन करना चाहिए। यदि शेष रह जाए तो दूसरे दिन आयंबिल करके वाचन करना चाहिए। फिर भी शेष रह जाए तो तीसरे दिन आयम्बिल का छट्ठ (बेला) करके वाचन करना चाहिए। [९-२०]

एक्कवीस-बावीस-तेवीसतिमाइं सयाइं एक्केक्कदिवसेणं उद्दिसिज्जंति [२१-२३]।

इक्कीसवें, बाईसवें और तेईसवें शतक का एक-एक दिन में उद्देश करना चाहिए [२१-२३]।

चउवीसतिमं चउहिं दिवसेहिं—छ छ उद्देसगा [२४]।

चौवीसवें शतक के छह-छह उद्देशकों का प्रतिदिन पाठ करके चार दिनों में पूर्ण करना चाहिए [२४]।

पंचवीसतिमं दोहिं दिवसेहिं—छ छ उद्देसगा [२५]।

पच्चीसवें शतक के प्रतिदिन छह-छह उद्देशक बांच कर दो दिनों में पूर्ण करना चाहिए [२५]।

गमियाणं आदिमाइं सत्त सयाइं एक्केक्कदिवसेण उद्दिसिज्जंति [२६-३२]।[1]
एगिंदियसताइं बारस एगेण दिवसेण [३३]।
सेढिसयाइं बारस एगेणं० [३४]।
एगिंदियमहाजुम्मसताइं बारस एगेणं० [३५]।

एक समान पाठ वाले बन्धीशतक आदि सात (२६ से ३२वें) शतक (आठ शतक—२६ से ३३ तक) का पाठवाचन एक दिन में, बारह एकेन्द्रियशतकों का वाचन एक दिन में (३३), बारह श्रेणी-शतकों का वाचन एक दिन में (३४) तथा एकेन्द्रिय के बारह महायुग्मशतकों का वाचन एक ही दिन में करना चाहिए। [३५]

१. पाठान्तर—'बंधिसयाइं अट्ठसयाइं एगेणं दिवसेणं····।'

एवं बेंदियाणं बारस [३६], तेंदियाणं बारस [३७], चउरिंदियाणं बारस [३८], असन्निपंचेंदियाणं बारस [३९], सन्निपंचेंदियमहाजुम्मसयाइं एक्कवीसं [४०], एगदिवसेणं उद्दिसिज्जंति।

इसी प्रकार द्वीन्द्रिय के बारह (३६), त्रीन्द्रिय के बारह (३७), चतुरिन्द्रिय के बारह (३८), असंज्ञीपंचेन्द्रिय के बारह (३९) शतकों का तथा इक्कीस संज्ञीपंचेन्द्रियमहायुग्म शतकों (४०) का वाचन एक-एक दिन में करना चाहिए।

रासीजुम्मसयं एगदिवसेणं उद्दिसिज्जइ। [४१]।

इकतालीसवें राशियुग्मशतक की वाचना भी एक दिन में दी जानी चाहिए [४१]।

विग्रसियअरविंदकरा नासियतिमिरा सुयाहिया देवी।
मज्झं पि देउ मेहं बुहविबुहणमंसिया णिच्चं ॥१॥

जिसके हाथ में विकसित कमल है, जिसने अज्ञानान्धकार का नाश किया है, जिसको बुध (पण्डित) और विबुधों (देवों) ने सदा नमस्कार किया है, ऐसी श्रुताधिष्ठात्री देवी मुझे भी बुद्धि (मेधा) प्रदान करे ॥ १॥

सुयदेवयाए णमिमो जीए पसाएण सिक्खियं नाणं।
अण्णं पवयणदेवी संतिकरी तं नमंसामि ॥२॥

जिसकी कृपा से ज्ञान सीखा है, उस श्रुतदेवता को प्रणाम करता हूँ तथा शान्ति करने वाली उस प्रवचनदेवी को नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

सुयदेवया य जक्खो कुंभधरो बंभसंति वेरोट्टा।
विज्जा य अंतहुंडी देउ अविग्घं लिहंतस्स ॥१॥

॥ समत्ता य भगवती ॥

॥ वियाह-पण्णत्तिसुत्तं समत्तं ॥

श्रुतदेवता, कुम्भधर यक्ष, ब्रह्मशान्ति, वैरोटयादेवी, विद्या और अन्तहुंडी, लेखक के लिए अविघ्न (निर्विघ्नता) प्रदान करे ॥ ३ ॥

विवेचन—उपसंहार-गत विषय—(१) शतकादि का परिमाण—सर्वप्रथम सू. १ और २ में भगवतीसूत्र के शतक, उद्देशक, पद और भावों की संख्या बताई है।

शतकों के प्रारम्भ में अंकित संग्रहणीगाथाओं के अनुसार तो भगवतीसूत्र के कुल उद्देशकों की संख्या १९२३ ही होती है, किन्तु यहाँ इस गाथा में १९२५ बताई है। २० वें शतक के १२ उद्देशक गिने जाते हैं, किन्तु प्रस्तुत वाचना में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय इन तीनों का एक सम्मिलित (छठा) उद्देशक ही उपलब्ध होने से दस ही उद्देशक होते हैं। इस प्रकार दो उद्देशक कम हो जाने से गणनानुसार उद्देशकों की संख्या १९२३ होती है।

शतकों का परिमाण इस प्रकार है—पहले से लेकर बत्तीसवें शतक तक किसी भी शतक में अवान्तर शतक नहीं है। तेतीसवें शतक से लेकर उनतालीसवें शतक तक सात शतकों में प्रत्येक में

बारह-बारह अवान्तर शतक हैं। इस प्रकार ये कुल १२×७=८४ शतक हुए। चालीसवें शतक में २१ अवान्तर शतक हैं। इकतालीसवें शतक में अवान्तर-शतक नहीं है। इन सभी शतकों को मिलाने से सभी ३२+८४+२१+१=१३८ शतक होते हैं।

समग्र भगवतीसूत्र में पदों की संख्या ८४ लाख बताई है। इस सम्बन्ध में वृत्तिकार का मन्तव्य यह है कि पदों की गणना किस प्रकार से की गई है, इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। पदों की यह गणना विशिष्ट-सम्प्रदाय-परम्परागम्य प्रतीत होती है।

(२) संघ का जयवाद—इसके पश्चात् दूसरी गाथा (सूत्र ३) में संघ को समुद्र की उपमा देकर उसका जयवाद किया गया है।

(३) लिपिकार द्वारा नमस्कारमंगल—इसके पश्चात् लिपिकार द्वारा गौतमगणधरादि, भगवतीसूत्र एवं द्वादशांग गणिपिटक को नमस्कारमंगल किया गया है।

(४) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र की उद्देशविधि—तदनन्तर व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र की उद्देश-(वाचना) विधि का संक्षेप से निरूपण है।

(५) श्रुतदेवी की स्तुति और प्रार्थना—फिर अन्तिम तीन गाथाओं द्वारा श्रुतदेवी (जिनवाणी) आदि देवियों की नमस्कारपूर्वक स्तुति करते हुए ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की उनसे प्रार्थना की गई है।[1]

॥ भगवती व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र सम्पूर्ण ॥

१. (क) वियाहपण्णत्तिसुत्तं (मूलपाठटिप्पण) भा. २, पृ. ११८३-८७
(ख) भगवती. अ. वृत्ति, पत्र ९७९-९८०
(ग) भगवती. (हिन्दी विवेचन) भा. ७, पृ. ३८०५

परिशिष्ट १

व्यक्तिनामानुक्रमणिका

[सूचना—पहला अंक शतक का सूचक है, दूसरा उद्देशक का और तीसरा सूत्रसंख्या का। उदाहरणतः अग्गिभूति (अग्निभूति गणधर) तीसरा शतक, प्रथम उद्देशक और सूत्र संख्या ३। जहाँ उद्देशक नहीं है, वहाँ शून्य दिया गया हे।]

□

परिशिष्ट २

विशिष्टस्थान-नामानुक्रमणिका

[विशेष—पहला अंक शतक का सूचक है, दूसरा अंक उद्देशक का सूचन करता है और तीसरा अंक सूत्र संख्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा—अच्छ (जनपदविशेष) १५।०।८७ अर्थात् शतक १५, उद्देशक ०, सूत्र ८७। जहाँ उद्देशक नहीं है, वहाँ शून्य का अंक उद्देशक के स्थान पर रख दिया गया है।]

□

भगवतीनिर्दिष्ट शास्त्र-नामानुक्रमणिका

[विशेष—पहला अंक शतक का सूचक है और दूसरा अंक उद्देशक का सूचन करता है तथा तीसरा अंक सूत्र संख्या के लिए प्रयुक्त हुआ है। जहाँ उद्देशक नहीं है, वहाँ उद्देशक के स्थान पर शून्य का अंक रख दिया गया है।]

कतिपय विशिष्ट शब्दसूची

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमों में जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल में स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियों में भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थों का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या संयुक्त होने के कारण, इन का भी आगमों में अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अंतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, तं जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, तं जहा—अट्ठी, मंसं, सोणिते, असुतिसामंते, सुसाणसामंते, चंदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अंतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गंथाण वा, निग्गंथीण वा चउहिं महापाडिवएहिं सज्झायं करित्तए, तं जहा—आसाढपाडिवए, इंदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गंथाण वा निग्गंथीण वा, चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गंथाणं वा निग्गंथीण वा, चाउक्कालं सज्झायं करेत्तए, तं जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्गसूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपरोक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए हैं, जिसका संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे—

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. उल्कापात-तारापतन—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

२. दिग्दाह—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पड़े कि दिशा में आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

३. गर्जित—बादलों के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. विद्युत—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास में नहीं मानना चाहिए। क्योंकि वह

गर्जन और विद्युत् प्रायः ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अतः आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नहीं माना जाता।

५. **निर्घात**—विना वादल के आकाश में व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या वादलों सहित आकाश में कड़कने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. **यूपक**—शुक्ल पक्ष में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनों प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा में विजली चमकने जैसा, थोड़े थोड़े समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अतः आकाश में जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

८. **धूमिका-कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघों का गर्भमास होता है। इसमें धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पड़ती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पड़ती रहे तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल में श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज-उद्घात**—वायु के कारण आकाश में चारों ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के हैं।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ **हड्डी, मांस और रुधिर**—पंचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मांस और रुधिर यदि सामने दिखाई दें, तो जब तक वहाँ से वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओं के होने पर अस्वाध्याय मानते हैं।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मांस और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। वालक एवं वालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमशः सात एवं आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**—श्मशानभूमि के चारों ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम वारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नहीं करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमशः आठ, वारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. पतन—किसी बड़े मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसंस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नहीं करना चाहिए अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनैः शनैः स्वाध्याय करना चाहिए ।

१९. राजव्युद्ग्रह—समीपस्थ राजाओं में परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नहीं करें ।

२०. औदारिक शरीर—उपाश्रय के भीतर पंचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पड़ा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पड़ा हो तो स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं ।

२१-२८. चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा—आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं । इन पूर्णिमाओं के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं । इनमें स्वाध्याय करने का निषेध है ।

२९-३२. प्रातः, सायं, मध्याह्न और अर्धरात्रि—प्रातः सूर्य उगने से एक घड़ी पहिले तथा एक घड़ी पीछे । सूर्यास्त होने से एक घड़ी पहले तथा एक घड़ी पीछे । मध्याह्न अर्थात् दोपहर में एक घड़ी आगे और एक घड़ी पीछे एवं अर्धरात्रि में भी एक घड़ी आगे तथा एक घड़ी पीछे स्वाध्याय नहीं करना चाहिए ।

□□

श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरड़िया, मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मांगीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरड़िया, बैंगलोर
५. श्री प्रेमराजजी भंवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७. श्री कंवरलालजी बैंताला, गोहाटी
८. श्री सेठ खींवराजजी चोरड़िया, मद्रास
९. श्री गुमानमलजी चोरडिया, मद्रास
१०. श्री एस. बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१२. श्री एस. रतनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१३. श्री जे. अन्नराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१७. श्री जे. हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२. श्री जसराजजी गणेशमलजी संचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचंदजी सागरमलजी संचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटंगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी बोकड़िया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचंदजी प्रकाशचंदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी महता, मेड़ता सिटी
४. श्री शा० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचंदजी ललवाणी, चांगाटोला
७. श्री दीपचंदजी चन्दनमलजी चोरड़िया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चांगाटोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगनचंदजी झामड़, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K.G.F.) जाड़न
११. श्री थानचंदजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचंदजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४. श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया, ब्यावर
१५. श्री इन्द्रचंदजी बैद, राजनांदगांव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचंदजी पगारिया, बालाघाट
१७. श्री गणेशमलजी धर्मीचंदजी कांकरिया, टंगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकड़िया, इन्दौर
१९. श्री हरकचंदजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचंदजी लोढ़ा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचंदजी उत्तमचंदजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचंदजी भागचंदजी बोहरा, झूंठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा, डोंडीलोहारा
२८. श्री गुणचंदजी दलीचंदजी कटारिया, बेल्लारी
२९. श्री मूलचंदजी सुजानमलजी संचेती, जोधपुर
३०. श्री सी० अमरचंदजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भंवरीलालजी मूलचंदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचंदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३. श्री लालचंदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, अजमेर
३५. श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बैंगलोर
३६. श्री भंवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७. श्री भंवरलालजी गोठी, मद्रास
३८. श्री जालमचंदजी रिखबचंदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचंदजी पुखराजजी भुरट, गोहाटी
४०. श्री जवरचंदजी गेलड़ा, मद्रास
४१. श्री जड़ावमलजी सुगनचंदजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३. श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचंदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसी, मेड़ता सिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचंदजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भंवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भंवरलालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकड़िया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मंगलचंदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३. श्री भंवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचंदजी मांगीलालजी, जोधपुर
१५. श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेड़तिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टांटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचन्दजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचंदजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचंदजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भंवरलालजी माणकचंदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जंवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेड़तासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जंवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचंदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचंदजी केवलचंदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढ़ा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता, जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचंदजी हेमराज जी सोनी, दुर्ग
४२. श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचंदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बैंगलोर
४७. श्री भंवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८. श्री लालचंदजी मोतीलालजी गादिया, बैंगलोर
४९. श्री भंवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१. श्री आसकरणजी जसराज जी पारख, दुर्ग
५२. श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेड़तासिटी
५४. श्री घेवरचंदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५. श्री मांगीलालजी रेखचंदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचंदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेड़ता सिटी
५९. श्री भंवरलालजी रिखवचंदजी नाहटा, नागौर
६०. श्री मांगीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मैसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कलां
६२. श्री हरकचंदजी जुगराजजी बाफना, बैंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचंदजी मोदी, भिलाई
६४. श्री भींवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचंदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड़, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूंगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२. श्री गंगारामजी इन्द्रचंदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचंदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचंदजी थानचन्दजी भुरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जंवरीलालजी शांतिलालजी सुराणा, बोलारम
७७. श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८. श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचंदजी रतनलालजी मुणोत, टंगला
८०. श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढ़ा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२. श्री पारसमलजी महावीरचंदजी बाफना, गोठन
८३. श्री फकीरचंदजी कमलचंदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री माँगीलालजी मदनलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
८५. श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जंवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७. श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८. श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९. श्री पुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९०. श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१. श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२. श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३. श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४. श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भंडारी
९५. श्रीमती कमलाकंवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी संचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचंदजी जैन, नागौर
९९. श्री कुशालचंदजी रिखबचंदजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराज जी कोठारी, मांगलियावास
१०३. श्री सम्पतराजजी चोरड़िया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बड़ी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७. श्रीमती कंचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भंवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भंवरलालजी, चोरड़िया भैरूंदा
१११. श्री माँगीलालजी शांतिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चांदमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुल्लीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकुंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढ़ा, बम्बई
११७. श्री माँगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बैंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरंगाबाद
११९. श्री भीकमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुंवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी संघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीकमचंदजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया, सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ, बगड़ीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बैंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़

□□